भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

व्याख्याद्वयोपेतम्

[प्रथमो भागः]

हिन्दी - व्याख्याकारः

सम्पादकश्च

डॉ० पारसनाथद्विवेदी

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

[प्रथमो भागः]

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[पञ्चमाध्यायान्तः प्रथमो भागः]

(व्याख्याद्वयोपेतम्)

हिन्दीव्याख्याकारः, सम्पादकश्च

डॉ० पारसनाथद्विवेदी

साहित्यसंस्कृति संकायाध्यक्षचरः,

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणसी



सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 14]

NĀṬYAŚĀSTRA

OF

ŚRĪ BHARATA MUNI

[PART ONE]

(CHAPTERS—1-5)

With the Commentaries

ABHINAVABHĀRATĪ

BY

ŚRĪ ABHINAVAGUPTĀCĀRYA

&

MANORAMĀ

(Hindi Commentary)

BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

EDITED BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

EX-Dean, Faculty of the Śāhitya-Sanskṛti

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi



VARANASI

1992

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

□

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

□

Available At—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

□

First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 200. 00

□

Printed by—
VIJAYA PRESS,
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

ना ट्य शा स्त्र म्

[पञ्चमाध्यायान्तः प्रथमो भागः]

श्रीमदभिनवगुप्तकृतया

'अभिनवभारती' व्याख्यया

डॉ० पारसनाथद्विवेदिकृतया

'मनोरमा' हिन्दी-व्याख्यया च

विभूषितम्

सम्पादकः

डॉ० पारसनाथद्विवेदी

साहित्य-संस्कृति-संकायाध्यक्षचरः,

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणसी



वाराणस्याम्

२०४८ तमे वैक्रमाब्दे 1913 तमे शकाब्दे 1992 तमे ख्रीस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः—
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

□

प्रकाशकः—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्— २०० = ०० रूप्यकाणि

□

मुद्रकः—
विजय-प्रेस,
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी ।

संस्कृत के तपोधन, संस्कृत-सेवा के महाव्रती
संस्कृत-रक्षा के प्रहरी
ऋषियों, मुनियों, मनीषियों एवं आचार्यों
को
सादर अर्पित

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥

विषयानुक्रमणी

●

पुरोवाक्

संस्कृत-वाङ्मय सतत प्रवहमान एक अमृत-नद है और नाट्यकला कल-कल निनाद करती हुई सुधा-रस को प्रवाहित करने वाली त्रिपथगा मन्दाकिनी, जिसकी पुनीत धारा में अवगाहन करने पर शब्द एवं भाव रत्नों की अपूर्व मणिराशि प्राप्त होती है। सहस्रों वर्षों के कालखण्डों में इस पुनीत मन्दाकिनी की सञ्जीवनी धारा कहीं-कहीं अज्ञेय प्रखण्डों में खोई हुई प्रतीत होती है; किन्तु शीघ्र ही अधिक अन्वेषित क्षेत्रों के सुरम्य स्थलों में उस अमृत-वाहिनी का प्रभाव विस्तृत, अबाध एवं सुप्रकाशित दिखाई देता है। इस परिव्रज्या की दीर्घ-यात्रा में ऐसा कोई स्थल नहीं दृष्टिगोचर होता, जहाँ पर इसकी कमनीयता, हृदय-ग्राह्यता और पावनता का आभास न मिलता हो। इस प्रकार नाट्यकला की यह मन्दाकिनी चतुर्दिक् प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। सदियों पूर्व से प्रवहमान जन-जीवन की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम यह नाट्यकला ही रही है।

रामायण, महाभारत एवं पातञ्जल-महाभाष्य में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में ईसा के कई सौ सदियों पूर्व यह नाट्यकला पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। भरत ने इस नाट्यकला को शास्त्र का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है; किन्तु नाट्यशास्त्र में उपलब्ध साक्ष्यों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भरतों की एक परम्परा विद्यमान रही है। उसी गौरव-शालिनी परम्परा की शाश्वत साधना का परिणाम नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्यकला का परिनिष्ठित अनुपम ग्रन्थरत्न है। इसे नाट्यकला का नहीं; बल्कि भारतीय-कलाओं का कोष कहा जाता है। ऐसा कोई ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग, कर्म नहीं है, जो इस नाट्यशास्त्र में समाहित न हो[1]। काव्य, नाट्य, अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य, वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, पुस्त आदि न जाने कितनी कलाओं का परिनिष्ठित एवं व्यापक विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। विश्व की किसी भी भाषा में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया है, जिसमें कला के इतने अधिक रूपों पर विचार किया गया हो। भारतीय-कलाओं के विविध पक्षों पर जैसा सन्तुलित एवं परिष्कृत विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। भरत ने इसे सार्ववर्णिक पञ्चम-वेद कहा है।

---

१. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ (ना. शा. १।११६)

नाट्यशास्त्र बहुत दिनों तक अन्धकार के गर्त में पड़ा रहा है। सर्वप्रथम एफ० हाल महोदय को नाट्यशास्त्र की एक त्रुटिपूर्ण पाण्डुलिपि मिली, जिसके आधार पर उन्होंने १८६५ ई० में नाट्यशास्त्र के प्रथम चार अध्यायों (१८,१९,२०,२४) का सम्पादन कर दशरूपक के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया। इसके बाद रेग्नों ने १८८० ई० में नाट्यशास्त्र के १५वें एवं १६वें अध्यायों तथा १८८४ ई० में छठें एवं सातवें अध्यायों को रोमन-लिपि में प्रकाशित किया। तदनन्तर उनके शिष्य ग्रोसे महोदय ने १८८८ ई० में २८ वें अध्याय तथा १८९८ ई० में १-१४ अध्यायों का क्रमबद्ध सम्पादन कर प्रकाशित किया। इस संस्करण के प्रकाशन के पूर्व १८९४ ई० में काव्यमाला सीरीज़ से सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का प्रकाशन हुआ और इसी क्रम में १९२९ ई० में चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ से सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का एक नवीन संस्करण प्रकाशित हुआ। डॉ० मनमोहन घोष ने अंग्रेजी-अनुवाद के साथ एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त मराठी में एक तथा हिन्दी में दो अधूरे संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं।

नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गई थीं; किन्तु अभिनवगुप्त की अभिनव-भारती को छोड़कर आज अन्य कोई टीका उपलब्ध नहीं है। प्रो० रामकृष्ण कवि ने अभिनवभारती टीका के साथ मूल नाट्यशास्त्र को चार भागों में सुसम्पादित कर बड़ौदा से प्रकाशित किया है; किन्तु इस टीका का पाठ इतना अशुद्ध एवं विकृत है कि उसका अर्थ समझना बड़ा कठिन हो जाता है। आचार्य विश्वेश्वर ने नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय एवं षष्ठ अध्यायों का तथा उन पर प्राप्त अभिनवभारती टीका का पाठ-शोधन के साथ हिन्दी में एक नवीन संस्करण निकाला है। इसके अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से भी १-१८ अध्यायों तक एक हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुआ है। ये दोनों संस्करण अधूरे हैं। सम्पूर्ण अभिनवभारती पर अभी तक हिन्दी भाषा में कोई अनुवाद अथवा व्याख्या प्रकाशित नहीं है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने प्राच्य भारतीय विद्या से सम्बन्धित आकर ग्रन्थों एवं उनकी मौलिक टीकाओं को हिन्दी-भाषा में अनुवाद एवं व्याख्या के साथ प्रकाशित करने की एक योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती टीका की हिन्दी-व्याख्या के साथ सम्पादन एवं प्रकाशन का निर्णय लेकर इस दिशा में एक पुण्य कार्य किया है। विश्वविद्यालय ने यह कार्य मुझे सौंपा। मैंने अब तक के प्रकाशित सभी संस्करणों के आधार पर अभिनवभारतो टीका के साथ नाट्यशास्त्र के सम्पादन, अनुवाद एवं व्याख्या का कार्य प्रारम्भ किया और उसका प्रथम भाग १-५ अध्याय तक छप कर तैयार हो गया है। षष्ठ अध्याय और उसके आगे का अंश द्वितीय भाग में शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

प्रस्तुत संस्करण में नाट्यशास्त्र के मूल पाठ तथा अभिनवभारती का सम्पादन किया गया है और पाठ-भेदों को नीचे पाद-टिप्पणी में दिया गया है। मूल श्लोक, हिन्दी तथा अभिनवभारती का हिन्दी अनुवाद नीचे दिया गया है। अनुवाद के नीचे विमर्श के अन्तर्गत विषय के स्पष्टीकरणार्थ मत-मतान्तरों की समीक्षा के साथ टिप्पणी भो दी गयी है। प्रस्तुत अनुवाद करते समय मुझे कहीं-कहीं विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इसका कारण है अभिनवभारती का अशुद्ध एवं विकृत पाठ तथा वाक्यों की दुरूहता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द और वाक्य आ जाते थे, जिनका अर्थ समझना बड़ा कठिन हो जाता था। उन शब्दों एवं वाक्यों का अर्थ समझने के लिए उन-उन विषयों से सम्बद्ध मौलिक ग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं तथा कोश-ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता था। कुछ शब्द ऐसे भी आ जाते थे, जो कोश-ग्रन्थों में भी नहीं मिलते थे। प्रस्तुत संस्करण में अनुवाद मूल ग्रन्थ के मन्तव्यों के अनुरूप किया गया है और विवेच्य विषय की विमर्श के अन्तर्गत विशेष व्याख्या एवं मत-मतान्तरों की समीक्षा भो की गयी है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक प्रस्तावना दी गई है, जिसमें नाट्य एवं नाट्यशास्त्र का स्वरूप, नाट्यशास्त्र के संस्करण, प्रतिपाद्य विषय एवं शैली, रचयिता एवं रचनाकाल के विवेचन के साथ नाट्य-परम्परा के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत १०८ करणों की चित्र-सूची एवं श्लोकार्धानुक्रमणिका भी दी गयी है।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में मैंने मुख्यरूप से 'गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा' से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण का पाठ आधाररूप में स्वीकार किया है और उसके ही पाठभेदों को विना किसी परिवर्त्तन के स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त पाठ-निर्धारण में काव्यमाला, काशी एवं मनमोहन घोष के संस्करणों का भी उपयोग किया है। पाठनिर्धारण में अर्थसंगति तथा पूर्वापर प्रसङ्गों पर भी विचार किया गया है और शुद्ध पाठ को रखा गया है तथा अशुद्ध एवं विकृत पाठ को नीचे पादटिप्पणी में दिया गया है। अनुवाद एवं व्याख्या करने में मैने अभिनवभारती तथा आचार्य विश्वेश्वर, डॉ० रघुवंश, मनमोहन घोष, मधुसूदन शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल आदि विद्वानों के द्वारा सम्पादित संस्करणों से सहायता ली है और संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (सुशील कुमार दे एवं पी० वी० काणे) तथा भरत एवं भारतीय नाट्यशास्त्र (सुरेन्द्रनाथ दीक्षित) का भी यथास्थान उपयोग किया है। उनका निर्देश सर्वत्र तो संभव न हो सका, तथापि यथास्थान निर्देश करने का प्रयास किया गया है। एतदर्थ मैं उनकी अधमर्णता स्वीकार करता हूँ। मैं उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

प्रस्तुत संस्करण को प्रकाश में लाने का श्रेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** को है, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पूर्ण तत्परता के साथ सहयोग प्रदान किया है। यदि उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त न होता, तो सम्भवतः यह ग्रन्थ प्रकाश में न आ पाता। अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के उन सभी प्राचीन आचार्यों, ग्रन्थकारों एवं समालोचकों का भी कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृतियों से परोक्ष या प्रत्यक्षरूप में सहायता मिली है। **विजय प्रेस** के व्यवस्थापक **श्री गिरीशचन्द्र** के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अधिक उत्साह एवं कलात्मक ढंग से इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य सम्पन्न किया है।

ग्रन्थ का यथासम्भव शुद्ध बनाने का प्रयास किया गया है, फिर भी मानव-सुलभ त्रुटियों एवं न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है। अतः उसके लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें जहाँ कहीं भी त्रुटि एवं कमी का अनुभव हो, सूचित करने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके। प्रस्तुत ग्रन्थ को अधिक पूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मिलेंगे, उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा। लेखक के अल्प अध्ययन एवं सीमित-सामर्थ्य से एक गुरुतर, गम्भीर एवं जटिल विषय पर किया गया यह लघु प्रयास सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है। इसकी सफलता, असफलता का निकष वस्तुतः उन्हीं का परितोष है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

"आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम"।

वाराणसी
वि० सं० २०४८
विजया-दशमी

विनयावनत
पारसनाथ द्विवेदी

प्रस्तावना

नाट्य और नाट्यशास्त्र

'नाट्य' शब्द नृत्य, गीत और वाद्य के समुदाय रूप अर्थ को व्यक्त करता है। कोशकार नृत्य, गीत और वाद्य की सहप्रस्तुति को 'तौर्यत्रिक' की संज्ञा देते हैं[1]। नाट्यशास्त्र के टीकाकार हर्ष ने 'तौर्यत्रिक' को रङ्ग का पर्याय माना है[2]। आदिभरत के अनुसार ताण्डव और लास्य भी 'नाट्य' के ही रूप हैं। अमरकोशकार ताण्डव, लास्य, नटन, नर्त्तन, नृत्त और नृत्य को 'नाट्य' का पर्याय मानते हैं[3]। भरत के अनुसार नाट्य एक सार्ववर्णिक पञ्चम वेद है[4], जिसमें समस्त ज्ञान, शिल्प, कर्म, विद्याएँ एवं कलाएँ समाहित हैं। इस प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य एवं अभिनय का समुदायरूप अर्थ 'नाट्य' है।

'नाट्य' शब्द 'नट्' धातु से निष्पन्न होता है और 'नटन' शब्द भी 'नट्' धातु से ही निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है नर्त्तन या नृत्य (नृत्त)। 'नर्त्तन' और 'नृत्य' शब्द 'नृत्' धातु से बनता है जिसका अर्थ होता है गात्रविक्षेपण या अङ्गसञ्चालन। गात्रविक्षेपण की यह क्रिया एक वह सामान्य तत्त्व है जो नटन या नर्त्तन की सभी विधाओं में पाया जाता है। इनमें कुछ

---

१. तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्। (अमरकोश १।७।१०)
तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यं च तत्त्रयम्। (शब्दरत्नाकर १८९०)
नाट्यं नृत्यगीतवाद्यं तौर्यत्रिकम्। (हलायुध पृ. ३८६)
नाट्यं तौर्यत्रिके लास्ये (मेदिनी० २६।३४)

२. अभिनवभारती—भाग १ पृष्ठ २०९

४. ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्त्तने (अमरकोश १।७।१०)

५. नाट्यशास्त्र १।१५

गात्रविक्षेपण ऐसे भी होते हैं जिसमें न अर्थ की अपेक्षा होती है और न भावों का अनुसरण होता है, वह केवल ताल एवं लय पर आश्रित रहता है उसे नृत्त कहते हैं (**गात्रविक्षेपमात्रं नृत्तम्**)। कुछ गात्रविक्षेपण ऐसे भी होते हैं जो भावविशेष को अभिव्यक्त करते हैं जिनमें केवल पदार्थ का अभिनय किया जाता है। इस प्रकार के नर्त्तन को 'नृत्य' कहते हैं (**पदार्थाभिनयो नृत्यम्**)। भाव यह कि 'नृत्त' एक वह सामान्य नर्तन है जिसमें भाव का प्रदर्शन बिल्कुल नहीं होता है केवल विविध प्रकार की भावभङ्गिमाओं के साथ अङ्गसञ्चालन किया जाता है और नृत्य में भाव प्रदर्शन के साथ अङ्गों का सञ्चालन होता है। नर्तन की तीसरी विधा 'नाट्य' है। इसमें सम्पूर्ण अभिनय होता है और रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत की जाती है। भरत के अनुसार इसमें समस्त वाक्यार्थ को अभिनय (गात्रविक्षेपण) के द्वारा प्रदर्शित करके सहृदय के मन में रस का सञ्चार किया जाता है (**वाक्यार्थाभिनयरसाश्रयं नाट्यम्**)। इस प्रकार गात्रविक्षेप मात्र नर्तन को 'नृत्त' तथा भावप्रदर्शन के साथ अङ्गसञ्चालन (नर्तन) को नृत्य और वाक्यर्थाभिनय को 'नाट्य' कहा जाता है[1]। इस प्रकार नृत्त, नृत्य और नाट्य के अर्थ में किञ्चिद् अन्तर होते हुए भी उनके मूल में अङ्गविक्षेपण रूप एक ही तत्त्व विद्यमान है। यह अङ्गविक्षेप नर्त्तन या नटन की तीनों विधाओं में पाया जाता है।

नृत्त (नृत्य) नाट्य रूप है अथवा नाट्य से भिन्न है? इस विषय पर नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में पर्याप्त रूप से विचार किया गया है। वहाँ दोनों मतों के पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। वहाँ यह बताया गया है कि रेचक और अङ्गहार रूप नृत्त शुद्ध नृत्त है और वह अङ्गविक्षेपण रूप है तथा साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसायात्मक ज्ञान (अर्थ) नाट्य है[2]। इस प्रकार नृत्त नाट्य से भिन्न है। नृत्त अङ्गविक्षेप रूप है और नृत्य में अङ्गविक्षेपण के साथ भावप्रदर्शन होता है तथा नाट्य साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसायात्मक ज्ञान रूप है, वाक्यार्थाभिनय रूप है।

---

१. नट नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः—
पूर्वं पठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्। घटादौ तु नृत्यं नृत्तं चार्थः। यत्कारिषु नर्त्तकव्यपदेशः। पदार्थाभिनयो नृत्यम्। विक्षेपणमात्रं नृत्तम्। (सिद्धान्तकौमुदी पृ० ३७५-३७६)

२. शुद्धमेव नृत्तं रेचकाङ्गहारात्मकम्।
साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायगोचरकार्यत्वं च नाट्यस्य लक्षणम्।
(अभिनवभारती—प्रथम भाग चतुर्थ अध्याय पृ० १७५)

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्य के स्वरूप निर्वचन के लिए अनुकरण (अनुकृति), अनुकीर्त्तन और अनुदर्शन शब्दों का प्रयोग किया है[१]। सामान्य रूप से लोगों के द्वारा किये गये कार्यों के अनुकरण को नाट्य कहा गया है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी लोक की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहा है (**अवस्थानुकृति-र्नाट्यम्**), किन्तु अभिनवगुप्त अनुकरण या अनुकृति मात्र को नाट्य नहीं मानते। उनका कहना है कि नाट्य अनुकरण रूप नहीं होता है। अनुकरण उपहास रूप होता है, उससे केवल हंसी आ सकती है, नाट्यानुभूति नहीं हो सकती है। नाट्य का अनुभव तो अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्त्तन से होता है। अतः नाट्य अनुकीर्त्तन रूप है, त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्त्तन है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य विकल्पज्ञान के सम्पृक्त अनुव्यवसायात्मक कीर्त्तन रूप है। अब प्रश्न होता है कि यदि नाट्य अनुकरण रूप नहीं है तो 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्'; 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यम्' इत्यादि वाक्यों में नाट्य को अनुकरणरूप कहा गया है, उसकी सार्थकता कैसे होगी? इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि अनुव्यवसाय लौकिक करण का अनुसरण करते हुए

---

१. नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् ॥ (ना. शा. १।१०८)
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ (ना. शा. १।११३)
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ (ना. शा. १।११६)
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
यस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ (ना. शा. १।११९)
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ (ना. शा. १।१२०)
येनानुकरणं ह्येतन्नाट्यमेतद् यन्मया कृतम्।
देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥ (ना. शा. १।१२१)
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥ (ना. शा. १।१५)
तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः।
हृष्टा समभवन् सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ॥ (ना. शा. ४।४)
ततो भूतगणाः हृष्टाः कर्मभावानुदर्शनात्।
महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमाब्रवीत् ॥ (ना. शा. ४।११)

प्रवृत्त होता है अतः नाट्य को अनुकरण कहने में कोई दोष नहीं है[1]। इसी दृष्टि से भरत ने उसे अनुकरण कहा है। भरत के अनुसार यहाँ अनुकरण शब्द नकल प्रस्तुत करने के अर्थ में नहीं है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्य के मूल में रस ही है। अतः रस ही नाट्य है। जैसाकि अभिनवगुप्त कहते है कि नट के द्वारा प्रस्तुत, अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान, एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय, नाटक और काव्य-विशेष से प्रकाश्य अर्थ 'नाट्य' है और वह यद्यपि अनन्तविभावादिरूप है किन्तु समस्त जड़ पदार्थों के ज्ञान में पर्यवसित होने से तथा उस ज्ञान का भोक्ता में और भोक्ताओं का प्रधान भोक्ता (नायक) में पर्यवसान होने से नायक की रत्यादिरूप स्थायीभावात्मक चित्तवृत्तिरूप अर्थ भी 'नाट्य' है[2] और स्वगत-परगत भेद से रहित वह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। यतश्च नाट्य की पूर्णतः अनुभूति रस में ही होती है अतः रस ही नाट्य है। जिसकी अनुभूति ही नाट्य का फल है, परिणाम है[3]। अतः जिस नाट्यरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है, इसमें अन्य रसों की स्थिति गौण होती है और वे प्रधान रस का ज्ञान समुदाय रूप में करवाते हैं। यह रस नाट्यसमुदाय से समुद्भूत होता है अतः नाट्यसमुदाय ही रस है अथवा रस-समुदाय ही नाट्य है अथवा नाट्य ही रस है और काव्य में भी नाट्यरूप ही रस होता है[4]। इस प्रकार अभिनव के अनुसार समुदायरूप अर्थ नाट्य है और नाट्य ही रस है। इसलिए नाट्यशास्त्र में नाट्य को रसाश्रय कहा है। भरत नाट्य का

---

१. तस्मादनुव्यवसायात्मकमनुकीर्त्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम्'''''''न तनुकरणरूपम्। यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितयाऽनुकरणमित्युच्यते तन्न कश्चिद्दोषः।
(अभिनवभारती पृ. ३७)

२. तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा-तथापि सर्वेषां जड़ानां संविदि तस्याश्च भोक्तरि भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः।
(अभिनवभारती भाग १ पृ० २६६)

३. तेन रस एव नाट्यम्। यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते।
(अभिनवभारती भाग १ पृष्ट २६७)

४. नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।
(अभिनवभारती भाग १ पृ० २९०)

स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि यह लोक सुख-दुःख-स्वभाव है। लोक का यह सुख-दुःखात्मक स्वभाव जब अङ्गादि अभिनयों से अभिनीत होता है तो 'नाट्य' कहलाता है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।

सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्यभिधीयने ॥ (ना० शा० १।१२२)

इस प्रकार सुखदुःखमिश्रित लोकस्वभाव अङ्गादि अभिनयोपेत होने पर ही नाट्य कहा जाता है। यहाँ पर अङ्ग शब्द से शाखा, नृत्त और अङ्कुर (गीत) का ग्रहण होता है[१]। शाखा का अर्थ आङ्गिक अभिनय है। इस प्रकार अङ्ग अर्थात् आङ्गिक अभिनय, नृत्त और गीत आदि से उपेत लोकस्वभाव 'नाट्य' है अथवा अङ्ग शब्द से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का ग्रहण होता है। ये विभावादि रसाभिमुख नयन के हेतु होने से अभिनय कहे जाते हैं। अतः विभावादि रुप अङ्गादि अभिनय से संविद् दर्पण में प्रतिविम्बित अर्थ 'नाट्य' है। इस प्रकार भरत के अनुसार जिसमें सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को अभिनय के द्वारा सहृदय प्रेक्षकों के समक्ष ले जाकर हृदय में रसानुभव या रसास्वादन कराया जाता है उसे 'नाट्य' कहते हैं। इस प्रकार लोक की सुखदुःखमिश्रित विभिन्न अवस्थाओं का रसाश्रयभूत अङ्गाद्यभिनयोपेत नर्तन (अभिनय) 'नाट्य' है। इस प्रकार यह नाट्य लोकवृत्तानुकरण अर्थात् लोकवृत्तान्त का ही अनुकरण ही नहीं है, अपितु समस्त त्रिलोको के भावों का अनुकीर्त्तन हैं, अनुदर्शन है और वह भी वर्तमान लोक का ही नहीं, वल्कि भविष्यमाण लोक के समस्त कार्यों का अनुदर्शन है[२]।

नाट्य का स्वरूप निर्धारण करने में संग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संग्रह क्या है ? अभिनव कहते हैं कि जिनसे प्रतिपाद्य वस्तु का सम्यक् रूप में ग्रहण हो, उसका परिगणन उस वस्तु का संग्रह है। संग्रह का ज्ञान हो जाने पर उस वस्तु की प्रतीति के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती और वह ज्ञान साक्षात्कार रूप ही होता है[३]। भरत कहते हैं कि सूत्र (लक्षण) और भाष्य (परीक्षा) में विस्तार से कहे जाने वाले अर्थों का संक्षेप रूप में कथन करना 'संग्रह' है[४]। भरत के अनुसार आङ्गिक, वाचिक और आहार्य तीन प्रकार

---

१. अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च। (ना० शा०)
त्रैलोक्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्त्तनम्। (ना० शा० १।१०)

२. भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् (ना० शा० १।११५)

३. सम्यग्ग्रहणं संग्रहः। यतः परं निर्विशङ्कप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरं नाम्यर्थ्यन्ते। तच्च साक्षात्काररूपमेव। (अभिनवभारती भाग १ पृ० १३)

४. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ (ना० शा० ६।९)।

का अभिनय, गान तथा वाद्य ये मिलकर नाट्य के पांच अङ्ग होते है। ये पांच अङ्ग ही भरत को अभिमत है। किन्तु नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय के दशम श्लोक में कोहल के मत से ग्यारह अङ्गों का वर्णन किया गया है—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रङ्ग ये ग्यारह संग्रह हैं[1]। अभिनवगुप्त का कहना है कि भरत के मत में नाट्य के पांच अङ्ग होते हैं और प्रस्तुत कारिका में कोहल के मतानुसार नाट्य को ग्यारह अङ्गों वाला कहा गया है। किन्तु यह भरत के मत के अनुसार नहीं है। भरत ने तो कोहल के द्वारा संगृहीत ग्यारह अङ्गों का यहाँ पुनः कथन किया है। हाँ कोहल द्वारा निर्दिष्ट क्रम का यहाँ व्यतिक्रम कर दिया गया है[2]। यह भट्टोद्भट तथा उनके अनुयायियों का मत है। किन्तु भट्टलोल्लट उक्त कथन से सहमत नहीं दिखाई देते। उनका कहना है कि रसभावादि नट में वासना रूप में विद्यमान रहते हैं और यहाँ क्रम भी विवक्षित नहीं है। अतः यहाँ नाट्य के प्रयोजनरूप प्रमुख तत्त्वों के परिगणन के कारण तथा क्रम की विवक्षा न होने के कारण क्रम में परिवर्त्तन कर दिया गया है। रस नाट्य का प्रमुख तत्त्व है, अतः उसका पहिले कथन किया गया है, रस की निष्पत्ति भावों से होने के कारण उसके बाद भावों का निरूपण किया गया है। भावों की निष्पत्ति अभिनय से होती है अत भाव के बाद अभिनय का कथन किया गया है। इसी प्रकार क्रमशः प्रयोजनभूत धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति का परिगणन है। इसके बाद के अवशिष्ट पांच तत्त्वों का परिगणन किया गया है। इसका विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में किया गया है। भूमिका के विस्तार के भय से यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जारहा है।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस ही नाट्य है, नाट्य की अनुभूति रस में ही है। इस के बिना नाट्य में कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता (**नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते**) इस प्रकार नाट्य में जिस नाट्यरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है, एक है। इसी एक महारस से अन्य रस प्रसृत होते हैं। वे अन्य रस वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के अनुसार असत्य हैं अथवा अन्विताभिधानवाद के समान उपायात्मक

---

१. रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च सङ्ग्रहः ॥ (ना० शा० ६।१०)

२. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्। अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते। तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात्। निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासादित्यौद्भटाः। नैतदिति भट्टलोल्लटाः। रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणादन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात् क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

सत्य हैं अर्थात् मुख्यभूत महारस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायभूत सत्य के समान है अथवा अभिहितान्वयवाद के समान मुख्यरस के समुदायरूप सत्य हैं। भाव यह कि अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहिले पदार्थ का बोध होता है और उन पदार्थों के समुदाय से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। उसी प्रकार नाट्य में अन्य रस समुदाय रूप में मुख्यभूत महारस का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार नाट्यसमुदाय ही रस है और रससमुदाय ही नाट्य है। इसीलिए भरत ने उसे नाट्यरस कहा है (**तस्मान्नाट्य-रसाः**)। उस समुदायरूप नाट्य से रस की निष्पत्ति होती है अथवा नाट्य में ही रस है और रस ही नाट्य है। नाट्य रस सापेक्ष है और रस नाट्य सापेक्ष है। इसलिए नाट्यसंग्रह में एकादशाङ्ग का न तो नाट्य के बाहर कोई अस्तित्व है और न रस के बाहर अस्तित्व है। इसी बात को मन में रख कर भरत ने नाट्यसंग्रह के एकादश तत्त्वों पर विचार किया है।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि नाट्य एक अलौकिक रसात्मक वस्तु है जो अनुकरण, प्रतिबिम्बि, चित्र, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न तथा इन्द्रजाल इन दश लौकिक प्रतीतियों में विलक्षण तथा उसके ग्राहक ज्ञान के यथार्थज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशय, अनवधारण से भी भिन्न आस्वादन रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से वेद्य है। इस प्रकार नाट्य लोकिक पदार्थों से भिन्न अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उस नाट्य का शास्त्र अर्थात् शासन नाट्यशास्त्र है अर्थात् नाट्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझने का उपायभूत है जो अशास्त्रीय भांड़ आदि के अभिनयों (स्वांगों) से भिन्न है।

संगीतरत्नाकार में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि नाट्य शब्द का मुख्य अर्थ रस है। क्योंकि वह रसाभिव्यक्ति का कारण है और अमुख्य अर्थ नर्त्तन है। क्योंकि लक्षणावृत्ति के द्वारा नाट्याचार्यो ने चार प्रकार के अभिनयों से युक्त रसभिव्यक्ति के कारणभूत नर्त्तन को नाट्य कहा है[१]। भाव यह कि नाट्य का मुख्य अर्थ रस है और लक्षणा से उसका अर्थ नर्त्तन होता है। अभिनवगुप्त यहाँ पर 'नाट्य का वेद अर्थात् शास्त्र' इस प्रकार षष्ठी समास मानकर नाट्यवेद शब्द से नाट्यशास्त्र का ग्रहण करते हैं। अन्य आचार्य नटनीय अर्थात् अनुकरणीय दश रूपकों को ही 'नाट्य' कहते हैं। उनके अनुसार उस नाट्य का यह शास्त्र नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार दशरूपकों के लक्षण आदि का प्रतिपादक शास्त्र नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार 'यह नटनीय है' ग्रन्थ का तात्पर्य होने से रसादि का उसी में पर्यवसान हो जाता है।

---

१. नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम्।
चतुर्धाऽभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः।
नर्तनं नाट्यमित्युक्तं.............. ....॥ संगीतरत्नाकर ॥

नाट्यशास्त्र का स्वरूप

प्राचीन ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र की दो संहिताओं का उल्लेख मिलता है एक द्वादशसाहस्रीसंहिता और दूसरी षट्साहस्रीसंहिता। शारदातनय और उनके परवर्त्ती आचार्यो ने नाट्यशास्त्र की दोनो ही परम्पराओं का उल्लेख किया है। शारदातनय के अनुसार द्वादशसाहस्रीसंहिता में बारह हजार श्लोक थे और षट्साहस्री संहिता में छः हजार श्लोक[१]। रामकृष्णकवि का कहना हैं कि द्वादशसाहस्रीसंहिता की रचना वृद्धभरत ने की थी जिसे संक्षिप्त करते हुए भरतमुनि ने छः हजार श्लोकों में नाट्यशास्त्र लिखा। रामकृष्णकवि ने द्वादशसाहस्री संहिता के पाठ को अधिक प्राचीन माना है। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में दोनों संहिताओं से उद्धरण लिये हैं[२]। अभिनवगुप्त ने छः हजार श्लोक वाले नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती टीका लिखी है। बहुरूप मिश्र ने दशरूप की टीका में द्वादशसाहस्रीकार तथा षट्साहस्रीकार दोनों को उद्धृत किया है। शारदातनय के अनुसार द्वादशसाहस्री संहिता की रचना वृद्धभरत या आदिभरत ने गद्य में की थी[३]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में द्वादशसाहस्री नाट्यशास्त्र का एक बृहद् रूप अवश्य विद्यमान था, जिसका संक्षिप्त रूप छः हजार श्लोंकों का वर्तमान नाट्यशास्त्र है। जिस पर अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती नामक टीका लिखी है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती की प्रस्तावना के द्वितीय श्लोक में **'षट्त्रिंशकं भारतसूत्रमिदं विवृण्वन्'** तथा प्रथम भाग पृष्ठ संख्या आठ पर 'मध्येऽत्र षट्त्रिंशदध्याय्यां' लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि अभिनव को जिस रूप में भरतनाट्यशास्त्र ज्ञात था, उसमें ३६ अध्याय थे।

नाट्यशास्त्र के संस्करण

सर्वप्रथम एच० एच० विल्सन ने १८२६-२७ ई० में कलकत्ता से एक संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित किया[४], जिसकी भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि 'नाट्यशास्त्र जिसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों और टीकाओं में प्राप्त होते हैं, सदा के लिए लुप्त हो चुका है।' विल्सन के इस निराशापूर्ण घोषणा के लगभग ४० वर्ष बाद १८६५ ई० में एफ०

---

१. एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥ (भावप्रकाशन १०।३४-३५)

२. 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' पर राघवभट्ट की टीका (निर्णयसागर पृ०)

३. तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्। (भावप्रकाशन पृ० ३६)

४. Select Specimen of the theatre of the Hindu.s (Pat III) culcutta 1926-27

हाल को धनञ्जय के दशरूपक का अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशन के समय नाट्यशास्त्र की एक त्रुटिपूर्ण पाण्डुलिपि प्राप्त हो गई। हाल ने उस पाण्डुलिपि के आधार पर नाट्यशास्त्र के १८वें, १९वें, २०वें तथा २४वें अध्याय को दशरूपक के परिशिष्ट के रूप प्रकाशित कराया[1]। इस प्रकार सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के चार अध्यायों का प्रकाशन हुआ। इसके बाद जर्मन विद्वान् हेमान ने नाट्यशास्त्र की एक और पाण्डुलिपि प्राप्त की और तबतक को प्राप्त प्रतियों के आधार पर १८७४ ई० में नाट्यशास्त्र पर एक परिचयात्मक लेख गोटिंगन नगर की विज्ञान परिषद् पत्रिका में प्रकाशित कराया[2]। इसके बाद फ्रेञ्च विद्वान् रेग्नों ने १८८० ई० में नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय का और १८८४ ई० में नाट्यशास्त्र के १५वें तथा १६वें अध्याय का तथा छठवें एवं सातवें अध्याय का फ्रांसीसी अनुवाद सहित प्रकाशन कराया। इसके बाद रेग्नों के शिष्य ग्रोसे ने १८८८ ई० में संगीत से सम्बन्धित २८ वें अध्याय का प्रकाशन किया। तदनन्तर १८९८ ई० में नाट्यशास्त्र के १-१४ अध्याय तक का प्रकाशन कराया[3]। इस प्रकार रेग्नों और ग्रोसे दोनों ने नाट्यशास्त्र के १-१७ अध्याय तक क्रमबद्ध तथा २८वें अध्याय का प्रकाशन कराया। इन दोनों का यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इस बीच फ्रांस के संस्कृत विद्वान् सिल्वाँ लेवी ने १८९० ई० में 'इण्डियन थियेटर' नामक अपने ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखा जो १७,२० तथा २४ वें अध्याय से सम्बन्धित था। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा नाट्यशास्त्र के उद्धार का कार्य होता रहा है।

नाट्यशास्त्र का प्रथम भारतीय संस्करण १८९४ ई० में काव्यमाला सीरीज में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ३७ अध्याय थे। यह नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन एवं पूर्ण मुद्रित संस्करण था। इसके बाद इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण निर्णय सागर प्रेस बम्बई से १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादन में तब तक के प्रकाशित अन्य संस्करणों का उपयोग किया गया था। इस संस्करण में ३६ अध्याय थे।

इसके बाद नाट्यशास्त्र का एक और संस्करण १९२९ ई० में काशी संस्कृत सीरीज, बनारस से प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में कुल ३६ अध्याय थे, उसकी पाण्डुलिपि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इस प्रकार ये दोनों मूलग्रन्थ के रूप में नाट्यशास्त्र के पूर्ण संस्करण हैं।

---

१. बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, कलकत्ता १८६१-६५।
२. एम० एम० घोष—नाट्यशास्त्र अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० ३७।
३. एम० एम० घोष—नाट्यशास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० ३७।

काव्यमाला संस्करण के प्रकाशन के बाद रामकृष्ण कवि ने गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा से अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती' टीका के साथ नाट्य-शास्त्र को चार भागों में प्रकाशित किया। इसका प्रथम भाग १–७ अध्याय तक १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। द्वितीय भाग ८–१८ अध्याय सन् १९३४ ई० में, तृतीय भाग १९–२७ अध्याय तक १९५४ ई० में तथा चतुर्थभाग २८—३६ तक १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार रामकृष्ण कवि ने अभिनवभारती के साथ नाट्यशास्त्र का चार भागों में पूर्ण प्रकाशन किया। इसके सम्पादन में उन्होंने ४० पाण्डुलिपियों का उपयोग किया है। कवि ने इन पाण्डुलिपियों को उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय इन दो परम्पराओं में बाँटा है। इसके बाद १९५६ ई० में भी रामास्वामी शास्त्री ने गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा से अभिनवभारती के साथ नाट्य-शास्त्र के १–७ अध्याय तक का पुनः संशोधित संस्करण प्रकाशित किया। इन्होंने इस संस्करण में महत्त्वपूर्ण संशोधन एवं पाठ परिवर्त्तन किया है।

इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के कई अनूदित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। सर्व प्रथम प्रो० भानु ने नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायों का मराठी भाषा में अनुवाद किया है। मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के १–२७ अध्याय तक का अंग्रेजी अनुवाद किया है जिसका प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा १९५१ ई० में हुआ था। इसके बाद भी घोष ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र के मूल पाठ का प्रकाशन १९५६ ई० में कराया। इसी क्रम में उन्होंने नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट भाग २८–३७ अध्याय का अंग्रेजी अनुवाद १९६१ ई० कलकत्ता से कराया। इस प्रकार एम. एम. घोष ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का अंग्रेजी में अनुवाद करने का श्रेय प्राप्त किया। श्री घोष ने अपने अंग्रेजी अनुवाद के लिए पाठ निर्धारण में अर्थ संगति पर पर्याप्त ध्यान दिया है। उन्होंने अनुवाद की पादटिप्पणी में अनेक प्रकाशित-अप्रकाशित संस्करणों के आधार पर पाठान्तरों पर विचार भी प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर द्वारा १९६० ई० में नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्याय का अभिनवभारती टीका के साथ हिन्दी अनुवाद दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया गया। इसी समय १९६० ई० में ही डा० के. डी. वाजपेयी द्वारा १-७ अध्यायों का एक हिन्दी अनुवाद लखनऊ से प्रकाशित किया गया।

इसके बाद ही डा० रघुवंश ने नाट्यशास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का विस्तृत व्याख्या के साथ हिन्दी अनुवाद तैयार किया जिसे मोतीलाल बनारसीदास ने १९६३ ई० में प्रकाशित किया। हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित यह संस्करण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद बाबूलाल शुक्ल ने नाट्यशास्त्र का हिन्दी अनुवाद किया है जिसके तीन भाग मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्य

मधुसूदन शास्त्री ने नाट्यशास्त्र मूल तथा अभिनवभारती का हिन्दी में अनुवाद किया है और साथ में मधुसूदनी संस्कृत टीका भी लिखी है। जिसके दो भागों का प्रकाशन हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा किया गया है।

नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय एवं शैली

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के वर्णन के साथ नाट्य के स्वरूप एवं महत्त्व पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप के निर्माण की विधि तथा इसके अङ्ग नेपथ्यगृह, रङ्गपीठ, मत्तवारणी, स्तम्भविधान, दारुकर्म आदि का विस्तृत विवेचन है। तृतीय अध्याय में नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए अनेक देवताओं की पूजाविधि एवं वरप्राप्ति का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में तण्डु द्वारा प्रयुक्त ताण्डव नृत्त के वर्णन के साथ करणों, अङ्गहारों एवं रेचकों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में ताण्डव की उत्पत्ति एवं स्वरूप तथा नृत्त एवं नृत्य प्रयोग विधान के साथ गीत एवं वाद्यों के प्रयोग विधि का विस्तृत वर्णन है। नृत्तशास्त्र की दृष्टि से इस अध्याय का अधिक महत्त्व है। पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग-विधान का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसी के साथ नान्दी, प्रस्तावना, ध्रुवा एवं चित्रपूर्वरङ्ग विधि का विधिवत् विवेचन किया गया है। नाट्य-रचना एवं नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व है।

षष्ठ अध्याय में रस का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसमें ऋषियों के द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्न, रसों के नामकरण का आधार, संग्रह, कारिका और निरुक्त के स्वरूप, नाट्यसंग्रह, रसनिष्पत्ति, रसों की संख्या तथा स्थायीभावों का विस्तृत विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में भावों का शास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से इन दोनों अध्यायों का विशेष महत्त्व है।

अष्टम अध्याय में अभिनय के चार भेद बतलाने के पश्चात् आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत शिर, नेत्र, भ्रू, कपोल, ओष्ठ, मुख, नासिका, ग्रीवा आदि उपाङ्गों के अभिनय का विस्तृत विवेचन किया गया है। नवम अध्याय में हस्ताभिनय के अन्तर्गत संयुत और असंयुत हस्तमुद्राओं के साथ नृत्तहस्त मुद्राओं का विस्तृत वर्णन है। दशम अध्याय में वक्ष, पार्श्व, कटि, उरू, जंघा तथा पैरों से किये जाने वाले अभिनयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। एकादश अध्याय में चारी निरूपण के अन्तर्गत आकाश-चारी और भौमचारी के वर्णन के साथ स्थानकों का विवेचन किया गया है। द्वादश अध्याय में चारियों के संयोग से बनने वाले मण्डलों के लक्षण, भेद तथा प्रयोग आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। त्रयोदश अध्याय में गति प्रचार का वर्णन है। इसमें

पात्रों के विविध प्रकार की गतियों का विवेचन है। चतुर्दश अध्याय कक्ष्या विभाग तथा प्रवृत्ति-व्यञ्जन के प्रतिपादन के साथ लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दो नाट्य-विधाओं का विस्तृत वर्णन है। पञ्चदश अध्याय से एकोनविंश अध्याय तक (पन्द्रहवें अध्याय से उन्नीसवें अध्याय तक) वाचिक अभिनय के सभी पक्षों पर साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। पन्द्रहवें और सोलहवें अध्याय में वाचिकाभिनय के उपयोगी व्याकरण के विषयों के साथ छन्दों एवं उनके भेदों का विधिवत् विवेचन किया गया है। सत्रहवें अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत काव्यलक्षणों, अलङ्कारों, दोषों एवं गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अठारहवें अध्याय में चतुर्विध भाषाओं तथा सप्तविध विभाषाओं का विधिवत् वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय में काकु, स्वर तथा उनके प्रकारों और पाठ्य के गुण-दोषादि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

बीसवें अध्याय में दस रूपकों के विस्तृत विवेचन के साथ दस लास्याङ्गों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त-विधान, सन्धियों, पञ्च अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों एवं अर्थोपक्षेपकों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। बाइसवें अध्याय में नाट्योपयोगी वृत्तियों का विधिवत् विवेचन किया गया है। तेईसवें अध्याय में आहार्याभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य-विधान, नेपथ्य के भेद तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का विवेचन किया गया है। चौबीसवें अध्याय में सामान्य-भिनय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हैं। इसमें सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्त्रियों के स्वभावज एवं अयत्नज अलङ्कारों, हाव, भाव, हेला आदि अङ्गज अलङ्कारों, रस और भावों के अनुसार शारीराभिनय, काम की दश अवस्थाओं, दूतीप्रेषण तथा नायिका भेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। पच्चीसवें अध्याय में वैशिक पुरुषों के गुणों, उसके मित्र और दूती आदि, स्त्रियों की चेष्टाओं, स्त्रियों के यौवन की चार अवस्थाओं, प्रेमियों के प्रकार तथा स्त्रियों को वश में करने के उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है। छत्तीसवें अध्याय में चित्राभिनय का विधिवत् विवेचन है। अङ्गादि अभिनयों में जो बातें रह गई हैं उनका भी इसमें विवेचन किया गया है। सत्ताइसवें अध्याय में दैवी एवं मानुषी सिद्धियों के विवेचन के साथ नाट्य के निर्णायकों एवं परीक्षकों, प्रेक्षकों के गुणों एवं योग्यता आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अट्ठाइसवें अध्याय से चौंतीसवें अध्याय तक छः अध्यायों में संगीतशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन हुआ है। अट्ठाइसवें अध्याय में चार प्रकार के वाद्यों, सात स्वरों तथा उसके चार प्रकारों, ग्राम, मूर्च्छना, श्रुतियों एवं जातियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। उन्तीसवें अध्याय में तत वाद्यों से सम्बन्धित जातियों के रसाश्रित प्रयोग, चार प्रकार के वर्ण और उनपर आश्रित तैतीस अलङ्कारों, वीणावादन के भेदों और बहिर्गीत के प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया

किया गया है। तीसवें अध्याय में सुषिर वाद्यों का विधिवत् विवेचन किया गया है। इकतीसवें अध्याय में ताल और लय के विवेचन के साथ आसारित, वर्धमान आदि गीत विधियों का विस्तार के साथ विधिवत् विवेचन किया गया है। बत्तीसवें अध्याय में ध्रुवाओं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। तैंतीसवें अध्याय में गायक और वादकों के गुण, दोष एवं योग्यता आदि पर विचार किया गया है। सौंतीसवें अध्याय में मृदङ्ग आदि अवनद्ध वाद्यों तथा उनके भेदों, विधियों एव वाद्यों के अधि-देवताओं का विधिवत् निरूपण किया गया है। पैंतीसवें अध्याय में पुरुष और स्त्रियों की तीन प्रकृतियों, चार प्रकार के नायकों तथा अन्तःपुर के परिजनों का वर्णन है। पैंतीसवें अध्याय में पात्रों की भूमिकाओं का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। छत्तीसवें और सैंतीसवें अध्याय में नाट्यावतरण की कथा वर्णित है।

शैली

नाट्यशास्त्र में प्राचीनकाल में प्रचलित अनेक प्रकार की शैलियों का समन्वय है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र गद्य और पद्य दोनों प्रकार की शैलियों में निबद्ध है। नाट्य-शास्त्र में सूत्र, भाष्य और निरुक्त तीनों शैलियों के गद्य मिलते हैं। पद्य अधिकांशतः अनुष्टुप् छन्द में हैं। बहुत थोड़े से पद्य आर्या और उपजाति छन्दों में हैं। नाट्यशास्त्र मूलतः सूत्रशैली में लिखा गया था, बाद में वह कारिका के रूप में विकसित हुआ, यह अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की मान्यता है। दूसरे आचार्यों की मान्यता है कि नाट्यशास्त्र मूलरूप में गद्य और पद्य दोनों की मिश्रित शैली में लिखा गया होगा। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में गद्य-पद्य की अनेक शैलियों का मिश्रण है।

नाट्यशास्त्र की गद्य-शैली के मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं—सूत्र, भाष्य और निरुक्त। नाट्यशास्त्र में पाणिनि, पतञ्जलि और यास्क तीनों की गद्यशैलियों के दर्शन होते हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र का भरतसूत्र के रूप में निर्देश किया है। इसमें सूत्रशैली में सिद्धान्त का विवेचन हुआ है और निरूक्त शैली में शब्दों का निर्वचन तथा विश्लेषण हुआ है और सूत्रों में अनुस्यूत सिद्धान्तों का भाष्य शैली में व्याख्या की गई है। जैसे—नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में सूत्रशैली का गद्य भरत का रससूत्र है—**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"**। इसमें रस सिद्धान्त का निरूपण है। सूत्र में निरूपित रस-सिद्धान्त का भाष्यशैली व्याख्यान इस प्रकार है—

"कोऽत्र दृष्टान्तः ? अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथाहि गुड़ादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्व-माप्नुवन्तीति।"

नाट्यशास्त्र के कुछ गद्यांश निरुक्त की गद्य-शैली में मिलते हैं जिसमें शब्दों का निर्वचन किया गया है। नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय में 'भाव' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

"अत्राह—भावा इति कस्मात् ? किं भवन्तीति भावाः ? किं वा भावयन्तीति भावा ? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् कव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यर्थान्तरम्।"

नाट्यशास्त्र का अधिकांश भाग पद्यात्मक है। इनमें अधिकतर पद्य अनुष्टुप् छन्द में हैं। ये सब सूत्र या कारिकाओं के रूप में है। भरत मुनि ने इनके अतिरिक्त अपने विचारों के समर्थन में आनुवंश्य आर्याओं, श्लोक और सूत्रानुविद्ध आर्याओं का भी उपयोग किया है। इनके अतिरिक्त उदाहरण आदि के रूप में उपजाति छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य, संग्रह श्लोक, कारिका, निरुक्त आदि सभी शैलियों का वर्णन प्राप्त होता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार सूत्र का अर्थ है परिभाषा या लक्षण और उस सूत्र का स्पष्टीकरण रूप व्याख्या भाष्य या परीक्षा है (**सूत्रं लक्षणं भाष्यं तद्व्यक्तीकरण-रूपा परीक्षा**)। कारिका शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनव कहते हैं कि सूत्र, श्लोक और लक्षण रूप अर्थ तीनों को कारिका कहा जा सकता है। भाव यह कि जो अर्थ संक्षेप रूप से स्वल्प शब्दों वाले सूत्र से कहा जाता है उस लक्षण रूप अर्थ को 'कारिका' कहते हैं। उस अर्थ के वाचक सूत्र को भी 'कारिका' कहा जाता है और उस सूत्र की अपेक्षा जो पीछे पढ़ा गया श्लोक है। वह श्लोक भी 'कारिका' है। (**सूत्रतः सूत्रणेन तेन सूत्रमपि कारिका' तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका**)। इसी को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि सूत्र सूचक (सूत्रण करने वाला) या लक्षण है। इसी से कारिका का भी ग्रहण हो जाता है। ग्रन्थ का अर्थ भाष्य है। उसके द्वारा किया गया विकल्पन अर्थात् आक्षेपप्रतिसमा-धानात्मक विकल्पन निरुक्त या परीक्षा है (**सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि। तेनैव च कारिका सङ्गृहीता। ग्रन्थो भाष्यं तत्कृतं च विकल्पनमाक्षेपप्रतीसमाधानात्मकं परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता**)। सूत्र शब्द से केवल गद्य का ही ग्रहण नहीं होता, क्योंकि काव्यप्रकाश में कारिकाएँ तथा धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र में श्लोक भी सूत्र कहे जाते हैं। सूत्र शब्द से यहाँ पर श्लोक और कारिका दोनों का ग्रहण होता होता है। सूत्र को लक्षण या कारिका कहते हैं और सूत्र के संक्षिप्त अर्थ के प्रतिपादक श्लोक भी कारिका है। इस प्रकार श्लोक और कारिका दोनो ही सूत्र के पर्याय सिद्ध होते हैं। अतः भरत के नाट्यशास्त्र में सूत्र, श्लोक, कारिका, संग्रह, निरुक्त, भाष्य सभी का उपयोग हुआ है। इसीलिए भवभूति ने उत्तररामचरित नाटक में भरत को तौर्यत्रिकसूत्रकार कहा है।

'आनुवंश्य' शब्द के अर्थ पर विचार करने से प्रतीत होता है कि वंशपरम्परा अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त श्लोक को आनुवंश्य श्लोक कहते हैं। ये आनुवंश्य श्लोक सूत्रार्थ का ही संक्षेप में प्रकाशन करते हैं अतः ये कारिका शब्द से अभिहित किये जाते हैं[१]। महाभारत में भी आनुवंश्य श्लोकों की परम्परा मिलती है[२]। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने आनुवंश्य श्लोकों को परम्परागत आख्यान के रूप में स्वीकार किया है[३]। मत्स्यपुराण में भी आनुवंश्य श्लोक प्राप्त होते हैं। ये आनुवंश्य श्लोक नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्यों की परम्परा से ग्रहण किये गये हैं। आनुवंश्य श्लोकों के अतिरिक्त सूत्रानुबिद्ध आर्याएँ भी जो सूत्र के अनुबिद्ध अर्थ को विस्तारित करती हैं[४] परम्परागत रूप में गृहीत हैं। इनके अतिरिक्त 'अत्रार्या:' 'अत्रार्ये भवत:' आदि उद्धरण भी नाट्यशास्त्र में गृहीत है। अभिनव ने इन आर्याओं को भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत माना है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ये आनुवंश्यश्लोक, सूत्रानुविद्ध आर्याएँ तथा आर्याएँ भरत मुनि द्वारा रचित नहीं है अपितु पूर्वपरम्परा से गृहीत हैं। भरत ने पूर्वाचार्यों के मतों को अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया है। कहीं कहीं मतभेद भी प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भरत ने नाट्यशास्त्र को एक सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित रूप प्रदान किया।

नाट्यशास्त्र का रचयिता

भारतीय परम्परा भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का रचयिता मानती है और उन्हें पौराणिक पुरुष बतलाती है। क्योंकि उन्होंने पौराणिक शैली में नाट्यशास्त्र की रचना की है। दशरूपक, भावप्रकाशन, रसार्णवसुधाकर, नाट्यदर्पण, संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में भरतमुनि को नाट्यशास्त्र-प्रणेता के रूप में स्मरण किया गया है। अमरकोष में भरत को नट का पर्याय माना है। क्षीरस्वामी भरत शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते है कि 'भरतस्यापत्यम्' इस विग्रह में 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिध्योऽण्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर 'भरत' शब्द बनाता है। तदनुसार 'भरत' शब्द का अर्थ 'नट' है और नटसूत्र के रचयिता भरत हैं। भवभूति ने भरत को तौर्यत्रिकसूत्रकार कहा है। इस प्रकार भरत नाट्यशास्त्र के मूल रचयिता हैं और बाद में उनके प्रयोक्ता को भी नट कहा जाने लगा। ऐसा प्रतीत होता हैं कि उस समय नटों और प्रयोक्ताओं

---

१. अत्रेति भाष्ये। अनुवंशभवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तिविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवत:।

(अभिनवभारती भाग १ पृ० २९०)

२. यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथा जगौ। (महाभारत वनपर्व ८७।१६)

३. परम्परागतमाख्यानं श्लोकम् (नीलकण्ठ)

४. अपि चात्रसूत्रानुविद्धे आर्ये भवत; (नाट्यशास्त्र)

को हेय की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसीलिए धर्मसूत्रों और स्मृतियों में उन्हें निम्न श्रेणी में गिना गया है और उनके साथ शूद्रवत् व्यवहार करने का उल्लेख है। नाट्यशास्त्र के रचयिता ने नाट्यकला को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिए पूर्ण प्रयास किया है और उसे धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व से समन्वित करने की चेष्टा की है। सम्भवतः इसी दृष्टि से नाट्यशास्त्र में प्रथम पांच अध्याय जोड़े गये हैं[1]। भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में यह स्वीकार किया है कि वेदाध्ययन, यज्ञ एवं दान करने से जो फल प्राप्त होता है वही फल नाट्यशास्त्र के अध्येताओं, श्रोताओं (दर्शकों) एवं प्रयोक्ताओं को भी प्राप्त होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत एक थे या अनेक? इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र की रचना भरतमुनि के द्वारा हुई है अनेक भरतों के द्वारा नहीं। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती इस मान्यता का खण्डन किया है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम छः श्लोकों की रचना भरत के किसी शिष्य ने की है! क्योंकि वहाँ भरतमुनि का अन्य पुरुष के रूप में प्रयोग है और कोई ग्रन्थकार अपने लिए अन्यपुरुष का प्रयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों के मध्य जहाँ भी प्रश्न एवं उत्तर की योजना हुई है वे सब उनके शिष्यों के वचन हैं[2] और मूल पाठ भरतमुनि की रचना है। इसप्रकार नाट्यशास्त्र को अनेककर्त्तृत्व माना जा सकता हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र एक ही व्यक्ति की रचना है। क्योंकि एक ग्रन्थ के अनेक रचयिता मानने में कोई प्रमाण नहीं है[3]। ग्रन्थ प्रणेता प्रायः अपने लिए अन्यपुरुष का प्रयोग करते हैं और प्रश्नोत्तर शैली की योजना श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि शास्त्रों में भी देखी जाती है। वहाँ प्रश्न के रूप में पूर्वपक्ष प्रस्तुत (उपस्थित) किया जाता है और उत्तरपक्ष के रूप में सिद्धान्त की स्थापना होती है। एक ही आचार्य प्रश्न और उत्तर दोनों प्रस्तुत करते हैं अतः प्रश्नोत्तरशैली के आधार पर नाट्यशास्त्र को अनेककर्त्तृत्व मानना उचित नहीं प्रतीत होता और जो नास्तिक शिरोमणि आचार्य कहते हैं कि सदाशिव, ब्रह्मा और भरत ये तीन नाट्यशास्त्र के प्रवर्त्तक थे, उनके मतों के प्रतिपादन के लिए उनके ग्रन्थों के प्रमुख अंशों का संग्रह

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० २७-२८।

२. मध्ये षट्त्रिंशदध्याय्यां यानि प्रश्नप्रतिवचनयोजनानि तानि तच्छिष्यवचनान्येवेत्याहुः।
(अभिनवभारती भाग १ पृ० ९)

१. एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात्। स्व-पर-व्यापारेण पूर्वोत्तरपक्षादीनां श्रुतिस्मृतिव्याकरणतर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात्।
(अभिनवभारती भाग १ पृ० ९)

करके नाट्यविषयक एक संग्रह-ग्रन्थ तैयार किया गया, वही नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र एक संग्रह ग्रन्थ है, भरतमुनि द्वारा रचित नहीं है[१]। अभिनवगुप्त अपने नास्तिकगुरु की इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं। वे भरतमुनि को ही नाट्य-शास्त्र का रचयिता स्वीकार करते हैं।

एक अन्य परम्परा नाट्यशास्त्र के सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को देती है। उनके अनुसार ब्रह्मा जो सृष्टिकर्त्ता कहे जाते हैं, ने नाट्यवेद की रचनाकर भरत को सिखाया और भरत ने अपने पुत्रों के साथ उसका प्रयोग किया। नाट्यशास्त्र[२] और अभिनय-दर्पण[३] में ब्रह्मा को नाट्यशास्त्र का रचयिता कहा गया है। अभिनवगुप्त ने भी ब्रह्म-मत प्रतिपादक नाट्यशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। ब्रह्मा ने ही भरत को नाट्यशास्त्र की शिक्षा देकर नाट्यप्रयोग के लिए नियोजित किया था।

नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य, कारिका, आनुवंश्य श्लोक, आर्याएँ तथा विभिन्न प्रकार की रचना-शैलियों के देखने से प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। वहाँ प्रयुक्त भरत शब्द जातिवाचक प्रतीत होता है जो अभिनय का कार्य करती थी (**बिभर्त्ति स्वाङ्गमिति भरतः**) उसे भरत कहते थे। कोषादि ग्रन्थों में भी भरत शब्द नट का पर्याय माना गया है। स्वयं नाट्यशास्त्र में भी नटन करने वाले अभिनेताओं तथा उनके सहायकों को 'भरत' कहा गया है[४]। नाट्यशास्त्र में 'भरत' शब्द का अर्थ करते हुए बताया गया है कि नाना प्रकार की भूमिकाओं को ग्रहण कर नाट्य को धारण करने के कारण 'भरत' कहा जाता था[५]। शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्य-प्रयोग के लिए प्रस्तुत मुनियों को नाट्यवेद को भरण (ग्रहण) करने का आदेश दिया था, इसलिए वे 'भरत' कहलाये और नाट्यवेद भी

---

१. एतेन सदाशिवब्रह्माभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनायमतत्रयीसारासार—विवेचनं तद्ग्रन्थप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिविरचितमिति यदाहुः नास्तिक-धुर्योपाध्यायस्तं प्रत्युक्तम्। (अभिनवभारती भाग १ पृ० ९)

२. उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम्।

(नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय (काशी) १५।२४)

३. ऋगयजुःसामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात्।
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मार्थकाममोक्षदम्॥ (अभिनयदर्पण ८)

४. नाट्यशास्त्र १३।६६, ३५।२१-२२।

५. वही ३५।२३।

उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ[१]। एक अन्य व्याख्या के अनुसार भाषा, वर्ण, उपकरण, नानाप्रकृतिसम्भव वेष, वय, कर्म और चेष्टा को भरण (धारण) करने के कारण वे 'भरत' कहे जाते हैं[२]। इस प्रकार नटन करने वाले वर्ग के लिए 'भरत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इसीलिए नाट्यशास्त्र को 'भरतों अर्थात् नटों का शास्त्र शासन के उपायभूत ग्रन्थ कहा गया है। (**भरतानां शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्**)। इस प्रकार नाट्यशास्त्र किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक भरतों के मतों एवं विचारों का संग्रह ग्रन्थ है और संग्राहक ने भरत के नाम से उसे प्रचारित कर दिया है।

तमिलभाषा में 'पञ्चभरतम्' नामक एक कृति मिलती है जिसमें भरत से सम्बन्धित पांच नाम आये हैं - आदिभरत या वृद्धभरत, मतङ्गभरत, हनुमद्भरत, अर्जुनभरत और नन्दिभरत[३]। ये सभी नाट्य एवं संगीत के आचार्य थे। शारदातनय को 'पञ्चभारतीयम्' नामक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता था। सम्भवतः यह वही ग्रन्थ होगा जिसमें आदिभरत, नन्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत और मतङ्ग भरत के सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन होगा[४]। इन पांचों ने नाट्यवेद का भरण (ग्रहण) किया था, इसलिए वे 'भरत' कहलाये। शारदातनय के अनुसार इसी परम्परा के किसी भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती भरतों के सिद्धान्तों का सार ग्रहण कर एक नाट्य-संग्रह तैयार किया जो नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ[५]। बाद में वह भरत के नाम से प्रसिद्ध होगया।

शारदातनय के अनुसार भरतों ने नाट्यवेद से सार को लेकर दो संस्करण तैयार किये, जिनमें से एक में बारह हजार श्लोक थे जिसका अभिधान 'द्वादशसाहस्री संहिता' था। इस संस्करण के सम्पादक आदिभरत थे। आन्ध्रलिपि में प्राप्त 'आदि-भरत' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र का प्रतिरूप प्रतीत होता है[६]। राम-कृष्णकवि का कथन है कि वृद्धभरत ने बारह हजार श्लोकों में एक ग्रन्थ तैयार किया

---

१. भावप्रकाशन (शारदातनय) २८२।१-४

२. वही २८८।३-४।

३. भारतीय साहित्य पृ० ६९। संगीत परम्परा और भरतार्णव (डा० पारसनाथ द्विवेदी का लेख) आगरा।

४. भरतकोष भूमिका पृ० १६।

५. भरतनाट्यशास्त्रम्—भरतानां वृद्धभरत-नन्दिभरत-कोहलभरत-दत्तिलभरत-मतङ्ग-भरतादीनां शास्त्रं नाट्यशास्त्रम्।

६. भाण्डारकर प्राच्यविद्या पत्रिका पृ० १३७-१७९ पर (मनकड़ का लेख)।

था जिसका कुछ अंश प्राप्य है[1]। दूसरे संस्करण में छः हजार श्लोक थे जिसका अभिधान 'षट्साहस्रीसंहिता' था इसके सम्पादक 'नन्दिभरत' थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले यह 'नन्दिभरत' के नामसे प्रसिद्ध रहा होगा, जिसमें नाट्य एवं संगीत का समवेत प्रतिपादन किया गया होगा और बाद में भरत नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध होगया होगा[2]। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय के अन्त में '**समाप्तश्चायं** (ग्रन्थ:) **नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्**' यह लेख मिलता है जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि 'नन्दिभरत' नामक ग्रन्थ अवश्य रहा है। मैसूर और कुर्ग की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'नन्दिभरत' नामक कृति का उल्लेख है[3]। यह नन्दिभरत की रचना प्रतीत होती है। मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में नन्दिभरत के नाम से '**भरतार्थचन्द्रिका**' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र का उत्तरभाग जिसका एक अंश संगीतविषयक है, का सम्पादन नन्दिभरत ने किया है। इस प्रकार इस अंश को नन्दिभरत की रचना कही जाती है। अभिनवगुप्त नन्दिभरत को एक व्यक्ति न मानकर नन्दि और भरत दो व्यक्ति मानते हैं और उनका दूसरा नाम तण्डु और मुनि बतलाते हैं[5]। इस प्रकार नाट्यशास्त्र नन्दि और भरत दोनों की संयुक्त रचना प्रतीत होती है। कन्हैयालाल पोद्दार नन्दिभरत का अर्थ नन्दिशिष्य भरत ऐसा अनुमानित करते हैं। उनके अनुसार अन्य भरतों से अलग करने के लिए नन्दिभरत शब्द का प्रयोग किया गया होगा। जैसाकि कहा जाता है कि नन्दि ने शिव के आदेश से भरत को नाट्य की शिक्षा दी थी। इस प्रकार नन्दि (नन्दिकेश्वर) नाट्यशास्त्र प्रेणता, ताण्डवनृत्य के उपदेष्टा एवं रसशास्त्र के आचार्य थे।

नाट्यशास्त्र के प्रणेताओं में कोहल-भरत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भविष्यवाणी के रूप में यह बताया गया है कि नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट भाग का कथन कोहल करेंगे (**शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति**— ना. शा. ३६।१८)। इससे प्रतीत होता है कि कोहल ने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ

---

१. जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग ३ पृ० २३।

२. मैसूर एण्ड कुर्ग की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में नन्दि के नाम से 'नन्दिभरत' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।
(मैसूर एण्ड कुर्ग कैटलाग, पृ० २९२—(यस० के० दे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० १९)

३. मैसूर एण्ड कुर्ग कैटलाग पृ० २९२।

४. मद्रास कैटलाग (१३००९)।

५. तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी (अभिनवभारती भाग १ पृ० ८८)।

अवश्य लिखा होगा किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं होता। हाँ अभिनवभारती में अनेक स्थलों पर कोहल के मतों का निर्देश अवश्य मिलता है। षष्ठ अध्याय में अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाट्य के पाँच अङ्ग होते हैं किन्तु 'रसा भावा' (ना० शा० ६।१०) इत्यादि श्लोक में नाट्य के जो ग्यारह अङ्ग परिगणित हैं वे कोहल आदि के मतानुसार हैं[1]। मद्रास ग्रन्थसूची में कोहल का 'कोहलीय अभिनयशास्त्र' नामक एक ग्रन्थ मिलता है जिसमें कोहल के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है[2]। मद्रास के ग्रन्थालय में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'कोहलरहस्य' नामक एक खण्डित ग्रन्थ प्राप्त है जिससे कम से कम तेरह अध्याय रहे होंगे[3]। इस प्रकार कोहल नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के आचार्य थे और वर्तमान नाट्यशास्त्र में उनके ग्रन्थ के कुछ अंश अवश्य सम्मिलित हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरतपुत्रों में दत्तिल का उल्लेख है। कुट्टनीमत में नाट्यशास्त्रकार के रूप में दत्तिल का उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने ध्रुवागीति के सम्बन्ध में दत्तिल का उल्लेख किया है और ताल के सम्बन्ध में उनका उद्धरण उद्धृत किया है। शिङ्गभूपाल ने दत्तिल का उल्लेख नाट्यशास्त्रकार के रूप में किया है। बर्नेल के अनुसार '**दत्तिलकोहलीयम्**' नामक ग्रन्थ में दत्तिल और कोहल के मतों का संग्रह है। रामकृष्ण कवि के अनुसार दत्तिल के ग्रन्थ का नाम 'गान्धर्ववेदसार' है। दत्तिल की एक कृति 'दत्तिलम्' प्रकाशित है। इस प्रकार दत्तिल का नाट्यशास्त्र के निर्माण में योगदान रहा है। 'सिलप्पादिकरण' नामक तमिल ग्रन्थ में मतङ्गभरत का उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में मतङ्ग का मुनि के रूप में उल्लेख किया है और उनके दो श्लोक भी उद्धृत किये हैं। लक्ष्मण भास्कर द्वारा रचित 'मतङ्ग-भरत' नामक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता चला है जिसमें मतङ्गमुनि के मतों का प्रतिपादन किया गया है। मतङ्गमुनि द्वारा लिखित 'बृहद्देशी' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। सरस्वती महल की ग्रन्थ-सूची में क्रमसंख्या १-४ पर 'हनुमद्भरतम्' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है जिसमें संगीत और नृत्य पर विचार किया गया है। शारदातनय के भावप्रकाशन में हनुमद्भरत का निर्देश प्राप्त होता है। संगीत के ग्रन्थों में हनुमन्मत के उद्धरण मिलते हैं। उनके मतों का संग्रहग्रन्थ का नाम 'हनुमन्संहिता' है। इसे 'आञ्जनेयसंहिता' भी कहते हैं।

नाट्यशास्त्र के साक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि उसके पूर्व भरतों की एक परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा में नाट्य और संगीत सम्बन्धी अनेक

---

१. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्—अनेन तु श्लोकेन कोहलादिमतेनैकादशाङ्गत्वं उच्यते, न तु भरते। (अभिनवभारती भाग १ पृष्ठ २६४)

२. मद्रास कैटलाग १२९८१—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २१

३. मद्रास ग्रन्थालय—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २५

ग्रन्थ लिखे गये। इसी परम्परा के किसी आचार्य ने उन सभी ग्रन्थों से सार को संग्रह कर एक सुव्यवस्थित संग्रहग्रन्थ सम्पादित किया जो नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार नाट्यशास्त्र एक संग्रहग्रन्थ है। उसमें अनेक आचार्यों के मतों एवं विचारों का संग्रह हुआ है। हाँ उनका सुव्यवस्थित सम्पादन एक भरत के द्वारा हुआ है अतः सम्पादक होने के कारण उन्हें भरतकृत मान लिया गया और भरतनाट्य-शास्त्र कहा जाने लगा।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्यशास्त्र का काल निर्धारण करना एक जटिल समस्या है। इस ग्रन्थ का प्रणयन किसी एक समय में एक व्यक्ति के द्वारा हुआ होगा, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। भारतीय परम्परा भरत को नाट्यशास्त्र का रचयिता मानती हैं, किन्तु भारतीय इतिहास में अनेक भरतों का होना काल-निर्धारण में एक उलझन उत्पन्न कर देता है जिसका समाधान अभी तक नहीं हो सका है, जो अब भी अनुसन्धेय है। हम यहाँ ऐसे आकर ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों, भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण के साथ आभ्यन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण का प्रयास करेंगे।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएँ—

नाट्यशास्त्र के १-१४ अध्यायों के प्रथम सम्पादक फ्रेञ्च विद्वान् पी. रेग्नों तथा उनके शिष्य जे. ग्रूसे महोदय ने नाटयशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने नाटयशास्त्र का रचनाकाल रेग्नों के समान ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी माना है[१]। प्रो० सिल्वा लेवी ने जूनागढ़ शिलालेख और नाटयशास्त्र में प्रयुक्त सम्बोधन वाचक -स्वामिन्, सुगृहीतनामन् तथा भद्रमुख आदि शब्दों की समानता के आधार पर नाटयशास्त्र का समय क्षत्रपों का शासनकाल द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है[२]। किन्तु काणे महोदय प्रो० लेबी के मत से सहमत नहीं दिखाई देते। उनका कहना है कि शब्दों के साम्य के आधार पर नाटयशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि यह भी सम्भव है कि इन शब्दों का प्रथम प्रयोग नाटयशास्त्र में ही हुआ हो और वहीं से शिलालेखों में ले लिया गया हो। अतः नाटयशास्त्र का रचनाकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। डा० दिनेशचन्द्र सरकार नाटयशास्त्र में प्रयुक्त 'नेपाल' तथा 'महाराष्ट्र' शब्द का प्रथम उल्लेख प्रयागस्तम्भाभिलेख और ऐहोल शिलालेख में पाये

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५०
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५०।

जाने के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी के बाद का मानते हैं[१]। किन्तु काणे महोदय का कथन है कि शिलालेखों में 'नेपाल' एवं 'महाराष्ट्र' शब्दों का उल्लेख होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके पूर्व उन शब्दों का अस्तित्व नहीं था। २०० ई० पू० नानाघाट अभिलेख में भी महाराष्ट्री शब्द का उल्लेख मिलता है। दूसरे प्रवरसेन रचित सेतुबन्ध काव्य में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस रूप में प्रयोग हुआ है उससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इन शिलालेखों के रचनाकाल से शताब्दियों पूर्व महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करने वाले मराठी जनपद विद्यमान रहे होंगे[२]। अत: काणे महोदय के अनुसार नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी के पश्चात् नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कर्नल जैकब और ए० बी० कीथ नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं[३]। डा० मनमोहन घोष भाषाशास्त्रीय, छन्दःशास्त्रीय, भौगोलिक तथ्यों आदि के आधार पर नाट्यशास्त्र के प्रणयन का समय ई. पू. प्रथम शताब्दी तथा ई. द्वितीय शताब्दी के मध्य मानते हैं[४]। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् म. म. रामकृष्ण कवि नाट्यशास्त्र का समय ईसापूर्व ५०० वर्ष स्वीकार करते हैं[५]।

अन्त:साक्ष्य—

नाट्यशास्त्र में विविध विषयों के विवेचन के सन्दर्भ में प्राचीनकाल के अनेक आचार्यों और ग्रन्थों का उल्लेख है। अङ्गहारों के विवेचन के सन्दर्भ में तण्डु[६], ध्रुवा और गान्धर्व के सम्बन्ध में नारद[७], अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बृहस्पति[८], गृह-रचना तथा वास्तुकला के सन्दर्भ में विश्वकर्मा[९], शब्दलक्षण के सम्बन्ध में पूर्वाचार्य[१०], पुराण[११], तथा कामतन्त्र[१२] का उल्लेख मिलता है। नाट्यशास्त्र में इन प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थों का नामोल्लेख होने से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि ये आचार्य नाट्यशास्त्र की रचना के समय तक परमख्याति को प्राप्त हो चुके थे और उनका मत उस समय तक

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५१-५२।
२. भरत और भारतीय नाट्यकला पृ० ३१।
३ संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५०।
४. वही पृ० ५०।
५ भारतकोष—रामकृष्णकवि पृष्ठ २।
६. नाट्यशास्त्र ४।१७। ७. वही ३२।१, ३२।४८४।
८. २४।८८; ३४।७९। ९. वही २।७, १२।
१०. वही १५।२२। ११. वही १४।४६; २७।५९।
१२. वही २३।१७, ५२।

मान्य हो चुका था। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का स्पष्ट संकेत मिलता है।

भरत और तण्ड्—तण्डु भरत के शिक्षक तथा ताण्डव नृत्त के प्रयोक्ता, अङ्गहार, रेचक एवं नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता एक नाट्याचार्य थे। उन्होंने शिव की आज्ञा से भरत को करणों एवं रेचकों से युक्त अङ्गहारों की शिक्षा दी थी। तण्डु का समय ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी माना जाता है[1] अतः भरत का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी होना चाहिए।

बृहस्पति का ग्रन्थ अप्राप्य है किन्तु नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामसूत्र में उनका आचार्य के रूप में उल्लेख है। भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्त विनियोग का निरूपण है। बृहस्पति का समय ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जाता है[2], अतः भरत का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी या उसके बाद का मानना चाहिए।

भाषा-शैली– नाट्यशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह अश्वघोष के काव्यों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा की अपेक्षा परवर्त्ती ज्ञात होता है। इस साक्ष्य के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल चतुर्थ शताब्दी के पूर्व तथा प्रथम शताब्दी के बाद माना जाता है। किन्तु नाट्यशास्त्र की आनुवंश्य आर्याओं, कारिकाओं, भरतवाक्य, नान्दी आदि विविध प्रसङ्गों के वर्णन में संस्कृत भाषा का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसके आधार पर रेनाड महोदय नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा के प्रथम शतक का प्रारम्भिक काल मानते है। नाट्यशास्त्र में आनुवंश्य आर्याओं, सूत्रानुविद्ध आर्याओं, श्लोकबद्ध कारिकाओं, गद्य, सूत्र तथा सूत्रभाष्य के रूप में उपलब्ध शैली की विविधता नाट्यशास्त्र की प्राचीनता की ओर संकेत करती है।

अलङ्कार—नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों की चर्चा की गई है। जब कि भामह-दण्डी के समय छठी शताब्दी तक उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और इनकी संख्या चालीस तक पहुँच गई। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में कुल चार अलङ्कारों का प्रयोग उसकी प्राचीनता का द्योतक है।[3]

---

१. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य साहित्य। पृ० २१

२. वही पृ० २२

३. भरत और भारतीय नाट्यकला पृ० २८

महाग्रामणी—नाट्यशास्त्र में 'महाग्रामणी' शब्द ग्रामदेवता का वाचक है। अभिनवगुप्त इसका अर्थ 'गणपति' करते हैं किन्तु मनमोहन घोष अभिनवगुप्त के आधार पर महाग्रामणी का अर्थ गणपति स्वीकार नहीं करते। गणपति का हिन्दु देवता के रूप में प्रयोग चतुर्थ शताब्दी के साहित्य में मिलता है। नाट्यशास्त्र में गणेश देवता के रूप में उल्लेख न होना इस बात का द्योतक है कि नाट्यशास्त्र की रचना उस प्राचीन काल में हुई होगी जब गणेश की देवता के रूप में कल्पना भी न की गई होगी[१]।

बाह्य साक्ष्य—

नाट्यशास्त्र और कालिदास महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भरत को नाट्यशास्त्र का प्रवर्त्तक, आठ रसों का प्रतिपादक तथा देवताओं के समक्ष अभिनय का प्रयोक्ता कहा है और नाट्य की अष्टरसाश्रयिता का स्पष्ट उल्लेख किया है[२]। रघुवंश में खण्डिता नायिका का वर्णन नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नायिका भेद के आधार पर किया गया है[३]। इसी प्रकार रघुवंश में अङ्ग-सत्त्व-वचनाश्रय नृत्य का[४] तथा कुमारसंभव में सन्ध्यङ्ग तथा ललित अङ्गहारों का[५] प्रयोग नाट्यशास्त्र के आधार पर किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की कृतियों पर नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र का प्रणयन कालिदास के बहुत पहिले हो चुका था।

नाट्यशास्त्र और अश्वघोष—अश्वघोष के 'शारिपुत्रप्रकरण' पर नाट्यशास्त्र में निरूपित प्रकरण नामक रूपक भेद का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः अश्वघोष का यह प्रकरण नाट्यशास्त्रोक्त प्रकरण के शिल्प-विधान से प्रभावित है[६]। अश्वघोष का समय ईसा का प्रथम शताब्दी माना जाता है अतः नाट्यशास्त्र की रचना इसके पूर्व हुई होगी।

नाट्यशास्त्र और गाथासप्तशती—हाल की गाथासप्तशती में उपगूह्य शृङ्गाराभिनय की तुलना नाट्य के पूर्वरङ्ग से की गई है। पूर्वरङ्ग की चर्चा नाट्य-

---

१. वही पृ० २७
२. विक्रमोर्वशीयम् २।१८।
३. रघुवंश १९।२१ तथा नाट्यशास्त्र ३१।१०९-११०।
४. अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्। (रघुवंश १९।३६)।
सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः। (नाट्यशास्त्र २४।१)।
५. कुमारसंभव ७।९१।९५। तथा नाट्यशास्त्र २०।१७, तथा ४।१७-३३।
६. भरत और भारतीय नाट्यकला पृ० २३।

शास्त्र के पञ्चम अध्याय में की गई है। गाथासप्तशती की रचना २००–४०० ईसवी के मध्य मानी जाती है[१] अतः नाट्यशास्त्र की रचना इसके पूर्व हुई होगी।

नाट्यशास्त्र और स्मृतिसाहित्य—याज्ञवल्क्यस्मृति में भरत का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्यस्मृति में प्राप्त मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, रोविन्दक, ओवेणक और उत्तर नामक सात प्रकार के अवैदिक गीतों के नाम नाट्यशास्त्र के अनुसार हैं। ये प्रसङ्ग याज्ञवल्क्यस्मृति में नाट्यशास्त्र से संगृहीत किये गये प्रतीत होते हैं। इस आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के बाद नहीं माना जा सकता है[२]।

नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण—अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय एवं नाट्य-शास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन है। अग्निपुराण में वर्णित नाट्यविषय नाट्य-शास्त्र से बहुत कुछ साम्य रखता है। इस समानता को देखकर काव्यप्रकाशादर्श के लेखक महेश्वर ने वह प्रतिपादित किया है कि 'भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य की प्रवृत्ति के द्वारा अलङ्कारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए ही अग्नि-पुराण से उद्धृत कर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन किया है[३]।' इसी प्रकार साहित्य-कौमुदी की टीका कृष्णानन्दिनी में विद्याभूषण ने प्रतिपादित किया है कि 'भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्यप्रक्रिया को लेकर कारिकाओं में नाट्यशास्त्र की रचना की थी[४]।" इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेबी ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ संक्षेप रूप में अग्निपुराण से ली गई हैं[५]। उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भरत ने अग्निपुराण को उपजीव्य बनाकर नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्रीय विषयों के लिए अग्निपुराण का ऋणी है।

किन्तु काणे महोदय उक्त मत से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि वृत्तियों के विवेचन के प्रसङ्ग में अग्निपुराणकार ने भरत का उल्लेख किया है[६]। अतः इस

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५६।५७।

२. वही।

३ सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलङ्कारशास्त्रे प्रवर्त्तयितु-मग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ. ४।

४. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ. ४)

५. भरत और भारतीय नाट्यकला—पृ. ३६।

६. भरतेन प्रणीतत्वाद्भारतीरीतिरिष्यते (अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्–५।६)

परम्परागत मान्यता को स्वीकार करने पर नाट्यशास्त्र का अस्तित्व अग्निपुराण से पूर्व सिद्ध होता है। अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जाता है[1]। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इससे पूर्व द्वितीय शताब्दी होना चाहिए।

नाट्यशास्त्र और विष्णुधर्मोत्तरपुराण--विष्णुधर्मोत्तरपुराण और नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यशास्त्रीय विषयों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण पर नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः नाटशास्त्र की रचना विष्णुधर्मोत्तरपुराण से बहुत पहिले हुई होगी। डा० सुशील कुमार दे विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय ४०० ई० के पश्चात् और ५०० ई० के पूर्व मानते हैं[2]। इस भूमिका के लेखक डा० पारसनाथ द्विवेदी ने विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचनाकाल ४००-५०० ई० के मध्य माना है[3]। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इससे कई शताब्दियों पूर्व अर्थात् द्वितीय शताब्दी के आस-पास मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त साक्ष्यों के अनुशीलन के पश्चात् यह अनुमान किया जा सकता है कि नाट्यशास्त्र अश्वघोष, कालिदास, भास, अग्निपुराण के पूर्व पूर्ण अस्तित्व में आ चुका था और नाट्यशास्त्रीय मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थी, तभी तो अश्वघोष, कालिदास, भास आदि उनसे प्रभावित होकर उनकी मान्यताओं को अपने ग्रन्थों में अपनाया होगा। म० म० घोष भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि अश्वघोष की रचना पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् रामकृष्ण कवि ने विस्तीर्ण मनन के बाद नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना है[4]। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर कहा जाता है कि सुमति भरत का पुत्र था। भरत ने उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए नन्दिकेश्वर के पास भेजा था और नन्दिकेश्वर ने स्नेहपूर्वक उसे शिक्षा दी थी[5]। इससे प्रतीत होता है कि भरत नन्दिकेश्वर के समकालिक पूर्ववर्ती आचार्य थे। तभी तो उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए उनके पास भेजा होगा। नन्दिकेश्वर का समय ई० पू० षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जाता है[6]। अतः नाट्यशास्त्र की रचना उसके बाद हुई होगी। इस प्रकार नाट्यशास्त्र की रचना ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी में प्रारम्भ

१. अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र की भूमिका पृ. २८।
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (यस.के.दे) पृ० ९८-९९।
३. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् (भूमिका पृ० २५)।
४. भरतकोष (रामकृष्णकवि) पृ० २।
५. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्यसाहित्य—पृ० २४।
६. वही पृ० ३०।

हो चुकी थी। नाटयशास्त्र की सूत्रशैली भी इसी को पुष्ट करता है। नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप प्रथम शताब्दी में हुआ होगा। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर ईसा प्रथम शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

नाटय की उत्पत्ति

नाटयशास्त्र के प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी चिन्तकों ने नाटय के उद्गम के सम्बन्ध में विचार, विश्लेषण एवं चिन्तन किया है। फलतः अनेक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का प्रवर्त्तन हुआ, अनेक पक्ष प्रस्तुत किये गये और उनको सम्भावनाओं की परीक्षा की गई, किन्तु अद्यावधि कोई निर्भ्रान्त सिद्धान्त मान्य न हो सका और न ऐसी सम्भावना ही दृष्टिगोचर होती है कि भविष्य में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित किया जा सकेगा। कारण यह है कि प्राचीन मनीषियों में इतिहास को सुरक्षित रखने को प्रवृत्ति कभी नहीं रही है और नाटय की दिशा में तो इस उपेक्षा की अधिकता ही पाई जाती है। शिलालेखों में कुछ न कुछ इतिहास अवश्य सुरक्षित रहा है किन्तु नाटय की उत्पत्ति के विषय में शिलालेख भी मौन हैं। ऐसी स्थिति में चिन्तन, विवेचन एवं अनुमान प्रमाण पर ही आधारित रहना पड़ता है। इस सन्दर्भ में नाटयशास्त्रोय ग्रन्थों में प्रतिपादित वेद एवं धर्म मूलक सिद्धान्तों के साथ-साथ तत्सम्बन्धी अन्य मतों एवं वादों की भी समीक्षा करके निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी शास्त्रोय विषयों का उद्गम वेदों से माना जाता है और उनका सम्बन्ध देवों से जोड़ा जाता है। सम्भव हैं कि दैवी शक्तियों के आशीर्वादों को परिकल्पना अथवा उसकी पवित्रता प्रमाणित करने की दृष्टि से उसका सम्बन्ध देवों से स्थापित किया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा महत्त्व प्रतीत नहीं होता। नाटयशास्त्र में उपलब्ध नाटयोत्पत्ति का इतिहास सम्भवतः विश्व में प्राप्त नाटयकला के उद्गम का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है। नाटयशास्त्र के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब लोग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं सुख-दुःखादि से अभिभूत हो गये थे उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर कहा कि 'भगवन् ! हम लोग ऐसा क्रीडनीयक (मनोरञ्जन) चाहते हैं, जो दृश्य एवं श्रव्य दोनो हो।' तब ब्रह्मा ने योग का आश्रय लेकर चारों वेदों का स्मरण कर यह संकल्प किया कि "मैं इतिहास सहित एक ऐसे नाटय नामक पञ्चम वेद की रचना करता हूँ जो धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति करने वाला हो, यशस्य हो, उपदेश एवं ज्ञान संग्रह से युक्त हो, समस्त शास्त्रों के अर्थों से युक्त हो तथा सभी

शिल्पकलाओं को प्रदर्शित करने वाला हो" इस प्रकार विचार करके 'ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करके नाट्यवेद की रचना की, जो सभी वर्णों के लिए ज्ञेय था।[1] अभिनवगुप्त का कथन है कि पाठ्य, गीत, अभिनय और रस ये चारों नाट्य के प्रमुख अङ्ग हैं। ऋग्वेद त्रिस्वर-प्रधान गद्य-भाग से युक्त है, नाट्य के पाठ्य में भी तीनों स्वरों का उपयोग होता है, अतः ऋग्वेद से पाठ्य को ग्रहण किया जो नाट्य का उपकारक प्रधान तत्त्व है। सामवेद गीतात्मक है। यजुर्वेद में अध्वर्यु द्वारा की जाने वाले प्रदक्षिणा, लोहितोष्णीक-धारण आदि याज्ञिक क्रियाओं से अभिनय का ग्रहण किया जाना स्वाभाविक है। अथर्ववेद में प्रशम, वेपथु आदि विविध भावों के वर्णन के प्रसङ्ग से रसों को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार नाट्य की वेदरूपता सिद्ध होती है।

नाट्य-रचना के अनन्तर ब्रह्मा ने भरतमुनि को नाट्य की शिक्षा देकर उन्हें अपने पुत्रों के साथ नाट्य का प्रयोग करने का आदेश दिया। तब भरतमुनि ब्रह्मा के आदेश से अपने शतपुत्रों को नाट्यकला में शिक्षित कर भारती, सात्त्वती और आर-भटी वृत्तियों पर आश्रित अभिनय किया। तब ब्रह्मा उन्हें कैशिकी वृत्ति के भी संयोजन का आदेश दिया किन्तु नारी पात्रों का अभाव होने से भरतमुनि ने कैशिकी वृत्ति के संयोजन में असमर्थता प्रकट की। तब ब्रह्मा ने अप्सराओं का सृजन कर उन्हें कैशिकी वृत्ति के अभिनय का भार देकर भरतमुनि को सौंप दिया। उसके बाद भरत ने महेन्द्र-ध्वज महोत्सव के शुभ अवसर पर 'दैत्य-दानव-नाशन' नामक नाट्य प्रस्तुत किया जिसमें दानवों के पराजय की कथा निबद्ध थी। इस प्रयोग को देखकर दैत्य-दानव क्रुद्ध होकर अभिनय में विघ्न डालने लगे। तब ब्रह्मा ने दैत्य-दानवों को समझा-बुझाकर शान्त किया और भरत को 'अमृतमन्थन' नामक समवकार दिखाने का आदेश दिया। तब भरत ने हिमालय पर्वत के रमणीय रजतशृङ्ग पर पूर्वरङ्ग-विधान के साथ 'अमृतमन्थन' का अभिनय किया। यहीं पर शिव के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का भी अभिनय किया। इस प्रयोग को देखकर शिव बहुत प्रसन्न हुए और भरत से कहा—मैंने विभिन्न करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य का आविर्भाव किया है, उसकी योजना पूर्वरङ्ग में कीजिये। तब शिव के आदेश से तण्डु पूर्वरङ्ग की शोभावृद्धि के लिए अङ्गहारों का विधान किया और पार्वती ने लास्य (सुकुमार नृत्य) का भी प्रदर्शन किया'।

नाट्योत्पत्ति की कथा का विस्तार नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भी हुआ है। इस सन्दर्भ में वहाँ दो कथाएँ वर्णित हैं। प्रथम कथा के अनुसार भरत-पुत्रों ने अपने अभिनय कौशल पर अभिमान हो गया था, अतः उन्होंने एक नाट्य

१. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय।

प्रदर्शन में मुनियों का अपमान कर दिया। इस पर मुनियों ने उन्हें श्राप दे दिया कि नाट्य का अभिनेता शूद्र हो जायँ और समाज में उन्हें प्रतिष्ठा न मिले[१]। तब से नाट्य अभिनेता समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते थे।

दूसरी कथा के अनुसार एक बार नहुष जब इन्द्र का पद पा गये तो स्वर्ग में उन्होंने अपसराओं के द्वारा अभिनीत नाट्य-प्रयोग को देखकर कहा कि यह नाट्य-प्रयोग भूलोक में हमारे घर पर भी होना चाहिए। तब देवताओं ने नहुष को समझाया कि अप्सरायें मानव लोक में अभिनय नहीं कर सकती और उन्हें सलाह दी को यह कार्य आप भरत एवं उनके पुत्रों द्वारा ले जाकर करा सकते हैं। तदनन्तर नहुष के अनुरोध पर भरत ने अपने पुत्रों को नाट्य-प्रयोग के लिए भूतल पर भेजा। तब भरत-पुत्र मर्त्यलोक में आकर नहुष के अन्तःपुर में नाट्य-प्रयोग प्रदर्शित किया और कुछ दिन यहाँ रहकर नाट्यकला को भूलोक में प्रसारित किया तथा शाप के अन्त हो जाने पर स्वर्गलोक को लौट गये[२]।

ऐसा प्रतीत होता है नाट्यकला के उद्गम के कुछ दिन पश्चात् उसे गर्हित समझा जाने लगा था और समाज में अभिनेताओं को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता रहा, क्योंकि गौतमधर्मसूत्र एवं मनुस्मृति में अभिनेताओं के साथ शूद्रवत् व्यवहार करने का विधान बताया गया है[३]।

अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्योत्पत्ति विषयक विवरण किञ्चित् परिवर्तन के साथ नाट्यशास्त्र के अनुसार ही प्राप्त होता है। अभिनयदर्पण के अनुसार पितामह ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाले नाट्यशास्त्र का निर्माण कर सर्वप्रथम उसे अभिनय के लिए आचार्य भरत को दिया। उन्होंने गन्धर्व और अपसराओं के साथ उस नाट्यवेद को नाट्य, नृत्त और नृत्य इन तीन रूपों में भगवान् शंकर के सामने प्रस्तुत किया। भरत द्वारा प्रयुक्त उस अभिनय में उद्धृत प्रयोगों को देखकर शिव ने अपने प्रमुख गण तण्डु के द्वारा भरत को शिक्षा दिलायो। तण्डु द्वारा भरत को उपदिष्ट वह नाट्य 'ताण्डव' कहलाया। बाद में पार्वती ने बाणासुर की कन्या उषा को 'लास्य' नृत्य में दीक्षित किया और उषा ने व्रजवासिनी गोपियों को 'लास्य' नृत्य में दीक्षित किया। गोपियों द्वारा वह सौराष्ट्र की वनिताओं में और सौराष्ट्र की वनिताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की युवतियों में प्रचलित हुआ[४]। इस

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ३७।४०।

२. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ३७।१–२३।

३. गौतमधर्मसूत्र १५।१८, मनुस्मृति ८।६५; १०२।

४. अभिनयदर्पण २-८।

प्रकार परम्परा द्वारा प्रवर्तित यह नाट्यकला पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रही और समस्त भूमण्डल पर प्रतिष्ठित हो गई।

भावप्रकाशन के अनुसार नाट्य-परम्परा का विवरण नाट्यशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता भगवान् शंकर हैं। समस्त चराचर जगत् की सृष्टि-रचना के पश्चात् विश्रान्ति-हेतु ब्रह्मा भगवान् विष्णु के पास जाते हैं। विष्णु उन्हें शंकर के पास भेज देते हैं। तब शंकर स्वरचित नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को देकर उन्हें आज्ञा प्रदान करते हैं कि वे उस सम्पूर्ण नाट्यवेद ब्रह्मा को सिखायें। तब नन्दिकेश्वर उस नाट्यवेद का साङ्गोपाङ्ग उपदेश ब्रह्मा को देते हैं। तब ब्रह्मा भरत को बुलाकर मनु के साथ पृथ्वीलोक पर नाट्यवेद के प्रयोग एवं विस्तार की आज्ञा प्रदान करते हैं।[1] इस प्रकार भावप्रकाशन के अनुसार नाट्यवेद का सम्बन्ध किसी एक विशिष्ट भरत से न होकर अनेक भरतों से है और भूलोक पर नाट्य को अवतरित करने का श्रेय नाट्यशास्त्र की भाँति नहुष को नहीं, अपितु मनु को है। मनु के आदेश से ही भरत ने नाट्यवेद को भूलोक पर प्रसारित किया।

रसार्णवसुधाकर में भरतप्रणीत नाट्योद्भव कथा का ही संक्षेप में उपबृंहण किया गया है। संक्षिप्त कथासार के अनुसार इन्द्र के अनुनय करने पर ब्रह्मा ने समस्त वेदों का स्मरण करके सार्ववर्णिक पञ्चम वेद का सृजन किया एवं प्रयोग के लिए भरत को आदेश दिया। पुत्रों एवं अप्सराओं के सहयोग से भरत द्वारा प्रयुक्त नाट्य को शाण्डिल्य, दत्तिल, मतंग आदि ने अपने ग्रन्थों के द्वारा इसे पृथ्वीतल पर प्रचारित किया। इस प्रकार शिंगभूपाल ने नाट्योत्पत्ति का श्रेय ब्रह्मा को प्रदान किया है और पृथ्वीतल पर प्रसारित करने का श्रेय दत्तिल आदि आचार्यों को दिया है। दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोश, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध नाट्योत्पत्तिविषयक विचारों में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं है। इन ग्रन्थों में प्राप्त विवरण भरतसम्मत ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भरत तथा अन्य नाट्यशास्त्रीय आचार्य नाट्य का उद्गम ब्रह्मा से मानते हैं तो शारदातनय को नाट्य का उद्गम शिव से मानने का क्या कारण हो सकता है। तार्किक दृष्टि से विचार करने पर शिव के द्वारा नाट्योद्गम एक शाश्वत सत्य सिद्ध होता है। क्रमशः उद्धत एवं लास्य का सम्बन्ध शिव तथा पार्वती से रहा है।[2] नृत्य की योजना नाट्य के लिए अनुपेक्षणीय है। नाट्य, नृत्त और नृत्य परस्पर शृङ्खलित रहते हैं। नाट्य का पूर्व रूप शिव-पार्वती का

---

१. भावप्रकाशन पृ० २८४-२८५ ग० ओ० सी०।

२. भावप्रकाशन पृ०—२९६-२९७। नाट्यशास्त्र ४।२ ४६-२४७।

ताण्डव-लास्य ही है। नाट्य के उद्गम में शिव के नटराज रूप के उत्तरदायित्व एवं सहयोग की परिकल्पना जितनी समीचीन प्रतीत होती है, उतनी लिङ्ग रूप की नहीं। यद्यपि शिव-लिङ्ग-पूजा की पद्धति भी अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है।[१] अतः शिव का लिङ्ग रूप भी नाट्योद्गम में सहयोगी रहा हो, यह असम्भव नहीं है।[२] वैसे शिव का कोई भी रूप हो, चाहे वह लिङ्ग रूप हो अथवा नटराज रूप हो, हैं तो दोनों शिव के रूप ही। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि से देखा जाय तो नाट्य एवं नृत्य के उद्भव का सम्बन्ध शिव से ही है। वे अपने विविध रूपों के द्वारा नाट्य एवं नृत्य कला को चतुर्दिक् मुखरित करते हैं तभी तो इस नाट्य की व्यापकता और भी आलोकित हो उठती है। अतः वैदिक एवं लौकिक भावभूमि के परिप्रेक्ष्य में शिव को नाट्यवेद का अविष्कर्ता मानना उचित ही प्रतीत होता है।

प्रायः सभी नाट्यशास्त्रीय विद्वान् नाट्यशास्त्र की सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि आखिर ये ब्रह्मा जी हैं कौन? ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सृष्टि-रचना करने वाले को ब्रह्मा कहा जाता है उसी प्रकार नाट्यवेद की रचना करने वाले को भी ब्रह्मा कहा जाने लगा होगा, जिसने मूलरूप में नाट्य, नृत्त एवं नृत्य की योजना कर नाट्यवेद का प्रथम प्रादुर्भाव किया होगा। बाद में अनेक अङ्गोपाङ्गों के समावेश के साथ उस नाट्यवेद का पूरा विकास हो गया तथा उसमें स्थानीय एवं सामाजिक तत्त्व भी सम्मिलित होते गये[३]। सम्भवतः ये ब्रह्मा भरत ही रहे होंगे और इसी आधार पर 'ब्रह्मभरत' मत की कल्पना भी कर ली गई होगी[४]।

वैदिक साहित्य से नाट्य का उद्गम मानने वाले विद्वानों के दो वर्ग रहे हैं। एक तो वे हैं जो नाट्य के उद्गम का मूलस्रोत वेदों से मानते हैं और दूसरे वर्ग में वे हैं जो वेदों में केवल नाट्यतत्त्व का ही अवलोकन करते हैं। नन्दिकेश्वर ने चारों संहिताओं को नाट्य का उद्गम स्रोत माना है। संवाद नाट्य की वह महत्त्वपूर्ण विधा है जो अभिनय की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करता है। ऋग्वेद में ही कई ऐसे संवाद सूक्त हैं जिनमें नाट्यशैली का संवाद (कथोपकथन) उपलब्ध है।

---

१. Primitive religion Seeks with Phallic symbolism modern religion relations at the imagery and refines tho symbol (Religion of Psychology P-15)

२. Comcontributions of the History of Hindu Drama (M. M. Ghosh P-6)

३. भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच पृ०-४२।

४. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्यसाहित्य पृ० ३५।

इस दृष्टि से पुरुरवा-उर्वशी संवाद, (१०।९५) यम-यमी संवाद (१०।१०) इन्द्र-इन्द्राणी-संवाद, वृषाकपि-संवाद, (१०।८६) अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद, (१।१७९) सरमा-पणि-संवाद (१०।१०८), इन्द्र-मरुत्-संवाद प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में और भी बहुत से सूक्त ऐसे हैं जिनमें संवादात्मक तत्त्व वर्तमान हैं और उनमें अभिनय-शैली की रूपरेखा खोजी जा सकती है। मैक्समूलर ने इन्द्र-मरुद् के प्रसङ्ग में अपना विचार प्रस्तुत किया है कि मरुत् सूक्त का अभिनय करने के लिए कतिपय ऋषि इन्द्र का प्रतिरूपण करते होंगे और कतिपय विरोधी देवताओं का रूप धारण करते होंगे तथा उसी वेश में उनका संवाद चलता होगा। प्रो० लेवी ने मैक्स-मूलर के तर्क का समर्थन करते हुए यहाँ तक कहा है कि ऋग्वेद में ऐसे प्रकरण आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय बालाएँ सुन्दर वेश-भूषा धारण कर नृत्य करती थी तथा रसिकों (प्रेमियों) को आकर्षित करती थी[1]। डॉ० हर्टल का विचार है कि वैदिक संवाद-सूक्त रहस्यात्मक अभिनय हैं क्योंकि ये सूक्त हमेशा गाये जाते रहे हैं। एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न पात्रों द्वारा कहे हुए संवादों को गान करने में एक अस्पष्टता का भय रहता है कि कहीं श्रोता व्यक्तिविशेष का कथन दूसरे का न समझ ले। अतः विभिन्न पात्रों के कथन को विभिन्न ऋषि उनका रूप धारण कर गाया करते होंगे[2]। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में अभिनय-कला के जानकार थे। जिनमें पुरोहित लोग देवलोक की घटनाओं को पृथ्वीलोक पर अनुकरण करने के लिए देवताओं एवं ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। यही नाट्य-कला का प्रारम्भिक रूप था और यहीं से नाट्यकला विकसित हुई।

ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों के अवसर पर जनता के मनोरंजन के लिए कुछ हल्के फुल्के अभिनय किये जाते रहे होंगे जैसे सोमक्रयण का अभिनय। सोम विक्रय के लिए कोई व्यक्ति आता था और यजमान उसका मोल करता था। जब सौदा पट जाता था तब उसे मारकर भगा दिया जाता था और यजमान यज्ञ में प्रवृत्त हो जाता था। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन वैदिक सूक्तों में अभिनय तत्त्व नहीं हैं, केवल संवाद मात्र है और अभिनय तत्त्व के अभाव में संवांद कथोप-कथन मात्र रह जाते हैं। कथोपकथन में जब आङ्गिक अभिनय का समावेश न हो और भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना कर दृश्यों को रस से ओत-प्रोत न कर दिया जाय, तब तक उसे नाट्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ऋग्वेद में इस प्रकार के संकेत कहीं नहीं मिलते जिनसे आङ्गिक अभिनय के समावेश का संकेत मिल सके और भावात्मक स्थिति को उद्भावना की गई हो। इन संवाद सूक्तों में प्रश्नोत्तर अथवा

---

१. संस्कृत नाटक (कीथ) पृष्ठ ४।
२. वही पृष्ठ ६, ८।

साधारण कथोपकथन है। अतः यह कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता कि इन संवाद सूक्तों से नाट्य का उद्गम हुआ होगा[१] और यह भी उचित प्रतीत नहीं होता कि सदाचार युक्त वैदिक ऋषि यज्ञानुष्ठानों के पावन अवसरों पर मिथुन नृत्य करते रहे होंगे और यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इन सूक्तों का गायन होता रहा होगा। जबकि गायन के लिए सामवेद अलग ही था और उसके प्रस्तोताओं को उद्गाता कहा जाता था। किन्तु ओल्डेनवर्ग और पिशेल का कथन है कि वैदिक मन्त्रों में गद्य-पद्य का मिश्रण ही भारतीय नाट्यकला के उद्गम के स्रोत के रूप में देखे जा सकते हैं।

नाट्योत्पत्ति एवं नृत्यकला—

ओल्डेनवर्ग के अनुसार नाट्य के उद्गम का स्रोत धार्मिक नृत्य है उनका कहना है कि आङ्गिक अभिनय के साथ यह नृत्य पहले गीत से संयुक्त हुआ होगा और बाद में संवाद से[२]। मैक्समूलर का कथन है कि नाट्य का उद्गम नृत्त और नृत्य से हुआ है। नृत् धातु से नृत्त एवं नृत्य शब्द बनते हैं, और नट् धातु से नाट्य एवं नाटक शब्द बनते हैं जो 'नृत्' धातु के विपरिणाम प्रतीत होते हैं। 'नृत्' धातु का अर्थ है 'गात्रविक्षेप' अर्थात् अङ्गसञ्चालन। पहले भाषा का उद्गम नहीं हुआ होगा तब अङ्ग-सञ्चालन के द्वारा ही संकेत किये जाते रहे होंगे। गात्रसञ्चालन की इस क्रिया में लोगों को सौन्दर्य की अनुभूति हुई होगी और उसके द्वारा दर्शकों को मुग्ध करने की चेष्टा की जाने लगी होगी। बाद में जब उसमें गात्रसञ्चालन की क्रियाओं की गति का भी समावेश हो गया होगा तब उसे नृत्य कहा गया होगा और जब उसमें रसाभिनय का समावेश हुआ होगा तब वह नाट्य कहा जाने लगा होगा। इस प्रकार तालल्याश्रित नृत्त की दूसरी अवस्था भावाश्रित नृत्य है और इन दोनों के मिश्रित रूप से नाट्य का उद्गम हुआ। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि पहले नर्तक को भरत कहते रहे होंगे। बाद में जब नृत्य में संवादतत्त्व का समावेश हुआ होगा और नृत्य नाट्य का रूप धारण कर लिया होगा तब भरत शब्द नटों के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा। अतः नृत्त एवं नृत्य से नाट्य का उद्गम मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

नाट्योत्पत्ति एवं अन्य मत—

(क) पुत्तलिका-नृत्यवाद—जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल पुत्तलिका नृत्य से नाट्य का उद्गम मानते हैं। उनका कहना है कि पुत्तलिका नृत्य सबसे पहले भारत में प्रचलित हुआ और यहीं से यूनान आदि देशों में पहुँचा। पुत्तलिका नृत्य का प्राचीनतम विवरण संस्कृत साहित्य में मिलता है। कथासरित्सागर के अनुसार मय दानव

१. भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच पृ० ७४।

२. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० १६।

की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी सहेली कलिंगप्रभा को ऐसी पुत्तलियाँ भेंट की थो जो बोल सकती थी, नृत्य कर सकती थी और पानी या पुष्पमाला भी ला सकती थी[१]। राजशेखर के बालरामायण में कठपुतलियों का जो विवरण प्राप्त होता है तदनुसार सीता के सदृश बनाई गई पुतली से रावण भी धोखा खा जाता है, पुतली के मुख में एक तोता रखा हुआ था जो रावण के प्रश्नों का उत्तर देता था[२]। शङ्कर पाण्डुरङ्ग के अनुसार कन्नड़ प्रदेश में इस प्रकार की रङ्गशालाएँ विद्यमान थी जहाँ कठपुतलियों का नृत्य दिखाया जाता था। ये कठपुतलियाँ कागज या काठ की बनी होती थी जो खड़ी हो सकती थी, लेट सकती थी, दौड़ सकती थो, नाच सकती थी तथा लड़ सकती थी। ये पुतलियाँ एक डोरे में बँधी रहती थी जिसे पकड़कर एक व्यक्ति नचाया करता था जो सूत्रधार कहलाता था। डॉ० पिशेल नाटक के सूत्रधार अभिधान को इसी क्रम से जोड़ते हुए माना है कि इसी के आधार पर नाटकों के प्रयोक्ता को भी सूत्रधार कहा जाने लगा होगा क्योंकि नाटक का समस्त सञ्चालन उसी के हाथ में रहता है किन्तु डा० पिशेल[३] के इस मत का खण्डन करते हुए डा० हिडब्राण्ड[४] कहते हैं कि सूत्रधार का सम्बन्ध पुत्तलिका नृत्य से जोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि सूत्रधार नाटक में कथावस्तु का संक्षेप में वर्णन करता है। अतः पुत्तलिका नृत्य को नाट्योद्गम का स्रोत नहीं माना जा सकता। दूसरे पुत्तलिका शब्द का प्रयोग पहले बालक-बालिकाओं के खिलौने गुड़ियों के लिए होता रहा होगा और वही से पुत्तलिका नृत्य के रूप में परिणत हो गया होगा।

(ख) छायानाट्यवाद—नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् डा० ल्यूडर्स एवं कोनो महोदय छायानाटकों से अभिनय का आरम्भ स्वीकार करते हैं। डॉ० ल्यूडर्स का विचार है कि यवनिका के पीछे उपस्थित पात्रों के मूक छायाओं के मध्यम से कथा प्रदर्शित की जाती थी। इससे ज्ञात होता है कि नाट्य के पूर्व यह कला प्रचलित थी। और कालान्तर में इसी से नाट्य का उद्गम हुआ[५]। क्योंकि प्राचीन काल में छाया नाट्य के अभिनय के संकेत मिलते हैं। महाभाष्य में नाटकों के प्रसङ्ग में सोमिको का नाम आया है। ये मूक अभिनय का प्रदर्शन करते थे, उसी से नाट्य का उद्गम हुआ। उन्होंने महाभारत में उल्लिखित 'रूपजीवन्' शब्द तथा वाराहमिहिर का 'रूपजीवी' शब्द छाया नाटक के अर्थ में प्रयुक्त माना है। किन्तु नाट्य समीक्षक ग्रन्थों में छाया नाटक का कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं होता। उत्तररामचरित में सीता के

---

१. कथासरित्सागर-सन्दर्भ संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० ४४।
२. बालरामायण (राजशेखर) अंक ५।
३. संस्कृत नाटक (कीथ) ४४। ४. वही ४४।
५. संस्कृत नाटक (कीथ) ४५–४९।

छाया के प्रवेश का विवरण है[1]। प्रबोधचन्द्रोदय में और दशकुमारचरित में ऐन्द्रजालिक की क्रियाओं का वर्णन छायानाट्य की ओर संकेत करता है। किन्तु ये विवरण इतने परवर्ती हैं कि उन्हें नाट्य के उद्गम का स्रोत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ग) **वीरपूजा एवं प्रेतात्मावाद**—प्रो० रिजवे का मत है कि नाट्य का उद्गम वीरपूजा से हुआ है। उनका कहना है कि लोग मृतात्माओं (मृत वीरपुरुषों) की स्मृति में समय-समय पर सम्मान एवं शान्ति के लिए लोकनृत्य, गान आदि का अभिनय करते थे, नर्त्तक वीणा एवं वंशी की गति पर नाचते थे उसी से नाट्य का आरम्भ हुआ होगा[2]। किन्तु यह मत इसलिए तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि प्रारम्भ से संस्कृत नाटकों का अभिनय उत्सवों, पर्वों, त्यौहारों एवं अन्य शुभ अवसरों पर किये जाते थे। अतः उक्त मत स्वीकार्य नहीं है।

(घ) **लोकोत्सव एवं लोकनृत्य**—नाट्य के उद्भव में लोक परम्पराओं, लोकोत्सवों, लोकनृत्यों का कम दायित्व नहीं रहा है। लोक परम्परा में रामलीला, कृष्णलीला, होलिकोत्सव, दुर्गापूजन महोत्सव आदि परम्पराएँ धर्म से अनुप्राणित रही हैं। इन्हीं से नाट्य की प्रेरणा मिली होगी। प्रातःकाल सुनहले वस्त्र पहनी हुयी इठला-इठला कर नर्तन करती हुयी उषा का अभिनय, झूमती हुयी मस्त हवाओं का नर्तन, फुदक-फुदक कर चहकती हुयी चिड़ियों का नृत्य-संगीत, कमल वन में इठलाते हुए भ्रमरों के मधुर गीत, केका-ध्वनि के साथ मयूरों का नृत्य, प्रकृतिवधू के मनोहारी हाव-भावों को देखकर स्वभावतः ही मनोमयूर नाच उठता है। ऐसे प्राकृतिक वातावरण से नाट्य एवं नृत्य की उत्पत्ति हुई होगी और सर्वप्रथम उनका रूप लोकाभिनय और लोकनृत्य ही रहा होगा। क्रमशः संस्कृत एवं परिष्कृत होने के बाद उसे शास्त्रीय रूप मिला होगा। पातञ्जल महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध' नाटक का मूल प्राकृतिक परिवर्तन ही प्रतीत होता है क्योंकि इस नाटक के अभिनय में कृष्ण के अनुयायी लाल कपड़े पहनते थे और कंस के अनुयायी काले कपड़े पहनते थे। लाल कपड़े वसन्त के प्रतीक माने जाते थे और काले कपड़े हेमन्त के। सम्भवतः वसन्त की विजय और हेमन्त की पराजय के प्रतीक रूप में यह अभिनय किया जाता रहा होगा? इसी प्रकार होलिकोत्सव के मूल में विष्णु के द्वारा हिरण्यकशिपु के वध पर धर्म की विजय एवं अधर्म की पराजय का उल्लास प्रतीत होता है। यह लोकोत्सव के रूप में मनाया जाता है। इन्द्रध्वजोत्सव भी इसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण लोकोत्सव था। सम्भवतः यह उत्सव शारदोत्सव के रूप में मनाया जाता था। इन्द्रध्वज के द्वारा

---

१. उत्तररामचरित तृतीय अंक।

२. संस्कृत नाटक (कीथ) १६।

३. महाभाष्य (पतञ्जलि) ३।१।२७।

ही इन्द्र ने असुरों को जर्जर किया था[1]। इसी ध्वज के समान ही योरोप में मई मास में एक सामूहिक महोत्सव मनाया जाता है जिसे "मेपोल नृत्य" कहते हैं। इस उत्सव में मई के प्रतीक के रूप में एक बाँस गाड़ा जाता है। जिसके चारों ओर युवती स्त्रियाँ सजधज कर नाचती थी। यह लोक नृत्य के रूप में प्रचलित है। इसमें बाँस की कल्पना नाट्यशास्त्रोक्त जर्जर के अनुकरण पर की गई प्रतोत होती है।

इस प्रकार नाट्यकला के उद्गम के सम्बन्ध में विविध मत निर्दशित किए गये है। उन सभी मतों की समीक्षा के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ में मानव की क्रीड़ा एवं अनुकरण की स्वभाविक प्रवृत्ति ने ही नाट्यकला को जन्म दिया होगा जिसके मूल में प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव अवश्य रहा होगा जिसका लेखा जोखा प्रस्तुत करना आज के साधनों से परे है। जब बालक पैदा होता है उस समय से ही उसमें अनुकरणात्मक प्रवृत्ति सहज रूप से देखी जाती है। शनैः शनैः जैसे जैसे उसमें परिवर्त्तन होता रहता है वैसे वैसे उसके स्वभाव में भी परिवर्त्तन होता जाता है। युवा अवस्था के प्रथम सोपान पर आरूढ़ होते ही उसमें उच्छृङ्खल परिवर्तन होता है, स्वभाव में उन्माद का प्रवेश होता है, शरीर क्रियाओं एवं अङ्ग संचालनादि में भी नवीन स्फूर्ति पैदा होती है और वह स्वच्छन्द क्रीड़ा के लिए उतावला हो जाता है। इस स्वच्छन्द क्रीडात्मक प्रकृति के फलस्वरुप ही नृत्य एवं संगीत का जन्म हुआ होगा। क्योंकि यौवन के उन्माद में भावों के प्रकट करने के ये हो साधन रहे होगें। प्रारम्भ में ये नृत्य मूक नृत्य के रूप में रहा होगा और धीरे-धीरे वह भावाभिनय के रूप में परिणत हुआ होगा फिर उसमें अनुकरणात्मक प्रवृत्ति रही होगी और फिर इससे पूर्ण नाट्यपदवो पर पहुँचा होगा। इस प्रकार नृत्य, भाव एवं अभिनय के मिश्रित रूप से ही नाट्य का उद्गम हुआ, यह सभी को स्वीकार्य होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जब भाषा का उदय नहीं हुआ था तब अङ्ग-संचालन के द्वारा ही भावों को प्रकट किया जाता रहा होगा और जब उसमें गति या भाव का समावेश हो गया तब वह नृत्य कहलाया। इस प्रकार नृत्त और नृत्य ये ही भावों को प्रकट करने के साधन रहें हैं। बाद में जब भाषा का उदय हुआ तब उसमें संबद्ध (कथोपकथन) तथा संगीत का समावेश हो गया और तब भाषा के द्वारा भावों को अभिव्यक्त किया जाने लगा। किन्तु भाषा भावों को अभिव्यक्त करने का साधन बहुत समय बाद बना होगा। क्योंकि भाषा को भावाभिव्यक्ति के लिए क्षमता पूर्ण होने में काफी समय लगा होगा।

---

१. नाटयशास्त्र १।७२-७३।

किन्तु भारतीय इतिहास वैदिककाल से ही प्रारम्भ होता है अतः हमारी समस्त विद्याओं का उद्गम वेदों से माना जाता है और उनका सम्बन्ध देवताओं से जोड़ दिया जाता है। हम उस प्रकृति और वैदिक मान्यता का आदर करते है और नाट्य-कला के विकास एवं पूर्णता में उनका सहयोग भी अनुपेक्षणीय है। यदि हम वेदों को अपौरुषेय मानते है तो भले हो समस्त विधाओं का स्रोत वेदों को मान लिया जाये किन्तु नाट्यकला का जन्म उसके बहुत पहले हो चुका था जो लोक-अभिनय या लोकनृत्य के रूप में समाज में प्रचलित रहा है। नाट्योद्गम के सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये मतों में कोई भी मत ऐसा प्रतोत नहीं होता है जिसे सर्वमान्य कहा जा सके। उन्होंने अपने मतों के समर्थन में जो भी साधन प्रस्तुत किये हैं। नाट्य का उद्गम उन सभी साधनो से पहले हुआ है।

वस्तुतः नाट्यकला का उद्गम सर्वप्रथम लोकाभिनय अथवा लोक नृत्यों के रूप में हुआ होगा और उस पर प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव रहा होगा। ऋग्वेद में "समन" नामक उत्सव का उल्लेख मिलता है जो एक मेला के रूप में प्रचलित था। जिसमें अनेक कलाविद् उपस्थित होते थे और अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते थे। स्त्रियाँ नृत्य भी करती थी[1]। इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक काल के बहुत पहले से लाकोत्सव समाज में प्रचलित रहे हैं। अतः इन लोकनृत्यों, लोकोत्सवों से नाट्य का उद्गम मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

नाट्य-परम्परा के आचार्य

नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्त्ती आचार्य

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थां में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भरत के पूर्व भी नाट्याचार्यों की एक परम्परा विद्यमान रही है। भरत ने स्वयं नाट्याशास्त्र में विभिन्न प्रसङ्गों में अनेक नाट्याचार्यों का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति तथा नाट्य-प्रयोग के प्रसङ्ग में ब्रह्मा, शिव, पार्वती, स्वाति, नारद, कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य, धूर्त्तिल (दन्तिल), करणों एवं अङ्गहारों के निरूपण के प्रसङ्ग में तण्डु एवं नन्दी तथा अन्य प्रसङ्गों में कश्यप, बृहस्पति, नखकुट्ट-अश्मकुट्ट, वादरायण, शातकर्णी आदि आचार्यों का नाट्यशास्त्र-प्रणेता एवं नाट्यप्रयोक्ता के रूप में उल्लेख है।

इसी प्रकार शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में नाट्याचार्यों की परम्परा का उल्लेख किया है। संगीतरत्नाकर के अनुसार सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतङ्ग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, शार्दूल, कोहल, विशाखिल, दत्तिल, कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, रावण,

---

१. ऋग्वेद—२।१६।७, १।१४।८, ६।७४।३, ९।९६।२।

नन्दिकेश्वर, स्वाति, राहल (राहुल), विन्दुराज, क्षेत्रराज, रुद्रट आदि नाटयाचार्य हुए हैं और उद्भट, लोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त, कीर्त्तिधर नाटयशास्त्र के व्याख्याकार हुए हैं। किन्तु इनमें कई आचार्यों के नाट्याचार्य होने का कहीं कोई संकेत प्राप्त नहीं होता है। यहाँ इन आचार्यों के सम्बन्ध में ज्ञात सामग्री के आधार पर संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिससे आचार्य परम्परा का परिचय प्राप्त हो सके।

ब्रह्मा—नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता तथा संगीतशास्त्र के प्रवर्त्तक ब्रह्मा है। नाटयशास्त्र में भरत ने स्वयं ब्रह्मा को नाटयवेद का रचयिता कहा गया है।[1] अभिनवगुप्त ब्रह्ममत प्रतिपादक नाटयशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ का निर्देश किया है जिसके कुछ अंश नाटयशास्त्र में संगृहीत हैं।[2] इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मा का नाटयशास्त्र विषयक कोई गृन्थ अवश्य रहा होगा जिससे कुछ अंशों को नाटयशास्त्र में संगृह किया गया है। दत्तिल ने ब्रह्मा को गान्धर्व का प्रवक्ता कहा है। ब्रह्मा ने नारद को गीत, स्वाति को वाद्य और भरत को नाटयवेद की शिक्षा देकर उन्हें नाटयकर्म में नियोजित किया था। शारदातनय के अनुसार वे भरत के शिक्षक रहे हैं। उनको वीणा का नाम 'ब्रह्मवीणा' है। इसे 'आदिवीणा' या 'घोषवती' भी कहते हैं। यह एकतन्त्री वीणा थी। एकतन्त्री वीणा में एक तार होता है जिसमें समस्त श्रुतियाँ, ग्राम एवं मूर्च्छनाएँ उपस्थित रहती हैं।[3] इसे ही समस्त वीणाओं की जननी कहा गया है।

शिव एवं सदाशिव—शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता एवं नृत्यशास्त्र के प्रवर्त्तक भगवान् शिव है। उन्होंने नाट्यवेद की शिक्षा तण्डु की दी थी। नन्दिकेश्वरकाशिका के अनुसार शिव के डमरू से चौदह सूत्र निकले है। इनमें निर्दिष्ट स्वर ही संगीत स्वरों के आधार हैं। नृत्यकला का आविर्भाव परमशिव के प्रसन्नता भरे नृत्यों द्वारा हुआ है। इन्होंने करणों और अङ्गहारों को रचना करके तण्डु को सिखाया था। उनके मत का प्रतिपादक 'औमापतम्' नामक एक गृन्थ उपलब्ध है जिनमें स्वर, मूर्च्छना, जाति, प्रबन्ध, राग आदि का विवरण मिलता है। किन्तु यह भरत सम्प्रदाय से भिन्न है। सम्भव है इस गृन्थ की रचना शिवमत की रक्षा के लिए किसी परवर्त्ती आचार्य ने की हो। शिव की वीणा का नाम अनालम्बी है। सदा मङ्गलकारी होने के कारण इन्हें 'सदाशिव' तथा 'परमशिव' भी कहते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में ब्रह्ममत के साथ सदाशिव के मत का उल्लेख किया है। शारदातनय ने इन्हें नाटयवेद का आविष्कर्त्ता माना है।

---

१. नाटयशास्त्र १।१६-१८।

२. अभिनव-भारती पृ० ९।

३. श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छानस्तास्ता: नानाविधास्तथा।
एकतन्त्रीवीणायां सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥ (भरतभाष्य—नान्यदेव)

पार्वती-नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण के अनुसार भगवती पार्वती ने 'लास्य' नृत्य का आविष्कार किया था। उन्होंने 'लास्य' की शिक्षा बाणासुर की पुत्री उषा को दी थी। 'लास्य' नृत्य का सम्बन्ध पार्वती की सुकुमार भावभङ्गिमाओं से है। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में पार्वती के ग्रन्थ का नाम 'भरतार्थचन्द्रिका' बताया है।[1] इस ग्रन्थ में हस्तमुद्राओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। जिसका संक्षिप्त विवरण 'भरतार्णव' में प्रतिपादित है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'भरतार्थचन्द्रिका' में नाट्य एवं नृत्य के सभी अवयवों पर विचार किया गया होगा। किन्तु वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। केवल उद्धरण मात्र मिलता है।

बृहस्पति नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्तविनियोग का निरूपण किया है।[2] नाट्यशास्त्र में भी बृहस्पति के मत का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इनका नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सामगान करने वालों की परम्परा का उल्लेख है। उस परम्परा में वृहस्पति का स्थान मुख्य है। शार्ङ्गदेव ने 'षड्ज' नामक राग का देवता 'बृहस्पति' बताया है। अभिनयभूषण में बृहस्पति का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख है।

याज्ञवल्क्य—नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में याज्ञवल्क्य का 'नाट्यविशेषज्ञ' के रूप में उल्लेख किया है।[3] याज्ञवल्क्य का 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा' नामक शिक्षाशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें वैदिक स्वरों के विवेचन के साथ संगीत के स्वरों का भी विवेचन किया गया है। याज्ञवल्क्य ने गान्धर्ववेदोक्त सात स्वरों का सम्बन्ध उदात्त, अनुदात्त ओर स्वरित से बताया है। याज्ञवल्क्य का 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' नामक एक स्मृति ग्रन्थ भी है। जिसमें बताया गया है कि साम गीतों के गायन के स्थान पर मद्रक, अपरान्तक, प्रकरो, सरोविन्दु, ओवेणक, उल्लोप्यक और उत्तर नामक सात प्रकार के वैदिकेत्तर गीतों के गाने वाले भो मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। ये सात नाम नाट्यशास्त्र में भो किञ्चित् परिवर्तन के साथ आते हैं। नाटयशास्त्र में 'सरोविन्दु' के स्थान पर 'रोबिन्दक' और 'मद्रक' के स्थान पर 'मन्द्रक' पाठ पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि याज्ञ-वल्क्य नाट्यकला एवं संगीतशास्त्र के भो विद्वान् थे, किन्तु उनका ग्रन्थ आज अनु-पलब्ध है।

---

१ भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराजदुहितृरचितायाम्।
नानार्थहस्तमुद्रा सुमते बहुधास्ति तत्र संक्षिप्तम्॥ (भरतार्णव १०।६३६)

२. इति हस्तविनियोगे बृहस्पतिमतं समाप्तम्। (भरतार्णव पृ० ९१)।

३ आचार्याः बहवः सन्ति भरतार्थविचक्षणाः।
तेषु नाट्यविशेषज्ञो याज्ञवल्क्यो महामुनिः॥ (भरतार्णव १३।७०६)

नारद—नारद ब्रह्मा के शिष्य संगीतशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य थे। भरत एवं नन्दिकेश्वर ने नारद का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख किया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में स्वाति के साथ नारद का उल्लेख है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने नारद के सिद्धान्तों के आधार पर 'गान्धर्व' का प्रतिपादन किया है[1]। दत्तिल के अनुसार भूतल पर 'गान्धर्व' के प्रचार का श्रेय नारद को है[2]। नाट्यशास्त्र के अनुसार नारद ने ऋचा, गाथा, पणिका आदि गीतों और वीणा आदि वाद्यों का निरूपण गान्धर्व के अन्तर्गत किया है। नारद के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'पञ्चमसारसंहिता' और 'नारदीय शिक्षा'। नारद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक 'संगीतमकरन्द' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है किन्तु यह नारद की रचना नहीं प्रतीत होती है, वल्कि नारदमातानुयायी किसी अन्य की रचना प्रतीत होती है।

नारद के अनुसार ग्रामरागों का प्रयोग लोक में न होकर स्तुतियों और यज्ञों के अवसर पर किया जाना चाहिए। नारद निर्गीत अर्थात् बहिर्गीत के आविष्कारक कहे जाते हैं। नारद की वीणा का नाम 'महती' है। इनकी वीणा में इक्कीस तार थे, जिनमें तीनों सप्तक मिले रहते थे और तीनों ग्राम तथा इक्कीस मूर्च्छनाएँ स्पष्ट होती थीं[3]। नारद को गान्धार ग्राम का उपदेष्टा कहा जाता है।

स्वाति—नाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने स्वाति को नाट्यप्रयोग में बाद्य के वादन के लिए नियुक्त किया था। ये संगीतशास्त्र के एक प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। भरत ने आतोद्य वाद्यों के वादन-विधि के प्रतिपादन के अवसर पर स्वाति के मत का अनुसरण किया है[4]। ये अवनद्ध वाद्यों के आविष्कारक बताये जाते हैं। इन्होंने पुष्कर कमल के पत्तों पर वर्षा की बूंदो के गिरने से उत्पन्न मधुर-ध्वनि का अनुसरण करके अनेक प्रकार के पुष्कर वाद्यों का आविष्कार किया है। इन्होंने विश्वकर्मा की सहायता से दुन्दुभि, मृदङ्ग आदि अवनद्ध वाद्यों की रचना की थी[5]। स्वाति विपञ्ची वीणा के वादक थे। विपञ्ची वीणा में नौ तार होते हैं जिन पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकली का गायन होता था[6]। इस प्रकार स्वाति गान्धर्व के आचार्य और पुष्कर वाद्यों के आविष्कारक थे। इन्होंने एक नये सांगीतिक वाद्य की रचना कर संगीतशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

---

१. गान्धर्वमेतत्कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन।
(नाट्यशास्त्र ३२।२; ३४।२)

२. दत्तिलम्, पृ० २। ३. भरतभाष्य (नान्यदेव)

४. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) अध्याय ३४ ५. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ०४।२-९

६. विपञ्च्यां नवतन्त्रीषु स्वराः सप्त तथा परा।
काकल्यान्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वरावित्यभानि च। [भरतभाष्य—नान्यदेव]

तुम्बुरु—नाट्यशास्त्र के अनुसार तुम्बुरु नारद के समकालिक आचार्य थे। वाल्मीकि-रामायण में तुम्बुरु का उल्लेख अप्सराओं के गान-शिक्षक के रूप में हुआ है[१]। अभिनवगुप्त के अनुसार तुम्बुरु का नाट्यविषयक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है। क्योंकि उन्होंने अभिनव-भारती में तुम्बुरु का मत उद्धृत किया है[२]। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने तुम्बुरु का उल्लेख अवनद्ध वाद्य के आचार्य के रूप में किया है[३]। नान्यदेव तीन ग्रामों के विभिन्न तानों के लिए तुम्बुरु को प्रमाणभूत माना है[४]। शुभंकर ने संगीतदामोदर में तुम्बुरु के 'तुम्बुरु नाटक' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। तुम्बुरु की वीणा का नाम 'कलावती' है। (तुम्बुरोस्तु कलावती)। प्राचीन साहित्य के अनुसार तुम्बुरु की वीणा में नौ तार होते थे। तुम्बुरु की गणना स्वरद्रष्टाओं में की जाती है। इन्हें ही धैवत और निषाद स्वरों का दर्शन हुआ था[५]। किन्तु इनका सम्प्रदाय भरत सम्प्रदाय से भिन्न प्रतीत होता है। इनके मतानुसार मूर्च्छना का तात्पर्य श्रुति का मार्दव लिया गया है[६]। इस प्रकार तुम्बुरु नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के आचार्य के रूप में प्रख्यात है। पुराणों में तुम्बुरु को नारद से श्रेष्ठ बताया है।

शिलालिन् एवं कृशाश्व—नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व नाट्य एवं संगीत के आचार्यों को एक परम्परा रही हैं। उनमें 'शिलालिन्' एवं 'कृशाश्व' नामक नटसूत्रों के निर्माता दो आचार्यों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है[७]। बेवर, कोनो, लेबी तथा कीथ प्रभृति विद्वानों के अनुसार ये नटसूत्र अभिनय एवं नृत्यकला के प्रतिपादक ग्रन्थ रहे होंगे[८]। इससे ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व कृशाश्व और शिलालिन् नाट्यचार्य के रूप में विख्यात हो चुके थे और उनके द्वारा रचित नटसूत्रों को आम्नायवत् प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी[९]। सम्भव है कि बाद में नाट्यशास्त्र का निर्माण हो जाने पर ये नटसूत्र नाट्यशास्त्र में अन्तर्भूत हो गये हों और उनका अस्तित्त्व विलुप्त हो गया हो।

---

१. वाल्मीकि-रामायण २।९।१८

२. तुम्बुरुणेदमुक्तम् —
'अङ्गहाराभिधानात्तु करणैः रेचकान् विदुः।' (अभिनवभारती प्रथम भाग पृ० ११३)

३. संगीतरत्नाकर ६।१९ ४. भरतभाष्य (नान्यदेव) पृ० १५

५. धैवतश्च निषादश्च गीतौ तुम्बुरुणा स्वरौ। (बृहद्देशी स्वरनिर्णय श्लोक ८३)

६. श्रुतिमार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः (हरपाल) (भारतीय साहित्य पृ० ६५)

७. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (अष्टाध्यायी ४।३।११०)
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। (अष्टाध्यायी ४।३।१११)

८. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० ३०९ ९. भिक्षुनटसूत्रयोः छन्दस्त्वम्। (काशिकावृत्ति)

आदिभरत—भारतीय नाट्य-परम्परा में आदिभरत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हें वृद्धभरत भी कहा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र का प्रथम प्रणयन सदाशिव, ब्रह्मा और अन्त में भरत ने की थी। बाद में भरत ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। वह भरत भरतों में आदि (प्रथम) था, इसलिए उसे आदिभरत या वृद्धभरत कहा गया है। नाट्यशास्त्र में कुछ परम्परागत आनुवंश्य श्लोक प्राप्त होते हैं। अभिनवगुप्त ने उन आनुवंश्य श्लोकों को परम्परागत श्लोक माना है।[1] ये आनुवंश्य श्लोक आदिभरत के रहे होंगे जो परम्परया भरत को प्राप्त हुए होंगे और भरत ने उन्हें नाट्यशास्त्र में सम्मिलित कर लिया होगा। इसके बाद भरतों की एक परम्परा चली जिस परम्परा में अनेक भरत हुए। शारदातनय के अनुसार भरतों ने नाट्यवेद में से सार को लेकर दो संस्करण तैयार किये जिनमें से एक में बारह हजार श्लोक थे, जिसे 'द्वादशसाहस्री संहिता' कहते हैं। इस संस्करण के सम्पादक आदिभरत थे। दूसरा छः हजार श्लोकों का था, जिसे 'षट्साहस्त्री' संहिता कहते हैं। शारदातनय के अनुसार 'द्वादशसाहस्री संहिता' की रचना आदिभरत (वृद्धभरत) ने गद्य में की थी[2]। रामकृष्णकवि का कहना है कि वृद्धभरत ने बारह हजार श्लोकों में एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका कुछ अंश अब प्राप्य है[3]। अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने आदिभरत और भरत दोनों को उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि राघवभट्ट के समय तक दोनों के ग्रन्थ अलग-अलग विद्यमान थे। आदिभरत या वृद्धभरत के द्वारा रचित नाट्यवेद 'आदिभरत' के नाम से प्रसिद्ध रहा। भाण्डारकर प्राच्य विद्या मन्दिर में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'नाट्य-सर्वस्वदीपिका' नामक एक कृति मिली है[4] जिसे 'आदिभरत' पर टीका बतलायी गयी है। 'आदिभरत' शिवपार्वती के संलाप रूप में लिखा गया एक नाट्य ग्रन्थ है। आन्ध्र लिपि में 'आदिभरत' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त है जो नाट्यशास्त्र का प्रतिरूप प्रतीत होता है[5]। इस प्रकार आदिभरत या बृद्धभरत ही प्रथम नाट्यशास्त्र-कार हैं जो वर्तमान नाट्यशास्त्र प्रणेता कहे जाने वाले भरत से भिन्न और पूर्ववर्त्ती है।

---

१. अत्रेति भाष्ये, अनुवंशे भवौ शिष्याचार्यपरपरासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः।

(अभिनवभारती भाग १, पृ० ३९०)

२. एवं नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्॥ (भावप्रकाशन पृ० ३६)

३. जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग ३ पृष्ठ २३।

४. भाण्डारकर प्राच्य विद्या पत्रिका (भाग ७ पृष्ठ ४५३)।

५. वही पृष्ठ १३७-१७९ पर (मनकड़ का लेख)।

कश्यप या कश्यप—अग्निपुराणकार ने कश्यप का छन्दःशास्त्रकार के रूप में उल्लेख किया है।[१] अभिनवगुप्त ने कश्यप का नाट्यशास्त्र-प्रणेता एवं संगीतज्ञ के रूप में उल्लेख किया है और इन्हें भरत के समान प्रतिष्ठित आचार्य माना है। संगीत-रत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने कश्यप का नामोल्लेख प्राचीन संगीताचार्य के रूप में किया है।[२] काव्यादर्श की टीका हृदयङ्गमा में काश्यप को अलङ्कारशास्त्र का प्रणेता बताया है।[३] नान्यदेव ने भरतभाष्य में ग्रामरागों के सम्बन्ध में कश्यप का मत उद्धृत किया है।[४] अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में रागों के विनियोग निरूपण के अवसर पर कश्यप के नाम से पचहत्तर श्लोकों को उद्धृत किया है।[५] उन्होंने कश्यप के आधार पर राग और रस में सामञ्जस्य स्थापित किया है। उनका कहना है कि भरत ने इन्हीं के आधार पर रागों का निरूपण किया है।[६] अभिनव ने कश्यप को 'कौशिक' राग का जनक बताया है। अभिनव के अनुसार नाट्यशास्त्र का रागविनियोग विषयक मत कश्यप के सिद्धान्त पर आधारित है। मतङ्ग ने बृहद्देशी में कश्यप के अनुसार ग्राम-राग को अंश, न्यास, अल्पत्व, बहुत्व आदि दश लक्षणों से लक्षित बताया है।[७] कश्यप के दश लक्षणों को भरत में जाति का विशिष्ट लक्षण कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कश्यप एक प्राचीन आचार्य रहे हैं और वे भरत के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा संगीतशास्त्र पर ग्रन्थों की रचना की थी।

---

१. अग्निपुराण ३३६।२२।

२. संगीतरत्नाकर–प्रथम स्वरगताध्याय।

३. पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य-
(काव्यादर्श हृदयङ्गमा टीका १।२ तथा ११।७)।

४. भरतभाष्य (नान्यदेव)।

५. अत्र टीकाकारः शङ्कते–योऽयं जात्यंशकानां विनियोग उक्तः स **कश्यपमुनिमतादिभि-**
विरुध्यते।''''''''अत्राहुः। **कश्यपाद्यैस्तावन्** मालवकैशिकादीनां तत्तच्चित्तवृत्त्या जीवनौचित्यं दृष्ट्वा विनियोग उक्तः।'''' ''''तत्तल्लक्ष्यप्रबन्धमानोपयोगि कश्यपाद्युद्दिष्टं विनियोगजातं कथ्यते।

इसके बाद कश्यप के नाम से ७५ श्लोक अवतरित है जिसकी अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है—

'इत्येष कश्यपाद्युक्तो विनियोगो निरूपितः।

(अभिनवभारती भाग ४ पृ० ६९, ७२–७८)।

६. गदतो मे इत्यनादरे षष्ठी। तेन मद्वचनमेवात्र न केवलं प्रमाणम्। यावत् कश्यपमुनि-प्रभृतिभिरपि यन्निरूपितं तदपीति शिवम्।

(अभिनवभारती भाग ४ पृ० ६६)।

७. बृहद्देशी पृ० १०३-१०४।

विशाखिल—अभिनवगुप्त के अनुसार विशाखिल भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य थे। भरत ने ताल और सुषिर वाद्यों में अङ्गुलि-स्थापन के सम्बन्ध में विशाखिल का मत उद्धृत किया है। भरत के अनुसार विशाखिल के मत में वंश पर आरोहावरोह शारीर-वीणा के अनुसार किया जाना चाहिए। अभिनवगुप्त 'धातूंश्चैव निबोधत' में प्रयुक्त 'एव' शब्द का तात्पर्य बताते हुए कहते हैं कि चतुष्प्रहरण, त्रिप्रहरण, अङ्गुलि-विभाग, दो वृत्तियाँ समलेखा-चित्रलेखा इत्यादि विशाखिलाचार्य के द्वारा कथित बहुत सी बातों को मैंने नहीं कहा है।[१] अभिनवगुप्त के अनुसार भरत ने विशाखिल की बहुत सी मान्यताओं को स्वीकार किया है। भरत ने लास्याङ्गों के विवेचन में विशाखिल के मत का अनुसरण किया है।[२] विशाखिल ने स्वर, पद, ताल के समवाय को गान्धर्व कहा है।[३] तदनुसार भरत ने भी स्वर, पद, ताल के समवाय को गान्धर्व कहा है।[४] शार्ङ्गदेव ने विशाखिल की गणना कोहल, कश्यप, दत्तिल आदि आचार्यों में की है। नान्यदेव ने तीनों ग्रामों के तानों के निरूपण के प्रसङ्ग में विशाखिल का आधार लिया है। नान्यदेव के अनुसार विशाखिल ने तीनों ग्रामों की तानों का ऐसा विवेचन किया है जो नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं है।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि विशाखिल नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्त्ती संगीतशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य थे।

नन्दिभरत—(नन्दी या नन्दिकेश्वर)—नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय के अन्त में पुष्पिका लेख में 'नन्दिभरत' का उल्लेख है।[६] इससे प्रतीत होता है कि नन्दिभरत ने संगीतशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा है। 'भरतार्णव' में नन्दिभरत का उल्लेख है जिन्हें सप्तलास्य का प्रवक्ता कहा है।[७] मैसूर और कुर्ग की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'नन्दिभरत' नामक कृति का उल्लेख है[८] जो नन्दिभरत की रचना प्रतीत होती हे। मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में

---

१. एवकारेण चतुष्प्रहरणं त्रिप्रहरणमङ्गुलीनां विभागो द्वे वृत्ती समलेखा-चित्रलेखे-त्यादिकं विशाखिलाचार्यप्रोक्तं सर्वथैव ध्रुवागानज्ञानवैकल्योपयोगान्मया नोक्तमिति।
(अभिनवभारती भाग ४ पृ० ९४-९५)।

२. विशाखादिलक्षितं सर्वमेव लास्यगानं स्वीकृतमुपलक्षितं च।
(अभिनवभारती भाग ४ पृ० २७०)।

३. तथा च विशाखिलाचार्यः—'स्वरपदतालसमवाये गान्धर्वमिति।'
(अभिनवभारती भाग ४ पृ० ७)।

४. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) २८।११।

५. भरतभाष्य (नान्यदेव)—भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४६९।

६. समाप्तश्चायं (ग्रन्थः) नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्।

७. नन्दिना भरतेनोक्तं सप्तलास्यस्य लक्षणम्। (भरतार्णव ७५२)।

८. मैसूर एण्ड कुर्ग कैटलाग, पृष्ठ २९२।

नन्दिभरत के नाम से एक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध है।[1] जिसके एक अध्याय का नाम 'नन्दिभरतोक्तसंकरहस्ताध्याय' है। राइस् ने 'नन्दिभरत' नामक संगीत-विषयक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[2] तमिल भाषा में उपलब्ध 'पञ्चभरतम्' नामक कृति में जिन पाँच भरतों का उल्लेख है उनमें 'नन्दिभरत' प्रमुख थे। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र का उत्तर भाग, जिसका एक अंश संगीत विषयक है, का सम्पादन नन्दिभरत ने किया था। इस प्रकार यह अंश नन्दिभरत की कृति कही जाती है।

अभिनवगुप्त नन्दिभरत को एक व्यक्ति न मानकर नन्दि और भरत दो व्यक्ति मानते है और उनका दूसरा नाम 'तण्डु' और 'मुनि' बतलाते हैं।[3] इस प्रकार नाट्य-शास्त्र और संगीतशास्त्र के निर्माण में दोनों का योगदान रहा है। अभिनव के अनुसार नन्दि भरत नहीं थे, अपितु शिव के प्रमुख गण थे जिन्होंने भरत को करणों एवं अङ्ग-हारों से युक्त नृत्य की शिक्षा दी थी।[4]

कन्हैयालाल पोद्दार 'नन्दिभरत' का अर्थ नन्दि शिष्य भरत करते हैं।[5] उनके अनुसार अन्य भरतों से पृथक् करने हेतु 'नन्दिभरत' शब्द का प्रयोग किया होगा। इस प्रकार पोद्दार के अनुसार नन्दि भरत थे। किन्तु अभिनव गुप्त नन्दि को भरत नहीं मानते, बल्कि नन्दि को भरत से पृथक् भरत का नृत्तोपदेष्टा मानते हैं और उनका अपर नाम 'तण्डु' बतलाते हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार तण्डु नाट्याचार्य तथा ताण्डव नृत्त का प्रथम प्रवक्ता था। नाट्यशास्त्र के अनुसार शंकर ने तण्डु के द्वारा भरत को करणों, रेचकों एवं अङ्गहारों आदि से युक्त नृत्याभिनयों की शिक्षा दिलायी थी। अभिनवगुप्त को 'नन्दिमत' नामक एक ग्रन्थ का पता था। उन्होंने 'नन्दिमत' का अर्थ 'तण्डुमत' किया है। उनके विचार से तण्डु और नन्दि एक ही व्यक्ति के दो नाम है।[6] इस प्रकार अभिनव के अनुसार तण्डु और नन्दी एक ही व्यक्ति थे। रामकृष्ण कवि ने भी तण्डु और (नन्दिकेश्वर) को एक ही व्यक्ति माना है।[7] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार भी तण्डु और नन्दिन् एक ही व्यक्ति थे, जो शिव के पार्षद एवं ताण्डव नृत्त के प्रयोक्ता थे।[8]

१. मद्रास कैटलाग ७।१२००९ (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दे) पृ० १९।
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० १९।
३. तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी। (अभिनवभारती भाग १, पृ० ८८)
४. नाट्यशास्त्र ४।१७-१८।
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पोद्दार) पृ० २६।
६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २०।
७ द क्वार्टरली जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी। भाग ३ पृ० २५-२६।
८ शब्दकल्पद्रुम द्वितीय काण्ड पृ० ८२४।

हेमचन्द्र ने भी तण्डु और नन्दि को एक ही व्यक्ति स्वीकार किया है।[१] कल्पद्रुमकोष में नन्दि का ही दूसरा नाम 'तण्डु' बतलाया है।[२] मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर को संगीताचार्य के रूप में उल्लेख किया है।[३] उनकी दृष्टि में नन्दिकेश्वर का द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद रागसिद्धि के लिए आवश्यक है। नान्यदेव ने भरतभाष्य में संगीतशास्त्रकार के रूप में नन्दि का स्मरण किया है।[४] उनके अनुसार पुष्करवाद्यों में नन्दि का मत भरत के समान प्रमाणभूत है।[५] शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में संगीताचार्य के रूप में नन्दिकेश्वर का केवल स्मरण ही नहीं किया है, अपितु उनके मतों का विवेचन भी किया है।[६] शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में नन्दिकेश्वर के मत की चर्चा की है और उनकी कृति का नाम 'नन्दिकेश्वर-संहिता' बतलाया है।[७]

इस प्रकार नन्दिन् या नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्रप्रणेता, संगीतशास्त्रकार एवं नृत्यकला के प्रवर्त्तक आचार्य थे। उन्होंने नाट्य से सम्बद्ध अभिनयों एवं नृत्यों का प्रतिपादन किया है। वे काव्यशास्त्र के प्रवर्त्तक एवं योग, तन्त्र तथा शैव दर्शन के विद्वान् थे। उन्होंने शिव के आदेश से भरत को नाट्यवेद की शिक्षा दी थी।

शिङ्गभूपाल के अनुसार नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वरसंहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[८] किन्तु यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। प्रो० रामकृष्ण कवि का कहना है कि नन्दिकेश्वर ने नन्दिकेश्वर-संहिता' की रचना की थी जिसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया और अवशिष्ट भाग सम्भवतः अभिनयदर्पण है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 'नन्दिकेश्वरसंहिता' के कुछ खण्डित अंश प्राप्त हुआ हो जिसके आधार पर अभिनय परक अध्यायों की जोड़कर 'अभिनयदर्पण' और संगीत परक अध्यायों को जोड़कर 'भरतार्णव' का सम्पादन किया गया होगा। क्योंकि दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। रघुनाथ के 'संगीत-सुधा' नामक ग्रन्थ में 'नन्दीश्वर-संहिता' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। उनके अनुसार सम्प्रति उपलब्ध 'औमापतम्' नामक ग्रन्थ उसी संहिता का संक्षिप्त रूप है। इस प्रकार नन्दीश्वर के नाट्यपरक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—अभिनयदर्पण और भरतार्णव। उनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर की 'रुद्रडमरूद्भव सूत्रविवरण' नामक एक कृति और प्राप्त हुई है। इसमें माहेश्वर सूत्रों की संगीत परक व्याख्या की गई है। नन्दिकेश्वर (नन्दी) की 'नन्दिभरत' नामक एक कृति का

---

१. शब्दकल्पद्रुम द्वितीय काण्ड पृ० ८२४। २. कल्पद्रुमकोष (गायकवाड़) पृ० ३९२।
३. बृहद्देशी पृ० ३२। ४. भरतभाष्य (नान्यदेव) पृ० २०२।
५. वही पृ० २०४। ६. संगीतरत्नाकर १।१६-१७।
७. रसार्णवसुधाकर—भारतीय साहित्य पृ० ६८।
८. भारतीय साहित्य—(संगीतपरम्परा और भरतार्णव) पृ० ६८।

उल्लेख 'मैसूर एण्ड कुर्ग कैटलाग' में प्राप्त हुई है। नन्दिकेश्वर की एक अन्य कृति 'भरतार्थचन्द्रिका' मद्रास कैटलाग में प्राप्त हुई है। किन्तु भरतार्णव में पार्वती को इस ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है। इनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर के नाम की ताललक्षण, नन्दिकेश्वरकाशिका, नन्दिकेश्वरतिलक, योगतारावली, प्रभाकरविजय और लिङ्गधारणचन्द्रिका आदि ग्रन्थ भी मिलते है।

नन्दिकेश्वर अभिनय के विभिन्न अवयवों एवं संगीत की विभिन्न विधाओं पर वैदुष्यपूर्ण चिन्तन कर एक स्वतन्त्र नवीन प्रस्थान का सृजन किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार अभिनय नर्तन का समानार्थक शब्द है। उन्होंने करण, रेचक, अङ्गहार, शृङ्गनाट्य के विवेचन के साथ सप्तलास्य का विशद विवेचन किया है और नृत्य, गीत, वाद्य संगीत की विविध विधाओं के साथ ताल पर महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है। नन्दिकेश्वर ने नाट्य को दार्शनिक पृष्ठभूमि में परखा है। उनकी दृष्टि में नाट्य शाश्वत आनन्द का प्रतीक है जिसमें अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य आदि अनेक रञ्जक कलाओं का प्रयोग होता है जिनका अवलोकन कर सहृदय आत्मदर्शन में लीन होकर सत्, चित् और आनन्द से अनुप्राणित हो उठता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार समस्त सृष्टि-चक्र शिव के अभिनय का परिणाम है। नर्त्तन एक महत्त्वपूर्ण विधि है। उन्होंने माहेश्वर सूत्रों से संगीतकला का उद्भव दिखाकर संगीत के इतिहास में एक नवीन युग का प्रवर्त्तन किया है।

भरत के समकालीन आचार्य

कोहल – कोहल एक भरत थे। नाट्यशास्त्र के प्रणेताओं में कोहल भरत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत ने स्वयं उन्हें नाट्याचार्य के रूप में सम्मान दिया है कि नाट्यशास्त्र के शेष भाग का कथन कोहल करेंगे।[1] इससे प्रतीत होता है कि कोहल ने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, किन्तु आज वह अनुपलब्ध है। भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में नाट्यप्रयोग के प्रसङ्ग में कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल का एक साथ उल्लेख किया है।[2] नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में नाट्य के रस, भाव, अभिनय आदि ग्यारह अङ्ग गिनाये गये हैं। इस पर अभिनवगुप्त का कहना है कि यद्यपि नाट्य के पाँच अङ्ग माने जाते है किन्तु प्रस्तुत श्लोक में नाट्य के जो ग्यारह अङ्ग परिगणित हैं वे कोहल तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार हैं।[3] इससे कोहल की महत्ता सिद्ध होती है। इनके अतिरिक्त अभिनव ने अभिनव-भारती में अनेक स्थलों पर कोहल का मत उद्धृत किया है।

१. शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति। (नाट्यशास्त्र काव्यमाला ३६।३५)
२. कोहलादिभिर्भरतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः। (नाट्यशास्त्र ३६।७१)
३. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्—अनेन तु श्लोकेन कोहलादि मतेनैकादशाङ्गत्वं उच्यते, न तु भरते। (अभिनवभारती भाग १ पृ० २६४।)

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में, शारदातनय ने भावप्रकाशन में, हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कोहल का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है। राजशेखर ने नाट्यप्रयोक्ता के रूप में कोहल का निर्देश किया है। शिङ्गभूपाल ने रसार्णव-सुधाकर में कोहल का भरत और दत्तिल के साथ नाट्यशास्त्र प्रणेता के रूप में उल्लेख किया है।[१] शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में संगीताचार्य के रूप में कोहल का निर्देश किया है।[२] दामोदरगुप्त ने कुट्टनीमत में भरत के साथ कोहल का उल्लेख किया है।[३] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कोहल नाटशास्त्रप्रयोक्ता, संगीत, नृत्य एवं नाट्य के आचार्य रहे है।

अभिनव के अनुसार कोहल ने भरतोक्त असंयुत हस्तों के अतिरिक्त अन्य भेद भी निर्दिष्ट किये हैं[४] और शून्य, भास्वर, विद्युत् आदि नवीन हस्तमुद्राओं का आविष्कार भी किया है।[५] कोहल के अनुसार प्रयोग में लाई जाने वाली भाषाओं के आधार पर रूपक के अनेक भेद हो सकते हैं, यही मत भरत का भी है, क्योंकि भरत ने सैन्धव भाषा के आधार पर 'सैन्धवक' नामक रूपक भी माना है।[६] अभिनव ने चित्राभिनय के सम्बन्ध में कोहल की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए तीन श्लोक उद्धृत किये हैं।[७] इण्डिया आफिस संग्रहालय, लन्दन में ताड़पत्र पर लिखित 'कोहलीयम्' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त है जो कोहल प्रणीत प्रतीत होता है। मद्रास कैटलाग में कोहल का 'कोहलीय अभिनयशास्त्र' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त है जिसमें कोहल के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।[८] इसके अतिरिक्त मद्रास के पुस्तकालय में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'कोहल-रहस्य' नामक एक खण्डित ग्रन्थ प्राप्त है जिसमें कम से कम तेरह अध्याय हैं,[९] क्योंकि उस खण्डित ग्रन्थ का तेरहवाँ अध्याय उपलब्ध है। इस प्रकार कोहल नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के आचार्य थे और वर्तमान नाट्यशास्त्र के सम्पादन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

---

१. रसार्णवसुधाकर १।५१।
२. संगीतरत्नाकर, प्रथमभाग, प्रथम अध्याय।
३. कुट्टनीमत (दामोदर गुप्त) ८३।
४ नाप्येत एव कोहलादिभिरन्येषामपि दर्शनात्। (अभिनवभारती भाग २ पृ. ५५)
५. शून्य-भास्वर-विद्युदाद्यभिनयविषये नृत्ताचार्यप्रवाहसिद्धः कोहललिखितोऽपि हस्तः संगतो भवति। (अभिनवभारती भाग २ पृ० २६)
६. तेन दशरूपकस्य यद् भाषाकृतं वैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवाङ्ग-निरूपणे स्वीकृतमेव। (अभिनवभारती भाग २ पृ० ७२)
७. अभिनवभारती भाग ३ पृ० २८९–२९१।
८. मद्रास कैटलाग १२९८९ संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २१
९. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० ८२ (पादटिप्पणी)

दत्तिल—दत्तिल एक भरत थे और भरतमुनि के समकालीन पूर्ववर्त्ती नाट्य-शास्त्रकार थे। दत्तिल का नाम कहीं दन्तिल और कहीं धूर्त्तिल भी मिलता है। कुट्टनीमत में दामोदरगुप्त ने भरत और विशाखिल के साथ नाट्याचार्य के रूप में दत्तिल का उल्लेख किया है।[१] नान्यदेव ने भरतभाष्य में दत्तिल के उल्लेख के साथ उनका उद्धरण भी उद्धृत किया है।[२] शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में भरत, कोहल आदि नाट्याचार्यों के साथ नाट्यशास्त्रकार के रूप में दत्तिल का निर्देश किया है।[३] शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में कोहल, कश्यप, विशाखिल आदि के साथ प्राचीन आचार्य के रूप में दत्तिल का नामनिर्देश किया है।[४] अभिनवगुप्त ने ध्रुवागीति के सम्बन्ध में दत्तिल का उल्लेख किया है और आतोद्य एवं ताल के सम्बन्ध में उनके श्लोकों को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है।[५] प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार प्रथम शताब्दी के किसी शिलालेख पर दत्तिल का नामोल्लेख है।[६] प्रो० कवि का कहना है कि दत्तिल के ग्रन्थ का नाम 'गन्धर्ववेदसार' है और ये ध्रुवा एवं ताल के विशेषज्ञ संगीताचार्य थे।[७] इनकी एक कृति 'दत्तिलम्' उपलब्ध है। उसमें दत्तिल ने पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर गान्धर्व का संक्षिप्तीकरण किया है।[८] बर्नेल ने 'दत्तिलकोहलीयम्' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसमें दत्तिल और कोहल के मतों का संग्रह है।[९] भरत के नाट्य-शास्त्र में दत्तिल का उल्लेख है। किन्तु दत्तिल के ग्रन्थ में भरत का नामोल्लेख नहीं है। इस आधार पर इन्हें भारत का समकालीन पूर्ववर्त्ती आचार्य कहा जाता है।

वात्स्य, शाण्डिल्य तथा धूर्त्तिल—नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल के साथ वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल का भी उल्लेख हुआ है।[१०] इससे प्रतीत होता है कि ये तीनो आचार्य भरत पूर्ववर्त्ती और कोहल के समकालिक हैं। भरत ने नाट्यप्रयोग का श्रेय कोहल के साथ वात्स्य, शाण्डिल्य एवं धूर्त्तिल को भी दिया है।

---

१. कुट्टनीमत (दामोदरगुप्त) श्लोक १२२.१२३
२. भरतभाष्य (नान्यदेव)
३. दत्तिलश्च मतङ्गश्च ये चान्ये तत्तनूद्भवाः। (रसार्णवसुधाकर पृ०८)
४. संगीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव) प्रथम अध्याय
५. अभिनवभारती भाग १ पृष्ठ २०३ तथा भाग ४ अध्याय २८।
६. क्रै०पू० १०० वर्षे एकस्मिन् शिलाशासनेऽस्य नाम दृश्यते।
(भरतकोष–भारतीय संगीत का इतिहास पृ०४७१)
७. जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी। (भाग ३ पृ० २४)
८. दत्तिलम्–२४२
९. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (पृ० २२)
१०. कोहलादिभिर्भरतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः। (नाटयशास्त्र ३६।५७)

अभिनवगुप्त ने तथा अन्य किसी आचार्य ने इनका उल्लेख नहीं किया है। किन्तु नाट्यशास्त्र में नाट्यप्रयोग के प्रसङ्ग कोहल के साथ इनका उल्लेख होने से यह अनुमान लगाया जा मकता है कि ये नाट्यशास्त्र के आचार्य रहे हैं।

नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट—नाट्यशास्त्र में इन दोनो आचार्यों का उल्लेख भरतपुत्र के रूप में हुआ है। ये दोनों भरत के समकालीन नाट्याचार्य प्रतीत होते हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नखकुट्ट के श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] सागरनन्दी के 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में अश्मकुट्ट का चार बार और नखकुट्ट का दो बार उल्लेख हुआ है।[2] इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, तभी तो विश्वनाथ और सागरनन्दी ने अपने ग्रन्थों में उनके मतों को उद्धृत किया होगा। इस प्रकार नखकुट्ट और अश्मकुट्ट प्राचीन आचार्य थे।

वादरायण और शातकर्णी नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों में वादरायण और शातकर्णी का उल्लेख है। सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में वादरायण का तीन स्थलों पर उल्लेख किया है।[3] ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के शिलालेखों में शातकर्णी का नाम बार-बार आया है।[4] सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में शातकर्णी का मत उद्धृत किया है।[5] अनर्धराघव की टीका में शातकर्णी का उल्लेख मिलता है।[6] इससे ज्ञात होता है कि वादरायण और शातकर्णी नाट्यशास्त्र के स्वतन्त्र लेखक रहे हैं, किन्तु उनके ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं।

आञ्जनेय (हनुमद्भरत) तथा याष्टिक--आञ्जनेय हनुमन्मत के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। शाङ्र्गदेव आदि आचार्यों ने हनुमन्मत का उल्लेख किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में आञ्जनेय को नाट्य सम्बन्धी विचारों को उद्धृत्त किया है।[7] संगीतसुधा के लेखक रघुनाथ के अनुसार एक बार आञ्जनेय भ्रमण करते हुए कदलीवन पहुँचे। वहाँ याष्टिक मुनि दक्ष आदि शिष्यों को शिक्षा दे रहे थे। दक्ष आदि शिष्यों ने याष्टिक मुनि से पूछा कि सात शुद्ध और द्वादश विकृत स्वरों में एक स्वर की अधिक से अधिक चार श्रुतियाँ होती हैं किन्तु देशी रागों में पांच, छः, सात श्रुतियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार शास्त्र-विरोध है। याष्टिक मुनि ने इस शङ्का का

---

१. साहित्यदर्पण (चौखम्बा) पृ. ३९२
२. नाटकलक्षणरत्नकोश (सागरनन्दी) पृ. १०,४५, २६२, २६७, ३०६
३. नाटकलक्षणरत्नकोष (सागरनन्दी) पृ. १०९, २६२, ३०६।
४. भरत और भारतीय नाट्यकला। (पृ. ५१)
५. नाटकलक्षणरत्नकोश (सागरनन्दी) पृ० ११०
६. अनर्धराघव, पृष्ठ ७
७. भावप्रकाशन (शारदातनय) पृ० २५१

समाधान इस प्रकार किया कि न तो शास्त्रविरोध रहा और रागप्राप्ति भी हो गई। याष्टिकोक्त गायन-शैली तथा शिष्यों की गायन-शैली को ध्यान में रखकर आञ्जनेय ने लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की।[१] वह रचना 'आञ्जनेय-संहिता' कहलाई। उसे 'हनुमन्संहिता' भी कहते हैं। आञ्जनेय संहिता में शास्त्रीय और क्रियात्मक दोनो प्रकार के संगीत का विवेचन किया गया है। हनुमन्मत के अनुसार जिन रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम तथा जाति का नियम नहीं होता और जिन पर विभिन्न स्थानों की प्रादेशिक छाया होती है, उसे 'देशी-राग' कहते हैं।[२] हनुमन्मत के अनुसार सात शुद्ध स्वर और पांच विकृत स्वर तीन सप्तकों के भेद से छत्तीस प्रकार के होते हैं और इन छत्तीस स्वरों के द्वारा छः राग और सात रागिनियाँ उत्पन्न होती है। तमिल भाषा में प्राप्त 'पञ्चभरतम्' नामक कृति में 'हनुमद्भरत' का उल्लेख है। यह हनुमद्भरत आञ्जनेय ही होंगे जिन्होंने हनुमन्मत का प्रवर्त्तन किया है।

याष्टिक मुनि ने देशी रागों के भाषा, विभाषा और अन्तर्भाषा नामक तीन भेद किये हैं। मतङ्ग ने याष्टिक के मतानुसार भाषा का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है। याष्टिक के मत का प्रतिपादक ग्रन्थ 'याष्टिक-संहिता' है किन्तु आज वह अनुपलब्ध है।

अग्निपुराण—अग्निपुराण में काव्यालङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत नाट्य का भी विवेचन किया गया है। अग्निपुराण में नाट्य के सत्ताइस भेदों का निरूपण किया गया है।[३] परवर्ती आचार्यों ने इनमें से आदि के दस भेदों को रूपक तथा शेष सत्तरह भेदों को उपरूपक की संज्ञा दी है। विश्वनाथ ने तो अग्निपुराण का अनुसरण किया है। उन्होंने रूपकों की संख्या दस तथा उपरूपकों की संख्या १८ मानी है। सागरनन्दी ने अग्निपुराण के अनुसार दस रूपक तथा सत्तरण उपरूपमों को ही स्वीकार किया है। अग्निपुराण में नाट्य को धर्म, अर्थ और काम का साधन बताया है (**त्रिवर्गसाधनं नाटचम्**)। अग्निपुराण में पूर्वरङ्ग के ३२ अङ्गों का निर्देश किया है।[४] तत्पश्चात् छः नाटकीय गुणों का उल्लेख किया है। इतिवृत्त की योजना, वृत्तान्त का अनुपक्षय, प्रयोग में राग की उत्पत्ति, गोपनीय का गोपन, प्रकाशनीय का प्रकाशन और अलौकिक अर्थ (वस्तु) का कथन ये छः नाटकीय गुण हैं। अग्निपुराण के अनुसार जिसके द्वारा नाट्य के विविध अर्थों को सामाजिकों के समक्ष ले जाकर

---

१. संगीतसुधा (रघुनाथ)

२. येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो नहिं।
नानादेशगतिच्छाया देशीरागास्तु ते स्मृताः। (आञ्जनेयसंहिता)

३. अग्निपुदाणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्रम्—२।१-४

४. अग्निपुराणोक्त काव्यलङ्कारशास्त्रम् २।६-८

रसास्वादन कराया जाता है, उसे 'अभिनय' कहते हैं। अग्निपुराण के अनुसार अभिनय के चार प्रकार होते हैं—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक। इन चतुर्विध अभिनयों के द्वारा सामाजिकों के हृदय में रस का सञ्चार किया जाता है।

अग्निपुराण में रस के विषय में मौलिक विचार-धारा प्रतिपादित है। अग्निपुराणकार ने दार्शनिक धरातल पर रस-चिन्तन की एक नवीन दिशा प्रदान की है जो परवर्त्ती रस-विवेचन का आधार है। अग्निपुराण के अनुसार अक्षर, अज, अद्वितीय, ज्योतिर्मय परब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति रस है। वेदान्त में इस अभिव्यक्ति को चैतन्य या चमत्कार कहा गया है। इसी आनन्दरूप अभिव्यक्ति को चमत्कार या रस भी कहते हैं। चैतन्य रूप परब्रह्म का गुणत्रयरूप प्रथम विकार महत्तत्त्व (महान्) है। महत्तत्त्व से ही अहङ्कार या अभिमान की अनुभूति होती है। महत्तत्त्व के समान ही यह अहङ्कार या अभिमान भी त्रिगुणात्मक है। इस अभिमान या अहङ्कार की अनुभूति ही चैतन्य, चमत्कार या रस है[1]। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अभिमान अहङ्कार का ही एक रूप है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती हैं। यहाँ पर अभिमान आत्मस्थित विशेष गुण है जो रस्यमान होने से रस है। इसी अहङ्कार या आत्मप्रतीति अभिमान का दूसरा नाम शृङ्गार है। इसे शृङ्गार इसलिए कहते हैं कि यह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है। अग्निपुराण का यह शृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम का प्रकर्ष नहीं, अपितु आत्मनिष्ठ रति (निरपेक्ष) प्रेम है। अग्निपुराण के अनुसार इसी शृङ्गार से अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण का यह रस-चिन्तन सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक है। अग्निपुराणकार ने रस को भावाश्रित और भाव को रसाश्रित कहा है। उनके अनुसार रस हीन भाव और भावहीन रस की कल्पना नहीं की जा सकती है। रस और भाव एक दूसरे के उपकारक हैं। रसों को भावित करने के कारण वे भाव कहे जाते हैं।

मतङ्ग—मतङ्ग संगीतशास्त्र के आचार्य थे। रामायण और महाभारत में मतङ्ग नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है। कालिदास के रघुवंश में भी मतङ्ग मुनि की चर्चा की गई है। तमिल भाषा में प्राप्त 'पञ्चभरतम्' नामक ग्रन्थ में भरत सम्बन्धित पाँच नामों में मतङ्गभरत का भी उल्लेख है। इस प्रकार मतङ्ग भरत

---

१. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

(अग्निपुरोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्—४।२-६)

थे। संगीतरत्नाकर में मतङ्ग का उल्लेख है। जगदेकमल्ल ने संगीतचूड़ामणि नामक ग्रन्थ में 'मतङ्ग' का उल्लेख किया है। 'सिलप्पादिकरण' नामक तमिल ग्रन्थ में मतङ्ग-भरत का उल्लेख है। रामकृष्ण कवि के अनुसार मतङ्ग की कृति का नाम 'बृहद्देशी' है। बृहद्देशी में कुल छः अध्याय है। नान्यदेव ने भरतभाष्य में बृहद्देशी का अनेकों बार उल्लेख किया है। अभिनवभारती में कहा गया है कि मतङ्ग आदि ने बांस की बनी हुई वेणु के वादन से प्रसन्न किया था। मतङ्ग ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। प्रो० रामकृष्ण कवि ने मतङ्ग को किन्नरी वीणा का आविष्कारक बताया है। इसके पूर्व वीणा में सारिकाएँ नहीं होती थी। कुम्भ के अनुसार किन्नरी वीणा पर चौदह से लेकर अठारह सारिकाएँ होती हैं। मतङ्ग को चित्रावादक कहा गया है। चित्रा पर सात तार होते हैं जिन पर क्रमशः सातों स्वरों को अभिव्यक्ति होती है। मतङ्ग ने भरत प्रतिपादित सात मूर्च्छनाएँ तो स्वीकार की है किन्तु रागसिद्धि के लिए उन्होंने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद पर बल दिया है। यह द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद नन्दिकेश्वर का कहा जाता है[1]। मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं का विवेचन किया है। उनका कहना है कि यद्यपि आचार्यों ने सप्तस्वरमूर्च्छनाओं का प्रतिपादन किया है किन्तु मन्द्रादि तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए मूर्च्छना का प्रयोग द्वादश स्वरों के द्वारा किया जाता है[2]। किन्तु अभिनवगुप्त आदि परवर्त्ती आचार्यों ने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद को स्वीकार नहीं किया है[3]। नन्दिकेश्वर का द्वादशमूर्च्छना परवर्त्ती आचार्यों को भले ही मान्य न हो किन्तु वादनसौकर्य के लिए मूर्च्छनाओं का प्रयोग सभी को मान्य है। उनका कहना है कि किसी भी राग का स्वरूप स्पष्ट होने के लिए द्वादशस्वरमूर्च्छना आवश्यक है।

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार

नाट्यशास्त्र पर अनेक आचार्यों ने व्याख्याएँ लिखी हैं। किन्तु अभिनवगुप्त की अभिनवभारती को छोड़कर अन्य कोई भी व्याख्या सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। अभिनवगुप्त के पूर्व भी नाट्यशास्त्र के अनेक व्याख्याकार हुए हैं। उनमें भट्ट, लोल्लट,

---

१. नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम् —

द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिद्ध्यर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये ॥ (बृहद्देशी पृ० २२)

२. यद्यप्याचार्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ताः इति। (बृहद्देशी पृष्ठ २२)

३. अत्र यन्मतङ्गेन विवृता द्वादशस्वरमूर्च्छनाः सा अभिनवादिभिरनादृता।
(भरतकोष पृष्ठ ४२४)।

शङ्कुक भट्टनायक और अभिनवगुप्त इन चार व्याख्याकारों का उल्लेख मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में निम्नलिखित व्याख्याकारों का उल्लेख किया है –

व्याख्याकारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्त्तिधरोऽपरः॥

अर्थात् भट्टलोल्लट, भट्टोद्भट्ट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त और कीर्त्तिधर ये नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार हैं। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शाकलीगर्भ मातृगुप्त, हर्ष, कोर्त्तिधर, भट्टयन्त्र, राहुल, नान्यदेव आदि व्याख्याकारों का भी उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि नाटयशास्त्र पर अनेक व्याख्याकारों ने व्याख्याएँ लिखी हैं जिनका संक्षिप्त परिचय हम यहाँ दे रहे हैं।

उद्भट - नाटयशास्त्र के व्याख्याकारों में उद्भट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका पूरा नाम भट्टोद्भट था। ये काश्मीर निवासी और जयादित्य के सभा पण्डित थे। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में नाटयशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में उद्भट का उल्लेख किया है[१]। नाटयशास्त्र के छठे अध्याय में उद्भट के मत का उल्लेख किया है। मम्मट ने इन्हें भरत के रससूत्र का व्याख्याकार माना है। अभिनव का कथन है कि समवकार नामक रूपक को परिभाषा में नाटयशास्त्रोक्त पाठ से उद्भट का पाठ भिन्न है[२]। उद्भट ने भरतोक्त चार वृत्तियों का खण्डन करके केवल तीन वृत्तियों को स्वीकार किया है—न्यायचेष्टा, अन्यायचेष्टा और फलसंवित्ति[३]। उद्भट के इस कथन का कि नाटक में सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का प्रयोग भरतद्वारा परिगणित क्रमानुसार करना चाहिए, अभिनवगुप्त ने खण्डन किया है; क्योंकि यह आगमविरुद्ध है।[४] अभिनवगुप्त ने नाटयशास्त्र के छठें, नवें, उन्नीसवें तथा इक्कीसवें अध्याय की अभिनवभारती में उद्‌भट के विचारों का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। उससे प्रतीत होता है कि उद्‌भट ने सम्पूर्ण नाटयशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु उनकी व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

---

१. संगीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव) १।१।१९

२. ······समवकारे सम्यक्प्रयोज्यानीति। नैव प्रयोज्यानीत्युद्भटः।
(अभिनवभारती भाग २ पृ० ४४१)

३. ·······तस्माच्चेष्टात्मिका न्यायवृत्तिरन्यायवृत्तिर्वाग्रूपा तत्फलभूता फलसंवित्तिरिति त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। (अभिनवभारती भाग २ पृ० ४५१)

४ तेन यदुद्‌भटप्रभृतयो अङ्गानां सन्धौ क्रमे च नियममाहुस्तद्युक्त्यागमविरुद्धमेव।
(अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ ३६)

शकलीगर्भ तथा घण्टक—अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शकलीगर्भ तथा घण्टक का नाटयशास्त्र के व्याख्याकारों में उल्लेख किया है। प्रो० रामकृष्ण कवि ने शकलीगर्भ को उद्‌भट से अभिन्न माना है किन्तु इस मत को स्वीकार करने में कोई आधार नहीं है। क्योंकि यदि दोनों एक ही व्यक्ति होते तो अभिनव ने उद्‌भट को अनेक बार उद्धृत करते समय अन्य नाम को क्यों छोड़ देते ? दूसरे वृत्तियों के सम्बन्ध में शकलीगर्भ का उद्भट से मतभेद है, क्योंकि उद्भट तीन वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं जबकि शकलीगर्भ के मतानुसार वृत्तियाँ पाँच होती हैं[1]। भरतोक्त चार वृत्तियाँ और आत्मसंविति नामक पाँचवी वृत्ति। इन्होंने उद्भट की फलसंवित्ति नामक वृत्ति के स्थान पर आत्मसंवित्ति नामक वृत्ति स्वीकार की है। किन्तु भट्टलोल्लट ने शकलीगर्भ के मत का खण्डन किया है। घण्टक ने नाटचशास्त्र के नायिकाभेद प्रकरण पर व्याख्या लिखी है।

भट्टलोल्लट—भट्टलोल्लट नाटचशास्त्र के व्याख्याकार थे। आचार्य मम्मट ने इन्हें भरत के रससूत्र का व्याख्याता माना है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में षष्ठ, द्वादश, त्रयोदश, अष्टादश, एकविंश अध्यायों में भट्टलोल्लट का उल्लेख किया है। इन्होंने उद्भट के मत की आलोचना की है अतः ये उद्भट के बाद हुए हैं। लोल्लट मीमांसक और रस के सम्बन्ध में उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार रसों की संख्या आठ या नौ ही नहीं है अपितु रस अनेक हैं[2]। किन्तु अभिनव ने उनके इस मत का खण्डन किया है। अभिनवगुप्त ने नाटिका के सम्बन्ध में कहा है कि लोल्लट के मत से नाटिका षट्पदा होती है और शङ्कुक के मत में अष्टपदा[3]। इसी प्रकार अभिनवभारती में ध्रुवताल के सम्बन्ध में लोल्लट के मत का उल्लेख है[4]। इससे स्पष्ट होता है कि लोल्लट ने नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायों की व्याख्या लिखी है।

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में भट्टलोल्लट के दो श्लोकों को उद्धृत किया है[5]। माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश की संकेत टीका में लोल्लट का उल्लेख किया है[6]। डा० राघवन् के अनुसार ये अपराजित के पुत्र थे। इनका दूसरा नाम 'अपाराजिति' था।

---

१. अभिनवभारती भाग २ पृ० ४५२
२. वही भाग १ पृष्ठ २९९
३. वही भाग २ पृष्ठ ४३६
४. वही भाग २ पृ० १९६
५. काव्यानुनशास ५।२१५
६. न वेत्ति यस्य गाम्भीर्यं गिरितुङ्गोऽपि लोल्लटः।

(काव्यप्रकाश–संकेतटीका पृ० १४७)

क्योंकि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अपाराजिति के नाम से उद्धरण उद्धृत किया है[१]। इस प्रकार भट्टलोल्लट काश्मीर के निवासी नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार आचार्य थे। भट्टलोल्लट उद्भट के परवर्त्ती आचार्य थे। उद्भट का समय ८१३ ई० के पूर्व का माना जाता है अतः भट्टलोल्लट का समय उसके बाद होना चाहिए।

श्री शङ्कुक– शङ्कुक उद्भट एवं लोल्लट के परवर्त्ती नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। उन्होंने भट्टलोल्लट के रस-सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की है। अभिनवभारती में श्री शङ्कुक के मत का अनेक बार उल्लेख हुआ है। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में शङ्कुक का 'भुवनाभ्युदय' काव्य के लेखक के रूप में उल्लेख किया है और उन्हें काश्मीर के शासक अजितापीठ का समकालिक बताया है[२]। 'शार्ङ्गधरपद्धति' तथा जल्हण की 'सूक्ति-मुक्तावली' में उन्हें सूर्यशतक के रचयिता मयूर का पुत्र बताया गया है। शार्ङ्गधर, जल्हण और वल्लभदेव के सूक्ति-संग्रहों में शङ्कुक के कई श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इनका समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

अभिनवभारती के छठे अध्याय में रससूत्र के व्याख्याकार के रूप में शंकुक का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त रङ्गपीठ के विवेचन में शङ्कुक के मत का उल्लेख किया गया है। नाटक की परिभाषा, विमर्श-सन्धि, नाटिकाभेद तथा सामान्याभिनय आदि प्रसङ्गों में शङ्कुक के मत की चर्चा है। अभिनवगुप्त ने चौबीसवें अध्याय में बताया है कि अभिनय के सैकड़ों भेद हो सकते हैं, किन्तु शङ्कुक के मतानुसार अभिनय के चालीस हजार भेद होते हैं[३]। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र के तीसरे अध्याय से लेकर उनतीसवे अध्याय तक शङ्कुक ने नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी है। सम्भव है कि उन्होंने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी हो।

भट्टनायक—भट्टनायक काश्मीर निवासी और भरत के रससूत्र के व्याख्याता थे। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन के उद्देश्य से 'हृदय-दर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। महिमभट्ट का कथन है कि उन्होंने हृदयदर्पण को देखे बिना ही व्यक्ति-विवेक की रचना की है। जयरथ ने भट्टनायक को हृदयदर्पण का रचयिता माना है। रुय्यक ने भट्टनायक को टीकाकार के रूप में नहीं, बल्कि हृदयदर्पण के स्वतन्त्र लेखक के रूप में स्मरण किया है।

---

१. काव्यमीमांसा (राजशेखर) पृ० ४५

२. राजतरंगिणी (कल्हण) ४।७०३-७ ५

३. ननु यथा शङ्कुकेनोक्तं चत्वारिंशत्सहस्राणीत्यादि।

(अभिनवभारती भाग ३ पृष्ठ १८०)

भट्टनायक ने ध्वनि-सिद्धान्त के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। सहृदय-दर्पण नामक ग्रन्थ में उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया है। उसके अनुसार रस-चर्वणा या रस का भोग ही काव्य का जीवन है। उन्होंने काव्य के तीन व्यापार माने हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है। तत्पश्चात् भोजकत्व व्यापार के द्वारा स्वसंवेद्य रस का आस्वादन होता है। यही रस चर्वणा ही काव्य की आत्मा है। इस प्रकार भट्टनायक ने साधारणीकरण के मौलिक सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को तो स्वीकार किया है किन्तु उनके भोजकत्व व्यापार की प्रक्रिया को स्वीकार नहीं किया है। ध्वन्यालोक लोचन में भट्टनायक के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं,[1]—

शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

हेमचन्द्र ने इन श्लोकों को हृदयदर्पण से उद्धृत किया है।[2] माणिक्यचन्द्र ने भी काव्यप्रकाश की संकेत टीका में इन श्लोकों का उल्लेख किया है।[3] अलङ्कारसर्वस्व-कार ने भी भट्टनायक के मतों को साररूप में उद्धृत किया है।[4] अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में सहृदयदर्पण से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥

प्रो० सोवानी ने भट्टनायक के सहृदयदर्पण को नाटयशास्त्र की टीका मानी है।[5] वस्तुतः इस ग्रन्थ में रस का विवेचन हुआ है और साथ ही भरत के रससूत्र की व्याख्या। म० म० काणे के अनुसार सहृदयदर्पण नाटयशास्त्र की व्याख्या नहीं है।[6] अपितु वह (सहृदयदर्पण) भट्टनायक की स्वतन्त्र रचना है। उनके अनुसार भट्टनायक का समय ९३५-९८५ के मध्य माना जाता है।

---

१. ध्वन्यालोक लोचन पृ० ३२।
अभिनवभारती भाग २ पृ० २९८
२. काव्यानुशासन पृ० ३-४
३. काव्यप्रकाश की संकेत टीका (मणिक्यचन्द) पृ० ६
४. अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक) पृ० ९८-१०।
५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० २७९।
६. वही पृ० २७-८।

भट्टयन्त्र -भट्टयन्त्र नाटयशास्त्र के व्याख्याकार है। अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में भट्टयन्त्र का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि भट्टयन्त्र ने नाटय-शास्त्र पर कोई टीका लिखी होगी।

विश्वावसु और अर्जुन भरत—विश्वावसु संगीत के प्रमुख आचार्य थे। ये वीणावादन में अत्यन्त प्रवीण माने जाते है। इनकी वीणा का नाम 'बृहती' था (**विश्वावसोस्तु बृहती**)। विश्वावसु वीणा पर गान्धर्व-गान किया करते थे। मतङ्ग ने बृहद्देशी में विश्वावसु का उल्लेख आचार्य के रूप में किया है। विश्वावसु के प्रमुख शिष्य अर्जुन थे। अर्जुन एक भरत थे। तमिलभाषा में प्राप्त 'पञ्चभरतम्' नामक ग्रन्थ में अर्जुनभरत का उल्लेख है।

कात्यायन और राहुल—अभिनवगुप्त ने कात्यायन के मत का उल्लेख किया है जिससे प्रतीत होता है कि कात्यायन ने नाटयशास्त्र तथा छन्द:शास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा। सागरनन्दी ने भी कात्यायन का मत उद्धृत किया है जिससे ज्ञात होता है कि कात्यायन नाटयशास्त्र के आचार्य थे। ये कात्यायन वैयाकरण कात्यायन से भिन्न प्रतीत होते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में राहुल का आचार्य के रूप में उल्लेख किया है। राहुल ने 'भरतवार्त्तिक' नाम से नाटयशास्त्र की व्याख्या लिखी है। इस प्रकार राहुल नाट्य एवं संगीत के आचार्य रहे हैं।

वार्त्तिककार हर्ष—अभिनवभारती के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त के वर्षों पूर्व हर्ष ने नाटयशास्त्र पर वार्त्तिक लिखा था। इसीलिए वे वार्त्तिककार के रूप में विख्यात हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नाटयमण्डप के प्रसङ्ग में[1] नाट्य और नृत्त के भेद निरूपण में[2] तथा पूर्वरङ्ग के निरूपण के प्रसङ्ग में[3] भी वार्त्तिककार हर्ष का मत उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि हर्ष ने नाटयशास्त्र के प्राय: सभी अध्यायों पर आर्या छन्द में वार्त्तिक लिखा था। प्रो० रामकृष्ण कवि ने नाटयशास्त्र के द्वितीय भाग की भूमिका में सूचित किया है कि

---

१. अभिनवभारती भाग १ पृ० ६६-६८।

२. वही भाग १ पृ० १७२

३. श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाटयाङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्य-मानः पूर्वश्चासौ रङ्ग इति समासममंस्त। (अभिनवभारती भाग १ पृ० २०९) यदाह श्रीहर्षः—अत एव हासो (भासो) नाम कविः कस्मिंश्चिन्नाटके दिवं यातश्चित्त-ज्वरेण कलिरित एवाभिवर्त्तते, अशक्यमस्य पुरतोऽवस्थातुम्। (अभिनवभारती भाग १ पृ० २४९)।

अङ्गहारों पर वार्त्तिक के खण्डित अंश उपलब्ध हो चुके हैं।[१] किन्तु डा० राघवन् का कथन है कि वार्त्तिककार हर्ष ने नाटशास्त्र पर वार्त्तिक नहीं लिखा है, क्योंकि—अभिनवभारती में छठे अध्याय के बाद वार्त्तिक का कोई अंश उपलब्ध नहीं है।[२] किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नाट्यशास्त्र के अन्य अध्यायों पर वार्त्तिक नहीं लिखा गया। शारदातनय ने त्रोटक के प्रसङ्ग में हर्ष के मत का उल्लेख किया है।[३] सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष में वार्त्तिककार हर्ष का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है।[४] डा० शंकरन् ने कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन और वार्त्तिककार हर्ष को एक ही व्यक्ति माना है।[५] किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होना।

मातृगुप्त—राजतरङ्गिणी में प्राप्त विवरण के अनुसार मातृगुप्त भर्तृमेण्ठ के समकालीन कवि थे तथा पांच वर्ष तक काश्मीर पर शासन किया था और अन्त में सन्यास ले लिया था।[६] भारतीय साहित्य में मातृगुप्त का उल्लेख अनेक प्रसङ्गों में प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में वीणा-वादन के पुष्प नामक भेद के विवेचन के प्रसङ्ग में मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है।[७] इसके अतिरिक्त अभिनवभारती में अन्य प्रसंगों में भी मातृगुप्त का मत उद्‌धृत है।[८] शारदातनय ने भावप्रकाशन में नाटक की कथावस्तु में उत्पाद्य का महत्त्व बताते हुए मातृगुप्त का मत प्रस्तुत किया है।[९] सागरनन्दी ने नाट्यलक्षणरत्नकोश में अनेक प्रसङ्गों में

---

१. **A Large fragment of Vartika on Angaharas of about 2000 granthas recently acquired will be published as appendix.** N. S. G. O. C. Vol II. intro, P. XXIII

२. जर्नल् आफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास भाग ६ पृ० २०५।

३. तथैव त्रोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्। (भावप्रकाशन, पृ० २४८)

४. नाटकलक्षणरत्नकोष (सागरनन्दी) (चौखम्बा) पृ० ३०६।

५. हिस्ट्री आफ थ्योरी आफ रस — डा० शंकरन् पृ० १३।

६. राजतरङ्गिणी कल्हण) ३।२६०, २६२ तथा ३।३२०।

७. यथोक्तं भट्टमातृगुप्तेन—
पुष्पं च जनयत्येको भूयः स्पर्शात् स्वरान्वितः। (अभिनवभारती भाग ४ पृ० ९९)

८. अभिनवभारती भाग ४ पृष्ठ १२, २१, ४३।

९ पूर्ववृत्ताश्रयमपि किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च विधेयं नाटकमिति मातृगुप्तेन च भाषितम्। भावप्रकाशन पृ० २३४।

मातृगुप्त के मत का उल्लेख किया है।[१] अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने मातृगुप्त के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[२] कुन्तक ने मातृगुप्त के काव्य की सुकुमारता एवं विचित्रता का उल्लेख किया है।[३] इनके अतिरिक्त सुन्दरमिश्र ने नाट्यप्रदीप में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में मातृगुप्त का उल्लेख किया है।[४] इन विवरणों से प्रतीत होता है कि मातृगुप्त एक प्रख्यात नाट्याचार्य और कवि थे। सम्भव है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा हो जिसमें भरत के मतों की समीक्षा की गई हो।

कीर्त्तिधर—कीर्त्तिधर नाट्य और संगीत के आचार्य थे। अभिनवगुप्त ने इन्हें नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में स्मरण किया है। अभिनव ने अभिनवभारती में कीर्त्तिधर का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त का कथन है कि मैंने स्वयं नन्दिकेश्वर का ग्रन्थ नहीं देखा है किन्तु कीर्त्तिधर ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार 'चित्रपूर्वरङ्गविधि' का निरूपण किया है। अतः कीर्त्तिधर के वर्णन पर विश्वास करके नन्दिकेश्वर के मत का उल्लेख कर रहा हूँ। शार्ङ्गदेव ने कीर्त्तिधर की चर्चा अभिनवगुप्त के साथ की है। इनके ग्रन्थ का नाम 'कीर्त्तिधरीयम्' था, जो आज अनुपलब्ध है।

नान्यदेव—नान्यदेव भरतभाष्य के लेखक हैं। अभिनवगुप्त अभिनवभारती में भरतभाष्य से अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं। नान्यदेव मिथिला के कर्णाटक में मैथिल राजवंश के संस्थापक थे। इनका समय १०९७-११४७ के मध्य माना जाता है। भरतभाष्य में चार अभिनयों में से विशेष रूप से वाचिक अभिनय की चर्चा है। इन्होंने नाट्यशास्त्र के २८-३३ अध्याय पर व्याख्या लिखी थी, जिसमें संगीत की चर्चा है।[५] शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में भरतभाष्य का उल्लेख किया है। नान्यदेव ने मालती-माधव पर भी व्याख्या लिखी है।

भट्टतौत—भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु और नाट्यशास्त्र के व्याख्याता थे। उन्होंने काव्यकौतुक नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने

---

१. नाटकलक्षणरत्नकोश (सागरनन्दी) पृ० १४, २०, २१, २३, ५०

२. अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका (राघवभट्ट) पृ० ७-९।

३. वक्रोक्तिजीवितम् (चौखम्बा) पृ० १५४

४. यत्तु कीर्त्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतागामित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टम्—तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः।.........। (अभिनवभारती भाग ४ पृ० १२०)

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ७६

काव्यकौतुक पर 'विवरण' नामक टीका लिखी है। अभिनवभारती में काव्यकौतुक से अनेक उद्धरण उद्धृत किये गये हैं। अभिनव ने अनेक स्थलों पर अपने गुरु भट्टतौत के मतों को 'उपाध्यायाः' 'गुरवः' कह कर उद्धृत किया है। भट्टतौत शान्त रस को सब रसों में श्रेष्ठ मानते हैं। उनके मतानुसार रससमुदाय ही नाट्य है। रस केवल नाट्य में ही नहीं होता अपितु काव्य में भी होता है। रस प्रीति रूप होता है, वही नाट्य है (प्रीत्यात्मा रसस्तदेव नाट्यम्)। भट्टतौत की विचारधारा का प्रभाव अभिनवगुप्त तथा अन्य आचार्यों पर पड़ा है। भट्टतौत का समय दशम शतब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

अभिनवगुप्त—नाट्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। ये दर्शनशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य थे। ये एक प्रतिभाशाली विद्वान् एवं शिव के परम भक्त थे। 'परात्रिंशिकाविवरण' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' से इनके जोवनवृत्त के सम्बन्ध में विवरण प्राप्त होता है। इनके पूर्वज गङ्गा-यमुना के मध्य के प्रदेश अन्तर्वेदी के रहने वाले थे। वे काश्मीर नरेश ललितादित्य के आमन्त्रण पर काश्मीर में आकर वस गये थे। इनके पितामह का नाम वराहगुप्त और पिता का नाम चुखुल था। 'परात्रिंशिकाविवरण' नामक ग्रन्थ में इनके पिता का नाम 'चुखल' बताया गया है। वास्तव में अभिनवगुप्त के पिता का नाम नृसिंहगुप्त था। किन्तु वे 'चुखल' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त आजीवन ब्रह्मचारी और शिव के परम भक्त थे। अभिनवगुप्त ने ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनेक गुरुओं से विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। उन्होंने काव्यशास्त्र की शिक्षा भट्टेन्दुराज तथा नाट्यशास्त्र की शिक्षा भट्टतौत से प्राप्त की थी।

अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। उन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिणी' में उसकी रचनातिथि का उल्लेख किया है।

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे।
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने॥
जगति निहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां।
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि उन्होंने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी को रचना कलिवर्ष ४११५ तथा ईसवीं सन् १०१४ में की थी। उन्होंने 'भैरवतन्त्र' की रचना ९९२-९९३ ई० में की थी। इससे ज्ञात होता है कि उनका समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा एकादश शताब्दी का प्रारम्भिक भाग था। अभिनव-गुप्त ने लगभग ४१ ग्रन्थों की रचना की है। उनकी रचनाओं को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। म० म० काणे के अनुसार प्रथम वर्ग में तन्त्र विषयक ग्रन्थ आते हैं। 'तन्त्रालोक' तन्त्रशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त परात्रिंशिकाविवरण, मालिनीविजयवार्त्तिक तथा तन्त्रालोकसार आदि ग्रन्थ भी इस वर्ग में आते हैं। दूसरे वर्ग में स्तोत्र आते हैं। अभिनव ने भैरवस्तोत्र, कर्मस्तोत्र आदि बड़े और बोधपञ्चाशिका आदि छोटे ग्रन्थ लिखे हैं। तृतीय वर्ग में काव्यशास्त्र एव नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ आते हैं। इनमें अभिनवभारती, ध्वन्यालोक लोचन, काव्यकौतुकविवरण प्रमुख हैं। चतुर्थ वर्ग में प्रत्यभिज्ञादर्शन शास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ आते हैं। हम यहाँ उनकी अभिनवभारती के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

अभिनवभारती—अभिनवभारती सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर लिखी गई प्रमुख टीका है। इस टीका का नाम 'नाट्यवेदविवृति' भी है। यही टीका अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण होने से विद्वत्समाज में समादरणीय है। नाट्यशास्त्र पर लिखी गई टीकाओं में यही एकमात्र टीका उपलब्ध है। इसमें अनेक प्राचीन नाट्याचार्यों एवं संगीताचार्यों के मतों की समीक्षा की गई है। इसमें नाट्यकला, संगीतकला, नृत्यकला, छन्द, आदि विविध विषयों पर विचार किया गया है। यह टीका ही नहीं, अपितु नाट्य-शास्त्र का एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ के रूप में मान्य है। इसकी आदरणीयता किसी मौलिक ग्रन्थ से कम नहीं है। अभिनवगुप्त की अभिनवभारती नामक टीका की खोज डा० सुशील कुमार दे महोदय ने की और उसके सम्पादन एवं प्रकाशन का कार्य प्रो० रामकृष्ण कवि ने प्रारम्भ किया। उन्होंने गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, बडौदा से अभिनवभारती टीका के साथ नाट्यशास्त्र का चार भागों में सम्पादन किया है। जिसका प्रथम भाग १-७ अध्याय १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके बाद द्वितीय भाग ८-१८ अध्याय का प्रकाशन १९३४ ई० में, तृतीय भाग १९-२७ अध्याय का प्रकाशन १९५४ ई० में तथा चतुर्थभाग २८-३७ का प्रकाशन १९६४ ई० में हुआ। नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग का संशोधित द्वितीय संस्करण १९५६ ई० में श्री रामास्वामी शास्त्री के द्वारा प्रकाशित किया गया। इस संस्करण में महत्त्वपूर्ण संशोधन एवं पाठ परिवर्तन किये गये हैं। जैसे रामकृष्ण कवि महोदय ने नाट्यशास्त्र के प्रथम संस्करण में

शान्त रस को नाट्यशास्त्र के मूल अंश के रूप में स्वीकार किया था किन्तु श्रीरामास्वामी शास्त्री ने इस द्वितीय संस्करण में शान्त रस को प्रक्षिप्त पाठ के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में अभिनवभारती के दो अधूरे संस्करण निकले हैं। प्रथम आचार्य विश्वेश्वर ने नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय एवं षष्ठ अध्यायों का तथा उस पर प्राप्त अभिनवभारती टीका का पाठ-शोधन के साथ हिन्दी में एक नवीन संस्करण का सम्पादन एवं प्रकाशन किया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य संस्करण १-१८ अध्याय तक दो भागों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है, किन्तु यह संस्करण सुसम्पादित नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकार अभिनवभारती नाट्यशास्त्र को समझने के लिए एक महत्त्व पूर्ण व्याख्या है। यद्यपि कुछ आचार्यों को मान्यता है कि भरत का दृष्टिकोण समझने के लिए अभिनव की टीका बहुत दूर तक सहायक नहीं होती। मनमोहन घोष ने यह स्वीकार किया है कि अनेक शब्दों के अर्थ करने में अभिनवगुप्त स्वयं निश्चित नहीं दिखाई देते।[1]

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र एवं उस पर प्राप्त अभिनवभारती टीका का हिन्दी व्याख्या के साथ सम्पादन एवं प्रकाशन का निर्णय लेकर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। जिसके सम्पादन, अनुवाद एवं व्याख्या का कार्यभार मुझे सौंपा गया। मैंने नाट्यशास्त्र के अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों के आधार पर सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया; जिसका प्रथम भाग १-५ अध्याय छप कर तैयार है। छठां अध्याय और उसके आगे का अंश द्वितीय अध्याय में शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत अनुवाद और व्याख्या का आधार-भूत संस्करण रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित तथा गायकवाड़ संस्कृत सीरिज बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण ही रहा है। उक्त संस्करण के स्वीकृत पाठभेद बहुत कुछ अपरिवर्त्तनों के साथ यहाँ भी लिये गये है। अतः इस प्रस्तुत संस्करण में 'क' सङ्केत द्वारा उसका निर्देश किया गया है। चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस से प्रकाशित संस्करण के पाठों का निर्देश 'ख'

---

१. नाट्यशास्त्र—म. म. घोष, भूमिका पृष्ठ Lvxx।

सङ्केत द्वारा दिया गया है। 'ग' सङ्केताक्षर के द्वारा काव्यमाला संस्करण के पाठों का निर्देश किया गया है। मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित नाट्यशास्त्र के पाठों का निर्देश 'घ' सङ्केत के द्वारा किया गया है। इनके अतिरिक्त और जिन संस्करणों से सहायता ली गई उनके पाठभेदों का निर्देश यहाँ पर नहीं किया गया है, क्योंकि उपर्युक्त ग्रन्थों में निर्दिष्ट पाठभेदों को ही वहाँ पर दर्शाया गया है और कुछ संस्करण में पाठभेद दिया भी नहीं गया है।

नाट्यशास्त्र संस्कृत वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ऐसे महत्त्वपूर्ण आकार ग्रन्थ का अनुवाद करना मेरे जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन था। मैंने तो नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों एवं व्याख्याकारों के विचारों का अकलन कर अपनी भाषा में लिखने का दुष्कर प्रयास किया है। इस कार्य में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय तो सुधीजन ही करेंगे। मैं तो आचार्य चरणों में उन्हीं को वस्तु को अर्पित कर उनका नमन करता हूँ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

प्रक्षिप्त-भाग

परिशिष्ट

चित्र-सूची

●

करण-चित्र-सूची

संकेताक्षर

अ० पु०	=	अग्निपुराण
अभिनव	=	अभिनवभारती
अभिनव	=	अभिनवगुप्त
गायकवाड़	=	गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा
गा० ओ० सी०	=	,, ,, ,,
चौखम्बा	=	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
काव्यमाला	=	निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र (काव्यमाला संस्करण)
जे० ए० एच० आर० यस०	=	जनरल आफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी
ना० शा०	=	नाट्यशास्त्र
नि० शा०	=	निर्णयसागर
म० म० घोष	=	मदनमोहन घोष
यस० के० दे०	=	सुशील कुमार दे
काणे (पी० वी० काणे)	=	पाण्डुराङ्गवामन काणे
स० र०	=	संगीतरत्नाकर
जे० ओ० आर० एम०	=	जनरल आफ़ ओरियण्टल, मद्रास
एम० यस० जी० ओ० सी०	=	—

●

भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[अभिनवभारतीव्याख्यया विभूषितम्]

भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

प्रथमोऽध्यायः

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ ।
नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[1] ॥

अभिनव-भारती

यस्तन्मयान् हृदयसंवदनक्रमेण
द्राक्चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी ।
हर्षोल्लसत्परविकारजुषः करोति
वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम् ॥ १ ॥

षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम् ।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं श्रुतितदर्थविवेकिधाम ॥ २ ॥

विश्वबीजप्ररोहार्थं मूलाधारतया स्थितम् ।
धर्तृशक्तिमयं वन्दे धरणीरूपमीश्वरम् ॥ ३ ॥

सद्विप्रतोतवदनोदितनाटचवेद-
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः
संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥ ४ ॥

उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम् ।
स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता ॥ ५ ॥

लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम् ।
सङ्गतिः पौनरुक्त्यानां समाधानसमाकुलम् ॥
सङ्ग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः ॥ ६ ॥

---

१. क–यदुदीरितम् ।

हिन्दी-व्याख्या

नटराजं शिवं नत्वा शिवां लास्यप्रकाशिकाम् ।
कुर्वे मनोरमां व्याख्यां लोकानां रञ्जनाय च ॥

'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरणीयम्' अर्थात् ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करना चाहिए' इस शिष्टाचार के अनुसार ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करता है और शिष्यों के शिक्षण के लिए ग्रन्थ में उसे निबद्ध कर देता है। इसी परम्परा के अनुसार आचार्य अभिनवगुप्त अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में शिव की वन्दना के रूप में मङ्गलाचरण करते हैं—

अभिनव—चित्र-विचित्र नाना प्रकार की अद्भुत शक्तियों के द्वारा भूमिकाओं का विभाजन करने वाले जो (शिव) अपने भक्तों को हृदय के संवदन (द्रवीभाव) क्रम से शीघ्र ही हर्षादि से आविर्भूत रोमाञ्च आदि विकारों (अनुभावों) से पूर्ण कर देते हैं, उस चन्द्रमौलि शिव की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

विमर्श—भगवान् शिव नटराज हैं। वे अपनी शक्तियों (पार्वती आदि शक्तियों अथवा स्त्री-पात्रों) तथा गणों (तण्डु आदि गणों अथवा पुरुष पात्रों) के द्वारा नाना प्रकार की चित्र-विचित्र भूमिकाओं का विभाजन करते हैं और अपने भक्तों को हृदय से द्रवीभूत कथोपकथन के क्रम से तुरन्त ही हर्ष आदि भावों के उद्रेक से समुत्पन्न रोमांच आदि अनुभावों से परिपूर्ण कर देते हैं, उस चन्द्रमौलि की मैं (अभिनवगुप्त) बार-बार वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

अभिनव—छत्तीस अध्याय वाले इस भरतसूत्र (भरतनाट्यशास्त्र) की व्याख्या करता हुआ मैं (अभिनवगुप्त) छत्तीस तत्त्वात्मक जगत् रूपी आकाश को अवभासित करने वाली चिच्छक्ति की किरण-समूह (किरणों) से चुम्बित बिम्ब के समान सुशोभित श्रुति (वेद) और उसके अर्थ-ज्ञान के आश्रय शिव की वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में कुल छत्तीस अध्याय हैं। यद्यपि काव्यमाला संस्करण में सैंतीस अध्याय पाये जाते हैं किन्तु काशी संस्करण में छत्तीस अध्याय पाये जाते हैं। अभिनवगुप्त ने काशी संस्करण के आधार पर छत्तीस अध्याय मानकर अभिनव-भारती नामक व्याख्या लिखी है और इन छत्तीस अध्यायों का सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के छत्तीस तत्त्वों से जोड़ा है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार यह जगत् छत्तीस तत्त्वात्मक है और उनको प्रकाशित करने वाले शिव हैं। इसलिए छत्तीस अध्याय वाले नाट्य-शास्त्र के प्रारम्भ में प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिपादित छत्तीस तत्त्वात्मक जगत् को अवभासित करने वाले शिव की वन्दना की गई है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार छत्तीस तत्त्व निम्न-लिखित हैं—

(१) भूमि (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) गन्ध (७) रस (८) रूप (९) स्पर्श (१०) शब्द (११) पाणि (१२) पाद (१३) वाक् (१४) पायु (१५) उपस्थ (१६) घ्राण (१७) जिह्वा (१८) चक्षु (१९) त्वक् (२०) श्रोत्र (२१) मन (२२) अहङ्कार (२३) महत् (२४) प्रकृति (२५) पुरुष (२६) नियति (२७) काल (२८) राग (२९) विद्या (३०) कला (३१) अविद्या (३२) माया (३३) ईश्वर (३४) सदाशिव (३५) शक्ति (३६) शिव।

इन छत्तीस तत्त्वों से युक्त यह जगत् है और छत्तीस तत्त्वात्मक जगत् को प्रकाशित करने वाले भगवान् शिव हैं, उस शिव के प्रकाश से यह सारा विश्व प्रकाशित है। इसलिए जगदवभासक शिव से प्रकाश्य छत्तीस तत्त्वों के आधार पर नाट्यशास्त्र का छत्तीस अध्यायों में विवेचन किया गया है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने षट्त्रिंशात्मक जगदवभासक शिव की वन्दना की है ॥ २ ॥

अभिनव—संसार रूपी बीज के अङ्कुरित होने के लिए मूलाधार रूप से स्थित और धारण करने की शक्ति से युक्त धरणी रूप ईश्वर (शिव) की वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥

अभिनव—उत्तम विप्र श्रीभट्टतौत आचार्य के मुख से उदित (कथित) नाट्यवेद के तत्त्वार्थ (रहस्य) को (नाट्यशास्त्र के) जिज्ञासु लोगों की वाञ्छित (मनोरथ) की सिद्धि के लिए महेश्वर के भक्त (माहेश्वर सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक) अभिनवगुप्त के नाम से प्रख्यात (प्रतिष्ठित) ग्रन्थकार संक्षिप्त विवरण की विधि से विशद (स्पष्ट) करता है ॥ ४ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त के अनेक गुरु थे। जिनके पास जाकर उन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था उनमें आचार्य भट्टतौत साहित्यशास्त्र के गुरु थे। भट्टतौत से ही उन्होंने साहित्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। उनका कथन है कि मैंने अपने साहित्य-शास्त्र के गुरू भट्टतौत के मुख से जो कुछ व्याख्या सुनी है उसी का इस ग्रन्थ में प्रतिपादन कर रहा हूँ। उनके द्वारा की गयी नाटचशास्त्र की व्याख्या ही मेरे ग्रन्थ का मूल आधार है ॥ ४ ॥

अभिनव—उपादेय का सम्यक् पाठ अर्थात् अच्छी तरह अध्ययन करना, अनुपादेय अर्थात् अग्राह्य का परित्याग अर्थात् प्रतीक रूप में निर्देश करना, स्पष्ट व्याख्या करना, विरोधों का परिहार करना, अनुक्त अर्थ की पूर्णता के लिए अध्याहार करना, लक्ष्य (प्रतिपाद्य) का अनुसरण करना, कठिन वक्तव्य अंश का विवेचन करना, पुनरुक्तियों की सङ्गति लगाना, समाधानों की व्यापकता दिखलाना अथवा आक्षेपों का समाधान करना, उपादेय वस्तुओं का संग्रह करना इस प्रकार की व्याख्या-शैली का यहाँ (अभिनवभारती में) आश्रय लिया गया है ॥ ५–६ ॥

भरतमुनिरुचितदेवतानमस्कारपूर्वकमभिधेयगुणीभावेन प्रयोजनं मुख्यतया वृत्या प्रतिजानानो विशेषणद्वारेण गुरुपूर्वक्रममर्थाक्षिप्ततया चाभिधेयप्रयोजन-तत्सम्बन्धान्दर्शयति प्रणम्येत्यादिना—

अभिनव—भरतमुनि उचित (अभीष्ट) देवता को नमस्कार करके प्रतिपाद्य अर्थ को गौण बनाकर प्रयोजन को मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हुए विशेषणों के द्वारा गुरु-परम्परा को और अर्थापत्ति के द्वारा आक्षिप्त रूप से अभिधेय अर्थ, प्रयोजन एवं उसके सम्बन्धों को 'प्रणम्य' इत्यादि पद के द्वारा दिखलाते हैं।

विमर्श—अभिनवगुप्त के अनुसार प्रथम नाट्य-प्रवर्तक ब्रह्मा तथा नृत्य-प्रवर्तक शिव को नमस्कार किया गया है और तत्पश्चात् विषय का प्रतिपादन करके प्रयोजन को मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हुए 'पितामह-महेश्वरौ' इन विशेषणों के द्वारा नाटचशास्त्र की गुरु-परम्परा को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। इसके बाद अर्थाक्षिप्त रूप से विषय, प्रयोजन और उनके सम्बन्ध रूप अनुबन्धचतुष्टय को दिखलाया गया है।

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

अर्थात् ग्रन्थ के आरम्भ में विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध रूप अनुबन्ध-चतुष्टय के प्रतिपादन की परम्परा रही है। तदनुसार भरतमुनि ने प्रथम कारिका में अनुबन्ध-चतुष्टय को अर्थाक्षिप्त रूप में दिखलाने का प्रयत्न किया है।

अनुवाद—नाटच के देवता ब्रह्मा तथा नृत्य के देवता शिव इन दोनों को शिर से अर्थात् शिर झुकाकर प्रणाम करके मैं (भरतमुनि) ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट (कहे गये) नाटचशास्त्र का प्रवचन करूँगा॥ १॥

विमर्श—नाट्यवेद के प्रवर्त्तक ब्रह्मा हैं। इन्होंने नाट्यवेद का प्रवर्त्तन करके काम-क्रोधादि विकारों को जीत लिया था, इसलिए वे विजिगीषु कहे जाते हैं। नाटच के प्रथम प्रवर्त्तक होने के कारण वे नाटच के देवता कहे गये हैं। नाटय के उपकारक नृत्य के प्रवर्त्तक शिवजी हैं। उन्होंने अनेक करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य का सृजन किया है, इसलिए वे नृत्य के देवता कहे गये हैं इसलिए ब्रह्मा और शिव इन दोनों देवों की एक साथ वन्दना की गई है।

यह नाट्यवेद ब्रह्मा के द्वारा उदाहृत है। यहाँ पर 'उदाहृत' शब्द का अर्थ कथित किया गया है। भरतमुनि ब्रह्मा के द्वारा कहे हुए शास्त्र (नाठ्यशास्त्र) का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं (भरतमुनि) नाटचशास्त्र का प्रवचन करूँगा, जिस नाटचशास्त्र का कथन (या उपदेश) ब्रह्माजी ने मुझसे किया है।

'पितामहोऽत्र न पितुः पिता, महेश्वरश्च न राजादिरिति देवशब्दः। एतच्च नाशङ्कनीयं प्रसिद्धेः। एको विजिगीषुर्नाटयप्रवर्त्तयितेति देवः। भगवाँस्त्वानन्दनिर्भरतया क्रीड़ाशीलः सन्ध्यादौ नृत्यतीति नाट्ये तदुपस्कारिणि च नृत्ते तदुपज्ञं [1]प्रवृत्तिरिति तावेवात्राधिदैवते गुरू चेति नमस्कार्यौ।

लक्ष्मीपतिस्तु यद्यपि वृत्तीनां निर्माता तथापि पितामहादिवदसौ [2]स्वकर्त्तव्यमात्रनिष्ठस्तथाचरन्नात्र नाट्ये लोकवदुपजीवित इति गुरुत्वाभावान्न नमस्कृतः। (इत्ये) तदपि नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वादसत्॥

अभिनव—यहाँ पर पितामह शब्द पिता के पिता के लिए तथा महेश्वर शब्द राजा आदि के लिए प्रयुक्त न माना जाय, इसलिए 'देव' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की शङ्का नही करनी चाहिए, क्योंकि पितामह शब्द ब्रह्मा के लिए प्रसिद्ध है। ये पितामह (ब्रह्मा) विजिगीषु और नाट्यवेद के प्रवर्त्तक हैं, इसलिए 'देव' कहलाते हैं। दूसरे भगवान् महेश्वर (शिव) आनन्द में निर्भर होकर क्रोड़ा में रत सन्ध्या के समय नृत्य करते हैं, इसलिए 'दिव्' धातु के क्रीड़ा अर्थ को लेकर उन्हें देव कहा गया है। इसीलिए नाटच में और नाट्य की शोभा बढ़ाने वाले नृत्त में उन दोनों के द्वारा प्रथम प्रवृत्ति हुई है, अतः वे दोनों ही इस नाट्यवेद के अधिष्ठातृ देवता एवं गुरु हैं। इसलिए दोनों नमस्कार करने योग्य हैं। अर्थात् नाट्यवेद के प्रथम प्रवर्त्तक देव ब्रह्मा तथा नृत्य के प्रवर्त्तक देव शिव दोनों ही नमस्कार के योग्य हैं।

विमर्श—इस श्लोक मे 'प्रणम्य शिरसा देवो पितामहमहेश्वरौ' में पितामह शब्द पिता के पिता के लिए ग्रहण नहीं होता, इसी प्रकार महेश्वर शब्द किसी राजा के अर्थ में ग्रहण नहीं होता। ये दोनों शब्द क्रमशः ब्रह्मा और शिव के लिए ग्रहण किये गये हैं। यहाँ 'देवौ पितामहमहेश्वरौ' से सिद्ध होता है कि नाट्य के देवता ब्रह्मा और नृत्य के देवता शिव हैं। भरत ने भी नाटच का प्रवर्त्तक ब्रह्मा और नाटच के उपकारक नृत्य का प्रवर्त्तक शिव को स्वीकार किया है। इसीलिए दोनों देवताओं को नमस्कार किया है।

अभिनव—लक्ष्मीपति (भगवान् विष्णु) यद्यपि वृत्तियों के निर्माता हैं तथापि पितामह आदि के समान वह केवल अपने कर्त्तव्य में निष्ठ होने से उस प्रकार आचरण करते हुए भी यहाँ नाट्य में लोक के समान समादृत नही हुए, अतः नाट्यविद्या के गुरु न होने के कारण उनको नमस्कार नहीं किया गया है। यह नमस्कार के हेतु का निरूपण भी अनुचित होने से असत् है अर्थात् समीचीन नहीं है।

क्योंकि प्रणाम का अर्थ प्रह्वीभाव अर्थात् झुकना या नम्र होना है और वह प्रह्वीभाव काय से, वाणी से और मन से होता है। उनमें प्रथम शिर से (शिरसा)

---

१. क–प, म, ताण्डवप्रवृत्ति, क–, भाण्डप्रवृत्ति, २. क–म. कर्तव्य।

[1]तस्मात् प्रणमनं प्रह्वीभावः कायेन वाचा मनसा च। आद्यः शिरसेति दर्शितः। द्वितीयो देवावित्यनेन। प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्। तेन प्रथमं देवावित्युक्तम्। अभिनेयप्राधान्याच्चाङ्गिकः शिरसेति। वाचिकश्च देवावित्यादिना वाक्याभिनयो दर्शितः[2]। लोकसिद्धो ह्ययमभिनयो न च नाट्यधर्मिरूपः। चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न इत्यभिनेयोऽपि[3] प्रदर्शनीय एव। मानसी तु प्रह्वता वाक्कायव्यापारगम्येति नासौ पृथगुक्ता। '[4]पितामहमहेश्वरावितिक्रमः छेकानुप्रासार्थः। सालङ्कारस्य च वाक्यभिनयतां दर्शयितुम्। सालङ्कारस्य देवतापरितोषहेतुत्वं च दर्शयितुम्। पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम्।

पद से दिखलाया गया है और दूसरा 'देवौ' इस पद से दिखलाया गया है क्योंकि 'प्रणम्य' (प्रणाम करने योग्य) व्यक्ति का बिना किसी उपपद के नाम ग्रहण करना अनुचित है। इसीलिए पहिले 'देवौ' यह कहा गया है। नाट्य के अभिनेय प्रधान होने के कारण अर्थात् नाट्य में अभिनय की प्रधानता होने से आङ्गिक अभिनय 'शिर से' (शिरसा) दिखाया गया है और वाचिक अभिनय 'देवौ पितामहमहेश्वरौ' पद से वाक्याभिनय दिखाया गया है। लोकप्रसिद्ध यह अभिनय नाट्यधर्मी रूप नहीं है। यह ऊपर, नीचे, तिरछे करने से भिन्न-भिन्न चतुरस्र भुजादि अङ्गों के समान अभिनेय आङ्गिक नम्रता (प्रह्वता) प्रदर्शनीय ही है और मानसी नम्रता तो वाचिक और कायिक व्यापार से गम्य होती है अर्थात् वाचिक और कायिक व्यापार से जानी जाती है। इसीलिए अलग नहीं कहा गया है। 'पितामहमहेश्वरौ' में जो क्रम प्रदर्शित है, वह छेकानुप्रास के लिए है। सालङ्कार वाक्याभिनय अर्थात् अलङ्कारयुक्त वाक्य को अभिनेयता को दिखलाने के लिए तथा सालङ्कार वाक्य देवता के परितोष का कारण दिखलाने के लिए (यही क्रम प्रदर्शित है) अर्थात् पितामह और महेश्वर को इस कथन से 'पितामहमहेश्वरौ' को देवता और लोक (प्रजा) का हितैषी कहा गया है।

विमर्श—यहाँ नाट्य के देवता ब्रह्मा और नृत्य के देवता शिव को नमस्कार किया गया है किन्तु भारती आदि वृत्तियों के निर्माता विष्णु को नमस्कार नहीं किया गया है

---

१. क-म. प्रणामः कायादीनां प्रह्वीभावः। कायिकः शिरसेति दर्शितः। तस्मात्।

२. क-म. दर्शितः क्रमादेतावाङ्गिकवाचिकाभिनयौ। ३. अनभिनेयोऽपि।

४. क-भ. संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपातनाच्चरमसंस्कारस्य। पितामहमहेश्वराविति क्रम आश्रितः। छेकानुप्रासपरिपोषेण सालङ्कारस्य च वाक्यभिनयतां दर्शयितुम्। यद्वक्ष्यति—'चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दैर्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः।' (१६-१२७) इति सालङ्कारस्य च देवतापरितोषहेतुत्वं दर्शितं भवति। प्रजाः प्रतिहितैषित्वेन नाट्यप्रवर्त्तकत्वं कर्त्तव्यान्तरवैकल्येन पूर्णतायां च ततस्तद्गतत्वमिति नाम्नोरभिप्रायः। तत्र नाट्यस्य।

नाटचशास्त्रमिति—नाटचस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थं प्रवक्ष्यामिति। नैतदित्यन्ये। 'नाटचवेदः नाटचशास्त्रम्' इति हि पर्यायौ। तत्र नाटचशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थः। तद्ग्रन्थस्येदानीं करणम्। न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणाद्भिन्नं कठेन प्रोक्तमिति यथा। ग्रन्थस्य च नाटचवेदत्वे उत्पत्त्यादिपञ्चकस्य तद्गतस्यान्यग्रन्थसाधारण्यात् प्रश्नासङ्गतिः। उत्तर ग्रन्थस्य चानुपपत्तिः—'दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्'' (१-११) 'जग्राह पाठचमृग्वेदात्' (१-१७) इत्यादेर्ग्रन्थं प्रत्यसङ्गतत्वात्। तस्मान्नाटचं च तच्छास्त्रञ्च। व्युत्पत्तिप्रदत्वात्। प्रवक्ष्यामि व्याख्यास्ये। नाटचाख्यं वेदं लक्षणतो निरूपयिष्य इत्यर्थः।

क्योंकि भगवान् विष्णु ने मधु-कैटभ के वध के प्रसङ्ग में जो परस्पर वाकोवाक्य हुआ उसी को ब्रह्मा ने भारती वृत्ति कह दिया अर्थात् मधु-कैटभ के साथ युद्ध के प्रसङ्ग में विष्णु ने जिन वाग्व्यापारो एवं अङ्गहारों का प्रयोग किया था उसे ही ब्रह्मा ने वृत्ति की संज्ञा दे दी। वस्तुतः विष्णु ने नाटच के लिए वृत्तियों का निर्माण नहीं किया, अतः नाटचविद्या के उपदेशक (गुरु) न होने से उन्हें नमस्कार नहीं किया गया है। किन्तु यह कथन कि नाटचविद्या के गुरु होने से ही प्रणम्य होता है, सर्वथा अनुचित एवं असमीचीन है।

क्योंकि प्रणमन का अर्थ नम्रीभाव या झुकना होता है और वह नम्रीभाव शरीर से, वाणी से और मन से तीन प्रकारों का होता है। शरीर से नम्र होना 'शिरसा' पद से प्रदर्शित किया गया है और वाचिक नम्रता 'देवौ' पद से प्रदर्शित किया गया है। क्योंकि 'प्रणम्य' पद का बिना किसी उपपद के उच्चारण करना अनुचित है। इसीलिए 'प्रणम्य' पद के पहिले 'देवौ' पद का कथन किया गया है। यहाँ 'शिरसा' पद से अभिनेय प्रधान आङ्गिक अभिनय प्रदर्शित किया गया है और 'देवौ पितामहमहेश्वरौ' पद से वाचिक अभिनय दिखाया गया है। लोकसिद्ध यह अभिनय नाटचधर्मीरूप नहीं होता, क्योंकि लोकसिद्ध का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। इस प्रकार कायिक और वाचिक नम्रता (प्रह्वता) का निरूपण किया गया है। मानसी नम्रता वाचिक और कायिक व्यापार के द्वारा गम्य (व्यङ्गच) है, इसलिए उसका अलग से विवेचन नहीं किया गया है। 'पितामहमहेश्वरौ' में छेकानुप्रास है। पितामहमहेश्वर इस क्रम में रखने पर 'मह-मह' में छेकानुप्रास पुष्ट होता है। क्योंकि वाचिक अभिनय सालङ्कार का होता है और सालङ्कार वाक्य देवताओं के परितोष का हेतु होता है।

अभिनव—नाटचशास्त्रमिति—नाट्य अर्थात् (नाट्यवृत्त) के शास्त्र अर्थात् शासन के उपायभूत ग्रन्थ का प्रवचन करूँगा। कुछ लोग कहते हैं कि यह नाटचशास्त्र पद का व्याख्यान नही है। नाटचवेद और नाट्यशास्त्र दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। यहाँ यदि नाट्यशास्त्र शब्द से (नाट्यशास्त्र) ग्रन्थ ग्रहण करते हैं तो उस ग्रन्थ का इस समय निर्माण प्रस्तुत है, अर्थात् रचना हो रही है, प्रवचन नही। वह प्रवचन तो

एतदप्यमनोहरम्। शब्दात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात्। नाट्यस्य चाशब्दात्मकत्वात्। निरूपणमात्रे च प्रवचने ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्तेः। नाट्यस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकबाह्यस्वरूपनिरासलाभे शास्त्रशब्दानर्थक्यप्रसङ्गात्। 'य इमं शृणुयात्प्रोक्तं नाट्यवेदम्' इति शास्त्रान्ते यद्वक्ष्यन्ते तस्यासङ्गत्यापत्तेः। शब्दविषयातिरेकेण शृणुयादित्यस्यावाचकत्वात्।

तस्मादित्थमेतदिति मद्गुरवः। सकलहितकरणप्रवृत्त[1] उत्साहसम्पदोपेतस्तदभिवृद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वविज्ञानक्रमोपारूढगुरुरूपब्रह्मसर्वाधिपतिपरमेश्वरविषयां स्मृत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादिलक्षणां व्यभिचारसरणिं बाह्यकरणीयविषयं च जड़तावहित्थप्रभृतिभावगणं पुरस्सरीकृत्य धर्मवीरानुप्रविष्टस्तदुचिताङ्गिकवाचिकानुभावप्रकटनपूर्वं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति[2]। प्रयोजनस्यैव प्रवर्त्तकत्वात्। यदाहुः—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्' (न्या० सू० १।१।२४) इति।

'कठेन प्रोक्तम्' (कठ के द्वारा प्रोक्त) के समान रचना से भिन्न व्याख्यान रूप होता है। भाव यह कि जिस प्रकार कठ ऋषि ने यजुर्वेद की कठ शाखा का प्रणयन नहीं किया है अपितु गुरु-परम्परा से प्राप्त विद्या का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ पर नाट्यशास्त्र ग्रन्थ का इस समय प्रणयन नहीं किया जा रहा है अपितु व्याख्यान प्रस्तुत है। यदि ग्रन्थ को नाट्यवेद मानते हैं तो उत्पत्ति आदि विषयक प्रश्न करना असङ्गत हो जायगा और उत्तर (अगले) ग्रन्थ की भी अनुपपत्ति होगी कि—'उस नाट्य को खेलना चाहते हैं जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो—(नाट्यशास्त्र १-११) और 'ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत, अथर्ववेद से रस को ग्रहण किया' (ना० शा० १-१७) इत्यादि कथन ग्रन्थ के प्रति असङ्गत होंगे। इसीलिए नाट्य से अभिन्न शास्त्र है क्योंकि शास्त्र ही शिष्य के लिए व्युत्पत्तिप्रद होता है। अतः 'प्रवक्ष्यामि' का अर्थ 'व्याख्यान करूँगा' होगा अर्थात् नाट्य नामक वेद का लक्षण के अनुसार निरूपण करूँगा।

अभिनव—यह कथन भी ठीक नही है क्योंकि शब्द के बिना प्रवचन हो ही नहीं सकता और नाट्य शब्दरूप नही होता, अपितु दृश्य रूप होता है। यदि निरूपण मात्र को प्रवचन कहेंगे तो ग्रन्थ का भी प्रवचन होगा और नाट्य के कहने से ही अशास्त्रीय बाह्यस्वरूप भाडों के नाच-गान का निराकरण हो जाने पर नाट्य के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग निरर्थक होगा। 'जो इस प्रोक्त नाट्यवेद को सुनेगा' इस प्रकार शास्त्र (नाट्यशास्त्र) के अन्त में जो कहेंगे, उसकी भी असङ्गति हो जायगी, क्योंकि (नाट्य के) शब्दरूप हुए बिना 'सुनेगा' (शृणुयात्) यह उसका वाचक नहीं होगा।

---

१. क—भ. प्रवृत्तेरुत्साह।　　　२. क—म. निरूपितवान्।

तत्र नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकारप्रतिविम्बालेख्यसादृश्यारोपाध्यवसायोत्प्रेक्षास्वप्नमायेन्द्रजालादिविलक्षणं तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञानभ्रान्तिसंशयानवधारणानध्यवसायविज्ञानभिन्नवृत्तान्तास्वादनरूपसंवेदनसंवेद्यं वस्तु रसस्वभावमिति[1] वक्ष्यामः। तस्य शास्त्रं शासनं बाह्यभाण्डनाट्यादिवैलक्षण्येन सम्यक्तत्स्वरूपावगमोपायं प्रकर्षेणापरब्रह्मशिष्योदीरितानुपयोगिविकासावधाने[2] वक्ष्यामि। यद्वक्ष्यति—

य इदं शृणुयात्प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयम्भुवा।
कुर्यात्प्रयोगं यश्चैनं तथाऽधीयीत वा नरः॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम्।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् तु सः॥ इति।
(ना० शा० अ० ३६)

अभिनव—अतः यह (नाट्यशास्त्र का व्युत्पादन) इस प्रकार है, ऐसा मेरे गुरुजी का कथन है। समस्त सामाजिकों के हित (कल्याण) करने में प्रवृत्त उत्साह सम्पत्ति से युक्त, उस (नाट्यशास्त्र) की अभिवृद्धि के लिए प्रसार के लिए और उसके विघ्नों के अपसारण अर्थात् दूर करने की इच्छा से अपने विज्ञान में क्रम से प्राप्त (उपारूढ़) गुरुरूप ब्रह्म तथा सर्वाधिपति परमेश्वर विषयक स्मृति, औत्सुक्य, धृति, मति आदि व्यभिचारी भावों और बाह्येन्द्रियविषयक जड़ता, अवहित्थ प्रभृति भावों का अनुसरण करके धर्मवीर रस में अर्थात् अलौकिक आनन्दरूप रस में निमग्न, वीरोचित आङ्गिक और वाचिक अभिनयों के प्रकाशनपूर्वक अपनी प्रवृत्ति के प्रयोजन का ही निरूपण करते हैं, क्योंकि प्रयोजन ही प्रवृत्ति का कारण (प्रयोजक) है, जैसा कि कहा गया है—'जिस विषय (अर्थ) को लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है, वही प्रयोजन है'। (न्या० सू० १।१।२४)।

अभिनव—उसमें यह नाट्य लौकिक पदार्थों से भिन्न, उसके अनुकार, प्रतिबिम्ब, आलेख्य (चित्र), सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न, माया, इन्द्रजाल आदि से विलक्षण और उसके ग्राहक सामाजिक के सम्यग्ज्ञान, भ्रान्ति (मिथ्याज्ञान), संशय, अनवधारण, अनध्यवसायरूप विज्ञान से भिन्न प्रकार का होने के कारण यह नाट्य आस्वादनरूप संवेदन ज्ञान (अनुभूति) से वेद्य (ग्राह्य) एक रसस्वभाव (रसात्मक) वस्तु है, ऐसा आगे कहेंगे।

उस अलौकिक रसात्मक नाट्य का शास्त्र अर्थात् शासन (नाट्यशास्त्र) है, अशास्त्रीय बाह्य भाण्ड आदि के अभिनयों (प्रदर्शनों) से भिन्न विलक्षण रूप से इसके स्वरूप को अच्छे ढंग से समझने के उपाय को प्रकृष्ट रूप से ब्रह्मा के अन्य शिष्यों के

---

१. क-भ. रसस्वभावेति। क-म. रसस्वभाव इति।
२. क-म. विकासभावसाधनेन। क-भ. रितोनुपयोगिनिकासत्वावधानेन।

एतेन 'कामजो दशको[1] गणः' (मनु० ७-४७) इति वर्जनीयत्वेन नाटचस्यानुपादेयतेति यत्केचिदाशशङ्किरे तदयुक्तीकृतम्। याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशंसाभूयस्त्वश्रवणात्। न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात्।

द्वारा कहे गये अनुपयोगी (तथ्यों एवं तत्त्वों) के विस्तार के विषय में मैं सावधान होकर (उपयुक्त एवं यथार्थ) निरूपण करूँगा। जैसा कि आगे कहूँगा—

'जो स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा प्रोक्त इस नाट्यवेद को सुनेगा और जो उसका प्रयोग करेगा अथवा जो मनुष्य उसका अध्ययन करेगा, वह उस गति को प्राप्त करेगा जो गति वेद के विद्वान्, यज्ञ के वेत्ता और दानशील पुरुष प्राप्त करते हैं।'

विमर्श—संगीतरत्नाकर में भी इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि नाटच शब्द का मुख्य अर्थ रस है क्योंकि वह रसाभिव्यक्ति का कारण है और अमुख्य अर्थ नर्त्तन है क्योंकि लक्षणावृत्ति के द्वारा नाटचाचार्यों ने चार प्रकार के अभिनयों से युक्त रसाभिव्यक्ति के कारण नर्त्तन को 'नाटच' कहा है (नाटचशब्दो रसे मुख्यो रसभिव्यक्तिकारणम्। चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः। नर्त्तनं नाटचमित्युक्तम्......) अभिनव ने भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'रस ही नाटच है और नाटच ही रस है' **(तेन रस एव नाटचम्। यदि वा नाटच एव रसाः)।**

अभिनव—इससे अर्थात् इस व्याख्यान से 'काम से उत्पन्न मृगया आदि दस गण हैं' उनका सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मनु के कथन के अनुसार तौर्यत्रिक (नृत्य, गीत, वाद्य आदि) वर्जनीय होने से (तौर्यत्रिकरूप) नाट्य की अनुपादेयता बतायी गयी है, ऐसी जो शङ्का करते हैं वह ठीक नहीं है अर्थात् युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृति, पुराण आदि में इस (तौर्यत्रिक) नाट्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। आगम प्रमाण के बिना अनुमान से धर्म को नहीं जानना चाहिए, यह न्याय-सिद्ध है।

विमर्श—मनुस्मृति में बताया गया है कि मृगया (शिकार), जुआ खेलना, दिन में सोना, निन्दा, स्त्री, मद्यपान, नृत्य, गीत, वाद्य और निरर्थक घूमना ये दस काम से उत्पन्न हैं, अतः इनका सेवन नहीं करना चाहिए—

मृगयाक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः॥

(मनुस्मृति ७।४७)

इस प्रकार मनु के अनुसार काम से उत्पन्न नृत्य, गीत, वाद्य का सेवन निषिद्ध है और नाटच में नृत्य, गीत, वाद्य तीनों प्रमुख अङ्ग माने गये हैं अतः नाटच वर्जनीय है, ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं, किन्तु यहाँ शङ्का करना निर्मूल है क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृति तथा

---

१. क-म. देशको गणः।

एतत्तु वृथैवास्थानभीरुन्प्रति शङ्काशमनार्थमभिधीयते नाम। तथाहि—नटानां[1] तावदेतत्स्वधर्माम्नायरूपतयाऽनुष्ठेयमेव। न चास्माकं तच्चेष्टितं विचार्यम्। सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य[2] न तद्विक्रयि[3]ब्राह्मणान्तर्गतकृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्तः। न चाप्यस्योपदिश्यते 'गायेन्नृत्येत्' इति। किन्तु प्रथमनाटचावसरक्रमविरिञ्चिवचनप्रवर्त्तकभरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरिचयागताद्यतनकालावधिमहानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्। अतएव[4] तद्गतसिद्धसदुपायोपदेशनपरमिदं शास्त्रमिति।

पुराण आदि में तौर्यत्रिक (नृत्य-गीत-वाद्य-युक्त नाटच) की प्रशंसा की गई है। जैसा कि याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि जो आनन्दरूप नृत्य, गीत, वाद्य का अभ्यास करते हैं वे तप आदि कष्ट के बिना ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स विन्दति ।।
(याज्ञवल्क्यस्मृति ४।११४)

अग्निपुराण में नाटच को धर्म, अर्थ और काम का साधन बताया गया है (**त्रिधर्गसाधनं नाटचम्**)। विष्णुपुराण में लिखा है—

काव्यालापांच ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्त्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ।।

अभिनव—यह तो 'सरस नाट्य में अस्थान-भीरु होना अनुचित है' इस शङ्का के निवारण के लिए कहना है कि—नटों को तो नाटय को अपने धर्म का वेद समझकर अनुष्ठान (प्रयोग) करना चाहिए। **'निष्कारणो धर्मो वेदो ज्ञेयोऽध्येयश्च'** अर्थात् 'बिना किसी कारण के ही धर्म का अनुष्ठान और वेद का अध्ययन करना चाहिए' यतश्च नाटय एक वेद है और नाट्य (अभिनय) नटों का धर्म है अतः नटों को नाट्यवेद का अनुष्ठान करना चाहिए। हमें उनकी चेष्टाओं पर विचार नहीं करना चाहिए। जैसा कि सोम-क्रय का उपदेश देनेवाले वाक्य का उसको बेचने वाले ब्राह्मण के कृत्य-अकृत्य (कार्याकार्य) के विषय में विचार करना उपयुक्त नहीं है। भाव यह कि यज्ञ के लिए सोम-क्रय धर्म कहा गया है और अन्यत्र सोम-विक्रय को अधर्म कहा गया है। यदि सोम को खरीदने वाला सोम-विक्रय को अधर्म समझकर सोम-क्रय नही करता तो सोमयाग ही लुप्त हो जायगा, अतः सोम के क्रय-विक्रय के धर्माधर्म पर विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है। यह नाटयशास्त्र नट को 'नाचो-गाओ' इस प्रकार उपदेश नहीं देता। किन्तु सर्वप्रथम नाटय के अवसर

---

१. क–म भ. नटस्य नाटचं तावदेत०।
२. क–म. विधिवाक्यस्य। ३. क–म. तद्विक्रेष्टाद्ब्राह्मणा०।
४. क–म. भ. परमतद्गतसिद्धिसम्पत्तिसदुपायो०।

नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते तं प्रत्युपकारादृते । कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्त्थितविचित्रा[1]पूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः । परं[2] प्रत्याशङ्का यदि परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्यो[3]पकारः । तस्यापि तु नेह 'गायेन्नृत्येद्वादयेत्तन्निरतो वा भवेत्' इत्युपदेशः क्रियते । अपि तु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्यातएव वेदशास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तुमध्ये तादृगिदं वस्त्वनुप्रवेशितं यद्बलादेव पुमर्थोपायावगतिं करोतीति वक्ष्यामः । उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाट्याख्यवेदविषयाः । न तु नाट्यवेदशास्त्रविषयाः । यतो "नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्" (ना० शा० १-४) इत्यत्र नाट्यमेव वेदः इति व्याख्यास्यामः ॥

पर पूर्वापर क्रम से प्रवृत्त ब्रह्मा के उपदेश के प्रवर्त्तक भरतमुनि के शासन के अनुवर्ती शिष्य-परम्परा में परिचय से प्राप्त जो आजतक के महानट जन अपने प्रवृत्ति-विशेष के उपदेश में तत्पर हैं । इसलिए उन सिद्ध आचार्यों द्वारा समीचीन उपायों (साधनों) के उपदेश में यह शास्त्र (नाट्यशास्त्र) उत्तम है, श्रेष्ठ है ।

अभिनव—यह नाट्यशास्त्र नट को उसके उपकार के अतिरिक्त 'नाचो, गाओ, बजाओ' इस प्रकार का कोई उपदेश नहीं देता है । भाव यह कि नट आजीविका के लिए अथवा भगवत्प्रेम के लिए नाट्य (अभिनय) कर सकता है, विलासिता के लिए नही । कवि के हृदयरूपी स्थान में निरन्तर उदित प्रतिभा नामक वाग्देवता के अनुग्रह से उत्पन्न विचित्र अपूर्व अर्थ के निर्माण की शक्ति (प्रतिभा) से सम्पन्न और प्रजापति के समान अपनी इच्छा से काव्य-जगत् का निर्माण करने वाले कवि के लिए भी उपदेश नहीं दिया है । यदि कवि के अतिरिक्त किसी दूसरे के प्रति उपदेश देने की आशङ्का की जाती है तो वह व्युत्पाद्य अवशिष्ट है । उस व्युत्पाद्य (विनेय) के लिए भी यहाँ 'गाने, नाचने अथवा बजाने में निरत रहो' ऐसा उपदेश नही दिया जा सकता । अपितु स्वभाव से ही मनोहर विषयों के आस्वाद में प्रवृत्त होने से, अतएव वेदशास्त्र, पुराण आदि के अध्ययन में भीरु हृदय वाले के लिए तो मनोहर विषयों में वैसा ही मनोज्ञ यह नाट्यशास्त्ररूपी वस्तु (विषय) निक्षिप्त है (अनुप्रविष्ट है) जिसके बल से वह विनेय धर्मादि उपायों को ज्ञात कर सके, यह कहेंगे । उत्पत्ति आदि के विषय में जो प्रश्न होंगे, वे नाट्यवेद विषयक होंगे, नाट्यशास्त्र विषयक नहीं होंगे । क्योंकि 'हे ब्रह्मन् ! नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ ?' यहाँ पर नाट्य ही वेद है, यह आगे व्याख्या करेंगे ।

---

१. क–म. भ. विचित्रापूर्वनिर्माण । २. क–म. भ. परमप्रत्याशङ्का ।

३. क–भ. व्युत्पाद्यो वराकः । क–म. ष्यते वराकः ।

एतच्च नाटचशास्त्रं[1] ब्रह्मणोदाहृतं मह्यमुक्तम् । यद्वक्ष्यते—'आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाटचवेदं पितामहात् । पुत्रानध्यापयामास' (ना० शा० १-२५) इति । अत्र तु नाटचस्य वेदः शास्त्रमिति समासः । अन्यथाऽध्यापनाऽसम्भवात् । तेन ब्रह्मप्रोक्तमेव मया यथापरिपाटि निरूप्यत इति यावत् ।

नाट्यं ब्रह्मणोद्धृत्योद्धृत्य वेदाङ्गान्याहृतमिति तद्विषयं शास्त्रमप्युदाहृतमित्युक्तम् । यदि हि नाटचस्य वेदनं ज्ञानं सत्ता लाभो विचारश्च यत्र, तन्नाट्यवेदशब्देन नाट्याश्रयरूपं दशरूपकमित्युच्यते यद्वक्ष्यति "इतिहासो मया दृष्टः" इति । (ना० शा० १।१९) अत्र पक्षे ब्रह्मणोदाहृतं प्रदर्शितोदाहरणं कृतनिदर्शनमित्यर्थः ।

अन्ये तु नटनीयमनुकरणं दशरूपकमेव नाट्यम् तस्येदं शास्त्रम् । दशरूकलक्षणं ह्येदम् । एवं दशरूपकं कविना कार्यम् । एवं च नटनीयमिति ग्रन्थतात्पर्यात् । रसादीनां पदार्थानां तत्रैव पर्यवसानात् । तच्च ब्रह्मणोदाहृतं कृतनिदर्शनम् ।

अन्ये तु ब्रह्मणा वेदाख्येन भगवता शब्दराशिनोदाहृतं निरूपितं त्याज्यानुष्ठेयरूपमायदागच्छत् व्युत्पाद्यतया स्वीकुर्वन्नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामीति प्रयोजनमनेनैव स्वीकृतमित्याहुः ।

अभिनव—इस नाट्यशास्त्र को ब्रह्मा ने उपदिष्ट किया है अर्थात् मुझसे कहा है, जैसा कि आगे कहेंगे—"मैंने ब्रह्माजी से आज्ञा पाकर और उन्हीं से नाट्यवेद को जानकर पुत्रों को पढ़ाया" यहाँ पर तो नाट्य का वेद अर्थात् शास्त्र—नाट्यशास्त्र षष्ठी समास है। यदि यहाँ षष्ठी समास मानकर नाट्यवेद शब्द से नाट्यशास्त्र का ग्रहण नहीं किया गया तो उसका अध्यापन करना सम्भव नही होगा। इसलिए ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट नाट्य का ही (नाट्यशास्त्र का ही) मैं यहाँ परम्परा के अनुसार निरूपण कर रहा हूँ।

अभिनव—ब्रह्मा ने वेदों से शिक्षा आदि वेदाङ्गों का उद्धार किया और वेदों से रसादि को उद्धृत कर नाट्यविषयक शास्त्र अर्थात् नाट्यशास्त्र का भी व्याख्यान किया। 'विद्' धातु से 'वेद' शब्द निष्पन्न है। यदि विद्' धातु के ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचार चारों अर्थों को ध्यान में रखकर 'नाट्यस्य वेदनं ज्ञानं सत्ता लाभो विचारश्च यत्र स नाट्यवेदः' यह व्याख्या करते हैं तो 'नाट्यवेद' शब्द से नाट्य के आश्रयरूप दश रूपकों का ग्रहण होगा। जैसा कि आगे कहेंगे—'इतिहास को मैंने देखा है ' इस व्याख्या के अनुसार 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' का अर्थ होगा कि 'ब्रह्मा ने जिस रूपक का निर्माण कर उदाहरण प्रस्तुत किया था' उस नाट्यवेद का मैं निरूपण करूँगा।

---

१. क–म. भ. नाटचवेदशास्त्रम् ।

भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतमविद्याविरचितनिस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यं तद्वक्ष्यामि । यथा हि कल्पनामात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदयग्रहनिदानमत्यक्तस्वालम्बनब्रह्मकल्पनटोपरचितं रामरावणादिचेष्टितमसत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्त्या[1] भाति । तथा भासमानमपि च [2]पुमर्थोपायतामेति । तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूपप्रपञ्चात्मकमथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापकमिति लोकोत्तरपरमपुरुषार्थसूचनेन शान्तरसोपक्षेपोऽयं भविष्यति ।

विमर्श—कुछ विद्वानों ने 'ब्रह्मणा उद्धृत्य वेदाङ्गान्याहृतम्' का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि ब्रह्मा ने वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय और रसों आदि अङ्गों को ग्रहण कर नाट्यवेद की रचना की है ।

अभिनव—दूसरे व्याख्याकार नटनीय अनुकरणरूप दश रूपकों को ही 'नाट्य कहते हैं। उसका शास्त्र नाट्यशास्त्र है अर्थात् जिस शास्त्र में दश रूपकों का निरूपण हो, उसे नाट्यशास्त्र कहेंगे। अतः दश रूपकों के लक्षणादि का प्रतिपादक शास्त्र नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार कवि को दशरूपकों का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार 'यह नटनीय है' ग्रन्थ का तात्पर्य है, क्योंकि रसादि पदार्थों का उसी में पर्यवसान है। उसी का ब्रह्माजी ने निदर्शन या उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

अन्य व्याख्याकार 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म अर्थात् शब्दराशि रूप वेद भगवान् के द्वारा निरूपित विधि एवं निषेध रूप से व्युत्पाद्यरूप में स्वीकार करते हुए 'नाट्यशास्त्र को कहूँगा' इस प्रकार प्रयोजन को भी इसी के द्वारा स्वीकार कर लिया है, ऐसा कहते हैं।

अभिनव—भट्टनायक तो 'ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ने जिसको उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है अर्थात् अविद्या (माया) से कल्पित निस्सार (सारहीन) भेद के ग्रहण में जिसे उदाहरण बनाया है, वह नाट्य है, उसका मैं वर्णन करूँगा। जैसा कि केवल कल्पनारूप, इसलिए एक रूप में स्थित न रहने वाला, क्षणभर में सैकड़ों, हजारों कल्पनाओं को सहन करने वाला, स्वप्न माया आदि से विलक्षण होते हुए भी सुष्ठु (सुन्दर) रूप से हृदय को आकृष्ट करने वाला (हृदयग्राही), स्वावलम्बन को ग्रहण करने वाले ब्रह्म सदृश नट के द्वारा उपरचित (प्रस्तुत) राम-रावण आदि का व्यापार असत्य है, तथापि किसी अभूतपूर्व अद्भुत रूप से प्रतीत होता है और उस प्रकार भासित होता हुआ भी पुरुषार्थ (धर्मादि) का साधन बन जाता है। और उसी तरह यह जगत् भी मिथ्या नाम-रूप प्रपञ्चात्मक और श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन आदि के द्वारा परमपुरुषार्थ को प्राप्त कराने वाला है, इस प्रकार लोकोत्तर (अलौकिक) परम पुरुषार्थ की सूचना के द्वारा शान्तरस का उपक्षेप (उपस्थान) करने वाला यह नाट्य होगा।

---

१. क-म. अमृताकृतवृत्या । २. क-म. पुरुषार्थोपदेशापाय ।

'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः[1] प्रवर्त्तते' इति । (ना० शा० ६) । तदनेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तम् । इति [2]सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत् । यदाह—

'नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः ।
प्रतिक्षणं जगन्नाटयप्रयोगरसिको जनः ।। इति ।।

एवं नाटयशास्त्रप्रवचनं प्रयोजनमुक्तम् । तत्प्रयोजनं तु दर्शितमेव । अभिधेयश्च नाटयवेदः । व्युत्पाद्य-व्युत्पादकभावलक्षणश्च सम्बन्धः । यच्च[3] शास्त्रं यो जिज्ञासते स तावत्तदवसरे तच्छास्त्रप्रणेतरि प्रसिद्धे सिद्धवदेव[4] प्रामाण्यमभिमन्यत इति [5]तद्वचनोक्तार्थ सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनाय तदैव निर्विशङ्कः प्रवर्त्तते । परस्त्वधिगतसकलशास्त्रार्थो बहु मन्यते न वेति तदिदमन्यत् । प्रथमं तावत्प्रवृत्तमादिवाक्यं [6]प्रयुक्तमेवेति स्वानुभवप्रसिद्धम् । तेनार्थसंशयतर्ककौतुकजनादिवाक्यंप्रवर्त्तकमिति किमनेन ? ।। १ ।।

विमर्श—भट्टनायक का कहना है कि परमात्मा ने जिसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है अर्थात् जिसे अज्ञान (माया) से कल्पित सार-हीन भेदों के ग्रहण करने में उदाहरण बनाया है, उस नाटय को कहूँगा । जैसा कि अभूतपूर्व अद्भुत शक्ति से जो प्रतीत होता है वह कल्पित रूप होता है और कभी एक रूप में स्थित नहीं रहता, क्षण भर में अनेक रूपों में कल्पित हो सकता है । स्वप्न, माया आदि से विलक्षण होने पर भी जो हृदयग्राही है, जो ब्रह्म-सदृश नट के द्वारा स्वयं कल्पित है, वह राम-रावण आदि का अनुकरण मिथ्या है किन्तु मिथ्या होने पर भी पुरुषार्थ का साधन है । इसी प्रकार यह नामरूप प्रपञ्चात्मक जगत् भी मिथ्या है किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा परमपुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कराता है । इस प्रकार अलौकिक परमपुरुषार्थ मोक्ष की सूचना के द्वारा यह नाटय शान्तरस का उपस्थापन कराने वाला होगा ।

अभिनव—'अपने अपने कारणों को प्राप्त कर शान्त रस से ही समस्त भाव उत्पन्न होते हैं' इस (कारिका) के द्वारा पारमार्थिक प्रयोजन कहा गया है। यह व्याख्या भट्टनायक ने सहृदयदर्पण नामक ग्रन्थ में की है । जैसा कि कहा है—

"त्रैलोक्य का निर्माण करने वाले कवि शम्भु (शिव) को नमस्कार है। जिसके कारण लोग प्रतिक्षण जगत्रूपी नाट्य के प्रयोग में रसिक है अर्थात् रसास्वादन का अनुभव करते हैं ।"

इस प्रकार नाट्यशास्त्र का प्रवचन करना प्रयोजन कहा गया है और वह प्रयोजन तो (पहिले) दिखलाया जा चुका है। अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय नाट्यवेद है और व्युत्पाद्य-व्युत्पादकभाव सम्बन्ध है। जिस शास्त्र को जो जानना

१. क. शान्तादुत्पद्यते रसः । क-म. शान्तमुत्पद्यते ।
२. क-भ. हृदयदर्पण ।
३. क-भ. पञ्च शास्त्रार्थम् ।
४. क. सिद्धमेव ।
५. क. तद्वचनोक्तात् ।
६. म. प्रवृत्तम् ।

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्व[1]सुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित्तु[2] भरतं नाटचकोविदम् ।। २ ।।
मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ।
प्रपच्छुस्ते महात्मानो [3]नियतेन्द्रियबुद्धयः ।। ३ ।।

चाहता है वह उस समय उस शास्त्र के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध व्यक्ति के वचन को सिद्ध की तरह प्रामाणिक मानता है, इसलिए उसके वचन के द्वारा कहे गये सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन के लिए उसी समय निःशङ्क होकर प्रवृत्त होता है और दूसरा व्यक्ति जो समस्त शास्त्र के अर्थ को जानने वाला है वह उसे मानता है या नहीं, यह बात अलग है। किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रयुक्त आदिवाक्य प्रवर्त्तक होता है, यह बात अपने अनुभव से सिद्ध है। इसलिए अर्थ संशय, तर्क या कौतुक आदि के जनक वाक्य ही प्रवर्त्तक होते हैं, इसके कहने का क्या फल है ? क्या प्रयोजन है ?

विमर्श—यहाँ पर शास्त्रकार अनुबन्ध-चतुष्टय का निरूपण करते हैं। प्रथम प्रयोजन, विषय और सम्बन्ध तीन अनुबन्धों का निरूपण किया हैं। तदनुसार नाटचशास्त्र के प्रवचन को प्रयोजन कहा है और नाटचवेद प्रतिपाद्य - विषय है तथा व्युत्पाद्य-व्युत्पादक-भाव को सम्बन्ध बताया गया है। जिस शास्त्र का जो जिज्ञासु है वही उसका अधिकारी होता है। इस प्रकार नाटचशास्त्र का विषय का जिज्ञासु ही उसका अधिकारी है। क्योंकि जो व्यक्ति जिस शास्त्र का जिज्ञासु होता है वह उसी को प्रामाणिक मानकर उसमें प्रवृत्त होता है। अन्य लोग भले ही उसको प्रामाणिक मानें या न मानें, किन्तु नाटचशास्त्र का जिज्ञासु तो नाटचशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के वचन को प्रामाणिक मानकर प्रयोजन की सिद्धि के लिए निःशङ्क होकर उसमें प्रवृत्त होगा ही। इस पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि संशय, तर्क या कौतुक जनक वाक्य होने पर ही शास्त्र में प्रवृत्ति होती है। यहाँ नाटच-शास्त्र में उक्त तीनों में से कोई भी वाक्य नहीं है तब नाटचशास्त्र में प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं कि सभी जगह संशय या तर्क या कौतुक जनक वाक्य होने पर ही प्रवृत्ति हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी भी शास्त्र को प्रयुक्त आदिवाक्य ही उस शास्त्र में प्रवृत्त कराने वाला होता है, यह बात अपने अपने अनुभव से सिद्ध है। अतः यहाँ संशय तर्क या कौतुक जनक वाक्य न होने पर भी शास्त्र के प्रारम्भ में प्रयुक्त आदिवाक्य ही प्रवर्तक हो सकता है अतः संशय-तर्क-कौतुक-जनक वाक्य न होने पर प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह कहना उचित नहीं प्रतित होता।

अनुवाद—पहले कभी अनध्याय के दिन जप समाप्त करके अपने पुत्रों के साथ बैठे हुए व्रतनिष्ठ और नाटच शास्त्र के विद्वान् भरतमुनि से महात्मा आत्रेय प्रभृति मुनियों ने उनकी उपासना कर इन्द्रियों एवं मन को संयत करके पूछा ।। २-३ ।।

---

१. क-प. स्वशिष्यैः ।　　२. ख. कददाचित्तं ।

३. क-म. य. त. नाटच वेद सप्रद्रवम् ।

अथ मुनिरात्मानमेव परत्वेन कल्पयन्ब्रह्मणा यदुदाहृतमित्येतदेव पुराकल्पप्रदर्शनेन निश्चाययति—'समाप्तजप्यमित्यादिना श्लोकद्वयेन। (सुतानां) अनुरागित्वं नाट्यवेदयोग्यता नाट्यस्यादुष्टता विनोदहेतुता सुज्ञानत्वं प्रश्नावसरलाभयोगः प्रसिद्धत्वं चाचार्ययोग्यता शिष्टप्रमाणिकत्वं नियमपूर्वकशास्त्रग्रहणं प्रसिद्धादरणानुमेयोपादेयत्वप्रकटनमनि[1]दम्प्राथम्यप्रवृत्तता शिष्याणामूहापोहपाटत्वं ग्रहणयोग्यता चेति क्रमेण पदानां तात्पर्यमपुनरुक्तम् ॥ २-३ ॥

विमर्श—भरतमुनि नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। ब्रह्मा ने उन्हें नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया था। एक दिन वे व्रत, जप आदि समाप्त कर अपने पुत्रों के साथ बैठे हुए थे। उसी समय आत्रेय आदि ऋषिगण उनके पास जाकर और प्रणाम करके उनसे नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न किया।

नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में द्वितीय श्लोक में 'स्वसुतैः' के स्थान पर 'स्वशिष्यैः' पाठ मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ 'अपने शिष्यों के साथ' होगा अर्थात् भरत मुनि अनध्याय के दिन जप समाप्त कर अपने शिष्यों के साथ बैठे हुए थे, उसी समय आत्रेय प्रभृति मुनियों ने उनसे नाट्य शास्त्र विषयक प्रश्न किया। अन्य आचार्यों का कथन है कि पुत्र के समान शिष्यों के साथ बैठे हुए मुनि से ऋषियों ने पूछा। शिष्यगण भरत मुनि को पुत्र के समान प्रिय थे, इसलिए 'सुतैः' के स्थान पर 'पुत्रैः' पाठ किया गया है ॥ २–३ ॥

अभिनव—इसके बाद भरतमुनि अपने आपको अपने से भिन्न कल्पित करके 'ब्रह्माजी ने जिस नाट्यवेद को कहा है' इसी बात को अर्थात् नाट्यवेद की उत्पत्ति की पुराकथा (इतिहास) दिखलाते हुए 'समाप्तजप्यममित्यादि' दो श्लोकों से निश्चय करवाते हैं—

पुत्रों का अनुरागयुक्त होना नाट्यवेद विषयक योग्यता है, नाट्य का निर्दोष होना, विनोद का हेतु होना, सुष्ठु (अच्छा) ज्ञान होना, प्रश्न करने का अवसर प्राप्त होना, प्रसिद्धि (नाट्यवेदविषयक प्रसिद्धि) आचार्य की योग्यता है। शिष्ट पुरुषों को प्रमाण मानना, नियमपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करना, प्रसिद्ध व्यक्तियों के आदर करने के साथ अनुमेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय की उपादेयता को प्रकट करना, इस विषय में प्रमुख रूप से प्रवृत्त होना, तर्क-वितर्क में कुशलता (पटु होना) शिष्यों की ग्रहण करने की योग्यता है, इस प्रकार क्रमशः पदों का तात्पर्य पुनरुक्तरहित है ॥ २-३ ॥

विमर्श—यहाँ पर जो विशेषण दिये गये हैं वे सार्थक (अपुनरुक्त) है। उससे आचार्य एवं शिष्य की योग्यता प्रदर्शित की गई है।

---

१. क. प्रकटनमिदम्प्राथम्य०।

योऽयं भगवता [1]सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः[2] ।
नाटचवेदः कथं [3]ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥ ४ ॥
[4]कत्यङ्गः किं प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

किं प्रपच्छुरिति दर्शयति—योऽयमिति । भगवता तत्रभवता गुरुणेति भरतमुनिरेवमुक्तः । तेन भरतमुनिना यो ग्रथितः सुन्दरतमवस्तुसमाहरणयोजनया गुम्फितः कोऽप्ययं वस्तुविशेषः स तावत्प्रयोगसमयेऽस्माभिर्दृष्ट इति प्रत्यक्षत्वेन अयमिति परामर्शः । अविदितान्तस्सारतया चास्माकं प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्षकल्प इति यच्छब्देनानिर्वाच्यविशेषत्वमुक्तम् । अत एव न तच्छब्दसङ्गतिरत्र मृग्यते[5] यथा किञ्चिद्वदतीति । स चायं परीक्षणीयतत्त्वो[6] यतो वेदैः सम्मितः तुल्यः ।

अनुवाद—हे ब्रह्मन् ! आपने तो यह वेदतुल्य नाट्यवेद का भली प्रकार ग्रथन किया है, बनाया है वह किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? किसके लिए उत्पन्न हुआ ? उसके कितने अङ्ग हैं ? उसका क्या प्रमाण है ? और उसका प्रयोग किस प्रकार होता है ? हे भगवन् ! यह सब आप ठीक-ठीक बतलाइये ॥ ४-५ ॥

विमर्श—आत्रेय आदि ऋषियों ने भरतमुनि से पांच प्रश्न पूछे थे । उनमें ऋषियों का पहला प्रश्न था कि 'यह नाटच वेद कैसे उत्पन्न हुआ ?' यह प्रश्न प्रयोजन को लक्ष्य कर पूछा गया है । इस प्रश्न का उत्तर नाटचशास्त्र के प्रथम अध्याय में दिया गया है । दूसरा प्रश्न है कि यह नाटचशास्त्र किसके लिए उत्पन्न हुआ ?' यह प्रश्न अधिकारी को लक्ष्य कर पूछा गया है । अभिनवगुप्त के अनुसार कवि और प्रयोक्ता दोनों के उपदेश के लिए नाटचशास्त्र की रचना हुई है । तीसरा प्रश्न है कि 'नाटच के कितने अङ्ग हैं ?' यह प्रश्न नाटच, गीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि अङ्गों को लक्ष्य कर पूछा गया है । चौथा प्रश्न है 'नाटच का क्या प्रमाण है ?' अभिनव ने प्रमाण के दो अर्थ किये हैं–संख्या और निश्चयज्ञान । इन दोनों को लक्ष्य कर यह प्रश्न पूछा गया है । पांचवां प्रश्न है नाटच का प्रयोग किस प्रकार होता है ?' यह प्रश्न चार प्रकार के अभिनयों, रस, गीत, वाद्यादि नाटचाङ्गों के प्रयोग के उद्देश्य से पूछा गया है । भरतमुनि ने इन पांचों प्रश्नों का उत्तर नाटचशास्त्र में यथास्थान दिया है ।

अभिनव—आत्रेय आदि ऋषियों ने भरतमुनि से क्या पूछा, यह अगली दो कारिकाओं में दिखलाते हैं—

१. क-क. सम्यक्कथितो क–ज. समग्राचितो । २. क–न. विस्तरः पनम्मतः ।
३. ख–ख ग–क–ख. चापयुत्पकः । ४. क–ज–म. कत्यंशः ।
५. क–म. दृश्यते । ६. क–म. परीक्षणीयो पतो ।

तथा हि—धीरोदात्तधीरललितधीरोद्धतधीरप्रशान्तानां पूर्णोपायप्रवृत्तत्वेन नायकानामतादृगुपायाश्रयेण प्रतिनायकानां च चरितं सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणं वीराद्भु ताभ्यां वीरशृङ्गारहास्यैः वीररौद्रभयानककरुणैः वीरबीभत्स शान्तैश्च प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैर्हृदयानुप्रवेशं विदधद्धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधियमधर्मादिभ्यश्च निर्वृत्तिं निर्विशङ्कं विधत्त इत्यस्माकमधिगतश्रुतितत्त्वानामपि प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत्। प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेदसंज्ञा विदिता। अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः। एवं च जिज्ञास्यतत्त्व एवायम्।

प्रस्तुत चौथी कारिका में 'भगवता' पद आया है जिसका अर्थ पूजनीय है। यहाँ पर भगवता पद से पूजनीय गुरु भरतमुनि कहे गये हैं। आदरणीय भरतमुनि ने जिस नाट्यवेद का ग्रथन किया अर्थात् सुन्दरतम वस्तुओं का संग्रह कर क्रमवद्ध करके (पुष्पमाला की तरह) किसी विलक्षण वस्तुविशेष का गुम्फन किया है उस अपूर्व वस्तुविशेष को अभिनय के समय हम लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है, इसका (इस तथ्य का) यहाँ 'अयम्' पद से निर्देश किया गया है। किन्तु अन्तःतत्त्व को न समझने के कारण प्रत्यक्ष होने पर भी अप्रत्यक्ष-सदृश है, इसलिए 'यत्' शब्द से अनिवर्चनीयता-विशेष को कहा गया है। इसलिए यहाँ 'तत्' शब्द की सङ्गति खोजने की आवश्यकता नहीं। जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' (जो कुछ कहता है) इस प्रयोग में 'यत्' शब्द के प्रयोग के साथ 'तत्' शब्द के प्रयोग की गवेषणा नहीं होती। वह यह तत्त्व परीक्षणीय है अर्थात् विचार करने योग्य है, क्योंकि वह वेदों के समान आदरणोय है।

विमर्श – जहाँ पर 'यत्' शब्द का प्रयोग होता है वहाँ 'तत्' शब्द का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु यहाँ पर 'यत्' शब्द के प्रयोग के साथ 'तत्' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसका कारण है कि जहाँ पर 'यत्' शब्द का प्रयोग किसी अनिर्वचनीय पदार्थ का सूचक होता है वहाँ 'यत्' शब्द के प्रयोग के साथ 'तत्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ पर 'यत्' शब्द अनिवर्चनीयता विशेष का द्योतक है, इसलिए 'तत्' पद का प्रयोग नहीं किया गया है। जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस प्रयोग में 'यत्' शब्द के साथ 'तत्' शब्द का प्रयोग नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ पर भी 'यत्' शब्द के साथ 'तत्' शब्द को प्रयोग नहीं किया गया है।

अभिनव—जैसे कि 'धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त आदि पूर्ण उपायों के आश्रय से प्रवृत्त होनेवाले नायकों के और उससे भिन्न अपूर्ण उपायों का आश्रय लेने वाले प्रतिनायकों के सफल और असफल रूप से साक्षात् किये जाने वाले (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले) चरित को प्रतिनायकगत अन्य रसों से अव्यववहित (रसान्तरित) अत्यन्त चमत्कार-जनक रूप से गोचरीभूत वीर और अद्भुत; वीर, शृङ्गार और हास्य; वीर, रौद्र, भयानक और करुण; वीर, वीभत्स और शान्त रसों

स कथमुत्पन्नः । केन प्रयोजनप्रकारेणोत्पन्नः । तत्प्रयोजनस्य वेदेभ्य एव सिद्धेः । उत्पन्न इति यदि पूर्वमेव वेदवदपदा (वेदपदा) र्थः स्यात्तत्कथं नामायं पर्यनुयुज्येत । श्रुतिचतुष्टयवदेवेत्यर्थः । अथ यस्य वेदेभ्यो नोपदेशः सिद्धः, स कस्तादृगित्याह—कस्याधिकारिणः । कृत प्रयोजनकरणाय । किं वेदाधिकृत एवात्राधिकारी उत तदन्योऽपीत्यधिकारीविषयोऽयं प्रश्नः । पूर्वस्तु सिद्धासाध्यतया निष्प्रयोजनत्वेनाक्षेपाय[1] प्रश्नः ।

के द्वारा हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा धर्मादि अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चार उपायों में उपादेय-बुद्धि को और अधर्मादि से निवृत्ति को निश्चित रूप से कराता है, यह बात वेदों के तत्त्व को जानने वाले हम लोगों को भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसकी 'नाट्यवेद' यह संज्ञा प्रसिद्ध है, इसलिए उपदेश का हेतु होने से (यह) वेद है। और इसकी नाट्यवेद संज्ञा प्रसिद्ध है। इस प्रकार इस तत्त्व को जानने की इच्छा करनी चाहिए।

विमर्श – आचार्य भरत ने नाट्य को वेदसम्मित (वेदसदृश) कहा है। उसी का उपपादन करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि यह नाट्यवेद भी वेद के समान धर्मादि-चतुष्टय में प्रवृत्ति और अधर्मादि से निवृत्ति कराने वाला है, अतः इसे वेद के समान कहा गया है। नाटक में अत्यन्त चमत्कारजनक रसों के द्वारा हृदय में प्रविष्ट होने वाला नायकों और प्रतिनायकों का चरित धर्मादि उपायों में प्रवृत्ति और अधर्मादि से निवृत्ति कराने वाला होता है। इसीलिए इसे वेद के तुल्य कहा गया है। क्योंकि वेद भी धर्मादि में प्रवृत्ति और अधर्मादि से निवृत्ति कराने वाला होता है। नाटक में परस्पर विरोधी रस प्रतिनायक गत अन्य रसों से व्यवहित होकर अत्यन्त चमत्कार-जनक बन जाते हैं। यही नाटक की विशेषता है। नाटक (नाट्य) में उपदेश सरसतापूर्वक हृदय में प्रविष्ट होकर प्रवृत्ति और निवृत्ति कराता है। अतएव वेद को प्रभुसम्मित और नाट्य को कान्तासम्मित कहा गया है। प्रस्तुत अवतरण में अभिनव ने कुछ रसों का नाम गिनाया है। जैसे—वीर और अद्भुत नायक-प्रतिनायकगत भिन्नाश्रय होने से अतिशय चमत्कार-जनक हो जाते हैं। इसी प्रकार वीर, शृंगार और हास्य परस्पर विरोधी होने पर भी नायक-प्रतिनायकगत भिन्नाश्रय होने से चमत्कारजनक हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य रसों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। भाव यह कि नाटक में विरोधी रस भी भिन्नाश्रय होने से चमत्कारातिशय के जनक होते हैं।

इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश नाटक के द्वारा वेद की अपेक्षा सरलता से हृदय में प्रविष्ट हो जाता है। उपदेशप्रद होने के कारण ही नाट्य को 'वेद' कहा जाता है। इस प्रकार नाट्य की 'नाट्यवेद' यह संज्ञा प्रसिद्ध है।

अभिनव—नाट्य की उत्पत्ति के विषय में आत्रेय आदि ऋषियों ने भरतमुनि से जो पाँच प्रश्न किया था उनमें पहला प्रश्न था कि यह नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ ?

---

१. क-म आक्षेपोऽयं ।

कत्यङ्ग इति। यद्यस्य सुवहून्यङ्गानि तद्दुरव[1]धारतयाऽशक्यनिर्णयः तथा परिदृश्यमानगीतातोद्याभिनयादिमध्ये कत्यस्याङ्गानि। किञ्च तदङ्गिरूपमुताङ्गसमुदायमात्रं नाट्यमिति तृतीयः प्रश्नः।

किंप्रमाणश्चेति। ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वं तावन्नाट्यस्य। यद्वक्ष्यति—'दृश्यं श्रव्यं यत्' (ना. शा. १—११) इति। श्रेयःप्राप्त्युपायज्ञापकत्वमपि मुनीनां स्वसंवेदनसिद्धम्। अन्यथा तु विचार्यत्वमेवास्य न स्यादित्युक्तम्। तत्कोऽयं प्रश्नः। सत्यम्। किन्तु यान्यङ्गानि कानिचित्तानि यदि विज्ञेयानि, केन प्रामाणेन किमङ्गता[2] ज्ञायते। तेन किंप्रमाणाङ्ग इति। तथा केन प्रमाणेनाङ्गाङ्गिभावनियमोऽत्र ज्ञेयः प्रमाणमत्र निश्चयजनकम्।

अन्ये तु नाट्यगतानां रूपकादीनां पाठ्याभिनयरसगीतानां च किं प्रमाणं का सङ्ख्येति विभागविषयोऽयं[3] इत्याचक्षते।

अर्थात् यह किस प्रयोजन के लिए उत्पन्न हुआ? क्योंकि उस नाट्य का प्रयोजन तो वेदों से ही सिद्ध हो जाता है और यदि वह नाट्यवेद के समान पहिले से विद्यमान नही था तो 'वह चारों वेदों के सदृश है' यह कैसे कहा जा सकता है? यदि यह कहा जाय कि जिन्हें वेदों का उपदेश नही दिया जा सकता, उनके लिए नाट्यवेद की रचना हुई तो वह कौन है? इस आशय से कहते हैं कि 'किसके लिए' अर्थात् किस अधिकारी के प्रयोजन के लिए यह 'नाट्यवेद' उत्पन्न हुआ? यह दूसरा प्रश्न है। अब प्रश्न उठता है कि क्या जो वेद का अधिकारी है और जिसका वेद में अधिकार है वही इसका अधिकारी है, उसी के लिए यह वेद है अथवा उससे भिन्न अन्य (शूद्रादि) भी अधिकारी हो सकता है, यह अधिकारि-विषयक द्वितीय प्रश्न है। पहला प्रश्न (कैसे उत्पन्न हुआ, यह) सिद्ध अर्थात् प्रयोजन का साध्य होने से निष्प्रयोजन है इस आक्षेप के लिए यह प्रश्न है।

कत्यङ्ग इति—इस 'नाट्य के कितने अङ्ग हैं?' यह तीसरा प्रश्न है क्योंकि यदि इस नाट्य के बहुत से अङ्ग हैं तो संख्या अवधारण (निश्चय) करना कठिन होने से इसका निर्णय करना असम्भव है और यह भी प्रश्न उपस्थित होगा कि इन परिदृश्यमान (दिखलाई देने वाले) गीत, वाद्य, अभिनय आदि में से कितने इसके अङ्ग हैं? और यह भी प्रश्न उठता है कि यह नाट्य क्या अङ्गीरूप है अथवा केवल अङ्गों का समुदायरूप है, यह तृतीय प्रश्न है।

किं प्रमाणश्च—'इसमें क्या (कौन) प्रमाण है' यह चौथा प्रश्न है। भाव यह कि यह नाट्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। जैसा कि आगे कहेंगे—'जो दृश्य

---

१. क-म. भ. तदवधारणतया अशक्यनिर्णयः।

२. क-म. भ. किमङ्गाम्–किमङ्गिता ज्ञायते तेन किं वाङ्गभाव इति।

३. क-म. भ. विषयो वाऽयम्।

अस्येति नाट्यस्य। कीदृक्प्रयोगः यदि युगपदङ्गानि प्रयुज्यन्ते तद्भिन्नाक्षग्राह्येषु युगपत्संवेदनाभावात् कथमेकं नाट्यमिति प्रतिपत्तिः क्रमप्रयोगेऽपि नि (न) तराम्। तस्मात्कथं प्रयोग इति। तथा किं नियतेनैवाङ्गाङ्गिभावेन प्रयोग उतानियतेनेति नाट्याङ्गप्रयोगद्वारेण सामान्याभिनयचित्राभिनयनाटकादिरूपकवैचित्र्यविषयः प्रश्नः पञ्चमः।

एवं श्रव्य हो' (दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्) ? इस प्रकार नाट्य का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से अर्थात् चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्ष से हो जाता है, अतः प्रमाण विषयक प्रश्न व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त यह नाट्य श्रेयःप्राप्ति के उपायों का ज्ञापक है, यह बात मुनियों के अपने अनुभव से सिद्ध है। यदि ऐसा न होता तो विचारकोटि में नही आता, यह भी कहा जा चुका है कि प्रमाण विषयक यह प्रश्न क्यों किया गया ? अर्थात् यह प्रश्न व्यर्थ है।

यह ठीक है, किन्तु इस नाट्य के जो कोई भी अङ्ग हैं, यदि उन्हें जानना है तो किस प्रमाण से उन्हें जाना जाय ? और उस प्रमाण से क्या अङ्गिता का ज्ञान होता है अथवा अङ्ग भाव का ? और किस प्रमाण के द्वारा यहाँ पर अङ्गाङ्गिभाव का नियम ज्ञात होता है ? इस प्रकार यहाँ अर्थात् इस प्रकरण में 'प्रमाण' पद निश्चयजनक ज्ञान का ग्राहक है।

अन्य व्याख्याकार तो नाट्यगत रूपक आदि भेदों तथा पाठ्य, अभिनय, रस, गीत आदि अङ्गों का क्या प्रमाण है ? अर्थात् कितनी संख्या है ? इस प्रकार यह विभाग-विषयक प्रश्न है, ऐसी व्याख्या करते हैं।

विमर्श—अभिनवगुप्त के अनुसार इस प्रश्न के तीन भाग हैं—१. नाट्य के अंगों का ज्ञान किस प्रमाण से किया जा सकता है ? २. क्या उस प्रमाण से अङ्गिता का ज्ञान होता है या अङ्गभाव का ? ३. अङ्गाङ्गिभाव का नियम किस प्रमाण से ज्ञात होता है ?

दूसरे व्याख्याकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि नाट्य के रूपक आदि भेदों एवं पाठ्य, अभिनय, रस, गीत आदि अङ्गों का परिमाण या संख्या कितनी है ? इस प्रकार यहाँ चतुर्थ प्रश्न विभाग (भेद) आदि के विषय में है।

अभिनव—प्रयोगश्चास्यकीदृशः—'इस नाट्य का प्रयोग किस प्रकार होता है ?' (यह पाँचवाँ प्रश्न है)। यदि नाट्य के पाठ्य, अभिनय आदि अङ्गों का एक साथ प्रयोग करते हैं तो चक्षु, श्रोत्र आदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य इन नाट्यांगों की एक साथ प्रतीति न होने से 'यह एक नाट्य है' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होगी। और क्रम से प्रयोग करने पर भी 'एक नाट्य' इस प्रकार की एकत्व की प्रतीति और भी कठिनाई से होगी। इसलिए 'नाट्य का प्रयोग किस प्रकार होता है ?' यह प्रश्न है। और क्या इस नाट्य का प्रयोग किसी निश्चित अङ्गाङ्गि भाव से होता है अथवा अनिश्चित अङ्गाङ्गि भाव के द्वारा होता है। इस प्रकार नाट्य के अङ्गों के प्रयोग के

एवं प्रश्नपञ्चकात् कविप्रयोक्त्रोरुपदेशपरं शास्त्रमिति लक्ष्यते। तेन यदिह[1] 'तस्मात्कर्तुर्द्रष्टुः प्रयोक्तुरुपदेशपरमिदं शास्त्रम्' इति, तत्र द्रष्टुरित्यसत्। नह्यनेन सामाजिको विनीयते। अयोग्यत्वात्। श्रुतिस्मृतीतिहासादिष्विवात्रापि नच तदुपदेशोऽत्र श्रूयते। द्रष्टा तु यदि प्रेक्षाप्रवर्तक उच्यते तदा तस्यापि न प्रबन्धेनोपदेशः। अपि तु क्वचिदेव 'नर्तकोऽर्थपतिर्वा' इत्यादौ। एवं चोपदेश्यत्वे स्थपतिमालाकारप्रभृति विश्वमपीहोपदेश्यं स्यादित्यलमनेन।

द्वारा सामान्याभिनय, चित्राभिनय एवं नाटक आदि रूपक भेदों की विलक्षणता के विषय में यह पाँचवाँ प्रश्न है।

विमर्श—इस प्रश्न के भी तीन भाग हैं—१. अभिनय, गीत, वाद्य, पाठ्य आदि नाट्याङ्गों का एक साथ प्रयोग होने पर चक्षु श्रोत्रादि विभिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य इन सबकी एक साथ प्रतीति न होने से नाट्य की एकत्व की प्रतीति कैसे होगी ? २. और क्रम से प्रयोग होने पर भी एकत्व की प्रतीति और भी कठिन होगी। ३. और इस नाट्य का प्रयोग किसी नियत अङ्गाङ्गिभाव से होता है अथवा अनियत अङ्गाङ्गिभाव से होता है ?

अभिनव—इस प्रकार इन पांचों प्रश्नों से यह लक्षित होता है कि यह शास्त्र (नाट्यशास्त्र) कवि और प्रयोक्ता दोनों को उपदेश (शिक्षा) देने के लिए है। इसलिए इस प्रकरण में जो किसी ने कहा है कि 'इसलिए कर्त्ता (कवि) द्रष्टा (सामाजिक) एवं प्रयोक्ता (नट) तीनों को उपदेश देने वाला यह शास्त्र है,। उनमें द्रष्टा (सामाजिक) का कहना अनुचित है। भाव यह कि सामाजिक के उपदेश के लिए भी यह शास्त्र है, यह कहना अनुचित है। क्योंकि इस शास्त्र के द्वारा सामाजिक को शिक्षा नहीं दी जा सकती, उसके अयोग्य होने के कारण। श्रुति, स्मृति, इतिहास आदि के समान यहाँ पर भी उसके उपदेश की चर्चा नहीं सुनाई देती। भाव यह कि जिस प्रकार श्रुति, स्मृति आदि में सामाजिक के लिए उपदेश अर्थात् शिक्षा देने की चर्चा नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार यहाँ नाट्यशास्त्र में भी सामाजिक के लिए उपदेश नही है। भाव यह कि अभिनव के अनुसार कवि और प्रयोक्ता केवल दो के लिए ही उपदेश (शिक्षा) देने का विधान है, सामाजिक के लिए उपदेश का विधान नहीं है और यदि द्रष्टा पद से प्रेक्षा-प्रवर्त्तक अर्थ लिया जाता है तो उसके लिए भी ग्रन्थ (प्रबन्ध) के द्वारा उपदेश नही है, और वह कहीं पर ही 'नर्तक अथवा अर्थपति आदि जैसे स्थलों में। इस प्रकार उन्हें उपदेश्य (उपदेश के योग्य) मानने पर स्थपति (कारीगर) और माली आदि सारा संसार ही उपदेश के योग्य (उपदेश्य) हो जायगा, इसलिए इस विषय की चर्चा नहीं करनी चाहिए।

---

१. क–म. भ. यदा हि।

यथातत्त्वमिति । नात्र क्रमं प्रति भरोऽस्माकम् । नापीयत्तां प्रति । अज्ञा हि वयमत्र प्रष्टारः । अत एवोपेयपरत्वेनैव[1] मुख्यतया प्रश्नो यथा बालक आह—'दुखं[2] मे शमय' इति । तज्ज्ञस्तूपायं प्रश्नयति 'कुतोऽन्नं लभ्यत इति । तेनोपेयमुखेन[3] प्रवृत्तमिदं शास्त्रमुत्तरदानोपनतवस्त्वन्तरोपेयप्रश्नक्रमेण तदुपेयोपायादिप्रबन्धेन स्थितमिति मन्तव्यम् । तेन यादृशा क्रमेण रूपणयोग्यं तथाप्यप्र(थाऽप) श्नितमपि यदि किञ्चिदस्ति तदपि स्वयमेव निरूपयेति । तत्त्वानतिक्रमेण तत्त्वयोग्यं[4] तत्त्वं च निरूपणीयम् । एतदिति । लक्षणपरीक्षापर्यन्तमेतत् ॥ ४-५ ॥

विमर्श—यहाँ पर आचार्य का अभिमत यह है कि यह नाट्यशास्त्र कवि और प्रयोक्ता (नट) को उपदेश (शिक्षा) देने के लिए है । सामाजिक को उपदेश देने के लिए यह शास्त्र नहीं है । इस पर कुछ आचार्य कवि, प्रयोक्ता और सामाजिक तीनों के उपदेश के लिए इस शास्त्र को मानते हैं । उनका कथन है कि यह नाट्यशास्त्र कवि, प्रयोक्ता और सामाजिक तीनों को उपदेश देने के लिए है । किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त इस मत को नहीं मानते । उनका कथन है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्रों में कहीं भी सामाजिक को शिक्षा देने की चर्चा नहीं की गई है ? विनेय (उपदेश्य) तो अध्येता होता है, सामाजिक नहीं, क्योंकि वह विनीत (शिक्षित) है, विनेय नहीं । शिक्षा विनेय को दी जाती है, विनीत को नहीं । अतः सामाजिक उपदेश्य नहीं है । यह अभिनवगुप्त का मत है । किन्तु आचार्य ने नाट्यशास्त्र के इसी अध्याय के ११३ से ११५ तक कारिकाओं में बताया है कि यह नाट्यशास्त्र उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के लोगों एवं संसार के सभी प्राणियों को उपदेशप्रद (शिक्षाप्रद) होगा । इस प्रकार आचार्य के अनुसार सभी वर्णों को शिक्षा देना नाट्यशास्त्र का प्रयोजन है । इस आधार पर कुछ आचार्य सामाजिक को भी उपदेश्य (विनेय) मानते हैं । किन्तु आचार्य ने यहाँ केवल कवि और प्रयोक्ता के लिए ही नाट्यशास्त्र हैं, यह सूचित किया है ।

(अभिनव०) यथातत्त्वमिति—आप तत्त्व के अनुसार बतलाइये । यहाँ इस विषय में क्रम के लिए हमारा आग्रह नहीं है और न इयत्ता के लिए हमारा आग्रह है, अर्थात् आप क्रम से बतलाइये और इतना ही बतलाइये, इस विषय में हमारा कोई आग्रह नहीं है । क्योंकि पूछने वाले हम लोग अज्ञ हैं, इस विषय को नहीं जानते । इसलिए मुख्य रूप से विषय की प्रमुखता की दृष्टि से हमारा प्रश्न है । जैसे कोई बालक कहता है कि—'मेरा दुःख दूर करो' । वह केवल दुःख दूर करने के लिए ही प्रार्थना करता है । उस वस्तु के उपाय को नहीं पूछता है कि अन्न कहाँ से मिलेगा । इसलिए यह शास्त्र उपेयमुख से अर्थात् वस्तु की प्रमुखता की दृष्टि से प्रवृत्त हुआ है और उत्तर

---

१. क–म. उपायपरत्वेनैव । २. क–भ. दुःखमेव । ३. क–म. तेनोपायमुखेन ।
४. क–भ. क्रमेण तत्त्वं च । अन्यत्र तत्त्वयोग्यं चेति यथातत्त्वं ।

तेषां तु[1] वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति ॥ ६ ॥

यदि त एवं पप्रच्छुः भरतमुनिः किमकार्षीदित्याह—तेषामिति । तुरवधारणे । श्रुत्वैव न तु विलम्ब्येति । पौर्वकाल्यमात्रे क्त्वाल्यपोर्विधानात् । तत इति । यतः स तत्त्वविन्मुनिः ते च तदुपदेशयोग्याः तस्माद्धेतोः । कथाग्रहणं यथातत्त्वमित्येतस्यैवार्थं स्फुटीकरोति ।

देते समय प्राप्त अन्य रूप उपेय विषयक प्रश्न के क्रम से उस उपेय (लक्ष्य, साध्य) और उसके उपाय (साधन) आदि के प्रबन्ध के रूप में स्थित है, ऐसा मानना चाहिए । इसलिए जिस क्रम से निरूपण करना उचित हो, उसी क्रम से और यदि कोई बात नहीं पूछी गई है तो उसको भी स्वयं ही बतलाइये । तत्त्व का अतिक्रमण किये विना तत्त्व के योग्य और यथातत्त्व जो ही उसका निरूपण करना चाहिए । 'एतत्' पद से यह लक्षण और परीक्षा पर्यन्त है ॥ ४-५ ॥

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त 'यथातत्त्वं' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ऋषियों ने भरत मुनि से पाँच प्रश्न पूछे थे और उनका यथातत्त्व उत्तर देने के लिए प्रार्थना की थी । ऋषियों का कहना है कि हमारे द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उसी क्रम से उत्तर दीजिए और इतना ही उत्तर दीजिए इस विषय में हमारा कोई आग्रह नहीं है । हमने तो विषय की प्रधानता को दृष्टि में रखकर प्रश्न किया है, हमें प्रश्नों का उत्तर चाहिए । आप जो उचित समझें, जैसा चाहें किसी क्रम से उत्तर दीजिए । यही नहीं, बल्कि जिस प्रश्न को मैंने नहीं पूछा है उसको भी बतलाने की कृपा करें । आप उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा पर्यन्त निरूपण कीजिए । किसी भी शास्त्र में प्रवृत्ति के तीन प्रकार बताये गये हैं—उद्देश, लक्षण और परीक्षा (**त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति**) । वस्तु का नाममात्र कथन करना 'उद्देश' है (**नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः**) । वस्तु के असाधारण धर्म का कथन लक्षण है (**लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवत्त्वम्**) । तथा जो 'लक्षण' किया गया है वह ठीक है या नहीं, यह विचार करना 'परीक्षा' है । (**लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते नवेति विचारः परीक्षा**) । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में उद्देश, लक्षण, परीक्षा तीनों की चर्चा की है । किन्तु वहाँ पर इनके लिए 'संग्रह, कारिका और निरुक्त' नामों का प्रयोग किया गया है । इन तीनों के द्वारा ही किसी विषय का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया जा सकता है, अतः यहाँ भरतमुनि से उद्देश, लक्षण, परीक्षा तीनों को निरूपण करने की प्रार्थना की गई है ॥ ४-५ ॥

अनुवाद—तदनन्तर उन मुनियों के वचन को सुनकर भरत मुनि नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा के विषय में बोले ॥ ६ ॥

१—ख. ग. घ. तद्वचनं ।

यत्तु प्रयोगप्रश्ने प्रत्यक्षेण प्रयोगप्रकटनमुत्तरं स्यादित्याशङ्कां परिहर्तुं कथाग्रहणमिति तत्त्वसत्। वक्तुमर्हसीत्युक्ते तस्याः कोऽवसरः। एवं भरतमुनिः परवदात्मानं प्रकल्प्येयन्तं ग्रन्थमभिहितवान्। अन्ये त्वियन्तं ग्रन्थं कश्चिच्छिष्यो व्यरीरचत्। तत्र ब्रह्मणेति भरतमुनिः प्रथमश्लोके निर्दिष्टः। कथं ब्रह्मन्नुत्पन्न इत्येतदेवमेकवाक्यत्वेन निर्वहति। तदनन्तरन्तु भवद्भिः शुचिभिरित्यादिर्भरतमुनिरचितो ग्रन्थः। मध्येऽत्र षट्त्रिंशदध्यायां यानि प्रश्नप्रतिवचनयोजनवचनानि तानि तच्छिष्यवचनान्येवेत्याहुः।

तच्चासत्। एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात्। स्वपरव्यवहारेण पूर्वपक्षोत्तरपक्षादीनां श्रुतिस्मृतिव्याकरणतर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात्।

अभिनव—यदि उन मुनियों ने इस प्रकार प्रश्न किया तो भरतमुनि ने क्या किया, इस बात को कहते हैं—

इस कारिका में 'तु' शब्द एव के अर्थ में प्रयुक्त है। सुनते ही, न कि विलम्ब करके। पूर्वकाल अर्थ में 'क्त्वा' और 'ल्यप्' का विधान होने से। 'ततः' पद से हेतुता लक्षित होती है। क्योंकि वे भरतमुनि तत्त्व को जानने वाले है और वे उस तत्त्व के उपदेश के योग्य है। इस कारण से भरतमुनि बोले। 'कथा' शब्द का ग्रहण 'यथातत्त्व' के अर्थ को ही स्फुट (स्पष्ट) करता है।

जो कि कहते हैं कि 'प्रयोग अर्थात् नाट्य-प्रयोग विषयक प्रश्न में प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग को दिखलाना ही उत्तर होगा, इस आशङ्का का परिहार करने के लिए 'कथा' पद का ग्रहण किया गया है' यह कहना ठीक नही है। क्योंकि 'वक्तुमर्हसि' ऐसा कहने पर उसका अवसर ही कहाँ है। अर्थात् 'आप यथातत्त्व कहें, इस प्रकार कहे जाने पर प्रयोग करके दिखलाना ही उत्तर होगा, इस प्रकार की आशङ्का करने का अवसर ही कहाँ है, अतः समाधान करना व्यर्थ है। इस प्रकार भरतमुनि ने अपने को दूसरे के समान कल्पित करके यहाँ तक (छठीं कारिका तक) के ग्रन्थ को कहा है।

दूसरे लोग तो कहते हैं कि 'यहाँ तक के ग्रन्थ की किसी शिष्य ने रचना की है। क्योंकि उसमें प्रथम श्लोक में 'ब्रह्मणा' पद से भरतमुनि निर्दिष्ट किये गये हैं। इसलिए 'कथं ब्रह्मन् उत्पन्नः' इस वाक्य में सम्बोध्य 'ब्रह्मन्' पद की प्रथम श्लोक में प्रोक्त 'ब्रह्मा' पद के साथ एकवाक्यता का निर्वाह हो जाता है। इसके बाद तो 'भवद्भिः शुचिभिः' अर्थात् 'आप लोग पवित्र होकर ब्रह्मनिर्मित नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा सुनें' इत्यादि कथन से भरतमुनि द्वारा विरचित ग्रन्थ है। अतः इस छत्तीस अध्याय वाले ग्रन्थ के बीच-बीच में जो प्रश्न और प्रत्युत्तर की योजना के वचन (वाक्य) हैं, वे उनके शिष्यों के ही वचन हैं' ऐसा कहते हैं।

एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्। न तु मुनिविरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम्। सर्वानपह्नवनीयाबाधितशब्दलोकप्रसिद्धिविरोधाच्च।

किन्तु उनका यह कथन ठीक नही है। क्योंकि एक ग्रन्थ के अनेक वक्ताओं के वचनों का संग्रह मानने में कोई प्रमाण नही है। एक ही आचार्य के द्वारा रचित श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी स्व और पर अपने और दूसरों के (प्रष्टा और उत्तरदाता) के व्यवहार कल्पना करके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष (प्रश्न और उत्तर) आदि का निरूपण देखा जाता है।

इससे "सदाशिव, ब्रह्मा और भरतमुनि इन तीनों के मतों के विवेचन के द्वारा ब्रह्मा के मत की प्रमुखता (श्रेष्ठता) प्रतिपादन करने के लिए तीनों मतों के सारासार विवेचन रूप उनके ग्रन्थों के अंश (भाग) का प्रक्षेप करके यह शास्त्र निर्मित है, भरतमुनि का बनाया हुआ नही है" ऐसा जो नास्तिक-शिरोमणि उपाध्याय कहते हैं, उसका प्रत्युत्तर हो गया और जिसका सबके द्वारा निषेध न किया जा सके, इस प्रकार की अबाधित शास्त्र और लोक दोनों की प्रसिद्धि के विरोध के कारण भी उक्त मत का खण्डन हो जाता है।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्त्ती किसी टीकाकार के मत का खण्डन करने के उद्देश्य से प्रस्तुत अवतरण में प्रथम पूर्वपक्ष का उपस्थापन करते हैं—कुछ टीकाकारों का कहना है कि प्रथम छः श्लोकों की रचना भरतमुनि के किसी शिष्य ने की है, क्योंकि नाट्यशांस्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में 'ब्रह्मणा' पद से भरतमुनि का निर्देश है और चतुर्थ श्लोक में 'ब्रह्मन्' पद आया है वह भरतमुनि का बोधक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम श्लोक उल्लिखित 'ब्रह्मणा' पद भरतमुनि का ही बोधक है। यदि 'ब्रह्मणा' पद भरतमुनि का बोधक न होता तो 'ब्रह्मन्' पद से भरतमुनि सम्बोध्य कैसे हो सकते ? अतः 'ब्रह्मन्' पद की 'ब्रह्मणा' पद के साथ एकवाक्यता के द्वारा सङ्गति ठीक बैठती है। और नाट्यशास्त्र के बीच-बीच में प्रश्न और उत्तर की योजना भी उनके शिष्यों के कथन हैं। इस प्रकार छः श्लोक भरतमुनि के शिष्यों द्वारा रचित हैं और सातवें श्लोक से भरतमुनि की रचना प्रारम्भ होती है। किन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि एक ग्रन्थ के अनेक रचयिता मानने में कोई प्रमाण नहीं है। रह गई प्रश्न और उत्तर की बात। वह तो श्रुति, स्मृति, तर्कशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी पाया जाता है और उन्हें एक व्यक्ति द्वारा रचित माना जाता है। अतः यहाँ पर भी प्रश्न और उत्तर के आधार पर नाट्यशास्त्र को अनेककर्तृत्व मानना उचित नहीं है।

भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः ।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य [1]सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः[2] ॥ ७ ॥

अत्र केचिदाहुः—प्रश्नपञ्चकमत्रैवाध्याये तावन्निर्णीयते । उद्देशस्थित्या तद्विभागलक्षणपरीक्षापराणि चाध्यायान्तराणीति । अन्ये त्वाहुः पञ्चभिरध्यायैः पूर्वरङ्गविधानपर्यन्तैः प्रश्नद्वयं निर्णीतम् । सामान्याभिनयचित्राभिनयान्तैः शिष्टैस्तु प्रश्नत्रयमिति ।

वयं तु ब्रूमः—नात्र क्रमः कश्चित् । अपि तु यथावसरं महावाक्यात्मना षट्सहस्त्रीरूपेण प्रधानतया प्रश्नपञ्चकनिरूपणपरेण शास्त्रेण तत्त्वं निर्णीयते । न तु क्रमः कश्चित् । एतच्च ग्रन्थव्याख्यानप्रसङ्ग एव स्फुटीकरिष्यामः । ॥ ६ ॥

और जो अभिनवगुप्त के परम नास्तिक गुरु नाट्यशास्त्र को एक संग्रह ग्रन्थ मानते हैं। उनका कथन है कि सदाशिव, ब्रह्मा और भरत आदि आचार्यों के मत को प्रतिपादन करने के लिए उनके ग्रन्थों के मुख्य-मुख्य भागों का संग्रह करके नाट्यशास्त्र विषयक एक संग्रह ग्रन्थ तैयार किया गया है वही नाट्यशास्त्र है। भरतमुनि द्वारा रचित नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने नास्तिक गुरु की इस विचारधारा का खण्डन करते हुए नाट्यशास्त्र को भरतमुनि विरचित एक स्वतन्त्र ग्रन्थ माना है।

अभिनव—यहाँ पर कुछ लोग कहते हैं कि इन पाँचों प्रश्नों का तो इसी प्रथम अध्याय में निर्णय कर दिया गया है और फिर उद्देश के क्रम से उनके विभाग लक्षण और परीक्षा के लिए शेष अध्याय रचे गये हैं। भाव यह कि प्रथम अध्याय में ही पाँचों प्रश्नों का उत्तर दे दिया गया है और शेष अध्यायों में उद्देश के क्रम से उनके विभाग, लक्षण और परीक्षा की गई है। दूसरे लोग कहते हैं कि पूर्वरङ्गविधान पर्यन्त पाँच अध्यायों में दो प्रश्नों का निर्णय किया गया है और सामान्याभिनय एवं चित्राभिनय पर्यन्त शेष २२ अध्यायों में तीन प्रश्नों का निर्णय किया गया है।

हम तो कहते हैं कि यहाँ कोई क्रम नहीं है, अपितु यथावसर षट्सहस्री रूप अर्थात् छः हजार श्लोक वाले महावाक्य रूप प्रधान रूप से पाँचों प्रश्नों का निरूपण करने वाले इस शास्त्र (नाट्यशास्त्र) के द्वारा तत्त्व का निर्णय किया गया है, किसी क्रम का निरूपण नहीं है। इस बात को हम ग्रन्थ की व्याख्या के प्रसङ्ग में स्पष्ट करेंगे ॥ ६ ॥

उन पाँच प्रश्नों में 'कैसे (क्यों) और किसके लिए' इस अर्थ के निर्णय करने की इच्छा से कहते हैं—

अनुवाद—(हे ऋषिगण !) आप लोग पवित्र और सावधान चित्त होकर ब्रह्माजी के द्वारा निर्मित नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा सुनें ॥ ७ ॥

१–ख. संक्षेपो २–त. मुनिनिर्मितः ।

[1]पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
त्रेतायुगेऽथ[2] सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु[3] ॥ ८ ॥
ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते[4] तु [5]कामलोभवशं गते ।
[6]ईर्ष्याक्रोधादिसंमूढे लोके सुखितदुःखिते ॥ ९ ॥

तत्र 'कथं कस्य वा' इत्यमुमर्थं निर्णिनीषुराह—भवद्भिरित्यादि । घटादीनामुत्पत्तिर्व्यवहारसिद्धैव कुलालादिभिरनुगम्यत इति घटः क्रियत इति युक्तम् । नत्वेवं नाटचस्य । तस्य तूत्पत्तिरेव विरिञ्चोपज्ञतया स्थितेति सम्भवो ब्रह्मनिर्मित इत्युक्तम् । केचिदत्रानादित्वं वेदवन्नाटचस्याचक्षाणाः उत्पत्त्यादिशब्दान् स्मरणाभिव्यञ्जनादावुपचरन्ति । ॥ ७ ॥

तत्र सम्भूतेः कारणमुखेनाभिधाने कर्तव्ये कालस्य सर्वत्र पूर्वकारणत्वादुचितकालपरिग्रहेण तद्विधाधिकारिविषयतां दर्शयितुमाह—पूर्वमित्यादिना श्लोकपञ्चकेन ।

अभिनव—कुलालादि के द्वारा घट आदि की उत्पत्ति व्यवहार से सिद्ध है, इसलिए कुम्भकार उसका अनुगमन करते हैं, इसलिए कुम्भकार घड़े को बनाता है, ऐसा कहना ठीक है, किन्तु नाट्य-विषय में इस प्रकार नहीं है। नाट्य की उत्पत्ति तो पुराकाल में ब्रह्मा द्वारा हुई है। इसीलिए उसे 'ब्रह्मनिर्मित' कहा गया है। कुछ लोग वेदों के समान नाट्यवेद भी अनादित्व का प्रतिपादन करते हुए उत्पत्ति आदि शब्दों का स्मरण, अभिव्यञ्जन आदि अर्थों में लाक्षणिक मानते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—यहाँ नाटचबेद को ब्रह्मा के द्वारा निर्मित कहा गया है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि नाटचवेद भी वेदों के समान अनादि है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती है तो उसकी उत्पत्ति 'कैसे और किसके लिए हुई' यह प्रश्न असङ्गत हो जायगा। इस विषय में कहते हैं कि यहाँ पर 'उत्पत्ति' शब्द स्मरण अथवा अभिव्यक्ति अर्थ में लाक्षणिक है अर्थात् उत्पत्ति शब्द का अर्थ स्मरण या अभिव्यञ्जन होगा। ब्रह्माजी ने उस नाटचवेद का स्मरण करके उसका उपदेश या अभिव्यञ्जन क्यों और किसके लिए किया ? यह प्रश्न का आशय है ॥ ७ ॥

उनमें से उत्पत्ति का कारण के साथ अभिधान (कथन) करना उचित होने से और काल के सब जगह पूर्व कारण होने से उचित काल के परिग्रह के द्वारा उस प्रकार के अधिकारियों को प्रतिपादन करने के लिए 'पूर्वम्' इत्यादि पाँच श्लोकों से इस विषय को कहते हैं—

---

१. क–प. पुरा । २. क–न. म. त्रेतायुगे तु, क–ज. म. त्रेतायुगे च । ग. त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते ।
३. ख. ग. घ. च । ४. ग-ग्राम्यधर्मे प्रवृत्ते ।
५. क–त. लोभमोहवशंगते । ६. ख-ईर्ष्याक्रोधाभिसमूढे ।

देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः[1] ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते[2] ॥ १० ॥
महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं[3] च यद्भवेत् ॥ ११ ॥

अस्मिन्नवसरे पितामहो देवैरिदमुक्त इति महावाक्यस्य सङ्गतिः—कस्मिन्नवसरे पूर्वमिति । नास्मिन्नेव कल्पेऽपि तु पूर्वकल्पेष्वपीत्यर्थः । मन्वन्तराणि चतुर्दश तावत्कल्पो यत्तद्ब्राह्मं दिनम् । तत्र स्वायम्भुवं नाम यत्कल्पस्य प्रथमं मन्वन्तरम् वैवस्वतमन्वन्तरन्तु सप्तमम्, यत्राद्य वर्तामहे । तत्र सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु त्रेतावसरे ब्रह्मणा नाट्यवेदः प्रवर्तितः । कृतयुगे तु नेति तात्पर्यम् योजना तु स्वायम्भुवे आद्ये मन्वन्तरे यत्कृतयुगं तस्मिन् वृत्ते सति यत्त्रेतायुगं तस्मिन् सम्यक्सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतरं प्रवृत्ते । न केवलं तत्रैव मन्वन्तरे । तु शब्दो यावच्छब्दार्थे । यावद्वैवस्वतस्य मनोरन्तरे समये यत्त्रेतायुगं तस्मिन्प्रवृत्तेऽपि । तेनाद्यन्तनिरूपणेन सर्वेषां मध्यममन्वन्तराणां सङ्ग्रहः । तेन सर्वेषु त्रेतायुगेषु नाट्यप्रवृत्तिरित्युक्तं भवति ।

अनुवाद—हे ब्राह्मणों ! पहिले स्वायम्भुव मन्वन्तर में सत्ययुग (कृतयुग) के समाप्त हो जाने पर और वैवस्वत मन्वन्तर में त्रेतायुग के आरम्भ हो जाने पर लोगों के ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त हो जाने पर तथा काम और लोभ के वश में हो जाने पर और ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत (विमूढ़) होने पर तथा सुख-दुःख के प्राप्त होने पर लोकपालों से प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप के देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महासर्पो से आक्रान्त हो जाने पर महेन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से कहा कि—हम लोग एक ऐसा खेल (क्रीडनीयक, मनाविनोद का साधन) चाहते हैं जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो ॥ ८-११ ॥

अभिनव—'इस अवसर पर देवताओं ने पितामह से यह कहा, इस महावाक्य की सङ्गति 'किस अवसर पर' इस प्रश्न से हो जाती है । इस प्रश्न का उत्तर 'पूर्वम्' कहकर दिया गया है अर्थात् इसी कल्प में नहीं, अपितु पूर्वकल्प में भी (सत्ययुग के समाप्त हो जाने पर और त्रेतायुग के प्रारम्भ हो जाने पर देवता ब्रह्मा से क्रीडनीयक के विषय में प्रार्थना करते हैं)। चौदह मन्वन्तरों का जो एक 'कल्प' होता है वह ब्रह्मा का एक दिन होता है । उनमें स्वायम्भुव नामक जो मन्वन्तर है वह कल्प का प्रथम मन्वन्तर होता है । वैवस्वत मन्वन्तर तो सातवाँ मन्वन्तर है, जिसमें आज हम लोग विद्यमान हैं । उन सभी मन्वन्तरों में त्रेतायुग के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने नाट्यवेद को प्रवर्तित किया । कृतयुग (सत्ययुग) में नहीं, यह ग्रन्थकार

---

१. ग. देवदानवगन्धर्वैरक्षोयक्षमहोरगैः । २. क-ङ. लोकपालैः प्रतिष्ठिते ।
३. क-म. त. श्राव्यम् ।

अस्मिन्नवसरे किमसावुक्तः। आह—जम्बूद्वीपे कर्मभूमिस्थाने यो लोकः सुखितो दुःखितश्च तद्विषयं[1] क्रीडनीयकं क्रीडयते चित्तं विक्षिप्यते विह्रियते येन तदिच्छामः। करणे कृत्यो बाहुलकात्। चित्तं च इतोऽमुतश्च नीयमानं मार्गेऽपि नियोज्यते[2]। यदि वा क्रीडनाय हितं क्रीडनीयकम्। उभयत्राज्ञाताद्यर्थे कः। इदमस्माकं गुडप्रच्छन्नकटुकौषधकल्पं चित्तविक्षेपमात्रफलमिति यन्न ज्ञायते। तच्च क्रीड़नीयकं सुखितदुःखित एव भवति। न ह्येकान्तसुखिते काले देशे वा क्रीडया किञ्चित्। नाप्येकान्तदुःखिते। तेन कृतयुगे कलिप्रान्ते वा इलावृतादिनिवासिनि जने नारके वा न क्रीडोपपत्तिः। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः दुःखस्य

का तात्पर्य है। अक्षर-योजना इस प्रकार है—स्वायम्भुव नामक प्रथम मन्वन्तर में जो कृतयुग था, उसके बीत जाने पर जो त्रेतायुग आया उसके सन्धिकाल के अच्छी तरह बीत जाने पर अर्थात् स्पष्ट रूप से प्रारम्भ हो जाने पर (देवता ने प्रार्थना की)। केवल उसी मन्वन्तर में नहीं, वल्कि सभी मन्वन्तरों में। यहाँ पर 'तु' शब्द 'यावत्' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है। जब तक वैवस्वत मनु के अन्तर समय में अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर में जो त्रेतायुग है उसके भी प्रवृत्त हो जाने पर। इस प्रकार आदि और अन्त के मन्वन्तरों का कथन होने से मध्यकाल के सभी मन्वन्तरों का ग्रहण हो जाता है। इसलिए सभी त्रेतायुगों में नाट्य की प्रवृत्ति होती है, यह तात्पर्य है।

अभिनव—इस अवसर पर देवताओं ने ब्रह्मा से क्या कहा, यह बतलाते हैं—कर्मभूमि स्थल जम्बूद्वीप में जो लोग सुखी और दुःखी हैं उनके लिए क्रीडनीयक चाहते हैं। जिसके द्वारा मन (चित्त) का बहलाव किया जा सके अथवा मनोविनोद किया जा सके उस क्रीडनीयक को हम चाहते हैं। क्रीड् धातु से करण अर्थ में बाहुलक से अनीयर् कृत्य प्रत्यय होकर क्रीडनीयक शब्द बनता है। इस प्रकार क्रीडनीयक के द्वारा इधर-उधर भटकने वाले चित्त को सन्मार्ग में नियोजित किया जा सकता है। अथवा 'क्रीडनाय हितम्' क्रीडन के लिए हितकारी अर्थ में क्रीडनीय शब्द बनता है अर्थात क्रीडन (मनोरञ्जन) के लिए जो हितकारी हो वह क्रीड़नीयक है। इन दोनों अर्थों में निष्पन्न क्रीडनीय शब्द से अज्ञात अर्थ में 'क' प्रत्यय होकर क्रीडनीयक शब्द बनता है। यह हमारे लिए गुड़ से ढ़की हुई कड़वी औषधि के समान केवल चित्त के बहलाव रूप फल वाला क्रीडनीयक (खेल) है, यह नहीं जान पाते हैं। और वह क्रीडनीयक सुखी-दुःखी होने पर ही होता है क्योंकि अत्यन्त सुखमय देश और काल में क्रीड़ा से कोई लाभ (फल) नही होता और न अत्यन्त दुःखमय समय और देश में क्रीड़ा से कोई लाभ होता है। इसलिए अत्यन्त सुखमय समय सत्ययुग में अथवा अत्यन्त दुःखमय समय कलियुग के अन्त में अथवा इलावृत्त आदि अत्यन्त सुखी देश के निवासी लोगों में अथवा अत्यन्त दुःखमय स्थान नरक में पड़े हुए प्राणियों में क्रीड़ा की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ 'सुखित-दुःखित' इस पद में

१. क-म. तद्विषयकम्। २. क-विनियोज्यते।

बाहुल्यमाह। कथं ज्ञायते सुखितदुःखितो लोक इति। यत ईर्ष्याक्रोधादिभिः संमूढोऽधिवासितहृदयः। आदिग्रहणादनुरागतृष्णादिभिः। तत्र क्रमेण कारणमाह—कामवशगतत्वादीर्ष्यादयो राज्यलोभादिना क्रोधादयः। किमित्यधिकौ कामलोभौ। यतः सुखितदुःखितत्वस्य कारणं कामादीनां हेतुः ग्राम्यधर्मप्रवृत्तत्वम्। ग्राम्योऽश्रुतशास्त्रार्थजनाकीर्णदेशोचितो धर्मः स्वधर्माननुपालनलक्षणः। तद्विषये यतोऽसौ लोकः प्रवृत्तः।

नन्वेवं सत्यधर्मबाहुल्यात्[1] सुखमेषां कुत इत्याह—देवैः श्रीमद्विजयाविमुक्तादिरुद्रावतारैः तथा राजसतामसहृदय[2] जनकल्प्यमानसपर्याकैर्दानवादिभिराक्रान्ते जम्बूद्वीपे। देवादिभिश्चाक्रान्ते स्ववशीक्रियमाणे। नन्वेवं सत्स्वपि विशुद्धव्यामिश्रधर्मसाधनेषु कथं धर्मः। तेषां तत्राप्रवर्तमानत्वात्। सत्यम्। किन्तु

उत्तरपदार्थ प्रधान तत्पुरुष समास होने से दुःख की प्रधानता सूचित होती है। यह कैसे जानते हैं कि लोक सुख-दुःख से युक्त था। क्योंकि ईर्ष्या, क्रोध आदि से सम्मूढ़ उनका हृदय ईर्ष्यादि से भरा हुआ था। आदि पद से अनुराग और तृष्णा आदि का ग्रहण होता है उनमें क्रम से कारण को कहते हैं। काम के वश में होने से ईर्ष्या आदि और राज्य के लोभादि से क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। काम और लोभ को अधिक क्यों कहा गया है? क्योंकि काम आदि का हेतु ग्राम्यधर्म में प्रवृत्त होना सुख-दुःख का कारण है। शास्त्र के अर्थ को न जानने वाले लोगों से व्याप्त देश के योग्य अपने धर्म का अनुपालन न करना धर्म ग्राम्यधर्म हैं अर्थात् जहाँ पर शास्त्र को न जानने वाले लोग रहते हों उस देश के योग्य अपने धर्म का पालन न करना ग्राम्यधर्म है। उसी ग्राम्यधर्म में यह लोक प्रवृत्त था। अतः काम और लोभ का अलग से ग्रहण किया गया है।

ऐसा होने पर अर्थात् ग्राम्यधर्म में प्रवृत्त होने पर अधर्म की बहुलता के कारण उन्हें सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है? इस पर कहते हैं कि श्रीमान् विजय अविमुक्त आदि रुद्र के अवतार देवों के द्वारा तथा राजस एवं तामस हृदय वाले लोगों के द्वारा जिनकी पूजा की जाती है, ऐसे दानव आदि से जम्बूद्वीप के अक्रान्त होने पर और देवता गन्धर्व आदि से आक्रान्त अर्थात् अपने वश में किये गये जम्बूद्वीप में लोक प्रवृत्त होता था। ऐसा होने पर भी अर्थात् देव-दानव-गन्धर्वादि से जम्बूद्वीप के आक्रान्त होने पर विशुद्ध तथा सङ्कीर्ण (व्यामिश्र) धर्म के साधनों के होने पर भी धर्म कैसे होगा? क्योंकि उन लोगों की उसमें (धर्म में) प्रवृत्ति न होने के कारण धर्म नहीं होगा, यह ठीक है, किन्तु लोकपालों अर्थात् लोकपालों के अंशों से उत्पन्न राजाओं के द्वारा प्रतिष्ठित अर्थात् अपने धर्म के पालन में लोगों के नियोजित होने पर ऋषियों ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि हम लोग ऐसा क्रीडनीयक चाहते हैं

१. क–म. स्वधर्मबाहुल्यात् क–सा. त्वधर्मबाहुल्यात्।
२. क–म. सद्धृदयकल्प्यमान।

लोकपालैः लोकपालांशसंविभागसमुत्पादितैः नरपतिभिः। प्रतिष्ठते स्वधर्मसाधनं प्रति नियोजिते लोके। दृश्यं श्रव्यं चेति। द्रष्टुं श्रोतुं चार्हम्। न धर्मसाधनं। शक्यं च। न तु [1]दुर्भगपरुषप्रायम्। लोक इत्येकवचनेन सर्वसाधारणतयैव यद्योग्यं तत्र स्पृश्यादिरूपं न भवति। दृश्यश्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारण्योपपत्तिः। असाधारणे चेर्ष्याक्रोधादय एव प्रवर्तन्ते।

जो दृश्य और श्रव्य अर्थात् जो देखने और सुनने योग्य हो, केवल धर्म का साधन होने योग्य नहीं हो और प्रायः अमङ्गल एवं कठोर न हो। 'लोक' शब्द में एकवचन के प्रयोग से ज्ञात होता है कि जो वस्तु सर्वसाधारण के उपभोग के योग्य हो वह स्पृश्य (छूने योग्य) आदि रूप नहीं हो सकती। दृश्य और श्रव्य तो बहुतर जन साधारण के योग्य हो सकते हैं। असाधारण होने पर तो ईर्ष्या, क्रोध आदि उत्पन्न होने लगेगें।

विमर्श—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कामलोभादि के वशीभूत लोगों के ग्राम्यधर्म में प्रवृत्त होने पर अधर्म की अधिकता के कारण सुख नहीं प्राप्त हो सकता; इस पर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व आदि से आक्रान्त जम्बूद्वीप में शुद्ध एवं संकीर्ण धर्म के साधनों में तत्पर मनुष्यों में धर्म कैसे रहेगा ? यह बात ठीक है, किन्तु लोकपाल के अंशों से उत्पन्न राजाओं के द्वारा अपने अपने धर्म के पालन में लोगों को नियोजित किये जाने पर आत्रेय आदि ऋषियों ने ब्रह्माजी से कहा कि हम लोग एक ऐसा क्रीड़नीयक चाहते हैं जो दृश्य और श्रव्य अर्थात् देखने और सुनने योग्य हो और जो केवल धर्म का साधन न हो, क्योंकि दृश्य और श्रव्य वस्तु अलौकिक धर्म का साधन नहीं हो सकती और जो अमङ्गल एवं परुषप्राय न हो, क्योंकि जो वस्तु अमङ्गल (विकृत) होती है वह दृश्य (देखने योग्य) नहीं होती और जो शब्द परुष हो वह कान के लिए उद्वेजक होने से श्रव्य नहीं हो सकता है। इसलिए अमङ्गल एवं परुषप्राय दृश्य और श्रव्य नहीं होना चाहिए और स्पृश्य, चोष्य, लेह्य आदि भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्पृश्य (छूने योग्य) चोष्य आदि वस्तुएँ एक साथ अनेक व्यक्तियों के उपभोग के योग्य नहीं होती और दृश्य एवं श्रव्य वस्तुओं का एक साथ अनेक व्यक्ति उपभोग कर सकते हैं। इसीलिए ऋषियों ने दृश्य और श्रव्य क्रीड़नीयक के लिए प्रार्थना की। 'लोके' इस एकवचन के प्रयोग से सूचित होता है कि ऐसा क्रीड़नीयक हो जो सर्वसाधारण के उपभोग के योग्य हो। असाधारण क्रीड़नीयक से तो ईर्ष्या, क्रोध आदि उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए मुनियों ने दृश्य और श्रव्य क्रीड़नीयक के लिए प्रार्थना की।

ग्राम्यधर्म--अभिनवगुप्त के अनुसार शास्त्र के अर्थ को न सुनने के कारण स्वधर्म के पालन न करने वालें लोगों के देश के धर्म को 'ग्राम्यधर्म' कहते हैं।

जम्बूद्वीप—पौराणिक मान्यता के अनुसार सात द्वीप हैं—१. शाकद्वीप २. क्रौञ्च द्वीप, ३. कुशद्वीप. ४. जम्बूद्वीप, ५. प्लक्षद्वीप, ६. शाल्मलिद्वीप और ७. पुष्करद्वीप।

---

१. क–म. दुर्भगपुरुषप्रायम्।

एतदुक्तं भवति—कृतयुगे सत्त्वप्रधाने स्वधर्ममात्रनिष्ठो लोको न सुखदुःखे प्रति हेयोपादेयधिया प्रयस्यति। त्रेतायान्तु राजसत्वाद्दुःखं जिहासति। सुखं च प्रेप्सति। रजसश्चलत्वात्। तदाऽसौ शास्त्रीयेषु राजनियन्त्रणया प्रवर्त्यते। तत्र च तादृगुपायो निरूप्यो येन स्वयमेषां भवति प्रवृत्तिः। तच्च नाट्यमेवेति।

चकारणेदमाह—तादृशा केनचिदुपायेन सम्बन्धस्तत्कुरुते (स्तु कृतः) येन भिन्नेन्द्रियग्राह्ये अपि दृश्यश्रव्ये एकानुसन्धानविषयत्वं न विजहीत इति सामान्याभिनयकालप्राणत्वं[1] प्रयोगस्य सूचितम्। दृश्यमिति हृद्यं श्रव्यमिति व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिदमित्यर्थ इति। [2]अनेन त्विन्द्रादीनां क एतावता स्वार्थः। आह। लोकपालप्रतिष्ठिते[3] जम्बूद्वीपे गता ये लोकाः ते हि स्वधर्मावस्थिता इज्यादिना नाकमाप्याययन्ति। अत एवेच्छाम इति सर्वेषामैकमत्यमाह। अतो-

इन सात द्वीपों में जम्बूद्वीप मध्य में स्थित है और जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत स्थित है। सुमेरु पर्वत के दक्षिण में हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्ष देश है। उसके एक ओर भद्राश्व और दूसरी ओर केतुमाल देश है। इनके बीच में इलावृत देश है जिसे स्वर्ग का एक भाग कहा जाता है।

अभिनव—इससे यह कहा गया है कि—सत्त्वगुण प्रधान सत्ययुग में लोग अपने-अपने धर्म के पालन में रत (निष्ठ) रहते हैं अतः सुख को उपादेय (ग्राह्य) और दुःख को हेय (त्याज्य) मानकर प्रयास नहीं करते। त्रेतायुग में रजोगुण के प्रधान होने से लोग दुःख को छोड़ने और सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं अर्थात् दुःख को छोड़ना और सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। रजोगुण के चञ्चल होने से उस समय के लोग राजा के नियन्त्रण से शास्त्रीय कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए उस विषय में ऐसा उपाय बतलाइये जिससे लोगों की अपने आप शास्त्रीय कार्यों में प्रवृत्ति हो जाय और वह उपाय नाट्य ही है।

'दृश्यं श्रव्यं च' में चकार से ग्रन्थकार यह कहते हैं कि—इस प्रकार के किसी उपाय के द्वारा सम्बन्ध वह स्थिति उत्पन्न कर देता है जिससे भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य दृश्य और श्रव्य भी एकानुसन्धान की विषयता नहीं छोड़ते अर्थात् एक साथ प्रतीति में बाधा नहीं होती। इससे यह सूचित होता है कि सामान्याभिनय का काल नाट्यप्रयोग का प्राण है। यहाँ पर दृश्य का अर्थ हृद्य और श्रव्य का अर्थ व्युत्पत्तिप्रद है अर्थात् प्रीति एवं व्युत्पत्ति का जनक है, तो इन्द्रादि का इससे क्या स्वार्थ है? अर्थात् इन्द्रादि देवताओं का इस नाट्य से क्या स्वार्थ है जो उन्होंने इस विषय में ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि हम लोग ऐसा क्रीड़नीयक चाहते हैं जो दृश्य और श्रव्य

१. क–म. तालप्राणत्वं। ख. कालप्रमाणत्वं।
२. न्विन्द्राणीनांम्। एतावता क. इन्द्रादीनां स्वार्थ इत्याह।
३. क–म. लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपगता।

ऽन्योन्योपकारवृत्त्या च दैवमानुषसर्गौ[1] निरूपितौ विन्ध्यवासिप्रभृतिभिः। अन्ये तु स्वप्रयोजनमेव क्रीडा महेन्द्रादीनामित्याहुः। त्रेतायुगे प्रवृत्ते एवम्भूते च लोक इत्यनेनेदमुक्तं भवति—स्वर्गेऽपि हि तदा तदा[2] मानुषगतराजसधर्माभिसम्बन्धचित्रितयागादियोगसरजसीकृतहृदयत्वाद् देवा अपि क्रीडनीयकमभिलेषुरिति। ॥ ८-११ ॥

एवं शास्त्राधिकृतोऽपि जनः नाट्येन सुखं विनीयत इति प्रयोजनप्रयोजनमुक्त्वा प्रयोजनान्तरमप्याह—न वेदव्यवहार इत्यादिना।

दोनों हो। इस पर कहते हैं कि लोकपालों के द्वारा प्रतिष्ठित इस जम्बूद्वीप में जो लोग रहते हैं वे अपने धर्म में स्थित होकर अर्थात् अपने धर्म का पालन करते हुए यज्ञ आदि के द्वारा स्वर्गलोक को संतृप्त करते हैं। इसलिए 'हम चाहते हैं इस विषय में उन सबका ऐकमत्य कहा है। अतएव विन्ध्यवासी प्रभृति विद्वानों ने एक दूसरे के उपकार करने के वृत्ति से देवता और मनुष्यों की सृष्टि का निरूपण किया है। दूसरे लोग तो कहते हैं कि क्रीड़ा (क्रीडनीयक) महेन्द्र आदि देवताओं का अपना ही प्रयोजन है। 'त्रेतायुग के प्रारम्भ होने पर और लोगों के इस प्रकार हो जाने पर' इससे यह कथित (ध्वनित) होता है कि स्वर्ग में भी देवता जब मनुष्योचित रजोगुण के धर्मों के सम्बन्ध से चित्रित याग (यज्ञ) आदि के योग से रजोगुण से युक्त हो जाते हैं तब-तब वे भी क्रीडनीयक की अभिलाषा करते हैं ॥ ८-११ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्य अलौकिक एवं विलक्षण है। क्योंकि उसमें दृश्य एवं श्रव्य दोनों विषयों का एक साथ एक ही समय में प्रतीति होती है। सामाजिक एक साथ ही अभिनेता की चेष्टाओं को देखता है और उनके संवादादि वचनों को साथ ही सुनता है और रसास्वादन करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि देवताओं का इस क्रीड़नीयक (नाट्य) से क्या प्रयोजन है? इस पर कहते हैं कि जम्बूद्वीप में जो लोग लोग रहते हैं वे अपने धर्म का पालन करते हुए यागादि के द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। इसीलिए विन्ध्यवासी आदि आचार्यों ने दैव और मानुष सृष्टि को एक दूसरे का उपकारक बताया है। अन्य आचार्यों का कहना है कि देवताओं का भी क्रीड़ा से अपना प्रयोजन (स्वार्थ) है। स्वर्ग में भी देवता लोग कभी-कभी रजोगुण के धर्म से युक्त होते हैं तब वे क्रीड़नीयक चाहते हैं। इसीलिए त्रेतायुग के प्रारम्भ में महेन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी के पास जाकर क्रीड़नायक के लिए प्रार्थना की है ॥ ८-११ ॥

"इस प्रकार शास्त्र के अधिकारी लोग भी नाट्य के द्वारा सुख से (सरलता से) शिक्षित किये जाते हैं" इस प्रयोजन के प्रयोजन को कहकर दूसरे प्रयोजन को भी कहते हैं—

---

१. क–म. भ. सर्गावित्यपि निरुपितौ।
२. क–मानुषगता राजानः सुधर्मादिसम्बन्धचिन्तित।

[1]न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥ १२ ॥

कृतयुगे सत्त्वोत्कर्षबलादेव सर्वः स्वधर्ममनुपालयति । अद्यत्वे [2]तु राजसत्वात् शूद्रप्रकाराः करणादिजातीयाः सर्वेऽखर्वगर्वाक्रान्ता वर्णत्रयानुवृत्तिं न विदधते । शास्त्रं भवद्भ्य एवमादिशतीति च ते वचनमात्रेण नाद्रियन्ते । न च ते वेदशास्त्रोपदेशयोग्याः । अत एवमाह—[3]सम्यगिह स्थाने । श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्टमिति ना(न) श्राव्याः ।

सार्ववर्णिकमिति । अधिकृतानामनधिकृतानामपि सुकुमाराणां व्युत्पत्तिदायीत्यर्थः । सर्वे वर्णाः प्रयोजनं [4]विनेयत्वेन यस्येत्यनेन पूर्वोक्तस्याधुनोक्तस्य च समस्तस्योपसंहारः ।

अनुवाद—वेद का यह व्यवहार है कि शूद्र जातियों को वेद नहीं सुनाना चाहिए । इसलिए आप सब वर्णों के लिए पाँचवें वेद की रचना कीजिए ॥१२ ॥

अभिनव—सत्ययुग में सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण ही सारा लोक अपने धर्म का पालन करता है । अन्य युगों में (पाठान्तर से आज त्रेतायुग में भी) रजोगुण से युक्त होने के कारण शूद्रों के भेद (प्रकार) करण अर्थात् वर्णसङ्कर आदि जाति के सभी लोग पूर्ण अहङ्कार से आक्रान्त (युक्त) तीनों वर्णों की अनुवृत्ति नहीं करते हैं अर्थात् तीनों वर्णों की सेवारूप अपने धर्म का पालन नही करते हैं । और शास्त्र आपके लिए ऐसा (तीनों वर्णों की सेवा रूप) आदेश देता है' इस बात को वे केवल कहने मात्र से आदर नहीं करते अर्थात् इसे स्वीकार नहीं करते और न वे वेद, शास्त्र के उपदेश के योग्य हैं । इसलिए इस प्रकार कहा है—'सम्यक्' पद यहाँ उचित स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । श्रुति ने आप लोगों को यह उपदेश दिया है कि यह नहीं सुनाना चाहिए ।

सार्ववर्णिकमिति—यह नाट्यशास्त्र अधिकारी और अनधिकारी दोनों प्रकार के सुकुमार मति वालों के लिए व्युत्पत्तिप्रद (शिक्षाप्रद) है । 'सभी वर्ण विनेय (शिक्षणीय) होने से प्रयोजन हैं जिसके' उसे सार्ववर्णिक कहते हैं । इससे पूर्वोक्त और अधुनोक्त सभी प्रयोजनों का उपसंहार हो गया । भाव यह कि नाट्य के द्वारा अधिकारी (द्विजाति) और अनधिकारी (शूद्रादि) सभी को शिक्षा प्राप्त होती है, इस बात का उपसंहार हो गया ।

---

१. ख. नव्यवेदविहारोऽयं ।
२. अन्यत्र तु इति पाठान्तरम् ।
३. ङ सम्यगिति ।
४. क-म. विना यत्नेन प्रयस्यति अनेन ।

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार[3] चतुरो वेदान्योगमास्थाय तत्त्ववित्[4] ॥ १३ ॥

अन्ये तु पौनरुक्त्यं परिहर्तुमाहुः—'सर्वेषां वर्णानां सरससुकुमारेण नयेन स्वकर्तव्यनिरूपणं यत्र काव्ये तस्मिन् भवं तदाश्रितम्। येन सर्वो जनः सरस-सुकुमारानुरज्यदाशयः तदुपभोगनान्तरीयकतयैव कार्याकार्यज्ञानमप्युपयुङ्क्ते क्षीरमध्यावस्थितौषधोपयोगवत्। [1]तेनाधिकृतानामनधिकृतानामपि सुकुमाराणां व्युत्पत्तिदायि नाटचम्[2]। अश्रुतशास्त्राणामपि संवादादविचलकार्याकार्यविवेक-सिद्धिरिति ॥ १२ ॥

अन्य लोग तो पुनरुक्ति का परिहार करने के लिए कहते हैं कि—सरस और सुकुमार रीति से सभी वर्णों के अपने कर्त्तव्य का निरूपण जिस काव्य में किया जाय, उसमें होनेवाला अर्थात् उसके आश्रित काव्य सार्ववर्णिक है, जिसके द्वारा सरस, सुकुमार और अनुरक्त हृदय वाले सभी लोग उस नाट्य के उपभोग के साथ-साथ दूध में रखी हुई औषधि के उपभोग के समान कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के ज्ञान का उपयोग करते हैं अर्थात् करणीय और अकरणीय का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए अधिकारी और अनधिकारी सभी सुकुमार मतिवाले लोगों के लिए यह नाट्य व्युत्पत्ति-प्रद है और शास्त्र को न जानने वालों को भी सवाद (संवाद सादृश्य) से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के ज्ञान की अविचल (सुनिश्चित) सिद्धि मिलती है ॥ १२ ॥

विमर्श—त्रेतायुग में रजोगुण के उत्कर्ष के कारण शूद्रजाति वर्णसङ्कर होने से अपने धर्म से पतित हो गयी थी। अभिनवगुप्त ने 'करणजातीय का उल्लेख किया है। अमरकोश के अनुसार शूद्रा स्त्री से वैश्य के द्वारा उत्पन्न सन्तान करणजाति कहलाती है। आदि शब्द से इस प्रकार की अन्य वर्णसङ्कर जातियों का ग्रहण होता है। इस वर्णसङ्कर शूद्र जाति अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो चुकी थी, वे पूर्ण अहङ्कार से आक्रान्त होने से तीनों वर्णों की सेवा रूप अपने धर्म को भूल गये थे। तब उन्हें वेदशास्त्र का अध्ययन एवं श्रवण वर्जित हो गया। तब ब्रह्मा ने सभी वर्णों के लिए पाँचवें वेद के रूप में नाटचवेद की रचना की। यह नाटचवेद अधिकारी-अनधिकारी सभी लोगों के लिए उपदेशप्रद है। सभी वर्ण के लोग नाटचवेद की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इसीलिए नाटचवेद को 'सार्ववर्णिक' कहा गया है। इसी नाटचवेद के द्वारा उन्हें अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सुदृढ़ ज्ञान होता है ॥ १२ ॥

अनुवाद—'ऐसा ही होगा' इस प्रकार उन देवताओं से कहकर और उन देवराज इन्द्र को विदा करके तत्त्ववेत्ता ब्रह्माजी ने समाधि लगाकर चारों वेदों का स्मरण किया ॥ १३ ॥

---

१. क-म. तेनानधिकृतानामपि। २. क-म. नाटचं श्रुतं।
३. क-ड. सस्मारेदं तदा ब्रह्मा। ४. क-ढ. त. म. योगवित्।

नेमे वेदा यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु ।
वेदमन्यत्ततः स्त्रक्ष्ये सर्वश्राव्यं तु पञ्चमम्[२] ॥ १४ ॥
[३]धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं[४] ससङ्ग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य[५] सर्वकर्मानुदर्शकम्[६] ॥ १५ ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्[७] ।
[८]नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥१६॥

एवमस्त्विति तानिति । देवराजमिति । तानुक्त्वा तान्विसृज्य । देवराजं विसृज्येति [१]प्राधान्यादुपादानम् । योगमिति । येन सर्ववेदानां युगपदवभासो भवति । तत्त्वविदिति समस्तलोकवेदज्ञ इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अभिनव—'ऐसा ही हो' । यहाँ 'तान्' अर्थात् 'उन देवताओं से कहकर' इससे 'उनको विदा करके' यह अर्थ ग्रहण होता है और 'इन्द्र को विदा करके' इसके अलग कथन से इन्द्र की प्रधानता का ग्रहण होता है । 'योगम्' (समाधि लगाकर) इससे समस्त वेदों का एक साथ अवभास होता है । 'तत्त्वविद्' कहने से समस्त लोक एवं वेद को जानने वाला अर्थ निकलता है ॥ १३ ॥

विमर्श--इस कारिका में 'तानुक्त्वा' का अर्थ 'तान् विसर्ज्य' अर्थात् उन देवताओं का विदा करके लिया गया है । जब सब विदा करके यह अर्थ लिया गया है तो उन देवताओं में इन्द्र भी आ जाते हैं । पुनः इन्द्र की विदाई का अलग से कथन इन्द्र के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित किया गया है । समाधि लगाकर वेदों का स्मरण करने का अभिप्राय है समस्त वेदों का एक साथ अवभास होना । कुछ संस्करणों में १३वें श्लोक के बाद निम्नलिखित श्लोक प्रक्षिप्त मिलता है—

नेमे वेदा यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु ।
वेदमन्यत् ततः स्त्रक्ष्ये सर्वश्राव्यं तु पञ्चमम् ॥

क्योंकि ये वेद स्त्री तथा शूद्र आदि जातियों को सुनाने योग्य नहीं हैं । इसलिए इन वेदों से भिन्न सब लोगों के सुने जाने योग्य पाँचवें वेद की रचना करूँगा ॥ १३ ॥

---

१. अयं श्लोकः ख. ग. घ. पुस्तकेषु नास्ति । क. पुस्तके प्रक्षिप्तरूपेण पठितम् ।
२. क-ङ. धर्मकामार्थसंयुक्तम् ।　　३. ख. ग. घ. सोपदेशं ।
४. क-न. कालस्य । क-ठ. ग-(क. ख.) लोकेऽस्य ।
५. क-प्र. सर्वकर्मानुदर्शनम् । क-प. सर्वकर्म प्रदर्शकम् ।
६. क-न. शीलप्रवर्त्तकम् क-ग. शिष्यप्रवर्त्तकम् क-ठ. म. शिल्पप्रदर्शकम् क-प्र. शिल्पसमन्वितम् । क-त. शिल्पप्रवेशकम् ।
७. क-प. म. तथा ख. पुस्तके नाट्यसंज्ञमिमं वेदं ।
८. क-प्राधान्यादुक्तम् । इन्द्रादीन् विसृज्येत्यर्थः ।

ततः किं चकारेत्याह श्लोकत्रयेण धर्म्यमित्यादिना ।

एवमिति (११-६) धर्म्यमित्यादियुगलोक्तमर्थं[1] सङ्कल्प्य । चतुर्वेद-स्मरणेन हेतुना तत इति । चतुर्भ्यो नाट्यवेदं चक्रे । हेतौ शता ।

अनुवाद—क्योंकि ये वेद स्त्री और शूद्र आदि जातियों को सुनाने योग्य नहीं है। इसलिए मैं इससे भिन्न सबके सुनने योग्य पञ्चम वेद की रचना करूँगा ॥ १४ ॥

इसके बाद ब्रह्माजी ने क्या किया, यह तीन श्लोकों के द्वारा कहते हैं—

अनुवाद—"धर्म, अर्थ और यश को प्राप्ति कराने वाला, उपदेश के योग्य, लोकज्ञान (संग्रह) से युक्त, भावी लोक (जगत्) के लिए सभी कर्मों का पथप्रदर्शक, समस्त शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण, समस्त शिल्पों (कलाओं) का प्रवर्त्तक, इतिहास के साथ नाट्यवेद नामक पञ्चम वेद की रचना करता हूँ ॥ १५-१६ ॥

विमर्श—ब्रह्माजी ने संकल्प करके इतिहास के साथ नाट्यवेद की रचना की, जो नाट्यवेद धर्म अर्थात् पुरुषार्थचतुष्टय का प्रदाता है, जो नाट्य हृद्य होने के कारण अभिलषणीय है, यह सभी दिशाओं में आकर्षक होने से यशस्य है, यह कलाप्रधान सभी शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण है। नृत्य, गीत, वाद्य आदि समस्त कलाओं से सम्पन्न है। यहाँ पर ब्रह्माजी ने इतिहास के साथ नाट्यवेद की रचना करने का संकल्प किया है। पूर्वकालीन घटनाओं का वर्णन इतिहास कहा गया है। जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपदेश से समन्वित (युक्त) और प्राचीन घटनाओं की कथा से युक्त हो उसे इतिहास कहते हैं—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
इतिवृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

'इतिहास' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—'इति - इस प्रकार + ह = निश्चय ही + आस—था'। इस प्रकार इतिहास शब्द का अर्थ पुरावृत्त का प्रतिपादक ग्रन्थ से है। यहाँ पर नाट्यशास्त्र को भी इतिहास कहा गया है। जैसा कि भरत ने नाट्यशास्त्र को स्वयं इतिहास कहा है - **'इतिहासो मया सृष्टः'** (ना० शा० १-१९) अर्थात् मैंने इतिहास की रचना की है। प्राचीनकाल में इतिहास की भी पञ्चम वेद के रूप में मान्यता थी **(इतिहास-पुराणानि पञ्चमो वेद उच्यते)**। उपनिषद्, अर्थशास्त्र आदि में भी इतिहास को पञ्चम वेद कहा गया है। इतिहास-सहित नाट्यवेद को भी पञ्चम वेद कहा गया है।

अभिनव—इस प्रकार 'धर्म्यम्' इत्यादि दो श्लोकों में कहे गये अर्थ (वस्तु) का संकल्प करके। चारो वेदों के स्मरण रूप हेतु निर्देश के लिए 'ततः' कहा गया है। चारो वेदों से नाट्यवेद की रचना की। हेतु में शतृ प्रत्यय होने से अर्थात् 'अनुस्मरन्' में हेतु अर्थ में शतृ प्रत्यय होने से यह बात सूचित होती है कि ब्रह्मा ने चारो वेदों से नाट्यवेद की रचना की।

---

१. क. (टि०) युगलकोक्तमर्थं ।

धर्म्यमिति। धर्मे साधूपदेशाय। एवमर्थेऽपि। अन्ये तु धर्मार्थाभ्यामनपेतं यशः प्रयोजनमस्येति। अत्र व्याख्यानद्वयेऽपरपुरुषार्थासङ्ग्रहः[1] स्यात्। नाट्योत्पत्तिगर्भाधानकल्पे चास्मिन् सङ्कल्पे यत्त्यक्तं तत्त्यक्तमेव। यशसश्च धर्मफलत्वात् पृथगुपादानं किमर्थम्। [2]सोपदेशमित्यादेश्च पौनरुक्त्यम्। तस्मादयमत्रार्थः—धर्मशब्देन चत्वारोऽपि पुरुषार्थाः। तेषु साधु साधकम्। ननु किं साक्षात्। नेत्याह। सोपदेश्यं सहोपदिश्यमानैरुपायैर्यद्वर्तते चतुर्वर्गोपाय-[3]प्रदर्शकमित्यर्थः। ननु वेदादयोऽप्येवम्। नैतत्। [4]सम्यग्ग्रहणं सङ्ग्रहः। यतः परं निर्विशङ्कप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरं नाभ्यर्थ्यते। तच्च साक्षात्काररूपमेव।

धर्म्यमिति—'धर्मे साधुः' अर्थात् धर्म के विषय में उपदेश देने में समर्थ' इस अर्थ में 'तत्र साधुः' सूत्र से यत् प्रत्यय होकर 'धर्म्य' शब्द बनता है। इसी प्रकार 'अर्थे साधुः' अर्थात् 'अर्थ के विषय में उपदेश देने में समर्थ' अर्थ में उक्त सूत्र से यत् प्रत्यय होकर 'अर्थ्य' शब्द बनता है। इस प्रकार 'धर्म्य' शब्द का अर्थ धर्म के विषय में उपदेश देने में समर्थ और 'अर्थ्य' शब्द का अर्थ के विषय में उपदेश देने में समर्थ है।

दूसरे व्याख्याकार तो 'धर्म्य और अर्थ्य शब्द में 'धर्मादनपेतम्' 'अर्थादनपेतम्' इस अर्थ में 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेतम्' सूत्र से यत् प्रत्यय मानकर धर्म और अर्थ से युक्त यश ही जिसका प्रयोजन है, वह यशस्य है, यह अर्थ करते हैं। इन दोनों व्याख्याओं में अन्य पुरुषार्थ काम और मोक्ष का ग्रहण नही होगा। नाट्योत्पत्ति के गर्भाधान के समान इस सङ्कल्प में जो छूट गया है वह छूट ही गया है। (इस प्रकार काम और मोक्ष का इसमें समावेश न होना एक दोष है)। यश के धर्म का फल होने से उसका पृथक् से ग्रहण किसलिए किया गया है यह दूसरा दोष है—'धर्म के उपदेश में साधु' इस व्याख्या में धर्म के साथ उपदेश का भी ग्रहण हो जाने से 'सोपदेशम्' इत्यादि की पुनरुक्ति हो जाती है (यह तीसरा दोष है)। अतः ये दोनों व्याख्यायें ठीक नहीं हैं। इसलिए यहाँ यह अर्थ है—धर्म शब्द से चारों पुरुषार्थों का ग्रहण होता है। उनमें साधु अर्थात् साधक (धर्म्य) है। अब प्रश्न होता है कि क्या नाट्य चारो पुरुषार्थों का साक्षात् साधक है ? इस पर कहते हैं कि 'नहीं', इसलिए 'सोपदेश्यम्' कहा है अर्थात् जो उपदिश्यमान उपायों के साथ विद्यमान है अर्थात् चतुर्वर्ग के उपायों का प्रदर्शक है। क्या वेद आदि भी इसी प्रकार के प्रदर्शक हैं ? यह ठीक नही है। अच्छी तरह से ग्रहण (ज्ञान) 'संग्रह' है। जिसके बाद निःशङ्क प्रतीति के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न हो और वह ज्ञान साक्षात्कार रूप ही होता है।

---

१. सु-पुरुषान्तरसंग्रहः। २. सोपदेश्यमिति पाठान्तरम्।

३. ङ-प्रवर्त्तकम्।

४. क. (टि०) सङ्ग्रहं सम्यग् ग्रहः। ग्रहणं प्रमाणं तेन युक्तम्।

यदाहुः—"सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा" इति। तेन सहेति ससङ्ग्रहम्। एवमपि प्रत्यक्षेण [1]सदाचारयज्ञादिदर्शनात्कोऽस्य भेदः। आह—सर्वेषां कर्मणां क्रियमाणानामनु पश्चादचिरेणैव कालेन दर्शकं पञ्चषादिभिरेव दिवसैः शुभाशुभकर्मतत्फलसम्बन्धसाक्षात्कारो यत्रेत्यर्थः। कस्येत्याह—यो यः कश्चिदस्मात्क्षणादूर्ध्वं भविष्यति लोकस्तस्योपदेश्यस्येत्यर्थः।

[2]अनुकार्याभिप्रायेणात्र भविष्यत इति व्याख्यातम्। [न] च शब्देन भूतवर्तमानग्रहणमित्यधरोत्तरीभूतम्। वृत्तराजर्षिवंशकीर्तनादेर्हि प्रधानतया स्वकण्ठेनाभिधानं युक्तम्। न तु भविष्यत इत्यास्तामेतत्। तस्मात् व्युत्पाद्याभिप्रायेणैव लोकस्येति व्याख्येयम्।

एवमपि तत्रैव केन लोकः प्रवर्त्यंत इत्याह—अर्थ्यम्। हृद्यतया सर्वजनानामपि नानाधिकारत्वेनाभिलषणीयमित्यर्थः। ननु प्रथममज्ञातपरमार्थे कथमभिलषणम्। आह। यशस्यम्। सर्वत्र हृद्यतया प्रथितम्।

जैसा कि कहा है—सभी ज्ञान प्रत्यक्ष-परक हैं अर्थात् सभी ज्ञानों का पर्यवसान प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है। उसके साथ यह ससंग्रह है। इस प्रकार भी प्रत्यक्ष रूप से सदाचाररूप यज्ञादि के दर्शन से इस नाट्य का क्या भेद है? कहते हैं कि—किये जाने वाले सभी कर्मों के पश्चात् शीघ्र ही (थोड़े ही समय में) अर्थात् पाँच-छः दिनों में ही शुभ-अशुभ कर्मों तथा उनके फलों का सम्बन्ध का साक्षात्कार जिसमें हो जाता है अर्थात् कर्मों का फल तुरन्त देखने को मिल जाता है जिसमें, वह नाट्य है। किसको (साक्षात्कार होता है) इस पर कहते हैं कि—जो कोई भी इस क्षण के बाद होगा उस सामाजिक (उपदेश्य) को साक्षात्कार होगा।

यहाँ अनुकार्य के अभिप्राय से (दुष्यन्तादि को लक्ष्य करके) 'भविष्यतः' पद की व्याख्या की गई है। 'भविष्यतश्च' के 'च' शब्द से भूत और वर्तमान का ग्रहण होता है, यह व्याख्या उलट-पलट गई है (पाठभेद होने से इसका अर्थ इस प्रकार होता है—यहाँ 'च' शब्द से भूत और वर्तमान का ग्रहण नहीं होता, केवल भविष्य की चर्चा की गई है, यह सब उलट-फेर हो गया है।) क्योंकि भूतकाल के राजर्षि वंश के कीर्त्तन आदि का प्रधानतया अपने कण्ठ से कहना उचित है, ठीक है। न कि भविष्य में होने वाले राजाओं का। इसलिए इस व्याख्या को रहने दीजिये अर्थात् यह व्याख्या ठीक नही है। इसलिए व्युत्पाद्य (सामाजिक) के अभिप्राय से ही 'भविष्यतश्च लोकस्य' को व्याख्या करनी चाहिए।

इस प्रकार भी उसी नाट्य में लोक किस कारण से प्रवृत्त होता है? इस पर कहते हैं कि—'अर्थ्य' है अर्थात् हृद्य होने के कारण सभी लोगों का नाना प्रकार के अधिकार होने से (नाट्य) अभिलषणीय है। अब प्रश्न उठता है कि नाट्य हृद्य है यह तो नाट्य (अभिनय) देखने के बाद ही ज्ञात होता है तो उसके पहिले अज्ञात पदार्थ अभिलषणीय कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं कि 'यशस्य' है अर्थात् हृद्य होने से सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसलिए अभिलषणीय है।

---

१. क. (द्वि०) सदाचारादि। २. क. (द्वि०) अनुकार्याभिप्रायत्वेनात्र।

न केवलं प्रधानपुरुषार्थोपायदर्शकं यावत्सर्वेषां शास्त्राणां कलाप्रधानानां येऽर्था गीतनृत्तवाद्यादयस्तैः सम्पन्नं युक्तम् । तथा सर्वाणि शिल्पानि चित्रपुस्तादीनि प्रवर्तयति [1]स्वोपयोगत्वेनाक्षिपतीत्येवमेकेन यत्नेन समस्तवस्तुसिद्धिर्यतो भवति तन्नाट्यमित्युक्तं भवति । तच्च सेतिहासम् । इतिहासोपदेशकरूपं सप्रभेदम् । इतिरेवमर्थे प्रत्यक्षनिर्देशं द्योतयति । हः इहशब्द[2] आगमः । आसनमासः । एवंप्रकाराः प्रत्यक्षपरिदृश्यमाना [3]आगमिकार्थाः कर्मफलसम्बन्धस्वभावा यत्रासते तेनेतिहासेन [4]सहेतिपाठे मत्वर्थीयोऽकारः । इतिः ज्ञानम् । तस्य हासो हर्षपूर्वको विकासो यत इति केचित् । इतिहासश्च—तल्लक्षणमित्थं किलासनं यत्र रूपकभेदानां भण्यते[5] । उपदेशशब्देन च दशरूपकं तदुपयोगवदेव[6] (वद्देश) [7]द्विहस्तादिलक्षणनाट्यवेदशास्त्रम् । तत्सहितस्यैव करणीयत्वेनसङ्कल्पः । अन्यथा बुद्ध्या कलितस्यापि नाट्यस्य कथमन्यत्र सङ्क्रमणम् । तेन च विना कथं प्रयोगः । पञ्चममिति । य एकोऽपि चतुरो वेदानतिशेत इत्यर्थः । अहमिति यस्य सर्वलोककृत्योद्वहनमेव परं कृत्यम् ।

अभिनव—यह नाट्य केवल प्रधान पुरुषार्थ मोक्ष के उपायों का दर्शक नहीं है, अपितु कला प्रधान सभी शास्त्रों के जो अर्थ गीत, वाद्य, नृत्त आदि हैं उनसे भी सम्पन्न अर्थात् युक्त है तथा सभी शिल्प चित्रकला, पुस्तकला आदि का भी प्रवर्त्तक है अर्थात् अपने उपयोग में आने के कारण उनका भी आक्षेप कर लेता है, इस प्रकार एक ही प्रयत्न से सभी वस्तुओं की सिद्धि जिससे होती है वह नाट्य है, ऐसा कहा गया है और वह नाट्य इतिहास से युक्त है। इतिहास भेद-प्रभेद सहित दशरूपक का उपदेशक (ज्ञापक) है। इतिहास शब्द इति + ह + आस इन तीन अवयवों से से बनता है। जिनका अर्थ है—'इति' पद 'इस प्रकार के' अर्थ में प्रत्यक्ष निर्देश का ज्ञापन करता है, 'ह' पद यहाँ आगम अर्थ में है। 'आस पद असन अर्थात् होने अर्थ का बोधक है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई देने वाले कर्म और उनके फलों के सम्बन्ध के स्वभाव वाले आगमिक अर्थात् वेदोक्त अर्थ जिसमें होते हैं वह इतिहास है। उस इतिहास के साथ इस प्रकार पाठ होने पर मत्वर्थ में 'आकार' प्रत्यय है। 'इति' पद का अर्थ ज्ञान है, उसका हास अर्थात् हर्ष पूर्वक विकास जहाँ होता है वह इतिहास है, ऐसा कुछ टीकाकार कहते हैं और इतिहास, उसका लक्षण इस प्रकार है कि जहाँ पर रूपक के भेदों का निश्चयपूर्वक असन-प्रकाशन हो उसे इतिहास कहते हैं।

---

१. क. (टि०) सोपयोगत्वेन । २. ङ-ह शब्दो निश्चयार्थः । इह आगमपरः ।
३. क. (टि०) आगतिकार्थाः । भ. आगमितार्थाः ।
४. सहेति सेतिहासकम् । ५. क-म. दृश्यते ।
६. क-भ तदुपयोगादेव । ७. ङ-चतुर्हस्तादिलक्षणं शास्त्रम् ।

[1]एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ।। १७ ।।

एवं सङ्कल्प्येति । सङ्कल्पव्यापार एवायं बुद्धया वेदाङ्गैकीकारलक्षणो ब्रह्मणो नाट्यवेदोत्पादनम् । ननु वेदस्मरणेन तत्र कथं हेतुता लब्धा । आह । चतुर्वेदाङ्गसम्भवमिति । चत्वारो वेदाः[2] । अङ्गानां पाठ्यादीनां सम्भवो यस्य । सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः । अत एव वेदचतुष्टयमपि यत्राङ्गानि प्रत्युपकरणीभूतमिति (स तथोक्तः) ।। १७ ।।

उपदेशक शब्द से दशरूपक और उसके उपयोगी हस्तादि लक्षण नाट्यवेदशास्त्र का ग्रहण होता है। दूसरे टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि उपदेश शब्द से (पाठान्तर में नाट्य शब्द से) दशरूपक और नियमपूर्वक क्रियाध्ययन से युक्त चतुर्भुजादि लक्षण शास्त्र का ग्रहण होता है। उसके सहित ही नाट्य-रचना करने का संकल्प है। अन्यथा केवल बुद्धि से ज्ञात नाट्य को दूसरों में कैसे सङ्क्रान्त किया जा सकेगा अर्थात् दूसरों तक कैसे पहुँचाया जा सकता है और उसके विना उसका प्रयोग कैसे किया जा सकता है। 'पञ्चममिति'—'पञ्चमम्' का अभिप्राय है कि जो एक होने पर भी चारों वेदों से बढ़कर है। 'अहम्' इस पद से जिनका समस्त लोक के कार्यों का निर्वाह करना ही प्रमुख कार्य है।

अनुवाद—इस प्रकार संकल्प करके ब्रह्माजी ने समस्त वेदों का स्मरण कर चारों वेदों के अङ्गों से उत्पन्न नाट्यवेद की रचना की ।। १७ ।।

'इस प्रकार संकल्प करके' इसका अभिप्राय है—बुद्धि से समस्त वेदों के अङ्गों का एकीकारण रूप यह नाट्यवेद का उत्पादन (नाट्यवेद की रचना) ब्रह्मा का संकल्प रूप व्यापार ही है। अब प्रश्न होता है कि वेदों के स्मरण से उनमें हेतुता (कारणता) कैसे जान ली गई ? इस पर कहते हैं कि—'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' चारों वेद जिसके पाठ्य, अभिनय आदि अङ्गों के कारण है। अर्थात् उत्पत्ति उत्पत्ति-स्थान हैं। जिससे उत्पन्न होता है वह सम्भव अर्थात् उत्पत्ति-स्थान सम्भव शब्द का अर्थ है। इसलिए चारों वेद ही जिसके अङ्गों के प्रति उपकरणीभूत है, इस प्रकार का वह नाट्य है ।। १७ ।।

---

१. क-न. त. म. प्रोक्त्वा तु भगवानेवं वेदान् सर्वानुस्मरन् ।
क-प. स्मृत्वा तु भगवानेवं सर्ववेदानुस्मरन् ।
ग–संकल्प्य भगवानेवं सर्वान्वेदानुस्मरन् ।
ङ–ततः सः भगवान् ब्रह्मा वेदान् सर्वानुस्मरन् ।

२. क-(टि०) वेदाः चतुर्भ्यो वेदेभ्यः । अङ्गानाम् ।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो[1] गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् [2]रसानाथर्वणादपि ॥ १८ ॥

कुत्राङ्गे कस्य वेदस्योपयोग इति दर्शयति—जग्राह पाठ्यमृग्वेदादिति ।

इह पद व्यक्तायां वाचीत्युक्तं व्यक्तत्वं विवक्षाविशिष्टस्वार्थार्पणक्षमत्वम् । तच्च काक्वध्यायवक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्रीयोजनेन भवतीति तस्योपस्कृतं पाठ्यमुच्यते । तच्च प्राधान्यात्प्रथममुपात्तम् ।

तथा हि वक्ष्यति—

'वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनूः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥ इति (१४-२)

विमर्श—चित्र-पुस्तादीनि अभिनवगुप्त ने 'पुस्त' शब्द का प्रयोगकिया है । अमरकोषकार ने 'पुस्त' शब्द का अर्थ लेप्यादि कार्य किया है । अमरकोष की 'सुधा' नाम्नी टीका में 'पुस्तं लेप्यादिकर्मणि' की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"लेप्यं मृदा पुत्तलिकाकरणम् । आदिना काष्ठपुत्तलिकादि कर्म गृह्यते । तत्र पुस्तमित्येकम् । यदुक्तम्—

मृदा वा दारुणा वापि वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।
लौहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ।"

अर्थात् मिट्टी, लकड़ी, कपड़ा, चमड़ा, लोहा एवं रत्नों से निर्मित पुत्तली (गुड़िया आदि) को पुस्त कहते हैं ॥ १५-१७ ॥

नाट्य के किस अङ्ग के निर्माण में किस वेद का उपयोग हुआ है, इस बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया ॥ १८ ॥

अभिनव—यहाँ पर पठ् धातु व्यक्त वाणी के अर्थ में प्रयुक्त है । व्यक्तत्व विवक्षा विशिष्ट अर्थात् विशेष प्रकार से कहने की इच्छा से विशिष्ट अर्थ को अर्पण करने में समर्थ है । अर्थात् विवक्षाविशिष्ट अर्थ ज्ञान की क्षमता व्यक्तत्व है और वह क्षमता (क्षमत्व) काकु अध्याय में कहे जाने वाले स्वर, अलङ्कार आदि सामग्री की योजना (समन्वय) से होती है । इस प्रकार उस सामग्री की योजना से उपस्कृत (युक्त) संवाद (वक्तव्य) पाठ्य कहलाता है और नाट्य में उसकी प्रधानना होने के कारण पहिले कहा गया है । जैसा कि आगे कहेंगे—

वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यौ नाट्यस्यैषा तनूः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥
(नाट्यशास्त्र० १४।२)

१. क-न. सामतो । २. क-ब. वृत्तानाथर्वणादपि ।

अत एवाभिनयान्तर्भूतत्वेऽपि पृथगुपात्तम्। तदृग्वेदाद्गृहीतम्। तस्य त्रैस्वर्यप्रधानस्य स्तोत्रशब्द(स्त्र)द्वारेण यागोपकारित्वात्। पाठ्यमपि च त्रैस्वर्योपेतम्। ऐकस्वर्ये काक्वभावाभ्यां च स्वस्वादौ[1] (चैकस्वभावाच्च स्वरादौ) गीतरूपापत्तेरिति हि वक्ष्यामः। (ना. शा. १७.)

पाठ्यगतस्वरप्रसंगात् तदनन्तरं सामभ्यो गीतं जग्राहेत्युक्तम्। उपरञ्जकत्वेन हि पश्चात्तस्याभिधानं न्याय्यमिति केचित्। 'गीतं प्राणाः प्रयोगस्य इति वक्ष्यमाणत्वात्। तदायत्तत्वाद्रसचर्वणायाः समुचितमस्यात्रैवाभिधानमित्यस्मदुपाध्यायाः। [2]चकारेणैतत्तुल्यकक्ष्यतामाह। एवकारेण गीतमात्रं ततो गृहीतं 'गीतिषु सामाख्या' (जैमिनि. २-१-३६) इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव सङ्गृहीतम् (?)।

अर्थात् वाणी के विषय में अवश्य प्रयास करना चाहिए, क्योंकि उसे नाट्य का शरीर कहा गया है। नाट्य के अन्य अङ्ग जैसे आङ्गिक, आहार्य (नेपथ्यज) और सात्त्विक अभिनय वाणी के अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं।

इसलिए चतुर्विध अभिनयों में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत पाठ्य का समावेश होने पर भी प्रधानता के कारण उसका अलग से उपादान (ग्रहण) किया गया है। वह पाठ्य ऋग्वेद से लिया गया है। त्रैस्वर्य प्रधान अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन तीन स्वरों से युक्त उस ऋग्वेद के स्तोत्र, शास्त्र के द्वारा (पाठान्तर से स्तोत्र शब्द के द्वारा) यज्ञ में उपकारी होने से (त्रैस्वर्योपेत पाठ्य को लिया)। पाठ्य भी तीन स्वरों से युक्त होता है, पाठभेद से सात स्वरों से युक्त होता है। एक स्वर होने पर काकु (भिन्न कण्ठध्वनि) का आभास होने से (और स्वरादि में एकस्वभाव होने से) गीतरूपता आ जायगी, यह आगे कहेंगे। कुछ संस्करणों में **'एकस्वर्यैकत्वाभावाभ्यां स्वस्यादौ एकस्वभावाच्च स्वरादौ पाठ्ये गीतरूपापत्तेः। यतः स्वरा गीतस्वरूपा इति हि वक्ष्यामः'** पाठ मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ होगा ऐकस्वर्य और एकत्व का अभाव होने से स्वरादि में एक स्वभाव होने से पाठ्य में गीत रूपता आ जायगी। क्योंकि स्वर गीत रूप है, यह आगे कहेंगे। भाव यह कि पाठ्य व्यक्त उच्चारण रूप है। भिन्न-भिन्न लोगों के उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार होने से उनमें एकस्वरता—एकरूपता नहीं होगी। इस प्रकार एकस्वरता तथा एकरूपता न होने से और स्वरों के एकस्वभाव होने से पाठ्य गीतरूप हो जायगा। इसलिए स्वरत्रय प्रधान ऋग्वेद से गृहीत पाठ्य भी त्रैस्वर्य-युक्त होगा।

पाठ्यगत स्वरों के प्रसङ्ग से पाठ्य के बाद सामवेद से गीत को ग्रहण किया, ऐसा कहा गया है। पाठ्य का उपरञ्जक होने से पाठ्य के बाद गीत का कथन करना उचित है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं! क्योंकि 'गीत नाट्य (प्रयोग) का प्राण है' यह

---

१. क-म. स्वर्यैकत्वाभावाभ्यां च स्वस्वादौ। स्वर्यादौ, स्वरस्यादौ स्वस्वियादौ (सा)।

२. क-म. चकारेणैकतुल्यकक्ष्यतामाह।

घनावनद्धरूपं तत सुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात् । सामगान-प्राणभूतक्रियाकाल[1] साम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्[2] (?) ।

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव प्रथमम् । लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्य-मनोवष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामाग्रहणम् । वाचिकस्त्व-भिनयः पूर्वमेवोक्तः । पठिष्यति 'या ऋचः पणिका[3] ' (३२-२) इत्यादि ।

आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राष्टुदवैषु-ण्णाद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनाऽवधानग्रहणादिना प्राधान्यवि (न्यात् वि) भावानां धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसतां समाहरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति न तटस्था एवंते । अत एव रस्यन्ते । तत्रैव च रस्यन्त इति हि वक्ष्यामः ।

आगे कहा जायगा । रस चर्वणा (रस का आस्वादन) गीत के अधीन है, अतः उसका यहाँ कथन करना उचित है, यह हमारे उपाध्याय (गुरु) भट्टतौत का मत है । चकार से दोनों की तुल्यकक्ष्यता (समानरूपता) कही गई है । एवकार से सूचित किया गया है कि सामवेद से केवल गीत का ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'गीति की साम संज्ञा है, इस न्याय से ('गीतिषु सामाख्या' इति न्यायात्) । इस गीत के आधार रूप ध्रुवा, पद-संयोजन ऋग्वेद से लिया गया है, यह दिखलाते हैं । उसी ध्रुवाध्याय के कथन के अनुसार यहाँ भी सङ्ग्रह किया गया है ।

धन (झांस आदि) और अनवद्ध (मृदङ्ग आदि) रूप तथा तत (वीणा आदि) एवं सुषिर (वांसुरी) आदि वाद्य भी स्वरों की प्रधानता के कारण सामगान के प्राणभूत और क्रियामान रूप, कालरूप, ताल और उसके साम्यरूप लय-सामान्य का समावेश भी इस गीत में हो जाता है । अर्थात् सामगान के प्राणभूत घन, अवनद्ध, तत, सुषिर आदि वाद्यों तथा सामान्य रूप से स्वीकृत क्रिया, काल, ताल, लय आदि का भी इसी गीत में समावेश किया गया है ।

अध्वर्यु कर्मप्रधान यजुर्वेद में प्रदक्षिणा, गमन आदि के क्रम में आङ्गिक क्रियाऐं (अङ्ग-कर्म के) होने से आङ्गिक अभिनय का, लाल पगड़ी आदि धारण करने से नेपथ्य अर्थात् आहार्य अभिनय का, उन-उन कर्मों में विशेष प्रयत्न करने वाले पुरुषों के द्वारा विहित धैर्य आदि मानसिक व्यापार के कारण सात्त्विक अभिनय का ग्रहण सम्भव होने से उस यजुर्वेद से अभिनयों का ग्रहण किया गया है । वाचिक अभिनय तो पहिले ही बताया जा चुका है ।

---

१. ङ—कल्प ।

२. क. पुस्तके 'घतावनद्धरुपिसामगानक्रियाप्राणभूतकालसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृत-मत्रैव प्रविष्टम् (?) इति पाठः ।

३. क-भ. पाणिगाः ।

तदेवं नाट्यादिरूपकोपक्रमं गीतातोद्यप्राणाभिनयवर्गपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाट्यम् । ततस्तद्व्युत्पत्तिरिति नाट्यमेव वेद इति क्रमेण प्रदर्शितम् । तेनाक्रम्य योजनात्मकनियोगात्मकशासनप्राणशास्त्रवैलक्षण्येन स्वयमुपारूढज्ञानाभिधानविदः प्राणवेदरूपता [1]नाट्यस्यैवेति सिद्धम् ॥१८॥

अथर्ववेद में तो शान्तिक एवं मारण आदि कर्मों में नट के समान उस अथर्ववेद के ऋत्विक् के प्रसाद एवं विषाद (पाठभेद मानने पर शम एवं वेपथु) आदि अनुभावों का, प्रजा के शुभचिन्तन एवं शत्रु के मारणार्थ ग्रहण अर्थात् आलम्बन रूप विभावों का, वृति और प्रमोद रूप व्यभिचारी भावों का मुख्य रूप से संयोग (संग्रह) होने जाने के कारण विभावादि रूप सामग्री से रसात्मक चर्वणा हो सकती है। इसलिए अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया, यह कहा है। ये विभावादि तटस्थ रूप से प्रतीत नहीं होते हैं। इसलिए सामाजिक द्वारा आस्वादन किये जाते हैं। आस्वाद्यमान होने के कारण वे रस कहलाते है, यह बात आगे कहेंगे।

इस प्रकार पाठ्य आदि रूप से प्रारम्भ होने वाले (अथवा पाठभेद से नाट्य आदि रूपकोपक्रम से तथा पाठ्योपरञ्जक) गीत-वाद्य-प्रधान अभिनय वर्ग अर्थात् चार प्रकार के अभिनयों से परिपुष्ट होने वाले रस का आस्वादन रूप तथा परम आनन्द रूप ही नाट्य है और उस नाट्य के द्वारा सामाजिकों को पाठ्यादि का ज्ञान होता है, इसलिए नाट्य ही वेद (ज्ञान) है, यह क्रम से दिखाया गया है। इसलिए क्रम से रहित योजनात्मक (योजनारूप) तथा नियोगात्मक अर्थात् राजाज्ञारूप एवं शासनरूप शास्त्र से विलक्षण स्वयं (विना अध्ययन के अथवा विना श्रम के) उपारूढ़ प्राप्त होने वाले ज्ञान का अभिधायक अभिधान करने वाला नाट्य है और उस नाट्य की वेदरूपता स्वतः सिद्ध है ॥ १८ ॥

विमर्श—जग्राह पाठ्यमृग्वेदादिति—ऋग्वेद से पाठ्य को ग्रहण किया। पाठ्य शब्द का अर्थ है—स्पष्ट उच्चारण करना। अभिनवगुप्त के अनुसार काकु अध्याय में कहे जाने वाले स्वर, अलङ्कार आदि सामग्री की योजना से युक्त संवाद को 'पाठ्य' कहा गया है। यह पाठ्य उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों से युक्त होता है। सामान्यतः ऋग्वेद में तीन स्वर ही पाये जाते हैं। इसीलिए ऋग्वेद को **'त्रैस्वर्यप्रधान'** कहा गया है। अतएव त्रैस्वर्ययुक्त पाठ्य को त्रैस्वर्यप्रधान ऋग्वेद से लिया गया है। वेदोक्त उदात्तादि स्वरों को नाट्य में वर्ण कहा गया है। ये वर्ण चार हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित। इन चार वर्णो को पाठ्य में प्रयुक्त करना चाहिए। जैसा कि कहा है—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा ।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः ॥

१. क-म. नाट्यवेदस्यैवेति स्थितम् ।

काकु—भिन्न प्रकार की कण्ठध्वनि को 'काकु' कहते हैं—

भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते ।

सामभ्यो गीतमेव च—सामवेद से गीत लिया गया है। पहिले ऋग्वेद से पाठ्य लिया; तदनन्तर सामवेद से गीत लिया गया। पाठ्य के बाद गीत को ग्रहण करने के सम्बन्ध में तीन मत पाये जाते हैं। प्रथम मत है कि पाठ्य के प्रसङ्ग में स्वरों की चर्चा की गई है और गीत में स्वरों की प्रधानता है अर्थात् स्वर गीतरूप हैं। इसलिए पाठ्य के बाद गीत को ग्रहण किया गया है। दूसरे मत के अनुसार गीत पाठ्य का उपरञ्जक होता है अतः पाठ्य के बाद गीत का कथन किया गया है। तीसरे मत में गीत के द्वारा रस का आस्वादन होता है अर्थात् रसचर्वणा गीत के द्वारा ही होती है, अतः पाठ्य के बाद गीत का उपपादन किया गया है। भरत ने गीत को नाट्य की शय्या कहा है (**शय्या हि नाट्यस्य** वदन्ति गीतम्)। गीत और वाद्य के अच्छी तरह प्रयोग किये जाने पर ही नाट्य-प्रयोग सफल होता है। 'सामभ्यो गीतमेव च' इसमें उल्लिखित 'एव' पद से सूचित होता है कि सामवेद से गीत को ग्रहण किया है। गीत के आधारभूत ध्रुवा, पदयोजना तथा वाद्यादि उपकरणों को ऋग्वेद से लिया गया है। ध्रुवा का अर्थ वर्ण-विन्यास है। नाट्यशास्त्र के बत्तीसवें अध्याय में ध्रुवा का निरूपण किया गया है—

वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा यतयः पाणयो लयाः ।
ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्मात् तस्मात् ध्रुवाः स्मृताः ।

अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य, अलङ्कार, यति, पाणि, लय आदि निश्चित रूप से एक दूसरे को सम्बद्ध होने से 'ध्रुवा' कहलाते हैं। गीत में इन सब अङ्गों का ग्रहण ऋग्वेद से किया गया है। गीत के सहायक उपकरणों में वाद्यों का भी उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है—घन, अवनद्ध, तत और सुषिर।

घनं चैवावनद्ध च ततं सुषिरमेव च ।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥

इनमें कांस्य आदि धातुओं से निर्मित करताल आदि वाद्य 'घनवाद्य' कहे जाते हैं। चमड़े से मढ़े हुए मृदङ्ग आदि वाद्यों को 'अवनद्ध' वाद्य, तार से निर्मित वीणा आदि 'तत' वाद्य और फूँककर बजाये जाने वाले वांसुरी आदि वाद्यों को 'सुषिर' वाद्य कहते हैं। इनमें से घन वाद्य से गीत का माप होता है, तत और सुषिर वाद्यों से श्रुति, स्वर आदि के द्वारा गीत की उत्पत्ति होती है और अवनद्ध वाद्य रञ्जक होता है। ये सभी प्रकार के वाद्य गीत के सहायक हैं और इन वाद्यों का ग्रहण ऋग्वेद से किया गया है। गीतादि का क्रिया के द्वारा मान करने वाला काल 'ताल' कहलाता है। काल और क्रिया का साम्य 'लय' है। यह लय क्रिया की समाप्ति के बाद होने वाली विश्रान्ति है। अत एव क्रिया और काल में साम्य हो जाता है। इस प्रकार ताल, लय, क्रिया, काल आदि का गीत में समावेश किया गया है।

यजुर्वेदादभिनयानिति—यजुर्वेद से अभिनय ग्रहण किया गया है, क्योंकि यजुर्वेद यज्ञप्रधान है। यज्ञ में प्रदक्षिणा, गमन आदि आङ्गिक क्रियाएँ होती हैं। इन आङ्गिक क्रियाओं का करण आङ्गिक अभिनय का रूप है; क्योंकि वे क्रियाएँ एक विधि के अनुसार की जाती हैं। 'लोहितोष्णीकाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' अर्थात् लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् गमन करते हैं। यहाँ ऋत्विक् के वेश-भूषा का विधान है जिसे आहार्य अभिनय का रूप माना जा सकता है। यज्ञक्रिया में मन को समाहित करना पड़ता है, समाहित मन से ही सत्त्व का उदय होता है जिससे सात्त्विक अभिनय का ग्रहण होता है। इसीलिए यजुर्वेद से सात्त्विक आदि अभिनयों को ग्रहण किया गया है। पाठ्य, गीत आदि वाचिक अभिनय पहिले कहे जा चुके हैं।

'**रसानथर्वणादपीति**—अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया। अथर्ववेद में शान्तिक, पौष्टिक, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि कर्म बताये गये हैं। उनमें नट के समान अथर्ववेद का ऋत्विक् प्रजा की शान्ति एवं उनके हित के लिए शान्तिक कर्म करता है तथा शत्रु के मारण के लिए ग्रहण आदि कर्म करता है तो प्रशम, वेपथु आदि अनुभावों का तथा प्रजा और शत्रु रूप विभावों का और धृति, प्रमोद रूप व्यभिचारी भावों का एकत्र संयोग (समाहरण) होने से विभावादि सामग्री से रस की चर्वणा होती है। इसीलिए अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया, यह कहा गया है। रसानुभूति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। भट्टलोल्लट आदि आचार्य मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रस की उत्पत्ति मानते हैं और अनुकार्य रामादि के रूप का अनुकरण करने के कारण अनुकर्त्ता नट में उसकी प्रतीति मानते हैं। श्रीशङ्कुक के अनुसार रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है, सामाजिक नट की चेष्टाओं से उसमें रस का अनुमान करता है। भट्टनायक के मत में रस की निष्पत्ति न अनुकार्य राम में होती है और न अनुकर्त्ता नट में। रस की वास्तविक निष्पत्ति तो सामाजिक में होती है तटस्थ में नहीं। अभिनवगुप्त भट्टनायक के अनुसार सामाजिक में रस की अनुभूति मानते हैं। उनके अनुसार तटस्थ में रस की अनुभूति हो ही नहीं सकती। रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की चर्चा छठे अध्याय में विस्तार से की जायगी। यहाँ तो संक्षेप में यह कहना है कि रस आनन्दरूप है। गीत के श्रवण एवं नाट्य के अवलोकन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है जो ब्रह्मानन्द से बढ़कर है। यही आनन्द रस का आस्वादन है। सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग का ध्येय सामाजिक को रसास्वादन कराना है। नाट्यप्रयोग के द्वारा ही सामाजिक विभावादिरूप व्यञ्जक सामग्री से अभिव्यक्त विभावादि से विलक्षण अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्दमात्र स्वरूप रस का आस्वादन करता है। इस प्रकार सामाजिक ही रस का आस्वादन करता है, सामाजिक को ही रस की अनुभूति होती है। तटस्थ में तो रस की प्रतीति कथमपि सम्भव नहीं है। सामाजिक के द्वारा आस्वादन किये जाने के कारण ही शृङ्गारादि रस कहलाते हैं ॥ १८ ॥

[1]वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना[2] ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना ।। १९ ।।

एतदुपसंहरति—वेदोपवेदैरित्यादि । वेदा व्याख्याताः । वेदार्थानामुपकारकोऽर्थो वेद्यते येन स उपवेदात्मा । तद्यथा ऋग्वेदस्य मन्त्रार्थवादादिव्याख्यानोपनयनप्रजारक्षणप्रदर्शक आयुर्वेदः । यतो महात्मा ततः सर्ववेदी । सर्ववित्त्वाच्च तथाविधसृष्टिशक्तः । एवमित्युपसंहरन् प्रश्नत्रयं कृतोत्तरमिति दर्शयति । प्रयोजनस्याधिकारिणामङ्गानामङ्गाङ्गिभावस्य च निर्णीतत्वात् ।। १९ ।।

अनुवाद—इस प्रकार सभी वेदों के ज्ञाता महात्मा पूज्य ब्रह्माजी ने वेदों एवं उपवेदों से सम्बद्ध नाट्यवेद की रचना की ।। १९ ।।

अभिनव—इस प्रकार 'वेदोपवेदैः' इत्यादि कारिका के द्वारा उपसंहार करते हैं । वेदों की व्याख्या हो चुकी है । वेदों के अर्थ-ज्ञान में उपकारक अर्थ जिससे जाना जाय वह 'उपवेद' कहलाता है । जैसे मन्त्र एवं अर्थवाद आदि के व्याख्यान से ज्ञात होने वाले प्रजाओं के स्वास्थ्य-रक्षा के उपायों का प्रदर्शक (बोधक) आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है । क्योंकि ब्रह्माजी महात्मा हैं इसलिए सब कुछ जानने वाले सर्ववेदी हैं और सर्ववेदी (सर्ववित्) होने के कारण उस प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ हैं । 'एवं' इस पद से उपसंहार करते हुए तीन प्रश्नों का उत्तर हो गया, यह दिखा दिया । क्यों कि प्रयोजन, अधिकारी, अङ्ग तथा अङ्गाङ्गिभाव का निर्णय हो गया है ।। १९ ।।

विमर्श—**वेदोपवेदैरिति**—वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । वेदों के समान उपवेद भी चार हैं—आयुर्वेद धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद । प्रत्येक उपवेद एक-एक वेद से सम्बद्ध है । 'चरणव्यूह के अनुसार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद है, किन्तु सुश्रुत आदि आयुर्वेदाचार्य आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं, क्योंकि अथर्ववेद में आयुर्वेद के सभी अङ्गों का विवेचन पाया जाता है । किन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि यद्यपि ऋग्वेद में आयुर्वेद का विषय साक्षात् नहीं मिलता, तथापि मन्त्र, अर्थवाद आदि व्याख्यानों के द्वारा प्राप्त होता है । इसीलिए अभिनवगुप्त ने 'मन्त्रार्थवादादिव्याख्यानोपनीत' यह विशेषण दिया है । अन्य आचार्य अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्यवेद मानते हैं । आचार्य अभिनवगुप्त का मत यह है कि यहाँ तक भरतमुनि ने देवताओं द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों में से तीन प्रश्नों का उत्तर दे दिया ।। १९ ।।

---

१. क-म. वेदोपवेदसम्बन्धो । क-ठ. वेदोपवेदः ।
२. क-त. महर्षय। ।

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच[1] सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया सृष्टः[2] स सुरेषु [3]नियुज्यताम् ॥ २० ॥
कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः[4] ।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो[5] हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥ २१ ॥

एवं पितामहसदृशेन सर्वदा नाट्यवेदशरीररूपकनिर्माणे कविना भाव्यमिति प्रदर्श्य तत्र विभवयुक्तो विधेयनटजनश्च राजा प्रयोजयिता । भरतमुनिसदृशश्च सम्पन्नपरिवारः सर्ववित्प्रयोक्ता । [6]प्रयोजकमहोत्सवप्रायः प्रयोगकालः । क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेशकाः विगतरागद्वेषा मध्यस्थवृत्तयः निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवनयोग्यतोपेता अहितरसास्वादाः सामाजिका इत्येतत् पुराकल्पमुखेन दर्शयत्यध्यापन (ध्यायान्त) ग्रन्थेन—उत्पाद्य नाट्यवेदं त्वित्यादिना । राजैव प्रयोजयितुं शक्त इति तु शब्दः । इतिहासो दशरूपकम् ॥ २० ॥

अभिनव—इस प्रकार कवि को हमेशा नाट्यवेद के शरीररूप रूपकों के निर्माण में कवि को हमेशा पितामह के समान होना चाहिए यह दिखलाकर उनमें विभवयुक्त (सम्पत्तिशाली) और नटों पर शासन रखने वाला राजा प्रयोजक अर्थात् प्रयोग कराने वाला हो और भरतमुनि-सदृश सम्पन्न परिवार वाला, सर्ववित् अर्थात् सब कुछ जानने वाला सर्वज्ञ नट प्रयोग करने वाला प्रयोक्ता हो, प्रयोजक राजा के यहाँ होने वाले महोत्सव जैसा प्रयोग (अभिनय) का समय (होना चाहिए) क्रीड़ा के प्रस्ताव के बहाने उपदेश योग्य, राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ वृत्ति वाले, स्वच्छ हृदय रूपी स्वच्छ दर्पण में तन्मय होने की योग्यता से युक्त, रसास्वाद से आहित सामाजिक हो, इन सब बातों को पूर्वकालीन इतिहास द्वारा 'उत्पाद्य नाट्यवेद' इत्यादि से अध्याय की समाप्ति तक ग्रन्थ से दिखलाते हैं—

अनुवाद—नाट्यवेद का निर्माण करके ब्रह्मा ने सुरेश्वर इन्द्र से कहा—मैंने इतिहास (नाट्यवेद) की रचना की है । अब देवताओं के द्वारा उसका प्रयोग कराइये ॥ २० ।

अभिनव—राजा ही प्रयोग कराने में समर्थ है, यह बात 'तु' शब्द से बतलाया गया है । इतिहास से दशरूपक का ग्रहण होता है ॥ २० ॥

अनुवाद—जो कुशल अर्थात् ग्रहण, धारण करने में समर्थ, विदग्ध (पण्डित) और प्रगल्भ (धृष्ट) तथा थकान को जीतने वाला अर्थात् कभी न थकने वाला हो, उन्हीं को तुम्हें नाट्य नामक वेद को प्रयोग के लिए सौंप देना चाहिए ॥ २१ ॥

---

१. क-ज. ब्रह्मावोवत् सुरेश्वरम् । क-त. प्राह शक्रं पितामहः । २. ख. दृष्टः ।
३. निवेश्य । ४. क-त. जितक्लमाः ।
५. क-न. म. नाटचसंज्ञस्तु । ६. क-म. प्रयोजन ।

तच्छ्रुत्वा वचनं [1]शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[2] ।
प्राञ्जलिः [3]प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥२२॥
ग्रहणे धारणे ज्ञाने[4] प्रयोगे चास्य सत्तम ।
[5]अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि[6] ॥२३॥

कुशलाः । ग्रहणधारणयोग्याः । विदग्धाः । ऊहापोहसमर्थाः । प्रगल्भाः । परिषद्यभीरवः । जितश्रमाः । योग्याः समुचितदेहा अखिन्नकायाश्च ॥ २१ ।

ग्रहण इति पूर्वं गुरुमुखाद्ग्रहणम् । तस्याविस्मरणं धारणम् । ज्ञानमूहापोहविचारः । प्रयोगः पर्षदि प्रकटीकरणम् । चकारेण च तदुपयोगिगुणनिका व्यायामाभ्यासादिः । देवाः सुखभूयिष्ठत्वात् । स्वाम्यादेशात्कथमपि यदि प्रवर्तेरन् तत्पूर्णपर्यवसानत्वं दुर्लभमेतैरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अभिनव—कुशल अर्थात् ग्रहण और धारण करने के योग्य, विदग्ध अर्थात् ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करने में समर्थ, प्रगल्भ अर्थात् सभा में न डरने वाले, जितश्रम शब्द से योग्य, सुगठित शरीर वाले, कभी न थकने वाले लोगों का ग्रहण होता है ॥ २१ ॥

विमर्श—इस कारिका में अभिनेता के लिए कार्यकुशल होना, पाण्डित्य, सभा में निर्भीकता और थकान न होना ये चार गुण बताये गये हैं ॥ २१ ॥

अनुवाद—ब्रह्मा ने जो कहा, उस वचन को सुनकर भगवान् इन्द्र ने हाथ जोड़कर तथा प्रणत होकर ब्रह्मा जी से कहा ॥ २२ ॥

अनुवाद—हे भगवन् ! इस नाट्यवेद को ग्रहण करने में (समझने में) धारण करने में, जानने में (ज्ञान में) और प्रयोग (अभिनय) करने में देवता लोग असमर्थ हैं और नाट्यकर्म में अयोग्य हैं ॥ २३ ॥

अभिनव—'ग्रहण' इस पद से 'पहिले गुरु के मुख से उपादान अर्थात् गुरु के मुख से विद्या को ग्रहण करना', धारण पद से उस विद्या को न भूलना, 'ज्ञान' पद से तर्क-वितर्क के साथ विचार करना; प्रयोग पद से परिषद् अर्थात् सभामण्डप में उसे प्रदर्शित करना अर्थ सूचित होता है। 'चकार के द्वारा गुरु से अधीत विद्या का बार-बार आवृत्ति करना (दुहराना), तथा व्यायाम, अभ्यास करना आदि ग्रहण होता है। देवता लोग सुख-बहुल होने के कारण स्वामी के आदेश से यदि किसी प्रकार नाट्य में प्रवृत्त भी हो जांय, तो उनके द्वारा पूर्ण समाप्ति होना दुर्लभ है, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ॥ २३॥

---

१. ख-ग. भगवान् शक्रो । २. क-न. त. म. समुदाहृतम् ।
३. क-न. म. विनयात्प्राञ्जलिः । ४. क-ब. चैव ।
५. क-त. न. शक्ता भगवन् देवा न यो । ६. क-प. नाट्यकर्मसु ।

य इमे वेदगुह्यज्ञा [1]ऋषयः [2]संशितव्रताः ।
[3]एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा ॥ २४ ॥

तर्हि किं क्रियतामित्याह—य इम इति । वेदज्ञा इति ग्रहणधारणसामर्थ्यम् । गुह्यज्ञत्वेनाध्यात्मोपनिषदर्थवेदनधारणकौशलेन रसाद्युपयोगिसात्त्विकसम्पादित-सामर्थ्यम् । यद्वक्ष्यति—"सत्त्वं मनःप्रयत्ननिर्वर्त्यम्" इत्यादि । तेन—

न्यस्येत्प्राणं भ्रुवोर्मध्ये स्तम्भो बाष्पश्च चाक्षुषः ।
स्वेदो हृदि गुदे कम्पः पुलको मूर्ध्नि वक्त्रतः ॥
ववर्ण्यं स्वरितं कण्ठे प्रलयो नासिकान्तरे ॥

इत्यादियोग्यत्वं तेषाम् । अत एवानुषङ्गतो नटस्यापि परमपुरुषार्थलाभो धारणादिवशात् । ऋषय इति । दर्शा(र्शना)दृषिरिति । ऊहापोहयोग्याः । संशितव्रता इति । अभ्यासे शक्ताः । तथेति । ग्रहणादीनामार्थक्रमः प्रदर्शनीय इत्यर्थः । इम[4] इति प्रत्यक्षेणैव दृष्टमेषां तदिति दर्शयति ॥ २४ ॥

अनुवाद—जो ये वेद के रहस्य को जानने वाले तथा प्रशंसित (उत्तम) वृत्त को धारण करने वाले ऋषिगण हैं, ये ही इस नाटयवेद को ग्रहण करने, धारण करने और प्रयोग (अभिनय) करने में समर्थ हैं ॥ २४ ॥

अभिनव—तो फिर क्या करें ? इस पर कहते हैं—'जो ये' इत्यादि । 'वेदज्ञा' अर्थात् ग्रहण और धारण करने में समर्थ है । 'गुह्यज्ञत्व' के द्वारा अध्यात्म-परक उपनिषदों के अर्थ को समझने और धारण करने में कुशल होने से रसादि के उपयोगी सात्त्विक भावों के अभिनय करने का सामर्थ्य गृहीत होता है । जैसा कि आगे कहेंगे—'मन प्रयत्न से सम्पाद्य क्रिया को 'सत्त्व' कहते हैं' इत्यादि । इसलिए भृकुटियों के मध्य में प्राणों को स्थिर करे, इससे आँखों के आंसुओं का स्तम्भन, हृदय में स्वेद गुदा में कम्पन, मस्तक में पुलक, मुख से विवर्णता (मलिनता), कण्ठ में स्वरभेद नासिका के भीतर प्रलय अर्थात् नासिका के भीतर श्वांस रोकने से मूर्च्छा के अभिनय करने की योग्यता सिद्ध हो जाती है । इसलिए आनुषङ्गिक रूप से धारणा आदि के द्वारा नट को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । 'ऋषयः अर्थात् देखने से ऋषि कहलाता है तर्क वितर्क करने की योग्यता हैं । 'शंसितव्रताः' अर्थात् अभ्यास में समर्थ हैं 'तथा' इस पद से ग्रहण, धारण आदि का अर्थक्रम दिखलाना चाहिए' यह अर्थ अभिप्रेत है । 'इमे' पद से 'यह इनका प्रत्यक्ष रूप से देखा हुआ है, यह प्रदर्शित करते हैं ॥ २४ ॥

---

१. ख. घ. मुनयः ।
२. ख. संश्रितव्रताः । क-प. त. ब्रह्मसम्भवाः । क-न. ब्रह्मवादिनः ।
३. ङ. एते सङ्ग्रहणे । प. त. ते ह्यस्य । ज. म. एतस्य ।
४. क-न. इदमिति ।

[1]श्रुत्वा तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः ।
त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्ताऽस्य भवानघ ॥ २५ ॥
आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
[2]पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः ॥ २६ ॥

श्रुत्वा त्विति । मां त्विति तु शब्देन ऋषिभ्योऽप्यन्येभ्योऽस्य विशेषमाह । ब्रह्मैव मामाहेत्यादरातिशयः । पुत्रशतयोगाद्य (द) न्योन्यप्रवर्तितबहुतरपरिवारयोगः । अनघेत्यध्येषणया सोत्साहपरिषदा कृतसम्मानस्य सम्यक्प्रयोगनिष्पत्तिरिति सूचितम् ॥ २५ ॥

आज्ञापित इत्यनुल्लङ्घनीयवचनताऽस्योक्ता । पितामहादित्यनाचार्योषितत्वाशङ्कां व्युदस्यति । प्रयुज्यत इति प्रयोगो दशरूपकम् । प्रयुज्यते निर्वर्त्यतेऽनेनेति प्रयोगः । नाट्यलक्षणशास्त्रम् । तदहं पुत्रान्पाठयाञ्चकार । प्रयुक्तिश्च प्रयोगः । तमध्यवसायपर्यन्तमहं पुत्रानध्यापयामास । तथाऽहं चकार यथा प्रयुक्तिं ते पुत्राः सम्यक्प्राप्तवन्त इत्यर्थः । चापिशब्दाभ्यां सूचिते द्वे द्वे आवृत्ती । मुनिसमुचितकर्तव्यान्तरव्यासङ्गोऽपि लिटा सूचितः । तत्त्वत इति नाट्याचार्यस्य सम्यगाप्तत्वं गम्यते ॥ २६ ॥

अनुवाद—इन्द्र के वचन को सुनकर ब्रह्माजी ने मुझसे कहा कि—हे अनघ ! तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस नाट्य का प्रयोक्ता बनो अर्थात् अपने सौ पुत्रों के साथ अभिनय करो ॥ २५ ॥

अभिनव—'श्रुत्वा तु' इत्यादि । 'मां तु' में तु शब्द से अन्य ऋषियों से इनकी (भरतमुनि की) विशेषता कही गई है । 'ब्रह्मा ने ही मुझसे कहा' इससे आदरातिशय सूचित होता है । सौ पुत्रों के सम्बन्ध से परस्पर प्रवर्त्तित बहुत बड़ा परिवार सूचित होता है । 'अनघ' कहने से आदरपूर्वक की गई प्रेरणा से उत्साह से युक्त परिषद् के द्वारा सम्मानित नटों के द्वारा अच्छी तरह प्रयोग (अभिनय) की निष्पत्ति होती है, यह सूचित किया है ॥ २५ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी के द्वारा आदिष्ट (आज्ञा पाया हुआ) मैंने पितामह से नाट्यवेद को जानकर उसको और उसके प्रयोग को अपने पुत्रों को ठीक-ठीक पढ़ाया ॥ २६ ॥

---

१. क-न. शक्रस्य वचनं श्रुत्वा । क-ठ. श्रुत्वेमम् ।
२. ख. पुत्रानध्यापयं योग्यान् । प्रयोगं चास्य तत्त्वतः
क-प. म. नान्ये धारणे योग्या। प्रयोगे वापि सत्तम ।
इत्युक्तोऽस्य प्रयोगस्य कुरु यत्नमतन्द्रितः ॥
आज्ञां विभोर्विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
सुतानध्यापयामास प्रयोगार्थी तदाज्ञया ॥
क—न. सुतानध्यायपयामास प्रयोगे वापि सत्तम ।

शाण्डिल्यं चैव[1] वात्स्यं[2] च कोहलं[3] दत्तिलं[4] तथा[5] ।
[6]जटिलाम्बष्टकौ चैव [7]तण्डुमग्निशिखं[8] तथा ॥ २७ ॥
सैन्धवं [9]सपुलोमानं [10]शाड्वलिं विपुलं[11] तथा ।
[12]कपिञ्जलिं बादिरं[13] च [14]यमधूम्रायणौ तथा ॥ २८ ॥
[15]जम्बुध्वजं [16]काकजङ्घं स्वर्णकं[17] तापसं तथा ।
कैदारिं[18] शालिकर्णं च दीर्घगात्रं च शालिकम् ॥ २९ ॥

अभिनव—'आज्ञापित' इस पद से ब्रह्माजी के वचन की अनुलङ्घनीयता सूचित होती है। 'पितामहान्' (पितामह से) इस पद से नाट्याचार्य न होने पर भी ब्रह्माजी तत्त्वविषयक शङ्का का निराकरण कर सकते हैं, यह सूचित होता है। कुछ संस्करणों में 'अनाचार्योषितत्त्वाशङ्कां व्युदस्यति' यह पाठ मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ होगा कि–आचार्य के पास बैठकर अध्ययन न करने की शङ्का का निराकरण हो जाता है। जिसका अभिनय (प्रयोग) किया जाय अथवा जो प्रयुक्त किया जाय वह प्रयोग दशरूपक है। जिसके द्वारा प्रयुक्त अर्थात् सम्पन्न किया जाय, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह प्रयोग नाट्यशास्त्र है। उसको मैंने पुत्रों को पढ़ाया। प्रयुक्ति ही प्रयोग है। उसे भी निश्चय अध्यवसाय-पर्यन्त मैंने पुत्रों को पढ़ाया अर्थात् मैंने पुत्रों को उस प्रकार पढ़ाया कि जिससे वे पुत्र प्रयोग को अच्छी तरह पा गये अर्थात् समझ लिए। 'च' और 'अपि' शब्दों के द्वारा दो-दो आवृत्तियाँ सूचित होती हैं। 'अध्यापयामास' में लिट् लकार के प्रयोग से यह सूचित होता हैं कि मुनियों के समुचित सन्ध्या-वन्दनादि कार्य में व्यासङ्ग था। 'तत्त्वतः' पद से नाट्याचार्य की पूर्ण आप्तता (प्रामाणिकता) व्यक्त होती है ॥ २६ ॥

---

१. ख. घ. चापि । २. क-न. वाद्यं । ३. ख. केहालं ।
४. ख. दन्तिलं क-प. धूर्त्तिलं । ५. क-म. मुनिम् । ६. ख. जटुला० ।
७. ख. ताण्डु । ज. म. त. ताण्डचं । ८. क-प. म. अग्निमुखं ।
९. क-त. पुलोमानं सैन्धवं च ।
१०. ख. शाड्वलीं । क-न. म. पाटलिम् । प. वालिकम् । ज. शाश्वलिम् ।
११. क-न. म. विबुधम् ।
१२. क-ज. त. कपिञ्जलं । न. त. यमं धूम्रायणं चैव कपिञ्जलमथापि च ।
१३. ख. बादरिं । १४. ख. बम ।
१५. क-म. बाण्कलम् । क-प. म. जम्बूध्वजं ।
१६. क-त. काकमद्रुमं । ख. कोकमुस्तं च ।
१७. पूर्णकं । १८. ख. केदारं ।

[1]कौत्सं [2]ताण्डार्यानिं चैव पिङ्गलं चित्रकं[3] तथा ।
बन्धुलं[4] भल्लकं[5] चैव मुष्टिकं[6] सैन्धवायनम् ॥ ३० ॥
तैतिलं[7] भार्गवं चैव शुचिं बहुलमेव च ।
[8]अबुधं बुधसेनं च [9]पाण्डुकर्णं सुकेरलम्[10] ॥ ३१ ॥
ऋजुकं[11] मण्डकं चैव शम्बरं[12] वञ्जुलं[13] तथा ।
मागधं सरलं[14] चैव कर्तारं चोग्रमेव[15] च ॥ ३२ ॥
तुषारं[16] पार्षदं[17] चैव गौतमं बादरायणम्[18] ।
विशालं[19] शबलं चैव [20]सुनाभं मेषमेव च ॥ ३३ ॥
कालियं[21] भ्रमरं चैव तथा पीठमुखं मुनिम् ।
[22]नखकुट्टाश्मकुट्टौ च षट्पदं सोत्तमं[23] तथा ॥ ३४ ॥
[24]पादुकोपानहौ चैव श्रुतिं[25] चाषस्वरं तथा ।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ[26] च वितण्ड्यं[27] ताण्ड्यमेव च ॥३५॥
कर्तराक्षं[28] हिरण्याक्षं कुशलं[29] दुस्सहं तथा ।
[30]लाजं भयानकं चैव बीभत्सं [31]सविचक्षणम् ॥ ३६ ॥

---

१. क-ज. कोत्सं । २. क-प. ताण्डचार्यानिं ।
३. ख. छत्रकं । भ. छत्रमेव च । ४. क-त. अन्धुकम् ।
५. क-प. वाष्कलम् । क-त. बालुकम् । ६. ख. मुष्टीकं ।
७. क-ख. तिन्तिलम् । ८. क-म. अम्बुधम् । ९. क-ज. पारकर्णम् । क-प. पाण्डुकर्णिम् ।
१०. ख. सकेरलम् । क-त. सतोरलम् । ११. क-ङ.त. ऋजुं कमण्डलुं । क-ज. मिश्रकं ।
१२. क-त. शावरं । प. शाम्बकम् । १३. क-ज. वचुलं ।
१४. प. सुरजम् । फ-त. तारणं । १५. प-न. चात्रिमेव च ।
१६. ख. तुषादं । १७. क-म. पार्वतम् । त. पर्वतं । भ. पांशलं ।
१८. ख. बादरायणिम् । १९. उदारिं वरुणञ्चैव वर्णिं हंसमेव च ।
२०. ख. सुनाली । २१. क-ज. त. कालेयं ।
२२. स. तरुकुट्टाश्मकुट्टौ च । २३. क-ङ. त. चोत्तमं । क-स. सप्तमं ।
२४. क-ज. पादुकौपानहौ । क-त. पानहोपानहौ ।
२५. प-ख. श्रुतिकं षट्स्वरं तथा । क-न. श्रुतिंच स्वरमेव च ।
२६. अश्मकुण्डौ च । २७. ख. विताण्डचं ।
२८. क-न. त. केकराक्षं । २९. क-न. नकुलं दुष्षहं तथा ।
३०. ख. जालं । क-प. त. जलं । ३१. क-फ. सुविचक्षणम् ।

[1]पुण्ड्राक्षं [2]पुण्ड्रनासं [3]चाप्यसितं सितमेव च[4] ।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं [5]शालङ्कायनमेव च ॥ ३७ ॥
[6]श्यामायनं माठरं च लोहिताङ्गं तथैव च ।
संवर्तकं [7]पञ्चशिखं त्रिशिखं [8]शिखमेव च ॥ ३८ ॥
शङ्खवर्णमुखं षण्डं[9] शङ्कुकर्णमथापि च ।
शक्रनेमिं गभस्तिं चाप्यंशुमालिं शठं तथा ॥ ३९ ॥
विद्युतं शातजङ्घं च रौद्रं[10] वीरमथापि च ।
पितामहाज्ञयाऽस्माभिर्लोकस्य च गुणेप्सया[11] ॥ ४० ॥
[12]प्रयोजितं पुत्रशतं यथाभूमिविभागशः ।
[13]यो यस्मिन्कर्मणि यथा[14]योग्यस्तस्मिन् स योजितः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—१. शाण्डिल्य २. वात्स्य ३. कोहल ४. दत्तिल ५. जटिल ६. अम्बष्ट ७. तण्डु ८. अग्निशिख या अग्निमुख ९. सैन्धव १०. पुलोमन् ११. शाड्वलि १२. विपुल १३. कपिञ्जलि १४. वादिर या बादरि १५. यम १६. धूम्रायण १७. जम्बुध्वज १८. काकजङ्घ १९. स्वर्णक २०. तापस २१. कैदारि २२. शालिकर्ण २३. दीर्घगात्र २४. शालिक २५. कौत्स २६. ताण्डायनि २७. पिङ्गल २८. चित्रक २९. बन्धुल ३०. भल्लक ३१. मुष्टिक ३२. सैन्धवायन ३३. तैतिल ३४. भार्गव ३५. शुचि ३६. बहुल ३७. अबुध ३८. बुधसेन ३९. पाण्डुकर्ण ४०. सुकेरल ४१. ऋजुक ४२. मण्डक ४३. शम्बर ४४. वञ्जुल ४५. मगध ४६. सरल ४७. कर्त्ता ४८. उग्र ४९.

---

१. ख. पुण्ड्राक्षं । २. ख. पूर्णनासं ।
३. ख. ग. घ. च. असितं । क–प. असितमसितमेव च ।
४. क. त.पुस्तके—किरीटिनश्च माषं च तथा धन्विनमेव च ।
शिलापट्टं स्वर्णगुञ्जं शिलाशिनमथापि च ॥ ३६ ।
अग्निवेशं शिवञ्चैव ध्यानं जप्यं सुमङ्गल ।
जैशिषव्यं कुण्डिनं च तथा कलशमेव च ।
विद्धाक्षं घूर्णनासं चाप्यसितं सितमेव च ॥ इत्यधिकं दृश्यते ।
५. ख. सालङ्कायनमेव । ६. ख. त्यामायनं ।
७. क–ठ. पञ्चसखं । ८. क–ज. शिखिमेव । क–ठ. शिखरमेव ।
९. क–ज. खण्डं । इदं पंक्तिद्वयं 'त' पुस्तके नास्ति ।
१०. ख. रौद्रवीरमथापि च । ११. अयं श्लोक। 'त' पुस्तके नास्ति ।
१२. क-ङ. त. एवमाद्यं पुत्रशतं समग्रं भूरिभागशः । न-एवमादि शतं पूर्णं समग्रं भूरिभागशः
१३. क त. यस्मिन् कर्मणि यो योग्यस्तस्मिन् स विनियोजितः । १४. ख. तथा ।

पुत्रान्नामभिर्दर्शयति—शाण्डिल्यमित्यादिना। अत्र प्रसिद्धत्वं[1] नटानामादरकारणमिति तावन्मुख्यं नामग्रहणे प्रयोजनम्। आनुषङ्गिकं त्वन्यदपि। तद्यथा विदूषकतापसादिनाम्नां तलाकमीनां। (तथार्कमिणां) निर्वचनलब्धार्थयुक्त्या भूमिकाविशेषोपयोग इति। अन्यस्त्वाह—शतमेवेह पठितम्। कञ्चना[2] (तच्चा) भिनेयानां स्थाय्युत्पादनरसनवकतद्गतव्यभिचारित्रयस्त्रिंशत्सात्त्विकाष्टकानुरूपाणां पञ्चाशतोऽर्थानां न्याय्यान्याय्यभेदेन नायकप्रतिनायकविषयतया प्राधान्याभिप्रायेणेति। तत्र तु 'कैशिक्यपि[3] प्रयुक्ता स्यात्' इत्युत्तरग्रन्थावकाशाभाव इत्यलमाभिरसहृदयाभिनिवेशव्याख्याभिः।

तुषार ५०. पार्षद ५१. गौतम ५२. वादरायण ५३. विशाल ५४. शबल ५५. सुनाभ ५६. मेष ५७. कालिय ५८. भ्रमर ५९. पीठमुख ६०. मुनि ६१. नखकुट्ट ६२. अश्मकुट्ट ६३. षट्पद ६४. उत्तम ६५. पादुक ६६. उपानह ६७. श्रुति ६८. चाषस्वर ६९. अग्निकुण्ड ७०. आज्यकुण्ड ७१. वितण्ड्य ७२. ताण्ड्य ७३. कर्त्तराक्ष ७४. हिरण्याक्ष ७५. कुशल ७६. दुःसह ७७. लाज ७८. भयानक ७९. बीभत्स ८०. विचक्षण ८१. पुण्ड्राक्ष ८२. पुण्ड्नास ८३. असित ८४. सित ८५. विद्युज्जिह्व ८६. महाजिह्व ८७. शालङ्कायन ८८. श्यामायन ८९. माठर ९०. लोहिताङ्ग ९१. संवर्त्तक ९२. पञ्चशिख ९३. त्रिशिख ९४. शिख ९५. शंखवर्णमुख ९६. षण्ड ९७. शङ्कुकर्ण ९८. शक्रनेमि ९९. गभस्ति १००. अंशुमाली १०१. शठ १०२. विद्युत १०३. शतजङ्घ १०४. रौद्र १०५. वीर इन सौ पुत्रों को पितामह की आज्ञा से और संसार की गुणग्राहिणी अभिलाषा से मैंने भूमिका का विभाग करके सौ पुत्रों को नियुक्त किया और जो जिस कार्य के योग्य था उसे उसी कार्य में लगा दिया ॥ २७-४१ ॥

अभिनव—पुत्रों के नाम दिखलाते हैं। इनमें प्रसिद्ध होने के कारण नटों का आदर करना ही नाम-ग्रहण का मुख्य प्रयोजन हैं। गौण प्रयोजन तो अन्य भी हो सकते हैं। वह जैसे उस प्रकार के कर्म करने वाले विदूषक, तापस आदि नामों के निर्वचन से प्राप्त अर्थ की युक्ति से भूमिका विशेष के लिए उपयोग होता है।

दूसरे व्याख्याकार कहते हैं कि यहाँ सौ पुत्रों के नाम ही पढ़े गये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि कहीं अभिनेय अर्थात् अभिनय के योग्य स्थायीभाव से उत्पादित नौ रस, उनसे सम्बद्ध तैंतीस व्यभिचारिभाव और आठ सात्त्विकभाव कुल ९ + ३३ + ८ = ५० अर्थों के उचित और अनुचित भेद से नायक गत ५० और प्रतिनायक गत ५० कुल ५० × २ = १०० अर्थों की प्रधानता के अभिप्राय से १०० पुत्र गिनाये गये हैं। किन्तु उन सौ अर्थों में कौशिकी का भी समावेश हो जाने से कौशिकी-विषय उत्तर (अगले) ग्रन्थ के लिए अवकाश (अवसर) ही नहीं मिलेगा, इसलिए सहृदयों के अभिनिवेश से रहित अर्थात् असहृदयता-द्योतक व्याख्याओं से क्या लाभ ?

---

१. प्रसिद्धत्वान्न।　　२. क–भ. कश्चा।

३. क–भ. कौशिक्येषा।

यस्मिन्निति। उत्तमप्रकृतिविचेष्टितादौ। यथेति। कश्चित् तदीयहृदय-हर्षप्रदर्शनप्रकारेण योग्योऽन्यस्तदीयशोकप्रकटीकरणेनेति ॥ २७-४१ ॥

'यस्मिन्' (जिसमें) इस पद से उत्तम प्रकृति की चेष्टा आदि में, यह तात्पर्य है। 'यथा' पद से कोई अपने हृदय के हर्ष प्रकाशन के प्रकार योग्य है और दूसरे अपने शोक प्रकाशन के प्रकार से योग्य है ॥ २७-४१ ॥

विमर्श—नाटचशास्त्र में भरतमुनि के १०० पुत्र बताये गये हैं किन्तु गणना में १०५ पुत्र हैं। इनमें से कुछ नाम कल्पित प्रतीत होते हैं। बड़ौदा संस्करण में ३६ और ३७ वें श्लोक के मध्य में निम्नलिखित श्लोक अधिक मिलते हैं—

किरीटिनञ्च माषञ्च तथा धन्विनमेव च।
शिलापट्टं स्वर्णगुञ्जं शिलाशिनमथापि च ॥
अग्निवेशं शिवञ्चैव ध्यानं जप्यं सुमङ्गलम्।
जैषिषव्यं कुण्डिनञ्च तथा कलशमेव च ॥
विद्धाक्षं घूर्णनासञ्चाप्यसितं सितमेव ॥

अर्थात् १—किरीटी २—माष ३-धन्विन ४—शिलापट्ट ५—स्वर्णगुञ्ज ६—शिलाशिन् अथवा शिलालिन् ७—अग्निवेश ८ शिव ९—ध्यान १०—जय ११—सुमङ्गल १२—जैशिषव्य १३—कुण्डिन १४—कलश १५-विद्धाक्ष १७-घूर्णनास १७-असित और १८-सित। ये अठारह नाम अधिक मिलते हैं। यदि इन नामों को सम्मिलित कर लिया जाय तो भरतपुत्रों की संख्या १२३ हो जाती है। किन्तु इनमें से दो नाम असित और सित पूर्वकथित १०५ नामों में आगये हैं, अतः ये पुनरुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार भरत पुत्रों की संख्या बढ़ जाती है। अतः आचार्यों ने इन श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। शारदातनय ने भरत के पाँच पुत्रों का उल्लेख किया है। नाटचशास्त्रोक्त भरतपुत्रों की सूची में कुछ नाम बहुत प्राचीन है जो भरत के बहुत पहिले हो चुके हैं, कुछ विभिन्न काल के ऋषियों मुनियों के नाम हैं और कुछ कल्पित हैं। ऐसा लगता है कि जैसे बल्लालसेन ने ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक के समस्त कवियों को भोज के दरबार में लाकर बैठा दिया है उसी प्रकार नाटचशास्त्र में प्राचीन-नवीन अनेक प्रकार के ऋषियों, मुनियों, आचार्यो एवं थोड़ा-बहुत नाटच से सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों को भरतपुत्रों में सम्मिलित कर दिया गया और कुछ कल्पित नाम भी जोड़ दिये गये। जैसे पादुक, उपानह, चाषस्वर, विद्युत, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, षण्ड आदि नाम कल्पित प्रतीत होते हैं उनमें से कोहल, दत्तिल, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट, बादरायण, शातकर्णि, शालङ्कायन, शाण्डिल्य, वात्स्य, तण्डु, कौत्स, पिङ्गल, भार्गव आदि ऐतिहासिक पुरुष प्रतीत होते हैं। क्योंकि ये नाम आचार्यों एवं कवियों द्वारा अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भरतपुत्रों के १०० नामों की कल्पना अभिनय के योग्य अर्थो के आधार पर की गई है। ९ रस, ३३ व्यभिचारीभाव

भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा ।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया[1] द्विजाः ।। ४२ ।।

अथ सकलप्रयोगप्राणभूतकैशिक्युपयुज्यमानोपकरणान्तरसंहरणायोप क्रमं[2] दर्शयति भारतीमित्यादि ।

वृत्तिमिति । धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टये साध्ये वागङ्गसत्त्वचेष्टासामान्यम् । तच्च संक्षिप्तेनावान्तरभेदेन चतुर्धा[3] । यद्यत्किल कर्मारभ्यते तत्र वाङ्मनःकायव्यापारस्तावदस्ति । तत्र कस्यचिल्लालित्यवैचित्र्यक्रमस्यानुप्रवेशः । यत उत्तमप्रकृतीनां सौष्ठवमय एव सर्वो व्यापारः । तदेव तद्वृत्तिचतुष्टयम् ।

और ८ सात्त्विक भाव ये मिलकर अभिनय के ५० अर्थ हैं। ये क्रमशः नायकगत ५० और प्रतिनायकगत ५० इस प्रकार कुल १०० होते हैं। इन्हीं के आधार पर १०० पुत्रों की कल्पना की गई है। यद्यपि अभिनेय अर्थ और भी होते हैं किन्तु प्रधानता की दृष्टि से ये १०० ही प्रमुख अर्थ है। कुछ विद्वानों का मत है कि भरत के १०० पुत्र भरत के १०० शिष्य है। पुत्रों के समान प्रिय होने के कारण उन्हें पुत्र कहा गया है। मेरा विचार है कि भरत का परिवार बहुत बड़ा था। भरत नट को भी कहते हैं उनमें भरत के पास नाटय की शिक्षा ग्रहण करने वाले बहुत से शिष्य थे। उनमें पुत्र, भतीजे, सम्बन्धी, शिष्य सभी थे। उनमें पुत्रों भी संख्या अधिक थी। भरत सभी को पुत्रवत् प्यार करते थे, इसीलिए प्रमुखता के कारण सभी को पुत्र कह दिया होगा ।। २७-४१ ।।

अभिनव—इसके बाद समस्त प्रयोगों की प्राणभूत कौशिकी वृत्ति में प्रयुक्त होने वाले अन्य उपकरणों के संग्रह के लिए उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—हे द्विजों ! मैंने भारती, सात्त्वती और आरभटी वृत्तियों पर आश्रित प्रयोग अर्थात् अभिनय प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है ।। ४२ ।।

अभिनव—'वृत्ति' शब्द का प्रयोग व्यापार अर्थ में होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के सिद्धि में वाणी, अङ्ग, और सत्त्व (मन) की चेष्टाएँ सामान्य है। ये चेष्टाएँ संक्षिप्त अवान्तर भेद से चार प्रकार की होती हैं। क्योंकि जो-जो कार्य आरम्भ किया जाता है उसमें वाणी, मन एवं शरीर के व्यापार तो होते ही हैं। उनमें किसी के लालित्य एवं वैचित्र्य क्रम का समावेश होता है। जिस कारण से उत्तम प्रकृति के पुरुषों का सारा व्यापार सौन्दर्यमय हो जाता है। वही वे चार वृत्तियाँ हैं।

---

१. ख. क-म. भ. तदीय ।
२. ङ. संभरणायोपक्रमं । क-भ. संहारायोपक्रमं ।
३. क-भ. चतुर्धा च शुद्धम् ।

भारती वाग्वृत्तिः। मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती। सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम्। तद्यत्रास्ति तत्सत्त्वं मनः। तस्येयमिति। '[1]इर्यति' इत्यरा भटाः सोत्साहा अनलसाः। तेषामियमारभटी [2]कायवृत्तिः। केशाः किञ्चिदप्यर्थक्रियाजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः। तद्वत्सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कौशिकी वृत्तिरिति तावन्मुख्यः क्रमः। अन्यस्य तु यस्तद्व्यपदेशः स तत्प्रधानत्वादनेकरसप्रधानं पानकरीत्या कैशिकीत्यादि मधुरव्यपदेशवत्। एतच्च [3]प्राग्रेवितनिष्यामः।

एवं यत्किञ्चिल्लालित्यं तत्सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्। सा च तैः प्रयोक्तुमशक्येति तुशब्देनोक्तम्। तेन दशरूपं सर्वं बैचित्र्यशून्यं तान्प्रति योजितम्। अत एव तादृशे प्रयोगेऽवज्ञां बै शब्देन द्योतयति। प्रयुक्त इति। तेषामभ्यासभूमौ योजित इत्यर्थः॥ ४२॥

उनमें भारती वृत्ति वाणी का व्यापार है। मनोव्यापार रूप अर्थात् मानसिक व्यापार रूपा सात्त्विकी सात्त्वती वृत्ति कहलाती है। 'सत्' यह प्रख्यारूप अर्थात् वृत्तिरूप ज्ञान का नाम है। वह जिसमें होता है वह सत्त्व मन है। उसकी यह वस्तु सात्त्वती वृत्ति है। 'इयृति इति अराः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो गतिशील हैं, क्रियाशील हैं वे अर (भट) कहलाते हैं। वे उत्साहयुक्त एवं आलस्य-रहित भट 'अर' हैं। उनकी यह वृत्ति (व्यापार) आरभटी शारीरिक व्यापाररूप है।

केश किसी कार्य को न करने वाले केवल शरीर के सौन्दर्य के उपयोगी हैं। उनके समान सौन्दर्य के उपयोगी व्यापार को 'कौशिकी' वृत्ति कहते हैं। यह मुख्य क्रम है। अन्य का जो वह व्यपदेश है वह उसकी प्रधानता के कारण अनेक रसों से युक्त पानक रस के मधुर व्यवहार के समान है। इस बात को आगे विस्तार से कहेंगे।

इस प्रकार नाट्य में जो कुछ लालित्य है वह सब कौशिकी वृत्ति का ही विजृम्भण (परिणाम) है। उस वृत्ति का उनके द्वारा प्रयोग किया जाना असम्भव है, यह 'तु' शब्द से कहा है। इसलिए उनके प्रति प्रस्तुत किया गया समस्त दशरूपक वैचित्र्य-शून्य (चमत्कार-रहित) था। इसलिए उस प्रकार के प्रयोग में अनादर भाव (अवज्ञा) 'वै' शब्द से द्योतित होता है। 'प्रयुक्त किया' इससे अभ्यास भूमि में प्रयुक्त किया अर्थात् प्रयोग करके दिखाया, यह ध्वनित होता है॥ ४१॥

विमर्श— नाट्यशास्त्र में 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग व्यापार अर्थ में किया गया है (व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः)। भरत के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार का नाम 'वृत्ति' है। इसी को आनन्द व्यवहार और अभिनवगुप्त नायक का चेष्टा-व्यापार मानते हैं। ये वृत्तियाँ चार हैं—भारती, आरभटी, सात्त्वती और कैशिकी।

१. क–म. इयतीत्यार। २. क–म. काचनवृत्तिः। ३. क–म. भ. प्रागेव।

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ॥ ४३ ॥
यच्च तस्याः[1] क्षमं द्रव्यं तद्ब्रूहि द्विजसत्तम ।
एवं [2]तेनास्म्यभिहितः [3]प्रत्युक्तश्च मया प्रभुः ॥ ४४ ॥

क्षममिति प्रयोगसमर्थं सादरविचित्रं प्रयुङ्क्ते । अत एवाह—द्रव्यम् । सुन्दरम् । यतः सौन्दर्यप्राणैव सा । एवमिति । बुद्धिकौशलं मदीयं ज्ञातुं तेनाहमेतत्पृष्टः । चकारेण प्रत्युत्पन्नप्रतिभानत्वं दर्शयति । अनेन झटिति कविहृदयग्रहणयोग्यत्वं नाट्याचार्यगुण इति सूचयति । (४३-४४)

इनमें भारती वृत्ति वाक्व्यापार प्रधान होती है अर्थात् वाचिक व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं । शारीरिक व्यापार को आरभटी वृत्ति कहते हैं । सात्त्वती वृत्ति सत्त्व से सम्बद्ध है । सत्त्व मन को कहते हैं । अतः सत्त्व से सम्बद्ध मनोव्यापार रूप सात्त्विकी वृत्ति सात्त्वती कहलाती है । इन तीन प्रकार के व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य का आधान करनेवाला एक विशेष व्यापार होता है, उस सौन्दर्याधायक विशेष व्यापार को कौशिकी वृत्ति कहते है । इसमें सुकुमार वेष-विन्यास स्त्रीपात्रों एवं नृत्यगीतादि की बहुलता एवं स्त्री पुरुष के सौन्दर्योपयोगी शृङ्गारिक व्यापार होते हैं इस कैशिकी वृत्ति का प्रयोग ऋषि लोग नहीं कर सकते । यह स्त्रीपात्रों द्वारा ही प्रयुक्त किया जा सकता है ॥ ४२ ॥

नोट—वृत्तियों का विवेचन नाट्यशास्त्र के २२ वें अध्याय में विस्तार से किया जायगा ।

अनुवाद—इसके बाद ब्रह्माजी के पास जाकर और प्रणाम करके मैंने उनसे निवेदन किया । ब्रह्माजी ने मुझसे कहा कि कैशिकी वृत्ति की भी योजना कीजिए । हे द्विजसत्तम ! उसकी योजना के लिए जो द्रव्य अपेक्षित हो, इसे बताइये । इस प्रकार ब्रह्माजी ने कहा । तब मैंने ब्रह्माजी से कहा कि—'हे भगवन् ! कैशिकीवृत्ति के सम्यक् (अच्छी तरह) प्रयोग के लिए द्रव्य दीजिये ॥४३-४४ ॥

अभिनव—'क्षमम्' अर्थात् प्रयोग में समर्थ । आदर के साथ विचित्र प्रयोग (अभिनय) करता है, इसलिए ब्रह्मा ने 'द्रव्य' कहा अर्थात् सुन्दर वस्तु । क्योंकि वह वृत्ति सौन्दर्य प्राण है अर्थात् सौन्दर्य ही कैशिकी वृत्ति का प्राण है । 'एवम्' पद से यह अभिप्राय है कि मेरे बुद्धिकौशल को जानने के लिए उन्होंने मुझसे यह पूछा । चकार से प्रत्युत्पन्नमतित्व प्रदर्शित करते हैं । इससे शीघ्र ही कवियों के हृदय को समझ लेने की योग्यता नाट्यचार्यों का गुण है, यह सूचित होता है ॥ ४३-४४ ॥

---

१. ख. तस्याक्षमं । २. ख. तेनाम्यभिहितः । ३. ग. प्रयुक्तश्च ।

दीयतां[1] भगवन्द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम् ।
[2]नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना [3]रसभावक्रियात्मिका ॥ ४५ ॥
दृष्टा[3] मया भगवतो नीलकण्ठस्य[4] नृत्यतः ।
कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या शृङ्गाररससम्भवा ॥ ४६ ॥

न चात्यन्तापरिदृष्टे वस्तुनि उपकरणमुन्नेतुं शक्यम् । ब्रह्मणा तूपदेशसमये वचनमात्रेणोक्तमेतन्मध्ये हृदयहारि वैचित्र्यं योजनीयमिति । अनेनाभिप्रायेण कैशिकीसाक्षात्करणं वर्णयति नृत्ताङ्गहारेत्यादिना युगलकेन ।

नर्तनं नृत्तम् । गात्राणामङ्गोपाङ्गानां विलासेन क्षेपः । न तु केनचित्कर्तव्यांशेन । लोकोऽप्येवंविधे विषये एवमेवाह—'नृत्यतीव गच्छति' इत्यादि । तत्र येऽङ्गहारा अङ्गानां हरणानीति अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तिः[5] । तैः सम्पन्ना । [6]शङ्करस्यैव भगवतः परिपूर्णानन्दनिर्भरीभूतदेहोच्चलदान्तरनिर्वारसुन्दराकारस्य अत एव नृत्यतः इतिकर्तव्यान्तरवैकल्यादानन्दनृत्तमात्रस्थितस्य । प्रयोज्यत्वेन मया दृष्टा ।

अभिनव—और कभी भी न देखी हुई वस्तु के उपकरणों का उन्नयन नहीं किया जा सकता । ब्रह्मा ने तो उपदेश के समय वचनमात्र से ही कह दिया था कि इसके भीतर मनोहारी वैचित्र्य (सौन्दर्य) की योजना करनी चाहिए । इसी अभिप्राय से कैशिकी वृत्ति के साक्षात्कार का वर्णन 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादि दो श्लोकों में करते हैं–

अनुवाद—नृत्त और अंगहारों से युक्त, रस और भाव से युक्त व्यापार वाली सुन्दर आकर्षक वेश-भूषा से युक्त तथा शृंगार रस से सम्भूत (उत्पन्न होनेवाली) कैशिकी वृत्ति को मैंने भगवान् नीलकण्ठ शिव के नृत्य के समय देखा था ॥ ४५-४६ ॥

अभिनव—नृत्त का अर्थ है नर्तन अर्थात् नाचना । शरीर के अङ्गों एवं उपाङ्गों का विलास के साथ संचालन करना, किसी कर्त्तव्यांश के द्वारा क्षेपण करना नहीं । लोक भी इस प्रकार के विषय में ऐसा ही कहता है–'नाचता हुआ सा चलता है' । उसमें जो अङ्गों का हरण अर्थात् विना टूटे हुए अत्रुटित रूप से समुचित स्थान पर पहुँचना अङ्गहार है, उससे युक्त कैशिकी वृत्ति होती है । परिपूर्ण आनन्द से भरे हुए शरीर से उछलते हुए आन्तरिक आनन्द से सुन्दर आकृति वाले इसलिए नाचते हुए अर्थात् अन्य सब इतिकर्त्तव्यों को छोड़कर आनन्दमग्न नृत्त में रत भगवान् शङ्कर के ही द्वारा प्रयुक्त की जाती हुई कैशिकी वृत्ति को मैने देखी है ।

---

१. क–न क्रियताम् । २. ख. मृद्वङ्गहारसंयुक्ता । क-ख. ललिताभिनयात्मिका ।
३. क–ज दृष्टो । ४. क–न नीलवर्णस्य । क–प. त. नृत्यतः शङ्करस्य तु ।
५. क–म. भ. प्राप्तास्तैः सम्पन्ना । ६. क–भ. म. शङ्करस्येव ।

ननु सा नाट्योपयोगिनी कथम् । आह । सैव यदि श्लक्ष्णेन श्लिष्यतोचितेन नेपथ्येन सहिता भवति । यद्वक्ष्यति—"शृङ्गार उज्ज्वलवेषात्मकः" (ना. शा. ६-५०) इति तन्नाट्योक्तशृङ्गाररसः सम्भवति । नान्यथा । नेपथ्यग्रहणं सुकुमारस्याङ्गिकादेरप्युपलक्षणम् । तेन शृङ्गराभिव्यक्तिहेतौ सुकुमारे चतुर्विधेऽप्यभिनये योजिते मधुरमन्थरवलनावर्तनाभ्रूक्षेपकटाक्षादिना विना शृङ्गाररसास्वादस्य नामापि न भवति ।

किमत्रैव सोपयोगेत्याह—रसभावक्रियात्मिकेति । रसानां भावो भावना कविनटसामाजिकहृदयव्याप्तिः । तस्या या क्रिया इतिकर्तव्यता सैवात्मा स्वभावो यस्याः । एतदुक्तं भवति—रौद्रादिरसाभिव्यक्तावपि कर्तव्यायां योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रासवलनावर्तनाद्यात्मकसुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणया दुःश्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति सर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः । यद्वक्ष्यति—"अस्य शाखा च नृत्तं च वस्तून्यभिनयस्य" (ना. शा. ८-१५) इति शृङ्गाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया विना शक्यम् ॥ ४५-४६ ॥

अब प्रश्न उठता है कि यह कैशिकी वृत्ति नाट्योपयोगिनी कैसे है ? इस पर कहते हैं कि वही यदि श्लक्ष्ण उचित वेष से युक्त होतो है जैसा कि आगे कहेंगे—'शृङ्गार उज्ज्वलवेषरूप है' (ना. शा. ६. ५.) तो वह नाट्य में कहा हुआ शृङ्गार रस उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं । नेपथ्य-ग्रहण सुकुमार आङ्गिक व्यापार का भी उपलक्षण है । इसलिए शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति के लिए चारों प्रकार के सुकुमार अभिनयों की योजना करने पर भी मधुर एवं मन्थर आवर्त्तन अर्थात् भटकन, भ्रूक्षेप, कटाक्षपात आदि के विना शृङ्गार रस के आस्वाद का नाम भी नहीं होता ।

क्या इसी शृङ्गार में ही वह उपयोगिनी है ? इस पर कहते हैं कि—'रसभावक्रियात्मिका' अर्थात् रसों का भाव भावना अर्थात् कवि, नट, कलाकार, एवं सामाजिकों के हृदय में व्याप्ति (व्याप्त होना) उसकी जो क्रिया—इतिकर्त्तव्यता वही आत्मा (स्वभाव) है जिसका अर्थात् जिस कैशिकी वृत्ति का स्वभाव है । इससे यहाँ यह कहा गया है कि रौद्रादि रसों की अभिव्यक्ति करने के लिए जो अभिनय किया जाता है वह भो अनुप्रास अलङ्कार, मोड़ना, घुमाना, आदि सुन्दर वैचित्र्य (चमत्कार) का मिश्रण न होने से दुःश्लिष्ट अश्लिष्ट ही रहेगा, अतः रसाभिव्यक्ति का हेतु नहीं हो सकता है, इसलिए सभी रसों में कैशिकी वृत्ति ही प्राण है । जैसाकि आगे कहेंगे—"इसकी शाखा, नृत्त, अङ्कुर, अभिनय की वस्तुएँ" इति । शृङ्गार रस का तो उसके बिना नाम भी नहीं लिया जा सकता है ॥ ४५-४६ ॥

[1]अशक्या पुरुषैः सा[2] तु प्रयोक्तुं [3]स्त्रीजनादृते ।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाऽप्सरसो विभुः ।। ४७ ।।
नाट्यालङ्कारचतुराः[4] प्रादान्मह्यं प्रयोगतः ।

स्त्रीजनादृत इति । अयं भावः—यावन्निजहृदयरसविलसद्विकस्वरनिर्वार-चमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव, तावच्छिक्षाशतैरपि वैचित्र्यमनाहार्यम् । मुनीनां च निसर्गविषयविमुखचित्तवृत्तीनां को निर्वृतिचमत्कारः । योऽपि वा स समाधिजः सोऽपि देहपर्यन्ततां न भजति । प्रत्युत ततः पलायामानाः (नः) । अतः स्त्रीणां तादृगस्ति वैचित्र्यम् । तत्सम्पर्कसम्भवदार्द्रभावास्तु कदाचिच्छक्नुयुरपि ।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने कौशिकी वृत्ति को समस्त रसों का प्राण कहा है । इस बात के समर्थन के लिए उन्होंने 'यद्वक्ष्यति' लिखकर आठवें अध्याय का श्लोकांश उद्धृत किया है । पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥
आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा ह्यङ्कुरः सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्नं नृत्तं तु करणाश्रयम् ॥

अर्थात् प्रयोक्ता को अभिनय के तीन अङ्गों (वस्तुओं) शाखा, नृत्त और अंकुर को जानना चाहिए । उनमें आङ्गिक अभिनय शाखा है, भावों की सूचना अङ्कुर है और करणों के आश्रित अङ्गहारों से सम्पन्न होने वाला अभिनय नृत्त है ॥ ४५-४६ ॥

अनुवाद—हे प्रभो ! स्त्री पात्रों के बिना पुरुषों के द्वारा कैशिकी वृत्ति प्रयुक्त नहीं की जा सकती । इसलिए महातेजस्वी ब्रह्मा ने मन से नाट्यालंकारों में चतुर अप्सराओं की सृष्टि की और प्रयोग के लिए मुझे दिया ॥४७-४८(१)॥

अभिनव—'स्त्रीजनों के विना' इसका भाव यह है कि जब तक भगवान् शिव के समान अपने हृदय में रस से विलसित (उद्वेलित) उद्दाम आनन्द से चमत्कार की पवित्रता नहीं आ जाती, तब तक सैकड़ों प्रकार से सिखलाने पर भी वैचित्र्य (सौन्दर्य) नहीं लाया जा सकता है और स्वभावतः विषयों से विमुख चित्तवृत्ति वाले मुनियों को आनन्द का चमत्कार कैसे हो सकना है ? और जो समाधि से उत्पन्न आनन्द का चमत्कार है वह भी देहपर्यन्त नहीं पहुँचता है, अपितु उससे भाग जाता है। अतः स्त्रियों में उस प्रकार की विचित्रता है। उनके सम्पर्क से होने वाले आर्द्रभाव (रसिकता) से विषय-विमुख मुनिजन भी शायद कैशिकी वृत्ति का अभिनय कर सकते हैं ।

---

१ क–ङ त. न शक्या । २. ख–ग. साधु । ३. क–ठ. म. स्त्रीजनैर्विना ।
४. क–प. नाट्यालङ्कारकुशलाः ।

ये त्वाहुः—'न भगवतः कैशिकीप्रयोगसामर्थ्यम् । तेन दृष्टो मयेति पाठे उमया सह भगवतो नृत्यतो भगवन्तमप्यनादृत्य भगवत्या प्रयुज्यमाना मया दृष्टा इति—त उक्तनीत्या पराकृताः । तथा—

विचित्रै रङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः ।
बबन्ध यः शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता ॥ (ना.शा. २०-१३)

इति भगवतो विष्णोः कैशिकीनिर्माणमनुचितं स्यादित्यलं बहुना । जनशब्देन रागिताशङ्का परिहरति । ततोऽसृजदिति । मनसेति । यथारुचि । विनिर्मिता इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

नाट्यस्य योऽलङ्कारो वैचित्र्यहेतुः कैशिकी । तत्र चतुराः । अन्ये तु नाट्यालङ्काराः सामान्याभिनये (अ-२२) वक्ष्यमाणाः स्वभावजा 'लीला विलास' इत्याद्या दश 'शोभा कान्तिः' इत्याद्याश्च सप्त (प्ता) यत्नजा इति । अनेन मुनिकन्यानामत्रायोग्यत्वं तावदुक्तम् ।

जो कि कहते हैं कि भगवान् में कैशिकी वृत्ति के प्रयोग करने का सामर्थ्य नहीं है, इसलिए 'दृष्टा मया' के स्थान पर 'दृष्टो मया' पाठ है। इस पाठ में 'उमा के साथ भगवान् के नाचते समय'। यहाँ पर 'भगवतः' में अनादर अर्थ में षष्ठी विभक्ति है, अतः भगवान् शिव की उपेक्षा करके भगवती पार्वती के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली कैशिकी वृत्ति को मैंने देखा। उक्त रीति से यह व्याख्या खण्डित हो गई अर्थात् उक्त रीति से उसका खण्डन हो गया। और—

"जो विष्णु देवता लीला से समन्वित विचित्र अङ्गहारों का अभिनय करते हुए अपने केशों को बांधा था, उसमें कैशिकी वृत्ति का निर्माण हो गया"।

इस प्रकार भगवान् विष्णु के द्वारा कैशिकी वृत्ति का निर्माण ही अनुचित हो जायगा। इसलिए अधिक कहना निरर्थक है। 'जन' शब्द के कथन से अनुरागी होने की आशङ्का का परिहार हो गया। 'ततोऽसृजत्' अर्थात् मन से अपनी रूचि के अनुसार बनाया। नाट्य का जो अलङ्कार वैचित्र्य (सौन्दर्य) का हेतु कैशिकी वृत्ति, उसमें चतुर। दूसरे व्याख्याकार तो नाट्यालङ्कार' पद से सामन्याभिनय में कहे जाने वाले लीला, विलास आदि स्वभावज अलङ्कार और शोभा, कान्ति आदि सात यत्नज अलङ्कार ग्रहण करते हैं। इससे इस विषय में मुनि कन्याओं की अयोग्यता कही गई है।

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि स्त्रियों के विना कैशिकी वृत्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता, क्योंकि शङ्कर के समान हृदय में रसप्रसूत पूर्ण आनन्द का उद्रेक नहीं हो जाता जब तक अभिनय में सहज सौन्दर्य नहीं लाया जा सकता। विषय-विमुख मुनियों में तो इस प्रकार की सौन्दर्यानुभूति असम्भव है, क्योंकि वे इस प्रकार की वृत्तियों से अपरिचित होते हैं और विषयों से दूर रहते हैं। अतः मुनियों द्वारा स्त्रीपात्रों का अभिनय नहीं किया जा सकता। हां स्त्रियों के सम्पर्क होने से रसिकता आ जाने के कारण वे मुनिजन भी कौशिकी वृत्ति का अभिनय कर सकते हैं ॥ ४७ ॥

मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम्[1] ॥ ४८ ॥
[2]सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम्[3] ।
सुदतीं[4] सुन्दरीं चैव [5]विदग्धां विपुलां[5] तथा ॥ ४९ ॥
[6]सुमालां [7]सन्ततिं चैव सुनन्दां सुमुखीं [8]तथा ।
मागधीमर्जुनीं चैव सरलां केरलां [9]धृतिम् ॥ ५० ॥
नन्दां [10]सपुष्कलां चैव [11]कलमां चैव मे ददौ ।

तासां नामग्रहणे पूर्ववत्प्रयोजनं निरूप्यम् ।

मे ददाविति । नाट्याचार्यपरवशत्वमुपकरणसम्भारस्य दर्शयति—ददाविति । ताश्च मया यथोचितं शिक्षादानेन प्रतिगृहीता इति सूचयन् कैशिकीमप्यहं योजितवानिति दर्शयति ॥ ५१ ॥

अनुवाद—१. मञ्जुकेशी २. सुकेशी ३. मिश्रकेशी ४. सुलोचना ५. सौदामिनी ६. देवदत्ता ७. देवसेना ८. मनोरमा ९. सुदती १०. सुन्दरी ११. विदग्धा १२. विपुला १३. सुमाला १४. सन्तति १५. सुनन्दा १६. सुमुखी १७. मागधी १८. अर्जुनी १९. सरला २०. केरला २१. धृति २२. नन्दा २३. सुपुष्कला २४. कलमा नामक चौबीस अप्सराओं को ब्रह्माजी ने मुझे प्रदान किया ॥ ४८-५१ (१) ॥

अभिनव—उन अप्सराओं के नाम गिनाने का प्रयोजन पूर्ववत् अर्थात् सौ पुत्रों के नाम निर्देशन के लिए जो प्रयोजन कहे गये हैं, उसी के समान यहाँ भी समझ लेना चाहिए। चौबीस अप्सराओं का ही नाम गिनाने का मुख्य प्रयोजन उनकी प्रसिद्धि के कारण उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना है, और आनुषङ्गिक (गौण) प्रयोजन तो उनके नामों के निर्वचन से प्राप्त अर्थों के अनुसार तत् तत् भूमिकाओं में उनका विनियोजन है। कारिका में 'मे ददौ' पद आया है। उसका भाव यह है कि नाट्य के समस्त उपकरण नाट्याचार्य के अधीन है, यह दिखलाते हैं। उनको मैंने यथोचित शिक्षा देकर नाट्य में ग्रहण किया' इस बात को सूचित करते हुए 'मैंने कैशिकी वृत्ति का भी प्रयोग किया है' यह दिखलाया है ॥ ४८-५१(१) ॥

---

१. क-त. पादचूलां तथैव च । २. क-ज. सौदामनीम् ।
३. क-(टि. ख.) मनोवतीम् । क-न. त. म. तथैव च ।
४. क-न. त. म. सुरभिम् । ५. ख. विबुधां तथा ।
६. क-ङ. सुमनाम् । ७. क-ङ. लासिनीम् ।
८. क-न. म. रतिम् । इदमर्धं 'त' पुस्तके नास्ति ।
९. ख. केरलान्धतीम् । क-म. केरलां सतीम् । १०. ख. सुपुष्पमालां
११. ख. कलभाञ्चैव निर्ममे । क-न. त.म. कपिलां सुमनां तथा । क-न. त. समन्दां सुमुखीञ्चैव काहलद्याश्च मे ददौ । इत्यर्धमधिकं दृश्यते ।

[1]स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयम्भुवा ॥ ५१ ॥
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे[2] नियोजिताः

एवं वृत्तिचतुष्टयसम्पूर्णं नाट्यं गुणनिकायामभ्यस्तमिति प्रदर्श्य गीतातोद्याभ्यामुपरञ्जकाभ्यां योगं दर्शयति—स्वातिरित्यादि।

येन जलधरसमयनिपतत्सलिलधारावैचित्र्याभिहन्यमानपुष्करदलविलसितरचितविचित्रवर्णानुहरणयोजनया यथास्वं[3] वृत्तिनियमेन पुष्करवाद्यनिर्माणं कृतमित्यर्थः। सह शिष्यैरिति। त्रिपुष्करस्य वाद्यस्यापूरकपणवमृदङ्गभल्लर्याद्युपयोगेन पक्षातोद्यपरिग्रह उक्तः। भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं वृत्ति (त्ते) येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति सोपयोगात्। कैशिकी चात्र मध्ये नियोजितेत्युक्तम्। न (तेन) तत्प्रधानमेतत्। गानयोग इति। गानशब्देन ततसुषिरपरिग्रहः। गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह। नियुक्तो नियोजित इत्यनेन वादकगायकादीनां नाट्याचार्यायत्ततां दर्शयति ॥ ५१-५२ ॥

अभिनव—इस प्रकार चारों वृत्तियों से परिपूर्ण नाट्य की आवृत्ति करते समय मैंने अभ्यास किया है, इस बात को दिखाकर उपरञ्जक गीत तथा वाद्यों का उपयोग दिखाते हैं—

अनुवाद—ब्रह्मा जी ने स्वाति मुनि को उनके शिष्यों के साथ भाण्ड-वाद्य के प्रयोग में नियुक्त किया और नारद आदि गन्धर्वों को गायन-कार्य में नियुक्त किया ॥ ५१-५२ ॥

अभिनव—'स्वाति' ऋषिविशेष का नाम है, 'जिन्होंने वर्षा के समय गिरने वाली जलधाराओं से विचित्र प्रकार से ताड़ित पुष्कर कमल दलों से उत्पन्न विविध वर्णो की अनुहरणात्मक योजना के द्वारा उचित रूप से वृत्तियों के नियमन से पुष्कर वाद्यों का निर्माण किया।' 'शिष्यों के साथ' इस कथन से पुष्कर-वाद्य के पूरक पणव, मृदङ्ग, झल्लरी आदि के उपयोग से सहायक वाद्यों का ग्रहण भी कहा गया है। भाण्डवाद्य का यहाँ पहिले उपादान किया गया है जिससे परिक्रमण आदि में उसी का व्यवहार होता है। किन्तु यह नाट्य भाण्डप्रधान है। ऐसा नहीं है अर्थात् यह भाण्डप्रधान नहीं हैं। उपकरणों के साथ कैशिकी का भी यहाँ बीच में उपयोग किया गया है, यह कहा गया है। 'गानयोग' इसमें आये हुए 'गान' शब्द से यहाँ गान्धर्व का उपयोग कहा है और 'योग' शब्द से 'तत' एव 'सुषिर' वाद्यों का ग्रहण सूचित करता है। 'नियुक्त' और 'नियोजिताः' इन दोनों पदों से वादक और गायक आदि नाट्याचार्य के अधीन होने चाहिए, यह दिखाया है ॥ ५१-५२ ॥

---

१. ख. स्वातिभाण्डो। २. ख. नाट्ययोगे। ३. क—म. स्वयं।

[1]एवं नाट्यमिदं सम्यग्बुध्वा सर्वैः सुतैः सह[2] ॥ ५२ ॥
स्वातिनारदसंयुक्तो वेदवेदाङ्गकारणम् ।
उपस्थितोऽहं [3]ब्रह्माणं प्रयोगार्थं कृताञ्जलिः ॥ ५३ ॥
नाट्यस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम् ।

---

[4]नृत्तगीतातोद्याभिनयानां साम्यसिद्ध्यर्थमेकीभावेन सम्मेलनं प्रकृत्य प्रयोगः कार्य इति दर्शयति श्लोकद्वयेन—एवं नाट्यमित्यादिना ।

एवं [5]मेलनिकायां 'नाट्यमिदम्' इत्येकबुद्धिग्राह्यं सम्मिलितं सम्यक्-सम्पन्नमिति बुद्ध्वा ज्ञात्वा । पुत्रैः स्वातिनारदाभ्यां च सह ब्रह्माणमुपस्थितः उपनिमन्त्रणार्थं ब्रह्मणोऽग्रे स्थित इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

उपनिमन्त्रणं दर्शयति—नाट्यस्येति । ग्रहणमिति । गृहीतं शिक्षितं तावन्नाट्यमित्यर्थः । ग्रहणं[6] तदवलोकनम् तत्प्राप्तं प्रेक्षणयोग्यं जातमित्यर्थः ।

अभिनव—'नृत्त, गीत, वाद्य और अभिनय के साम्य (समानभाव) की सिद्धि के लिए एक साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिए, इस बात को दो श्लोकों में दिखलाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार इस नाट्यवेद को अच्छी तरह समझ कर सभी पुत्रों के साथ और स्वाति एवं नारद को साथ लेकर मैं वेद-वेदाङ्गों के निर्माता ब्रह्मा जी के समक्ष नाट्य-प्रयोग के लिए उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर कहा कि मैंने नाट्य के प्रयोग की शिक्षा प्राप्त कर ली है, बताइये, मैं क्या करूँ ? ॥ ५२-५४ ॥

अभिनव—इस प्रकार चारों (नृत्त, गीत, वाद्य, अभिनय) का एक साथ मिलान हो जाने पर इस नाट्य को एक बुद्धि से ग्राह्य अच्छी तरह तैयार (सम्पन्न) है, ऐसा समझकर पुत्रों तथा स्वाति एवं नारद के साथ ब्रह्माजी के पास उपस्थित हुआ अर्थात् निमन्त्रण देने के लिए ब्रह्माजी के आगे खड़ा हुआ। उस निमन्त्रण को 'नाट्यग्रहणमित्यादि' के द्वारा दिखाते हैं। 'ग्रहणम्' से 'गृहीतम्' अर्थात् नाट्य को सीख लिया यह तात्पर्य हैं और 'ग्रहणं' का अर्थ 'अवलोकन' भी हैं। वह प्राप्त हो गया अर्थात् देखने योग्य हो गया, यह अभिप्राय है ॥ ५२–५४ ॥

---

१. ख. भावनाट्यमिदं । २. क—न. म. एवं नाट्यमिदं बुद्ध्वा सम्यक्छिष्यगणैः सह ।
३. लोकेशं । ४. क (टि.) अथ गीता ।
५. क (टि.) मेलनिकया । ६. क (टि.) चावलोकनम् ।

एतत्तु वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः ॥ ५४ ॥
महानयं [1]प्रयोगस्य समयः [2]समुपस्थितः ।
अयं ध्वजमहः श्रीमान् [3]महेन्द्रस्य प्रवर्तते ॥ ५५ ॥
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः [4]प्रयुज्यताम् ।
[5]ततस्तस्मिन्ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥ ५६ ॥
प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे ।

एतत्त्विति । तुशब्द एवकारार्थे । श्रुत्वैव । अत एव प्रत्युपस्थितः अयत्नादेवाभिमुख्येनोपस्थितो दैवसङ्घटित इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

ध्वजस्येन्द्रार्थस्य महनं पूजनं यत्र स ध्वजमहः । ध्वजमहस्य विशेषणद्वारेण सम्भवं दर्शयति निहतासुरदानव इत्यादिना ।

अनुवाद—इस वचन को सुनकर ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि प्रयोग के लिए यह बड़ा अच्छा समय उपस्थित हो गया है ॥ ५४ ॥

अभिनव—'एतत्तु' में 'तु' शब्द एवकार अर्थ में हैं। सुन करके ही। इसलिए 'प्रत्युपस्थित' अर्थात् विना प्रयत्न किये ही सामने उपस्थित हो गया अर्थात् दैव ने सङ्घटित कर दिया, यह भाव है ॥ ५३ ॥

अनुवाद—महेन्द्र का यह शोभायुक्त ध्वजमहोत्सव होने जा रहा है। अब इसमें इस नाट्यवेद का प्रयोग कीजिये ॥ ५५ ॥

अभिनव—ध्वज का अर्थात् इन्द्र के लिए ध्वज का पूजन जिसमें होता है वह 'ध्वजमह' उत्सव है। भाव यह कि ध्वजमह महोत्सव में इन्द्र के ध्वज का पूजन होता है। यह महोत्सव असुरों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में इन्द्र के द्वारा भाद्रपद मास में शुक्लपक्ष की द्वादशी को मनाया जाता था। प्राचीनकाल में यह उत्सव अत्यन्त लोकप्रिय था ॥ ५४ ॥

अब 'निहतासुरदानवे' इत्यादि विशेषणों के द्वारा ध्वजमह की उत्पत्ति दिखलाते हैं—

अनुवाद—तदन्तर असुरों एवं दानवों के मार डाले जाने पर महेन्द्र के विजय के उपलक्ष्य में मनाये जाने वाल तथा प्रसन्न हुए देवताओं से भरे हुए उस ध्वज महोत्सव में (मैंने नाट्य का प्रयोग किया) ॥ ५६ (१) ॥

---

१. क-प. प्रयोगश्च स मया समुपस्थितः । २. क. प्रत्युपस्थितः । ३. क-म. शचीभर्तुः ।
४. क-ङ. म. प्रयोज्यताम् । ५. क-न. म. ततश्शक्रध्वजमहे ।

[1]पूर्वं कृता मया नान्दी [2]ह्याशीर्वचनसंयुता ॥ ५७ ॥
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा [3]वेदनिर्मिता ।

तत्र प्रयोगे क्रमं दर्शयति—पूर्वं कृता मया नान्दीति । नान्द्याख्यं मुख्यं मङ्गलं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षणमिति केचित् । पूर्वरङ्गाङ्गानां मध्यान्नान्दी केवलापि प्रयोज्येत्वेवंपरमेतदित्यन्ये । अस्मदुपाध्यायास्तु—यावद्दैत्यैस्तत्र विघ्नाद्याचरणं न कृतं तावत्पूर्वरङ्गस्य विधिपूर्वकस्य कोऽवकाशः । स हि विघ्नरक्षाकरणेन मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतुः प्राधान्येन । नान्तरीयकतया च दैत्यपरितोषकारणम् । विघ्नास्तु यदा जातास्ततः प्रभृति पूर्वरङ्गः । तथा चतुर्थेऽध्याये वक्ष्यते— (ना. शा. ४-१०) पूर्वरङ्गे कृते मया भगवते शिवभट्टारकाय दर्शित इति—यथा तथा तु यः [4]कुतपविन्यासादि न (दिः स न) पूर्वरङ्गशब्दवाच्यः । तस्मादिह नान्दीमात्रस्य प्रयोगः ॥ ५७ ॥

इसके बाद उस नाट्य के प्रयोग में क्रम दिखलाते हैं—

अनुवाद—सबसे पहिले मैंने आशीर्वचनों से युक्त, वेद-निर्मित, आठ अङ्गों वाले पदों से युक्त विचित्र नान्दी की योजना की ॥ ५८ (१) ॥

अभिनव—नान्दी नामक मुख्य मङ्गल पूर्वरङ्ग के समस्त अङ्गों का उपलक्षण है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। पूर्वरङ्ग के अङ्गों में से केवल नान्दी का भी प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा दूसरे लोग कहते हैं। हमारे उपाध्याय जी कहना है कि जब तक दैत्यों ने उसमें अर्थात् नाट्य प्रयोग में विघ्न उपस्थित नहीं किया तब तक पूर्वरङ्ग के विधिवत् प्रयोग करने का अवसर ही कहाँ है ? क्योंकि वह विघ्नों से रक्षा-करण के द्वारा मुख्य रूप से मण्डप में स्थापित देवताओं की प्रसन्नता के लिए है और अविनाभाव सम्बन्ध से दैत्यों के परितोष का भी कारण है। 'दैत्यपरितोषकारणम्' ऐसा पाठ मानने पर गौड़रूप से दैत्यों के असन्तोष का भी कारण है' यह अर्थ निकलता है। विघ्न जब उत्पन्न हुए तब से ही पूर्वरङ्ग का विधान प्रारम्भ हुआ और जैसा कि चतुर्थ अध्याय में कहेंगे—'पूर्वरङ्ग करने पर मैंने भगवान् शिवभट्टारक को दिखाया'। जैसे-तैसे किये गये 'कुतुप-विन्यास' आदि को पूर्वरङ्ग शब्द से नहीं कहा जा सकता, इसलिए यहाँ केवल नान्दी शब्द का प्रयोग किया गया है।

---

१. ग. नान्दीकृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता । २. ख. आशीर्वचनसंयुता ।
३. ख. घ. देवसम्मता । क-प. देवसम्मिता । फ. वेदसम्मिता । द देवनिर्मिता ।
न. देवतास्तुतिसम्मता । त. देवतास्तुतिसंश्रया ।
४. क-भ. त्रयं कुतुपविन्यासादि ननु पूर्वरङ्गशब्दस्य । श्रयं कुतुपविन्यासं दिनं न पूर्वरङ्गशब्दस्य ।

किमर्थाऽसावित्याह—वेदनिर्मिता। 'तत्राशिषमाशास्ते' इति हि श्रुतिः सर्वकर्मस्वाशीःपूर्वकत्वमाह। यत्ततो नान्दीप्रयोगः। न तु पूर्वरङ्गाङ्गत्वेन।

अष्टौ यान्यङ्गभूतानि पदानि वाक्यं प्रति महावाक्यं वा। तानि सुप्तिङ्न्तान्यवान्तरवाक्यानि वेत्युभयथा। अत एव विचित्रेत्युक्तम्। तेन—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।

अवतु च पृथिवीं समृद्धसस्यां प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः॥ (रत्ना. १-४)

इत्येषाऽपि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति। अत्र तु पक्षे—

नान्दीपदान्तरेष्वेषु ह्येवमस्त्विति नित्यशः।
[1]वन्देतां सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ [2]पारिपार्श्विकौ॥
(ना० शा० ५-११)

इति श्लोकेऽन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्यः।

कुतुप-विन्यास-इति—'कुतुप' शब्द गायक-वाचक आदि के समुदाय का वाचक है। अभिनवगुप्त ने कुतुप शब्द की व्युत्पत्ति दो दो प्रकार से की है—'कुतं पाति रक्षति इति कुतुपः' अथवा 'कुं नाट्यभूमिं तपति उज्ज्वलयति इति कुतुपः'। दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों में 'कुतुप' शब्द का अर्थ गायक-वादक आदि का समुदाय है।

अभिनव—'यह नान्दी किसलिए की है! इसलिए 'वेदनिर्मिता' कहा है। वहाँ अर्थात् वेद में 'आशीर्वाद की कामना करते हैं' यह श्रुति कहती है कि 'सभी काम मङ्गलाचरण पूर्वक करने चाहिए' इसलिए 'नान्दी' शब्द का प्रयोग किया गया है। पूर्वरङ्ग के अङ्ग के रूप में (नान्दी का प्रयोग) नहीं किया गया है।

वाक्य अथवा महावाक्य के प्रति अङ्गभूत जो आठ पद है, वे सुबन्त–तिङन्त रूप हैं अथवा अवान्तर वाक्य रूप हैं। दोनों प्रकार की नान्दी हो सकती है। इसलिए 'विचित्रा' पद कहा है। इसलिए—

"चन्द्रमा की जय हो, देवताओं को नमस्कार हो, उत्तम द्विजगण निर्भय हो, और प्रतिपादा के चन्द्रमा के समान शरीर वाले नरेन्द्रचन्द्र (राजा) सस्यों अर्थात् धन-धान्य से परिपूर्ण पृथ्वी की रक्षा करे"।

यह भरतकृत रूप में प्रसिद्ध, कोहल के द्वारा प्रदर्शित नान्दी युक्ति-संगत होती है। अर्थात् प्रस्तुत श्लोक में सुबन्त-तिङन्त रूप बारह पद हैं, अतः यहाँ द्वादशपदा नान्दी है। कोहल ने इसे बारह सुबन्त-तिङन्त रूप पदों वाली नान्दी के रूप में प्रदर्शित किया है। दूसरे पक्ष में तो—

---

१. क-भ. म. देवताम्। २. पारिवार्श्वकौ।

विवेचकास्त्वाहुः—अङ्गग्रहणादत्रावान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि। तत्र चाष्टद्वादशसङ्ख्या चतुरस्रत्र्यश्रकालानुसारिपूर्वरङ्गद्वयाभिप्रायेण। तत्र

नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥ (ना० शा० ५-१०९)

इत्यत्रापिशब्दाच्चतुष्पदत्वं षोडशपदत्वं चतुरश्रगतं लभ्यते। त्र्यश्रगतं च त्रिपदत्वं षट्पदत्वं चेत्येवमल्पमपि तद्भेदेन तिस्रस्तिस्रो नान्द्यः। ततः परमपि भूयस्त्वात्। तेन जितमुडुपतिनेति चतुष्पदेयम्। षोडशपदा तु "जयति भुवनकारणम" इत्यादि ॥ ५८ (१) ॥

"नान्दी के इन अवान्तरपदों में अच्छी तरह कही हुई वाणी के द्वारा वे दोनों पारिपार्श्विक 'नित्य ही इस प्रकार होता रहे' इस प्रकार की वन्दना करें"।

इस श्लोक में अन्तर शब्द अवान्तर वाक्य-विच्छेद का वाचक है, यह समझना चाहिए।

विमर्श—ग्रन्थकार ने यहाँ 'पद' शब्द से अवान्तर-वाक्य ग्रहण किया है। तदनुसार यहाँ चार अवान्तर वाक्य होने से चतुष्पदा नान्दी है।

अभिनव—विवेचक लोग कहते हैं कि अङ्ग पद के ग्रहण से यहाँ अवान्तर वाक्य ही उपात्त है। उसमें आठ या बारह की संख्या चतुरस्र (चौकोर) या त्र्यस्र (त्रिकोण) आकार के अनुसार बने हुए दो प्रकार के रङ्गमण्डप के अभिप्राय से रखी गई है। भाव यह कि चतुरस्र रङ्गमण्डप में द्वादशपदा तथा त्र्यस्र रङ्गमण्डप में अष्टपदा नान्दी का प्रयोग करना चाहिए। उनमें—

"आठ अथवा बारह पदों से अलङ्कृत नान्दी करे"।

(ना० शा० ५।१०९)

इस श्लोक में 'अपि' शब्द से चतुस्र मण्डप में अष्टपदा नान्दी के अतिरिक्त चतुष्पदा और षोडशपदा नान्दी भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार त्र्यस्र मण्डप में द्वादशपदा नान्दी के अतिरिक्त त्रिपदा और षट्पदा नान्दी का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार थोड़े से भेद से तीन-तीन प्रकार की नान्दी होती है। उसके बाद भी बहुत तरह की नान्दी हो सकती है। इसलिए 'जितमुडुपतिना' यह चतुष्पदा नान्दी है और 'जयति भुवनकारणम्' यह षोडशपदा नान्दी है ॥ ५९ ॥

विमर्श—यहाँ 'पद' शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं—एक सुबन्त तिङन्त रूप पद और दूसरा अवान्तरवाक्य रूप पद। 'पद' का अर्थ सुबन्त-तिङन्त रूप पद मानने पर 'जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोक में सुबन्त–तिङन्त रूप बारह पद होने से द्वादशपदा नान्दी है और यदि अवान्तर वाक्य रूप पद मानते हैं तो 'जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोक में चार अवान्तर वाक्य रूप चार पद होने से चतुष्पदा नान्दी है। यह दूसरा पद अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का मत है। अभिनवगुप्त अपने गुरु भट्टतौत के मतानुसार 'जितमुडुपतिना' श्लोक में १–'जितमुडुपतिना' एक वाक्य, २–'नमः सुरेभ्यः' दूसरा वाक्य ३–'द्विजवृषभा

[1]तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ॥ ५८ ॥
सम्फेटविद्रवकृता [2]च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ।

तदन्त इति । नान्द्यन्ते परिसमाप्तौ । अनुकृतिरिति नाट्यम् । तत्र च बद्धेति गुणनिका योजिता । न तु प्रयोग इत्येतच्चासत् । तत्पूर्वोत्तरव्याघातात् । पूर्वं ह्युक्तम्—एवं नाट्यमिदमित्यादि नान्दी कृतेत्यन्तम् । वक्ष्यते च—ब्रह्मादयः प्रयोगपरितोषिता इति । तस्माद्बद्धेति प्रस्ताविता । न तु निष्पादिता । प्रस्तावना तावत्प्रयुक्तेत्यर्थः ।

निरुपद्रवा भवन्तु' तीसरा वाक्य और श्लोक के उत्तरार्द्ध को चतुर्थ अवान्तर वाक्य मानकर चतुष्पदा नान्दी मानते हैं । अभिनवगुप्त ने रङ्गमण्डप के आधार के अनुसार चतुरस्र मण्डप में अष्टपदा नान्दी और त्र्यस्रमण्डप में द्वादशपदा नान्दी का विधान बताया है । उनका यह भी कहना है कि चतुरस्रमण्डप में अष्टपदा नान्दी के अतिरिक्त चतुष्पदा और षोडशपदा नान्दी भी हो सकती है । इसी प्रकार त्र्यस्र मण्डप में द्वादशपदा नान्दी के अतिरिक्त त्रिपदा और षट्पदा नान्दी का भी ग्रहण होता है । इस प्रकार चतुरस्ररङ्ग-मण्डप में चार, आठ और सोलह पदों वाली तीन प्रकार की नान्दी होती है और त्र्यस्र मण्डप में त्रिपदा, षट्पदा और द्वादशपदा तीन प्रकार की नान्दी होती है । इस प्रकार चतुरस्र मण्डप में तीन और त्र्यस्र मण्डप में तीन प्रकार की नान्दी होती है । ५६ ॥

अनुवाद—उस नान्दी के समाप्त हो जाने पर जिस प्रकार देवताओं ने दैत्यों पर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार रोषपूर्ण वाक्य भय-त्रास युक्त पलायन (भगदड़) और मार-काट तथा युद्ध के आह्वान (चुनौती) से युक्त अभिनय प्रारम्भ किया ॥ ५८-५९ (१) ॥

अभिनव—उसके अन्त में अर्थात् नान्दी के अन्त में, नान्दी की परिसमाप्ति पर । अनुकृति का अर्थ है नाट्य (अभिनय) । उसमें 'बद्धा' पद का अभिप्राय है कि आवृत्ति (अभ्यास) की योजना की, अभिनय की नहीं अर्थात् अभिनय का अभ्यास प्रारम्भ किया, अभिनय आरम्भ किया यह नहीं । यह किसी प्राचीन टीकाकार का मत है । किन्तु उनका यह कहना है कि पूर्वोत्तर अर्थात् आगे-पीछे के कथन के विपरीत होने कारण असङ्गत है अर्थात् ठीक नहीं है । पहिले 'एवं नाट्यमिदम्' से लेकर 'नान्दी कृता' यहाँ तक कहा जा चुका है और आगे भी कहेंगे—'ब्रह्मा आदि अभिनय से सन्तुष्ट हुए' । इसलिए 'बद्धा' पद का अर्थ 'अभिनय का अभ्यास प्रारम्भ किया' यह नहीं हो सकता । अतः 'बद्धा' का अर्थ 'प्रस्ताव किया' 'सम्पन्न नहीं किया' अर्थात् प्रस्तावना प्रारम्भ की, यह अर्थ होता हैं ।

---

१. क–प. ब. कृता तदन्तेऽनुकृतिः । न. तदन्ते तु कृतिर्बुद्धा ।
२. क–छ. भेद्यारवात्मिका । क–ब. भेद्यावहात्मिका । ङ. वेदाहवात्मिका ।

अन्ये त्वनुकृतिरिति नाटचानुकाररूपा प्रस्तावनेत्याहुः। 'कृता तदन्तेऽनुकृतिः' इति च पठन्ति। एतदुपजीवनेनैव चिरन्तनाः कवयो "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इति पुस्तके लिखन्ति स्म। किं प्रस्तावितमित्याह—यथा दैत्या इति। डिमसमवकारेहामृगादीनामन्यतमः प्रयोगः प्रास्तावीत्यर्थः। यद्यपि भरतपुत्रैर्दशरूपकमभ्यस्तं तथापि न युगपत्सर्वः प्रयोक्तुं पार्यत इत्येवमुक्तम्। यत्केचिदचचुदन्—समवकारे कः कैशिकीयोजनावसर इति पूर्वग्रन्थोऽसङ्गत इति तन्निरवकाशमेव। समवकारादावपि च सौन्दर्यात्मकं वैचित्र्यं कैशिकीविजृम्भ एवेत्युक्तम् (५८)।

रोषग्रथितवाक्यस्तु सम्फेटः। शङ्काभयत्रासकृतो विद्रवः। छेदमर्हतीति च्छेद्यं शस्त्राहवः। भेदमर्हतीति भेद्यं मल्लयुद्धात्मकनियुद्धम्। तत इति। प्रभुपरितोषाय प्रभुचरितं कदाचिन्नाटचे वर्णनीयमिति यथा दैत्याः सुरैर्जिता इत्येतस्माल्लभ्यत इति केचिदाहुः।। तदसत्। दशरूपकलक्षणयुक्तिविरोधात्। तत्र हि किञ्चित्प्रसिद्धचरितं किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते।

दूसरे विद्वान् 'अनुकृति' पद का अर्थ नाट्य की अनुकार (अनुकरण) रूप प्रस्तावना करते हैं ऐसा कहते हैं और 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' के स्थान पर 'कृता तदन्तेऽनुकृतिः' (अर्थात् 'उस नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना की') यह पाठ मानते हैं। इसी आधार पर ही प्राचीन कवि 'नाद्यन्ते सूत्रधारः' (नान्दी के अन्त में सूत्रधार) यह पुस्तकों में लिखते थे। जैसा कि भास के नाटकों का प्रारम्भ 'नाद्यन्ते सूत्रधारः' वाक्य से होता है।

इसके बाद 'क्या प्रस्तुत किया' यह कहते हैं—जैसे दैत्यों ने अर्थात् डिम, समवकार और ईहामृग आदि में से किसी एक प्रयोग को प्रस्तुत किया। यद्यपि भरत के पुत्रों ने दशरूपकों का अभ्यास किया था तथापि उन सबका एक साथ प्रयोग नहीं किया जा सकता, इसलिए यह कहा है। इससे जो किसी ने कहा है कि—'समवकार में कौशिकी वृत्ति के प्रयोग का अवसर ही कहाँ है ? इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ असङ्गत है। उसके लिए कोई अवकाश नहीं है और समवकार आदि में भी जो सौन्दर्यात्मक वैचित्र्य पाया जाता है, वह कौशिकी वृत्ति का विजृम्भण (विकास) ही है, ऐसा कहा है ॥ ५८ ॥

रोषपूर्ण वाक्य को 'सम्फेट' कहते हैं। शङ्का, भय और त्रास के कारण होने वाली भगदड़ 'विद्रव' कहलाता है। छेदन करने वाला शस्त्र-युद्ध छेद्य और तोड़-मरोड़ वाला मल्लयुद्ध 'भेद्य' कहा जाता है। प्रभु (स्वामी) को प्रसन्न करने के लिए नाटक में कभी-कभी स्वामी के चरित्र का भी वर्णन करना चाहिए, जैसे 'देवताओं ने दैत्यों को जीत लिया' इससे मिलता है, ऐसा कहते हैं। किन्तु उनका कहना दशरूपक में दिये गये लक्षण एवं युक्ति के विपरीत होने से असङ्गत है। क्योंकि उनमें कुछ प्रसिद्ध चरित होते हैं और कुछ कल्पित चरित्र वाले होते हैं यह बात आगे कहेंगे।

न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तः। विनेयानां तत्र रागद्वेषमध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात्। वर्तमानचरिते च धर्मादि-कर्मफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम्। प्र (अप्र) त्यक्षत्वे 'भविष्यति प्रमाणाभावात्' इति न्यायेन व्युत्पत्तेः सम्भवान्नायिका (सम्भावना का)। (?) एतच्च दशरूपकाध्याये वितनिष्याम इत्यास्तां तावत्।

देवानां [1]त्वद्य प्रसिद्धवर्णनीयासम्भवात्पूर्वकल्पमन्वन्तरादिगतदेवासुरचरि-तकीर्तनम्। अनादित्वात्संसारस्य श्रुतिस्मृत्यनुमतदेवासुरकीर्तनवदिति। तत्र [2]वर्तनो (वर्तमानो) पवर्णनं तज्जातीयानाम्। अथ [3]चरित्रभ्रमविप्रलब्धास्त्व-सुराश्चुक्षुभुरिति वक्ष्यामः। न च स्वचरितवर्णनाद्देवानां परितोष इह। यत आह– प्रयोगपरितोषिता इति॥ ५८-५९॥

वर्तमान चरित का अनुकरण (अभिनय) करना भी उचित नहीं है। क्योंकि शिक्षणीय (विनेय) का उनमें राग, द्वेष, मध्यस्थ्य आदि होने से तन्मयीभाव न होने के कारण आनन्द का अभाव होने से व्युत्पत्ति (शिक्षा-प्राप्ति) भी नहीं होगी। और भी वर्तमान चरित के अभिनय में धर्म, अधर्म आदि कर्म में फलों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होने से प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। भाव यह कि नायकादि का चरित्र दिखलाकर फल के द्वारा शिक्षा देने के लिए अभिनय किया जाता है किन्तु वह फल तो नायक में प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। अतः वर्तमान चरित के अभिनय से शिक्षा नहीं मिल सकती। 'यदि वर्तमान का चरित प्रत्यक्ष नहीं है और यह समझा जाय कि इसने ऐसा कर्म किया है अतः इसका फल भविष्य में मिलेगा तो भविष्य के विषय में कोई प्रमाण नहीं है' इस सिद्धान्त के अनुसार व्युत्पत्ति (शिक्षा) की सम्भावना ही क्या है ? यह सब आगे दशरूपकाध्याय में विस्तार से कहेंगे, अतः यहाँ रहने दिया जाय।

देवताओं के सम्बन्ध में तो आज के प्रसिद्ध चरित्र का वर्णन असम्भव होने से पूर्वकल्प के मन्वन्तरों के देवों एवं असुरों के चरित का वर्णन किया गया है। संसार के अनादि होने से श्रुति एवं स्मृति से अनुमत देवासुर के वर्णन के समान पूर्वकल्प के देवों एवं असुरों का चरित वर्णन किया जा सकता है उस देवासुर सङ्ग्राम के अभि-नय में वर्तमान देवासुरों के चरित का वर्णन नही था, अपितु उनके सजातीय होने के कारण पूर्वकल्प के देवों एवं असुरों का चरित था। फिर भी अपने चरित्र के भ्रम के कारण धोखे में पड़कर वे असुर लोग क्षुब्ध हो गये, यह बात आगे कहेंगे और यहाँ देवताओं को भी अपने चरित के वर्णन से सन्तोष नही हुआ, क्योकि अभिनय से प्रसन्न हुए, यह कहा गया है॥ ५८-५९॥

१. क–भ. चाद्य। २. क–भ. वर्णनोपवर्णनं।

३. तज्जातीयकत्वादसुराश्चुक्षुभिरे।

ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः ॥ ५९ ॥
[1]प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै[2] ।
प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो [3]दत्तवान्स्वं ध्वजं शुभम् ॥ ६० ॥
ब्रह्मा [4]कुटिलकं चैव भृङ्गारं वरुणः शुभम्[5] ।
[6]सूर्यश्छत्रं [7]शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यजनमेव च ॥ ६१ ॥
विष्णुः सिंहासनं चैव कुबेरो [8]मकुटं तथा ।
[9]श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती ॥ ६२ ॥

ध्वजमिति । यस्य विघ्नशान्त्यै पूजार्थमुपयोगी भावी कुटिलकमिति । वक्रदण्डको विदूषकोपयोगी । ब्रह्मायुधात्मा दण्डः । अपकामत्वेन भीषणत्वावात्यादपीत्यर्थः (?) भृङ्गारः पारिपार्श्विकोपयोगी । छत्रमत्र वितानः । जलदानां सूर्योद्भवत्वात् तत्प्रतिमः । यदाहुः—ऋतवे वर्षान्ते महतो मेघसम्प्रवानिति । भगवदायत्ता दैवी मानुषी च सिद्धिरिति मध्ये तदुपादानं सर्वव्यापकत्वं दैव्या सिद्धेः प्रतिपादयितुम् । व्यजनं धर्मापनुत्तये । सिंहासनादि राजभूमिकायामुपयोगी ॥ ६०-६२ ॥

अनुवाद—तदनन्तर ब्रह्मा आदि देवताओं ने नाटच के प्रयोग से सन्तुष्ट होकर मेरे पुत्रों को नाटचोपयोगी समस्त उपकरणों को प्रदान किया ॥ ५९ ॥

अनुवाद—सबसे पहिले इन्द्र ने प्रसन्न होकर अपना शुभ ध्वज दिया। तदनन्तर ब्रह्मा ने कुटिलक (टेढ़ा डंडा), वरुण ने कमण्डलु, सूर्य ने छत्र, शिव ने सिद्धि, वायु ने व्यजन (पंखा), विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट और देवी सरस्वती ने नाटच की श्रवणीयता अर्थात् सुने जाने की क्षमता प्रदान की ॥ ६०-६२ ॥

अभिनव—'ध्वजम्' अर्थात् जिसका विघ्नों की शान्ति के लिए पूजा में उपयोग होगा । 'कुटिलकम्' अर्थात् कुटिलक विदूषक के उपयोग में आने वाला एक टेढ़ा-मेढ़ा डंडा अर्थात् ब्रह्मा का दिया हुआ आयुधरूप (अस्त्र) है जो दण्ड की इच्छा होने पर भीषणता का निवारक होने से ग्राह्य है। 'भृङ्गार' पारिपार्श्विक के उपयोग में आने वाला कमण्डलु है । 'छत्र' का अर्थ यहाँ वितान (चंदोवा) है। मेघों के सूर्य से

---

१. ग. प्रददुर्मत्सुतेभ्यश्च चित्रमाभरणं बहु । ख–ग प्रददुर्हृष्टमनसः ।
२. ख–ग. नः ।
३. क–न. ब. त. दत्तवान् ध्वजमुत्तमम् ।
४. ख. ग. ब. कमण्डलुं ।
५. ख. ग. तथा ।
६. क–म. सूर्यश्शस्त्रम् ।
७. क–त. शिवो ज्ञानम् । म. ब. शिवा सिद्धिम् ।
८. ख. ग. मुकुटं ।
९. इदं श्लोकार्द्धं ख. पुस्तके नास्ति ।

शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
[1]तस्मिन्सदस्यभिप्रेतान्नानाजातिगुणाश्रयान् ।। ६३ ।।
अंशांशैर्भाषितं[2] भावान् रसान् रूपं[3] बलं तथा ।
[4]दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः ।। ६४ ।।

यक्षादयो ये तत्त्वज्ञा नाट्यस्य । भाषितमिति । तत्तद्भूमिकोपयोगिवाचिके शिक्षा । भावानिति । विभावादिषु । तथा हि रक्तमांसादीनि भयजुगुप्सा-विभावरूपाणि यक्षरक्षसां हर्षोत्साहविभावतां यान्तीति तदुपदेशादेव तज्ज्ञेयम् । रसानिति । स्वोचितस्थायिभावसम्बध्यमानतत्तद्रसोपयोगिनोऽनुभावव्यभिचारि-वर्गस्य शिक्षा दर्शिता । रूपमिति मुखरागस्य । बलमित्याङ्गिकस्य । प्रतिभूमिकं परितुष्टेन । अन्ततोऽत्र शिष्टा (क्षा) पि काचिद्देया । क्रियामितिसामाजिकेभ्यश्च धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्या (द्याद्या) जोहीर्षता च परिषत्परितोषाय यतित-व्यमित्येदनेन दर्शितम् ।। ६३-६४ ।।

उत्पन्न होने के कारण यह वितान मेघों के सदृश है । जैसा कि कहा गया है कि—'वर्षा ऋतु में बड़े-बड़े मेघ बरसते हैं' । दैवी और मानसी सिद्धियाँ भगवान् शिव के अधीन हैं, इस लिए बीच में उनका उपादान (ग्रहण) दैवी सिद्धि की सर्वव्यापकता दिखलाने के लिए किया गया है । 'व्यजन' अर्थात् पंखा गर्मी को दूर करने के लिए और सिंहासन राजा की भूमिका के लिए उपयोगी है ॥ ६०-६२ ॥

अनुवाद—उस सभा में शेष जो अन्य देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग (नाग) थे उन देवताओं ने अत्यन्त प्रसन्न होकर विभिन्न जातियों के गुणों के आश्रय अभीष्ट भाषण (संवाद), भाव, रस, रूप, बल और क्रिया (आचरण) को अंश रूप में मेरे पुत्रों के लिए प्रदान किया ।। ६३-६४ ।।

अभिनव—यक्ष आदि जो नाट्य के तत्त्व को जानने वाले थे । 'भाषितम्' का अर्थ 'उन-उन भूमिकाओं के उपयोगी वाचिक अभिनय में शिक्षा' है । 'भावान्' यह पद विभावादि के विषय में है जैसे रक्त, मांस आदि भय एवं जुगुप्सा के विभाव रूप हैं, वे ही यक्ष एवं राक्षसों के लिए हर्ष एवं उत्साह के विभाव बन जाते हैं, इसलिए उनके उपदेश से ही उन भावों को जानना चाहिए । 'रसान्' इस पद से अपने योग्य स्थायी-भावों से सम्बद्ध उन-उन रसों के उपयोगी अनुभावों एवं व्यभिचारिभावों की शिक्षा प्रदर्शित की गई है । 'रूपम्' यह पद 'मुखराग का' बोधक है । 'बलम्' पद आङ्गिक

---

१. घ. ब. तस्मिन् सदस्यभिप्रीताः ।   २. ध. ब. गुणाश्रयाः । ख. गणाश्रयः ।
३. ख. ग. अंशांशैर्भावितान् । न. म. त. अंशांशैर्भाषितान् ।
४. ख. रसान् रूपबलिं क्रियाम् । न. रूपमङ्गं क्रियां बलम् ।

एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने[1] ।
[2]अभवन्क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः[3] ॥ ६५ ॥
विरूपाक्षपुरोगांश्च[4] [5]विघ्नान्प्रोत्साह्य तेऽब्रुवन् ।
न क्षमिष्यामहे[6] नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥ ६६ ॥

अथ विघ्नोपशमनाय जर्जरपूजा कार्येति दर्शयितुमितिहासेनोपक्रमते—एवं प्रयोग इति ।

दैत्यानां विनाशनं यत्र प्रयोज्यतया ॥ ६५ ॥

आगम्यतामिति । अवधार्यतां यदि वा सम्भूयास्यताम् ॥ ६६ ॥

अभिनय का सूचक है। प्रत्येक भूमिका में सन्तुष्ट होने से, अन्त में यहाँ कुछ शिक्षा भी देनी चाहिए और सामाजिकों से धन-विज्ञान आदि आहरण (संग्रह) करने योग्य संगीतोपयोगी वाद्य आदि को ग्रहण (प्राप्त) करने की इच्छा वाले नटों को सामाजिकों को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, यह बात इसके द्वारा (क्रिया पद के द्वारा) प्रदर्शित की गई है ॥ ६३-६४ ॥

इसके बाद 'विघ्नों के उपशमन के लिए जर्जर की पूजा करनी चाहिए, यह इतिहास के द्वारा दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार दैत्य एवं दानवों के विनाश विषयक अभिनय प्रारम्भ होने पर जो वहाँ इकट्ठे हुए थे वे सभी दैत्य क्षुब्ध हो गये ॥ ६५ ॥

अभिनव—दैत्यों का विनाश जिस नाट्य में प्रयोज्य (अभिनेय है ॥ ६५ ॥

अनुवाद—तब उन दैत्यों ने जिनका अगुआ (अग्रणी, मुखिया) विरूपाक्ष था, ऐसे बहुत से विघ्नों को प्रोत्साहित कर अर्थात् उकसा कर कहा—हम इस नाट्य (अभिनय को) सहन नहीं करेंगे, इसलिए सब लोग चले आइये ॥६६॥

अभिनव—'आगम्यताम्' का अर्थ 'निश्चय करिये' अथवा 'मिलकर बैठ जाइये' होता है ॥ ६६ ॥

विमर्श—'विरूपाक्षास्तु' इस प्रकार पाठ मानने पर यह अर्थ होगा—दैत्यों ने अपने अगुआ (अग्रणी) विरूपाक्ष को आगे कर विघ्नों को उकसा कर कहा कि हम लोग इस नाट्य को इस रुप में सहन नही करेंगे, इसलिए आप लोग चले आइये ॥ ६६ ॥

---

१. क–न. दैत्यमानविनाशने । प. दैत्यादीनां विनाशनम् ।

२. क–ठ अथासुराश्च क्षुभिता ये तत्रासन् समागताः । क–म. अथासुरांश्चाभितोष्या ये तत्रासन् समागताः । ३. क–न. म. दर्पिता ।

४. ख. पुरोगास्तु । ५. ग. विघ्नानुत्साह्य तेऽब्रुवन् । क–न. म. विघ्नानुत्साहयन्ति ते ।

६. ख. नेत्थमिष्यामहे । ग. नेत्थमिच्छामहे ।

ततस्तैरसुरैः साधं विघ्ना[1] मायामुपाश्रिताः ।
[2]वाचश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥ ६७ ॥
[3]तथा विध्वंसनं दृष्ट्वा [4]सूत्रधारस्य देवराट् ।
[5] कस्मात्प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥ ६८ ॥
अथापश्यत्सदो[6] विघ्नैः समन्तात्परिवारितम् ।
[7]सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम्[8] ॥ ६९ ॥

मायामिति अदृश्यत्वमित्यर्थः । चेष्टेत्याङ्गिकी । यद्यपि स्मृतिस्तम्भनेन सर्वं स्तम्भितं भवति तथापि तत्तदभिनेयप्राधान्येन तदेव स्तम्भितमित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

सूत्रधारस्येति । सपरिवारस्येति । प्रस्तावनाप्रयोगमध्य एवायं विघ्न इति यावत् । ध्यानमिति । यत्र माया न प्रभवति ॥ ६८ ॥

सद इति यत्र प्रयोगः क्रियते सीदत्यस्मिन्निति ॥ ६९ ॥

अनुवाद—इसके बाद उन असुरों के साथ मिलकर विघ्नों ने माया का आश्रय लेकर नृत्य करने वाले अभिनेताओं की वाणी, चेष्टा और स्मृति को स्तब्ध कर दिया ॥ ६७ ॥

अभिनव—'माया' का अर्थ 'अदृश्य होना' है। चेष्टा' आङ्गिकी क्रिया अर्थात् शारीरिक व्यापार को कहते हैं। यद्यपि स्मृति के स्तम्भन से सब कुछ स्तम्भित हो जाता है तथापि नाट्य में उन-उन अभिनयों की प्रधानता के कारण वही स्तम्भित हुआ अर्थात् उसे ही स्तब्ध कर दिया, यह कहा गया है ॥ ६७ ॥

अनुवाद—सूत्राधार अर्थात् नटों के अभिनय का उस प्रकार का विध्वंस देखकर इन्द्र 'अभिनय में वैषम्य (विघ्न) कैसे हुआ' यह कहकर ध्यान में अवस्थित हो गये ॥ ६८ ॥

अभिनव—'सूत्रधार का' अर्थात् सपरिवार सूत्रधार का। प्रस्तावना के प्रयोग के बीच में ही यह विध्न आ गया। 'ध्यानम्' इस पद से 'जहाँ माया का प्रभाव नहीं हो सकता है, यह अभिप्राय है ॥ ६८ ॥

अनुवाद—इसके बाद इन्द्र ने सभा को चारों ओर से विघ्नों से घिरा हुआ तथा अन्य अभिनेताओं के साथ सूत्राधार को चेतना-रहित एवं जड़ीभूत (जड़) अवस्था में देखा ॥ ६९ ॥

अभिनव—'सदः' शब्द का अर्थ है—जहाँ प्रयोग (अभिनय) किया जाता है अथवा जहाँ पर लोग बैठते हैं ॥ ६९ ॥

---

१. ख. विघ्नमायामुपाश्रिता। । २. ख. वचश्चेष्टां । ३. ग. एवं विध्वंसितं ।
४. ख. तत्र तेषां स देवराट् । ५. ग. तस्मात् ।
६. ख. तदा । ७. क—ङ. तथेतरैः । ठ. तदेतरै। । त. सहेतरं । ८. क-त. जलीकृतम् ।

[1]उत्थाय त्वरितं शक्रः [2]गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
[3]सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः [4]किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः ॥ ७० ॥
रङ्गपीठगतान्विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७१ ॥
[5]निहतेषु च सर्वेषु विघ्नेषु सह दानवैः ।
[6]सम्प्रहृष्य ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः ॥ ७२ ॥

जीर्यत्यतिशयेनेति पचाद्यचि यङ्लुकि रूपम् । अतिशयेन जीर्णीकृतो देहो येषान्ते तथा । जर्जरेणेति यङ्लुगन्ताण्णिचि पुनः पचाद्यचि रूपम् । एवं राज्ञा सिद्धिविघातका दण्ड्या इति दर्शितम् ॥ ७०-७१ ॥

अनुवाद—तब समस्त रत्नों से देदीप्यमान (चमकते हुए) शरीर वाले तथा कुछ ऊपर चढ़े हुए नेत्रवाले देवराज इन्द्र ने शीघ्रता से उठकर और उत्तम ध्वज को ग्रहण कर जर्जर ध्वजा से रङ्गपीठ पर उपस्थित उन विघ्नों और असुरों को जर्जर देह वाला बना दिया अर्थात् जर्जर ध्वजा से उनके शरीर को पीट-पीट कर जर्जरित कर दिया, जीर्ण-शीर्ण कर दिया ॥ ७०-७१ ॥

अभिनव—'जीर्यति अनेन' इस विग्रह में 'जॄ' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होने पर यङ्लुङन्त में 'जर्जर' शब्द बनता है। अत्यन्त जीर्ण कर दिया गया है, शरीर जिनका अर्थात् जिनका शरीर अत्यन्त जीर्ण कर दिया गया है, वे जर्जरीकृतदेह है। 'जर्जरेण' इस पद में यङ्लुङन्त 'जॄ' धातु से णिच् प्रत्यय तदनन्तर पचादि अच् प्रत्यय होकर 'जर्जर' शब्द बनता है। इस प्रकार राजा के द्वारा कार्य-सिद्धि में विघ्न डालने वाले तत्त्वों को दण्ड देना चाहिए, यह दिखाया गया है ॥ ७०-७१ ॥

अनुवाद—दानवों के साथ समस्त विघ्नों के नष्ट हो जाने पर सभी देवताओं ने प्रसन्न होकर यह वचन कहा ॥ ७२ ॥

---

१. ग. अथोत्थाय द्रुतं क्रोधाद्दिव्यं जग्राह स ध्वजम् ।
२. ख. क्रोधाज्जग्राह तं ध्वजम् । ग-त. दिव्यं जग्राह तं ध्वजम् ।
३. ख. सर्वरत्नोज्ज्वलन्तं तु ।
४. क-ठ. म. कोपादुद्वृत्त । त. शक्रः प्रोद्वृत्तलोचनः ।
५. न. गतेषु तेषु विघ्नेषु सर्वेषु सह दानवैः ।
६. क-न. म. प्रणम्यैनं तदा वाक्यमिदमूचुः । त. सम्प्रहस्य । ब. सम्प्रसह्य ।

अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया ।
[१]जर्जरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवाः कृताः ।। ७३ ।।
यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुरा जर्जरीकृताः ।
तस्माज्जर्जर [२]एवेति [३]नामतोऽयं भविष्यति ।। ७४ ।।
शेषा ये चैव [४]हिंसार्थमुपयास्यन्ति हिंसकाः ।
[५] दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ।। ७५ ।।
[६]एवमेवास्त्विति ततः शक्रः प्रोवाच तान्सुरान् ।
[७]रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येष[८] जर्जरः ।। ७६ ।।

अनुवाद—अहो ! तुमने यह दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिया है जिसके द्वारा तुमने इन दानवों के सारे अङ्गों को जर्जरित कर दिया है ।। ७३ ।।

अनुवाद—क्योंकि इसके द्वारा असुरों के साथ से सारे विघ्न जर्जर (नष्ट) कर दिये गये हैं, इसलिए यह ध्वज 'जर्जर' नाम से ही विख्यात होगा ।। ७४ ।।

विमर्श—७३ वें और ७४ वें श्लोक के स्थान पर काशी संस्करण में निम्नलिखित पाठ मिलता है—

"अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया ।
नाटचविध्वंसिनः सर्वे येन ते जर्जरीकृताः ।
तस्याज्जर्जर इत्येव नामतोऽयं भविष्यति ।।

"अर्थात् तुमने यह दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिया है, जिसके द्वारा तुमने उन सभी नाटच-विध्वंसकों को जर्जर कर दिया है, जीर्ण-शीर्ण कर दिया है, इसलिए यह दिव्य अस्त्र 'जर्जर' इस नाम से प्रसिद्ध होगा" ।। ७३-७४ ।।

अनुवाद—शेष बचे हुए जो कोई हिंसक (विघ्न) हिंसा के लिए यहाँ आयेंगे, वे भी इस जर्जर को देखकर ऐसी ही दशा को प्राप्त हो जायँगे अर्थात् वे भी जर्जर को देखकर इसी प्रकार भाग जायँगे अथवा नष्ट हो जायँगे ।। ७५ ।।

अनुवाद – तब इन्द्र ने उन देवताओं से 'ऐसा ही हो' इस प्रकार कहा— यह जर्जर (ध्वज) सभी का रक्षा करने वाला होगा ।। ७६ ।।

---

१. ख. नाटचविध्वंसिनः सर्वे येन ते जर्जरीकृताः । न. जर्जरीकृतदेहास्तु दानवा येन ते कृताः ।
२. ख. इत्येव ३. क-न. ख्यातिं लोके गमिष्यति ।
४. ग. विघ्नार्थमुपस्थास्यन्ति विघ्नकाः । ५. क-न. दृष्ट्वैनम् ।
६. क-न. एवं भविष्यतीत्येव । ७. क-न. रक्षाभूतः स दैवस्य ।
८. ख. भविष्यत्येव ।

प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फोते शक्रमहे पुनः[1]।
[2]त्रासं सञ्जनयन्ति स्म विघ्नाः [3]शेषास्तु नृत्यताम् ॥७७॥

यदि वा मूलत एव तत्परिरक्षायै मण्डपः कार्यः। ये च दण्डस्याविषया वातातपवर्षादयश्च तत्कृतो हि सिद्धिविघातो मण्डपे सति न भवति। एतेनैवाभिप्रायेण पुराकल्पमाह—प्रयोग इत्यादि।

शेषा इति। जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थः। यद्वक्ष्यति—'निश्चिता भगवन्विघ्ना' इति। तथाऽस्मिन् जर्जरीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन्। त्रासमिति। सर्वथा तु न शक्ता नाशयितुमिति जर्जरप्रभावः। 'गमिष्यन्त्येवमेव' इति य उक्तः सोऽज्ञः (ये वक्तारः तेऽज्ञाः) (?) ॥ ७७ ॥

विमर्श—जर्जर—इन्द्र के ध्वज में जो बांस होता है, उसे जर्जर कहते हैं। नाटचशास्त्र में जर्जर के निर्माण के लिए बांस को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इसकी लम्बाई १०८ अङ्गुल की होनी चाहिए। इसमें पाँच पर्व (पोढ़) और चार गांठ होनी चाहिए और बांस स्थूल गांठों वाला तथा कीड़ों द्वारा खाया हुआ क्षत-विक्षत नहीं होना चाहिए। जर्जर के निर्माण एवं पूजा का विधान सत्ताइसवें अध्याय तथा तीसरे अध्याय में विस्तार से बताया गया है ॥ ७६ ॥

अभिनव—अथवा प्रारम्भ से ही उन विघ्नों से रक्षा के लिए मण्डप बनाना चाहिए और जो आँधी, पानी, धूप, आदि दण्ड के विषय नहीं हो सकते, उनके द्वारा होने वाला सिद्धि का विघात (विनाश) मण्डप होने पर नहीं हो सकता है। इसी अभिप्राय से पुराकल्प अर्थात् मण्डप रचना का इतिहास कहते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार फिर इन्द्रध्वजोत्सव के समय अभिनय के विशाल रूप में प्रस्तुत किये जाने पर बचे हुए विघ्न अभिनय करने वालों के लिए पुनः त्रास (भय) उत्पन्न करने लगे ॥ ७७ ॥

अभिनव—'शेष' अर्थात् जर्जर कर देने से बचे हुए शरीर वाले भी जैसा कि आगे कहेंगे—'हे भगवन्! ये विघ्न अभिनय को नष्ट करने का निश्चय कर चुके हैं। अथवा उस जर्जरीकरण के समय ये उपस्थित नहीं थे, इसलिये बचे हुए। 'त्रास' पद का अर्थ है कि 'सर्वथा नष्ट करने में समर्थ नहीं थे, वे इसी तरह चले जाँयगे' ऐसा जो कहा गया है वह जर्जर का प्रभाव है ॥ ७७ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त 'शेषाः' पद की व्याख्या दो प्रकार से करते हैं—पहली व्याख्या के अनुसार जर्जरित कर देने से जिनके शरीरमात्र शेष रह गये हैं, ऐसे असुर (विघ्न) पुनः (दोबारा) अभिनय प्रारम्भ होने पर प्रयोग को नष्ट कर देने का भय दिखलाने लगे, यह श्लोक का अभिप्राय है। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि यदि

---

१. क-न. तदा। ब. पुरा। २. क-न. भूयः संत्रासयन्तिस्म विघ्नाः निश्चितमानसाः। ३. ख. मद्वधबुद्धयः।

दृष्ट्वा तेषां व्यवसितं [1]दैत्यानां विघ्नकारकम्[2] ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं [3]सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥ ७८ ॥
[4]निश्चिता भगवन्विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
[5]अस्य रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर[6] ॥ ७९ ॥
[7]ततश्च विश्वकर्माणं [8]ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म [9]महामते ॥ ८० ॥

जर्जरीकृत शरीरमात्र शेष रहने पर भी ये असुर पुनः विघ्न डालने का साहस करते हैं तो जर्जर का प्रभाव ही समाप्त हो जाना चाहिए । इस शङ्का के निराकरण के लिए अभिनवगुप्त 'शेषाः' पद का दूसरा अर्थ करते हैं कि 'जो असुर जर्जरीकरण के समय उपस्थित नहीं थे और जर्जरीकरण से बच गये थे वे दूसरी बार उपद्रव करने के लिये आये थे ।

इसके अतिरिक्त कुछ संस्करणों में "गमिष्यन्त्येवमेव' इति य उक्तः स जर्जर-प्रभावः" के स्थान पर "जर्जरप्रभावो 'गमिष्यत्येवमेव' य उक्तवान् सोऽज्ञः" पाठ मिलता है । तदनुसार इसका अर्थ होगा 'जर्जर का प्रभाव इस प्रकार से नष्ट हो जायगा, ऐसा जिसने कहा है वह मूर्ख है ॥ ७७ ॥

अनुवाद—उन दैत्यों के विघ्न उत्पन्न करने वाले प्रयत्न (दृढ़निश्चय) को देखकर मैं अपने सभी पुत्रों के साथ ब्रह्माजी के समीप उपस्थित हुआ ॥ ७८ ॥

विमर्श—तदनन्तर इन्द्रध्वज महोत्सव में अभिनय प्रारम्भ होने पर जब असुर-गण पुनः विघ्न डालने के लिए उपस्थित हुए और प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर पुनः उपद्रव मचाने लगे तो उसे देखकर भरतमुनि अपने पुत्रों को साथ लेकर ब्रह्माजी के पास गये ॥ ७७ ॥

अनुवाद—हे भगवन् ! विघ्नगण इस नाट्य (अभिनय) के विनाश करने के लिए निश्चय कर चुके हैं अर्थात् अभिनय को नष्ट करने पर तुले हुए हैं, अतः हे सुरेश्वर ! उसकी भली प्रकार से रक्षा-विधान के लिए आदेश दीजिये ॥ ७९ ॥

अनुवाद—इसके बाद (मेरी प्रार्थना सुनकर) ब्रह्मा ने विश्वकर्मा से कहा कि हे महामते ? आप प्रयत्नपूर्वक सभी शुभ लक्षणों से युक्त एक नाट्यशाला का निर्माण करिये ॥ ८० ॥

---

१. ख. मदर्थे । २. क. विप्रकारजम् । ३. क-न. सुरैः ।
४. क-ग. व. निःसृता । ५. ग. अतो । ६. क-न. पितामह ।
७. ख. ततश्च स । ग. तत्स्तु । ८. ग. आह ब्रह्मा । ९. ख. चकार सः ।

[1]ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा [2]महच्छुभम् ।
[3]सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा नाट्यगृहं तु सः ॥ ८१ ॥
प्रोक्तवान्द्रुहिणं गत्वा सभायान्तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाट्यगृहं देव तदवेक्षितुमर्हसि ॥ ८२ ॥
ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च सेतरैः[4] ।
[5]आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाट्यमण्डपम् ॥ ८३ ॥

ततो विश्वकर्मेति । वास्तुविद्यातत्त्वविदो नाट्यमण्डपे स्थपतित्वं सूचयति ॥ ८१-८२ ॥

द्रुहिण इति ब्रह्मा । इतरे विद्याधरगन्धर्वाद्याः ॥ ८३ ॥

अनुवाद—तदनन्तर विश्वकर्मा ने थोड़े ही समय में समस्त शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दर विशाल नाट्यगृह की रचना करके सभा में जाकर हाथ जोड़कर ब्रह्माजी से कहा—हे देव ! नाट्यगृह तैयार हो गया है, उसे देखने की कृपा करें ॥ ८१-८२ ॥

अभिनव—'विश्वकर्मा' इस पद से यह सूचित होता है कि नाट्यमण्डप में वास्तुविद्या के विशेषज्ञ स्थपति (शिल्पी) होने चाहिए ॥ ८१-८२ ॥

विमर्श—विश्वकर्मा वास्तुविद्या का विशेषज्ञ आचार्य था । उसने देवताओं के लिए अनेक प्रकार के भवनों एवं दुर्गों का निर्माण किया था। वह वास्तुकला में निपुण शिल्पी था । जब ब्रह्मा ने उसे नाट्यशाला बनाने के लिए आदेश दिया तो विश्वकर्मा ने थोड़े ही समय में सभी शुभलक्षणों से युक्त एक विशाल नाट्यगृह तैयार करके ब्रह्माजी के पास जाकर हाथ जोड़कर निवेदन किया कि भगवन् ! नाट्यगृह तैयार हो गया है, उसे चलकर देख लीजिए ॥ ८१-८२ ॥

अनुवाद—तब ब्रह्माजी महेन्द्र अन्य सभी देवताओं के साथ नाट्यमण्डप को देखने के लिए तुरन्त आये ॥ ८३ ॥

अभिनव—'द्रुहिण' पद का अर्थ 'ब्रह्मा' है और 'सेतरैः' पद से उनसे भिन्न विद्याधर, गन्धर्व आदि का ग्रहण होता है ॥ ८३ ॥

विमर्श—यहाँ पर ब्रह्मा के द्रुहिण शब्द का प्रयोग किया गया है । दुष्टों से द्रोह करने के कारण ब्रह्मा को द्रुहिण कहा जाता है । इतर पद से विद्याधर गन्धर्व आदि का ग्रहण होता है ॥ ८३ ॥

---

१. 'ख' पुस्तके एतत् श्लोकार्द्धं नास्ति । २. ग. शुभं मद्वत् ।
३. ख. पुस्तके—कृत्वा यथोक्तमेवं तु गृहं पद्मोद्भवाज्ञया । 'क' पुस्तके इदं श्लोकार्द्धं नास्ति ।
४. क-न. ततोऽब्रवीत् विश्वकर्मा ब्रह्माणं प्रयताञ्जलिः ।
५. ख. सत्तमैः । क—न. त. सर्वैः सहेतरैः । ६. ख. ग. आगच्छद् ।

दृष्ट्वा नाट्यगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान्सुरांस्ततः ।
अंशभागैर्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाट्यमण्डपः ॥ ८४ ॥
रक्षणे [1]मण्डपस्याथ विनियुक्तस्तु चन्द्रमाः[2] ।
[3]लोकपालास्तथा दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुताः ॥ ८५ ॥

अंशैर्यानि भजनान्यधिष्ठानानि तैः । मण्डपस्यांशेषु वः भवतां ये तृतीयचतुर्थादयो भागास्तैः । ॥ ८४ ॥

अंशविभागमेवाह—रक्षण इति । अनेन चैतत्तुल्या एव मण्डपभागरक्षा काचिन्नियोज्या इति दर्श्यते । मण्डपस्य सर्वस्याधिष्ठाता हि सौम्यप्रकृतिः सोमः प्रधानो योज्य इति दर्शयति—चन्द्रमा इति । अपि चेति । विदिक्ष्विति । न केवलं पश्चिमोत्तररूपे स्वकोणे यावदन्यास्वपि विदिक्षु । चकाराद्दिक्ष्वपि । ते हि धर्मदोषवारकत्वादत्यन्तोपकारिणः । अनेन गवाक्षकरणं सूच्यत इत्यके ॥८५॥

अनुवाद—तब ब्रह्माजी ने नाट्यमण्डप को देखकर सभी देवताओं से कहा—कि आप लोगों के द्वारा अपने-अपने अंश के अनुसार इस नाट्यमण्डप की रक्षा करनी चाहिए ॥ ८४ ॥

अभिनव—'अंशों' से जो भवन अर्थात् अधिष्ठान (स्थान) है, उनसे मण्डप के अंशों में और आप लोगों का तृतीय, चतुर्थ आदि अंश हो उनसे, यह अभिप्राय है ॥ ८४ ॥

विमर्श—ब्रह्मा विश्वकर्मा द्वारा रचित नाट्यमण्डप को देखकर सभी देवताओं से कहा कि नाट्यमण्डप को कुछ अंशों में बाँट दिया जाय और आप लोग अपने-अपने अंशों की रक्षा करें अर्थात् जो अंश जिसको दिया जाय वह उस अंश की रक्षा करे ॥ ८४ ॥

अब उन अंशों के विभाग को कहते हैं—

अनुवाद—इसके बाद नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए चन्द्रमा को विशेष रूप से नियुक्त किया गया और दिशाओं में लोकपालों तथा विदिशाओं में मरुद्गणों को नियुक्त किया गया ॥ ८५ ॥

अभिनव—'रक्षणे' इस पद से यह दिखाया गया है कि मण्डप की रक्षा के लिए इन्हीं के समान ही कुछ लोगों को नियुक्त करना चाहिए। सम्पूर्ण मण्डप का अधिष्ठाता सौम्य स्वभाव और शान्त प्रकृति का होना चाहिए, यह 'चन्द्रमा' पद से सूचित होता है और 'विदिशाओं में भी' इससे केवल पश्चिमोत्तर रूप अपने कोण में ही नहीं, अपितु अन्य विदिशाओं में भी। चकार से दिशाओं में भी। 'मरुद्गण' 'क्योंकि घाम (गर्मी) के दोष के निवारक होने से अत्यन्त उपकारी हैं। कोई कहते हैं कि 'मारुतः' इस पद से खिड़की बनाने की सूचना दी गई है ॥ ८५ ॥

---

१. ग. मण्डपस्यास्य । २. ख. नियुक्तो रजनीकरः ।
३. ग. यथादिग्लोकपालाश्च ।

नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे[1] ।
[2]वेदिकारक्षणे वह्निर्भाण्डे सर्वदिवौकसः ॥ ८६ ॥

आदित्ये मित्रशब्दः पुल्लिङ्ग इति । तेन यद्वार्तिककारी (रीयं) 'तदुपलक्षितो नतकी हि (भिः)लज्जापरिहारहेतोः नपुंसको नेपथ्यगृहे' इति तदपरामृष्टाभिधानम् । मित्र इति तेजस्विता आहार्योपयोगी रत्नादेरुक्ता । वेदिका । रङ्गवेदिका । तत्र तीक्ष्णोऽधिष्ठातेत्यर्थः । भाण्ड इति । त्रिपुष्करे सोपकरणे । दिवौकसो मेघा मन्द्रगम्भीरशब्दसिद्धये । इत्येवं सर्वत्र दृष्टमपि सदृशोपलक्षणान्तं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्यम् । सर्वथा तदलाभे नियमादृष्टमेव ॥ ८६ ॥

विमर्श—यहाँ यह बताया गया है कि समस्त नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए चन्द्रमा को नियुक्त किया गया और दिशाओं की रक्षा के लिए लोकपालों तथा विदिशाओं की रक्षा के लिए मरुद्गणों को नियुक्त किया गया । दिशाएँ चार हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर । इन चारों दिशाओं का रक्षक (स्वामी) एक-एक देवता है जिन्हें लोकपाल कहते हैं । जैसे पूर्व दिशा का अधिपति इन्द्र, दक्षिण का यम, पश्चिम का वरुण और उत्तर का कुबेर है । अतः पूर्व दिशा की रक्षा के लिए इन्द्र को, दक्षिण दिशा में यम को, पश्चिम में वरुण को और उत्तर में कुबेर को नियुक्त किया गया । विदिशाएँ भी चार हैं—आग्नेय, नैॠत्य, वायव्य और ईशान । इन्हें कोण भी कहते हैं, क्योंकि ये दो दिशाओं के मध्य में स्थित हैं । जैसे पूर्व और दक्षिण के बीच में आग्नेय (अग्निकोण), दक्षिण और पश्चिम के मध्य में नैॠत्य, पश्चिम और उत्तर के मध्य वायव्य कोण और उत्तर एवं पूर्व के मध्य में ईशान कोण है । इन विदिशाओं की रक्षा के लिए मरुद्गणों को नियुक्त किया गया । वस्तुतः मारुतों की एक अपनी दिशा है वायव्य कोण । किन्तु मारुतों को सभी विदिशाओं में और दिशाओं में भी रक्षा के लिए नियुक्त किया गया । अभिनवगुप्त का कहना है कि मरुद्गण अर्थात् वायु देवता गर्मी के निवारक हैं और नाट्यमण्डप में भीड़ होने से गर्मी का होना स्वाभाविक है, अतः गर्मी के निवारण के लिए वायु का होना अत्यन्त आवश्यक है अतः उन उन दिशाओं, विदिशाओं के अलग-अलग लोकपाल होने पर भी गर्मी से रक्षा के लिए दिशाओं, विदिशाओं सर्वत्र वायु को नियुक्त किया गया, यह अभिनवगुप्त का अभिप्राय है ॥ ८५ ॥

अनुवाद—नेपथ्य भूमि में मित्र (सूर्य) को और आकाश में वरुण को वेदिका के रक्षा के लिए अग्नि को तथा भाण्डवाद्यों की रक्षा में सभी देवताओं नियुक्त किया ॥ ८६ ॥

---

१. ख. ग. वरुणेश्वरः ।
२. ख. वेदिकां पावकः पातुः भाण्डं सर्वे दिवौकसः ।

वर्णाश्चत्वार एवाथ[1] स्तम्भेषु विनियोजिताः ।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च स्थिताः[2] स्तम्भान्तरेष्वथ[3] ॥८७॥

वर्णा इति । तदधिष्ठातारो देवताविशेषाः । स्तम्भान्तरेष्विति । वर्णस्तम्भचतुष्कादिरित्येषु न अन्येषु स्तम्भेष्वित्यर्थः ॥ ८७ ॥

अभिनव—आदित्य के अर्थ में 'मित्र' शब्द पुल्लिङ्ग है इससे जो वार्त्तिककार ने कहा है कि—'स्त्रियों की लज्जा के परिहार के लिए अर्थात् स्त्रियों की लाज बचाने के लिए उससे उपलक्षित नपुंसक नट को नेपथ्यगृह में नियुक्त करना चाहिए' यह कथन अविचारपूर्ण है। क्योंकि 'मित्र' शब्द से आहार्य वेश-भूषा में उपयोगिनी रत्नादि की तेजस्विता बतलाई गई है और भी यदि यहाँ 'मित्र' शब्द सुहृद् (दोस्त) का वाचक हो तो सुहृद् वाचक 'मित्र' शब्द के नपुंसक लिङ्ग होने से नपुंसक नट की नियुक्ति की कल्पना की जा सकती है, किन्तु यहाँ पर तो सूर्य का वाचक 'मित्र' शब्द पुल्लिंग है, अतः उक्त कल्पना निराधार है। 'वेदिका पद से रङ्गवेदिका का ग्रहण होता है। उसका अधिष्ठाता तीव्र (तेज) प्रकृति का होना चाहिए, यह भाव है। 'भाण्ड' पद से उपकरणों के साथ पुष्कर-वाद्य का ग्रहण होता है। 'दिवौकसः' का अर्थ 'मेघ' है, अतः मन्द और गम्भीर शब्दों को सिद्धि के लिए मेघों को नियुक्त किया गया। इस प्रकार सब जगह सदृशलक्षणा अवान्तर प्रयोजन है, ऐसा समझना चाहिए। उसका सर्वथा अभाव होने पर नियमतः प्राप्त अदृष्ट ही प्रयोजन है ॥ ८६ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त ने इस कारिका की अभिनवभारती व्याख्या में अन्त में **'एवं सर्वत्र सदृशलक्षणा अवान्तरप्रयोजनमुत्प्रेक्ष्यम् । सर्वथा तदभावे नियमादृष्टमेव'** लिखा है। ग्रन्थकार ने नाटयमण्डप में देवताओं की नियुक्ति की व्यवस्था में सदृशलक्षणा मानी है। सदृशलक्षणा का अभिप्राय यह है कि भविष्य में अभिनय के अवसर पर जब कभी नाटयमण्डप में रक्षण-व्यवस्था आवश्यक हो तो जिन देवताओं को नाटयमण्डप के जिन अंशों की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है उनके सदृश गुण वाले व्यक्तियों को उन उन अंशों की रक्षा के लिए नियुक्त करे। किन्तु जहाँ पर सदृशलक्षणा सम्भव न हो वहाँ नियमादृष्ट को ही प्रयोजन मानना चाहिए। नियमादृष्ट का अभिप्राय है कि उन उन देवता विशेष को नाटयमण्डप के उन उन स्थानों पर रक्षा के लिए नियुक्त करने पर ही उस उस स्थान का अदृष्ट उत्पन्न हो सकता है, अतः उन उन स्थानों पर उन उन देवता विशेष की नियुक्ति करनी चाहिए। यही नियमादृष्ट है ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इसके बाद चारो वर्णों को स्तम्भों में नियुक्त किया और अन्य स्तम्भों पर आदित्य और रुद्र स्थापित किये गये ॥ ८७ ॥

---

१. ग. एवास्य । २. ग. न्यस्ता । ३. स्तम्भान्तरेषु च ।

[1]धारणीष्वथ भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा।
[2]सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधिः ॥ ८८ ॥

---

[3]धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि। शालास्विति। द्वितीयभूमिसन्निवेशादिति। सर्ववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादावित्यर्थः ॥ ८८ ॥

अभिनव—'वर्णाः' पद से उसके अधिष्ठाता देवता विशेष का ग्रहण होता है। 'स्तम्भान्तरेषु' इस पद से चारों वर्णों को जिन स्तम्भों में नियुक्त किया है उनमें नहीं, अपि तु उनसे भिन्न अन्य स्तम्भों में यह अभिप्राय ध्वनित होता है ॥ ८७ ॥

विमर्श—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों को चार स्तम्भों पर नियुक्त किया गया और जिन स्तम्भों पर चारों वर्णों को नियुक्त किया गया, उससे भिन्न अन्य स्तम्भों की रक्षा के लिए बारह आदित्यों और ग्यारह रुद्रों को स्थापित किया गया। आदित्य बारह हैं—अर्यमा, धाता, मित्र, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु। रुद्र ग्यारह हैं—अज, एकपाद्, अहिर्बुध्न, विरूपाक्ष, गुहेश्वर, त्र्यम्बक, पिनाकी, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, हरण और ईश्वर ॥ ८७ ॥

अनुवाद—इसके बाद धरणियों में भूतों को, शालाओं में अप्सराओं को सब घरों में अर्थात् खिड़की, नेपथ्यगृह आदि में यक्षणियों को तथा भूपृष्ठ अर्थात् फर्श पर महोदधि को रक्षा के लिए नियुक्त किया ॥ ८८ ॥

अभिनय—'धरणियों पर' अर्थात् दो स्तम्भों के बीच में रखे गये पत्थरों पर। 'शालासु' (शालाओं में) अर्थात् दूसरी मञ्जिल पर स्थित आट्टालिकाओं पर। 'सर्ववेश्मसु' अर्थात् गवाक्ष (खिड़की) नेपथ्यगृह आदि में ॥ ८८ ॥

विमर्श—'धारणी' शब्द का अर्थ धरन, शहतीर या गाटर होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार धारणी का अर्थ दो स्तम्भों के बीच ऊपरी भाग को पाटने के लिए जो पत्थर रखा जाता है, उसे 'धारणी' कहते हैं। उसकी रक्षा के लिए भूतों को नियुक्त किया गया। 'शाला' शब्द का अर्थ दूसरी मञ्जिल पर बनी हुई अट्टालिका (अटारी) है, उसकी रक्षा के लिए अप्सराओं को नियुक्त किया गया। 'सर्ववेश्म' का अर्थ है—झरोखे वाले नेपथ्यगृह अर्थात् गवाक्ष, नेपथ्यगृह आदि की रक्षा के लिए यक्षणियों को नियुक्त किया गया तथा भूतल (फर्श) की रक्षा के लिए महोदधि (समुद्र) को नियुक्त किया गया ॥ ८८ ॥

---

१. ख. धरणीषु स्थिता भूता।

२. क–न. त. महोदधिर्महीपृष्ठे यक्षिण्यः सर्वपर्वसु।

३. क. पुस्तके शालस्विति। स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहद्वितीयभूमिसन्निवेशादिति पाठः।

[1]द्वारशाला नियुक्तौ तु कृतान्तः काल एव च ।
[2]स्थापितौ द्वारपत्रेषु नागमुख्यौ महाबलौ ॥ ८९ ॥
देहल्यां यमदण्डस्तु शूलं [3]तस्योपरि स्थितम् ।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ [4]नियतिर्मृत्युरेव च ॥ ९० ॥
[5]पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान्स्वयम् ।
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद्दैत्यनिषूदनी ॥ ९१ ॥

नागमुख्याविति । अनन्तगुलिकौ । द्वारपत्रं कवाटात्मकम् । द्वारबहुत्वाच्च बहुवचनम् ॥ ८९ ॥

देहल्यामिति । द्वाराधस्तनकाष्ठे । तस्येति । शूलमिति । एतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम् । तेनोर्ध्वकाष्ठे उत्सङ्गशब्दवाच्ये त्रिशूलमित्यर्थः ॥ ९० ॥

अनुवाद—द्वारशाला यमराज और काल को तथा द्वारपात्र अर्थात् द्वार के दोनों बगल के किवाड़ों की रक्षा में महाबलशाली दो प्रमुख नागों को स्थापित किया ॥ ८८ ॥

अभिनव—'नागमुख्यौ' का अभिप्राय 'शेषनाग' और 'गुलिक' से है । द्वारपत्र किवाड़ रूप है । अनेक द्वार होने से बहुवचन का प्रयोग है ॥ ८९ ॥

विमर्श—यहाँ पर कृतान्त का अर्थ यमराज और काल का अर्थ समय है । 'मुख्यनागौ' से दो प्रमुख नागों का ग्रहण होता है । अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक शंख, गुलिक, पद्म और महापद्म ये आठ महानाग हैं । इनमें अनन्त और गुलिक ये दो नाग प्रमुख हैं अतः इन दोनों को दोनों किवाड़ों की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया ॥ ८९ ॥

अनुवाद—देहली पर यमदण्ड को और उसके ऊपर त्रिशूल को स्थापित किया गया । दोनों ओर नियति और मृत्यु ये दो द्वारपाल नियुक्त किये गये ॥९०॥

अभिनव—'देहल्याम् (देहली पर) का तात्पर्य है दरवाजे के नीचे की लकड़ी अर्थात् चौखट पर । 'तस्य' इस पद से प्रक्रान्त द्वार का ग्रहण होता है । इसलिए उत्सङ्ग शब्द से वाच्य उत्सङ्ग कहलाने वाले ऊपर के काष्ठ पर शूल अर्थात् त्रिशूल रख दिया ॥ ९० ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ के पार्श्व (बगल) में स्वयं महेन्द्र स्थित हुए और मत्तवारणी की रक्षा में दैत्यों को नष्ट करने वाली विद्युत् (बिजली) को स्थापित किया गया ॥ ९१ ॥

---

१. ख. द्वारशाला नियुक्तस्तु । ग. द्वारशाखानियुक्तौ तु ।
२. ख. स्थापितौ द्वारपार्श्वे तु नागराजौ महाबलौ ।
३. ख. चोपरि संस्थितम् । ४. क–ग, म. निवृति । ५. ख. पार्श्वे तु ।

स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिताः परिपालने[1] ।
[2]भूतयक्षपिशाश्च गुह्यकाश्च महाबलाः ।। ९२ ।।
जर्जरे तु[3] विनिक्षिप्तं वज्रं दैत्यनिबर्हणम् ।
[4]तत्पर्वसु विनिक्षिप्ताः सुरेन्द्रा ह्यमितौजसः ।। ९३ ।।

पार्श्वे स्वयमिति । राजादेस्तत्स्थानमित्युक्तम् । चकारात्स्वदिशि अंशेनावस्थानमनुस्मृतम् । विद्युदिति । वज्रायुधरूपा ॥ ९१ ॥

स्तम्भेष्वपि चतुर्षु यथाक्रमं तद्भूतादयः । ते च नाट्यतत्त्वविदः । अत एव विघ्नैः सह ये (ते) नयेन मिलिता[5] इति द्रष्टव्यम् । एतेन सिद्धिविघातका भेदाख्येनाप्युपायेन दुर्बलीकर्तव्या इति सूचितम् ॥ ९२ ॥

अभिनव—'पार्श्वे स्वयम्' इस पद से 'वह राजा आदि का स्थान है, यह सूचित होता है। चकार से अपनी दिशा (पूर्व) में अंशरूप स्थिति को सूचित किया गया है। 'विद्युत्' पद से 'वज्र का आयुध' अर्थ गृहीत होता है ॥ ९१ ॥

अनुवाद—मत्तवारणी के स्तम्भों पर उनकी रक्षा के लिए महाबलशाली भूत, यक्ष, पिशाच और गुह्यक नियुक्त किये गये ॥ ९१ ॥

अभिनव—'स्तम्भेषु' अर्थात चारों स्तम्भों पर क्रमानुसार भूत आदि स्थापित किये गये अर्थात् मत्तवारणी के चारों स्तम्भों पर क्रमशः भूत, यक्ष, पिशाच और गुह्यक रक्षा के लिए नियुक्त किये गये और वे नाट्य के तत्त्व को जाननेवाले थे, इसलिए विघ्नों के साथ वे नीति से मिल गये। यहाँ पर यह पाठभेद पाया जाता है—'अतएव विघ्नैः सह न मिलिता'। तब इसका अर्थ होगा–'इसलिए वे विघ्नों के साथ नहीं मिल सके' यह समझना चाहिए। इससे भेद नामक उपाय से 'सिद्धि के विघातक विघ्नों को दुर्बल कर दिया, यह बात सूचित होती है। शास्त्रों में शत्रु को पराजित करने के लिए चार उपाय बताये गये हैं—साम, दान, दण्ड और भेद। यहाँ पर चतुर्थ उपाय भेद द्वारा शत्रु को शक्तिहीन करने का निर्देश किया गया है ॥ ९२ ॥

अनुवाद - जर्जर नामक इन्द्रध्वज पर दैत्यों का नाश करने वाला दैत्य विनाशक वज्र स्थापित किया गया और उसके पर्वों पर अपरिमित शक्ति वाले श्रेष्ठ देवता स्थापित किये गये ।। ९३ ।।

---

१. ग. परिरक्षणे । २. ख. भूता यक्षाः । ३. ख. चैव निक्षिप्तं ।
४. क-न. सन्धौ सन्धौ । क-म. तत्पर्वसु च निक्षिप्तम् । ५. 'ङ' विघ्नैः सह न मिलिता ।

शिरःपर्वस्थितो[1] ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा ।
[2]तृतीये च स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ ९४ ॥
पञ्चमे च महानागाः शेषवासुकितक्षकाः ।
एवं विघ्नविनाशाय स्थापिता [3]जर्जरे सुराः ॥ ९५ ॥
रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ।
[4]इष्टचर्थं रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥ ९६ ॥

प्रतिष्ठित इति । सदैव सन्निहितो वास्तुमध्य इत्यर्थः । कवेश्च सन्निधानं सूचितम् ॥ ९६ ॥

अनुवाद - जर्जर के शिरःस्थानीय ऊपर के पर्व पर ब्रह्मा स्थित हुए, दूसरे पर्व पर शङ्करजी, तृतीय पर्व पर विष्णु जी और चतुर्थ पर्व पर स्कन्द (कार्त्तिकेय) स्थित हुए, पाँचवें पर्व पर शेष, तक्षक, वासुकि महानाग स्थापित किये गये । इस प्रकार विघ्नों के विनाश के लिए जर्जर के प्रत्येक पर्व पर देवताओं को स्थापित किया गया ॥ ९४-९५ ॥

विमर्श - 'जर्जर' बांस का एक लट्ठ होता है जिसकी लम्बाई १०८ अङ्गुल की होती है । इसमें पाँच पर्व (पौर, पोढ़) और चार गांठें होती हैं, इस जर्जर के एक-एक पर्व पर श्रेष्ठ देवताओं को स्थापित किया गया । सबसे शीर्षस्थ पर्व पर स्वयं ब्रह्मा स्थित हुए । द्वितीय पर्व पर शङ्कर, तृतीय पर विष्णु, चतुर्थ पर स्कन्द और पञ्चम पर्व पर शेष, वासुकि, तक्षक ये महानाग विघ्नों से रक्षा के लिए स्थापित किये गये ॥ ९४-९५ ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ के मध्य में स्वयं ब्रह्माजी प्रतिष्ठित हुए । इसलिए रङ्गपीठ के मध्य में पूजा के लिए अथवा इष्टि-सिद्धि के लिए पुष्प-मोक्षण (पुष्पाञ्जलि) किया जाता है ॥ ९६ ॥

अभिनव—'प्रतिष्ठित' इस पद से सूचित किया गया है कि वास्तु के मध्य में सदैव सन्निहित रहते हैं और कवि का सान्निध्य भी सूचित होता है ॥ ९६ ॥

विमर्श—यहाँ यह बताया गया है कि रङ्गपीठ के बीच में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं, इसीलिए नाटच के प्रारम्भ में नाटचप्रयोग की सफलता के लिए सर्वप्रथम पुष्पाञ्जलि अर्पित करने का विधान है अर्थात् रङ्गपीठ के मध्य में पुष्प चढ़ाया जाता है । इसी को पुष्पमोक्षण कहते हैं । पुष्पाञ्जलि के विधान से समस्त विघ्न-बाधाओं की निवृत्ति तथा प्राणियों की रक्षा होती है और देवता प्रसन्न होते हैं और सामाजिक का ऐश्वर्यवर्द्धन होता है ॥ ९६ ॥

---

१. ग. शिरः पार्श्वे ततो । क–न. शिरो रक्षन् स्थितो ब्रह्मा हरः पर्वण्यनन्तरे ।
२. ख. तृतीये भगवान् । ३. क-ब. जर्जरेश्वराः । ४. ख-ग. इत्यर्थं ।

पातालवासिनो ये च यक्षगुह्यकपन्नगाः ।
अधस्ताद्रङ्गपीठस्य रक्षणे ते[1] नियोजिताः ।। ९७ ।।
नायकं रक्षतीन्द्रस्तु नायिकां च सरस्वती ।
विदूषकमथोङ्कारः[2] शेषास्तु प्रकृतीर्हरः ।। ९८ ।।

अधस्तादिति । येन सुरङ्गाखननादि विघ्नकरणं निवार्यत इत्यर्थं ।।९७ ।।
प्राधनपात्राणि पृथग्रक्षणीयानीत्याह—नायकमिति ।
हास्यशृङ्गाराङ्गत्वाद्विदूषकमित्युक्तम् । अत एव दशरूपकप्रयोगसूचनमेतत् । समवकारे विदूषकाभावात् । हर इति । बहुमूर्तिप्रमथत्वात् ।। ९८ ।।

अनुवाद—और जो पाताल में रहने वाले यक्ष, गुह्यक और पन्नग (नाग) थे, उन्हें रङ्गपीठ के नीचे के हिस्से की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया ।। ९७ ।।

अभिनव—'अधस्तात्' इसका अभिप्राय है कि जिससे सुरङ्ग खोदने आदि विघ्न के कारणों का निवारण किया जा सके ।। ९७ ।।

विमर्श—यक्ष एक देवयोनि विशेष है । यक्ष कुबेर का भी नाम है । गुह्यक भी एक देवयोनि विशेष है । गुह्यक निधियों की रक्षा करता है । निधियाँ नौ हैं—पद्म, शंख, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व । ९७ ।।

प्रधान पात्रों की अलग से रक्षा करनी चाहिए, इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—इन्द्र नायक की रक्षा करते हैं, सरस्वती नायिका की रक्षा करती है, ओङ्कार विदूषक की रक्षा करता है और शेष पात्रों की रक्षा शिव स्वयं करते हैं ।। ९८ ।।

अभिनव—हास्य और श्रृङ्गार के अङ्ग होने के कारण 'विदूषक' यह कहा है। इसलिए यह दशरूपक के प्रयोग को सूचित करता है। क्योंकि समवकार में विदूषक नहीं होता है। 'हर' इस पद से शिवजी के अनेक रूप एवं प्रमथगण का ग्रहण होता है। 'प्रमथ' शिवजी के गण हैं और शिवजी स्वयं आठ मूर्ति वाले हैं इसलिए उन्हें 'अष्टमूर्त्ति' कहते हैं। शिवजी की पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यजमान रूप आठ मूर्त्तियाँ हैं। इसलिए अनेक मूर्त्तियों तथा बहुत से गण होने के कारण शिवजी शेष पात्रों की रक्षा करते हैं ।। ९८ ।।

विमर्श—यहाँ पर प्रधान पात्रों की रक्षा के लिए अलग से विधान बताया गया है । तदनुसार नायक की रक्षा इन्द्र, नायिका की सरस्वती, विदूषक की ओङ्कार और शेष पात्रों की शिव स्वयं रक्षा करते हैं, क्योंकि अनेक रूप एवं अनेक गण होने के कारण शिव सबकी रक्षा करने में समर्थ हैं ।। ९८ ।।

---

१. ख. विनियोजिताः ।   २. ख. ग. तु ।

यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे ।
[1]एतान्येवाधिदैवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः ॥ ९९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे देवैः सर्वैरुक्तः पितामहः ।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥ १०० ॥

देवता एव दैवतम् ॥ ९९ ॥

अथ [2]नाट्यतत्त्वघातनिरूपणार्थमुपक्रमते—एतस्मिन्निति ।

[3]नाशक्तस्य सामाङ्गीकरोति दुर्जन इति पूर्वं रक्षाकरणम् ॥ १०० ॥

अनुवाद—यहाँ नाट्यगृह की रक्षा करने के लिए ये जो जो देवता नियुक्त किये गये हैं ये ही उन उन स्थानों के अधिदेवता होंगे, ऐसा ब्रह्माजी ने कहा है ॥ ९९ ॥

अभिनव—देवता ही दैवत कहे जाते हैं। अर्थात् जो देवता जिस स्थान के रक्षक कहे गये हैं वे ही उस स्थान के अधिदेवता हैं अर्थात् उस स्थान के इष्टदेव हैं ॥ ९९ ॥

इसके बाद नाट्य के विघात (विनाश) का रहस्य निरूपण करने का उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—इसी समय सभी देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा कि—पहिले तो आप इन विघ्नों को शान्ति पूर्ण वचनों से (वाणी से) रोकने का प्रयास करें ॥ १०० ॥

अभिनव—असमर्थ (दुर्बल) के साम (सान्त्वना) को दुर्जन व्यक्ति नहीं मानता है, इसलिए पहिले रक्षा का विधान बताया गया है ॥ १०० ॥

विमर्श—अभिनवभारती के कुछ संस्करणों में 'अशक्तस्थ सामाङ्गीकरोति दुर्जनः' यह पाठ मिलता है। तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि 'अशक्त की बात दुर्जन मान लेता है, इसलिए पहिले रक्षा करण का उपाय बताया गया है। नीतिशास्त्र में चार प्रकार के उपाय बताये गए हैं—साम, दान, भेद और दण्ड (**भेदो दण्डः सामदानमित्युपायचतुष्टयम्**)। इनमें सान्त्वनापूर्ण वचनों से शत्रु को शान्त करना 'साम' कहलाता है। कुछ ले देकर शत्रु को शान्त करना 'दान' कहा जाता है। शत्रुओं में गुप्तचर आदि के द्वारा फूट डालना 'भेद-नीति' है और शक्ति से दण्ड देना 'दण्डनीति' है। नीतिशास्त्र के अनुसार पहिले साम का प्रयोग करना चाहिए, तत्पश्चात् दान का, तदनन्तर भेद का और उसके बाद दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए। इसी को उपायचतुष्टय कहते हैं। इसी बात को अगली कारिका में स्पष्ट करते हैं ॥ १०० ॥

---

१. ग. एतेषामधिदेवास्तु ।

२. क. नाट्यतत्त्वघाते (विघाते) स तन्निरूपणार्थमुपक्रमते— ३. क. अशक्तस्य ।

पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च ।
तयोरुपरि भेदस्ततो दण्डः [1]प्रयुज्यते ॥ १०१ ॥
देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा [2]विघ्नानुवाच ह ।
[3]कस्माद्भवन्तो नाट्यस्य [4]विनाशाय समुत्थिताः ॥ १०२ ॥
ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः[5] ।
दैत्यैर्विघ्नगणैः सार्धं सामपूर्वमिदं ततः[6] ॥ १०३ ॥

सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति—पूर्वं सामेत्यादि ।
तयोरुक्तद्वयोरिति । तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत् ॥१०१॥
तत्र ज्ञाताभिप्रायः प्रतिसमाधातुं सुशक इत्यभिप्रायेणाह देवानामिति ।
कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति—ब्रह्मणो वचनमिति ।

पूर्व कारिका में पठित 'तावत्' शब्द के द्वारा सूचित सामादि के प्रयोग के क्रम को स्पष्ट करते हैं—

अनुवाद—पहिले साम का प्रयोग करना चाहिए, तदनन्तर दान का प्रयोग करना चाहिए, इन दोनों के पश्चात् भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए और उसके बाद अन्त में दण्ड का प्रयोग करना चाहिए ॥ १०१ ॥

अभिनव—'तयोः' पद से अभिप्राय है—'पहिले कहे हुए दोनों साम और दान के बाद । 'ततः' पद का अर्थ है कि उसके बाद अर्थात् अन्य सब उपायों के निष्फल हो जाने पर अन्त में दण्ड का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् शक्ति से आक्रमण कर शत्रु को दण्ड देना चाहिए ॥ १०१ ॥

अभिप्राय जान लेने पर उसका समाधान करना सरल है, इस अभिप्राय से कहते हैं—

अनुवाद—देवताओं के वचन को सुनकर ब्रह्माजी ने विघ्नों से कहा कि आप लोग इस नाट्य (अभिनय) के विनाश के लिये क्यों उद्यत हुए हैं ॥ १०२ ॥

कवि का वचन ध्यान देने योग्य होता है, यह बात 'ब्रह्मणो वचनम्' इत्यादि के द्वारा कहते हैं—

अनुवाद—तब ब्रह्मा के वचन को सुनकर विरूपाक्ष ने दैत्यों और विघ्नगणों के साथ शान्तिपूर्वक इस प्रकार वचन कहा ॥ १०३ ॥

---

१. ग. ब. प्रशस्यते । २. ख. घ. वचनमब्रवीत् ।
३. ग. कथं । काशीसंकरणे 'ख' पुस्तके 'कस्माद्भवन्तो' इत्यारभ्य 'त्वत्तः सर्वे विनिर्गताः' इति यावत् सार्द्धत्रयश्लोकाः न सन्ति ।
४. ग. विनाशार्थमुपस्थिताः । ५. क-म. ब्रवीदिदम् । ६. ग. वचः ।

योऽयं भगवता [1]सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया[2] ।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं [3]सुरार्थं भवता कृतः ॥ १०४ ॥
तन्नैतदेवं कर्तव्यं त्वया लोकपितामह ।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः सर्वे[4] विनिर्गताः ॥ १०५ ॥
[5]विघ्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
अलं वो मन्युना दैत्या विवादं[6] त्यजतानघाः ॥ १०६ ॥

सुरार्थमित्यस्यैव दार्ढ्यायोक्तं सुरेच्छयेति । प्रत्यादेश इति खलीकार इत्यर्थः । भवतेति । यस्यानुचितमेतदित्यर्थः ॥ १०४ ॥

अनौचित्यमेव लोकपितामहेत्यामन्त्रणेनाह । तदेव पितामहत्वं दर्शयति—यथेति । आत्मनोभवा देवा दैत्याश्चेत्याह—सर्व इति ॥ १०५ ॥

अनुवाद—आपने देवताओं की इच्छा से जो यह नाट्यवेद की रचना की है । आपने देवताओं के लिए यह हमारा तिरस्कार किया है ॥ १०४ ॥

अभिनव—'देवताओं के लिए' (नाट्य बनाया) इसी बात को दृढ़ करने के लिए 'सुरेच्छया' यह पद कहा है । 'प्रत्यादेश' पद का अर्थ 'तिरस्कार' है । 'भवता' पद का अभिप्राय है कि—'जिस ब्रह्मा के लिए ऐसा करना अनुचित है ॥ १०४ ॥

विमर्श—विरूपाक्ष का कहना है कि हे ब्रह्मन् ! आप के लिए हम सभी बराबर है । आपके लिए जैसे देवता हैं वैसे दैत्य हैं, क्योंकि आपने ही सबको उत्पन्न किया है किन्तु आपने देवताओं का पक्ष लेकर नाट्यशास्त्र की रचना कर हमारा तिरकार किया है जो आप जैसे पितामह के लिए अनुचित है ॥ १०४ ॥

अनुवाद—हे लोकपितामह ! आप को ऐसा नहीं करना चाहिए, आपके लिये जैसे देवता हैं वैसे दैत्य, क्योंकि आप से ही सभी उत्पन्न हुए है ॥ १०५ ॥

अभिनव—पूर्व श्लोक में कथित 'अनौचित्य' को 'लोकपितामह' इस सम्बोधन से कहा गया है । 'यथा' पद से 'पितामहत्त्व' को दिखाया गया हैं । 'सर्वे' पद से यह कहा गया है कि 'देवता और दैत्य सभी आप से उत्पन्न है ॥ १०५ ॥

अनुवाद—विघ्नों के वचन को सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—हे दैत्यों ! आप लोग क्रोध न करें । हे निष्पाप दैत्यों ! विषाद को त्याग दीजिये । ॥१०६॥

---

१. क-म. ठ. सम्यक् ।   २. क-म. ठ. प्रवर्त्तितः । ज. प्रवर्त्तिता ।
३. क-ज. म. देवार्थे ।   ४. ग. पूर्वविनिर्गताः ।
५. ख. पुस्तके 'विघ्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत्' इत्यर्धश्लोको नास्ति । 'ग' पुस्तके 'विरुपाक्षवचः श्रुत्वा' इति पाठः ।
६. ग. विषादस्त्यजतामयम् ।

भवतां देवतानां च [1]शुभाशुभविकल्पकः ।
कर्मभावान्वयापेक्षी[2] नाट्यवेदो मया कृतः ।। १०७ ।।

वचनमिति । सुपरिहरमेतत् । नात्र भूयान्प्रयास इत्येकवचनेन दर्शयति । अत एव सिद्धवदुपक्रमते—अलं व इति मिथ्याज्ञानगृहीतसर्पत्रासवद्यो भ्रान्तिमात्रकृत इत्यर्थः । दैत्यानामशुभकारिता लोकप्रसिद्धा । कुरु (कृत) रङ्गविभागञ्चैषां चेष्टितमस्तु । देवानां तद्विपर्यय इति नाट्यस्य न तात्पर्यं येन भवतां मन्युः ।। १०६ ।।

अभिनव—'वचनम्' इस पद से यह सूचित होता है कि आप के दोषारोपण का परिहार सरलता से किया जा सकता है । इसमें अधिक प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है, यह बात एकवचन के द्वारा दिखाते हैं । इसलिए सिद्ध की तरह उपक्रम करते हैं कि आप लोगों को क्रोध नहीं करना चाहिए । मिथ्याज्ञान से गृहीत रस्सी में सर्प से उत्पन्न भय के समान जो क्रोध केवल भ्रान्ति के कारण है । दैत्यों की अशुभकारिता (दुष्टता) और देवताओं की शुभकारिता (सज्जनता) लोक में प्रसिद्ध हो जाय, इसमें नाट्य का तात्पर्य नहीं है । जिससे आप लोगों ने क्रोध किया । अतः आप लोग क्रोध को त्याग दीजिये । ।। १०६ ।।

विमर्श—ब्रह्मा दैत्यों से कहते हैं कि हे दैत्यों ! जिस प्रकार लोग मिथ्याज्ञान के कारण भ्रमवश रस्सी को सांप समझकर उससे डर जाते हैं उसी प्रकार आप लोगों को भ्रम हो जाने से क्रोध हुआ है । देवता अच्छे हैं और दैत्य बुरे हैं, इस बात को बताने के लिए मैंने नाट्यरचना नहीं की है । शुभ कर्म करने से अच्छा फल मिलता है और अशुभ कर्म करने से बुरा फल मिलता है, इसी भाव को प्रकट करने के उद्देश्य से मैंने नाट्यरचना की है, अतः आप लोगों को भ्रमवश क्रोध नहीं करना चाहिए ।। १०६ ।।

अनुवाद—आप के और देवताओं के शुभ और अशुभ कर्मों को बतलाने वाला तथा कर्म एवं भावों के अनुगमन (अन्वय) की अपेक्षा रखने वाला इस नाट्यवेद को मैंने बताया है ।। १०७ ।।

प्रकारान्तर से इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

आप के अर्थात् दैत्यों के और देवताओं के शुभ और अशुभ कर्मों का चिन्तक कर्म, भाव (आशय) एवं वंश का प्रकाशक उस नाट्यवेद को मैंने बनाया है ।। १०७ ।।

---

१. ग. शुभाशुभविकल्पकः ।　　२. ख. कर्मभावान्वयापेक्षो ।

किं तर्हीत्याह। शुभकारिणः शुभं फलमशुभकारिणोऽशुभं फलमित्येताव-देवास्माकं प्रतिसाक्षात्कारकल्पे नाट्ये प्रदर्शनीयम्। न तत्र देवेषु दैत्येषु वा कश्चिद्भरः। अत एव भवतामपि धर्मादौ यः सदुपायः सोऽपि शुभविपाकत्वेनैव दर्शितः। अत एव शुभग्रहणमेकतरपक्षशैथिल्यदर्शनाय दैत्यसम्बन्धनार्थं प्रथम-मुपात्तम्।

शुभमशुभं च धर्माधर्मरूपं सुखदुःखफलत्वेन विभेदेन कल्पयत्यध्य-वसाययति नाट्यवेदः। कीदृक्—कर्मभावान्वयापेक्षीति। तद्यथा—धर्मो दानं स्नानमित्यादिः। अधर्मो हिंसा स्तेयमित्यादिः। भाव आशयः स्त्री (स्व) प्रसङ्गोदिता स्वार्थतापरार्थताद्यभिसन्धिरित्यादिः। अन्वयोऽभिजनः आर्यावर्ता-दिर्ब्राह्मण्या···श्चेति (ण्यञ्चेति)। तानपेक्षते सहकारितया।

एतदुक्तं भवति—अस्मिन्देशेऽस्मिन्काले ईदृशेन कर्मणा यः शुभमशुभं चार्जयति स एवंविधफलभागी भवतीति न तावदिहोपदिश्यते। विकल्पक इति द्वौ णिचौ॥ १०७॥

अभिनव—तो क्या बात है ? इस पर कहते हैं—कि शुभ कर्म करने वाले को शुभ फल मिलता है और अशुभ कर्म करने वाले को अशुभ फल मिलता है, केवल इतनी ही बात हमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार रूप नाट्य में दिखलाना है। उसमें देवता अथवा दैत्यों के ऊपर कोई विशेष भार (बल) नहीं है। इसलिए आपलोगों का भी धर्मादि रूप जो उत्तम उपाय है उसका भी शुभ फल अर्थात् उत्तम परिणाम दिखलाया गया है। इसलिए किसी एक पक्ष के (देवताओं अथवा दैत्यों के) साथ शिथिलता दिखलाने के लिए और दैत्यों ने साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए 'शुभ' पद का ग्रहण पहिले किया गया है। शुभ कर्म धर्म रूप है और अशुभ कर्म अधर्म रूप। धर्मरूप शुभ कर्म का फल सुख है और अधर्म रूप अशुभ कर्म का फल डुःख है, इस प्रकार फल भेद के अनुसार नाट्यवेद सुख-डुःख फल रूप शुभ-अशुभ कर्मों की कल्पना करता है। किस प्रकार का—कर्मभावान्वयापेक्षी अर्थात् कर्म, भाव एवं वंश की अपेक्षा रखने वाला। जैसे, धर्म दान, स्नान आदि और अधर्म हिंसा, चोरी आदि। भाव का अर्थ आशय है अर्थात् स्त्री के प्रसङ्ग में कही गई स्वार्थपरता और परार्थपरायणता आदि रूप अभि-सन्धि अर्थात् स्वार्थाभिसन्धि एवं परार्थाभिसन्धि आदि। 'अन्वय' का अर्थ अभिजन आर्यावर्त्त आदि देश तथा वंश ब्राह्मण आदि वंश है। नाट्य में इनकी सहकारी रूप में अपेक्षा रहती है। यह कहा गया है कि—'इस देश में इस काल में इस प्रकार के कर्म के द्वारा जो शुभ एवं अशुभ (पुण्य एवं पाप) का अर्जन करता है वह इस प्रकार का प्राप्त करता है' इस बात का उपदेश यहाँ नहीं दिया जाता है, यह तो धर्मशास्त्र का विषय है। 'विकल्पक' पद में णिच् और ण्वुल् दो प्रत्यय हैं। वि उपसर्ग कल्प् धातु से णिच् (णि का लोप) तथा ण्वुल् (अक) प्रत्यय होकर 'विकल्पक' शब्द बनता है॥ १०७॥

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्[1]।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १०८ ॥

ननु चैवमप्यस्मत्पृष्ठे [2]किमेतद्योजितमित्याह—नैकान्तत इति।

अयं भावः—न युष्मत्पृष्ठे केनचिदेतद्योजितम्। देवासुरस्य बहिर्यथास्वस्थमवस्थानम्। अत्रेति-नाट्यवेदे। न देवासुराणामेकान्तेनानुभावनम्। नैव तेऽनुभाव्यन्ते केनचित्प्रकारेण। तथाहि—तेषु न तत्त्वेन धीः। न सादृश्येन यमलकवत्। न भ्रान्तत्वेनरूप्यस्मृतिपूर्वकशुक्तिरूप्यवत्। नारोपेण सम्यग्ज्ञानबाधानन्तरमिथ्याज्ञानरूपेण मुखं चन्द्र इतिवत्। न तदध्यवसायेन गौर्वाहीकवत्। नोत्प्रेक्ष्यमाणत्वेन चन्द्रमुखवत्। न तत्प्रतिकृतित्वेन चित्रपुस्तवत्। न तदनुकारेण गुरुशिष्यव्याख्याहेवाकवत्। न तात्कालिकनिर्माणेनेन्द्रजालवत्। न युक्तिविरचिततदाभासतया हस्तलाघवादिमायावत्।

दैत्य लोग कहते हैं कि यदि हम यह मान भी लें कि आपने हमारे अपमान के लिए नाट्य की रचना नहीं की है, फिर आपने हमारे ही चरित्र के ऊपर इस प्रकार के अभिनय का संयोजन क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि—

अनुवाद—इस नाटच में न तो आप लोगों का और न देवताओं का ही अनुभावन (अनुकरण) हुआ है, अपितु यह नाटच समस्त त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्त्तन है ॥ १०७ ॥

अभिनव—भाव यह कि आपके ऊपर किसी ने इस नाट्य की योजना नहीं की है ! वल्कि देवता एवं असुरों का नाट्य के बाहर (पूर्वकाल में) जिस रूप में अवस्थान था उसी रूप में यहाँ (नाट्य में) प्रदर्शित किया गया है। 'अत्र' पद का अर्थ है—इस नाट्यवेद में केवल देवता एवं असुरों का ही अनुभावन (अनुकरण या प्रदर्शन) नहीं होता; क्योंकि किसी प्रकार से भी उनका प्रदर्शन या अनुकरण नहीं किया जा सकता है। नाट्य में उनकी तत्त्वतः बुद्धि नहीं होती अर्थात् नाट्य-प्रयोग में उन देवताओं एवं असुरों का यथार्थज्ञान नहीं होता और न जुड़वे बच्चे की तरह सादृश्यज्ञान से ही प्रतीति होती है। न रजत के स्मरणपूर्वक शुक्ति में रजतज्ञान के समान भ्रान्तिबुद्धि होती है और न सम्यग्ज्ञान (सत्यज्ञान) के बाधा होने पर मिथ्याज्ञानरूप आरोप से ही प्रतीति होती है। इसी तरह न 'गौर्वाहीकः' के समान समानगुणों के अध्यवसाय से, न 'मुखं चन्द्रः' (मुख मानो चन्द्रमा है) के से समान उत्प्रेक्षा (सम्भावना) से, न चित्र या पुत्तली आदि खिलौने के समान प्रतिकृति रूप से, न इन्द्रजाल के समान तात्कालिक रचना से, न गुरु-शिष्य के व्याख्यान के समान अनुकरण रूप से, और न हाथ की सफाई आदि माया के समान युक्ति (चतुराई) से वस्तु की प्रतीति करा देने से नट में रामादि की प्रतीति होती है।

---

१. ख. चावभावनम्। ग. चापि भावनम्। २. किमित्येतत्।

सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वसाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्येरसास्वादायोगात्। कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्। लौकिकमिथुनदृशीव [1]सांसारिकहर्षक्रोधान्वयितापत्तेरुभयदर्शनाकुलतया [2]मुख्यदृष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ तद्धि सम्पत्त्य(द्विसंवित्त्य)भावात्।

इन सभी पक्षों में असाधारणता होने से द्रष्टा (सामाजिक) के उदासीन हो जाने से रस का आस्वादन नहीं होता और कवि के लिए भी वर्णनीय वस्तु के वर्णन में अनौचित्य का परित्यग सम्भव न होने से काव्य का निर्माण सम्भव नहीं हो सकेगा और लौकिक दम्पति के देखने पर जिस प्रकार हर्ष-क्रोधादि का होना आवश्यक है, उसी प्रकार मुख्य अर्थात् अनुकार्य रामादि अथवा प्रयोक्ता नट के देखने पर दोनों स्थितियों में मन में आकुलता होने से उस प्रकार की बुद्धि न होने से सांसारिक हर्ष-क्रोधादि ही उत्पन्न होंगे। ऐसी स्थिति में तादात्म्य न होने से रसानुभूति नहीं होगी।

विमर्श—ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि दैत्यों के पूछने पर ब्रह्मा जी कहते हैं कि मैंने आप लोगों का तिरस्कार करने के लिए आपके चरित्र को न्यूनता दिखाने के लिए नाट्य की रचना नहीं की है, क्योंकि नाट्य में केवल असुरों एवं देवताओं के चरित्र का ही प्रदर्शन नहीं होता, अपितु चाहे असुर हों या देवता, जिसका जैसा स्वभाव होता है उसका उसी रूप में प्रदर्शित करने के लिए नाट्य होता है। इसीलिए नाट्य में दैत्यों के पराजय एवं असुरों के विजय के रूप में जिसकी जैसी स्थिति थी उसका उसी रूप में अनुकरण किया गया है। किसी वर्गविशेष को तिरस्कृत करने के उद्देश्य से ऐसा नहीं किया गया है। क्योंकि नाट्यप्रयोग में नटों में जो अनुकार्य देवता अथवा असुर आदि की प्रतीति होती है वह वास्तविक प्रतीति नहीं होती कि यह वही देवता है अथवा यह वही असुर है। वल्कि अनुकरण रूप साधारण प्रतीति होती है, अलौकिक देवता या असुर के रूप में नहीं और न सादृश्यमात्र से ही 'नट देवता के समान है, नट असुर के समान है' इस प्रकार की प्रतीति होती है, क्योंकि जुड़वे बच्चे के समान अर्थात् जिस प्रकार एक साथ पैदा हुए दो जुड़वे बच्चे में साम्य पाया जाता है उस प्रकार नट में देवासुरादि का साम्य नहीं पाया जाता। भ्रान्ति से भी नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि जिस प्रकार सीप को देखकर अज्ञानवश उसमें रजत का अवभास होता है और स्मृति के आधार पर सीप को रजत समझ लिया जाता है, उस प्रकार भ्रमवश भी नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं होती। यथार्थज्ञान के बाध होने पर अवयार्थज्ञान (मिथ्याज्ञान) होता है। उस मिथ्याज्ञान से भी नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार 'गौर्वाहीकः' अर्थात् बाहीक देशवासी बैल हैं' में जैसे जड़ता आदि गुणों का वाहीक

१. क-म. क्रोधान्वितता। २. मुखदृष्टौ।

देशवासियों पर आरोप होने से उन्हें 'बैल' कहा जाता है उशी प्रकार समान गुणों के आधार पर नट में देवासुरादि का आरोप नहीं किया जा सकता है। जैसे 'नूनं मुखं चन्द्रः' (मुख मानो चन्द्रमा है) इसमें मुख में चन्द्रमा की सम्भावना की जाती है, उस प्रकार से सम्भावना के आधार पर नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं हो सकती। जैसे चित्र अथवा मिट्टी से निर्मित घोड़े को देखकर 'यह घोड़ा है' इस प्रकार का व्यवहार होता हैं उस प्रकार नट में देवासुरादि की प्रतिकृति का ज्ञान नहीं होता। नट को भी 'यह देवता है, यह असुर है ऐसा नहीं कहते। जिस प्रकार शिष्य गुरु के मुख से जैसा सुनता है वैसे अनुकरण कर लेता है, इस प्रकार अनुकरण के आधार पर भी नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं होती। इन्द्रजालिक जब जैसा चाहता है तुरन्त उस प्रकार का निर्माण कर देता है। इस प्रकार तात्कालिक रूप परियत्तंन आदि निर्माण करने के कारण भी नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं होगी, इसी प्रकार हाथ की सफाई में कुशल जादूगर के समान अर्थात् जादूगर जादूसे तुरन्त अनेकों वस्तुओं को निकाल देता है तदनुसार भी नट में देवासुरादि की प्रतीति नहीं हो सकती। इस तरह दस प्रकार की प्रतीतियों में से किसी भी प्रतीति से नट में देवता एवं असुरों की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने पर असाधारणता होने से उस सम्बन्ध में सामाजिक उदासीन हो जायगा और उसमें उसका तादात्म्य नहीं होगा तथा तादात्म्य न होंने से रस को अनुभूति नहीं होगी। इतना ही नहों कि सामाजिक को रसानुभूति नहीं होगीः अपितु कवि के लिए भी काव्य का निर्माण असम्भव ह्रो जायगा, क्योंकि किसी व्यक्तिविशेष के प्रणय-व्यापार का वर्णन करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि अनौचित्य वर्णन से काव्य में सौष्ठव नहीं आता है और सहृदय व्यक्ति को आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए साहित्यदर्पण में नाटच के प्रसङ्ग में कहा गया है कि जो वस्तु नामक अथवा रस के लिए अनुचित अथवा विरुद्ध हो उसका परित्याग कर देना चाहिए। अतः व्यक्तिविशेष के प्रणय का वर्णन अनुचित होने से परित्याग के योग्य है। किन्तु सामाजिक के तटस्थ न रहने से देवासुरादि की व्यक्तिगत विशेषताएँ हटकर साधारण रूप में प्रतीत होने लगती हैं। इसी साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक अपने को उससे अभिन्न समझने लगता है और विभावादि के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है उसकी व्यक्तिगत भावना मिट जाती है तब सामाजिक उसमें अपने स्वरूप का तादात्म्य कर रसानुभूति करता है और भी जैसे लौकिक जगत् में स्त्री-पुरुष के युगल को देखकर हर्ष-क्रोधादि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अनुकार्य देवासुरादि अथवा प्रयोक्ता नट के दर्शन होने पर दोनो स्थितियों में लौकिक हर्ष-शोकादि ही उत्पन्न होंगे। तब ऐसी स्थिति में तादात्म्य न होने से रसानुभूति नहीं हो सकती। भाव यह कि उपर्युक्त लौकिक दस प्रतीतियों में से किसी भी प्रतीति से नाटच में देवासुरादि की प्रतीति नही होती, इसलिए नाटच में देवों अथवा असुरों का किसी रूप में अनुभावन नहीं कराया गया है, इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तो नाटच में किसका अनुभावन होता है। इस पर कहते हैं कि समस्त त्रिलोकी के भावों का अनुभावन (अनुकरण) होता है।

किं तर्ह्येतत् । आह—त्रैलोक्यस्येति ।

एतदुक्तं भवति—एतादृशं तै(ते)रामादयो न कदाचन [1]प्रमाणपथमवतार्यन्ते यदाऽऽगमेन वर्ण्यन्ते । तदा तद्विशेषबुद्धिः[2] यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मक[3]सालक्षण्यपर्यवसानात् । न च तेषां वर्तमानतेत्युपगता तावद्विशेषबुद्धिः ।

[4]कथास्वपि हृदयमेव एव (हृदय एव) तावत्साधारणीभावो विभावादीनां जाता (तः)। तत्रापि कथामात्रे साधारणीभावः सम्भवति यद्यपि तथापि 'एवं ये कुर्वन्ति तेषामेतद्भवति' इति वाक्यवद्रञ्जनातिशयाभावान्न चित्तवृत्ते (ति) निर्णयगता[5] भवति ।

अभिनव—तो फिर यह क्या है ? यह बात 'त्रैलोक्यस्य' आदि के द्वारा दिखलाते हैं—

यह कहा गया है कि इस प्रकार के वे अनुकार्य रामादि कभी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण के पथ पर अवतरित नहीं किये जाते हैं। जब रामायण-सदृश एक महावाक्य के द्वारा रामादि में विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है तथापि विशेष (रामादि) को वर्तमान विषय होने से सम्भावित अर्थक्रिया के सामर्थ्यरूप स्वालक्षण्य (साधारण्य) में पर्यवासन होता है। अर्थात् साधारणता को प्राप्त होते हैं। उन ऐतिहासिक राम-सीता आदि की वर्तमानता नहीं है, इसलिए उनमें विशेषबुद्धि नहीं होती अतः उनका सामान्य रूप से अनुभव होता है।

कथाओं में भी हृदय में ही भावादिका साधारणीभाव होता है। यद्यपि वहाँ भी कथामात्र में साधारणीभाव हो जाता है तथापि 'इस प्रकार जो करता है उसे इस प्रकार का फल मिलता है' इस वाक्य के समान अतिशय रञ्जन (चमत्कार या आनन्द) होने से चित्तवृत्ति की तन्मयता नहीं होती, अतः चित्तवृत्ति निर्णय तक नहीं पहुँचती। इसलिए कथाओं में नाट्य के समान आनन्द नहीं मिलता है।

विमर्श—ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि लौकिक जगत् में हम जिस प्रकार व्यक्ति विशेष को देखते हैं, इतिहास, कथा, काव्य नाटक आदि में हम उन्हें उस रूप में अर्थात् असाधारण व्यक्तिविशेष के रूप में नहीं देखते हैं, जैसे रामायण आदि इतिहास ग्रन्थों में रामादि का यद्यपि व्यक्तिविशेष के रूप में ज्ञान होता है किन्तु उनके वर्तमान न होने से अर्थात् क्रियाकारित्व रूप स्वालक्षण्य न होने से उन्हें विशेष नहीं कहा जा सकता अर्थात् उनमें विशेष बुद्धि नहीं होती। अर्थक्रियाकारित्व का अभिप्राय है अर्थ (प्रयोजन) के लिए की जानेवाली क्रिया में सामर्थ्यरूप स्वालक्षण्य । भाव यह कि अर्थ अर्थात्

१. क-म. भ. पथमवतारयन्ते । २. क-म. सिद्धिः । ३. स्वालक्षण्यपर्यवसानाम् । ४. ङ कथास्वपि हृदय एव । ५. ङ निमग्नता ।

काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके[1] हृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिका तावद्भवति चित्तवृत्तिः। किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति।

नाट्ये तु पारमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवंभूताभिसन्धिसंस्काराभावात्सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्तविरसना (समा) दरणीयलोकोत्तरदर्शनश्रवणयोगी भविष्यामीत्यभिसन्धिसंस्कारादुचितगीतातोद्य[2]चर्वणाविस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः, [3]सूच्याद्यभिनयावलोकनोद्भिन्नप्रमोदशोकादितन्मयीभावः, पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषावेशानालिङ्गिते सम्यङ्मिथ्यासंशयसम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे, रामरावणादिविषयाध्यवसाये, तत्संस्कारानुवृत्तिकारणभततत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्यप्रमदानुभवसंस्कारसूचितसमनुगततदुक्तरूप [4]रामाध्यवसायसंस्कार एव भवन् पञ्चषैर्दिवसैः सचमत्कारतदीयचरितमध्यप्रविष्टस्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा [5]पश्यन् प्रत्येकं सामाजिको

प्रयोजन के लिए अभिनयरूप क्रिया के सम्पादन की शक्ति अर्थक्रियासामर्थ्य है। वही अर्थक्रियाकारित्व सत् या स्वलक्षण है। इस प्रकार विशेष का प्रयोजन के लिए की जानेवाली क्रियाओं के सामर्थ्य रूप साधारण्य में पर्यवसान होता है। इस प्रकार रामायण आदि इतिहास में विशेषबुद्धि नहीं होती, अपितु साधारणीकरण होता है। इसी साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक को रसानुभूति होती है। कथा में भी यद्यपि हृदय में विभावादि का साधारणीभाव होता है किन्तु कथाभाग में साधारणीकरण होने पर भी उनमें नाटक के समान आनन्द नहीं मिलता है।

अभिनव—अलौकिकरसैकप्राण अर्थात् अलौकिक रस ही प्राण है जिसका, ऐसे गुण और अलङ्कारों से मनोहर शब्दार्थरूप शरीर वाले काव्य में भी हृदय-संवाद के कारण अर्थात् हृदय के तन्मयीभाव हो जाने से चित्तवृत्ति की तन्मयता तो हो जाती है किन्तु उसमें भी सबको प्रत्यक्ष साक्षात्कार के समान बुद्धि उत्पन्न नहीं होती अर्थात् साक्षात्कारात्मक प्रतीति नहीं होती।

विमर्श—यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि काव्य में भी रामादि का व्यक्तिविशेष के रूप में भान नहीं होता अर्थात् उनमें विशेषबुद्धि नहीं होती, अपितु विभावादिका साधारणीकरण हो जाता है किन्तु काव्य में विथावादि का यह साधारणीकरण नाटच के समान आनन्दप्रद नहीं होता है। भाव यह कि काव्य में साधारणीकरण व्यापार होंने पर उसमें नाटच जैसा आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

१. क—म. रससम्प्रणिते। २. क—म वर्णना। ३. ङ सूत्रधाराद्यभिनया।
४.भ. परमाध्यवसाय। ५. भ. पश्यत्।

देशकालविशेषणापरामर्शेन एवंकारिणामिदमिति लोढा (लिङा) त्मकविधि-समर्पितं संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभाप्रतिमरसास्वादसह-चररम्यगीतातोद्यादिसंस्काररसानुभाववशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत एवोत्पु-ङ्खशतैरपि ग्लानिमात्रमप्यभजमानं भजंस्तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासासततस्यूत-वृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति ।

अभिनव—नाट्य में 'आज मेरा कोई पारमार्थिक कार्य होगा' इस प्रकार की अभिसन्धि एवं संस्कार का अभाव होने से समस्त (सारी) परिषद् (सभा) के लिए साधारण आनन्ददायक और अन्त तक सरस होने के कारण समादरणीय लोकोत्तर वस्तु के देखने एवं सुनने के योग्य बनूँगा, इस अभिसन्धि एवं संस्कार से उचित गीत, वाद्य की चर्वणा (आनन्द) द्वारा सांसारिक भावों के भूल जाने से निर्मल (स्वच्छ) दर्पण के समान विमल हृदय से युक्त सूच्य आदि अभिनयों के देखने से उद्भूत आनन्द एवं शोक आदि भावों से तन्मय होकर पाठ्य के श्रवण (सुनने) तथा अन्य पात्रों के प्रवेश के कारण देशविशेष एवं कालविशेष के आवेश से रहित और सम्यग् मिथ्या, संशय एवं सम्भावना आदि ज्ञान से ज्ञेयता के परामर्श से रहित, राम एवं रावण विषयक ज्ञान के होने पर, उस प्रकार के संस्कारों की अनुवृत्ति (निरन्तरता) के कारणभूत उसके सहयोगी मनोहर वस्तु रूप गीत, वाद्य, नर्तकी के अनुभवजन्य संस्कार से व्यक्त, उसके साथ अभिनीत होने वाले रामादि पात्रों के ज्ञान एवं संस्कार ही पाँच-छः क्षणों में चमत्कार से युक्त उन रामादि के चरित के मध्य अपने स्वरूप एवं बुद्धि को लगाकर अर्थात् रामादि के साथ तन्मयता को प्राप्त होकर अपने द्वारा सारे संसार को उसी प्रकार देखता हुआ प्रत्येक सामाजिक देश-काल के विशेषणों के परामर्श के बिना अर्थात् देश-काल की परिधि से परे 'इस प्रकार करने वालों को यह फल मिलता है' इस प्रकार आस्वाद रूप विधि से समर्पित ज्ञान के समानज्ञान विशेष के उपरञ्जक प्राणवल्लभा (प्रियतमा) के सदृश रसास्वाद के सहचर (साथ) रमणीय गीत, वाद्य आदि के संस्कार के कारण हृदय के अन्दर गड़े हुए, सैकड़ों उत्पुंखों से जरा भी मलिन न होने वाले ज्ञान को प्राप्त करने वाला उस-उस शुभ को प्राप्त करने की इच्छा तथा अशुभ को छोड़ने की इच्छा की प्रवृत्ति से सतत समनुस्यूत (व्याप्त) होने से शुभ का आचरण करता है और अशुभ का परित्याग करता है ।

विमर्श—भाव यह कि इतिहास, कथा तथा काव्य में यद्यपि साधारणीकरण होता है किन्तु उसमें नाटक के समान चमत्कारातिशयिता न होने से चित्तवृत्ति में तन्मयता का प्रादुर्भाव नहीं होता । नाटक में तो साधारणीकरण के साथ प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक आनन्द भी प्राप्त होता है । किन्तु सामाजिक उसके लाभ-हानि के संस्कार से शून्य रहता है ।

इदानीमुपायसंवेदनालाभात् तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः। नानुकार इति भ्रमितव्यम्। अनेन भाण्डेन राजपुत्रस्यान्यस्य वानुकृतेऽन्या (कृतावन्या) दिबुद्धेश्भावात्। तद्धि विका (क) रणमिति प्रसिद्धं हासमात्रफलं मध्यस्थानाम्। यदभिप्रायेण मुनिर्वक्ष्यति—

परचेष्टानुकरणाद्धासस्समुपजायते (अ. ७-१०) इति॥

तत्पक्षीयाणान्तु तदेव [1]द्वेषासूया (नु) वृत्त्यादिफलम्। तद्बुद्धयैव हि दैत्यानां हृदयक्षोभः 'एवम्भूता वयमुपहासभाजनम्' इति। [2]उपहासभीरवश्च निवर्तन्ते ततः, न तूपदेशेन।

यह नाट्य सभी लोगों के लिए आनन्दप्रद एवं सरस होने से आदरणीय है। सामाजिक गीत वाद्यादि के आस्वादन से सांसारिक भाव को भूल जाता है, उसका हृदय स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल हो जाता है, संवादों को सुनकर वह देशकाल की सीमा का अतिक्रमण कर सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सम्भावना आदि के ज्ञान से रहित होकर साधारणीकृत अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हैं। उसे राम-रावणादि विषयक ज्ञान पारम्परिक संस्कारों से प्राप्त होता है। किन्तु अभिनय में नाना प्रकार के गीत-वाद्यादि के आयोजन एवं प्रमदा आदि के अनुभवजन्य संस्कार से व्यक्त होकर रामादि के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर समस्त संसार को अपने द्वारा उसी रूप में देखता है और देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण कर रसास्वादन करता है, वह रसास्वादन कान्तासम्मित होने से प्रियतमा के समान अत्यन्त सुखद होता है और गीतवाद्य आदि तो उसे और अधिक उपरञ्जक बना देते हैं। इस प्रकार रसास्वादन के साथ गीतवाद्यादि के आनन्द में निमग्न, सजातीय-विजातीय चित्तवृत्तियों से अनाच्छादित, सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सम्भावना रूप ज्ञान से अज्ञेय, अनिर्वचनीय विशेषज्ञान का आश्रयण करने वाला सामाजिक शुभ कर्म का आचरण करता है और अशुभ कर्म का परित्याग करता है।

अभिनव- इस समय उपायभूत ज्ञान के प्राप्त न होने से नाट्य का दूसरा पर्यायवाची वह यह अनुव्यवसायविशेष (अनुकीर्त्तन) (अनुकरण रूप है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस भांड़ ने राजपुत्र की अथवा अन्य किसी का अनुकरण किया है, इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती क्योंकि वह अभिनेय के स्वरूप को विकृत करने वाला और मध्यस्थों के लिए हास्यमात्र का कारण है, यह प्रसिद्ध है। इसी अभिप्राय से भरतमुनि आगे कहेंगे—

"दूसरों की चेष्टा के अनुकरण से हास उत्पन्न होता है"। (ना० शा० ७।१०)

इससे उस पक्ष के लोगों में तो वह (अनुकरण) द्वेष, असूया, विरक्ति को उत्पन्न करता है। इसी के कारण दैत्यों के हृदय में क्षोभ उत्पन्न हुआ था कि हम लोग इस प्रकार हँसी-मजाक के पात्र हैं"। उपहास (मजाक) के डर से ही वे उससे विरक्त हो गये थे, किसी के उपदेश से नहीं।

नन्वेवं तावता नियतानुकारो माभूत्। अनुकारेण तु किमपराद्धम्। न किञ्चिदसम्भवादृते। अनुकार इति हि सदृशकरणम्। तत्कस्य। न तावद्रामादेः। तस्याननुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरणं पराकृतम्। न चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम्। न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावे वाननुकारत्वात्। न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किन्तु सजातीयानेव। न तु

विमर्श—यहाँ ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि नाटच अनुकरण रूप नहीं होता हैं। नाटच अनुकीर्त्तन अर्थात् अनुव्यवसायविशेष। है ज्ञान के ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। जैसे—'अयं घटः' (यह घड़ा है) यह व्यवसायात्मक ज्ञान है। उसके बाद 'घटमहं जानामि' (मै घड़े को जानता हूँ) अथवा 'घटज्ञानवानहम्' (मै घटज्ञानवान् हूँ) इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। उसी प्रकार रामादि के इतिवृत्त का कथन कीर्त्तन है और उसके बाद नट के रूप में जो अनुकथन हैं उसे अनुकीर्त्तन कहते हैं। यह नाटच का दूसरा पर्याय है। अर्थात् नाटच, अनुकीर्त्तन एवं अनुव्यवशायविशेष है अनुकरण नहीं है। क्योंकि अनुकरण उपहासात्मक होता है और नाटच आनन्दमूलक। इसलिए उपहासात्मक अनुकरण और नाटचानुकरण में अन्तर होता है। अनुकरण हास्य का कारण है, भिन्न श्रेणी के भांड़ आदि अनुकरण प्रस्तुत कर हास्य का सृजन करते हैं। इससे जिसकी हंसी की जाती है, जिसका मजाक उड़ाया जाता है, उसके मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, द्वेष, ईर्ष्या आदि भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए अनुकरण को हास्यात्मक कहा गया है। नाटच अनुकरण नहीं होता, वलिक यह अनुकीर्त्तन हैं, त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्त्तन है।

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार नियत अर्थात् व्यक्तिविशेष का अनुकरण भले ही न माने, किन्तु सामान्य का अनुकरण मानने में क्या अपराध है अर्थात् क्या हानि है ? इस पर कहते हैं कि असम्भव के अतिरिक्त और कोई अपराध नहीं है अर्थात् सामान्य का अनुकरण असम्भव है। क्योंकि अनुकरण का अर्थ सदृशकरण है, तो वह अनुकरण किसका माना जाय ? क्योंकि सदृश-क्रिया रूप अनुकरण तो अनुकार्य रामादि में नहीं माना जा सकता, क्योंकि रामादि अनुकार्य नहीं है। इसी (युक्ति) से प्रमदा आदि विभावों का अनुकरण भी खण्डित हो गया। शोक, क्रोध आदि चित्तवृत्तियों का भी अनुकरण सम्भव नहीं है। क्योंकि नट अपने शोक को राम के समान नहीं कर सकता है! क्योंकि उसमें (नट में) उसके (राम के) शोक का सर्वथा अभाव है। यदि मान भी लिया जाय तो अनुकरण नहीं होगा, क्योंकि दूसरी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो शोक के सदृश हो। नट अनुभावों का अनुकरण करता है किन्तु सजातीय का ही अनुकरण करता है, सदृशरूप का नहीं। क्योंकि समस्त संसार

तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थः। त्रैलोक्यवर्तिनः सदृशत्वन्तु न विशेषात्मना यौगपद्येनोपपद्यते। कदाचित्क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात्। सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकारार्थः। तस्मादनियतानुकारो नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम्। अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽप्ययमेवाभिप्रायो मन्तव्यः। न त्वनियतानुकारोऽपि।

साधारण रूप से विद्यमान वस्तु का किसके साथ क्या सादृश्य है? त्रिलोकी में व्याप्त सादृश्य व्यक्तिविशेष में एक समय में उत्पन्न नहीं होगा! यदि कभी हुआ भी तो क्रम से नियत में ही अनुकृत होगा, अनियत (अनिश्चित) में नहीं। सामान्य अर्थ में अनुकरण का क्या प्रयोजन है? इसलिए अनियत (सामान्य) का अनुकरणरूप नाट्य है, यह भ्रम नहीं करना चाहिए। हमारे उपाध्याय भट्टतौत के द्वारा रचित 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ में भी यही अभिप्राय समझना चाहिए। अतः अनियत में भी अनुकरण नहीं होगा।

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्य अनुकरण रूप या अनुभावन रूप नहीं होता। अनुकरण के दो रूप हैं—नियतानुकार और अनियतानुकार। किन्तु नाट्य न तो नियतानुकार रूप है और न अनियतानुकार रूप। नियतानुकार का अर्थ है व्यक्तिविशेष का अनुकरण और अनुकरण शब्द का अर्थ है सदृशकरण या सदृशक्रिया। विभावादि-रूप रामादि का अनुकरण सम्भव नहीं हैं, क्योंकि रामादि क्रियारूप नहीं हैं अपितु द्रव्यरूप हैं अतः उनका क्रियारूप अनुकरण नहीं हो सकता है। उसी प्रकार प्रमदा आदि विभावादि का भी अनुकरण नहीं किया जा सकता। भाव यह कि किसी भी विभाव का अनुकरण नहीं किया जा सकता है। इस पर कहते हैं कि ठीक है विभावादि का अनुकरण भले ही न हो, किन्तु हर्ष, शोक, क्रोध आदि चित्तवृत्तियों (अनुभावों) का तो अनुकरण किया जा सकता हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि हर्ष-शोकादि अनुभावों का भी अनुकरण सम्भव नहीं है। क्योंकि नटगत हर्ष-शोकादि भाव रामादि विभावों के ह-र्षशोकादि से सर्वथा भिन्न होते हैं अतः नट रामादि के हर्ष-शोक का अनुकरण नहीं कर सकता। क्योंकि जिस कारण राम को शोक है उसी कारण नट को शोक नहीं है। वस्तुतः नट में हर्ष-शोक आदि भान नहीं होते तो नट में अविद्यमान हर्ष-शोक राम के हर्ष-शोक के समान कैसे हो सकता है? यदि नट में वास्तविक हर्ष-शोक मान भी लिया जाय तो वह हर्ष-शोक वास्तविक हो जाता है तो उसे अनुकरण कैसे कहेंगे। इस प्रकार अनुभावों का भी अनुकरण नहीं किया जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि अनुभावों का अनुकरण सम्भव नहीं है तो नट में हर्ष-शोकादि की प्रतीति क्यों होती है? इस पर कहते हैं कि अनुभावों का अनुकरण हो सकता है किन्तु सजातीय का ही अनुकरण होता है 'सदृश' का नहीं। अर्थात् नट राम के सजातीय हर्ष-शोकादि का अनुकरण करता है उनके

तेनानुव्यवसायवत् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम् । तथा चाहार्यविशेषादिना [1]निवृत्ते तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने विशेषलेशोपक्रमेण च विना[2] प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरायाते रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतयाऽऽदरणीय-चरितवाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणेनानुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पनाद्ये हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानत्वाद्धृदयानुप्रवेशयोग्यत्वमभिनयचतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादनं, प्रस्तावनादिना नटज्ञानजसंस्कारसाचिव्यं, तेन रञ्जकसामग्री-मध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनित-संस्कारसहायेन [3]सहृदयसंस्कारसचिवेन हृदयसंवादतन्मयी[4]भावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूप-रूषितनिजसंविदानन्दप्रकाशमयः अत एव विचित्रो रसनास्वादनचमत्कार-चर्वणनिर्वेशभोगाद्यपरपर्यायः तत्र यदवभासते [5]वस्तु तन्नाट्यम् ।

सदृश हर्ष-शोकादि को नहीं । यहाँ सजातीय एवं सदृश शब्दों का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक हैं । न्यायदर्शन के अनुसार जाति या सामान्य नित्य, एक और अनेकानुगत है (नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्) अर्थात् जो नित्य होते हुए अनेक में समवेत होता है, उसे 'जाति' कहते हैं । इसी को न्यायदर्शन में 'सामान्य' कहा गया है । इस प्रकार जाति की सत्ता सर्वत्र और सब कालों में विद्यमान रहती है । जैसे विभाव रामादि में जो हर्ष, शोक आदि भाव थे, उसमें हर्षत्व एवं शोकत्व जाति विद्यमान थी और आज नट में जो हर्ष-शोक आदि भाव हैं उनमें भी हर्षत्व, शोकत्व जाति है । इसप्रकार भूतकालीन रामादि के हर्ष, शोक तथा वर्तमान नट के हर्ष-शोक सजातीय है और सामाजिक के हृदय में हर्ष-शोक की जाति समान है अतः साधारणीकरण होता है । इस प्रकार सजातीय अनुभावों का अनुकरण हो सकता है, किन्तु सदृश का अनुकरण नहीं होता है, क्योंकि सदृश के अनुकरण में समान-दर्शन का भाव निहित है और समान-दर्शन दो विद्यमान पदार्थों अथवा दो विशिष्ट व्यक्तियों में ही सम्भव है किन्तु विद्यमान और अविद्यमान वस्तुओं में समान-दर्शन नहीं हो सकता । रामादि विभाव विद्यमान नहीं है और नट विद्यमान है और सादृश्य विजातीय एवं समकालीन वर्तमान व्यक्तियों में ही होकता है, सजातीय वस्तुओं में सादृश्य नहीं होता । भाव यह कि सजातीयता भिन्नकालीन एवं समकालीन व्यक्तियों में रहती है और सादृश्य केवल समकालीन वर्तमान व्यक्तियों में ही हो सकता है, भिन्नकालीन व्यक्तियों में सादृश्य नहीं हो सकता है ।

१. क–म. हि वृत्ते । २. क–भ. प्रत्यक्षप्रवृत्तेः ।
३. म. नटज्ञानसंस्कारसचिवेन । ४. भवनसहकारिणा ।
५. म. तेऽस्तु ।

अभिनव—प्रश्न यह है कि जब नियतानुकार भी नाट्य नहीं है और अनियतानुकार अर्थात् सामान्य का अनुकार भी नाट्य नहीं है तो नाट्य है क्या ? इस पर कहते हैं कि नाट्य भावानुकीर्त्तन है अर्थात् अनुव्यवसायविशेष (ज्ञानविशेष) का विषयभूत नाट्य है ।

जैसे कि—आहार्य विशेष अर्थात् विलक्षण वेष-भूषा आदि के द्वारा उस देश, काल और चैत्र-मैत्रादि नट विशेष के प्रत्यक्ष के निवृत्त हो जाने पर, विशेष के सम्पर्क के विना प्रत्यक्षज्ञान की प्रवृति न होने से प्रत्यक्षाभिमान के प्राप्त होने पर आदरणीय (आदर्श) चरित के वाचक राम शब्द का यहाँ उपयोग होने से उस अर्थ में अर्थात् दशरथापत्य के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण असम्भावनाओं के निराकरण हो जाने से अनुव्यवसाय के प्रत्यक्ष-सदृश नाट्य में मनोहर गीत, वाद्य आदि से अनुस्यूत (सम्बद्ध) होने के कारण चमत्कारी होने से हृदय में प्रवेश करने की योग्यता, चारों प्रकार के अभिनय से अपने स्वरूप का प्रच्छादन तथा प्रस्तावना आदि के द्वारा नट-ज्ञान-जन्य संस्कार की सहायता इसलिए उसके द्वारा गीतवाद्यादि रञ्जक सामग्री के मध्य में प्रविष्ट (अवस्थित) अपने स्वरूप को प्रच्छादित करनेवाले, पूर्व प्रवृत्त लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उत्पन्न संस्कारों की सहायता से सहृदयों (सामाजिकों) के संस्कार के सचिव (सहायक), हृदय-सम्वाद अर्थात् हृदय की समनुरूपता से तन्मयी-भाव के सहकारी प्रत्यक्ष दृश्यमान (दिखाई देने वाले) प्रयोक्ता नट के द्वारा सहृदय में जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है सुख-दुःखादि के आकार से आकारित चित्तवृत्तियों से संपृक्त, संविदानन्दप्रकाश स्वरूप अर्थात् स्वप्रकाशानन्दमय अत एव विचित्र (लोकोत्तर) रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वण, निर्वेश एवं भोग आदि पर्यायों (शब्दों) से व्यपदिष्ट जो अनुव्यवसाय उत्पन्न है, उसमें जो वस्तु अवभासित होती है, वह नाट्य है ।

विमर्श—ग्रन्थकार अभिनवगुप्त का अभिप्राय है कि आहार्य अभिनय के द्वारा अर्थात् विचित्र वेश-भूषा आदि के द्वारा उस देशविशेष उस कालविशेष तथा चैत्र-मैत्रादि रूप नटविशेष के प्रत्यक्ष की निवृत्ति हो जाती है । भाव यह कि नट जब रामादि के रूप में अभिनय करता है, उसके देश-काल एवं व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है, उस समय उसमें रामादि का व्यक्तित्व अवभासित होता है । यतश्च विना विशेष के प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए नट में रामादि के प्रत्यक्षाभिमान की प्रतीति होती है । तब दशरथपुत्र राम के रूप में प्रसिद्ध आदर्शमय आदरणीय राम के चरित के वाचक राम शब्द का यहाँ प्रयोग होने से नट में राम के न होने की सम्भावना का निराकरण हो जाता है । किन्तु विशेष के विना प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता है, इसलिए प्रत्यक्षकल्पनाट्य में मनोहर गीत, वाद्य, नृत्य आदि के संयोजन से चमत्कार होने के कारण हृदय में प्रवेश करने की योग्यता होती है और चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा नट का स्वरूप प्रच्छादित हो जाता है और हृदय भावित हो जाता है ।

तच्च ज्ञानाकारमात्रमारोपितं स्वरूपं सामान्यात्मकं तत्कालनिर्मितरूपं [1]चान्यद्वा किञ्चिदस्तु। नात्राप्रस्तुतलेखनेनात्मनो दर्शनान्तरकथापरिचयप्रकटन-फलेन[2] प्रकृतवस्तुनिरूपणविघ्नमाचरन्तः सहृदयान्खेदयामः।

गीत, वाद्य, नृत्य आदि रञ्जक सामग्री के मध्य में पात्र के रूप में प्रविष्ट कर और अपने चैत्र, मैत्र आदि रूप अपने स्वरूप को आच्छादित कर शत्रु आदि के रूप में प्रतीत होने वाले प्रत्यक्ष दृश्यमान प्रयोक्ता नट के द्वारा पहिले से ही प्रवृत्त लौकिक प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि संस्कारों से सहकृत तथा सहृदयता के संस्कारों से सहकृत हृदय की तन्मयता से सम्पन्न सामाजिक के हृदय में सुख-दुःखादि रूप चित्तवृत्तियों से सम्पृक्त संविदानन्द प्रकाशमय अर्थात् स्वप्रकाशानन्दमय तथा चित्तवृत्तियों से सम्वलित लोकोत्तर रसन, आस्वादन, चर्वण, निर्वेश, भोग आदि नामों से व्यपदिष्ट जो अनुव्यवसाय अर्थात् रसानुभूति उत्पन्न की जाती है, उस रसानुभूति में जो अवभासित होता है, वह नाट्य है। भाव यह कि गीत, वाद्यादि रञ्जक सामग्री की सहायता से नट सामाजिक के हृदय में सुख-दुःखात्मक, स्वप्रकाशानन्दमय, चामत्कारिक प्राण, सहृदय-संवेद्य रसास्वादन उत्पन्न करता है, यह रसास्वादन ही अखण्ड रसानुभूति है, इसे ही रसन, चमत्कार, चर्वणा, आस्वादन, भोग आदि नामों से अभिहित करते हैं। यह रसानुभूति ही आस्वाद है और आस्वाद ही रस है। यह रसास्वादन (रसानुभूति) विभावादि से विलक्षण, अलौकिक, अनिर्वचनीय रसास्वाद है। इस रसास्वाद में जो वस्तु अवभासित होती है, वह नाट्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य में नट रामादि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता और सामाजिक उसे (नट को) राम समझता है। तभी सामाजिक में रसानुभूति होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार समुदायरूप अर्थ नाट्य है यह नाट्य ही तादात्म्य-प्रतीति है, और तादात्म्य-प्रतीति ही महारस है। इस प्रकार यह नाट्य रस है और रस ही नाट्य है।

अभिनव—वह (नाट्यरूप वस्तु) केवल ज्ञानाकार रूप है, आरोपित स्वरूप है, सामान्यात्मक है, तत्कालनिर्मितरूप है, अथवा अन्य कोई वस्तु है? इस प्रकार यहाँ व्याख्या के प्रसङ्ग में अन्य दर्शनों के सम्बन्ध में ज्ञान के प्रकाशन के फलस्वरूप अप्रस्तुत विषय के लेखन करके अर्थात् अन्य दर्शनों के अप्रकृत विषय की चर्चा करके प्रस्तुत विषय के निरूपण में विघ्न उपस्थित कर हम सहृदयों को खिन्न नहीं करना चाहते।

विमर्श—यहाँ पर ग्रन्थकार अभिनवगुप्त ने पाँचदार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा की है इनमें प्रथम बौद्धों विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। उनके मतानुसार घट-पटादि पदार्थों का बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु चित्त (बुद्धि या विज्ञान) के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे सबको विज्ञानरूप मानते हैं। उनके

---

१. म. चान्यथा। २. म. भयेन।

तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्त्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाटचम्। तद्वेदन-वेद्यत्वात्। न त्वनुकरणरूपम्। यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितयाऽनुकरण-मित्युच्यते तन्न कश्चिद्दोषः। स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात्। एतच्च यथावसरं वितनिष्यत इत्यास्तां तावत्।

अनुसार शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प की प्रतीति में विज्ञान ही उन-उन रूपों में भासता है। नाटच में रामादि के रूप में वह विज्ञान ही भासित होता है। इस प्रकार इस मत में नाटच बाह्य ज्ञानाकार रूप है। दूसरा मत नैयायिकों का है। नैयायिक लोग चमकती हुई सीपी को देखकर 'इदं रजतम्' (यह चाँदी है) इस प्रकार के ज्ञान में सीपी में रजत का आरोप करते हैं। उनका यह ज्ञान अयथार्थ ज्ञान या भ्रम है। उसी प्रकार नट में राम का आरोप होने से नट राम के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार .नैयायिक मत में नाटच आरोप स्वरूप है। तीसरा मत मीमासकों का है। मीमांसक प्रभाकर के मतानुसार समस्त ज्ञान यथार्थरूप ही है। सीपी में रजत की प्रतीति भ्रमरूप नहीं, अपितु यथार्थ रूप है। सीपी को देखकर 'इदं रजतम्' (यह चाँदी है) इस प्रकार के ज्ञान में यहाँ 'इदम्' पद से प्रत्यक्षरूप सीप का ज्ञान होता है और 'रजत' पद से 'चाँदी है' इस ज्ञान को स्मृति रूप माना जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक दोनो ज्ञानों का सामान्यात्मक रूप है। इसी प्रकार नट में नट की प्रतीति प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है और रामादि की प्रतीति स्मरण के द्वारा होने से स्मृतिज्ञान रूप है, अतः इस मत में नाटच सामान्यात्मक है। चौथा मत वेदान्तियों का है। इस मत में नाटच 'तत्कालनिर्मित' रूप है। वेदान्त के अनुसार सीपी में रजत का ज्ञान अविद्या से तत्काल उत्पन्न होता है और जितने समय तक वह वस्तु रहती है, उतने समय तक उसकी सत्ता है। इसी प्रकार नट में रामादि की प्रतीति भी 'तत्कालनिर्मित' है अर्थात् सामाजिक अज्ञान के कारण नट को राम समझ लेता है किन्तु यह तत्काल होता है। इसलिए इसको 'अनिर्वचनीय' भी कहते हैं। पाँचवा सिद्धान्त शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों का है। इस मत के अनुसार शून्य ही एकमात्र तत्त्व हैं जो सब जगह नानारूप में भासित होता है। यह शून्य अज्ञान रूप है, इसी अज्ञान रूप शून्य के द्वारा ही यह जगत् प्रतिभासित होता है। नाटच में भी यही शून्य तत्त्व नट में रामादि के रूप में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार ज्ञान के विषय में संक्षिप्त रूप में पाँच दार्शनिक सिद्धान्तों की यहाँ चर्चा की गई है, किन्तु प्रस्तुत नाटच के निरूपण के प्रसङ्ग में विघ्न डालकर हम सहृदय सामाजिकों को खिन्न नहीं करना चाहते हैं।

अभिनव—इसलिए अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्त्तनरूप और विकल्पज्ञान से संपृक्त नाट्य है। क्योंकि यह उसी प्रकार के ज्ञान से ज्ञेय है। अनुकरण रूप में इसका ग्रहण नहीं होता। यदि ऐसी स्थिति में मुख्य लौकिक करण के अनुसार होने से उस (नाट्य) को अनुकरण भी कहते हैं तो उसमें कोई दोष नहीं है। वस्तुतः भेद होने पर भी शब्दों के प्रयोग में किसी विवाद के लिए अवसर नहीं हैं। यह बात यथावसर आगे विस्तार से कहेंगे। इसलिए यहाँ रहने दिया जाय।

यतश्चेदं नानुकरणं ततो यत्कैश्चिच्चोदितं तदनवकाशम्—'न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्यः' इति न त्वनुकार्यत्वेन गीतादय इत्युक्तम्। परिहारोऽपि य उक्तः 'आसनगमनस्नानस्वापप्रतिबोधभोजनाद्यासु गीतवाद्यं लोके चेष्टास्वतिप्रथितम्' इत्यादि, तदप्यनुपपन्नम्। न हि गमनादौ तद्ध्रुवातालादिरूपेण गीतादि लोकेऽस्ति मङ्गलमात्रत्वादृते। गायनवादनादिष्वपि चानुकारबुद्ध्यापत्तेरित्यलम् ॥ १०८ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि यह नाट्य अनुभावन या अनुकरण रूप नहीं है बल्कि विकल्पज्ञान से संपृक्त अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्त्तनरूप है। अब प्रश्न यह उठता है कि पहिले तो आपने अनुव्यवसाय अर्थात् रसानुभूति में जो वस्तु अवभासित होती है वह नाट्य है, ऐसा कहा है और अब आप कह रहे हैं कि अनुव्यवसायात्मक सविकल्पज्ञान (विकल्प से संपृक्त प्रत्यक्षज्ञान) नाट्य है, यह कैसे? इस पर कहते हैं कि नाट्य रत्यादि भावों से संपृक्त अनुभव से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान से ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय है, किन्तु अनुकरण रूप नहीं है। यदि हम मुख्य लौकिक करण के अनुसार होने से नाट्य को अनुकरण कहते हैं तो कोई हानि नहीं, क्योंकि अनुकरण और नाट्य में भेद पहिले बताया जा चुका है कि अनुकरण उपहास रूप होता है और नाट्य आनन्दरूप। अतः नाट्य अनुकरण से भिन्न है। अनुकरण अनुकीर्त्तन से भिन्न होता है। अनुकरण प्रत्यक्ष का होता है और अनुकीर्त्तन विभावादि विशिष्ट का होता है। अनुकरण का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से है और अनुकीर्त्तन के द्वारा साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है और साधारणीकरण होने पर सामाजिक का नट के अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्त्तन से तादात्म्य हो जाता है और इसी तादात्म्य से रसानुभूति होती है। दूसरे यदि नाट्य अनुकरण नहीं है तो "लोकवृत्तानुकरणं नाट्यं, सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति" इत्यादिवाक्य सार्थक कैसे होंगे? इस पर कहते हैं कि अनुकरण और अनुकीर्त्तन में वस्तुतः भेद है किन्तु फिर भी इसका प्रयोग होता है, अतः यहाँ पर इस विषय पर विवाद करने का अवसर नहीं है आगे इस विषय पर हम विस्तार पूर्वक चर्चा करेंगे।

अभिनव—क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि नाट्य अनुकरण नहीं है, इसलिए जो किसी ने कहा है कि 'नाट्य अनुकरण है' उसके लिए कोई अवकाश (अवसर) नहीं है। क्योंकि कोई भी अनुकार्य सभी अनुकरणीय अवस्थाओं में गीत, वाद्य आदि से युक्त नहीं रहता। जैसा कि नाट्य में पाया जाता है और गीत, वाद्य आदि अनुकार्य भी नहीं हैं, यह कहा जा चुका है और उसका जो परिहार (समाधान) कहा गया है कि 'लोक में आसन (बैठना) गमन, स्नान, शयन, जागरण, भोजन आदि चेष्टाओं के (व्यापारों के) समय लोक में गीत, वाद्य आदि का प्रचार अत्यन्त प्रसिद्ध है, यह कथन भी अनुपपन्न है। क्योंकि लोक में गमन आदि के समय मङ्गलमात्र के अतिरिक्त ध्रुवा-ताल आदि के रूप में गीतादि का प्रयोग नहीं होता है

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः[1] ।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥ १०९ ॥
[2]धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां[3] दमक्रिया ॥ ११० ॥

ननु त्रैलोक्यस्य ये भावास्तेषां यद्यनुकीर्तनं नाट्यं तदेकत्रैव रूपके एकत्रैव चाङ्कादौ सर्वमेव दृश्येतेत्याशङ्कानिराकरणपूर्वकं पूर्वप्रयोजनेन सप्रयोजनत्वमुपसंहरति—क्वचिधर्म इत्यादिना 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति' इत्यन्तेन श्लोकाष्टकेन ।

और यदि इस प्रकार अनुकरण मान भी लिया जाय तो गीत, वाद्य आदि में भी अनुकरण की बुद्धि होने लगेगी अर्थात् गीत-वाद्यादि को भी अनुकरणरूप कहा जाने लगेगा जो कि मान्य नहीं है ॥ १०८ ॥

विमर्श—ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि लोक में सभी जगह सभी अवस्थाओं में गीत, वाद्यादि का प्रयोग नहीं देखा जाता तो नाटक में गीत-वाद्यादि का इतना अधिक प्रयोग क्यों होता है ? इस पर कहते हैं कि लोक में भी यात्रा, स्नान, भोजन आदि के समय गीतवाद्यादि का प्रयोग पाया जाता है । इसलिए नाट्य में उनका अनुकरण मानने में क्या हानि है ? इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि जब नाट्य की अनुकरणरूपता का खण्डन पहिले किया जा चुका है तो फिर शङ्का करने का अवसर ही कहाँ रहता है ? अभिनवगुप्त का कथन है कि स्नान आदि के समय जो गीत, वाद्यादि का प्रयोग होता है वह ध्रुवा, ताल आदि से समन्वित नहीं होता है । यदि आप स्नान आदि के समय होने वाले गीत-वाद्यादि को ध्रुवा, ताल आदि से समन्वित मानते हैं तो नाट्य में होने वाले गीत-वाद्यादि को भी अनुकरणरूप समझा जाने लगेगा । जबकि यह मान्य नहीं है ॥१०८॥

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि यदि नाट्य न अनुकरण रूप है और न अनुभावन रूप है, अपितु समस्त संसार के भावों का अनुकीर्त्तन रूप नाट्य है तो एक ही नाटक में और एक ही अङ्क आदि में सब कुछ (समस्त भावों को) एक ही साथ दिखाया जा सकता है, इस शङ्का का निराकरण करते हुए पूर्व प्रयोजनों के साथ इसके प्रयोजनता का 'क्वचिद्धर्म' इत्यादि से लेकर 'लोकोपदेश जननंनाट्यमेतद्भविष्यति' तक आठ श्लोकों में उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—**(इस नाट्य में) कहीं धर्म, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शम (शान्ति), कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध का वर्णन है ॥१०९॥**

अनुवाद—(इस नाट्य में) धर्म में प्रवृत्त होने वालों के लिए धर्म का, काम का सेवन करने वालों के लिए काम का, दुष्टों के लिए निग्रह (दण्ड) का और विनीतों के लिए इन्द्रिय-दमन की क्रिया का वर्णन है ॥ ११० ॥

१. ख. क्वचिच्छ्रमः । २. क–ठ. त. धर्मोऽधर्म । ३. ग. मत्तानां दमनक्रिया ।

क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः[1] शूरमानिनाम् ।
अबुधानां[2] विबोधश्च वैदुष्यं[3] विदुषामपि ॥ १११ ॥
ईश्वराणां विलासश्च [4]स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो [5]धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥ ११२ ॥
[6]नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ ११३ ॥

अनुवाद—(यह नाट्य) नपुंसकों के लिए धृष्टता, शूरमानियों के लिए उत्साह, अज्ञानियों के लिए ज्ञान और विद्वानों के लिए वैदुष्य प्रदान करने वाला है ॥ १११ ॥

अनुवाद—धनियों के लिए विलास, दुःखियों के लिए उत्साह, अर्थ का उपार्जन करने वालों के लिए अर्थ और उद्विग्न चित्त वालों के लिए धैर्य प्रदान करने वाला है ॥ ११२ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के भावों से सम्पन्न, नाना प्रकार की अवस्थाओं का निर्देश कराने वाला और लोकवृत्त का अनुकरण कराने वाला इस नाट्य को मैंने बनाया है ॥ ११३ ॥

---

१. ख. घ. धार्ष्ट्यकरणमुत्साहः । २. ग. अबोधानम् । ३. ग. वैदग्ध्यं ।
४. क–ङ. त. धैर्यं । ५. ख. वृत्ति ।
६. क–न. पुस्तके—दुःखितानां प्रमत्तांशः शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
हितोपदेशजननं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
नानाशीलाः प्रकृतयः शीलान्नाट्यं विनिर्मितम् ।
तस्याल्लोकप्रमाणं हि कर्त्तव्यं नाट्यवक्तृभिः ।
देवतानामृषीणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ।
महेच्छा ये विदग्धाश्च यौवनैश्वर्यशालिनः ।
तेषामयं नाट्यविधिः प्रयोज्यस्त्वर्थसिद्धये ।
प्रायेण सर्वलोकस्य वृत्तमिष्टं स्वभावतः ।
माङ्गल्यमिति कृत्वा च नाट्यमेतत्प्रयोज्यते ॥
प्रसवालापविवाहहर्षेष्वभ्युदयेषु च ।
प्रस्थानसमये राज्ञां नाट्यमेतत्प्रयोज्यते ॥
इत्यधिकं दृश्यते ।

[1]उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति[2] ॥ ११४ ॥
एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ[3] ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं[4] लोके भविष्यति[5] ॥ ११५ ॥
दुःखार्तानां [6]श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
[7]विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति[8] ॥ ११६ ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११७ ॥

अनुवाद—उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के मनुष्यों के कर्म का आश्रय (आधार), हितकारी उपदेश देने वाला और धैर्य, क्रीड़ा (मनोरंजन) एवं सुख आदि को देने वाला यह नाट्य होगा ॥ ११४ ॥

अनुवाद—यह नाट्य सभी रसों, सभी भावों, सभी कर्म एवं क्रियाओं में सब को उपदेश देने वाला होगा ॥ ११५ ॥

विमर्श—यह श्लोक गायकवाड़, काव्यमाला तथा काशी—इन तीनों संस्करणों में उपलब्ध है। किन्तु गायकवाड़ एवं काव्यमाला संस्करणों में इस पर श्लोक संख्या नहीं पड़ी है। इसलिए कुछ विद्वान् इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं। किन्तु काशी संस्करण में इस पर श्लोक संख्या पड़ी हुई है। मैंने काशी संस्करण के आधार पर इस पर श्लोक संख्या डाल दी है। इस श्लोक के बीच में आ जाने से 'क्वचिधर्मः' से लेकर 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति' इस श्लोक तक श्लोकों की संख्या नौ हो जाती है जबकि अभिनवभारतीकार ने 'क्वचिद्धर्म' से लेकर 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति' तक श्लोक संख्या आठ लिखी है। इसीलिए अभिनवभारती के साथ मुद्रित बड़ौदा संस्करण में इस श्लोक पर श्लोक संख्या नहीं पड़ी है किन्तु उक्त संस्करण में इस श्लोक का पाठभेद दिया हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि कई संस्करणों में यह श्लोक पाठभेद के साथ पाया जाता है ॥ ११५ ॥

अनुवाद—यह नाट्य दुःखियों के लिए, थके हुए लोगों के लिए, शोक से संतप्त लोगों के लिए, तपस्वियों के लिए विश्रान्ति देने वाला होगा ॥ ११६ ॥

अनुवाद—यह नाट्य धर्म, यश और आयु प्रदान करने वाला, हितकारी बुद्धि को बढ़ाने वाला और लोक को उपदेश देने वाला होगा ॥ ११७ ॥

---

१. क–न. अधमोत्तममध्यानाम् । २. क. ग. धृतिक्रीड़ासुखादिकृत् ।
३. ख. क्रियासु च । ४. ख. नाट्यमेतद् भविष्यति ।
५. अयं श्लोकः 'क–म. त.' पुस्तकयोरधिको दृश्यते । ६. च. समर्थानाम् ।
७. ख. विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति । ८. नाट्यमेतन्मया कृतम् ।

एतच्च कैश्चिद्भिन्नवाक्यतया प्रतिश्लोकं व्याख्यातम्। तच्च पौनरुक्त्याध्याहारपरस्परासङ्गत्यादिदोषोपहतं स्यादित्युपेक्ष्यमेव। तस्मादित्थमत्र योजना—नानाप्रकारैर्भावैः स्थायिव्यभिचारिविभावादिभिरुपसम्पन्नं सर्वतो व्याप्तम्। तेषां च भावादीनां देशकालप्रवृत्त्यवस्थान्तरभिन्नस्वभावत्वात्तदपि नानावस्थात्मकम्। अत एवाहोत्तमाधमेति। एवम्भूतमेतद्भविष्यति। काले विश्रान्तिजननं हितोपदेशजननं च भविष्यतीति सम्बन्धः।

के के नानाप्रकारा भावा इत्याह—क्वचिद्धर्म इत्यादि। यथायोगं धर्मादयः शब्दास्तदुचितस्थायिव्यभिचार्यादिसूचकाः। तेन धर्मोऽर्थ इत्युत्साहादिः। क्रीडेति विस्मयादिः। शम इति निर्वेदादिः। हास्यमिति हासादिः। युद्धमिति रौद्रादिः। काम इति र(त्य)ादिः। वध इति क्रोधभयजुगुप्साशोकादिः। अमीभिश्च समुचितव्यभिचार्यनुभावाः स्वीकृताः। क्वचिदिति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते। त(य)था नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकं ना(कना)टकादिविशेषे। को विभागः। एतदुक्तं भवति—किञ्चिद्धर्मप्रधानं रूपकं यथा नाटकम्। प्रकरणं वा क्रीडाप्रधानम्। तथा प्रसिद्धानां यथा भाणः। अर्थप्रधानत्वं प्रकरणादौ।

अभिनव—इन श्लोकों को कुछ व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न वाक्य मानकर प्रत्येक श्लोक में अलग-अलग व्याख्यान किया है, किन्तु वह (व्याख्यान) पुनरुक्ति, अध्याहार और परस्पर असङ्गति आदि दोषों से युक्त होगा, इसलिए उपेक्षणीय है। इसलिए यहाँ इस प्रकार की योजना है कि नाना प्रकार के भावों अर्थात् स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव, विभाव, अनुभाव आदि भावों से सम्पन्न सब जगह व्याप्त है और भावादि के देश, काल, प्रवृत्ति, अवस्थान्तर (भिन्न अवस्थाओं) और भिन्न स्वभाव होने के कारण वह नाट्य भी नाना अवस्थाओं वाला है, इसलिए कहा गया है—उत्तम, मध्यम, और अधम आदि। इस प्रकार यह (नाट्य) होगा अर्थात् समय पर विश्रान्ति (सुख) देने वाला और हितकारी उपदेश देनेवाला होगा, यह सम्बन्ध है।

वे नाना प्रकार के भाव कौन-कौन हैं ? इस पर कहते हैं कि 'कहीं पर धर्म' इत्यादि। यहाँ धर्मादि शब्द सम्बन्ध के अनुसार उचित स्थायीभाव एवं व्यभिचारिभाव आदि का सूचक है। इसलिए धर्म, अर्थ ये उत्साह आदि के सूचक हैं। 'क्रीड़ा' इस पद से विस्मय आदि का, शम से निर्वेद आदि, हास्य पद से हास आदि, युद्ध पद से रौद्र आदि, काम से रति आदि, 'वध' पद से क्रोध भय, जुगुप्सा, शोक आदि स्थायीभाव सूचित होते हैं। इन स्थायीभावों की सूचना से समुचित व्याभिचारिभाव, विभाव और अनुभाव स्वीकृत किये गये हैं। अर्थात् 'क्वचित्' इस शब्द से दश रूपकों में से किसी एक का ग्रहण होता है। जिस प्रकार नाटक, प्रकरण आदि अनेक रूपकों में विशेषता (विलक्षणता) पायी जाती है उसी प्रकार एक नाटक में भी विशेषता

एवं दशरूपकलक्षणानुसारेण सर्वमनुसरणीयम् । तथा क्वचिन्नाटके धर्मः प्रधानम्—यथा छलितरामे रामस्याश्वमेधयागः । क्वचित् क्रीडा—यथा स्वप्नवासवदत्तायाम् । एवमन्यत्राप्यनुसरणीयम् । [1]तथैकत्रापि नाटके क्वचिदंशे[2] धर्मो यथाऽभिज्ञानशाकुन्तले—"अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्" (अङ्क-१) । एवं प्रतिनाटकमेकदेशेषु सुलक्षा एव क्रीडादय इति ग्रन्थविस्तरभीरुभिरस्माभिर्न परिवर्णिताः[3] ।

नन्ववस्थादेशकालप्रकृतिविशेषसमुचितभावानुकीर्तनमात्रमेव कर्तव्यम् । किं रामाय(दि)रावणेत्यादिसमाश्रयेणेत्याशङ्क्याह—धर्म इति । चो हेतौ । यस्माल्लोकवृत्तानुसारेण करणं प्रयोगरूपं नाट्यं मया कृतमेतदित्येतस्मात्कारणाद्धर्मप्रवृत्तानां रामयुधिष्ठिरादीनां सम्बन्धित्वेन धर्मः उक्तः । निग्रह इति वधः । विनीतानां जितेन्द्रियाणां सम्बन्धित्वेन दमस्य शमस्य क्रिया योजना । विनयो हीन्द्रियजयः ।

है । अब प्रश्न उठता है कि यदि यही विशिष्टता एक में है जो अनेक रूपकों में है तो विभाग कैसा ? इस पर कहते हैं—'कहीं रूपक धर्म प्रधान होता है, जैसे नाटक, कोई रूपक क्रीड़ा प्रधान होता है, जैसे प्रसिद्ध रूपक भेदों में भाण । कोई अर्थ प्रधान होता है, जैसे प्रकरण आदि । किन्तु प्रकरण धर्मप्रधान भी होता है । क्योंकि प्रकरण में दो नायक होते हैं—विप्र या वणिक् । जब विप्र नायक होगा तो प्रकरण धर्मप्रधान होगा और वणिक् नायक होगा तो प्रकरण अर्थप्रधान होगा ।

इस प्रकार दश रूपकों के लक्षणों के अनुसार यह सब अनुसरण करना चाहिए । जैसे किसी नाटक में धर्म की प्रधानता होती है, जैसे 'छलितराम' नाटक में 'राम का अश्वमेध याग' । कहीं क्रीड़ा की प्रधानता है जैसे स्वप्नवासवदत्ता में । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये और एक नाटक में भी किसी अंश में धर्म की प्रधानता है । जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में—'क्या यह शकुन्तला कुलपति कण्व की असवर्णक्षेत्रसम्भवा कन्या है ?' इसी प्रकार प्रत्येक नाटक में एक अंश क्रीड़ा आदि परिलक्षित होते है । ग्रन्थ के विस्तार के भय से हमने उनका वर्णन नहीं किया है ।

अब प्रश्न उठता है कि (इन रूपकों में) अवस्था, देश, काल, प्रकृतिविशेष के अनुचित भावों का अनुकीर्तन करना चाहिये, राम-रावण आदि (विभावों) का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि 'धर्म' इति । 'च' हेतु अर्थ में है । क्योंकि लोकवृत के अनुसार करण अर्थात् प्रयोग रूप नाट्य का मैंने निर्माण किया है, इस कारण से धर्म में प्रवृत राम, युधिष्ठिर आदि से सम्बन्ध होने से 'धर्म' यह कहा है । 'निग्रह' का अर्थ वध है । विनीत अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति के सम्बन्ध होने से 'दम' और 'शम' (शान्ति) क्रिया की योजना है । विनय का अर्थ इन्द्रियविजय है ।

---

१. तथा तत्रापि । भ. तथापि । २. म. क्वचिदङ्गे । ३. परिदर्शिताः ।

एवं क्लीबानामुपहास्यानां धाष्ट्र्यजननमिति विभावेन 'हासोऽत्रोक्तः। धाष्टर्याज्जननं जन्म यस्य हास्यवस्तुनः। यद्वक्ष्यति—"विकृतपरवेषालङ्कार धाष्टर्यादिभिः" (अ-६.) इत्यादि। विबोध इति ण्यन्तस्य रूपम्। अबुद्धत्वेन प्रसिद्धानां सम्बन्धित्वेन बोधनमुपायोपदेशेन व्युत्पाद्यत्वम्। विदुषां भीष्मादीनाम्। उपायव्युत्पाद्यत्वेन वैदुष्यम्। अनेन स्मृतिमतिप्रभृतीनां निरूपणम्।

विलास इति क्रीडा। स्थैर्यमिति व्यवसायात्मकमुत्साहरूपमेव। चशब्द एवकारार्थे। दुःखार्दितत्वेन यः प्रसिद्धस्तस्यैव सम्बन्धित्वेनेत्यर्थः। धृतिधैर्यम्। एतदुक्तं भवति—लोकवृत्तानुसारेण यत इयं नाटचक्रिया[५] लोके च धर्मादयो ना(नाना)श्रयाः न संवेदनयोग्याः तेन धर्मादिविषये यो यथा प्रसिद्धो रामादिः स शब्दमात्रोपयोगित्वेन मुख्यया प्रणालिकया गृहीतः।

एवंभूतं यन्नाटच तत्प्रेक्षकाणां दुःखेन व्याध्यादिकृतेन श्रमेणाध्वक्लेशादिजेन शोकेन बन्धुमरणादिकृतेनार्तानां पीडितानां तथा तपस्विनामनवरतकृच्छ्र-चान्द्रायणाद्याचरणकलितदौर्बल्यातिशयपरिखिन्नहृदयानां विश्रान्तिजननं दुःखप्रसरणविघातकम्। प्रतिहतदुःखानां चाह्लादात्मकधृत्यादिकारणं यथायोगम्। तद्यथा—शोकार्तस्य धृतिर्व्याध्यार्तस्य क्रीडा। श्रमार्तस्य सुखम्। आदिग्रहणेन तपस्विनो मतिविबोधादय इति मन्तव्यम्।

इस प्रकार नपुंसकों अर्थात् उपहास के योग्य व्यक्तियों के लिए धृष्टता से उत्पन्न होनेवाला इस विभाव में यहाँ हास कहा है। धाष्टर्यजनन का अर्थ है धृष्टता से उत्पत्ति है जिस हास्य की अर्थात् जिस धृष्टता से हास्य की उत्पत्ति होती है वह धाष्टर्यजनन है। जैसा की आगे कहेंगे—'दूसरों के विकृत वेश-भूषा, अलङ्कार और धृष्टता आदि से (हास उत्पन्न होता है)। 'विबोध' वह णिजन्त का रूप है। अबुद्ध अर्थात् मूर्ख, अज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध से बोधन अर्थात् उपायों (उपदेशों) के द्वारा व्युत्पाद्य व्युत्पन्न बनाने वाला (यह नाटय है)। विद्वानों अर्थात् भीष्म आदि से सम्बन्ध उपदेशों के द्वारा व्युत्पाद्य रूप वैदुष्य का जनक है, इससे स्मृति, मति आदि का निरूपण किया गया है।

विलास का अर्थ क्रीड़ा है। 'स्थैर्य' यह व्यवसायात्मक उत्साह रूप है। 'च' शब्द एककार के अर्थ में है। 'दुःख से पीड़ित' रूप से जो प्रसिद्ध है उसी का सम्बन्ध होने से। 'धृति' का अर्थ धैर्य है। यह कहा गया है—क्योंकि यह नाट्यक्रिया लोकवृत्त के अनुसार है और लोक में बिना किसी आश्रय के धर्मादि का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए धर्मादि के विषय में जो राम आदि जिस प्रकार प्रसिद्ध हैं उन्हीं रामादि का यहाँ शब्द मात्र के उपयोग के द्वारा मुख्य वृत्ति से ग्रहण किया गया है।

---

५. ङ नाटचक्रीडा।

नचैतादेव यावत्कालान्तरेऽपि (रवि)[1]परिपाकं सुखमुपदेशजं जनयतीत्येवं दुखितानां तत्प्रशमसुखवितरणकालान्तरसुखलाभाः प्रयोजनम् । ये [2]पुनरदुखिताः सुखभूयिष्ठवृत्तय एव राजपुत्राद्यास्तेषां लोकवृत्ते धर्माद्युपायवर्गे उपदेशकार्ये तन्नाटचम् । लोकशब्देन लोकवृत्तम् ।

ननु किं गुरुवदुपदेशं करोति । नेत्याह । किन्तु बुद्धिं विवर्धयति । स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरतीत्यर्थः । न च सा दुष्टा प्रतिभेत्याह—हितम्—हितप्रतिभाजनकत्वात् । अत्र हेतुमाह—यतो धर्मादनपेतम् । यशश्शब्देन लोकप्रसिद्धिहेतुभूतमद्भुतकारि वस्तूच्यते, यथा रामस्य सप्ततालव्यथनादि । तदुपदेशे साधु । आयुर्वृद्धिहेतव आचाराः आयुः । तेषु साधु । एवं दुःखितानामदुःखितानां चेदमुपादेयमित्युक्तम् । दुखं च शारीरं मानसं वा । शारीरमपि दैवकृतं स्वयंकृतमपि दृष्टं फलो(ष्टफलो)द्देशेनान्येन चेत्येतावानेव दुःखितवर्ग इति दुःखार्तानामित्यादिभेदोपादानस्य फलम् ।

अभिनव—इस प्रकार का जो नाट्य है वह प्रेक्षकों (दर्शकों) के लिए व्याधि आदि से उत्पन्न दुःख से, मार्ग के थकावट के क्लेश से उत्पन्न श्रम से, बन्धुजनों के मृत्यु से उत्पन्न शोक से, आर्त्त अर्थात् पीड़ितों और तपस्वियों के लिए निरन्तर कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतों के आचरण से अत्यन्त दुर्बलता को प्राप्त खिन्न मन वालों को विश्रान्ति देने वाला अर्थात् दुःख की वृद्धि का नाशक है और प्रतिहत दुःख वालों के लिए (जिनके दुःख नष्ट हो गये हैं, ऐसे लोगों के लिए) यथायोग्य आह्लादात्मक धैर्य आदि का कारण है। वह जैसे, शोक-पीड़ितों के लिए धैर्य, व्याधि-पीड़ितों के लिए क्रीड़ा (मनोरञ्जन), श्रम से थके हुए के लिए सुख, आदि पद के ग्रहण से तपस्वियों को मति (बुद्धि), विबोध आदि देने वाला है, ऐसा मानना चाहिए।

केवल इतना ही नहीं, कालान्तर में भी उपदेश के द्वारा परिपक्व सुख देता है, इस प्रकार दुःखितों के लिए दुःख का प्रशम (नाश), सुख का वितरण और कालान्तर में भी सुखलाभ आदि प्रयोजन हैं और दुःख से रहित पूर्ण सुखमय राजपुत्र आदि हैं। उनको लोक व्यवहार और धर्मादि उपायों का उपदेश देने वाला यह नाट्य है। यहाँ लोक शब्द से लोक-व्यवहार का ग्रहण है।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि क्या यह नाटय गुरु के समान उपदेश करता है ? कहते हैं 'नहीं', किन्तु बुद्धि को बढ़ाता है अर्थात् अपनी प्रतिभा को वैसी ही बना देता है और वह प्रतिभा दुष्ट नहीं है, इसलिए कहते हैं कि —'हितम्' अर्थात् हितकारी प्रतिभा का जनक होने से (नाटय हित है)। इसमें हेतु कहते हैं—क्योंकि धर्म से

१. ङ सुखपरिपाकं । २. म. येनादुःखिता ।

केचित्तु धर्मो धर्मप्रवृत्तानामित्यादि सामाजिकविषयत्वेन व्याचक्षते हृदय-संवादयोग्यतातात्पर्येण। अन्ये त्वकारप्रश्लेषादिव्याख्याप्रकारेणाधर्मप्रवृत्तानामित्यादिविपरीतत्वेन व्याचक्षते उपदेश्यत्वाभिप्रायेण। उभयमपि चैतद्धर्म्यं यशस्यमित्यादेः पुनरुक्तम् ॥ १०९-११७ ॥

युक्त (नाटय) है। 'यश' शब्द से लोक में प्रसिद्धि के कारणरूप अद्‌भुतजनक (आश्चर्यजनक) वस्तु का निर्देश है। जैसे राम का सात तालों का वेधना आदि। उसके उपदेश में साधु। भाव यह कि लोक में प्रसिद्धि के कारणभूत आश्चर्य-जनक कार्य करने में कुशल (साधु) 'यशस्य' कहा जाता है। आयु की वृद्धि के कारणभूत आचार आयु है उनमे 'साधु' अर्थ में 'आयुष्य' शब्द है। अर्थात् आयुषि साधुः (आयु में साधु) अर्थ में आयुष् शब्द से यत् प्रत्यय होकर आयुष्य शब्द बनता है अर्थात् आयुवर्द्धन में समर्थ होने से नाटच 'आयुष्य' है। इस प्रकार दुःखियों और सुखियों दोनों के लिए यह नाटच उपादेय है। दुःख दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक दुःख भी दैवकृत और स्वयंकृत भेद से दो प्रकार का होता है। स्वयंकृत दुःख भी दृष्ट फल के उद्देश्य से अथवा अन्य किसी कारण से उत्पन्न होता है। इतना ही दुःखितवर्ग है। यह 'दुःखार्त्तानाम्' इत्यादि भेदों के ग्रहण करने का फल है। अब यह कि जैसे किसी विशेष फल की कामना से कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रत किये जाते हैं तो मनुष्य स्वयं अपने लिए दुःख उत्पन्न करता है, यह फलोद्देश्य से किया हुआ स्वयंकृत दुःख है और जो मनुष्य मिथ्या आहार-विहार के कारण स्वयं रोग उत्पन्न करता है यह दूसरे प्रकार का स्वयंकृत दुःख है।

कुछ व्याख्याकार तो हृदयगत भावों के संवाद की योग्यता सामाजिकों में है, इस अभिप्राय से 'धर्मो धर्मप्रवृतानाम्' इत्यादि की व्याख्या सामाजिक-परक करते हैं। दूसरे व्याख्याकार तो 'धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानाम्' में अकार का प्रश्लेष मानकर 'अधर्म में प्रवृत्त लोगों को धर्म का उपदेश देने' के अभिप्राय से विपरीत व्याख्या करते हैं। ये दोनों ही व्याख्याएँ 'धर्म' और 'यशस्यं' इत्यादि पदों में पुनरुक्त होगी। भाव यह कि कुछ व्याख्याकार आठो श्लोंको कि एक साथ व्याख्या करते है, कुछ व्याख्याकार सामाजिक-परक व्याख्या करते हैं। अन्य व्याख्याकार 'धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानाम्' मे अकार का प्रश्लेष मानकर 'धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानाम्' के अनुसार अधर्मियों को धर्म का उपदेश देने के अभिप्राय से (उपदेश्यत्वाभिप्रायेण) दूसरी व्याख्या करते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त उक्त दोनों व्याख्याओं से सहमत नहीं हैं। वे धर्म में प्रवृत्त राम-युधिष्ठिर आदि के धर्म का प्रदर्शन नाटच में होता है, इस अभिप्राय से व्याख्या करते हैं। यही व्याख्या उचित है ॥ १०९-११७ ॥

[1]न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
[2]नासौ योगो न तत्कर्म [3]नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११८ ॥

न चानेन प्रधानमात्र एवोपदेशः कृतः पुरुषार्थोपायमात्रे वा । यावत्तदुपायोपेयादिष्वपीति दर्शयति—तदिति । अस्मिन्निति ।

सप्तद्वीपगतभावानुकीर्तनरूपे नाट्ये दृश्यमाने यन्न दृश्यते न हृदयगोचरमेति तादृग्ज्ञानादिकं नास्तीति शेषः । ज्ञानमित्युपादेयमात्मज्ञानादि । यथा वेणीसंहारे—"आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ" (१-२३) इत्यादि ।

इस नाट्य में न तो प्रधानभूत धर्मादि का उपदेश किया गया है और न पुरुषार्थचतुष्टय के उपाय मात्र के लिए उपदेश है । अपितु जितने उपाय एवं उपेय हैं, सब के विषय में हैं, यह दिखाते हैं—

अनुवाद—ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, ऐसी कोई विद्या नहीं है ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई योग नहीं, है और ऐसा कोई धर्म नहीं है जो इस नाट्य में न दिखाई देता हो ॥ ११८ ॥

अभिनव—सातों द्वीपों के भावों के अनुकीर्त्तन रूप इस दृश्यमान नाट्य में जो दिखाई न देता हो अर्थात् जो हृदयगोचर नहीं होता हो, उस प्रकार का ज्ञान आदि नहीं है, यह अभिप्राय है । यहाँ 'ज्ञान' इस पद से उपादेय आत्मज्ञान आदि का ग्रहण करना चाहिए । जैसे वेणोसंहार नाटक में—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥
(वेणीसंहार १।२३)

आत्मा में रमण करने वाले निर्विकल्पसमाधि में रत रहने वाले, ज्ञान के उद्रेक से जिनके हृदय के अन्धकाररूप अज्ञान की गांठें नष्ट हो गई हैं, ऐसे सत्त्वनिष्ठ योगी लोग अन्धकार से परे और प्रकाश से भी परे जिस गुणातीन परात्पर परमात्मा को देखते हैं उस पुरातन देव श्रीकृष्ण को मोह से अन्धा यह दुर्योधन कैसे जान सकता है ?

इस उदाहरण में आत्मज्ञान का ग्रहण है ।

---

१. ग. न तच्छ्रुतम् । २. ख. ग. न स योगो ।
३. ग. यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ।

शिल्पमिति। मालाचित्रपुस्तादियोजनम्। यथा "वेष्टितग्रथितगुम्फ-संहृतैराततैश्च कुसुमैस्सपल्लवैः" इत्यादौ।

विद्या दण्डनीत्यादि। यथा "शमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः"। (बाल. रा. १-२४) इत्यादौ।

कला गीतवाद्यादिका। यथा "व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना" (नागानन्द१-१४) इत्यादौ।

'शिल्प' पद से माला, चित्र तथा पुस्त आदि की योजना का ग्रहण होता है। जैसे "वेष्टितग्रथितगुम्फसंहृतैराततैश्च कुसुमैः सपल्लवैः" अर्थात् वेष्ठित (लपेटे हुए), गुंथे हुए, गुच्छे के रूप में मिले हुए और फैले हुए (बिखरे हुए) पल्लवों के साथ पुष्पों से) इत्यादि उदाहरण में मालारचना आदि को शिल्प कहा है।

'विद्या' पद से दण्डनीति का ग्रहण है, जैसे—वालरामायण में—

'शमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः
पथं प्रत्यावापः फलति कृतसेकस्तरुरिव।
बहुव्याजं राज्यं न सुकरमराजप्रणिधिभि—
र्दुराराधा लक्ष्मीरनवहितचित्तं छलयति॥' (बा० रा० १।२४)

अर्थात् श्रम और व्यायाम के द्वारा राज्यतन्त्र का विधान करने वाले राजा की परराष्ट्र विषयक नीति जल से सींचे हुए वृक्ष की तरह फल देती है। राज्य राजा के द्वारा नियुक्त प्रणिधियों गुप्तचरों के बिना बहुत छलों से युक्त यह राज्य सुकर नहीं है। क्योंकि दुराराध्या लक्ष्मी असावधान चित्त वाले व्यक्ति को छल लेती है।

इस श्लोक में दण्डनीति (राजनीति का वर्णन है)।

'कला' शब्द से गीत, वाद्य आदि का ग्रहण होता है। जैसे—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्त्वातोद्यानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिता॥
(नागानन्दनाटक १।६४)

नागानन्द नाटक में नायिका मलयवती वीणा बजाकर देवी की स्तुति कर रही है और नायक जीमूतवाहन उसके गीत को सुनकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है कि यहाँ व्यञ्जन धातु के अर्थात् स्वराभिव्यञ्जन के दस प्रकार स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं, द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन प्रकार के लय भी स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। गोपुच्छ प्रमुख तीन प्रकार की यतियाँ क्रमशः सम्पन्न की गई हैं और वाद्यों के अनुगत तीन प्रकार की वाद्य-विधियाँ भी प्रदर्शित की गई हैं और इस श्लोक में गीत एवं वाद्य कला का वर्णन होने से यह कला का उदाहरण है।

योगो योजनं तेषामेव ज्ञानादीनां कलान्तानां स्वभेदैरन्योन्यस्वभेदैः। यथा[1]—

मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधावाचार्यकं कल्पय-
न्निर्ह्लादो मुरजस्य मूर्च्छतितरां वेणुस्वनापूरितः।
वीणायाः कलयन् लयेन गमकानुग्राहिणीं मूर्च्छनां
कर्षत्येष च[2] कालकूटितकलारम्यश्रुतिं षाडवे॥

(हेज्जल-राधाविप्रलम्भ) इत्यादौ। तत्रेहातोद्यनिचयगीतयोजना कृता-अन्योन्यं यथा—

"आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुकोमलच्छायम्" (विक्रमो. ५-८) इत्यादौ। अत्र हि शृङ्गारस्य वैद्यकविद्यया योजना।

योग का अर्थ योजन (मिलाना) है। ज्ञान से लेकर कलापर्यन्त उनका ही अपने प्रभेदों के साथ परस्पर मिलाना योग है। जैसे—

मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधावाचार्यकं कल्पय—
न्निर्ह्लादो मुरजस्य मूर्च्छतितरां वेणुस्वनापूरितः।
वीणायाः कलयन् लयेन गमकानुग्राहिणीं मूर्च्छनां
कर्षत्येव च कालकूटितकलारम्यश्रुतिं षाड्वे॥
(हेज्ज्वल राधाविप्रलम्भ)

नगाड़े की ध्वनि को सुनकर मोर उसे मेघ की ध्वनि समझकर नाच रहा है। कवि उत्प्रेक्षा कर रहा कि मेघों की ध्वनि की आशङ्का करनेवाले मोरों को ताण्डव नृत्य की शिक्षा देने में आचार्यत्व को प्राप्त तथा बांसुरी के स्वर से आपूरित मुरज (नगाड़े) की ध्वनि फैल रही है और वीणा के लय के साथ गमक को अनुगृहीत करने वाली मूर्च्छना (आरोहावरोहक्रम) को प्राप्त करता हुआ काल के अनुसार मिश्रित कला से रम्य श्रुति को षड्जस्वर में खींच रहा है।

यहाँ पर वाद्य-समूह तथा गीतों का परस्पर मिलान करने से यह स्वरप्रभेदों की योजना का उदाहरण है।

परस्पर एक दूसरे के भेदों का मिश्रण, जैसे—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्।
तानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्याः॥ (विक्रमोर्वशीय ५।८)

कुछ दिनों तक उसका (नायिका का) शरीर काले पड़े हुए पयोधरों के अग्रभाग से युक्त लवली दल के समान पीले कपोलों की कान्ति वाला तथा अलसाये हुए (निश्चेष्ट) नेत्रों से युक्त हो गया था।

यहाँ पर शृङ्गार की वैद्यक (आयुर्वेद) विद्या के साथ योजना की गई है।

---

१. यथा हेज्जलराधाविप्रलम्भे। २. कालकुहितकला।

[1]सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
यस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ ११९ ॥
तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान्प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति[2] ॥ १२० ॥

कर्मेति युद्धनियुद्धादिर्व्यापारः । यथा—
आलीढस्थितटङ्कितस्य निमितां दृष्टित्रयीं तन्वतः
पुङ्खाग्रक्रमसर्पणेन विशिखप्रान्तादथोच्चैस्तमाम् ।
चक्रीभूतशरासनस्य न मनाल्ल (क् ल) क्ष्यादमी विच्युता-
श्चित्रं चित्रमुमाधवस्य युगपत्सर्वे सुरेन्द्रद्विषः ॥" इति ॥
एवं सप्रयोजनत्वमभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुबध्नाति—तन्त्रात्रेति ।

यहाँ पर 'कर्म' शब्द से युद्ध-नियुद्ध आदि का व्यापार गृहीत है । जैसे—

आलीढ़स्थितटङ्कितस्य निमितां दृष्टित्रयीं तन्वतः
पुङ्खाग्रक्रमसमर्पणेन विशिखप्रान्तादथोच्चैस्तमाम् ।
चक्रीभूतशराशनस्य न मनाक् लक्ष्यादमी विच्युता-
श्चित्रं चित्रमुमाधवस्य युगपत् सर्वे सुरेन्द्रद्विषः ॥

आलीढ़ अर्थात् युद्ध का आसन विशेष में स्थित निमित्त तीनों दृष्टियों का विस्तार करने वाले, बाण के प्रान्त भाग से मूल प्रदेश तक सरकने से ऊपर जाती हुई दृष्टि वाले कान तक खींचने से चक्र के समान गोल धनुष वाले भगवान् उमापति शिव के लक्ष्य से एक साथ आये हुए इन्द्र के सारे शत्रु दैत्य-दानव थोड़ा भी च्युत नहीं हुए, यह आश्चर्य की बात है ।

यहाँ पर रुद्र एवं असुरों के परस्पर युद्ध के पैंतरे का वर्णन होने से यह युद्ध-नियुद्ध रूप कर्म का उदाहरण है ॥ ११८ ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण शास्त्र, शिल्प एवं विविध प्रकार के कर्म इस नाट्य में सन्निविष्ट हैं, इसलिए मैंने इस नाट्य को बनाया है ॥ ११९ ॥

नोट—यह श्लोक गायकवाड़ संस्करण में नहीं मिलता किन्तु काशी और काव्यमाला संस्करण में यह श्लोक मिलता है ।

अभिनव- इस प्रकार प्रयोजन को बतलाकर प्रकृत पुराकल्प-इतिहास का कथन करते हैं—

अनुवाद – इसलिए आप लोगों को इस विषय में देवताओं के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह नाट्य सात द्वीपों का अनुकरण रूप होगा ॥ १२० ॥

१. अयं श्लोकः ख. ग. पुस्तकयोरधिकं दृश्यते ।
२. ख, घ. नाट्ये ह्यस्मिन्प्रतिष्ठितम् । त. नाट्यमेतन्मया कृतम् ।

[1](येनानुकरणं नाट्यमेतत्तद्यन्मया कृतम् ॥)
[2]देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
[3]ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्[4] ॥ १२१ ॥

तदिति । तस्मात् । अत्र नाट्येऽमरान्प्रति न मन्युः कार्यः । तेऽपि तत्र न केचित् । एतदेवाह—सप्तद्वीपानुकरणमयी हि क्रिया (नटक्रिया) रङ्गे दृश्यते । न च सागरद्वीपादीनां कश्चित्तत्र (त्रा) सम्भव इति भावः ॥१२०॥

ननु किमर्थमेषां नामानि गृहीतानीत्याशङ्क्याह—देवानामित्यादि । एतेषामेवाधिकारिपुरुषत्वात् निराधारस्य वृत्तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । एतच्चोक्तं पूर्वम् । अत एव यत्र निर्व्याजसहजौदार्यधर्मादिविषये बलिप्रह्लादप्रभृतेः प्रसिद्धिस्तत्र सोऽप्युदीरित आश्रयत्वेन । तदाह—असुराणामिति । न च भवद्वैरिण एवात्र वर्णिताः अपि तु ब्रह्मर्षयोऽपि अनेन 'प्रत्यादेशोऽयमस्माकम् । सुरार्थम् ।' इत्याशङ्काद्वयमपि परिहृतम् ॥ १२१ ॥

अभिनव—इसलिए यहाँ इस नाट्य में देवताओं के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। वे भी वहाँ (उस नाट्य में) कुछ नहीं हैं। इसी को कहते हैं क्योंकि रङ्गभूमि में सात द्वीपों के अनुकरण रूप नट-क्रिया अर्थात् नट का व्यापार दिखाई देता है और सागर, द्वीप आदि का वहाँ होना सम्भव नहीं हैं, यह भाव है ॥ १२० ॥

विमर्श—भाव यह कि इस नाट्य में पुराकल्प का इतिहास वर्णित है क्योंकि नाट्य में सातों द्वीपो के समस्त लोकों के भावों का अनुकरणात्मक अभिनय नट करता है। यह अभिनय नट का व्यापार है, कर्म है। इस नाट्य में आप लोगों तथा देवताओं को पात्र के रूप में ग्रहण किया गया है। किसी को तिरस्कार अथवा किसी सम्मान करने के उद्देश्य से प्रयोग नहीं किया गया है, अत आप लोगों को इस विषय में क्रोध नहीं करना चाहिए ॥ १२० ॥

तो फिर इन लोगों का नाम क्यों लिया गया है, यह शङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—इस नाट्य को देवताओं के, असुरों के, राजाओं के, कुटुम्बियों और ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्त का प्रदर्शक समझना चाहिए ॥ १२१ ॥

अभिनव—इन्हीं के अधिकारी पुरुष होने के कारण अर्थात् देवता, असुर, राजा, गृहस्थ, ब्रह्मर्षि ये ही अधिकारी पुरुष हैं, इसलिए नाट्य में इन्हें पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि आधार (आश्रय) के विना इतिहास, कथा आदि का प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है। यह बात पहिले कही जा चुकी है। इसलिए जहाँ

---

१. ख.म. त. पुस्तकेषु इदमर्धं नास्ति । २.ख. देवतानामृषीणां च ।
३. 'ख' घ. पुस्तके 'कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते' इति पाठो दृश्यते ।
४. त. वृत्तानुदर्शकम् ।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १२२ ॥

एतत्तात्पर्येणोपसंहरति—योऽयमिति । अयमितिप्रत्यक्षकल्पानुव्यवसाय-विषयः । लोकप्रसिद्धसत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यः । लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम् । स च सुखदुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतः । न तु तदेकात्मा ।

वर निश्छल सहज उदारता एवं धर्मादि के विषय में बलि एवं प्रह्लाद आदि की प्रसिद्धि है वहाँ वे भी आश्रय रूप में कहे गये हैं। इसलिए कहते हैं—'असुराणाम्' इत्यादि। यहाँ पर आप के शत्रु देवताओं का ही वर्णन नहीं किया गया है। अपितु ब्रह्मर्षियों का भी वर्णन किया गया है। इससे यह हमारा अर्थात् हम असुरों का प्रत्याख्यान (तिरस्कार) है और देवताओं के लिए यह नाट्य है, इन दोनों शङ्काओं का निराकरण हो गया है ॥ १२१ ॥

इसी अभिप्राय से उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—यह जो लोक का सुख-दुःखमय स्वभाव है वही आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक, और आहार्य आदि अभिनयों से युक्त 'नाट्य' कहलाता है ॥ १२२ ॥

अभिनव—यह प्रत्यक्ष–सदृश अनुव्यवसाय का विषय है लोक में प्रसिद्ध सत्य और असत्य आदि से विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय होने से 'यत्' शब्द से वाच्य है। साधारणीकरण के द्वारा समस्त लोक का स्वभाव अपना समझते हुए आस्वाद्यमान अर्थ 'नाट्य' और यह सुख-दुःख रूप होने से विचित्र (विलक्षण) है, वह एक रूप में नहीं है अर्थात् न केवल सुखरूप है, और न केवल दुःखरूप है अपितु दोनों से विलक्षण उभयरूप है।

विमर्श—संसार का सुख-दुखात्मक जो स्वभाववाला है उसका अभिनय 'नाट्य' है। यह नाट्य प्रत्यक्ष के समान ज्ञान का विषय है और लोकप्रसिद्ध सत्यासत्य से विलक्षण है। भाव यह कि वह न सत् है ओर असत् हैं, बल्कि इन दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है। लोक का जो स्वभाव है, सुख-दुःख है साधारणीकरण व्यापार के द्वारा उसे अपना सुख-दुःख समझकर आस्वादन किया गया अर्थ नाट्य है। अर्थात् साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक जब संसार के स्वभाव सुखःदुःखादि को अपना समझने लगता है तो उसे रस की अनुभूति होती है, रसास्वादन करता है, जो आस्वादन है वही नाट्य है यह नाट्य केषल सुखरूप है और न केवल दुःखरूप है, अपितु दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार आस्वाद्यमान होने से रस नाट्य है और नाट्य रस है और दोनों ही आस्वाद्य होने से अनिर्वचनीय हैं।

तथा हि—रतिहासोत्साहविस्मयानां सुखस्वभावत्वम् । तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयौन्मुख्यप्राणतया तद्विषयाशंसाबाहुल्येनापायभीरुत्वाद् दुःखांशानुवेधो रतेः । हासस्य सानुसन्धानस्य विद्युत्सदृशतात्कालिकाल्पदुःखरूपसुखानुगतौ । उत्साहस्य तात्कालिकदुःखायासरूपनिमज्जनानुसन्धाना यदि (नाऽपि) भाविबहुजनोपकारिचिरतरकालभाविसुखसञ्चिकीर्षात्मना सुखरूपता । विस्मयस्य निरनुसन्धानतडित्तुल्यसुखरूपता ।

क्रोधभयशोकजुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता । तत्र चिरकालदुःखानुसन्धिप्राणो विषयगतात्यन्तिकनाशभावनाकांक्षाप्राणतया सुखदुःखानुवेधवान् क्रोधः । निरनु-

अभिनव—नाट्य की सुखदुःखात्मकता का निरूपण करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि यह नाट्य सुख-दुःख उभयरूप है। जैसे कि रति, हास, उत्साह एवं विस्मय स्थायीभाव वाले शृङ्गार, हास्य, वीर एवं अद्भुत रस मुख्यतः सुखस्वभाव अर्थात् सुखरूप हैं किन्तु इनमें भी सुख के साथ दुःख अंशतः रहता ही है। जैसे शृङ्गार रस के स्थायीभाव रति में चिरकाल तक रहने वाले सुख के अनुसन्धान से और रति के प्राणभूत विषयों की ओर उन्मुखता होने से विषयों में आकांक्षा-बाहुल्य के कारण उनके विनाश के भय रूप दुःखांश का सम्पर्क रहता है। इस प्रकार शृङ्गार सुख-दुःख उभयरूप है। हास के अनुसन्धान के साथ हास्य रस में भी सुख के साथ बिजली की चमक की तरह तात्कालिक अल्प दुःख तो रहता है। अर्थात् कभी कभी हास-परिहास में भी ऐसी बातें हो जाती हैं कि जिससे किञ्चित् दुःख होता है। इस प्रकार हास में भी दुःख का अंश रहता है, इसलिए हास्य भी सुख-दुःख उभयरूप है। इसी प्रकार उत्साह में भी तात्कालिक दुःख के आयास (श्रम) में निमग्न होने से भविष्य में बहुत लोगों का उपकार करने वाले चिरकाल स्थायी सुख को प्राप्त करने की अभिलाषा रूप सुखरूपता रहती है। विस्मय के अनुसन्धान न होने से दुःख के साथ विजली की चमक की तरह क्षणिक सुखरूपता विद्यमान है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार शृङ्गार, हास्य, वीर और अद्भुत इन सुखप्रधान रसों में यद्यपि सुख का बाहुल्य है किन्तु इनमें दुःख का किञ्चित् अंश भी रहता है। इसलिए ये चारों रस केवल सुखात्मक नहीं, वल्कि सुख-दुःख उभयात्मक है।

अभिनव—अब दुःख प्रधान रसों में सुखरूपता का निरूपण करते हैं। क्रोध भय, शोक एवं जुगुप्सा स्थायिभाव वाले रौद्र, भयानक, करुण और बीभत्स ये चार रस दुःखप्रधान हैं किन्तु इनमें भी सुख का अंश रहता है। उनमें द्वेष में चिरकाल व्यापी दुःख की योजना होने से विषयगत आत्यन्तिक नाश की भावना जो क्रोध का प्राणभूत है उसकी आकांक्षा होने से क्रोध सुख-दुःख दोनों के सम्पर्क से युक्त होता है

सन्धितात्कालिकदुःखप्राणतया तदपगमाकांक्षोत्प्रेक्षितसुखानुसम्भिन्नं भयम्। द्वैकालिकस्त्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः। उत्पाद्यमानसुखानुसन्धानजीवितविषयात्पलायनपरायणरूपान्निषिध्यमानशङ्कितसुखानुविद्धा जुगुप्सा। समस्तम् तत्पूर्वदुःखसञ्चयसंस्मरणप्राणितः (तोऽ)सम्भावितदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः। एवं व्यभिचारिप्रभृतिष्वपि वाच्यम्।

अर्थात् अप्रिय या अनिष्ट वस्तु के सम्पर्क के कारण उस वस्तु को नष्ट कर देने की भावना ही क्रोध का प्राणभूत है और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा से क्रोध में सुख का सम्मिश्रण रहता है। इसलिए क्रोध सुख के सम्पर्क से युक्त दुःखात्मक होता है अर्थात् क्रोध में सुख-दुःख दोनो का सम्मिश्रण रहता है। भय में पूर्वकालिक दुःख का अनुसन्धान (दुःख की अनुभूति) न होने से तात्कालिक दुःख की प्रधानता होने पर भी भय के दूर होने अर्थात् भय निकाल जाने की आकांक्षा से सम्भावित सुख से मिश्रित भय है, अतः भय सुख-दुःख उभयरूप है। अभीष्ट वस्तु के नाश से उत्पन्न और पूर्वकालिक सुख के स्मरण से अनुविद्ध द्वैकालिक अर्थात् दोहरा दुःखरूप होने से शोक सर्वथा दुःखरूप होता है। जुगुप्सा उत्पाद्यमान दुःख का अनुसन्धान रूप प्राण वाला अर्थात् उत्पाद्यमान दुःख की प्रधानता होने से उस घृणित वस्तु से दूर हट जाने की प्रेरणा होने से निवृत्ति-प्रधान कल्पित सुख से अनुविद्ध जुगुप्सा होती है। अर्थात् निवृत्ति प्रधान होने से जुगुप्सा कल्पित सुख से अनुविद्ध होती है। इस प्रकार जुगुप्सा दुःखप्रधान सुखानुविद्ध होती है।

पूर्वकालिक समस्त दुःख-सञ्चय के स्मरण से अनुप्राणित और सम्भावित दुःखों की निवृत्ति कराने वाला निर्वेद अत्यन्त सुखमय होता है। इसी प्रकार व्यभिचारिभावों में भी समझना चाहिए।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने रति, हास, उत्साह और विस्मय स्थायिभाव वाले श्रृङ्गार हास्य, वीर एवं अद्भुत रसों को केवल सुखात्मक न मानकर दुःखानुविद्ध सुखप्रधान माना है और क्रोध, भय, शोक एवं जुगुप्सा स्थायीभाव वाले रौद्र, भयानक, करुण एवं बीभत्स रसों को केवल दुःखात्मक न मानकर अंशतः सुखानुविद्ध दुःखप्रधान माना है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार ये आठों रस सुख-दुःखात्मक उभयरूप होते हैं। जैसे विषय-भोग की प्रधानता के कारण शृङ्गार सुखमय है किन्तु विषय-भोगों के विनाश अथवा प्रिया आदि के वियोग की आशंकारूप भय का अंशतः सम्पर्क रहता है। अतः शृङ्गार रस सुख-दुःख उभयात्मक है। इसी प्रकार हास्य-रस सुखात्मक है किन्तु उसमें भी बिजली की चमक की तरह तात्कालिक क्षणिक दुःख का सम्पर्क रहता है, क्योंकि कभी कभी हास्य में व्यक्ति अपना उपहास समझकर किञ्चित् दुःख का अनुभव करता है।

इस प्रकार हास्य रस भी केवल सुखात्मक न होकर सुख-दुःख उभयरूप होता है। इसी प्रकार उत्साह स्थायीभाव वाले वीर रस में भी श्रम करने से तात्कालिक दुःख होता है किन्तु भविष्य में दूसरों के उपकार रूप चिरस्थायी सुख-संचय की कामना से दुःखमिश्रित उत्साह में भी सुखरूपता है। अतः वीर रस भी सुख-दुःख उभयरूप है। विस्मय में विद्युत् की चमक की तरह क्षणिक सुखरूपता है अर्थात् किसी विस्मयजनक वस्तु को देखने पर सुख में दुःख का आभास भी किञ्चित् होता है अतः अद्भुत रस भी सुख-दुःखात्मक उभयरूप है।

इनके अतिरिक्त क्रोध, भय, शोक, जुगुप्सा स्थायीभाव वाले रौद्र, भयानक, करुण, बीभत्स रस दुःखप्रधान होते हैं किन्तु इनमें भी अंशतः सुखानुभव होता है। जैसे किसी अप्रिय या अनिष्ट वस्तु को देखने से अथवा अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति से क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पन्न क्रोध दुःखरूप होता है। उनमें भी क्रोध के कारणों अर्थात् अनिष्ट वस्तु के नाश तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा होने से सुख का किञ्चित् सम्पर्क रहता है अतः क्रोध स्थायीभावात्मक रौद्र सुख-दुःख उभयरूप होता है। भय में पूर्वकालिक दुःख का अनुसन्धान (अनुभव) न होने पर भी तात्कालिक दुःख की सम्भावना और उसके (भय के) दूर होने की आकांक्षा से सम्भावित सुख के सम्पर्क से युक्त दुःख रहता है अतः भय सुख के सम्मिश्रण से युक्त दुःखप्रधान होता है। इस प्रकार भय सुख-दुःख उभयरूप है। शोक स्थायीभाव करुण रस में अभीष्ट वस्तु के नाश होने से दुःख (शोक) होता है और पूर्वकालिक सुख का स्मरण होने से भी दुःख होता है, इस प्रकार करुण में दोहरी दुःखरूपता है। अर्थात् शोक में अभीष्ट वस्तु का सर्वथा नाश हो जाने से सुख की सम्भावना नहीं रहती और पूर्वकालिक सुख का स्मरण होने से दुःख ही होता है, इस प्रकार दोहरी दुःखरूपता होती है। किन्तु करुण में भी अभीष्ट वस्तु के नाश से दुःख होता है और नष्ट वस्तु के स्मरण से किञ्चित् सुख का संस्पर्श भी होता है, अतः शोक भी सुख-दुःख उभयरूप होता है। जुगुप्सा रूप बीभत्स में घृणित वस्तुओं को देखने से उद्वेग, दुःख होता है किन्तु उससे दूर होने की प्रेरणा से किञ्चित् सुख का अनुभव होता है किन्तु यह सुख कल्पित होता है, अतः जुगुप्सा निवृत्ति-प्रधान होने से कल्पित सुख से अनुविद्ध होती है। इस प्रकार जुगुप्सा कल्पित सुखानुविद्ध दुःख-प्रधान है। अतः बीभत्स भी सुखदुःख उभयरूप होता है।

निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव होता है। पूर्वकालिक सञ्चित दुःखों के संस्मरण से और उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति की सम्भावना से निर्वेद होता है जिसमें दुःख का लेश नहीं होता है। इस प्रकार निर्वेद अत्यन्त सुखमय होता है अतः शान्तरस अत्यन्त सुखरूप होता है, इसमें दुःख का संस्पर्श भी नही होता है।

संवित्स्वभावाः सुखादय इति च दर्शने न तत्स्वभावत्वम् । अन्येत्वत्र (अन्ये-स्त्वत्र) तद्वेदनरूपत्वमेव तेषां मन्तव्यम् । एवं लौकिका ये सुखदुःखात्मानो भावा तत्सदृशस्तत्संकारानुविद्धो नाट्यलक्षणोऽर्थः समुदायरूपस्तस्यैव भागोऽभिनयः ।

रसों की सुखदुःखरूपता—अभिनवगुप्त ने रसों को सुख-दुःखात्मक उभयरूप माना है । रामचन्द गुणचन्द्र ने कुछ रसों को सुखात्मक और कुछ रसों को दुःखात्मक माना है । उनके मतानुसार श्रृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस अत्यन्त सुखरूप होते हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक इन चार रसों को उन्होंने दुःखरूप माना है । धनिक और विश्वनाथ सभी रसों को सुखात्मक मानते हैं । वे दोनों ही करुण रस को भी अत्यन्त सुखरूप मानते हैं । विश्वनाथ का कहना है कि करुण रस में भी परम सुख की प्राप्ति होती है— **करुणादावपि रसे जायते परमं सुखम्** । किन्तु अभिनवगुप्त श्रृङ्गार, हास्य, वीर और भयानक इन चार रसों को दुःखानुविद्ध सुखप्रधान तथा रौद्र, भयानक, करुण एवं बीभत्स रस को सुखानुविद्ध दुःखप्रधान मानते हैं । उनके अनुसार ये दोनों प्रकार के आठ रस उभयात्मक होते हैं, किन्तु वे शान्तरस को नितान्त सुखमय मानते हैं । इस प्रकार नाट्यरस सुख-दुःख उभयात्मक होते हैं, यह अभिनवगुप्त की मान्यता है । धनञ्जय ने केवल आठ रसों की मान्यता दी है, वे शान्त को रस नहीं मानते, किन्तु अभिनवगुप्त ने शान्त को नवाँ रस माना है ।

अभिनव—सुखादि सभी पदार्थ विज्ञानरूप हैं, ज्ञानाकार है इस दर्शन में अर्थात् योगाचार बौद्ध दर्शन में उस प्रकार के भाव नहीं हैं और उनको तो उन्हें ज्ञान का विषय ही समझना चाहिए । इस प्रकार जो लौकिक सुख-दुःखात्मक भाव है, उनके समान और उन्हीं के संस्कारों से अनुविद्ध (सम्पृक्त) समुदायरूप अर्थ नाट्य है । उसी का भाग अभिनय है ।

विमर्श—विज्ञानवादी बौद्धों के मत में सुखदुःखादि सभी भाव विज्ञानरूप हैं, उनके मत में सभी पदार्थ ज्ञानाकार है, किन्तु नैयायिक उसे ज्ञानरूप न मानकर ज्ञान का विषय मानते हैं । इस प्रकार जो विज्ञानवादी सुखदुःखादि भावों को संवित्स्वभाव अर्थात् ज्ञानरूप मानते हैं उनके मत में रत्यादि भाव भी ज्ञानरूप है, किन्तु नैयायिक उन्हें ज्ञान का विषय मानते हैं । इस प्रकार लौकिक जो सुखदुःखात्मक भाव हैं उनके सदृश उन्हीं संस्कारों से संम्पृक्त समुदायरूप अर्थं नाट्य है और अभिनय उसी नाट्य का एक भाग है । इस प्रकार अभिनव के मत में समुदायरूप अर्थं नाट्य है और नाट्यही रस है और अभिनय भी उसी नाट्य का एक अंश है । वह नाट्य ही तादात्म्य प्रतीति है और तादात्म्य-प्रतीति ही वह महारस है जो दर्शकों को आनन्दरस में निमग्न कर देता है । इस प्रकार नाट्य रस आनन्दरूप है ।

एवं दयारत्यादिरूपानुसरणभूतो (एवंभूतो) नाटचलक्षणोऽर्थः कथं प्रतीतिगोचरीभवतीत्याह—अङ्गादीति। येऽभिनयाः आङ्गिकादयः न च ते लिङ्गसङ्केतादिरूपाः। अपि तु प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पलौकिकसम्यङ्मिथ्याज्ञानादिरूपः। तस्यैव भावाः शृङ्गारादयो रत्यादिविलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिनः। अत एवाभिमुख्यनयनहेतुत्वादन्यलोकशास्त्राप्रसिद्धेनाभिनयशब्देन व्यपदेश्याः। तथाऽङ्गानि शाखानृत्तगीतानि आदयः प्रधाना येषां तेऽङ्गादयः। तथाऽङ्गानि व्यभिचारिणो भावाः आदयो हेतुरूपा विभावाः। अभिनयाः अनुभावाः। त एते रसाभिमुख्यनयनहेतवः। यद्वक्ष्यते—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति। (अ-६.) तैरुपेतः। उप समीपमितः संविद्दर्पणमभिसङ्क्रान्तः। एवंभूतोऽर्थो नाटचं नटनीयं नर्तनम्। तथा गमनीयं यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम् तथा नाटकानां (नटानां) पारम्पर्यात्मकं वृत्तं नाट्यं धर्माम्नायरूपं च। तच्च सुखदुःखाभ्यां फलरूपाभ्यां सम्यगन्वितम्। तेषां पश्चाद्भावित्वात्। तेन हेयोपादेयव्युत्पत्तिः फलम्। एतच्च वितत्याग्रे भावस्वरूपं निरूपयिष्यामः॥ १२२॥

अभिनव—इस प्रकार रत्यादि का अनुकरणभूत यह नाट्यरूप अर्थ प्रतीति का विषय कैसे होगा? इस बात को 'अङ्गाद्यभिनयोपेतः' इत्यादि वाक्यो से कहते हैं। जो आङ्गिक आदि अभिनय हैं वे लिङ्ग (अनुमानज्ञान) और सङ्केतग्रह रूप (शब्दज्ञान रूप) नहीं हैं। अपितु प्रत्यक्ष साक्षात्कार-सदृश हैं लौकिक सम्यक्ज्ञान, मिथ्याज्ञानादि रूप नहीं है। उसी के भाव (विषय) शृङ्गारादि हैं। रत्यादि भावों से विलक्षण 'आस्वाद' नाम से कही जाने वाली (आस्वादापरपर्याय) प्रतीति के उपयोगी होते हैं। अत एव आभिमुख्य-नयन का हेतु होने से अन्य लोक एवं शास्त्र में अप्रसिद्ध 'अभिनय' शब्द से कहा गया है और अङ्ग अर्थात् शाखा, नृत्त, गीत आदि प्रधान हैं जिनमें वे अङ्गादि कहे जाते हैं। अथवा अङ्ग अर्थात् व्यभिचारीभाव आदि हेतुरूप विभाव हैं, अभिनय अर्थात् अनुभाव—ये रस के आभिमुख्य-नयन के हेतु होने से अभिनय कहलाते हैं। जैसाकि आगे कहेंगे—'विभाव, अनुभाव और अभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।' उनसे युक्त अर्थात् अङ्गादि अभिनयों से युक्त अङ्गाद्यभिनयोपेत' का अर्थ है। उपेत, शब्द का अर्थ है—'उप समीप इत = पहुंचा हुआ अर्थात् ज्ञानरूप दर्पण में अभिसङ्क्रान्त अर्थात् प्रतिबिम्बित। इस प्रकार का अर्थ नाट्य, नटनीय, नर्त्तनीय, नर्त्तन है और गमनीय अर्थात् यत्न के द्वारा स्वरूपतः हृदय में प्रवेश के योग्य होता है तथा नटों का परम्परागत वृत्त (कार्य) नाट्य है और धर्म का प्रतिपादक शास्त्र है और वह सुख-दुःख रूप फलों से अच्छी तरह सम्बद्ध है और उनके बाद होने के कारण हेय एवं उपादेय का ज्ञान कराना फल है। यह सब आगे भाव-निरूपण के अवसर पर विस्तार से कहेंगे॥ १२२॥

विमर्श—अब प्रश्न यह उठता है कि रत्यादि भावों का अनुकरण रूप यह नाट्य प्रतीति का विषय कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं कि आङ्गिक आदि अभिनयों से युक्त नाट्य कहा जाता है। अर्थात् आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य इन चार प्रकार के अभिनयों से युक्त होकर नाट्य प्रतीति का विषय बनता है। जो आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य ये चार प्रकार के अभिनय है वे लिङ्गज्ञान (अनुमान-प्रमाण) तथा सङ्केतग्रहप्रधान शब्दप्रमाण के विषय नहीं हो सकते है। क्योंकि अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति का होना आवश्यक है। साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः अर्थात् जहाँ जहाँ धुआँ रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है इस प्रकार के साहचर्यनियम को व्याप्ति कहते हैं)। यहाँ पर नाट्य और अभिनय में व्याप्ति नहीं बनती, क्योंकि यहाँ कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः व्याप्ति का आश्रय न होने से अभिनय लिङ्गज्ञान रूप नहीं है। संकेतग्रह पर आश्रित शब्दज्ञान भी नहीं है। क्योंकि संकेतग्रह का प्रमुख साधन लोकव्यवहार या आप्तज्ञान है। जैसे सास्नादिविशिष्ट पशु को 'यह गाय हैं' इस प्रकार का संकेतज्ञान आप्त पुरुष के कथन से होता है। किन्तु यहाँ पर इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है, अतः यहाँ संकेतज्ञान का विषय भी नहीं है। इसके अतिरिक्त अनुमान अथवा शब्दप्रमाण से जो ज्ञान होता है वह परोक्षज्ञान होता है। धूम से अग्नि के अनुमान में अग्नि परोक्ष है। इस प्रकार ये आङ्गिक आदि अभिनय न तो लिङ्गज्ञान रूप हैं और न संकेतग्रह रूप, अपितु प्रत्यक्ष साक्षात्कार रूप है। जैसाकि पहिले कहा जा चुका है कि ये सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान आदि लौकिक ज्ञानरूप भी नहीं है, अपितु अनुमान, शब्दप्रमाण तथा लौकिक सम्यक् ज्ञानादि से विलक्षण प्रत्यक्ष के सदृश (प्रत्यक्षकल्प) हैं। उस अभिनय के विषय शृङ्गारादि है। जो रत्यादि भावों से विलक्षण आस्वाद नाम से अभिहित होने वाली प्रतीति के उपयोगी हैं। पाठान्तर के अनुसार इसका अर्थ होगा कि ये आङ्गिक आदि अभिनय अनुमान एवं शब्दज्ञान रूप नहीं अपितु प्रत्यक्ष साक्षात्कार सदृश लौकिक सम्यङ्-मिथ्याज्ञानादि से विलक्षण आस्वादापरपर्याय प्रतीति के उपयोगी होते हैं। इसलिए आभिमुख्य-नयन में हेतु होने के कारण अन्य लोक-शास्त्र में अप्रसिद्ध 'अभिनय' शब्द से निर्देश किया गया है। 'अभिनय' शब्द 'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है कि नाट्यप्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों के समक्ष (आभिमुख्य) ले जाना अर्थात् प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करना। यही आभिमुख्य-नयन है। इस प्रकार अङ्गादि से आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य ये चार प्रकार के अभिनय अभिप्रेत हैं। यह अभिनय शब्द की पहली व्याख्या है।

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
[1]विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १२३ ॥

अब अङ्गाद्यभिनय की दूसरी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अङ्ग शब्द से शाखा, नृत्त एवं गीत का ग्रहण होता है। जैसा कि नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय में कहा है कि 'अङ्ग' शब्द से शाखा, नृत्त और अङ्कुर का ग्रहण करना चाहिए (**अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च**)। इनमें आङ्गिक अभिनय को शाखा कहते हैं। (**आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा**)। इस प्रकार शाखा का अर्थ आङ्गिक अभिनय है। इस प्रकार अङ्ग अर्थात् शाखा (आङ्गिक अभिनय) नृत्त और गीत ये आदि (प्रधान) है जिनमें, वे अङ्गादि अभिनय हैं अर्थात् आङ्गिक अभिनय, नृत्त और गीत ये तीन अभिनय के प्रमुख अङ्ग हैं।

इसके बाद अङ्गादि अभिनय की तीसरी व्याख्या करते हैं—अङ्गादि में 'अङ्ग' पद से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का ग्रहण होता है। क्योंकि वे ही विभावादि रस के आभिमुख्य-नयन के हेतु हैं अर्थात् विभावादि ही रस को प्रेक्षकों के समक्ष ले जाते है अर्थात् प्रेक्षक इन्हीं विभावादि के प्रत्यक्ष के द्वारा रस का अनुभव करता है। इस प्रकार विभावादि रसाभिमुख्य-नयन के हेतु होने से 'अभिनय' कहे जाते हैं। जैसाकि नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में कहा जायगा कि—'विभाव, अनुभाव' व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।' वह भरत का प्रसिद्ध सूत्र है। इसकी व्याख्या अनेक आचार्यो ने विभिन्न दृष्टिकोणों से की है जिसका विस्तृत विवेचन छठे अध्याय में किया जायगा। इस प्रकार विभावादि अङ्गादि अभिनय हैं। यह तीसरी व्याख्या है। इस प्रकार अङ्गादि अभिनय ज्ञानरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित है अत: अङ्गादि अभिनयों से संविद् दर्पण में प्रतिबिम्बित अर्थ नाट्य, नटनीय, नर्त्तन, नर्त्तनीय है। इस प्रकार नटनीय या नर्तनीय रूप अर्थ नाट्य है और वह प्रयत्नपूर्वक हृदय में प्रवेश करने योग्य है। नाट्य का अपर नाम नर्त्तन है। इस प्रकार भरत के अनुसार जिसमें सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करके अर्थात् सहृदय प्रेक्षकों के समक्ष ले जाकर उनके हृदय में रसानुभव या रसास्वादन कराया जाता है, उसे नाट्य कहते है। इस प्रकार अभिनयप्रधान प्राचीन इतिवृत्त का आश्रय लेकर नर्तन द्वारा प्रेक्षकों के हृदय में अनुकूल रस का सञ्चार करना 'नाट्य, है। इस प्रकार भावाश्रय नर्तन नृत्य, भावाभिनयहीन नर्तन नृत्त और रसाश्रयभूत चतुर्विध अङ्गाद्यभिनयोपेत नर्तन 'नाट्य, है। इस प्रकार नाट्य ही अभिनय है, अभिनय ही नाट्य है और नाट्य ही रस है ॥ १२२ ॥

अनुवाद—वेद, विद्या एवं इतिहास की कथाओं की परिकल्पना करने वाला यह नाट्य लोक में विनोद को उत्पन्न करने वाला है ॥ १२३ ॥

---

१. ख. घ. विनोदजननं काले । विनोदजननं लोके

श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति[1] ॥ १२४ ॥
एतस्मिन्नन्तरे देवान् सर्वानाह पितामहः ।
[2]क्रियतामद्य विधिवद्यजनं नाट्यमण्डपे ॥ १२५ ॥
बलिप्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितैः ।
भोज्यैर्भक्ष्यैश्च पानैश्च[3] बलिः समुपकल्प्यताम् ॥ १२६ ॥

एवं सान्त्वेनापसारितेष्वपि विघ्नेषु दिव्यनिदेशनानाममोघत्वात् पूर्वविनियुक्तदेवतांशानां तत्र तत्र सन्निधानाद्यजनमवश्यं कार्यमिति प्रदर्शयितुमुक्तमेवेतिहासमनुसन्दधन्निरूपयति—एतस्मिन्निति ।

अन्तर इति समये । विधिवदिति व्याचष्टे—बलिप्रदानैरित्यादि ।

विमर्श—भाव यह कि नाट्य से वेदों एवं इतिहासों के आख्यानों की परिकल्पना अर्थात् प्रत्यभिव्यक्ति होती है । आख्यानों की यह परिकल्पनात्मक अभिव्यक्ति ही 'नाट्य' है । यह नाट्य समस्त लोको में आनन्द का जनक है ॥ १२३ ॥

अनुवाद—श्रुति, स्मृति, सदाचार और परिशिष्ट (शेष) अर्थों की परिकल्पना करने वाला यह नाट्य विनोद उत्पन्न करने वाला है ॥ १२४ ॥

नोट—अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त (१२३-१२४) दोनों श्लोक प्रक्षिप्त माने जाते हैं, क्योंकि अभिनवगुप्त ने इस पर व्याख्या नहीं लिखी है ।

अभिनव—इस प्रकार सान्त्वना या शान्ति के द्वारा विघ्नों के दूर कर देने पर दिव्य आदेशों के अमोघ होने के कारण तथा पूर्व में नियुक्त देवताओं का अपने-अपने अंशों के उस-उस स्थान पर अवस्थित हो जाने के कारण 'यजन अवश्य करना चाहिए' इस बात को दिखलाने के लिए पूर्वोक्त इतिहास का अनुसन्धान करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—इसी समय पितामह (ब्रह्मा) ने सब देवों से कहा कि इस नाट्यमण्डप में आज आप लोग विधवत् यजन-पूजन करें ॥ १२५ ॥

अभिनव—'अन्तर' पद का अर्थ है, समय में अर्थात् इस बीच में ॥ १२५ ॥

इसके बाद 'विधिवत्' पद की 'बलिप्रदानैः' इत्यादि के द्वारा व्याख्या करते हैं—

अनुवाद—बलि-प्रदान, मन्त्र और औषधि से युक्त हवन के द्वारा तथा भोज्य (पूरी, लड्डू आदि), भक्ष्य (पायस आदि), पेय (दुग्ध आदि) पदार्थों द्वारा बलि (पूजा) करनी चाहिए ॥ १२६ ॥

१. 'म' पुस्तके इदं पद्यद्वयं न दृश्यते । 'ग' पुस्तके द्वितीयः श्लोको न दृश्यते ।
२. 'ख' क्रियतां नाट्यविधिवद् । ग. घ. क्रियतामद्य यजनं विधिवन्नाट्यमण्डपे । प. त. ब. कुरुध्वमत्र यजनं विधिवत् । ३. ख. जप्यैर्भक्ष्यैश्च भोज्यैश्च ।

[1]मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रवर्तयेत्[2] ।। १२७ ।।

बल्यन्ते आप्याय्यन्ते देवता अनेनेति बलिः । विचित्रवर्णतण्डुलादिरचना-विशेषः । तिलादयश्चाग्नौ हूयन्त इति होमाः । उभयत्र विशेषणं मन्त्रौषधीति । मन्त्रा वक्ष्यमाणाः । ओषधयो वचाबलाजमोदप्रभृतयः । प्रशस्तानि धान्यानि च । खरविशदं शष्कुलीमोदकादि भोज्यं भक्ष्यमुच्यते । भक्षणीयन्तु भक्ष्यं पायसकृसरादि । पानानि क्षीरेक्षुद्राक्षारसादीनि । बलिः पूर्वोक्तो रचनाविशेषः । एतैर्विच्छित्तियोजितैर्विविधतया कल्प्यताम् । शोभाप्रधानं हि नाट्यं सर्वम् ।। १२६ ।।

ननु देवानां देवपूजाकरणे किं फलमित्याह—मर्त्यलोकगता इत्यादि । यद्यदाचरति श्रेष्ठ इति न्यायादिति भावः । प्रवर्तयेदिति । देवानुष्ठिताचारानुवर्तित्वात् । लोक इति शेषः ।। १२७ ।।

अभिनव—जिसके द्वारा देवता लोग पुष्ट या तृप्त होते हैं उसे 'बलि' कहते हैं । नाना प्रकार के रङ्गों एवं चावलों के द्वारा निर्मित रचना-विशेष बलि है । अग्नि में जो तिल, जौ आदि की आहुति दी जाती है, वह 'होम' है । मन्त्रौषधिसमन्वितैः' यह 'बलिप्रदानैः' तथा 'होमैः' दोनों का विशेषण हैं । मन्त्र आगे कहे जाँयगे । बचा, बला और अजमोद आदि औषधियाँ हैं और उत्तम धान्य भीं औषधि है । चरपरे पवित्र पूरी, कचौड़ी, लड्डू आदि 'भोज्य' कहे जाते हैं । खाने योग्य पायस (खीर) खिचड़ी आदि 'भक्ष्य' हैं । दूध, गन्ने का रस, अङ्गूर के रस आदि 'पेय' पदार्थ हैं। बलि पूर्वोक्त रचना विशेष है । इन नाना प्रकार के विशेष रङ्गचित्रण के द्वारा सजावट करनी चाहिए । क्योंकि नाट्य में सब कुछ शोभा प्रधान होता है ।। १२६ ।।

अब प्रश्न होता है कि देवताओं के पूजा करने का फल क्या है ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—मर्त्यलोक में पहुंचकर आप सब शुभ पूजा को प्राप्त होंगे । रङ्गमण्डप की पूजा किये विना प्रेक्षा (अभिनय) प्रारम्भ नहीं करना चाहिये ।। १२७ ।।

अभिनव—'श्रेष्ठ जन जैसा जैसा आचरण करते हैं अन्य लोग भी उसी प्रकार आचरण करते हैं' इस न्याय के अनुसार आप लोग यदि देवताओं की पूजा करते हैं तो और लोग भी आपकी देखा-देखी देवताओं की पूजा करेंगे । क्योंकि लोग देवताओं के द्वारा किये हुए आचरण का अनुसरण करते हैं ।। १२७ ।।

---

१. ख. मर्त्यलोकेऽप्ययं वेदः । २. ख. प्रवर्त्तते ।

अपूजयित्वा रङ्गं तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति ।
[1]निष्फलं तस्य तत् ज्ञानं तिर्यग्योनिं च यास्यति[2] ॥ १२८ ॥
यज्ञेन संमितं ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम्[3] ।
तस्मात्सर्वप्रत्नेन कर्तव्यं नाटयप्रयोक्तृभिः ॥ १२९ ॥
नर्तकोऽर्थपतिर्वापि यः पूजां न करिष्यति ।
[4]न कारयिष्यत्यन्यैर्वा [5]प्राप्नोत्यपचयं तु सः ॥ १३० ॥

ननु यदि लोकः सदाचारं नानुवर्तेत ततः किमित्याह—अपूजयित्वेति । निष्फलमिति । तस्येति । नाट्याचार्यस्य । पारलौकिकमपि प्रत्यवायमाह—तिर्यग्योनिं चेति ॥१२८ ॥

प्रश्न यह होता है कि यदि लोग सदाचार का अनुवर्त्तन (अनुसरण) न करें तो क्या होगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—रङ्गपीठ की पूजा किये बिना जो अभिनेता अभिनय का प्रारम्भ करेगा, उसका नाट्य का समस्त ज्ञान निष्फल होगा और वह तिर्यग् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होगा ॥ १२८ ॥

अभिनव— निष्फल' पद से अभिप्राय है कि रङ्गपूजन न करने से नाट्याचार्य का ज्ञान निष्फल हो जायगा और केवल इसी जन्म में ही नहीं, बल्कि परलोक में भी प्रत्यवाय (विघ्न) होगा, अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होगा । यहाँ 'तिर्यग्योनि' पद से पारलौकिक प्रत्यवाय कहा गया है ॥ १२६ ॥

अनुवाद—यह रङ्ग देवताओं का पूजन यज्ञ के सदृश है, इसलिए नाट्य-प्रयोक्ताओं को सभी प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा रङ्गदेवता की पूजा करनी चाहिए ॥ १२९ ॥

अनुवाद—नर्त्तक (नट) अथवा अर्थपति (नाट्य का संचालक) जो रङ्गमञ्च की पूजा नहीं करेगा अथवा दूसरो के द्वारा भी नहीं करायेगा । वह अवनति (हानि) को प्राप्त करेगा ॥ १३० ॥

विमर्श—नाट्यमण्डप के निर्माण तथा अभिनय आदि के प्रयोग में जो आर्थिक सहायता करता है और अभिनेताओं को पुरस्कार आदि प्रदान कर संरक्षण देता है, वह 'अर्थपति, कहलाता है । अर्थात् अर्थपति का भी कर्त्तव्य है कि वह रङ्गमण्डप की पूजा स्वयं करें या दूसरों से कराये ॥ १३० ॥

---

१. ख-घ. ग. तस्य तन्निष्फलं ज्ञानम् । २. गमिष्यति । भविष्यति ।
३. ख. घ. रङ्गपूजनम् । ४. ख. कारयिष्यति वा चैव ।
५. ख. ग-घ. प्राप्स्यत्यपचयं तु सः ।

यथाविधि [1]यथादृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं च यास्यति[2] ॥ १३१ ॥
[3]एवमुक्त्वा तु भगवान्द्रुहिणः सह दैवतैः[4] ।
रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत् ॥ १३१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे नाट्योत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ननु यद्यपूजने प्रत्यवायस्तर्हि पूजने किं तन्निवृत्तिमात्रं फलम् । नेत्याह—यथाविधीति ।

यथा देवैर्विहिता । कथमेतज्ज्ञायत इत्याह—यथादृष्टमिति शास्त्रदृष्टोऽसौ विधिरित्यर्थः । अर्थान् शुभानिति । ऐहलौकिकधनमानप्रसिद्धिलाभ उक्तः । १३१ ॥

एवं मर्त्यान्प्रत्यभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुसन्धत्ते—एवमुक्त्वेति ।

अब प्रश्न यह है कि यदि पूजा न करने पर प्रत्यवाय (विघ्न) होता है तो पूजा करने पर क्या प्रत्यवाय की निवृत्तिमात्र फल होता है ? इसका उत्तर देते हैं—'नहीं' । इसलिए कहते हैं—

अनुवाद—यथाविधि अर्थात् जैसे देवताओं ने पूजा की थी और जैसा विधान शास्त्रों में देखा गया है, इस प्रकार जो यथाविधि यथादृष्ट विधि के अनुसार पूजा करेगा, वह शुभ अर्थों को प्राप्त करता हैं और अन्त में स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा ॥ १३१ ॥

अभिनव—जिस प्रकार देवताओं ने पूजा की थी। यह कैसे मालूम कि देवताओं ने पूजा की थी, इस पर कहते हैं कि यथादृष्टम् अर्थात् जैसा देखा है अर्थात् शास्त्रों में जैसी विधि पाई जाती है। शुभ अर्थो अर्थात् इस लोक में धन, सम्मान और प्रसिद्धि का लाभ मिलता है ॥ १३१ ॥

विमर्श—भाव यह कि जिस प्रकार देवताओं ने जिस विधि से पूजा की थी उसी प्रकार उसी विधि से जो रङ्ग देवता की पूजा करेगा वह इस लोक में धन, मान, यश को प्राप्त करेगा और अन्त में परलोक में भी उत्तम गति को प्राप्त होगा। अत: यथाविधि रङ्ग-पूजन करना चाहिए ॥ १३१ ॥

इस प्रकार मनुष्यों के प्रति फल का कथन करके पुराकल्प इतिहास का अनुसन्धान करते हैं—

अनुवाद—भगवान् ब्रह्मा ने इस प्रकार कहकर देवताओं के साथ तुम रङ्गपीठ की पूजा करो, इस प्रकार प्रेरित किया ॥ १३२ ॥

---

१. ख. यथाशास्त्रम् । २. ख. गमिष्यति ।
३. ख. एवं भवत्विति प्राह । ४. ग. सर्वदैवतैः ।

नाट्याचार्यस्यैव देवयजनेऽधिकारः। तस्यैव फललाभः। कवेः प्रेक्षाप्रवर्तयितुश्च तत्प्रयोक्तृत्वमित्यनेनोक्तम्। रज्यतेऽनेनेति रङ्गो नाट्यम्। तदाधारत्वान्मण्डपः। तदधिष्ठातृत्वाच्च देवता अपीति मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्योपोद्घातं करोतीति विशेषः॥ १३२॥

त्रिणेत्रपादाब्ज[1]सदास्तवोल्लस
त्प्रसादभाक्स्फुटमिह नाट्यशासने।
प्रवर्तितेयं हृदये महाधियां
प्रकाशतामभिनवगुप्तभारती ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायामभिनवभारत्यां भारतीय-
नाट्यशास्त्रविवृतौ नाट्योत्पत्तिः प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अभिनव—नाट्याचार्य को ही देवपूजन में अधिकार है, उसी को फल मिलता है। कवि एवं नाट्य-प्रवर्त्तक का तो नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा प्रयोग करना ही लक्ष्य है। जिससे आनन्द मिले, उसे 'रङ्ग' कहते हैं। वह रङ्ग नाट्य है। उसका आधार होने के कारण मण्डप को भी रङ्ग कहते हैं। उसके अधिष्ठता होने के कारण देवता भी 'रङ्ग' हैं। इस प्रकार मण्डपाध्याय नामक द्वितीय अध्याय का उपोद्घात कर दिया है। यह विशेष ध्यातव्य है॥ १३२॥

विमर्श—ब्रह्माजी ने भरतमुनि को देवताओं के साथ रङ्गपूजा करने का आदेश दिया है। रङ्गपूजा का विधान और रङ्गपीठ के निर्माण की विधि का निरूपण अगले द्वितीय अध्याय में किया जायगा॥ १३२॥

अभिनव—त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवजी के चरणकमलों की निरन्तर स्तुति करने से उत्पन्न प्रसाद (कृपा) को प्राप्त करने वाली, इस नाट्यशास्त्र पर प्रवर्त्तित की गई (लिखी गई) अभिनवगुप्त की भारती अर्थात् अभिनवभारती टीका विद्वानों के हृदय में प्रकाशित हो।

इस प्रकार महामहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यद्वारा विरचित अभिनवभारती नामक नाट्यवेदविवृत्ति में नाट्योत्पत्ति नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ॥ १॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायां मनोरमाख्यायामभिनवभारत्या हिन्दीव्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥ १॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र एवं अभिनव-
भारती की हिन्दी व्याख्या में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ। १॥

---

१. समाश्रयोल्लसत्।

द्वितीयोऽध्यायः

अभिनव-भारती

संसारनाटचजननधातृबीजलताजुषीम् ।
जलमूर्त्ति शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे ॥ १ ॥

वृत्तेऽध्याये यथातत्त्वमिति (१-५) वचनवशात् भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गतां पश्यन्परमार्थनिर्णयेन कुर्यात्का तु कथा (पश्यति परमार्थ-निर्णयेन । द्वितीये तु कथम्) मण्डपलक्षणं स्यात् । अत एव मुनिः 'गानं रङ्गश्च सङ्ग्रहः' (६-१०) इति रङ्गं सर्वं पश्चाद्वक्ष्यति । तस्मात्कदाचिदे (त्कथमे) तदित्याशङ्कमाना (नानां) 'मुनयः पप्रच्छः' इति परमात्मानं परिकल्प्य मुनिराह-भरतस्य वच इति ।

द्वितीय अध्याय

अभिनव—संसार रूपी नाटच की उत्पत्ति के आधारभूत बीज का विस्तार करने वाली संसार के स्वामी शिव की रसमयी और कल्याणमयी जलरूपमूर्त्ति की हम उपासना करते हैं ।

विमर्श—यह संसार एक नाटक है । इस नाटक के बीज भगवान् शिव हैं । उन्होंने ही सर्वप्रथम नाटच का सृजन किया था । इसलिए वे संसाररूपी नाटक के बीज कहे गये हैं । भगवान् शिव की आठ मूर्त्तियाँ प्रसिद्ध हैं । उनमें जलमयी मूर्त्ति श्रेष्ठ है । 'अप एव ससर्ज आदौ' अर्थात् जल की प्रथम सृष्टि हुई । इस संसाररूपी नाटक के स्रष्टा भगवान् शिव हैं । इसलिए भगवान् शिव की जलमयी मूर्त्ति की उपासना की गई है ।

अभिनव— प्रथम अध्याय में कहे गये 'यथातत्त्वम्' अर्थात् 'आप तत्त्व के अनुसार कहिये' इस वचन के कारण भरतमुनि नाट्य के पाठ्य आदि अङ्गों के समान यजन-पूजन आदि की अन्तरङ्गता को देखते हुए अर्थात् जिस प्रकार पाठ्य आदि नाटच के अन्तरङ्ग हैं उसी प्रकार पूजन भी नाट्य का अन्तरङ्ग अभिन्न अङ्ग नाटचशास्त्र के है, इस पर विचार करते यथार्थ का निर्णय करते अर्थात् पूजा को नाट्य का अन्तरङ्ग मानकर प्रथम पूजन का ही विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं तो नाट्यमण्डप की रचना का प्रश्न पीछे रह जायगा । इसीलिए भरतमुनि ने छठे अध्याय में 'गानं रङ्गश्च संग्रहः' में रस, भाव आदि सभी अङ्गों में 'रङ्ग' अर्थात् नाट्यमण्डप का सबसे पीछे उल्लेख किया है । इसलिए 'शायद ऐसा अवसर मिले' यह शङ्का करते हुए मुनियों ने पूछा । इस प्रकार भरतमुनि अपने को पर पुरुष अर्थात् अपने से भिन्न अन्य पुरुष की कल्पना करके 'भरतस्य वचः' इत्यादि कहते हैं—

[1]भरतस्य वचः श्रुत्वा [2]पप्रच्छुर्मुनयस्ततः ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ॥ १ ॥

ब्रह्मेव कविः, शक्र इव प्रयोजयिता, भरत इव नाटयाचार्यः,[4] कोहलादय इव नटाः, अप्सरस इव सुकुमारोपकरणं, स्वातिरिवानद्धवित् नारदवद् गीतज्ञः, सुरक्षितो मण्डपः, इन्द्रोत्सवसदृशः प्रयोगकालः, [5]प्रशान्तरागद्वेषादिकाः सामाजिकाः, देवतापूजनपूर्वकः प्रयोग इत्येवं सङ्ग्रहेण पूर्वाध्यायनिरूपितमर्थमवाधार्येत्यर्थः। यजनमिति 'रङ्गपूजां कुरुष्व' इति वृत्तेऽध्याये निरूपितमिति सङ्गतिः ॥ १ ॥

देवविषये मण्डपस्य क्रियां विना न निष्पत्तिरिति प्रथमं क्रियाप्रश्नस्तेषां विस्मृतोऽपि झटिति स्मृतिं गत इत्यभिप्रायेण[6] दर्शयति—अथ वेति ।

अनुवाद—तब भरतमुनि के वचन को सुनकर मुनियों ने कहा कि हे भगवन् ! हम रङ्ग (रङ्गपीठ) से सम्बद्ध यजन (पूजन-विधि) को सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

अभिनव—ब्रह्मा के समान कवि, इन्द्र के समान प्रयोजयिता (प्रयोग कराने वाला), भरत के समान नाट्याचार्य, कोहल आदि के समान नट, अप्सराओं के समान सुकुमार उपकरण (साधन), स्वाति के समान वाद्य-वेत्ता, नारद के समान गीतज्ञ अर्थात् गीत के मर्मज्ञ विद्वान्, सुरक्षित मण्डप, इन्द्रोत्सव के समान प्रयोग का समय, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि से रहित सामाजिक और देवताओं के पूजन के साथ अभिनय का प्रयोग, इस प्रकार संग्रह रूप में अर्थात् संक्षेप में पूर्व (प्रथम) अध्याय में कहे हुए अर्थ (विषय-वस्तु) का निश्चय करके मुनियो ने पूछा, यह अभिप्राय है। 'यजन' पद का यह तात्पर्य है कि प्रथम अध्याय में 'रङ्ग की पूजा करो' इस प्रकार जो कहा गया है, उससे सङ्गति ठीक बैठती है ॥ १ ॥

अभिनव—देवताओं के विषय में अथवा पूजन के विषय में मण्डप के निर्माण (क्रिया-रचना) के विना पूजा की निष्पत्ति (सिद्धि) अर्थात् पूजा का सम्पादन नहीं हो सकता हैं, इसलिए पहिले मण्डप की रचना का प्रश्न जो भूल जाने पर भी तुरन्त याद (स्मरण) आ गया, इस अभिप्राय से दिखाते हैं—

---

१ ण. पुस्तके 'श्रुत्वा तु वचनं तस्य प्रत्यूचुर्मुनयस्तथा । श्रोतुमिच्छामो भगवन् यजनं नाटयमण्डपे' इति पाठो दृश्यते ।

२. ख. प्रत्यूचुर्मुनयस्तदा । ग. प्रत्यूचुर्मुनयस्ततः । ३. प. नाटयमण्डपे ।

४. क-म. नाटयानामाचार्यः । ५. ङ. प्रशान्तरागद्वेषाः ।

६. म. इतो हि प्रायेण दर्श्यते । भ. इत्थं हि प्रायेण दृश्यते ।

अथ वा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम् ।
[1]भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं [2]तन्नाटचवेश्मनि ॥ २ ॥

[3]पूर्वप्रश्नार्थोपमर्दनाय । अत एव पूजनमिति पुनर्वचनम् । क्रियाः कर्तव्यता । लक्षणं सन्निवेशपरिमाणादि । अतीतेषूपदेशो व्यर्थ इति भविष्यद्भिरित्युक्तम् । देवानां मनसा सम्पत्तेः नरैरिति । ननु लक्षणं किं कार्यम् । लक्ष्यत् इति लक्षणं सन्निवेश इत्यदोषः । अथ वा भाविभिर्यत्कार्यं नाटचवेश्म तत्र यत्क्रियालक्षणं पूजनं तत्कथमिति सम्बन्धः ॥ २ ॥

विमर्श—कुछ संस्करणों में 'देवविषये मण्डपस्य क्रियां विनैव निष्पत्तिरिति' पाठ छपा है, किन्तु इस पाठ से अर्थसङ्गति नहीं बैठती है, क्योंकि 'देवताओं के विषय में मण्डप की रचना (क्रिया) के बिना ही निष्पत्ति (रचना) हो सकती है' इस कथन का अर्थ-सङ्गति नहीं बैठती । इसी अध्याय के पूर्व श्लोक में मुनियों ने मण्डप के यजन (पूजन) सम्बन्धी प्रश्न किया था और मण्डप के निर्माण के बिना पूजन असम्भव था, अतः यहाँ 'यजनविषये मण्डपस्य क्रियां विना न निष्पत्तिरिति' पाठ कर देने पर अर्थसङ्गत हो जाता है कि पहिले मुनियों ने रङ्गमण्डप के पूजन के सम्बन्ध में प्रश्न किया था, उस पर मुनियों ने सोचा कि 'पूजन के विषय में मण्डप के निर्माण के बिना पूजन की निष्पत्ति नहीं हो सकती' इसलिए मण्डप की रचना का प्रश्न भूल जाने पर भी पूजन का प्रश्न करने के बाद तुरन्त याद आ जाने से मुनियों ने कहा—

अनुवाद—अथ वा अर्थात् अथवा (पहिले नाटचमण्डप) निर्माण की जो क्रिया है, जो लक्षण है और जो पूजन-विधान है आने वाले लोगों के द्वारा कैसे करना चाहिए, यह सब बताइये ॥ २ ॥

अभिनव—'अथवा' यह शब्द पहिले प्रश्न को दबाने के लिए है। इसीलिए 'पूजन' पक्ष को दुहराया गया है। 'क्रिया' यह इतिकर्त्तव्यता (इस प्रकार रचना करनी चाहिए, रचना-प्रकार) का बोधक है। 'लक्षण' पद सन्निवेश, परिमाण आदि का बोंधक है। अतीत (भूत) काल के लोगों को उपदेश देना व्यर्थ है, इसलिए 'भविष्यद्भिः' (आगे होने वाले) यह कहा है। देवताओं के मन से सिद्धि होती है अर्थात् देवताओं को मानसी सिद्धि होती है, इसलिए 'नरैः' यह पद कहा है। प्रश्न यह है कि क्या लक्षण करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि जो लक्षित होता है, देखा जाता है, वह सन्निवेश आदि लक्षण है। इसलिए कोई दोष नहीं है। अथवा भविष्य में होने वाले लोग जिस नाट्यमण्डप की रचना करें, उसमें जो क्रिया अर्थात् पूजन है, वह कैसे किया जाय, इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। इस प्रकार इसका अर्थ होगा—

१. भविष्यद्भिः कथं कार्यं पुरुषैर्नाटयोक्तृभिः । २. ख. वै नाटचवेश्मनि ।
३. भ. पूर्वप्रश्नोपमर्दनाय ।

[1]इहादिर्नाट्यप्रयोगस्य नाट्यमण्डप एव हि।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत्।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः[2] ॥ ४ ॥

पूर्वकृते प्रश्नपञ्चके निर्णयं कृत्वेदं प्रश्नान्तरं निर्णयेदित्याशङ्कमाना मुनयः पुनराहुरिहादिरिति—

नाट्यस्य योग उत्पत्तिः। तावदित्यनेन पूर्वप्रश्नितस्यात्याग उक्तः। एवकारो लक्षणशब्दानन्तरम्। इतिकर्तव्यतायाः तदङ्गत्वात्। यजनस्य च तन्निष्पत्यनन्तरत्वात् ॥ ३ ॥

तेषामिति। अन्यथा तु न ब्रूयादेवोक्ताद्धेतोः। अनेन श्लोकेन लक्षणपूजनज्ञानं देवानामप्युपयोगि। सङ्कल्पितस्यापि निर्माणस्य ज्ञानापेक्षित्वादित्युक्तम्। अत एवात्र क्रियेति नोक्तम् ॥ ४ ॥

"अथवा नाट्यमण्डप के निर्माण की जो क्रिया रचना-प्रकार है और जो लक्षण अर्थात् सन्निवेश, आकार, परिमाण आदि है, उसका पहिले निरूपण करना चाहिए। बाद में भविष्य में होने वाले लोगों के द्वारा पूजन कैसे करना चाहिए ? यह बतलाइये। अथवा भविष्य में आने वाले लोग जिस नाट्यमण्डप की रचना करें, उसमें क्रिया अर्थात् पूजन कैसे किया जाय, यह बतलाइये" ॥ २ ॥

पहिले अध्याय में पाँच प्रकार के प्रश्न किये गये थे, उनका समाधान करने के बाद अब अन्य प्रश्न का उत्तर देंगे, यह आशङ्का करते हुए मुनि लोग फिर कहते हैं—

अनुवाद—यहाँ नाट्य प्रयोग का मुख्य तत्त्व नाट्यमण्डप ही है, इसलिए पहिले आपको उसी का लक्षण (सन्निवेश आदि) को बतलाना चाहिए ॥३॥

अभिनव—नाट्य का योग अर्थात् नाट्य की उत्पत्ति। 'तावत्' पद से पूर्व में किये गये प्रश्नों के अपरित्याग अर्थात् न छोड़ने की ओर सङ्केत है। 'एव' पद को लक्षण शब्द के बाद जोड़ना चाहिए। इतिकर्त्तव्यता (रचना-प्रकार) उसी का ही अङ्ग है और यजन-पूजन भी नाट्यमण्डप के निर्माण के अनन्तर होगा ॥ ३ ॥

अनुवाद—तब उन मुनियों के वचन को सुनकर भरतमुनि ने कहा कि नाट्यगृह का लक्षण और पूजन ही सुनिए ॥ ४ ॥

अभिनव—'तेषाम्' अर्थात् उनके। अन्यथा अर्थात् ऐसा न होता हो तो पूर्वोक्त हेतु के कारण उसको नहीं कहते। इस श्लोक से लक्षण एवं पूजन का ज्ञान देवताओं के लिए भी उपयोगी है और संकल्पित वस्तु को निर्माण भी ज्ञान सापेक्ष है अर्थात् संकल्पित वस्तु के निर्माण के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता है यह कहा गया हैं। इसलिए यहाँ पर 'क्रिया' पद को नहीं कहा है ॥ ४ ॥

---

१. 'ख' इहादिर्नाट्यवेदस्य कीर्त्तितो नाट्यमण्डपः। २. 'ङ' नाट्यवेश्मनि।

[1]दिव्यानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
(यथाभावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः[2]) ।
नराणां यत्नतः कार्याः लक्षणाभिहिताः क्रियाः ॥ ५ ॥

ननु किं [3]क्रिया नैवोच्यत इत्याह—दिव्यानामिति । श्रूयतामित्यनुवर्तते । नराणां कार्या क्रिया इतिकर्तव्यता च श्रूयताम् । चकाराल्लक्षणपूजने । शास्त्रेणोक्ता नराणामेव कस्मादित्याह दिव्यानामिति । सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि विषयत्वमेव यत्र जन्मक्रमनियतप्ररोहकुसुमफलानि बहुविचित्रतरुलतास्थलीसरोवराक्रीडमयान्युपवनान्यपि मानसानि, तत्र गृहे का सम्भावनेति ॥ ५ ॥

अब प्रश्न यह है कि क्रिया ही क्यों छोड़ दी है ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—देवताओं के गृहों और उपवनों (उद्यानों) के निर्माण में मानसी सृष्टि होती है किन्तु मनुष्यों को लक्षण-शास्त्र में कही हुई क्रिया को यत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ ५ ॥

अभिनव—'श्रूयताम्' पद की पूर्व श्लोक से अनुवृत्ति है। मनुष्यों के लिए करणीय क्रिया अर्थात् इतिकर्त्तव्यता (रचना-प्रकार) को सुनिये। चकार से लक्षण और पूजन का ग्रहण होता है। अतः लक्षण (सन्निवेश अर्थात् आकार-परिमाण) और पूजन की विधि को भी सुनिये। शास्त्रों में कही हुई क्रिया मनुष्यों के लिए ही क्यों ? इस पर कहते हैं कि दिव्यानामिति। सृज्यमान होने से कर्म की भी विषयता है। अर्थात् 'गृहेषु उपवनेषु' में गृह और उपवन दोनों सृज्यमान क्रिया के कर्म है, अतः यहाँ वैषयिक आधार पर कर्म में सप्तमी विभक्ति हुई। इसीलिए उसे विषय सप्तमी कहा है। जहाँ जन्म (उत्पत्ति) के क्रम से नियत अङ्कुर, कुसुम और फल तथा नाना प्रकार के वृक्ष, लता, स्थली (भूमि), सरोवर आदि तथा क्रीड़ा-स्थानों से युक्त उपवन भी मानसी (संकल्पजन्य) सृष्टि है, वहाँ नाट्यगृह में क्या सम्भव नहीं है ? ॥ ५ ॥

विमर्श—इसके पूर्व के चतुर्थ श्लोक में 'लक्षणं पूजनञ्चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः' वाक्य में लक्षण और पूजन दो के ही सुनने का निर्देश है। क्रिया (रचना-क्रिया) का प्रश्न छोड़ दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि भरतमुनि ने क्रिया को क्यों छोड़ दिया ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि रङ्गमण्डप के लक्षण (आकार, परिमाण आदि) और पूजन का ज्ञान देवताओं के लिए भी उपयोगी है किन्तु रचना-विधि (क्रिया) का ज्ञान उनके लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि देवताओं की सृष्टि तो संकल्पमात्र से होती है अर्थात् देवता लोग जब, जिस वस्तु की जैसी इच्छा करते हैं, उसी समय वही वस्तु वैसी ही उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए भरतमुनि ने लक्षण और पूजन को सुनने का निर्देश दिया है किन्तु क्रियारचना-विधि का निर्देश नहीं किया है ॥ ५ ॥

---

३. ग. देवानां ।   ४. अयं श्लोकार्द्धः 'ख' पुस्तके नास्ति ।   ८. क्रियैवोच्यते ।

श्रूयतां तद्यथा यत्र[1] कर्तव्यो नाट्यमण्डपः ।
[2]तस्य वास्तु च पूजा च यथा योज्या प्रयत्नतः ।। ६ ।।
इह [3]प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा धीमता[4] विश्वकर्मणा ।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ।। ७ ।।

श्रूयतामिति । तदिति । यतो नराणां यत्नतः कार्यताप्रकारः । यत्रेति देशकालौ । वास्त्विति । गृहभूमिगतं परिमाणमिह मन्तव्यम् ।। ६ ।।

लक्षणोक्तेत्युक्तं तत्र किं तल्लक्षणमित्याह—इह प्रेक्षागृहमिति ।

इह नाट्यमण्डपे । सन्निवेशः । चशब्दात्प्रमाणमेतत् । विश्वकर्मणा परिकल्पितः । किं स्वबुद्ध्या । न । अपि तु शास्त्रतः प्रेक्षागृहं विचार्य । शक्तश्चासौ विचार इत्याह—धीमतेति । ज्ञायत इत्याह । शास्त्रं कृतं तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम् ।। ७ ।।

अनुवाद—इसलिए जहाँ पर जिस प्रकार से नाट्यमण्डप का निर्माण करना चाहिए और उसके वास्तु अर्थात् नाट्यगृह के भूमि का आकार, परिमाण आदि तथा पूजा प्रयत्नपूर्वक जैसा करना चाहिये उसे सुनिये ।। ६ ।।

अभिनव—'श्रूयताम्' (सुनो) यह श्लोक का प्रतीक है। इसलिए मनुष्य को यत्नपूर्वक रचना करनी चाहिए। 'यत्र' पद से देश-काल का ग्रहण होता है। 'वास्तु' पद से यहाँ नाट्यगृह की भूमि का परिमाण समझना चाहिए। 'पूजा' पद से लक्षण के साथ कहीं हुई पूजा का ग्रहण होता है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा—'इसलिए जहाँ जिस प्रकार नाट्यमण्डप बनाना चाहिए तथा उस नाट्यमण्डप की भूमि का परिमाण तथा पूजा जिस प्रकार करनी चाहिए, उसे सुनिये ॥ ६ ॥

प्रश्न—पूर्व श्लोक में 'लक्षणाभिहिता क्रिया' में क्रिया का कथन किया गया है, वहाँ वह कौन सा लक्षण (शास्त्र) है, इस बात के प्रतिपादन के लिए कहते हैं—

अनुवाद—यहाँ बुद्धिमान् विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह को देखकर शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार के सन्निवेश (परिमाण आदि) की परिकल्पना की है ।।७।।

अभिनव—'इह' का अर्थ इस नाट्यमण्डप में। 'सन्निवेश' शब्द से आकार और 'च' शब्द से 'प्रमाण' (परिमाण) का ग्रहण है। विश्वकर्मा ने परिकल्पना कर ली। क्या अपनी बुद्धि से (कल्पना की) ? कहते है—'नहीं'। अपितु शास्त्र के अनुसार प्रेक्षागृह का विचार करके। क्योंकि वह विचार करने में समर्थ है। इसलिए 'धीमता' (बुद्धिमान्) यह कहा गया है अर्थात् जानता है। कैसे जानता है, इस पर कहते हैं— 'शास्त्रतः' अर्थात् शास्त्र से अर्थात् शास्त्र से ज्ञान होता है। वह शास्त्र भी अपरशास्त्र मूलक है, इस प्रकार प्रवाह से वह शास्त्र अनादि है। ऐसा कहा ॥ ७ ॥

---

१. ख. तत्र । २. 'ख' पुस्तके 'तस्य दैवतपूजा च यथा योज्या च वास्तुषु' इति पाठः ।
३. ख. ष. प्रेक्षागृहाणां तु । ४. ग. श्रीमता ।

विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु[1] मण्डपः ।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् ॥ ८ ॥

कोऽसौ त्रिविध इत्याह—विकृष्टश्चेति । विभागेन कृष्टो दीर्घो न तु चतसृषु दिक्षु साम्येन । [2]तिस्त्रोऽश्रयो यस्य त्र्यश्रि । तदस्मिन्निति मत्वर्थीयोऽच् । एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनीति केचित् । अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः । एतदेव युक्तम् । तथा चाह—तेषामिति । प्रमाणं हस्तदण्डाश्रयं ज्येष्ठादित्वम् न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत् ॥ ८ ॥

विमर्श—भाव यह कि बुद्धिमान् विश्वकर्मा ने इस प्रेक्षागृह के सम्बन्ध में विचार करके शास्त्र के अनुसार अर्थात् शास्त्र का अनुशीलन करके नाटचमण्डप के तीन प्रकार के आकार, परिमाण आदि का निर्देश किया है अर्थात् प्रेक्षागृह शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार का होना चाहिए, ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है ।। ७ ॥

प्रश्न—वह तीन प्रकार का सन्निवेश कौन सा है ? इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र यह तीन प्रकार का मण्डप होता है और उनके ज्येष्ठ, मध्यम और अधम ये तीन प्रमाण हैं ॥ ८ ॥

अभिनव—विकृष्ट अर्थात् विभाग के अनुसार कृष्ट अर्थात् लम्बा, चारों दिशाओं में समान (बराबर) नहीं । तीन अश्रि (कोण) त्र्यश्रि है, वह त्र्यश्रि अर्थात् तीन कोण हो जिसमें इस अर्थ में मत्त्वर्थीय अच् प्रत्यय है । कुछ आचार्यों का मत है कि ये ही तीन ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम कहे जाते हैं । दूसरे आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक तीन प्रकार का होता है, अतः इसके नौ भेद होते हैं । यही मत ठीक है और उनके तीन प्रमाण हैं ऐसा कहते हैं। हस्तदण्ड के अनुसार ज्येष्ठ, मध्यम और अधम आदि प्रमाण है, सन्निवेश (आकार) के अनुसार नहीं ॥ ८ ॥

विमर्श—विश्वकर्मा ने नाटचशास्त्र के अनुसार नाटचमण्डप के तीन प्रकार का सन्निवेश (आकार) कल्पित किया है—(१) विकृष्ट (२) चतुरश्र और (३) त्र्यश्र । इनमें विकृष्ट नाटचमण्डप आयताकार लम्बा होता है । विकृष्ट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'विभागेन कृष्टः दीर्घः इति विकृष्टः' अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं में विभागेन अर्थात् अलग-अलग खींचा गया हो (कृष्टः) अर्थात् चौड़ाई की अपेक्षा लम्बाई अधिक हो, चारों कोने बराबर न हों, उसे विकृष्ट नाटचमण्डप कहते हैं । चतुरस्र नाटचमण्डप चारों दिशाओं में बराबर चौकोण होता है (चतसृषु दिक्षु साम्येन कृष्ट इति चतुरस्रः) जिसकी चारों भुजाएँ समान हों, ऐसा वर्गाकार-क्षेत्र वाला मण्डप चतुरस्र मण्डप कहलाता है । त्र्यश्र नाटचमण्डप त्रिकोण होता है—'तिस्रः अश्रयः अस्मिन्निति त्र्यश्रः' अर्थात् जिसको तीनों कोण त्रिभुजाकार बराबर हो उसे त्र्यश्र नाटचमण्डप कहते हैं ।

---

१. ख. घ. हि । २. क. तिस्रोऽश्रयस्त्र्यस्रि । तिस्रोऽस्रा यस्य त्र्यश्रि ।

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम् ।
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च[1] ।। ९ ।।

'शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात् ।' इति केचित्पठन्ति । तेषां चास्ति (पि) हस्तदण्डसमाश्रयत्वं वाचकं भवति । एतच्च सर्वं सम्भवमात्रेणोच्यते । अनु (नानु) वादकतया । न त्वियन्तो भेदा उपयोगिनः । एवं चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टाः । ते चान्यत्वे (चाद्यत्वे) यद्यप्यनुपयोगिनः तथापि च सम्प्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टाः । केषाञ्चित्कदाचिदुपयोगी भविष्यतीति । यथोक्तम्—'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' इति ।। ९ ।।

ये ही तीनों प्रकार के नाट्यमण्डप ज्येष्ठ, मध्यम और अवर कहे जाते हैं अर्थात् विकृष्ट नाट्यमण्डप ज्येष्ठ (उत्तम), चतुरस्र नाट्यमण्डप मध्यम और त्र्यश्र नाट्यमण्डप अधम या निष्कृष्ट होता है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं किन्तु कुछ आचार्य विकृष्ट, चतुरश्र और त्र्यश्र नाट्यमण्डप प्रत्येक को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद से तीन-तीन प्रकार का मानते हैं, इस प्रकार उनके मत में नौ प्रकार का नाट्यमण्डप होता है। जैसे-विकृष्ट नाट्यमण्डप उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार का, चतुश्र नाट्यमण्डप उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार का और त्र्यश्र नाट्यमण्डप भी उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार का—इस प्रकार नाट्यमण्डप नौ प्रकार का होता है ।। ८ ।।

अनुवाद— इन नाट्यमण्डपों का प्रमाण (माप) हाथ और दण्ड के आधार पर होता है । एक सौ आठ हाथ, चौसठ हाथ और बत्तीस हाथ ये तीन माप हैं ।। ९ ।।

अभिनव—जैसा कि कहते हैं कि इन नाट्यमण्डपों के प्रमाण हाथ और दण्ड के आधार पर ज्येष्ठ, मध्यम और अधम होते हैं सन्निवेश (आकार) के आधार पर नहीं । कुछ आचार्य इस श्लोक के उत्तरार्द्ध के स्थान पर 'शतञ्चाष्टौ चतुष्षष्टिद्वात्रिंशच्चेति निश्चयात्' यह पाठ मानते हैं । अर्थात् एक सौ आठ हाथ, चौसठ हाथ और बत्तीस हाथ ऐसा निश्चय होने से नाट्यमण्डप के तीन प्रमाण बताये हैं । उनके मत में भी हाथ और दण्ड का आश्रय (आधार) मानना पड़ेगा । यह सब सम्भावना मात्र से कहा जाता है न कि किसी के अनुवाद रूप में, क्योंकि इतने सब भेद उपयोगी नहीं है । इस प्रकार अठारह भेद शास्त्र में देखे गये हैं । ये भेद यद्यपि आज अनुपयोगी हैं, फिर भी सम्प्रदाय (परम्परा) की रक्षा के लिये इनका निर्देश किया गया है और कदाचित् कभी किसी का भविष्य में उपयोग भी हो सकता है । जैसा कि कहा गया है—अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् अर्थात् अप्रयुक्त शब्दों का उपदेश दीर्घसत्र के समान होता है ।। ९ ।।

---

१. ख. द्वात्रिंशच्चेति निश्चितम् ।

अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम् ।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते[1] ॥ १० ॥

इदन्त्विहोपयोगीति दर्शयति—अष्टाधिकं शतमित्यादि ।
इष्यत इति । अन्यत्वेऽपीत्याशयाः ॥ १० ॥

विमर्श—भाव यह है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमण्डपों के निर्माण का माप हाथ और दण्ड के आधार पर किया जाता है । ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ भेद से नाट्यमण्डप तीन प्रकार के कहे गये हैं । इनमें ज्येष्ठ नाटचमण्डप १०८ हाथ या दण्ड का, मध्यम नाटचमण्डप ६४ हाथ का और कनिष्ठ नाटचमण्डप ३२ हाथ का होता है । अर्थात् १०८ हाथ का मण्डप उत्तम, ६४ हाथ का मण्डप मध्यम और ३२ हाथ का मण्डप अवर (कनिष्ठ) होता है । यदि हाथ और दण्ड को अलग-अलग मानते हैं तो अभिनवगुप्त के अनुसार नाटचमण्डप के अठारह भेद हो जाते हैं और यदि 'हाथ भर का दण्ड' ऐसा अर्थ करते हैं तो नाटचमण्डप के नौ भेद होते हैं । कहते हैं कि नाटचमण्डप के जो इतने अधिक भेद बताये गए हैं उनका उपयोग आज नहीं होता है और न कभी हुआ है, फिर इतने भेद कहने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि इतने भेदों का यद्यपि आज उपयोग नहीं होता है तथापि भविष्य में कभी इनका उपयोग हो सकता है. इस दृष्टि से इतने भेद बताये गये हैं । जैसा कि महाभाष्य में 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' कहा है । अर्थात् अप्रयुक्त शब्दों का व्याख्यान दीर्घसत्र ने समान करना चाहिए । भाव यह कि सौ वर्ष या हजार वर्ष में पूर्ण होने वाले यज्ञ को 'दीर्घसत्र' कहते हैं । इतना लम्बा यज्ञ उस समय कोई नहीं करता था, किन्तु महाभाष्यकार का अभिप्राय यह था कि यद्यपि आज इतना लम्बा यज्ञ कोई करने वाला नहीं है तथापि भविष्य में शायद कोई करने वाला हो, इस उद्देश्य से दीर्घसत्र का विधान किया गया है । उसी प्रकार जिन शब्दों का प्रयोग उस समय नहीं होता था, उन अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग शायद कभी हो, इस उद्देश्य से महाभाष्यकार ने उनका प्रतिपादन किया है । उसी प्रकार नाटचमण्डप के भेदों के सम्बन्ध में कहा गया है कि यद्यपि नाटचमण्डप के सभी भेदों का उपयोग उस समय नहीं होता था, किन्तु भविष्य में कभी शायद हो, इस उद्देश्य से इतने अधिक भेदों का प्रतिपादन किया गया है ॥ ९ ॥

ये तो यहाँ उपयोगी हैं, इत बात को दिखाते हैं —

अनुवाद—एक सौ आठ हाथ का नाटचमण्डप ज्येष्ठ, चौसठ हाथ का मध्यम और बत्तीस हाथ का अधम (कनिष्ठ) कहा जाता है ॥१०॥

अभिनव—'इष्यते' इस पद से 'आज भी' यह आशय है ॥१०॥

---

१. 'ख' द्वात्रिंशत्करमिष्यते ।

[1]देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ।। ११ ।।

देवानामिति । यत्र देवासुरप्राया एव नायकप्रतिनायकास्तत्र [2]डिमादावार-भटीप्रधाने विततरङ्गपीठोपयोगात् भाण्डवाद्यप्रधानत्वाच्च परिक्रमणादेरुच्चतर-दीर्घतालपरिग्रहादियोगाच्च व्यक्तभावस्यासम्भवादष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इत्यर्थः । यस्तु व्याचष्टे प्रेक्षका अत्र देवादयो विवक्षिता न तु प्रयोज्याः । तेषां नियतसंख्याकत्वादिति । तस्यास्मदभिप्रायो न स्मृतिपथमागतः सन्नपि दशरूप-कादौ । चानन्तरमेव दर्शयिष्यते ।। ११ ।।

अनुवाद—देवताओं के लिए ज्येष्ठ नाटचमण्डप होना चाहिए, राजाओं के लिए मध्यम तथा शेष प्रजाओं के लिए कनिष्ठ नाटचमण्डप का विधान किया गया है ।। ११ ।।

अभिनव—जहाँ पर देवता एवं असुर ही प्रायः नायक और प्रतिनायक हों अर्थात् देवता नायक और असुर प्रतिनायक हों वहाँ आरभटी-प्रधान डिम आदि रूपकों में विस्तृत अर्थात् बड़े रङ्गपीठ का उपयोग होना चाहिए। क्योंकि उनमें भाण्डवाद्यों की प्रधानता होती है और परिक्रमण अर्थात् घूमने, फिरने, भागने आदि के लिए उच्चतर (अधिक ऊँचे), दीर्घतर (अधिक लम्बे) स्थान तथा दीर्घ (लम्बे) ताल आदि का ग्रहण होता है और मञ्च के छोटा होने पर भावों का स्पष्ट प्रदर्शन नहीं हो सकता, अतः एक सौ आठ हाथ का मण्डप होना चाहिए । जो व्याख्या करते हैं कि यहाँ देवता आदि प्रेक्षक (दर्शक) के रूप में विवक्षित हैं, अभिप्रेत हैं, प्रयोज्य के रूप में विवक्षित नहीं है। क्योंकि उनकी संख्या नियत होती है । दशरूपक आदि के होने पर भी उन्हें हमारा अभिप्राय समझ में नहीं आया । उसको हम आगे दिखायेंगे ।।११।।

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि देवता और असुर जिसमें नायक और प्रतिनायक हों, ऐसे डिम आदि रूपकों के अभिनय के लिए १०८ हाथ वाला बिकृष्ट अर्थात् ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए। क्योंकि डिम में आरभटी वृत्ति की प्रधानता होती है अतः उसका अभिनय मध्यम और कनिष्ठ मण्डप में नहीं हो सकता। अन्य टीकाकारों का कथन है कि जहाँ पर देवता प्रेक्षक हों, वहाँ उत्तम (विकृष्ट) नाटचमण्डप होना चाहिए । अभिनवगुप्त का कथन है कि जो ऐसा कहते हैं, उन्हें हमारी बात समझ में नहीं आई है । हमारे कथन का तात्पर्य है कि दशरूपकों में 'डिम' आदि ऐसे रूपक हैं जिनमें युद्ध, मार-काट, भगदड़, उल्कापात आदि दृश्य दिखाये जाते हैं, छोटा मञ्च होने पर इनका प्रदर्शन अच्छी तरह से नहीं हो सकेगा, इसलिए उनके लिए ज्येष्ठ मण्डप का विधान बताया गया है ।।११।।

१. ख. देवानां भवनं ज्येष्ठं । न. देवतानां भवेज्ज्येष्ठं । २. म. तत्रहि धीरादावारभटी ।

[1]प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥ १२ ॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥ १३ ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः[2] ॥ १४ ॥
प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत ॥ १५ ॥

प्रमाणं लक्षणं यन्निर्दिष्टमितिजातावेकवचनम् ॥ १५ ॥
कानि प्रमाणानीत्याह—अणू रजश्चेत्यादिना ।

अनुवाद—सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रेक्षगृह को प्रशस्त अर्थात् सर्वोत्तम कहा गया है। क्योंकि उसमें पाठ्य (संवाद) तथा गेय (संगीत) सुख से सुना जा सकता है ॥ १२ ॥

अनुवाद—इन सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों में नाट्यप्रयोक्ताओं द्वारा तीन प्रकार की विधियाँ बताई गई है—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र ॥१३॥

अनुवाद—नाट्यवेद के प्रयोक्ताओं द्वारा त्र्यस्र नाट्यमण्डप को कनिष्ठ कहा गया है, चतुरस्र को मध्यम और विकृष्ट नाट्यमण्डप को ज्येष्ठ कहा गया है ॥ १४ ॥

नोट—कुछ आचार्य इन तीनों श्लोको को प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि इस पर अभिनवगुप्त की टीका नहीं है। किन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अभिनवगुप्त ने बहुत से श्लोकों पर टीका नहीं लिखी है किन्तु उन पर श्लोक संख्या पड़ी है और उन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना गया है ॥ १४ ॥

अनुवाद—विश्वकर्मा ने सभी प्रकार के नाट्यगृहों का जो प्रमाण एवं लक्षण निर्दिष्ट किया है, उसे अच्छीं तरह समझ लो ॥ १५ ॥

अभिनव—प्रमाण और लक्षण जो निर्दिष्ट किया गया है, उनमें 'प्रमाणं' और 'लक्षणं' में जाति में एकवचन है ॥ १५ ॥

प्रश्न—वे प्रमाण कौन से हैं ? इस पर कहते हैं—

---

१. इतः परं त्रयो श्लोकाः ख''ग'पुस्तकयोः नास्ति । तथा'क'पुस्तके प्रक्षिप्तरूपेण पठितम् ।
२. क–न. नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः । व. नाट्यवेश्मविभागशः ।

अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ।
[1]अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः ॥ १६ ॥
अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते ।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं भवेत् ॥ १७ ॥
यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो[2] यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम्[3] ।
[4]अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते ॥ १८ ॥
चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनैव [5]प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥ १९ ॥

तेषां लक्षणान्याह—अणवोऽष्टावित्यादि । यतः प्रभृति दृश्यता प्रवर्तते सोऽणुः । अणुः प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः । [6]द्व्यणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा महत्त्वयुक्ताः । परमाणुद्वयारब्धे तु द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमस्तु । कोऽत्र विरोध इत्यलमवान्तरेण ॥ १६ ॥

अनुवाद—अणु, रज, बाल, लिक्षा, यूका, यव, अङ्गुल, हस्त और दण्ड ये नौ प्रमाण कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

इसके बाद उनका लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—आठ अणु का एक रज होता है, आठ रज मिलकर एक बाल कहलाते हैं, आठ बालों की एक लिक्षा होती है, आठ लिक्षा की एक यूका होती है । आठ यूका का एक यव होता है, आठ यव का एक अंगुल होता है, चौबीस अङ्गुल का एक हाथ होता है और चार हाथ का एक दण्ड होता है । इसी प्रमाण के आधार पर इनका निर्णय कहूंगा ॥१७--१९॥

अभिनव—जहाँ से दृश्यता प्रारम्भ होती है, वह अणु है । 'अणु' पद से प्रसिद्ध अणु परिमाण का ग्रहण होता है । तीन द्व्यणुकों अर्थात् तीन परमाणुओं से बने हुए (आरब्ध) अणु ही महत्त्व से युक्त होता है । दो परमाणुओं से बने हुए द्व्यणुक में अणु परिमाण हो, इसमें क्या विरोध है ? इसलिए अवान्तर विषय की चर्चा रहने दीजिए ॥ १६ ॥

---

१. ख. पुस्तके 'अङ्गुलं चैव हस्तश्च दण्डश्च परिकीर्त्तितः' इति पाठः ।
२. ख. यवः प्रोक्तः । ३. प. अङ्गुलन्तु यवाष्टकम् । अ. यवास्त्वष्टावथाङ्गुलम् ।
४. प. अङ्गुलानि चतुर्विंशद्धस्तस्तु इत्यभिधीयते । ५. प. विधानेन ।
६. भ. द्व्यणुकत्रय ।

अनेनैवेति। 'देवानान्तु भवेत्' इत्यनेन यदुक्तम्। मण्डपाः--तद्यथा ज्येष्ठप्रमाणं डिमप्राये। यद्वक्ष्यति—

निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः।
युद्धनियुद्धाधर्षणसम्फेटकृतश्च विज्ञेयः॥
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च।
मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुरुषोत्त्थानयोगपुरुश्च।
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटिकायुतस्तु डिमः॥ इति।
(ना. शा. १८।८६-८७)

तथा मध्यमप्रमाणं नृपतिप्रायप्रयोज्ये नाटकादौ। यद्वक्ष्यति--

[1]नृपतीनां यच्चरितं रसभावचेष्टितं बहुधा॥
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम इति।
(ना. शा. १८।१२)

शेषास्तु प्रकृतयो भाणप्रहसनादौ। यच्च वक्ष्यति—

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यस्तु। (ना. शा. १८।१०८)

तथा—"भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि च हास्यवादसम्बद्वम्। इत्यादि।
(ना. शा. १८।१०३)

'अनेन' इस परिमाण से। 'देवानां तु भवेत्' अर्थात् देवताओं का मण्डप बने' इससे जो कहा गया है। वह जैसे ज्येष्ठ प्रमाण वाला मण्डप 'डिम' जैसे रूपकों में होना चाहिए। जैसाकि आगे कहेंगे—

अभिनव—बिजली का गिरना, उल्कापात, सूर्य और चन्द्रमा पर ग्रहण लगना, युद्ध–नियुद्ध (लड़ाई-झगड़े), बलात्कार, गाली-गलौज आदि से युक्त, देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि से व्याप्त, सोलह नायकों से युक्त तथा सात्त्वती एवं आरभटी वृत्तियों से युक्त 'डिम' कहलाता है॥

और राजाओं के द्वारा प्रयोज्य नाटक आदि के अभिनय में मध्यम परिमाण वाला नाट्यमण्डप होता है। जैसा कि आगे कहेंगे—

राजा आदि नायकों का जो चरित्र अनेक प्रकार के रस एवं भावों की चेष्टाओं से युक्त तथा सुख एवं दुःखों की उत्पत्ति से युक्त होता है, वह नाटक होता है।

शेष प्रकृतियों के द्वारा प्रयोज्य भाण, प्रहसन आदि में, जैसा कि आगे कहेंगे—

'नानाविध आश्रयों से युक्त एक पात्र वाला रूपक 'भाण' होता है।' और—

'भगवन्, विप्र, तपस्वी तथा अन्य पात्रों के साथ हास्यमय संवादों से युक्त 'प्रहसन' होता है' इत्यादि।

१. म-भ. गृहपतीनां यः।

एवंभूतप्रकृतिप्रधाने प्रयोगे कनीयःप्रमाणो मण्डप इति। एषां मण्डपानां मध्ये यो विनिर्णयः एव सर्वसाधारणः मध्यमे मण्डपे[1] कनीयसि च नाटकभाण-प्रयोगात्। डिमरूप एव ज्येष्ठमण्डप इति, तं वक्ष्यामीति। अयमभिप्रायः — ज्येष्ठमाने नाटकादिप्रयोगसौकर्याभावान्मध्यम एव युक्तः। स एव निर्णयः। विविधोऽपि दिव्यनृपप्रकृत्यादिस्वभावो निश्चयाभिमुख्यमभिनयप्रयोगद्वारेण नीयते यत्रेति ॥ १७-१९ ॥

अभि० – इस प्रकार के प्रकृति-प्रधान भाण प्रहसन आदि रूपकों के प्रयोग में कनिष्ठ प्रमाण वाला मण्डप होना चाहिए। इन मण्डपों के मध्य में जो विनिर्णय है, अर्थात् मध्यम और कनिष्ठ मण्डप में नाटक और भाण आदि का प्रयोग होने से अर्थात् मध्यम मण्डप में नाटक का तथा कनिष्ठ मण्डप में भाण आदि का प्रयोग होने चाहिए तथा डिम जैसे रूपकों के प्रयोग में ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए, यह विनिर्णय अर्थात् विशिष्ट निर्णय है वही सर्वसाधारण निर्णय है। उसी को कहूँगा। भाव यह कि ज्येष्ठ प्रमाण वाले नाट्यमण्डप में नाटक आदि के प्रयोग में सौन्दर्य न होने से मध्यम मण्डप ही उपयुक्त है। यही निर्णय है। विविध दिव्य, राजा और तापस आदि शेष प्रजाओं के स्वभाव जहाँ पर अभिनय के प्रयोग के द्वारा निश्चित रूप से सन्मुख ले जाया जाता है वही विनिर्णय है ॥ १७-१९ ॥

विमर्श—जहाँ से दृश्यता प्रारम्भ होती है वह 'अणु' है। झरोखे से आती हुई सूर्य किरणो में जो सूक्ष्म रजःकण दिखाई देते हैं, उसे त्रसरेणु या त्र्यणुक कहते हैं और उसका छठां भाग परमाणु कहलाता है—

> जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
> तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

भाव यह कि अणु सबसे छोटा होता है। इसे परमाणु भी कहते हैं। दो अणुओं के संयोग से द्व्यणुक बनता है। परमाणु और द्व्यणुक दोनों परिमाण होते हैं। परमाणु के समान द्व्यणुक भी इतना सूक्ष्म होता है कि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। तीन द्व्यणुक मिलकर त्रसरेणु या त्र्यणुक बनता है। त्र्यणुक दृश्य होता हैं। यहीं से दृश्यता प्रारम्भ होती है। इसके पूर्व के परमाणु और द्व्यणुक दोनों अदृश्य होते हैं। द्व्यणुक में अणु परिमाण रहता है, महत् नहीं और त्र्यणुक या त्रसरेणु में महत् परिमाण रहता है। इस प्रकार तीन द्व्यणुक या छः अणु मिलकर त्र्यणुक बनता है। आठ अणुओं का एक रज होता है। आठ रजःकण का एक बाल, आठ बाल का एक लिक्षा, आठ लिक्षा का एक यूका, आठ यूका का एक यव, आठ यव का एक अङ्गुल, चौबीस अङ्गुल का एक हाथ

१. मण्डपे कनीयसि।

चतुःषष्टिकरान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम्[1] ।
[2]द्वात्रिंशतं च विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ॥ २० ॥
अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र[3] नाट्यं व्रजेदिति[4] ॥ २१ ॥

तं दर्शयति—चतुष्षष्टि करानित्यादि । प्रयोक्तुः पुरस्तात्पृष्ठतश्च दीर्घत्वं पार्श्वयोर्विस्तारः । मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात् किमित्यकारणं प्रयोगेणैव (प्रयोगोनैव) वेद्यत इत्याशयः ॥ २० ॥

होता है और चार हाथ का एक दण्ड होता है । हस्त परिणाम के आधार पर नाटचमण्डप ९ प्रकार का होता है और दण्ड परिमाण के आधार पर भी मण्डप ९ प्रकार का होता है । इस प्रकार नाटचमण्डप १८ प्रकार के होते हैं । इनमें देवताओं के चरित वाले डिम आदि का ज्येष्ठ मण्डप में प्रयोग करना चाहिए और राजा आदि महापुरुषों के चरित्र-चित्रण वाले नाटक आदि का अभिनय मध्यम परिमाण वाले मण्डप में करने चाहिए तथा तापस, विप्र आदि साधारण व्यक्तियों के चरित वाले भाण, प्रहसन आदि रूपकों का अभिनय कनिष्ठ परिमाण वाले मण्डप में करना चाहिए ॥ १७-१९ ॥

उस प्रमाण विषयक विनिर्णय को 'चतुष्षष्टिकरानित्यादि' श्लोक के द्वारा दिखलाते हैं—

अनुवाद—इनमें से मनुष्यों के लिए प्रेक्षागृह की लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ बनानी चाहिये अर्थात् मनुष्यों के लिए ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा नाटचमण्डप बनाना चाहिए ॥ २० ॥

अभि०—नाट्यप्रयोक्ता के आगे की ओर और पीछे की ओर नाट्यमण्डप लम्बा होना चाहिए और अगल-बगल दोनो ओर चौड़ा होना चाहिए । 'मर्त्यानाम्' अर्थात् 'मनुष्यों के लिए' इस पद से यह सूचित होता है कि इससे अधिक परिमाण वाला अर्थात् बड़ा मण्डप बनाने से क्या लाभ है ? उससे प्रयोग (अभिनय) समझ में नहीं आयेगा, यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

इसी बात को दिखाते है—

अनुवाद—प्रेक्षागृह निर्माताओं को इससे बड़ा नाटचमण्डप नहीं बनाना चाहिए क्योंकि वहाँ बड़े नाटचमण्डप में नाटच (अभिनय) अव्यक्त (अस्पष्ट) हो जायगा ॥ २१ ॥

---

१. क-प. दीर्घं वै नाटचमण्डपम् । २. ख. द्वात्रिंशेन तु विस्तारं मर्त्यानां योजयेदिह ।
३. क-म. तस्मात् तस्मिन् व्रजेद्यतः । ४. ख. भवेदिति ।

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम् ।
[5]अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत्[6] ॥ २२ ॥

एतदेवाह—अत ऊर्ध्वं नेति ।

अत इत्येवंविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः । ऊर्ध्वमिति । प्रमाणस्याधिक्यं न्यूनातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम् । न कर्तव्य इति । मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न भवतीत्यर्थः कर्तृभिरिति । किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत् । तत्रेति । अतोऽधिकप्रमाणे अत्यन्तं न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः । नाट्यमिति । सकलावान्तरभेदे प्रभेदं दर्शयितुम् । नाट्यं यतोऽभिव्यक्तं भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम् ॥ २१ ॥

तदेव दर्शयति— मण्डप इति ।

प्रकर्षः प्रकृष्टं तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टः । किन्नियोगमानः तस्मिंश्च तत्र ज्येष्ठे । पाठ्यं यन्मुख्यं "नाट्यस्यैषा तनूस्स्मृता" (ना. शा. १४-२) इति दर्शयिष्यते । तद्विस्वरत्वं विशेषेणोपतापकत्वं निकटवर्तिनः प्रति व्रजेत् । अत्र हेतुः उच्चं कृत्वा चरितोऽतिक्लेशेन सम्पादितः स्वरः काक्वादिविभागो यत्र । तथा दूरवर्तिनः सामाजिकान्प्रति विस्वरत्वं विगतशब्दकत्वमनाकर्णनीयत्वं व्रजेत् । अत्र हेतुः अनिस्सरणधर्मत्वात् । निरन्तरे देशे सरणं द्वितीयशब्दारम्भः । स [7]यस्य धर्मो नास्ति शब्दान्तरप्रसराभावादित्यर्थः ।

अभि०—'अतः' इस पद का अर्थ है कि क्योंकि इस प्रकार का मध्यम मण्डप है, इस कारण से । 'ऊर्ध्वम्' इस पद से प्रमाण की अधिकता, न्यूनता और अधिकता दोनों दृष्टियों से समझना चाहिए। 'न कर्त्तव्यः' (नहीं बनाना चाहिए) इस पद से 'इस मण्डप के होने पर अन्य मण्डप बनाने योग नहीं है, यह अभिप्राय है । 'कर्तृभिः' पद का तात्पर्य है—उन्हे व्यर्थ में कष्ट देने से क्या लाभ है ? 'तत्र' पद का अभिप्राय है कि इससे अधिक प्रमाण वाले और इससे कम प्रमाण वाले मण्डप में । 'नाट्यम्' यह पद नाट्य के समस्त अवान्तर भेदों एवं प्रभेदों को दिखलाने के लिए है । 'नाट्य' उसमें अव्यक्त (अस्पष्ट) होगा, यह कथन समुदाय के अभिप्राय से समझना चाहिए ॥ २१ ॥

उसी को दिखाते हैं—

अनुवाद—विप्रकृष्ट अर्थात् बड़े परिमाण वाले ज्येष्ठ नाट्यमण्डय में अत्यन्त ऊँचे स्वर से उच्चारण किया गया पाठ्य (संवाद) बाहर निकलने योग्य न होने से अत्यधिक विस्वर हो जायगा ॥ २२ ॥

---

५. ख. अनभिव्यक्तधर्मत्वात् । ६. ख. भवेत् । ७. क–भ. द्वितीयस्य ।

तथाऽतिकनीयसि मण्डपे पाठ्यमुच्चरितस्वरं सदनिस्सरणधर्मत्वादनुरणनात्मक[1]मधुरशब्दान्तरानारम्भात् विनष्टः स्वरो मधुरो यस्य तादृशत्वं व्रजेत्। अनुरणनं हि स्वरस्य पाठ्यसिद्धिरूपमिति गेयाधिकारे वक्ष्यामः। अनेन समानयोगक्षेमत्वात् [2]अधिकातोद्यविस्वरत्वमपि लक्षितं भवति। तथा चोपसंहरिष्यति गेयं चेति। विस्वरत्वमिति, 'स्वृ शब्दोपतापयोः' इत्यस्य रूपम्॥ २२॥

प्रधानस्य पाठ्यस्य प्रधानानुरणनभूतस्य च गीतातोद्यादेर्विनाशं प्रतिपाद्याभिनयवर्गस्यापि प्रतिपादयति—यश्चापीति।

अभि०—प्रकर्ष का अर्थ है प्रकृष्ट, प्रकृष्ट या अतिक्रमण करने वाला विप्रकृष्ट मण्डप अर्थात् ज्येष्ठ परिमाण वाले मण्डप में और जो कनिष्ठ परिमाण वाला मण्डप है उसमें। उनमें से ज्येष्ठ मण्डप में पाठ्य जो मुख्य है 'जैसा कि आगे कहेंगे पाठ्य नाट्य का शरीर है वह निकटवर्त्ती सामाजिकों के प्रति अत्यन्त विस्वर अर्थात् विशेष उपतापक हो जायेगा। इसमें हेतु (कारण) बताते हैं कि ऊँचा करके अर्थात् अत्यन्त क्लेश (कष्ट) से उच्चरित स्वर अर्थात् काकु आदि का विभाग सम्पादित है जिसमें। और वह दूरवर्त्ती सामाजिकों के प्रति भी विस्वर और शब्द-शून्य जैसा होने से अश्राव्य हो जायगा। इसमें हेतु बताते हैं—निःसरण धर्म न होने से। अर्थात् निरन्तर अर्थात् अव्यवहित (समीपवर्त्ती) देश में सरण अर्थात् द्वितीय शब्द का आरम्भ (उत्पत्ति) जिनका धर्म नहीं है अर्थात् शब्दान्तर का प्रसार न होने से, वह विस्वर अर्थात् अश्राव्य हो जाता है।

और अत्यन्त छोटे मण्डप में पाठ्य अर्थात् उच्च स्वर से बोला गया (उच्चारित) स्वर अनिःसरण धर्म वाला होने से अर्थात् अनुरणनात्मक मधुर स्वर का आरम्भ न होने से माधुर्य अर्थात् मधुर स्वर जिसका नष्ट हो गया है, वैसा हो जाता है। अनुरणन ही स्वर के पाठ्य की सिद्धि का रूप है, यह ज्ञेयाधिकार में कहेंगे। इसके समान योगक्षेम वाला होने के कारण, अधिक वाद्यों के कारण अथवा गीत, वाद्य आदि के कारण होने वाला विस्वरत्व भी लक्षित होता है। जैसा कि उपसंहार करेंगे (गेयं च इत्यादि)। 'विस्वरत्व' यह पद 'वि' उपसर्ग 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु का रूप है। इसीलिए 'विस्वरत्व' का अर्थ विशेषरूप से उपतापकत्व होता है।॥ २२॥

इस प्रकार प्रधानभूत पाठ्य और प्रधान के अनुरञ्जक गीत, वाद्य आदि के विनाश का प्रतिपादन करके अभिनयवर्ग के विनाश का भी प्रतिपादन 'यश्चापि' इत्यादि श्लोक के द्वारा करते हैं—

---

१. क–भ. अनुकरणात्मक। २. गीतातोद्यविस्वरत्वमपि।

[1]यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः ।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम् ।। २३ ।।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।
यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्[2] ।। २४ ।

आस्यगतो मुखगतो भावः योऽनुभावलक्षणो दृष्टिबाष्पस्वेदवैवर्ण्यादिः तथा मकुटप्रतिशीर्षादिः । चकाराद्आङ्गिकः । स वेश्मनः प्रकृष्टत्वादतिविस्तीर्णत्वादव्यक्ततां गच्छेत् । तथा प्रगतं कृष्टं कर्षणं दैर्ध्यं यस्य तस्य भावः । ततः कनीयस्त्वाद्धेतोः परां द्वितीयामव्यक्ततामतिसामीप्यकृतां व्रजेत् । प्रथमं ह्यतिदूरत्वं कृत्वा सोक्ता । एवमुभयमण्डपाभिप्रायेणेदं व्याख्येयम् । अन्यथा तस्मान्मध्यममिष्यत इत्युपसंहारो न श्लिष्यति ।। २३ ।।

तदाह—प्रेक्षागृहाणामित्यादि ।

अनुवाद—नाट्यमण्डप के अत्यन्त बड़ा होने से नाना प्रकार की दृष्टियों से समन्वित जो मुख का भाव है वह अत्यन्त अव्यक्त अस्पष्ट हो जायगा ।। २३ ।।

अभि०—आस्यगत अर्थात् मुखगत भाव जो अनुभावरूप दृष्टि, आंसू, स्वेद (पसीना) वैवर्ण्य आदि और मुकुट, पगड़ो आदि आहार्यरूप तथा चकार से आङ्गिक अभिनय वह सब नाट्यमण्डप के बड़ा होने से अव्यक्त हो जायेंगे और जिसका कृष्ट-कर्षण अर्थात् दैर्ध्य प्रगत अर्थात् नष्ट हो गया है उसका भाव प्रकृष्टत्व है । उससे अत्यन्त छोटा होने से अतिसामीप्य के कारण परा अर्थात् दूसरे प्रकार की अव्यक्तता होगी । पहिले अत्यन्त दूर होने के कारण अव्यक्तता कही गयी थी । इस प्रकार दोनों मण्डपों के अभिप्राय से इसकी व्याख्या करनी चाहिए । अन्यथा अर्थात् यदि दोनों के अभिप्राय से व्याख्या नहीं की जायगी तो इसलिए मध्यम परिमाण वाला मण्डप इष्ट है' यह उपसंहार संगत नहीं होगा ।। २३ ।।

इसी बात को 'प्रेक्षागृहाणामित्यादि' श्लोक से कहते हैं—

अनुवाद—इस लिए सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रेक्षागृह को श्रेष्ठ कहा है । ठीक है, श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें पाठ्य (संवाद) और गेय (गीतादि) सुख से सुनाई देता है ।। २४ ।।

---

१. ख. यश्चाप्यस्यगतो रागो भावसृष्टिरसाश्रयः ।
२. क-त. यश्चाप्यस्य गतो रागो नानाभावरसाश्रयः ।
छ. यश्चाप्यस्य गतो रासो भावदृष्टिरसाश्रयः ।
ख-ख. यस्य वास्यगतो नवो नानादृष्टिरसाश्रयः ।

[1]प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥ २५ ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं च मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाटचवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥ २६ ॥

मध्ये भवं मध्यमम् । तदिष्यते यतः सर्वेषां रूपकाणां सम्बन्धि यत्पाठ्यं प्रधानं तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूपं[2] च गीतं चकारादातोद्यं च [3]श्रव्यतरं भवति । द्वितीयचकारादभिनयान्तरमपि दृश्यतरं भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

ननु यद्येवंभूतः प्रयोगक्रमस्तर्हि हस्तसमाश्रयेणैव विधिर्वक्तव्यः । सोऽपि यत्र परिपूर्णो नोपकारी तत्र [4]दण्डसमाश्रयेणातोद्यमानेन । अथ कदाचिद्दिव्यप्रकृतिप्रेक्षकाभिप्रायेण तदुच्यते तत्रापि कः स्तोकान्तरत्वेनेति न्यायेन का इति (ह) सम्भावनेत्याशङ्कां पराकर्तुं श्लोको भावी[5] । अत एव पूर्वश्लोकेन सह नात्र पौनरुक्त्यं शङ्कितव्यम् । तस्यान्यथोपक्षेपात् ।

अभिनव—मध्य में होने वाला 'मध्यम' कहलाता है । वह अभीष्ट है । क्योंकि समस्त रूपकों का जो पाठ्य प्रधान नाट्य का शरीर रूप है और नाट्य का प्राणभूत उपरञ्जक गीत है ! चकार से वाद्य आदि का ग्रहण होता है, अधिक स्पष्ट सुनाई देता है । दूसरे चकार से दूसरा अभिनय भी अधिक दृश्य होता है अर्थात् सुख से दिखाई देता है ॥ २४ ॥

अनुवाद—नाटचप्रयोक्ताओं ने सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों की तीन प्रकार की विधियाँ बताई हैं—विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (चौकोर) और त्र्यस्र (त्रिकोण) ॥ २५ ॥

अनुवाद—नाटचगृह के प्रयोक्ताओं ने उनमें त्र्यस्र को कनिष्ठ कहा है, चतुरस्र को मध्यम और विकृष्ट को ज्येष्ठ नाटचमण्डप कहा है ॥ २६ ॥

नोट— ऊपर के (२४, २५, २६, संख्या वाले) तीन श्लोक पुनरुक्त हैं, क्यों कि इसके पूर्व क्रम संख्या १२, १३, १४ पर ये तीनों श्लोक आये है । कुछ आचार्यों ने वहाँ पर लिखे गये १२, १३, १४ संख्या वाले श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है और यहाँ पर २४ संख्या वाला जो पहिले १२ संख्या पर भी पठित है, उसे प्रक्षिप्त नहीं माना है और उस पर अभिनवगुप्त की टीका है । अतः २५ वें एवं २६ वें श्लोक को भी प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहिए ।

---

१. इतः प्रारभ्य प्रयोक्तृभिः पर्यन्तं श्लोकद्वयं 'ख' पुस्तके नास्ति । इदं श्लोकद्वयमस्मिन् पुस्तके पुनरुक्तमस्ति । इदं श्लोकद्वयं 'क' पुस्तके प्रक्षिप्तरूपेण पठितम् ।

२. क–भ प्राणभूतोपरञ्जकरुपं ।   ३. क. दृश्यतरं ।

४. क–भ दण्डासमाश्रये ।   ५. श्लोकोऽभावि ।

देवानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु[1] च ।
[2]यत्नभावाभिनिष्पन्नाः सर्वे भावा हि[3] मानुषाः ॥ २७ ॥

तच्छ्लोकमाह—देवानामित्यादि । मनसस्तदीयस्य सत्त्वबहुलत्वात् तत्कृत[4] इन्द्रियविसर्जनलक्षणे व्यापारोऽतिरूपव्यापी । उपवनेष्वपि विततवितेषु[5] । का कथा मण्डपविषये । अत एव गृहेष्विति बहुवचनमुपात्तम् । तेन तदपेक्षया ते मण्डपा उक्ता इत्यर्थः । न त्वेवं मानुषाणां राजसानां मनः ॥२७॥

अभिनव – अब प्रश्न होता है कि यदि इस तरह का प्रयोग का क्रम है तो हस्तप्रमाण के अधार पर ही विधान करना चाहिए और जहाँ पर वह पूर्ण उपकारी न हो वहाँ दण्ड का आश्रय न लेकर वाद्य के परिणाम से विधान करना चाहिए। भाव यह कि जब बड़े मण्डप में नाटच-प्रयोग अव्यक्त होगा तो हस्तप्रमाण से ही प्रेक्षागृह का निर्माण करना चाहिए, दण्डप्रमाण को छोड़ देना चाहिए और जहाँ डिम आदि के प्रयोग में वह उपकारी न हों वहाँ भी चार हाथ प्रमाण वाले दण्ड का आश्रय न लेकर वीणा आदि वाद्यों के प्रमाण से विधान किया जा सकता है, चतुर्हस्त प्रमाण दण्ड का विधान व्यर्थ है और यदि दिव्य प्रकृति अथवा दिव्य प्रेक्षकों के अभिप्राय से वह विधान कहा गया है तो उस पक्ष में भी थोड़ा अन्तर होने से कौन सी विशेषता आजायगी, इस न्याय से उसे यहाँ कहने की क्या सम्भावना है, इस आशङ्का का परिहार करने के लिए अगला श्लोक कहते हैं। अतएव पूर्व श्लोक के साथ यहाँ पुनरुक्ति की आशङ्का नही करनी चाहिए, उसका आक्षेप अन्य प्रकार से भी हो सकता है।

अब उस श्लोक को कहते हैं—

अनुवाद—देवताओं के गृहों एवं उद्यानों के विषय में मानसी सृष्टि होती है और मनुष्यों के सारे भाव यत्न द्वारा निर्मित होते हैं ॥ २७ ॥

अभिनव –उनके मन के सत्त्वप्रधान होने के कारण उसके द्वारा किया गया इन्द्रियविसर्गरूप व्यापार अतिव्यापक होता है। भाव यह कि देवताओं का मन सत्त्वप्रधान होता है, अतः उनका सात्त्विक मन विना इन्द्रिय की सहायता से ही संकल्पमात्र से ही समस्त पदार्थों की रचना कर सकता है। त्रिविध भोग पदार्थों से परिपूर्ण विशाल (विस्तृत) उद्यानों की भी मानसी सृष्टि कर देते हैं तो मण्डप के विषय में क्या कहना है ? इसीलिए 'गृहेषु' में बहुवचन का उपादान किया गया है।

---

१. ग. वनेषूपवनेषु ।
२. ख. यत्र भावाद् निनिष्पन्नाः ।
३. ख. सर्वे भावास्तु मानुषाः ।
४. तत्क्रियत ।
५. क–म. वनेष्वविविक्तवित ।

तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्धेत मानुषः ।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २८ ॥
[1]भूमेर्विभागं पूर्वं तु परीक्षेत प्रयोजकः[2] ।
ततो वास्तु प्रमाणेन[3] प्रारभेत शुभेच्छया[4] ॥ २९ ॥

तदाह—देवकृतैरिति । यत एवं तस्मान्मानुषस्यैव गेहस्य लक्षणं सम्यक्प्रवक्ष्यामि । तुशब्द एवकारार्थे ॥ २८ ॥

सम्यगिति यदुक्तं तदाह—भूमेरित्यादि । विभागो हेयोपादेयत्वेन[5] । वास्त्विति । ग्रहणं प्रमाणं चेत्युपलक्ष्यमाणरूपेण प्रारभेत । कर्तुमिति शेषः ॥ २९ ॥

इसलिए उनकी अपेक्षा से वे (दण्डाश्रय) मण्डप कहे गये हैं। रजोगुण से प्रधान मन वाले मनुष्यों के लिए नहीं हैं। भाव यह कि देवताओं की सृष्टि संकल्प मात्र से होती है। वे जब जैसा चाहें सृष्टि कर लेते हैं। अतः उनके लिए दण्डाश्रय अर्थात् दण्ड प्रमाण का विधान है। मनुष्यों की सृष्टि तो प्रयत्न-निष्पाद्य है अतः उनके लिए हस्तप्रमाण का विधान है ॥ २७ ॥

उसी बात को कहते हैं।

अनुवाद—इसलिए मनुष्यों को देवताओं के भावों के साथ स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिए। अब मैं मनुष्यों के नाटचगृह का लक्षण सम्यक् प्रकार से कहूंगा ॥ २८ ॥

अभिनव—क्योंकि ऐसा है, अतः मनुष्यों के ही नाट्यगृह का लक्षण सम्यक् प्रकार से कहूँगा। यहाँ पर 'तु' शब्द एवकार अर्थ में प्रयुक्त है ॥ २८ ॥

सम्यक् प्रकार से कहूँगा, ऐसा जो कहा है, उसे कहते हैं—

अनुवाद—प्रयोजक (नाटचकर्त्ता) को सबसे पहिले भूमिखण्ड की परीक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर वास्तुशास्त्र के प्रमाण के अनुसार शुभ की इच्छा से वास्तु का निर्माण कार्य प्रारम्भ करे ॥ २९ ॥

अभिनव—'विभाग' पद से भूमि की हेयता एवं उपादेयता का ग्रहण होता है। अर्थात् कौन सी भूमि हेय (त्याज्य) हैं और कौन सी भूमि उपादेय (ग्राह्य) है। 'वास्तु' पद 'ग्रहण' और 'प्रमाण' का उपलक्षण है इसलिए प्रमाण के अनुसार वास्तु का प्रारम्भ करे ॥ २९ ॥

---

१. क–प. भूमिभागं परीक्षेत प्रथमं नाटचवेश्मनः ।
२. ख. विचक्षणः ।
३. ख. वास्तु प्रमाणं च ।
४. ङ. यदृच्छया ।
५. क-म. हेयोपादानत्वेन इति पाठान्तरम् ।

समा स्थिरा तु[1] कठिना कृष्णा[2] गौरी च या भवेत् ।
भूमिस्तत्रैव[3] कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ ३० ॥
प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत[4] ।
अस्थिकीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ ३१ ॥

तं विभागमाह—समेत्यादि । समा स्वाभावन्नातिनिम्नोन्नतेत्यर्थः । स्थिरा अचलनस्वभावा । कठिना अनूषरा । कृष्णा गौरी चेति । चो वार्थे । अन्ये तु व्यामिश्रितत्वमाहुः । कर्तव्य इति करणार्हः ॥ ३० ॥

कथमित्याह—प्रथममित्यादि । शोधनमुपरिगताशुचिशर्कराद्यपसारणम् । ततो हलेनोद्धृतगुल्मपाषाणादिकां कुर्यात् । एतदेवाह—अस्थीत्यादिना ॥ ३१ ॥

एवं बाह्याभ्यन्तरतो भूमिशुद्धिं निरूप्यानन्तरकरणीयमाह—शोधयित्वेति ।

उस भूमि के विभाग को कहते हैं—

अनुवाद— जो भूमि समतल, स्थिर, कठोर, (ठोस) काली अथवा गौर वर्ण की हो उसी भूमि पर नाट्यगृह-निर्माताओं को नाट्यमण्डप बनाना चाहिए ॥ ३० ॥

अभिनव—'समा' पद का आशय है कि स्वभाव में अधिक ऊँची या अधिक नीची न होना । 'स्थिरा' का अर्थ अचल स्वभाव वाली । 'कठिना' का अर्थ हैं जो भूमि ऊसर न हो । 'कृष्णा गौरी च' में 'च' पद 'वा' (अथवा) अर्थ में प्रयुक्त है । दूसरे लोग तो काली एवं गौरी मिश्रित भूमि को ग्रहण करते है । 'कर्त्तव्यः' का अर्थ 'करने योग्य' हैं ॥ ३० ॥

यह कैसे ? इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—सबसे पहिले भूमि का शोधन करके हल से जोते और हड्डी, कील, खपड़ एवं घास-फूसों को निकाल दे ॥ ३१ ॥

अभिनव—शोधन अर्थात् ऊपर की गन्दी मिट्टी, कंकड़ अदि को दूर कर दे, उसके बाद हल से जोत कर गुल्म, आड़ी, पत्थर आदि को निकाल दें । इस बात का 'अस्थि-कीलादि' पद से कहा गया है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार बाहर एवं भीतर से भूमि को शुद्ध करके उसके बाद क्या करना चाहिए, इस बात को कहते हैं—

---

१. ख. च. कठिना । क–म. प्रकठिना । त. ह्यकठिना । छ. सुकठिना ।
२. ख. घ. कृष्णाऽगौरी । ३. ख. घ. तु ।
४. ख. प. समुद्क्षितेत् ।

शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ।
[1]त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखापि च रेवती ॥ ३२ ॥

हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ।
पुष्यनक्षत्रयोगेन[2] शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत् ॥ ३३ ॥

[3]कार्पासं बाल्वजं वापि मौञ्जं वाल्कलमेव च ।
सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो[4] न विद्यते ॥ ३४ ॥

अर्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
[5]त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा राष्ट्रकोपो[6] विधीयते ॥ ३५ ॥

छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
[7]हस्तात्प्रभ्रष्टया वापि कश्चित्त्वपचयो भवेत् ॥ ३६ ॥

---

[8]कथं प्रमाणनिर्देश इत्याह—पुष्येति । [9]शुक्लसूत्रत्वं तावत्पिष्टरञ्जनादिना ॥ ३२-३३ ॥

[10]चर्मकृतं मानसूत्रं न कार्यमिति च तात्पर्यम् ॥ ३४ ॥

स्वामिनः प्रेक्षापतेः ॥ ३५ ॥

प्रयोक्तुर्नाट्याचार्यस्य ॥ ३६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार भूमि का संशोधन करके तब परिमाण का निर्देश करे। तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद) मृगशिरा, विशाखा, रेवती, हस्त, पुष्य और अनुराधा नक्षत्र नाट्यगृह के निर्माण में शुभ कहे गये हैं। पुष्य नक्षत्र का योग होने पर सफेद सूत की डोरी फैलाये अर्थात् भूमि नापने के लिए सफेद सूत की रस्सी का प्रयोग करे ॥ ३२-३३ ॥

अभिनव—प्रमाण का निर्देश कैसे करे, इसलिए कहते है कि पुष्य नक्षत्र में नापने की डोरी फैलावे। शुक्लसूत्र से तात्पर्य है कि पिसान आदि से रंगना ॥३२-३३॥

---

१. अयं श्लोकः 'क' (टिप्पण्यनुसारं) म. त पुस्तकयोः नास्ति ।
२. ख. घ. योगे तु ।
३. ख. कार्पासं वादरं चापि वाल्कलं मौञ्जमेव च ।
४. ग. छेदो यस्य न विद्यते ।
५. क–ङ. त्रिभागे छिन्नया ।
६. क–ज राष्ट्रक्षोभो । क-न. राष्ट्रकोपोऽभिधीयते । क–प. राष्ट्रकोशश्च हीयते ।
७. ख. हस्तप्रभ्रष्टया । हस्तप्रकृष्टया चापि ।
८. कथमित्याह इति पाठान्तरम् ।
९. शुक्लसूत्रं ।
१०. क. भ. चात् चर्मकृतं मानसूत्रं नाकार्यं ।

तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन [1]रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव [2]प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ।। ३७ ।।
मुहूर्तेनानुकूलेन[3] तिथ्या सुकरणेन च ।
[4]ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः ।। ३८ ।।

प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमित्यच्छेद्यानुभरणीया । तादृशी च सावधानतयावष्टम्भ-वियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम् । नित्यमिति । न केवलमत्र प्रथमपरिग्रहे यावदन्यभाविस्तम्भविनिवेशाय भूभागमानग्रहणादावित्यर्थः । प्रयत्नेन मानमि-त्यूनाधिकादिदोषवर्जनायायं यत्न इत्यपौनरुक्त्यम् ।। ३७ ।।

अनुवाद—कपास (रूई) बल्वज (कास), मूंज अथवा बल्कल (पेड़ की छाल) की डोरी विद्वानों को बनानी चाहिए, जो टूट न सके, क्योंकि डोरी के आधे से टूटने पर स्वामी की निश्चित मृत्यु होती है । तीसरे हिस्से (तिहाई भाग) के टूटने पर राष्ट्र में विप्लव होता है । चौथाई भाग के टूटने पर नाट्यप्रयोक्ता का नाश होता है और डोरी के हाथ से टूट जाने पर कोई न कोई हानि होती है ।। ३४-३६ ।।

अभिनव—चमड़े का मानसूत्र अर्थात् नापने की डोरी (फीता) नहीं बनानी चाहिये, यह तात्पर्य है । 'स्वामी' का अर्थात् प्रेक्षापति (राजा आदि का) । प्रयोक्ता अर्थात् नाट्याचार्य का ।। ३४-३६ ।।

अनुवाद—इसलिए डोरी को बड़ी सावधानी से पकड़नी चाहिए और नाट्यगृह का मापन (नाप-तौल) भी प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ।। ३७ ।।

अभिनव—डोरी को प्रयत्नपूर्वक अर्थात् मजबूती से पकड़नी चाहिए जिससे रस्सी (डोरी) टूट न सके और समेटा जा सके (समेटने योग्य हो) और उस प्रकार की रस्सी को सावधानी से इस तरह पकड़नी चाहिए जिस प्रकार आधार से विच्युत न हो अर्थात् छूट न सके, इस तरह दोनो प्रकार से योजना करनी चाहिए । 'नित्यम्' पद कहने का तात्पर्य है कि केवल प्रथम परिग्रहण में (पकड़ने में) ही नहीं, अपितु अन्य समय में भी स्तम्भों के सन्निवेश (स्थापन) में भूमि-खण्ड नापने आदि में भी मजबूती से ग्रहण करना चाहिए । 'प्रयत्नेन मानम्' (मापन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए) पद का आशय यह है कि न्यूनाधिक दोषों को दूर करने के लिए प्रयत्न-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए ।। ३७ ।।

---

१. क—प. रज्ज्वा ग्रहणमिष्यते । २. क—न, विशेषेण । ३. ख—तिथ्या च करणेन च ।
४. ख—ख. क. पुस्तकेऽस्य श्लोकस्य स्थाने 'ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु तत सूत्रं प्रसारयेत्' इत्यर्धं पठ्यते ।

[1]शान्तितोयं ततो दत्त्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत् ।
चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा द्विधा[2] कुर्यात्पुनश्च तान् ॥ ३९ ॥
पृष्ठतो यो भवेद्भागो [3]द्विधाभूतस्य तस्य तु ।
[4]सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥ ४० ॥
[5]पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ।
विभज्य[5] भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः ॥ ४१ ॥

मुहूर्तो ब्राह्मादिः । तिथिर्नन्दादिः । करणं विष्ट्यादिरहितम् ॥ ३८ ॥

सूत्रप्रसारणेन यत्कृत्यं तदाह—चतुष्षष्टिरित्यादि । चतुष्षष्टिर्हस्तदैर्घ्याद्विस्ताराच्च द्वात्रिंशत्करं क्षेत्रं गृहीत्वा मध्ये सूत्रं विस्तारेण सूत्रं दद्यात् । तत्र यत्प्रयोक्तुः पृष्ठगं भविष्यति तदेव पृष्ठम् । तस्य मध्ये विस्तारेण सूत्रं दद्यात् । ततः षोडशहस्तौ द्वौ भागौ भवतः । पृष्ठगतं भागमर्धेन विभज्याष्टहस्तं रङ्गशिरः । प्रविशतां पात्राणां चान्तस्स्थानम् । नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानसुप्तवदवस्थितस्य रङ्गपीठं मुख्यम् । तदष्टहस्तं शिरः । तत्पृष्ठे तु दैर्घ्याद्वि षोडशहस्तं नेपथ्यगृहं भवति । विस्तारात्तु द्वात्रिंशत्करमेव तत् । नेपथ्यादिकं च तत्र गृह्यते ।

अनुवाद—अनुकूल मूहुर्त्त और तिथि तथा सुन्दर करण के होने पर ब्राह्मणों को तृप्त करके तब पुण्याहवाचन करावे ॥ ३८ ॥

अभिनव—मुहूर्त्त अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त्त आदि । तिथि अर्थात् भद्रा आदि तिथियाँ 'करण' पद से अभिप्राय है विष्टि आदि से रहित ॥ ३८ ॥

अनुवाद—इसके बाद शान्तिक जल से मार्जन करके डोरी (सूत) को फैलावे और चौसठ हाथ लम्बी भूमि नापकर फिर उसे दो भागों में बाटें । पीछे का जो भाग है उसके भी बराबर-बराबर दो भाग करे । उसके आधे भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करें और पीछे के भाग में नेपथ्यगृह का निर्माण करें । ॥ ३९-४१(१) ॥

---

१. ख. ग. शान्तितो यत्नतो धृत्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत् ।
२. ग. द्विधाभूतान् पुनस्ततः । ३. ख. द्विधाभूतो भवेच्च यः ।
४. ख. तस्यार्धेन विभागेन रङ्गशीर्षं प्रयोजयेत् ।
ग. तस्याप्यर्धार्धभागे तु रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ।
क–न. त. तस्याप्यर्धार्धभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ।
५. ख. पश्चिमे तु पुनर्भागे । ग. पश्चिमेऽथ विभागे च । ... ग. विकल्प्य ।

तदाह—पश्चिमे चेति। तत्र रङ्गपीठं विस्तारतः षोडशदैर्घ्यतस्त्वष्ट-हस्ता इति केचित्। अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति। सर्वथा तावद्रङ्गपीठ-स्यापि विकृष्टत्वं विधेयमिति तात्पर्यम्। यद्वक्ष्यते—रङ्गो विकृष्टो भरतेन कार्यः (ना. शा. १२-२०) इत्यादि ॥ ३९-४१(१) ॥

अभिनव—सूत्र फैलाने से जो कार्य करना है, उसे कहते हैं—चतुष्षष्टिकरा-नित्यादि।

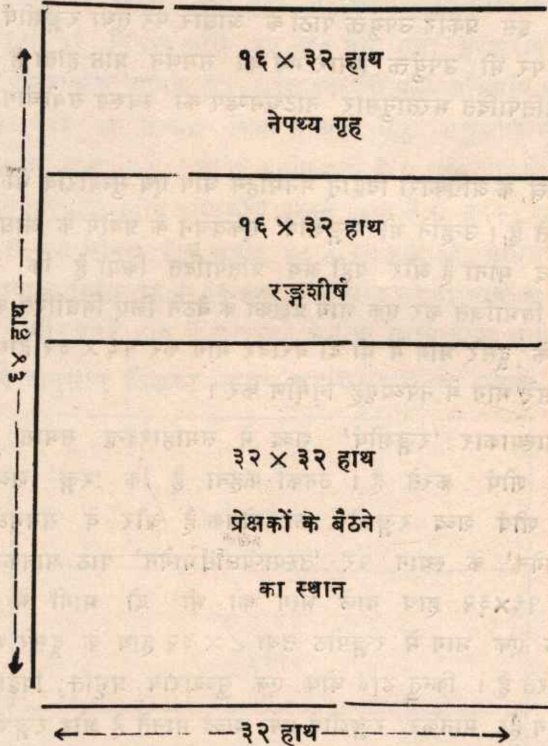
चौसठ हाथ लम्बाई और बत्तीस हाथ चौड़ाई भूखण्ड लेकर उसके बीच में सूत्र फैलाये। उनमें जो प्रयोक्ता (नाट्याचार्य) के पीछे की ओर होगा वही पृष्ठ भाग होगा। उसके बीच में फिर चौड़ाई में सूत्र फैलावे, तब सोलह-सोलह हाथ के दो भाग होंगे। उनमें आगे के भाग को पुनः दो भागों में बांटकर आगे वाले भाग को रङ्ग-पीठ और पीछे के आठ हाथ में रङ्गशीर्ष कल्पित करे जो प्रवेश करने वाले पात्रों का अन्तःस्थान कहलायेगा तथा उत्तान (उतान) लेटे हुए व्यक्ति की तरह नाट्य-मण्डप का शीर्ष रङ्गशीर्ष होगा। उस रङ्गशोर्ष के पींछे लम्बाई में १६ हाथ का नेपथ्य-गृह होगा। वह चौड़ाई में बत्तीस हाथ और लम्बाई में १६ हाथ होगा, जहाँ पर नेपथ्य अर्थात् वेश-भूषा आदि ग्रहण (धारण) किया जाता है। जैसाकि 'पश्चिमे च विभा-गेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्' श्लोक में कहा गया हैं कि रङ्गपीठ की चौड़ाई सोलह हाथ होनी चाहिए। सभी अवस्थाओं में रङ्गपीठ विकृष्ट अर्थात् आयताकार बनाना चाहिए यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। जैसा की आगे कहेंगे—भरत को विकृष्ट रङ्गपीठ बनाना चाहिए ॥ ३९-४१ (१) ॥

विमर्श—भरत ने नाटयमण्डप के विभाग के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोको में चर्चा की है—

चतुःषष्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु ॥
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।
पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ॥

भरतमुनि ने इन दो श्लोकों में नाटयमण्डप के विभिन्न भागों का निर्देश किया है। तदनुसार इसका अर्थ होता है कि विकृष्ट आयताकार मध्यम नाटयमण्डप ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा होता है। प्रथम समस्त भूमिखण्ड को दो भागों में विभाजित करे। इस प्रकार ३२ × ३२ हाथ के दो खण्ड बने। इनमें से आगे के आधे भाग (३२ × ३२) में प्रेक्षकों के बैठने की व्यवस्था करे। पीछे के ३२ × ३२ वाले आधे भाग को पुनः दो भागों में विभाजित करे। इस प्रकार १६ × ३२ हाथ के दो खण्ड बनेंगे। इसके आधे भाग में अर्थात् १६ × ३२ हाथ वाले भाग में रङ्गशीर्ष का निर्माण करे और पिछले रङ्गशीर्ष के पीछे के १६ × ३२ हाथ वाले भाग में नेपथ्यगृह का निर्माण करे। इस प्रकार भरतमुनि के अनुसार नाटयमण्डप का स्वरूप निम्न प्रकार होगा—

भरत के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) मध्यम नाट्यमण्डप (६४।३२) का स्वरूप



उपर्युक्त श्लोक में दो शब्द विवेचनीय है—'सममर्धविभागेन' और 'रङ्गशीर्ष'। गायकवाड़ बड़ौदा वाले संस्करण में 'सममर्धविभागेन' और काशी संस्कृत सीरिज वाले संस्करण में 'तस्यार्धेन भागेन' पाठ मिलता है। बड़ौदा, काशी, काव्यमाला एवं कलकत्ता से प्रकाशित चारो संस्करणों में 'रङ्गशीर्षं' एकवचन पाठ मिलता है। तदनुसार काशीवाले संस्करण के आधार पर 'तस्यार्द्धेन विभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' का अर्थ अधिक स्पष्ट है कि समस्त रङ्गभूमि को प्रथम दो भागों में विभाजित करे (३२ × ३२)। उसके बाद ३२ × ३२ हाथ वाले एक भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए नियत करे। शेष ३२ × ३२ हाथ वाले दूसरे भाग को भी १६ × ३२ हाथ के दो भाग करे (पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु)। तदनन्तर तस्यार्धेन विभागेन अर्थात् तस्य द्विधाभूतस्य पृष्ठभागस्य अर्धेन विभागेन रङ्गशीर्षं कल्पयेत्, अर्धेन तु नेपथ्यगृहं रचयेत्' अर्थात् उस पृष्ठ भाग के १६ × ३२ हाथ के द्विधाभूत अर्धभाग में रङ्गशीर्ष का निर्माण करे और आधे में नेपथ्यगृह बनाये। बड़ौदा वाले संस्करण के 'सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' पाठ के आधार पर भी उपर्युक्त अर्थ निकलता है। अर्थात् उस द्विधाभूत पृष्ठभाग के बराबर के आधे

भाग (१६ × ३२ हाथ) में रङ्गशीर्ष और उसी के पीछे के बराबर के (१६ × ३२ हाथ) आधे भाग में नेपथ्यगृह बनाये। यहाँ पर 'रङ्गशीर्ष' में एकवचन का प्रयोग भी इसी बात को पुष्ट करता है कि द्विधाभूत बराबर के (१६ × ३२ हाथ) आधे भाग में रङ्गशीर्ष बनावे। इस प्रकार उपर्युक्त पाठों के आधार पर तथा रङ्गशीर्ष में एकवचन के प्रयोग के आधार पर भी उपर्युक्त हमारे मत का समर्थन प्राप्त होता है। अतः उपर्युक्त स्पष्ट रूप में प्रतिपादित भरतानुसार नाट्यमण्डप का स्वरूप समीचीन एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् मनमोहन घोष एवं सुब्बाराव भी उपर्युक्त मत से सहमत दिखाई देते हैं। उन्होंने भी 'रङ्गशीर्ष' एकवचन के प्रयोग के आधार पर रङ्गशीर्ष शब्द को एक शब्द माना है और यही अर्थ प्रतिपादित किया है कि रङ्गभूमि को दो बराबर भागों में विभाजित कर एक भाग प्रेक्षकों के बैठने लिए निर्धारित करे और पीछे के ३२ × ३२ हाथ के दूसरे भाग में भी दो बराबर भाग कर १६ × ३२ हाथ के एक भाग में रङ्गशीर्ष और दूसरे भाग में नेपथ्यगृह निर्माण करे।

कुछ व्याख्याकार 'रङ्गशीर्ष' शब्द में समाहारद्वन्द्व समास मानकर उसका अर्थ रङ्ग और शीर्ष करते हैं। उनका कहना है कि 'रङ्ग' शब्द रङ्गपीठ का वाचक है और शीर्ष शब्द रङ्गशीर्ष का बोधक है और वे 'सममर्धविभागेन' तथा 'तस्यार्धेन विभागेन' के स्थान पर 'तस्याप्यर्धार्धभागेन' पाठ मानकर उस द्विधाभूत पृष्ठ भाग के १६×३२ हाथ वाले भाग को भी दो भागों में विभाजित कर ८ × ३२ हाथ के एक भाग में रङ्गपीठ तथा ८ × ३२ हाथ के दूसरे भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करते हैं। किन्तु डा० घोष एवं सुब्बाराव प्रभृति विद्वानों ने रङ्गशीर्ष शब्द को एकवचन ही मानकर रङ्गशीर्ष एक शब्द मानते हैं और रङ्गपीठ को रङ्गशीर्ष का पर्यायवाची शब्द मानते हैं। वे रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ को अलग-अलग शब्द नहीं मानते। उनका कहना है कि रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष एक ही शब्द है, चाहे उसे रङ्गशीर्ष कहें अथवा रङ्गपीठ! दोनों एक ही बात है। उन्होंने इस मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है--

(१) द्वितीय अध्याय के नाट्यमण्डप के विभाग के निर्देशन के प्रसङ्ग में जो दो श्लोक (ऊपर लिखे हुए) पाये जाते हैं, उसमें केवल रङ्गशीर्ष शब्द का उल्लेख हैरङ्गपीठ का नहीं। पहिले अध्याय में जिसे रङ्गपीठ कहा है उसी को यहाँ रङ्गशीर्ष कहा है।

(२) नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्यमण्डप के रक्षा-वर्णन के प्रसङ्ग में रङ्गपीठ शब्द का दो बार उल्लेख है, रङ्गशीर्ष का कोई उल्लेख नहीं है।

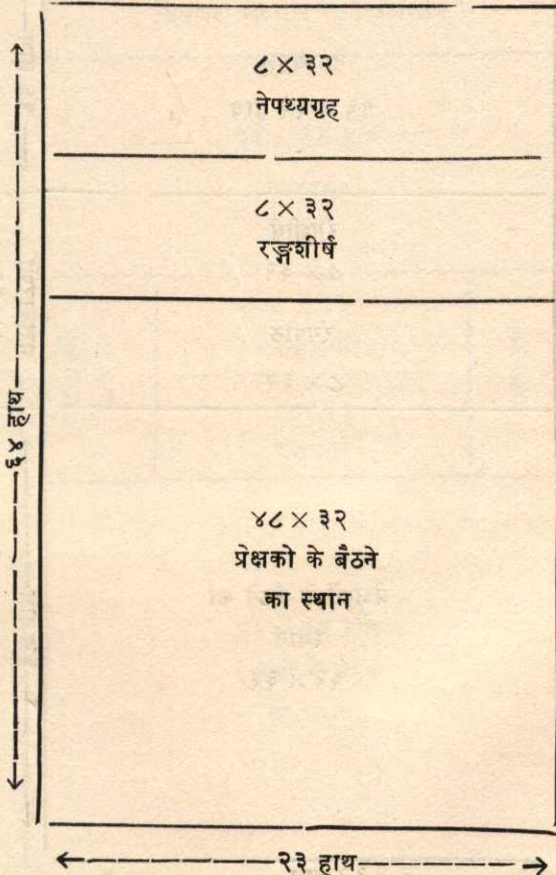
(३) नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में रङ्गशीर्ष के निर्माण के प्रसङ्ग में रङ्गशीर्ष शब्द का प्रयोग है, रङ्गपीठ का नहीं।

(४) द्वितीय अध्याय में चतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण विधान के प्रसङ्ग में रङ्गपीठ शब्द का चार स्थानों पर उल्लेख है और एक स्थान पर रङ्गशीर्ष का उल्लेख है।

(५) इसी प्रकार द्वितीय अध्याय में त्र्यस्र नाटचमण्डप के निरूपण के अवसर पर केवल रङ्गपीठ का उल्लेख है, रङ्गशीर्ष का नहीं।

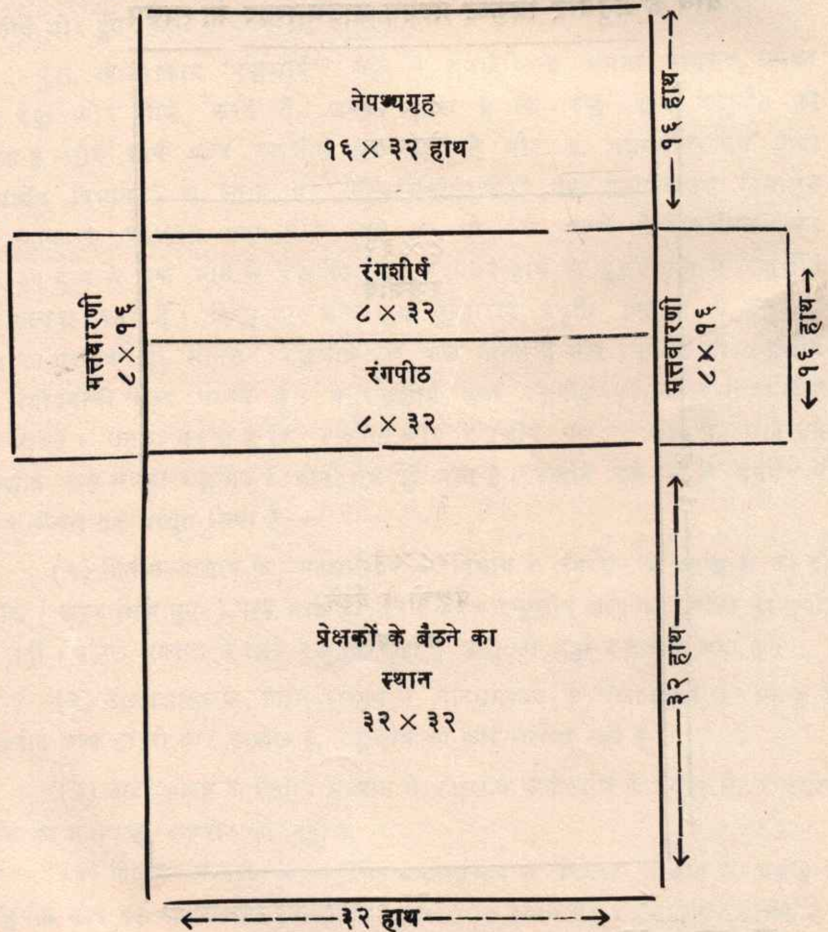
उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर तथा भरतोक्त नाटचमण्डप-विभाग सम्बन्धी कारिकाओं के शब्दार्थ पर विचार करते हुए डा० घोष तथा सुब्बाराव रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष शब्दों को समानार्थक मानते हैं। भरत का भी यही अभिप्राय था। इसीलिए उन्होंने कहीं रङ्गपीठ शब्द का उल्लेख किया है और कहीं रङ्गशीर्ष शब्द का। इस प्रकार दोनों अलग-अलग शब्द नहीं, अपितु पर्यायवाची है। डा० घोष ने विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप के विभाग में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण रङ्गभूमि के प्रमाण में तीन चौथाई भाग अर्थात् ४८ × ३२ हाथ की भूमिभाग पर प्रेक्षकों के बैठने के लिए तथा चतुर्थांश १६ + ३२ हाथ वाले खण्ड को दो भागों में विभाजित कर एक भाग में रङ्गशीर्ष और दूसरे भाग में नेपथ्यगृह के लिए स्थान होना चाहिए।

घोष के अनुसार विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप का स्वरूप



अभिनवगुप्त ने रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष शब्दों को अलग-अलग मानकर नाट्यमण्डप के विभाग की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार विकृष्ट (आयताकार) मध्यम-परिमाण के नाट्यमण्डप की रचना चौसठ हाथ लम्बी और बत्तीस हाथ चौड़ी भूमि पर होनी चाहिए। प्रथम भूमि को दो खण्डों में बिभाजित करे। इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौड़े-वर्गाकार दो क्षेत्र बनेंगे। उनमें एक भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए होगा। दूसरे भाग के बराबर-बराबर अर्थात् १६ हाथ लम्बे और ३२ हाथ चौड़े दो भाग होंगे। उनमें से प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से मिले हुए १६ हाथ लम्बे और ३२ हाथ चौड़े भाग के भी दो खण्ड करे। उनमें ८ हाथ लम्बे और ३२ हाथ चौड़े एक भाग में रङ्गपीठ और ८ हाथ लम्बे और ३२ हाथ चौड़े दूसरे भाग में रङ्गशीर्ष की रचना करे तथा बचे हुए पीछे के १६ हाथ लम्बे और ३२ हाथ चौड़े भाग में नेपथ्यगृह बनाये। इस प्रकार ६४ हाथ लम्बी ३२ हाथ चौड़ी भूमि पर विकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप की रचना करे।

अभिनवगुप्त के अनुसार विकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप (६४ × ३२ हाथ)



डा० राघवन् एवं मनकद अभिनवगुप्त की उक्त विचार धारा से पूर्ण सहमत दिखाई देते हैं। वे रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि नाटचमण्डप के विभाग के प्रकरण में (रङ्गशीर्ष प्रकल्पयेत्) रङ्गशीर्ष शब्द जो आया है उसमें दो शब्द हैं—रङ्ग और शीर्ष। वहाँ 'रङ्ग' शब्द से रङ्गपीठ और शीर्ष शब्द से रङ्गशीर्ष अभिप्रेत है। उन्होंने 'सममर्धविभागेन' का अर्थ उस द्विधाभूत नाटचमण्डप के १६ × ३२ हाथ के भाग को ८ × ३२ हाथ के दो भागों में विभाजन किया है। उनके अनुसार ८ × ३२ हाथ के दो खण्डों में से एक में रङ्गपीठ और दूसरे में रङ्गशीर्ष का निर्माण करे। उनका कहना है कि नाटचशास्त्र के द्वितीय अध्याय में 'रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा। रङ्गशीर्षं तु कर्त्तव्यं दारुषट्कसमन्वितम्' इस श्लोक में रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों शब्द अलग-अलग आये हैं। अतः दोनो शब्द अलग-अलग है, पर्यायवाची शब्द नहीं। उनके मतानुसार भरतानुमोदित विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप का स्वरुप निम्नप्रकार होगा—

विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप

१६ × ३२ हाथ
नेपथ्यगृह

मत्तवारणी ८ × ८

८ × ३२
रङ्गशीर्ष

८ × ३२
रङ्गपीठ

मत्तवारणी ८ × ८

३२ × ३२ हाथ
प्रेक्षकों के बैठने
का स्थान

उपर्युक्त मतों की समीक्षा के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका मत मुख्य रूप से रङ्गशीर्ष शब्द की भित्ति पर आधारित है। प्रथम रङ्गशीर्ष में रङ्ग और शीर्ष दो शब्दों की कल्पना। २ - रङ्गशीर्ष शब्द को रङ्गपीठ से पृथक् मानना। ३—रङ्ग-शीर्ष का विकृष्ट नाटयमण्डप में उन्नत तथा चतुरस्र में सम होना। ४—रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ के मध्य यवनिका का होना ५-'रङ्गशीर्ष' के स्थान पर 'रङ्गशीर्षे' द्विवचन पाठ मानना। किन्तु इनमें कोई ठोस प्रमाण नहीं है। रङ्गशीर्ष एवं रङ्गपीठ शब्दों को अलग-अलग मानने का मात्र ठोस आधार अभिनवगुप्त की अभिनवभारती टीका है। जहाँ पर उन्होंने दोनों के परिमाणों का अलग-अलग उल्लेख किया हैं। वस्तुतः उस समय नाटयमण्डप का स्वरूप क्या था? यह आज के व्याख्यानों से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। प्राचीनकाल में नाटयमण्डप का इतना विकसित रूप नहीं था जितना आज है। अभिनवगुप्त को छोड़कर ये सभी व्याख्याकार बीसवीं शताब्दी के है। वे आज की दृष्टि से नाटयमण्डप की व्याख्या करते हैं। उस समय जब रङ्गमञ्च पर प्रथम मञ्चन हुआ था, नाटयमण्डप का स्वरूप क्या था? मात्र भरत की कारिकाओं से ही जाना जा सकता हैं। भरत की कारिका का सबसे विवादास्पद अंश 'सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' है। इसकी व्याख्या अलग-अलग लोग अलग-अलग दृष्टियों से करते हैं किन्तु शब्दार्थ तो एक ही है केवल अन्वय में भेद कर पृथक् अर्थ की कल्पना करते हैं। इस कारिकांश का सम्बन्ध कारिका के पूर्व अंश से है। 'पृष्ठतो यो भवेद्भागो' अर्थात् पीछे का ३२ × ३२ हाथ वाला भाग है किन्तु 'द्विधाभूतस्य तस्य अर्धभागेन समं रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' अर्थात् द्विधाभूत अर्थात् ३२ × ३२ हाथ के दो भागों में विभाजित उसके आधे भाग के बराबर (अर्धभागेन समम्) अर्थात् ३२ × ३२ हाथ वाले भाग के दो बराबर भागों में ८ × ३२ हाथ के एक भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करे और उसी के बराबर के ८ × ३२ भाग में नेपथ्यगृह की रचना करे। यह अर्थ भरत की शब्दार्थ-योजना से स्पष्ट होता है। यही भरतानुमोदित नाटयमण्डप का वास्तविक स्वरूप है। रह गई अभिनवगुप्त की बात। अभिनवगुप्त हमारे आदरणीय हैं। उनकी व्याख्या भी समादरणीय है। किन्तु उन्होंने अपने समय के रङ्गमञ्चों को दृष्टि में रखकर व्याख्या की होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

'रङ्गशीर्ष' में रङ्ग और शीर्ष दो अलग-अलग पद मानकर 'रङ्ग' पद से रङ्गपीठ और 'शीर्ष' पद से रङ्गशीर्ष शब्द ग्रहण करने की कल्पना निराधार प्रतीत होती है। क्योंकि रामकृष्ण कवि ने नाटयशास्त्र की अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर गायकवाड़ प्राच्य संस्थान बड़ौदा से नाटयशास्त्र का एक प्रामाणिक संस्करण निकाला है। उसमें पाण्डुलिपियों में प्राप्त पाठभेदों को नीचे फुटनोट में दिया गया है किन्तु रङ्गशीर्ष शब्द का कोई पाठभेद नहीं दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सभी पाण्डुलिपियों में 'रङ्गशीर्षम्' ही पाठ मिलता है। इसके अतिरिक्त काशी संस्कृत सीरिज, काव्यमाला संस्करण घोष द्वारा सम्पादित कलकत्ता संस्करण, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय से प्रकाशित, मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित (१-७ अ.) आदि सभी संस्करणों में 'रङ्गशीर्ष'

शुभे नक्षत्रयोगे च[1] मण्डपस्य निवेशनम् ।
[2]शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ॥ ४२ ॥
[3]सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि[4] पाषण्डयाश्रमिणस्तथा ॥ ४३ ॥
[5]काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः ।
निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः[6] ॥ ४४ ॥

एवं मानविधिमभिधायेष्टकास्थापनरूपे निवेशने विधिमाह—शुभे नक्षत्रयोग इत्यादिना ॥ ४२ ॥

ही पाठ मिलता है । किन्तु इन सभी संस्करणों की उपेक्षा कर आचार्य विश्वेश्वर ने 'रङ्गशीर्ष' पाठ की मनगढ़न्त कल्पना कर रङ्गशीर्ष में रङ्ग और शीर्ष दो शब्द माना हैं। पाठशोध का कुछ आधार होता है, जब नाट्यशास्त्र की प्रकाशित-अप्रकाशित सभी प्रतियों में 'रङ्गशीर्ष' ही पाठ मिलता है और अर्थ संगति भी ठीक बैठती है तो एक भ्रान्त पाठ की नवीन कल्पना कर त्रुटिपूर्ण अर्थ करना पाण्डित्यप्रदर्शन मात्र ही प्रतीत होता है ।

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वकथित विधि के अनुसार यथावत् ठीक-ठीक विभाजन करके शुभ नक्षत्रों के योग में मण्डप का सन्निवेश करें और शंख, दुन्दुभि के घोष (ध्वनि) के साथ मृदङ्ग एवं पणव आदि सभी प्रकार के बाजों को बजाते हुए आधार शिला की स्थापना करनी चाहिए ॥ ४१–४३ ॥

अभि०—इस प्रकार मण्डप के मानविधि को कह कर इष्टका (ईंट) की स्थापना रूप सन्निवेश में विधि का निरूपण करते हैं—शुभे नक्षत्र इत्यादि ।

अनुवाद—और स्थापना के समय अनिष्टकारी वस्तु, पाषण्डियों सन्यासियों, गेरुआवस्त्रधारियों और लूले-लंगड़े लोगों को दूर भगा देना चाहिए ॥ ४३-४४ ॥

अनुवाद—और रात्रि में नाना प्रकार के भोजनों से युक्त तथा गन्ध, पुष्प, फल आदि से युक्त दशों दिशाओं में बलि देनी चाहिए ॥ ४४-४५ ॥

---

१. भ-तु । २. क-ङ. सार्धं दुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपटहादिभिः ।
३. ख. सर्वतूर्यनिनादैश्च स्थापनं कार्यमेव च ।
न. सर्वातोद्यनिनादैश्च । छ. भेरीतूर्यनिनादैश्च गायनी गायनैर्बहु ।
४. ख. पाखण्डाश्रमिणस्तथा । क–अ. मण्डपाश्रयिणस्तथा ।
५. ग. कषायवसनाश्चैव । ६. ग–नानाभोजनसंश्रयः ।

गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च[1] ॥ ४५ ॥
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तञ्चैवोत्तरेण तु ।
यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम्[2] ॥ ४६ ॥
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः ।
स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम्[3] ॥ ४७ ॥

दशसु तिर्यगूर्ध्वाधोरूपासु दिक्षु बलिः कार्य इत्युक्त्वा चतसृषु दिक्षु बलिविधिरुक्तो नान्यथेत्यभिप्रायेण व्यापकं विधिमाह—यादृशमित्यादिना ।

तेनाग्नेये रक्तवर्ण इत्याद्यूह्यम् । मन्त्रा [4]वरणपूजाविधौ वक्ष्यमाणाः । ते च कर्मशंसोपयोगिनोहेन युक्ता विधेयाः । 'मन्त्रेण स्मृतं कर्म करोति' इति हि स्मृतिः । अन्ये तु तद्दैवताकैः श्रुतिमन्त्रैरेव बलिकर्मेत्याहुः । तल्लिङ्गैरित्यन्ये ॥ ४६ ॥

अनुवाद—पूर्व दिशा में सफ़ेद अन्न से युक्त, दक्षिण में नीले रंग का अन्न, पश्चिम में पीला अन्न और उत्तर दिशा में लाल रङ्ग के अन्न की बलि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

अभि०—तिरछी, ऊपर, नीचे दशों दिशाओं में बलि देनी चाहिए, यह कहकर चारों दिशाओं में बलि का विधान कहा है, अन्य प्रकार से नहीं, इस अभिप्राय से व्यापक रूप में विधि (विधान) को कहते हैं—

अनुवाद—जिस दिशा में जिस प्रकार के देवता की कल्पना की गई है, उस दिशा में उसी प्रकार की बलि मन्त्रों के साथ देनी चाहिए ॥ ४६-४७ ॥

अभि०—इसलिए अग्निकोण में रक्तवर्ण की बलि देनी है, यह समझना चाहिए। 'मन्त्र' देवपूजा के विधान में कहे जाँयगे। वे कार्य की कथन के उपयोगी है, यह उसका विधान युक्त नहीं है। मन्त्र के द्वारा स्मृत कर्म को करता है, यह स्मृति है। दूसरे व्याख्याकार तो उन उन देवता-विषयक वेद-मन्त्रों से ही बलिकर्म करना चाहिए, ऐसा कहते हैं। अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि उन-उन देवता लिङ्ग वाले मन्त्रों से बलिकर्म करना चाहिए ॥ ४७ ॥

---

१. ख. नीलं स्यात् दक्षिणेन च । क–ठ. म. निधानो दक्षिणेन च ।
२. ख. यस्यां यच्चैवाधिदैवं तु दिशि सम्प्रकीर्तितम् ।
क. (टि०) अ–छ. यस्या यथाधिदेवस्तु दिगीशः परिकीर्तितः ।
३. ख. दातव्यो घृतपायसः । ४. क–भ. रङ्गपूजाविधौ ।

मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।
नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ॥ ४८ ॥
मुहुर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च[1] ।
एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥
भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च[2] ॥ ५० ॥
[3]स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।
आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ॥ ५१ ॥

चकारो भिन्नक्रमः । न केवलं मानोपक्रमे ब्राह्मणतर्पणं यावत्स्थापनेऽपीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

एवं मानविधिं स्थापनविधिं च कृत्वा स्तम्भविधिः कार्य इति दर्शयति—भित्तिकर्मणीति । स्थापनमुच्छ्रयणम् ॥ ५१ ॥

अनुवाद—और नाट्यगृह के स्थापना के समय ब्राह्मणों को धृत युक्त पायस (खीर) और राजा को मधुपर्क तथा नाट्यकर्त्ताओं को गुड़युक्त चावल अर्थात् मीठा चावल खिलाना चाहिए ॥ ४७-४८ ॥

अभि०—चकार का क्रम भिन्न है न केवल मात्र (मण्डप के नापने) के समय ही ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए, अपितु स्थापना अर्थात् शिलान्यास के अवसर भी देना चाहिए, यह भाव है ॥ ४९ ॥

विमर्श—यहाँ राजा के लिए मधुपर्क का विधान बताया गया है । दही, घी, शहद, जल, और शक्कर ये पाँच मिलकर मधुपर्क कहलाते हैं—

दधि सर्पिः जलं क्षौद्रं क्षिता चेतैश्च पञ्चभिः । प्रोच्यते मधुपर्कः

अनुवाद—विद्वानों द्वारा मूल नक्षत्र में अनुकूल मुहूर्त, तिथि एवं शुभ करण में नाट्यमण्डप की स्थापना करनी चाहिए ॥ ४८-४९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाट्यमण्डप की स्थापना करके भित्तिकर्म प्रारम्भ करे और भित्तिकर्म पूर्ण हो जाने पर स्तम्भों की स्थापना करें ॥ ४९-५० ॥

अभि०—इस प्रकार मानविधि, स्थापनाविधि और भित्तिकर्म का विधान करके स्तम्भ का विधान करना चाहिए, यह दिखाते हैं । भित्तिकर्म के समाप्त हो जाने पर स्तम्भों की स्थापना करे स्थापना का अर्थ उच्छ्रयण अर्थात् खड़ा करना है ॥५०॥

अनुवाद—शुभ तिथि, नक्षत्र एवं करण का योग होने पर रोहिणी अथवा श्रवण नक्षत्र में स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ५०-५१ ॥

---

१. क–म. तिथ्यानुकरणेन च । क–ङ–म. तिष्यानुकरणेन च । २. ख–तु ।
३. अस्य श्लोकस्य स्थाने 'आर्येण सुयुक्तेन कार्यं सूर्योदये शुभे' इत्यर्धं लभ्यते ।

[1]स्तम्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ।
[2]चन्दनं च भवेद् ब्राह्मं क्षात्रं खादिरमेव च ॥ ५२ ॥
धावाख्यं वैश्यवर्णं स्याच्छत्रं स्वंद्रुमैः समृतम् ।
प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः[3] ॥ ५३ ॥
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात्पायसमेव च ।
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥ ५४ ॥

प्रथमं त्वाग्नेयः कोणः । तस्य विशेषणैः अनुवादलिङ्गविधिकल्प्यं (लिङ्ग-विधिः कल्प्यः) । शुभं (क्लं) सर्वत्र । पायसमिति द्विजेभ्य इति प्रकरणात् । विध्यनुसारेणैव भोजनं शुक्लादिवर्णमिति मन्तव्यम् । ततश्चेति । तैरन्त (तबन्त) इत्यर्थः ॥ ५३-५४ ॥

अनुवाद—विद्वान् नाट्याचार्य को तीन रात तक उपवास करके सूर्योदय के समय स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण का स्तम्भ चन्दन का होना चाहिए, क्षत्रिय का खैर की लकड़ी का, वैश्य का धव की लकड़ी का और शूद्र के लिए सभी लकड़ियों का स्तम्भ बनाना चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

विमर्श—ज्योतिषशास्त्र के अनुसार स्तम्भों की स्थापना नन्दा आदि शुभ तिथियों में रोहिणी अथवा श्रवण नक्षत्र में तथा शुभ करण के होने पर सूर्योदय के समय तीन दिन तक उपवास किये हुए नाट्याचार्यों द्वारा करनी चाहिए ॥ ५२ ॥

अनुवाद—सबसे पहिले ब्राह्मण स्तम्भ में घी और सरसों से संस्कार करें । इस स्तम्भ की स्थापना पर सभी विधियाँ श्वेत (सफेद) पदार्थों से करनी चाहिए और ब्राह्मणों को खीर देना चाहिए ॥ ५३-४५ ॥

विमर्श—इस श्लोक में 'सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः' के स्थान पर 'सर्पिस्सर्षपसंयुते' पाठ भी मिलता है । तदनुसार इसका अर्थ होगा कि सबसे पहिले अग्निकोण में स्थापित घी और सरसो से संस्कार किये गये ब्राह्मणस्तम्भ में सारी विधियाँ सफेद पदार्थों से करनी चाहिए और ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराना चाहिए ॥ ५३ ॥

अनुवाद—उसके बाद क्षत्रिय स्तम्भ पर वस्त्र, माला, अनुलेप (चन्दन) आदि सभी सामग्री लाल रङ्ग की होनी चाहिए और ब्राह्मणों को गुड़-भात अर्थात् मीठा भात देना चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

---

१. क—ख. स्तम्भानां स्थापनं चैव कार्यं सूर्योदये शुभे ।
२. क—ख. ग पुस्तकेषु अयं श्लोकः नास्ति । ३. ख संस्कृते ।

सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ।
वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे ॥ ५५ ॥
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्[1] ।
शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक्पूर्वोत्तराश्रये ॥ ५६ ॥
नीलप्रायं [2]प्रदातव्यं कृसरं[3] च द्विजाशनम् ।

अभि०—'प्रथमं' पद का अभिप्राय अग्निकोण से है। उसके विशेषणों से सूचित होता है कि उसकी विधि लिङ्ग (वर्ण) के अनुसार करनी चाहिए अर्थात् ब्राह्मण स्तम्भ में ब्राह्मण वर्ण के अनुसार समस्त विधान श्वेत पदार्थों से करना चाहिए और ब्राह्मणों को 'पायस' अर्थात् खीर देना चाहिए। विधि के अनुसार सबको शुक्ल (सफेद) पदार्थ भोजन में देना है, ऐसा मानना चाहिए। 'ततश्च' पद का अर्थ है, उसके अन्त में। ॥ ५३–५४ ॥

अनुवाद—उसके बाद पश्चिम और उत्तर दिशा वायव्य कोण में स्थापित वैश्यस्तम्भ पर सारी विधियाँ पीत वर्ण की होनी चाहिए और ब्राह्मणों को घी-चावल देना चाहिए ॥ ५५-५६ ॥

अनुवाद—पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य ईशानकोण में स्थापित शूद्र स्तम्भ पर समस्त विधान प्रायः नील वर्ण के पदार्थों से अच्छी तरह करनी चाहिए और ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलानी चाहिए ॥ ५६-५७ ॥

विमर्श—यहाँ पर चारों उपदिशाओं में गाड़े गये चारों वर्णों के स्तम्भों पर उन-उन वर्णों के अनुसार विधान करना चाहिए। जैसे प्रथम आग्नेय दिशा में ब्राह्मण-स्तम्भ, नैऋत्य दिशा में क्षत्रिय-स्तम्भ, वायव्य दिशा में वैश्य-स्तम्भ और ईशान में शूद्र-स्तम्भ की स्थापना करे। तदनन्तर उन-उन वर्णों के वर्ण के अनुसार समस्त पदार्थ उनके विधान में प्रयोग करना चाहिए। जैसे ब्राह्मण के लिए सफेद वर्ण, क्षत्रिय के लिए रक्त वर्ण, वैश्य के लिए पीतवर्ण और शूद्र के लिए नीलवर्ण कहा गया है। अतः आग्नेयकोण में स्थापित ब्राह्मण-स्तम्भ के विधान में समस्त पदार्थ श्वेत वर्ण के होने चाहिए। इसी प्रकार नैऋत्य कोणस्थ क्षत्रिय-स्तम्भ के विधान में समस्त पदार्थ रक्तवर्ण के होने चाहिए, वायव्य कोण में स्थापित वैश्य-स्तम्भ के विधान में समस्त पदार्थ पीतवर्ण और ईशान कोण में स्थापित शूद्रस्तम्भ के विधान में समस्त पदार्थ नील वर्ण के होने चाहिए। इसी प्रकार वर्णों के अनुसार ब्राह्मणों को क्रमशः खीर, गुडोदन, घृतोदन और खिचड़ी भोजन में देना चाहिए ॥ ५३–५७ ॥

---

१. ख. घृतोदनाम्। क (टि०) ल. ब. त. घृताशनम्।
२. ख. प्रदातव्यं। क. च. घ. प्रयत्नेन। ३. ग. कृशरा।

[1]पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने[2] ॥ ५७ ॥
निक्षिपेत्कनकं मूले [3]कर्णाभरणसंश्रयम् ।
ताम्रं चाधः[4] प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ॥ ५८ ॥
[5]वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत् ।
[6]शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च[7] ॥ ५९ ॥
[8]सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु[9] काञ्चनम् ।
स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ॥ ६० ॥
स्तम्भानां स्थापनं [10]कार्यं पुष्पमालापुरस्कृतम्[11] ।
रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः ॥ ६१ ॥
[12]ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु [13]स्तम्भानुत्थापयेत्ततः ।

अनुवाद - पहिले ब्राह्मण स्तम्भ में श्वेतवर्ण की माला और सफेद चन्दन का लेप करे और उसके मूल में कर्णाभूषण से सम्बन्धित सुवर्ण (सोना) रखे ॥ ५७-५८ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार क्षत्रिय स्तम्भ के मूल में (नींव में) तांबा डालना चाहिए और वैश्यस्तम्भ के मूल में (नींव में) चांदी डालनी चाहिए तथा शूद्रस्तम्भ के मूल में लोहा डालें और शेष सभी स्तम्भों के मूल में सोना डालना चाहिए ॥ ५८–६० ॥

अनुवाद—स्वस्तिवाचन एवं पुण्याह-वाचन के घोष (ध्वनि) के साथ 'जय' शब्द का उच्चारण करते हुए अर्थात् जय जयकार करते हुए फूल-मालाओं से अलंकृत स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ६०-६१ ॥

अनुवाद—पर्याप्त मात्रा में रत्नदान, गोदान और वस्त्रदान के द्वारा ब्राह्मणों को तृप्त करके तब स्तम्भों का उत्त्थापन करे अर्थात् खड़ा करे ॥६१-६२॥

---

१. ख. ङ. पूर्वे तु ब्राह्मणस्तम्भे ।
२. क–त. शुक्लमाल्यानुलेपनम् । ङ शुक्लमाल्यानुलेपिते ।
३. क–म. कण्ठाभरणसंश्रयम् ।
४. ख. चापि । क–त. चैव ।
५. क–च. ब. वैश्यस्य स्तम्भमूले ।
६. क. ब. शूद्रस्य स्तम्भमूले ।
७. ख–तु.
८. ख. ग. शेषेष्वपि च । क–न. ब. शेषेष्वेव तु निक्षिप्तं ।
९. ग. स्तम्भमूले तु ।
१०. कुर्यात् ।
११. ख. पर्णमालापुरस्कृतम् । क–त. वनमालासमन्वितम् ।
१२. ख. ब्राह्मणान् स्थापयित्वा तु ।
१३. ख. ग. घ. स्तम्भमुत्थापयेत्ततः ।

अचलं चाप्यकम्पञ्च तथैवावलितं[1] पुनः ॥ ६२ ॥
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ।
[2]अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्युतो[3] भयम् ॥ ६३ ॥
कम्पने परचक्रात्तु[4] भयं भवति[5] दारुणम् ।
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम्[6] ॥ ६४ ॥

अचलमिति । [7]स्थानान्तरानिवेशलक्षणमनेनोक्तम् । अविद्यमाना चलना यस्येति । अकम्प्यमिति । तत्रैव स्थानशिथिलता येन न भवति । अवलितमिति । वलयाकृत्यादिना परिवर्तनं यस्य करणीयं न भवति । दोषसूचकत्वाद्दोष[8]कारित्वाच्च दोषाः ॥ ६२ ॥

तान्दोषानाह—अवृष्टिरित्यादि ।

अनुवाद – उत्थापन के समय स्तम्भों को अचल, कम्पन-रहित और अविचलित (न घूमनेवाला) होना चाहिए, क्योंकि स्तम्भों के उत्थापन में ये दोष कहे गये हैं ॥ ६२-६३ ॥

अभि०--'अचल' इस पद से दूसरे स्थान में सन्निवेश न करना अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर न खिसकना, यह बात कही गई है। जिसमें चलन (गति) विद्यमान न हो, वह अचल है। 'अकम्पप्य' पद से वहीं पर जिससे स्थिति शिथिल न हो अर्थात् अपने स्थान से न हिलना अर्थ अभिप्रेत है। 'अवलितम्' पद 'वलय की आकृति के समान गोलाकार रूप में जिसका परिवर्तन न हो, यह अर्थ अभीष्ट है। दोष के सूचक और दोष को उत्पन्न करने के कारण ये दोष कहे जाते हैं ॥ ६२ ॥

अब उन दोषों को कहते हैं—

अनुवाद—स्तम्भ के चलने अर्थात् खिसक जाने पर अनावृष्टि होती है, उसी स्थान पर घूम जाने से मृत्युभय होता है और कम्पन होने पर शत्रुपक्ष से भयङ्कर भय होता है। इन दोषों से रहित शिव अर्थात् मङ्गलकारी स्तम्भ को खड़ा करे ॥ ६३-६४ ॥

---

१. ख. ग. तथैवाचलितं पुनः । क. ङ. तथैवास्खलितं पुनः । क.–ग. तथा चलितमेव ।
२. क–छ ब. अदृष्टि । ३. ग. मृतितो ।
४. क-त. परचक्रेभ्यः । क-म. कम्पिते परराष्ट्रेभ्यः ।
५. म. वदति । ६. क-ड, त, ब. च्छुभम् ।
७. स्थानान्तरनिवेश । ८. क–म. भ. दोषत्वकारित्वाच्च ।

पवित्रे[1] ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ।
शेषाणां भोजनं कार्यं स्थापने कर्तृसंश्रयम् ॥ ६५ ॥
मन्त्रपूतं[2] च तद्देयं नाट्याचार्येण धीमता ।
पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधुपायसैः[3] ।
कर्तॄनपि तथा सर्वान्कृसरां[4] लवणोत्तराम् ॥ ६६ ॥
[5]सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ।
अभिमन्त्र्य यथान्यायं [6]स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः ॥ ६७ ॥
यथाऽचलो[7] गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः[8] ।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव[9] ॥ ६८ ॥

दातव्येति । द्विजायेति दातव्यबलाल्लोभ्यते ॥ ६५ ॥
अभिमन्त्र्येति सूचितो यः मन्त्रस्तमाह—यथेति ।

अनुवाद—पवित्र ब्राह्मण-स्तम्भ की स्थापना में गाय की दक्षिणा देनी चाहिए। शेष स्तम्भों की स्थापना के समय नाट्य (अभिनय) कर्ताओं अथवा मण्डप निर्माताओं को भोजन कराना चाहिए ॥ ६५ ॥

अभिनव—'दातव्या' पद से ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

अनुवाद—बुद्धिमान् नाट्याचार्य द्वारा मन्त्रों से पवित्र भोजन दान करना चाहिए। पुरोहित और राजा को मधु-पायस अर्थात् मीठी खीर का भोजन करावे तथा सभी कारीगरों को नमकयुक्त (नमकीन) खिचड़ी खिलाये ॥ ६६-६७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार समस्त विधियों को करके सभी बाजाओ को बजाने के साथ पवित्र होकर यथाविधि (विधिवत्) स्तम्भों को अभिमन्त्रित कर खड़ा करे ॥ ६७-६८ ॥

अभिमन्त्र्य अर्थात् अभिमन्त्रित करके समूह में पढ़े जाने योग्य जो मन्त्र हैं उन्हे कहते हैं—

अनुवाद—जिस प्रकार मेरुपर्वत अचल है, और जिस प्रकार महा-बलवान् हिमालय अचल है। उसी प्रकार राजा को जय देने वाले तुम भी अचल हो ॥ ६८-६९ ॥

---

१. ख, ग. पवित्रं । २. ख. घ. मन्त्रपूर्वं । ३. ख. घ. पायसम् ।
४. ख. ग. घ. कृसरं लवणोत्तरम् । क-त. कृसरान् लवणोत्तरान् ।
५. ग. सर्वमेव । ६. ख. ग. घ. स्तम्भमुत्त्थापयेच्छुचिः ७. ख. गुरुः ।
८. घ. यथाचलः । ९. घ. वह ।

स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च।
एवमुत्थापयेत्तज्ज्ञो[1] विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६९ ॥
रङ्गपीठस्य पार्श्वे[2] तु कर्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ॥ ७० ॥

प्रणवनमस्कारमध्यवर्ती चायं पठितव्य[3] इति वास्तुविद्याविदः। अचलो भवेति पू(अपू)र्वविधिः। न तेन तदनुवादेन जयावहो भवेत्यस्य न पौनरुक्त्यम् (?) ॥ ६८ ॥

एवमिति। तेन भित्तौ स्त्रीत्वेन गृहे नपुंसकत्वेनोहः कार्यः ॥ ६९ ॥

अभिनव—प्रणव (ॐ) और 'नमः' के मध्य में इसको पढ़ना चाहिए। यह वास्तुविद्याविशारदों का मत है। 'अचलो भव' यह अपूर्व विधि है, उसका अनुवाद करके 'जयवाही वनो' अर्थात् विजयी वनों, यह कहा है। इसलिए पुनरुक्ति नहीं है ॥ ६८ ॥

विमर्श—यह श्लोक स्तम्भ-स्थापन का मन्त्र है। इस श्लोक के पहिले '**ॐ**' लगाने से और श्लोक के अन्त में 'नमः' का प्रयोग करने से मन्त्र बन जाता है। जैसे—'ॐ' **यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः। जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव स्तम्भाय नमः'** यह मन्त्र हैं। इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके स्तम्भ की स्थापना करे ॥६८॥

अनुवाद—इस प्रकार शिल्पशास्त्र को जानने वाला विधि के अनुसार स्तम्भ, द्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृह का निर्माण करे ॥ ६९ ॥

अभि०—एवमिति—इस प्रकार भित्ति में स्त्रीलिङ्ग और गृह में नपुंसकलिङ्ग का परिवर्त्तन कर लेना चाहिए ॥ ६९ ॥

विमर्शः—भाव यह कि 'भित्ति' स्त्रीलिङ्ग शब्द है। अतः भित्ति के निर्माण में उपर्युक्त मन्त्र में इस प्रकार संशोधन कर मन्त्र से अभिमन्त्रित करे। जैसे—'ॐ **यथाचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः। जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचला भव भित्तये नमः'** इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके भित्ति का निर्माण करे। 'इसि प्रकार ग्रह के निर्माण में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग करे। जैसे—'ॐ **यथाचलः गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः। जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलं भव गृहायः नम.'** इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके गृह का निर्माण करे ॥ ६९ ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ के बगल में चार स्तम्भों से युक्त रङ्गपीठ के प्रमाण (नाप) के बरावर मत्तवारणी बनानी चाहिए ॥ ७० ॥

---

१. क. ब. प्राज्ञो। २. ख. पश्चात्तु। ३. पठित इति।

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ।
[1]ऊत्सेधेन [2]तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम् ।। ७१ ।।

पार्श्वं इति । विशेषानुपादानात्तयोस्तुल्यम् (ना. शा. २-६५) इति च द्विवचनाल्लिङ्गाद्भाविनोर्द्वयोः पार्श्वयोरिति लभ्यते स्तम्भाश्चत्वारः बहिर्मण्डपान्निष्कासनं कृत्वा ध्रियन्ते [3]मण्डपक्षेत्राद्बहिः । तेन भित्तिच्छदावधौ स्तम्भद्वयम् । ततोऽपि बहिर्भित्तेरष्टहस्तान्तरस्तम्भापेक्षयाऽप्यष्टहस्तान्तरं स्तम्भद्वयमित्येतावदित्यष्टहस्तविस्तारा समचतुरस्रा मत्तवारणी भवति । आयामस्तु प्रमाणमिति ये वदन्ति तेषां[4] मते दैर्ध्यादष्टहस्तं विस्तारात् षोडशहस्तमित्येवं विकृष्टता रङ्गपीठस्य भवति । अन्येषां हस्तमानोऽत्र (मानमत्र) यथा रङ्गपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्रायः कार्यो मत्तवारण्याः ।। ७० ।।

अभि०—'पार्श्व' इस पद में एकवचन का प्रयोग है, किन्तु यहाँ दायें और बायें किसी पार्श्वविशेष का उपादान (ग्रहण) न होने से और अगले श्लोक में 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यम्' में 'तयोः' इस द्विवचनरूप लिङ्ग के द्वारा रङ्गपीठ के भावी दोनों पार्श्वों में, यह अर्थ प्राप्त होता है । चारों स्तम्भ मण्डप के बाहर निकालकर अर्थात् मण्डप क्षेत्र के बाहर बनाये जाते है । इसलिए भित्ति (दीवार) की समाप्ति पर दो स्तम्भ (खम्भे) और उससे भी बाहर दीवाल के आठ हाथ के अन्तर पर अर्थात् स्थित दो खम्भों की अपेक्षा भी आठ हाथ के अन्तर पर भी दो खम्भे खड़े करने चाहिए, इसप्रकार आठ हाथ चौड़ी समान चतुरस्र मत्तवारणी (बरामदा) होती है । अर्थात् आठ हाथ लम्बी और आठ चौड़ी मत्तवारणी बनानी चाहिए । और जो लोग कहते हैं कि मत्तवारणी आयताकार परिमाण की होनी चाहिए उनके मत में विकृष्ट मत्तवारणी की लम्बाई सोलह हाथ और चौड़ाई आठ होनी चाहिए, यही मत्तवारणी की विकृष्टता है, और रङ्गमण्डप की अपेक्षा मत्तवारणी की उँचाई डेढ़ हाथ परिमाण की होनी चाहिए । अन्य के मत में यहाँ एक हाथ का परिमाण माना गया है ।। ७० ।।

अनुवाद—डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) हाथ ऊँची मत्तवारणी बनानी चाहिए और उन दोनों की ऊँचाई के बराबर रङ्गमण्डप का निर्माण करना चाहिए ।। ७१ ।।

---

१. ख. ग. घ. उत्सेधेन ।
२. क. म. तया तुल्यम् ।
३. क. म. दीयन्ते ।
४. क. म. तेषामृते ।

तयोरिति द्विवचनं ज्ञापकमेतच्चरितार्थमितीह [1]नापेक्षित इति। तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान् रङ्गपीठस्य। तेन ब्रध्नभूभागापेक्षया सार्धहस्त-[2]प्रमाणोन्नतं रङ्गपीठमित्युक्तं भवति। तेन मत्तवारण्यालोकेन[3] नात्यर्थं रङ्ग-पीठस्य दुष्प्रेक्षता। एतच्चोत्सेधेनेत्येकवचनेन सूचितम्। अन्यथोत्सेधाभ्या-मित्युच्येत ॥ ७१ ॥

अभि०—'तयो;' में द्विवचन का ज्ञापक है, यह पहिले चरितार्थ हो चुका है, इसलिए यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यहाँ 'तयोः' इस द्विवचन की व्याख्या की अपेक्षा नहीं है। उस मत्तवारणी की जितनी उँचाई होगी उतनी उँचाई रङ्गपीठ की भी होनी चाहिए। इसलिए मूल भूभाग की अपेक्षा रङ्गपीठ डेढ़ हाथ परिमाण ऊँचा होता है, यह बात कही गयी है। इससे मत्तवारणी के आलोक से रङ्गपीठ की दुष्प्रेक्षता बिल्कुल नहीं होती। यह बात 'उत्सेधेन' इस एकवचन के प्रयोग से सूचित होता है। अन्यथा 'उत्सेधाभ्याम्' यह द्विवचन कहते ॥ ७१ ॥

विमर्श—मत्तवारणी शब्द का अर्थ बरामदा (बराण्डा) है। कोषग्रन्थों में मत्त-वारण शब्द मिलता है जिसका अर्थ शब्दकल्पद्रुम के अनुसार बरामदा या बराण्डा होता है। मत्तवारणी रङ्गमण्डप के बाहर के दोनों ओर के दो बरामदे है जिसके चार स्तम्भ होते हैं और ऊँचाई डेढ़ हाथ होती है। 'रङ्गपीठप्रमाणतः' अर्थात् रङ्गपीठ के प्रमाण के अनुसार उसके दोनों ओर के दो बरामदे होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार रङ्गपीठ और मत्तवारणी दोनों की उँचाई डेढ़-डेड़ हाथ होती है। आचार्य विश्वेश्वर अनावश्यक रूप से 'पार्श्वे' के स्थान पर 'पार्श्वयो।' और 'मत्तवारणी' के स्थान पर 'मत्तवारणौ' पाठ मानते हैं किन्तु उनका यह मत अविचारित एवं अयुक्तिमद् है। उन्होंने अनेकों स्थानों पर अनावश्यक रूप से पाठ बदलने का साहस किया है, जिसकी कोई उपयो-गिता नहीं थी। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि 'पार्श्वे' पद में एकवचन का प्रयोग यह बात नहीं सूचित करता कि एक ही पार्श्व में बरामदा बनाना चाहिए। क्योंकि अगले श्लोक में 'तयोः' में द्विवचन का प्रयोग होने के आधार पर दोनो किनारो पर दो मत्त-वारणियों का विधान हो जाता है। अभिनव के अनुसार मत्तवारणो रङ्गपीठ के दोनो बगल में ८×८ हाथ की वर्गाकार में फैलो हुई समचतुरस्र होनी चाहिए। कुछ आचार्य रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों के बराबर आयताकार १६×८ हाथ की मत्तवारणी मानते हैं। मत्तवारणी की ऊँचाई रङ्गपीठ के बराबर होनी चाहिए।

---

१. नापेक्षि इति।

२. क. भ. सार्धहस्तप्रमाणेनोन्नतं।

३. क. भ. मत्तवारण्यालोकनेनात्यर्थं।

प्रो० सुब्बाराव ने नाट्यमण्डप पर लिखे गये अपने निबन्ध में मत्तवारणी के सम्बन्ध में एक नवीन कल्पना प्रस्तुत की है। उन्होंने 'पार्श्वे' 'कर्त्तव्या' 'मत्तवारणी' शब्दों में प्रयुक्त एकवचन के आधार पर रङ्गपीठ के सामने एक मत्तवारणी का विधान बताया है। उन्होंने मत्तवारणी शब्द का अर्थ 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः 'अर्थात् मत्त गजों की श्रेणी किया है जो रङ्गपोठ के सामने डेढ़ हाथ ऊँची दीवाल पर चित्रित मत्त हाथियों की पंक्ति चार स्तम्बों में बंधी होती है। उहोंन्ने अपने मत के समर्थन में 'चतुः-स्तम्भसमायुक्ता' के स्थान पर 'चतुःस्तम्बसमायुक्ता' पाठ माना है। 'स्तम्ब' शब्द का अर्थ हाथियों के बांधने का का स्तम्भ (आलान) है। रङ्गपीठ के सामने अङ्कित चार स्तम्बों से युक्त मत्त वारणों की श्रेणी इन्द्र के ऐरावत गज के प्रतीक रूप हैं। उनकी यह कल्पना अलङ्करण एवं स्थापत्यकला की दृष्टि से भलेही सुन्दर एवं उपयोगिनी हो, किन्तु उनका यह मत भरत के अभिप्राय के विपरीत होने से सुग्राह्य नहीं है। डा० मनमोहन घोष तथा प्रो० मनकद ने मुख्य मण्डप के अन्तर्गत ही मत्तवारणी की कल्पना की है। उनके मतानुसार मत्तवारणी का स्वरूप निम्न प्रकार है —

(१) आयताकार

	१६ × ३२ नेपथ्यगृह	
१६ × ८ मत्तवारणी	१६ × १६ रंगपीठ	१६ × ८ मत्तवारणी
	३२ × ३२ प्रेक्षकगृह	

(२) समचतुरस्र

	१६ × ३२ नेपथ्यगृह	
	८ × ३२ रङ्गशीर्ष	
८ × ८ मत्तवारणी	८ × १६ रङ्गपीठ	८ × ८ मत्तवारणी
	३२ × ३२ प्रेक्षकगृह	

किन्तु उपर्युक्त मत भरत एवं अभिनव के सिद्धान्त के विपरीत होने के कारण ग्राह्य नहीं है। प्रो० भानु ने मत्तवारणी शब्द का अर्थ 'मत्तों का वारण करने वाली' किया है। उनका कथन है कि उन्मत्त सामाजिकों से अभिनय-प्रदर्शन की रक्षा के लिए रङ्गपीठ के सामने एक दीवाल होती थी, जिसे उन्मत्तों के वारण करने के कारण मत्तवारणीं कहते हैं। किन्तु उनका यह मत भरत एवं अभिनवगुप्त के अभिप्राय के विपरीत होने से उपादेय नहीं है। इस प्रकार अन्य मत्तों की अपेक्षा अभिनव का मत अधिक युक्तिसंगत एवं व्यावाहारिक प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार रङ्गपीठ के दोनों ओर नाटचमण्डप के बाहर चार स्तम्भों के युक्त आठ हाथ लम्बी तथा आठ हाथ चौड़ी (८ × ८ हाथ) वर्गाकार समचतुरस्र मत्तवारणी होती है। अण्य व्याख्या के अनुसार मत्तवारणी रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ दोनों के बगल में आयताकार १६ × ८ हाथ की मत्तवारणी होती है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत में दो प्रकार की कत्तवारणी होती है— आयताकार और समचतुरस्र। मत्तवारणी का अर्थ बरामदा है और बरामदा गृह के बाहर होता है अतः मत्तवारणी भी नाटचमण्डप के बाहर रङ्गपीठ के बगल में होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार मत्तवारणी का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) आयताकार मत्तवारणी

१६ × ३२
नेपथ्यगृह

१६ × ८
मत्तवारिणी

८ × ३२
रङ्गशीर्ष

८ × ३२
रङ्गपीठ

१६ × ८
मत्तवारणी

१६ × ३२
प्रेक्षकगृह

(२) समचतुरस्र मत्तवारणी

१६ × ३२
नेपथ्यगृह

८ × ३२
रङ्गशीर्ष

८ × ८
मत्तवारणी

८ × ३२
रङ्गपीठ

८ × ८
मत्तवारणी

३२ × ३२
प्रेक्षकगृह

इसी प्रकार अभिनव के मतानुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप में भी आयताकार ८ × १२ हाथ तथा वर्गाकार समचतुरस्र ८ × ८ हाथ की दो प्रकार की मत्तवारणी होती है। इसका स्वरूप चतुरस्र नाट्यमण्डप के निरूपण के अवसर पर दिया जायगा। मत्तवारणी की उँचाई रङ्गपीठ के प्रमाण के अनुसार होती है। अभिनवगुप्त ने जो 'रङ्गपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिणाम उच्छ्रायः कार्यो मत्तवारण्याः' अर्थात् रङ्गपीठ की अपेक्षा मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँची बनानी चाहिए, कहा है। यहाँ पर रङ्गपीठ से अभिनव का तात्पर्य रङ्गमण्डप से है। इस बात की पुष्टि इस कथन से होती है कि जितनी ऊँचाई रङ्गपीठ की होती है उतनी ही उँचाई मत्तवारणी की होनी चाहिए। अन्य प्रमाणों से भी यह सिद्ध होता है कि मत्तवारणी की ऊँचाई रङ्गपीठ के बराबर और प्रेक्षागृह से डेढ़ हाथ ऊँची होनी चाहिए। भरतमुनि का भी यही अभिप्राय है कि रङ्गपीठ प्रेक्षकगृह से ऊँचा होना चाहिए और मत्तवारणी रङ्गपीठ के बराबर होनी चाहिए ॥ ७१ ॥

[1]तस्यां माल्यं च धूपं च गन्धं वस्त्रं तथैव च ।
नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः ॥ ७२ ॥
[2]आयसं तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः[3] ।
भोजने [4]कृसराश्चैव [5]दातव्यं ब्राह्मणाशनम् ॥ ७३ ॥
एवं [6]विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी ।
रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ७४ ॥

माल्यधूपाद्यत्र निर्माणकाल एव देयम् । तदधिष्ठातॄणां भूतादीनामुग्रत्वेन यत्नोपचरणीयत्वात् । तदाह—विधिपुरस्कारैरिति । पुरस्कारशब्देन विधिर्वास्तुशास्त्रोक्तः ॥ ७२-७४ ॥

रङ्गपीठे कार्ये रङ्गशिरस्तावदाह—रङ्गशीर्षमिति ।

इस मत्तवारणी पर माला, धूप (गन्ध) वस्त्र और भी नाना प्रकार के पदार्थ अर्पित करना चाहिए और भूतों के प्रिय बलि देनी चाहिए ॥ ७२ ॥

अभिनव—इस मत्तवारणी पर माला, धूप आदि निर्माण काल में ही देना चाहिए, क्योंकि मत्तवारणी के अधिष्ठातृ देव भूतादि उग्रस्वभाव के होने से प्रयत्नपूर्वक उन्हें संतुष्ट करना चाहिए ॥ ७२ ॥

अनुवाद—उस मत्तवारणी के स्तम्भों के नीचे कुछ व्यक्तियों द्वारा लोहा डालना चाहिए और ब्राह्मणों को भोजन में खिचड़ी देनी चाहिए ॥ ७३ ॥

विमर्श—इस श्लोक में कुछ संस्करणों में 'आयसं' के स्थान पर 'पायसं' पाठ पाया जाता हैं । तदनुसार पूर्वार्द्ध का अर्थ होगा कि कुशल व्यक्तियों द्वारा मत्तबारणी के स्तम्भों के नीचे पायस (खीर) दिया जाना चाहिए ॥ ७३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार विधि के अनुसार पुरस्कारों अर्थात् दान आदि के साथ मत्तवारणी की रचना करनी चाहिए और उसके बाद शास्त्रोक्त प्रक्रिया के अनुसार रङ्गपीठ का निर्माण करना चाहिए ॥ ७४ ॥

अभिनव—यहाँ पर पुरस्कार शब्द से वास्तुशास्त्र में कही हुई विधि ग्रहण करनी चाहिए ॥ ७४ ॥

रङ्गपीठ के निर्माण के प्रसङ्ग में पहिले रङ्गशीर्ष को कहते हैं—

---

१. ख. तस्य माल्यञ्च वस्त्रञ्च गन्धमाल्यं तथैव च ।
२. ख. घ. पायसं चात्र ।
३. घ. कुशलाय तु ।
४. ख. घ. कुमारं चैव । ग. कृसरा चैव ।
५. ग. दातव्या ।
६. क. म. एवंविधैः ।

रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥ ७५ ॥
कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य[1] तु ।
[2]पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ॥ ७६ ॥

नेपथ्यगृहभित्तिलग्नौ स्तम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोर्यन्मुखं चतुर्हस्तान्तरं तदपेक्षया स्तम्भद्वयम् । तेषामधस्तनं काष्ठमुपरितनं चेति षड्दारूणि । यत्र षड्दारूणि तत्षड्दारुकम् । संज्ञायां कन् । तत्तेन विचित्ररचनोपेतत्वं लभ्यते । अत्र नेपथ्यगृहस्य द्वारद्वयं कार्यम् । एकं दक्षिणतः । अपरमुत्तरतः । तच्च द्वारद्वयमापादितं कूर्पराभिनत्या भवति । तत्पात्राणां विश्रान्त्यै आगच्छतां च गुप्त्यै रङ्गस्य शोभायै रङ्गशिरः कार्यम् ।

अन्ये तु—

पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डितं स्तम्भद्वयोपेतमिहाच्छपातम्[3] ।
इति षड्दारुकमाहुः ।

अनुवाद—छः लकड़ी के खम्भों से युक्त रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए। और उसमें नेपथ्यगृह के दो द्वार बनाने चाहिए तथा उसे भरने के लिए काली मिट्टी डालनी चाहिए ॥ ७५-७६ ॥

अभिनव—नेपथ्यगृह के दिवाल से लगे हुए एक दूसरे से आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भों को खड़ा करके उसका जो मुख है, उसकी अपेक्षा से चार हाथ के अन्तर पर दो और खम्भों को खड़ा करे। उसके नीचे और ऊपर दो काष्ठ ये छः काष्ठ हैं। जहाँ पर छः काष्ठ हों, उसे षड्दारुक कहते हैं। यहाँ पर षड्दारु शब्द से संज्ञा अर्थ में 'कन्' प्रत्यक्ष हुआ है। इससे विचित्र रचना से युक्त होना प्राप्त होता है (सूचित होता है)। यहाँ नेपथ्यगृह के दो दरवाजे बनाने चाहिए। एक दक्षिण की ओर और दूसरा उत्तर की ओर और। वे दोनों द्वार कुहनी की तरह मुड़े हुए होने चाहिए। इस प्रकार पात्रों के विश्राम के लिए तथा आने वाले पात्रों की रक्षा के लिए एवं रङ्गपीठ की शोभावृद्धि के लिए रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए।

दूसरे व्याख्याकार कहते हैं कि—दोनों पार्श्वों (किनारों) के ऊपर और नीचे के दो काष्ठों से सुशोभित दो खम्भों से युक्त अच्छी तरह से बना हुआ 'षट्दारुक' कहलाता है। अर्थात् पार्श्वों के दो स्तम्भ, उनके ऊपर-नीचे के दो काष्ठों से सुशोभित और बीच के दो स्तम्भों से युक्त छः काष्ठों को षट्दारुक कहते हैं।

---

१. क. ज. नेपथ्यस्य गृहस्य च । २. ख. पुरेण ।
३. क. पातकम् ।

अन्ये (अत्र)तूहः[1] स्तम्भशिरसो दूरं[2] निर्गतं काष्ठम्। प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुलाः[3]। निर्यूहस्तु तुलान्तान्निस्सृताः फलकभित्तिमयाः आकाशे भित्त्याकारोच्छ्रितकाष्ठः संजवनोपेतः व्यूहः। स्तम्भाश्रिताः सिंहादयो व्यालादयश्चाबन्धाः कुहराणि पर्वतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणीति षड्दारुकम्। सर्वत्र च पक्षे दक्षिणोत्तरगतं द्वारद्वयं पात्राणां प्रवृत्तिभेदकृतात्प्रदक्षिणाप्रदक्षिणप्रवेशत्वात्॥ ७५॥

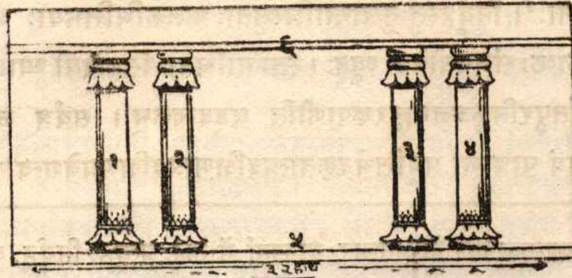
अन्य व्याख्याकार के अनुसार दारुकर्म में ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, व्यूह (संजवन) संव्यूह (अनुबन्ध) कुहर नामक छः काष्ठ 'षट्दारुक' है। स्तम्भ के ऊपर के सिरे से दूर तक निकला हुआ काष्ठ 'ऊह' कहलाता है। उस काष्ठ से आगे निकली हुई तुला 'प्रत्यूह' कहलाती है। तुला के बाहर दो खम्भों के मध्य हुए भित्ति सदृश फलक (चौखट) को 'निर्यूह' कहते हैं। आकाश में अर्थात् ऊपर की ओर भित्ति के समान चतुःशाल फलक को सञ्जवन या व्यूह कहते है। खम्भों पर बने हुए सिंह, गज, सर्प आदि के चित्र को अनुबन्ध या संव्यूह कहते हैं। पर्वत, नगर, कुञ्ज, गुफा आदि का फलकों पर अङ्कन 'कुहर' कहलाता है। वे ही छः काष्ठ 'षट्दारुक' हैं। इन सभी पक्षों में पात्रों की प्रवृत्ति की भिन्नता के कारण दायें और बायें से प्रवेश के लिए दक्षिण और उत्तर की ओर दो दरवाजे बनाने चाहिए॥ ७५–७६॥

विमर्श—नाट्यगृह में रङ्गपीठ के पहिले छः काष्ठों से युक्त रङ्गशीर्ष की रचना करनी चाहिए। छः काष्ठों को 'षट्दारुक' कहते है। अभिनवगुप्त ने 'षट्दारुक' की तीन व्याख्याएँ की हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार नेपथ्यगृह की दीवाल से लगे हुए एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर दो खम्भे खड़े करने चाहिए। उसके पास चार-चार हाथ की दूरी पर दो और खम्भे खड़े करने चाहिए। इन चारों खम्भों के ऊपर और नीचे दो और काष्ठ लगाने चाहिए। ये छः काष्ठ-'षट्दारुक' कहलाते है। भाव यह कि पहिले दो खम्भे एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर खड़े किये जाँय। तदनन्तर उसके मुख की अपेक्षा से दोनों ओर चार-चार हाथ की दूरी पर दो खम्भे और खड़े किये जाँय। इन खम्भों के ऊपर और नीचे की ओर सरदल और चौखट के रूप में दो काष्ठ लगाये जाँय। इस प्रकार ये चार खम्भे तथा ऊपर और नीचे के दो काष्ठ मिलकर 'षट्दारुक' कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम व्याख्या के अनुसार 'षड्दारुक' का स्वरूप निम्नप्रकार है:—

---

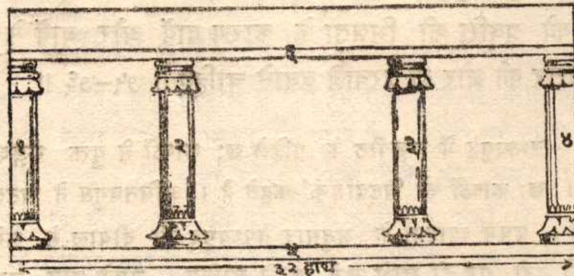
१. क. तूर्धं।
२. क. दूरं निर्गतकाष्ठादप्रत्यूहः। ङ. दूरनिर्गतं काष्ठम्।
३. क. सञ्जवनयुक्ताः सृताः आकाशे भित्तिव्याख्याः।

षट्दारुक की प्रथम-स्थिति



द्वितीय व्याख्या के अनुसार दोनों पार्श्वों भित्तियों के सहारे दो खम्भे खड़े किये जाँय और उन दोनों पार्श्वों के बीच में दो खम्भे और खड़े किये जाँय तथा दोनों पार्श्वों के ऊपर और नीचे दो काष्ठ लगाये जाँय। इन छः काष्ठों को 'षट्दारुक' कहते हैं। इस प्रकार दूसरी व्याख्या के अनुसार षट्दारुक की स्थिति निम्नप्रकार है :—

षट्दारुकको द्वितीय-स्थिति

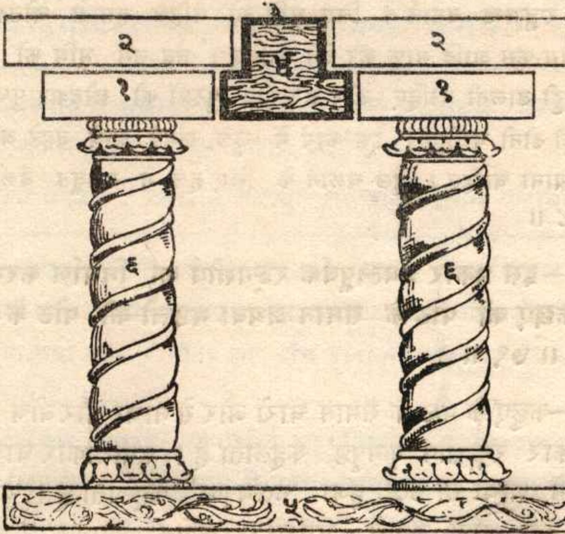


तृतीय व्याख्या के अनुसार ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, व्यूह (सञ्जवन), संव्यूह (अनुबन्ध) और कुहर नामक छः काष्ठों को 'षट्दारुक' कहते हैं। खम्भे के ऊपरी भाग से निकला हुआ काष्ठ 'ऊह' कहलाता है। उस काष्ठ से भी बाहर निकली हुई तुला को 'प्रत्यूह' कहते हैं। तुला के बाहर दो खम्भों के मध्य लगे हुए भित्ति सदृश फलक को 'निर्यूह' कहते हैं। ऊपर की ओर उठे हुए भित्ति के समान चतुःशाल फलक को 'सञ्जवन' या 'व्यूह' कहते हैं। खम्भों के ऊपर बने हुए सिंह, गज, सर्प आदि के उभरे हुए चित्र 'अनुबन्ध' या 'संव्यूह' कहलाते हैं। खम्भों के ऊपर भीतर की ओर खोदकर बनाये गये पर्वत, नगर, कुञ्ज, गुहा रूप अङ्कन 'कुहर' कहे जाते हैं। इन छः प्रकार के दारुकर्म को 'षट्दारुक' कहते हैं। तीसरी व्याख्या के अनुसार 'षट्दारुक' का स्वरूप निम्नप्रकार है :—

लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्ठतृणशर्करम्[1] ।
लाङ्गले शुद्धवर्णौ[2] तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ॥ ७७ ॥
कर्तारः पुरुषाश्चात्र[3] येऽङ्ग[4]दोषविवर्जिताः ।
अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पिटकैर्नवैः[5] ॥ ७८ ॥

शुद्धवर्णो । शुक्लौ । धुर्यौ दान्तौ ॥ ७७ ॥

षट्दारुक की तृतीय स्थिति



अनुवाद—हल से जोतकर घास, ढेले, तिनके, कंकड़ आदि को निकाल देना चाहिए । तब पाटने के लिए काली मिट्टी भरनी चाहिए । हल में श्वेतवर्ण के बलवान् दो बैलों को जोतना चाहिए ॥ ७७ ॥

अभि०—'शुद्धवर्णौ' अर्थात् सफेद वर्ण के दो 'धुर्यौ' का अर्थ—श्रेष्ठ, धुरन्धर बैलों से है ॥ ७७ ॥

अनुवाद—इस कार्य में हल चलाने वाले पुरुष ऐसे होने चाहिए, जो अङ्ग-दोष से रहित हों और जो अङ्गहीन न हों, ऐसे पुष्ट मनुष्यों के द्वारा मिट्टी ढोनी चाहिए ॥ ७८ ॥

१. ख. शर्करा । क. ठ. शर्कराम् ।
२. घ. शुद्धवर्णं ।
३. ख. पुरुषास्तत्र । क. न. पुरुषाश्चैव ।
४. क. च. शब्द ।
५. ख. पीठकैर्नवैः । ग. पीवरैर्नरैः ।

एवंविधैः[1] प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ।
कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥ ७९ ॥
[2]शुद्धादर्शतलाकारं [3]रङ्गशीर्षं प्रशस्यते ।
रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे [4]वज्रं विचक्षणैः ॥ ८० ॥
वैडूर्यं दक्षिणे पार्श्वे[5] स्फटिकं पश्चिमे तथा ।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत्[6] ॥ ८१ ॥

विमर्श—रङ्गमञ्च बनाने के लिए भूमि को पहिले हल से जोतकर उसमें से कङ्कड़, पत्थर, घास-फूस आदि साफ कर देने चाहिए । तब उस भूमि को समतल करने के लिए काली मिट्टी डालनी चाहिए और अङ्गहीन पुरुषों को छोड़कर पुष्ट (मजबूत) मनुष्यों द्वारा मिट्टी ढोनी चाहिए । इस कार्य में लूले, लंगड़े, अन्धे, बहरे आदि अङ्गहीन लोगों को नहीं लगाना चाहिए । हल चलाने के लिए हल में मजबूत बैलों को जोतना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक रङ्गशीर्ष का निर्माण करना चाहिए। रङ्गशीर्ष को कछुए की पीठ के समान अथवा मछली की पीठ के समान नहीं बनाना चाहिए ॥ ७९ ॥

अभि०—कछुए के पीठ के समान चारों ओर से नीचा और बीच में थोड़ा सा उठा हुआ गोलाकार रङ्गशीर्ष 'कूर्मपृष्ठ' कहलाता है । इसी प्रकार चारों ओर झुका हुआ और बीच में लम्बा सा उठा हुआ 'मत्स्यपृष्ठ' कहलाता है । ये दोनों प्रकार के रङ्गशीर्ष यहाँ नहीं बनाने चाहिए । अपितु समतल रङ्गशीर्ष बनाने चाहिए ॥ ७९ ॥

अनुवाद—शुद्ध आदर्श (दर्पण) तल के समान समतल रङ्गशीर्ष को श्रेष्ठ माना गया है और कुशल कारीगरों के द्वारा रङ्गशीर्ष में रत्न रखने चाहिए । पूर्व में वज्र (हीरा), दक्षिण पार्श्व में वैडूर्य, पश्चिम की ओर स्फटिक, उत्तर दिशा में प्रबाल (मूँगा) और बीच में सोना रखना चाहिए ॥८०-८१॥

अभिनव—इस प्रकार शुद्ध दर्पणतल के समान समतल रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए । रत्न तथा उनके आयुध, उनके वर्णों के अनुरूप यथायोग्य रखने चाहिए ॥ ८०-८१ ॥

---

१. ख. एवंविधैश्च कर्त्तव्यं ।
२. क. च. त. तलप्रख्यं ।
३. क. न. त. ब. रङ्गपीठं ।
४. ख. पूर्वं ।
५. ख. घ. चैव ।
६. क. न. तथा ।

एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत्[1] ।
ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥ ८२ ॥
[2]नानासञ्जवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ।
[3]ससालभञ्जिकाभिश्च समन्तात्समलङ्कृतम् ॥ ८३ ॥
[4]निर्व्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ।
नानाविन्याससंयुक्तं [5]चित्रजालगवाक्षकम् ॥ ८४ ॥
सुपीठधारिणीयुक्तं[6] कपोतालीसमाकुलम् ।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ॥ ८५ ॥

कूर्मपृष्ठमिति । समन्ततो निम्नं मध्ये च वर्तुलरूपं मन्दम् । तत्तादृगेव मध्ये दीर्घरूपं मत्स्यपृष्ठम् । तदुभयं नात्र कार्यम् ॥ ७९ ॥

समं तुल्यं कार्यम् । रत्नानि तदायुधं तद्वर्णानुरूपत्वेन यथायोगम् ॥ ८० ॥

विमर्श—वास्तुशास्त्र के अनुसार उन-उन दिशाओं के अधिष्ठातृ देवता के वर्णों के अनुरूप रत्नों को रखना चाहिए। इस प्रकार चारों दिशाओं में हीरा, वैदूर्य, स्फटिक और मूँगा तथा मध्य में सोना इन पाँच रत्नों को रङ्गशीर्ष के मूल में रखने का विधान बताया गया है ॥ ८०-८१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार रङ्गशीर्ष का निर्माण करके लकड़ी का काम प्रारम्भ करना चाहिए। ऊह-प्रत्यूह से युक्त, नाना प्रकार के शिल्पों (कारीगरी) से समन्वित, अनेक प्रकार के सञ्जवन अर्थात् भित्तिसदृश प्रतीयमान चतुःशाल काष्ठफलक से अलङ्कृत, अनेकविध सर्प, गज आदि के चित्रों से सुसज्जित, चारों ओर से सालभञ्जिकाओं अर्थात् सुन्दर पुत्तलियों से समलङ्कृत, निर्व्यूह अर्थात् उभरे हुए चित्रों एवं कुहर अर्थात् भीतर खुदे हुए चित्रों से युक्त, नाना प्रकार की वेदिकाओं से समन्वित, अनेक प्रकार की शैलियों के विन्यास से संयुक्त यन्त्रसदृश जालियों वाले खिड़कियों से सुशोभित, सुन्दर पीठ (आसनों) एवं धारणियों (शहतीरों) से युक्त, कपोताली अर्थात् कबूतरों के बैठने के स्थान से अलङ्कृत, अनेक प्रकार के फर्श पर खड़े किये गये स्तम्भों से सुशोभित काष्ठकर्म कराना चाहिए ॥ ८२-८५ ॥

---

१. ख. घ. प्रवर्तयेत् । २. ख—ख. नानाभञ्जवरोपेतं ।
३. ख. ग. अट्टाल । घ. भवेयुश्चात्र विन्यस्ता विविधाः सालभञ्जिकाः । इतः परं सार्धश्लोकद्वयं क. म. पुस्तकयोर्नास्ति ।
४. ख. घ. निर्यूह । ५. ख. ग. यन्त्र । ६. ख. धरणी ।

कृत्वेति । पूर्वं विभज्य बुद्ध्येति यावत् । दारुकर्मेत्युक्तं विभजति—ऊह-प्रत्यूहसंयुक्तमित्यादिना स्तम्भैश्चाप्युपशोभितमित्यन्तेन ।

ऊहप्रत्यूहादयः पूर्वं व्याख्याताः । अत्रोहप्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ केचिदाहुः । अनेकसालभञ्जिकाः काष्ठमय्यः कान्ता(न्त) प्रकृतयः । नानाकृतिभिर्ग्रथिताः वेदिकाश्चतुरस्रिकाः यत्र । चित्राणि जालानि चतुरस्राष्टास्रच्छिद्ररूपाणि गवाक्षाणि च वर्तुलच्छिद्रात्मकानि यत्र । पीठानि स्तम्भोपरि । तेषु धारिण्यस्तुलाः । कपोताली विटङ्कपाली । कुट्टिमस्य नानात्वं रङ्गशिरोरङ्गपीठमत्तवारणीद्वयभेदात् । सर्वत्र तथाविधदारुकम् रक्तसितनीलपीतादिभेदाद्वा ॥ ८२-८५ ॥

अभिनव—'कृत्वा' अर्थात् 'करके' इस पद का अभिप्राय है कि पहिले बुद्धि से विभ जन करके अर्थात् पहिले बुद्धि में उसका विभाग कल्पित कर (सोचकर) तब 'दारुकर्म' प्रारम्भ करे। 'ऊह-प्रत्यूह-संयुक्त' इत्यादि से लेकर 'स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्' तक चार श्लोकों में 'दारुकर्म' का विभाग करते हैं।

ऊह-प्रत्यूह आदि की व्याख्या पहिले (७५-७६ कारिकाओं की अभिनवभारती व्याख्या में) की जा चुकी है। कुछ विद्वान् यहाँ पर ऊह-प्रत्यूह का अर्थ तर्क में उपयोगी अन्वय-व्यतिरेक करते हैं।

अनेक सालभञ्जिकाओं अर्थात् काष्ठ की बनी हुई सुन्दर पुत्तलियों, नाना प्रकार की आकृतियों से निर्मित चतुरस्र वेदिकाएँ, चित्र-विचित्र चतुरस्र (चौकेने) और अठकोने छिद्र वाली जालियाँ एवं गोल छिद्रों वाले झरोखे जहाँ पर हों। पीठ अर्थात् स्तम्भों के ऊपर बनी हुई धारणी (तुलाएँ)। कपोताली अर्थात् कबूतरों के बैठने की वेदिकाओं (आसन) रङ्गशीर्ष, रङ्गपीठ और दो मत्तवारणियों के भेद से कुट्टिम (फर्श) की अनेक विधियाँ अर्थात् अनेक प्रकार के फर्श उसी प्रकार सभी जगह काष्ठ (लकड़ी) का काम होने चाहिए अथवा लाल, सफेद, नीले, पीले आदि भेद से नानाविध दारुकर्म अर्थात् लकड़ी का काम होने चाहिए ॥ ८२-८५ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार रङ्गशीर्ष के निर्माण के बाद 'दारुकर्म' अर्थात् लकड़ी का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। काष्ठकर्म का विधान ८२ से ८५ तक चार कारिकाओं में बताया गया है। नाटचशास्त्र में नाटचमण्डप के सौन्दर्य के लिए दारुकर्म का विधान बताया गया है। दारुकर्म के अन्तर्गत काष्ठ-फलकों पर अनेक प्रकार के चित्रों एवं पुत्तलियाँ बनाई जाती थी और इन्हें नाटचमण्डप में स्तम्भ, किवाड़, खिड़की, दीवार आदि अनेक रूपों में सजाया जाता था। इससे नाटचगृह का सौन्दर्य बढ़ जाता था। भरत एवं अभिनवगुप्त के अनुसार दारुकर्म ऊह-प्रत्यूह आदि से युक्त होना चाहिए। पहिले ७५-७६ कारिकाओं की अभिनवभारती में 'षट्दारुक' अर्थात् ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, व्यूह (सञ्जवन), संव्यूह (अनुबन्ध) और कुहर नामक छः काष्ठों के प्रयोग का विधान बताया गया है।

एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत्[1]।
स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ॥
[2]कोणं वा सप्रतिद्वारं [3]द्वारविद्धं न कारयेत् ॥ ८६ ॥

नागदन्तं स्तम्भोर्ध्वनीचस्थांशकं(नीडस्थाङ्कं) पुत्रिकाधारणार्थं गजमुखमिति केचित्। प्रतिद्वारमवान्तरद्वारं द्वारेण विद्धं परस्परसंमुखीभूतमध्यं न कुर्यात्। ॥ ८६-८७ (१) ॥

खम्भें के ऊपरी भाग से निकला हुआ काष्ठ 'ऊह' कहलाता है। उस काष्ठ से भी आगे निकली हुई तुला को 'प्रत्यूह' कहते हैं। तुला के बाहर दो खम्भों के मध्य लगे हुए भित्ति-सदृश फलक को 'निर्यूह' कहते है। ऊपर की ओर उठे हुए भित्ति-सदृश चतुःशाल फलक को 'सञ्जवन' या 'व्यूह' कहते हैं। खम्भों के ऊपर बने हुए सिंह, गज, सर्प आदि के उभरे हुए चित्र को 'अनुबन्ध' या 'संव्यूह' कहते हैं। खम्भों के ऊपर भीतर की ओर कुरेद कर बनाये गये पर्वत, नगर, गुहा आदि का अङ्कन 'कुहर' कहलाता है। मल्लिनाथ के अनुसार निर्यूह का अर्थ मत्तवारणी और कुहर का अर्थ 'गोख' होता है। तदनुसार 'निर्यूहकुहरोपेतम्' का अर्थ 'मत्तवारणी के गोखों से युक्त' भी हो सकता है।

कुछ विद्वान् ऊह-प्रत्यूह का अर्थ तर्क के उपयोगी अन्वय-व्यतिरेक करते हैं। उनके अनुसार दारुकर्म करते समय अन्वयव्यतिरेक अर्थात् तर्क-वितर्क करके उसके औचित्य पर विचार कर लेना चाहिए।

इनके अतिरिक्त नाट्यमण्डप में काष्ठ की अनेक प्रकार की वेदिकाएँ बनानी चाहिए जो अनेक प्रकार के सुन्दर विन्यास (अलङ्करणों) से अलङ्कृत हों। काष्ठ की सुन्दर पुत्तलियाँ जहाँ पर बनी हों। चौकोर और अष्टकोण छिद्र वाली जालियाँ और गोल छिद्र वाले झरोखे बनाने चाहिए। यन्त्र शब्द का अर्थ कुण्डी भी होता है। स्तम्भों पर बने हुए पीठ और उनके ऊपर बनी हुई तुलाओं (धारणियों) से युक्त तथा कबूतरों के बैठने की वेदिकाओं से अलङ्कृत तथा अनेक प्रकार के फर्श एवं स्तम्भों से युक्त दारुकर्म (लकड़ी का काम) कराना चाहिए। मत्तवारणी, रङ्गशीर्ष आदि को अनेक प्रकार के अलङ्कृत काष्ठों से सुसज्जित करना चाहिए ॥ ८२-८५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार काष्ठ का कार्य समाप्त करके भित्तिकर्म प्रारम्भ करे। स्तम्भ, या खूंटी अथवा खिड़की, कोण अथवा द्वार किसी दरवाजे के सामने नहीं बनाने चाहिए ॥ ८६ ॥

१. ख. ग. प्रवर्तयेत्। २. ख. कार्ष्णायसं प्रतिद्वारं। ३. ख. दारुविद्धं।

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो[1] धीरशब्दवान्[2] ॥ ८७ ॥

द्वे भूमी रङ्गपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेणेति केचित् । मत्तवारणी बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रसादाद्धा (दट्टा)रिका (देवप्रसादाट्टालिका) प्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये । उपरि मण्डपान्तरनिवेशनादित्यपरे । अद्विभूमिरित्येके । उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भं व्याचक्षते । द्वे द्वे भूमी निम्नोन्नते ततोऽप्युन्नता इति निक्रमेण (निम्नोन्नतक्रमेण) यत्र रङ्गपीठनिकटात्प्रभृति द्वारपर्यन्तं यावद्रङ्गपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति । एवं हि परस्परानाच्छादनं सामाजिकानाम् । शैलगुहाकारत्वं(त्वात्) स्थिरशब्दादित्वं च भवति । मन्दत्वं वातायनानां जलकपान(जालकपाट) योगात्कार्यम् ॥ ८७ (१) ॥

अभिनव—प्रतिद्वार का अर्थ अवान्तर द्वार (दूसरा दरवाजा) है । द्वार को द्वार से बिद्ध न करे अर्थात् एक दरवाजे को दूसरे दरवाजे के सामने न बनायें । नागदन्त का अर्थ खम्भे के ऊपर या नीचे लगाई जानेवाली खूँटी है । कुछ विद्वान् पुतली या चित्रादि के टांगने के लिए गजमुख को 'नागदन्त' कहते हैं ॥ ८६ ॥

विमर्श—भित्तिकर्म में स्तम्भ, खूंटी, खिड़की तथा अवान्तर द्वार आदि बनायें । नागदन्त का अर्थ खूंटी है । खूंटी को नागदन्त इसलिए कहते हैं कि प्राचीनकाल में खूँटियाँ हाथी के दाँत की बनाई जाती थी । मुख्य द्वार के साथ एक अवान्तरद्वार बनाना चाहिए, किन्तु अवान्तर द्वार को द्वार (दरवाजे) के सामने नहीं बनाने चाहिए ॥ ८६ ॥

अनुवाद—पर्वत की गुफा की आकार वाला द्विभूमि से युक्त तथा मन्द-मन्द हवा देने वाली खिड़कियों से युक्त, तेज हवा से रहित और गम्भीर शब्द वाला नाट्यमण्डप बनाना चाहिए ॥ ८७ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त ने द्विभूमि शब्द के अर्थ के विषय में कई मत प्रस्तुत किये हैं । प्रथम मत के अनुसार द्विभूमि शब्द का अर्थ दो भूमि अर्थात् रङ्गपीठ के नीचे और ऊपर का भूमिभाग है । दूसरे मत के अनुसार मत्तवारणी के बाहर निकले भाग के बराबर चारों ओर दूसरी भित्ति बनाकर देवमन्दिर की अट्टालिका के चारों ओर की प्रदक्षिणा-मार्ग के समान दूसरी भूमि जो बनाई जाती हैं, उसे 'द्विभूमि' कहते हैं । अन्य लोग कहते हैं कि मण्डप के ऊपर दूसरी मञ्जिल जो बनाई जाती है, उसे 'द्विभूमि' कहते हैं । कुछ विद्वान् यहाँ पर 'अद्विभूमि' (शैलगुहाकारोऽद्विभूमिः)

---

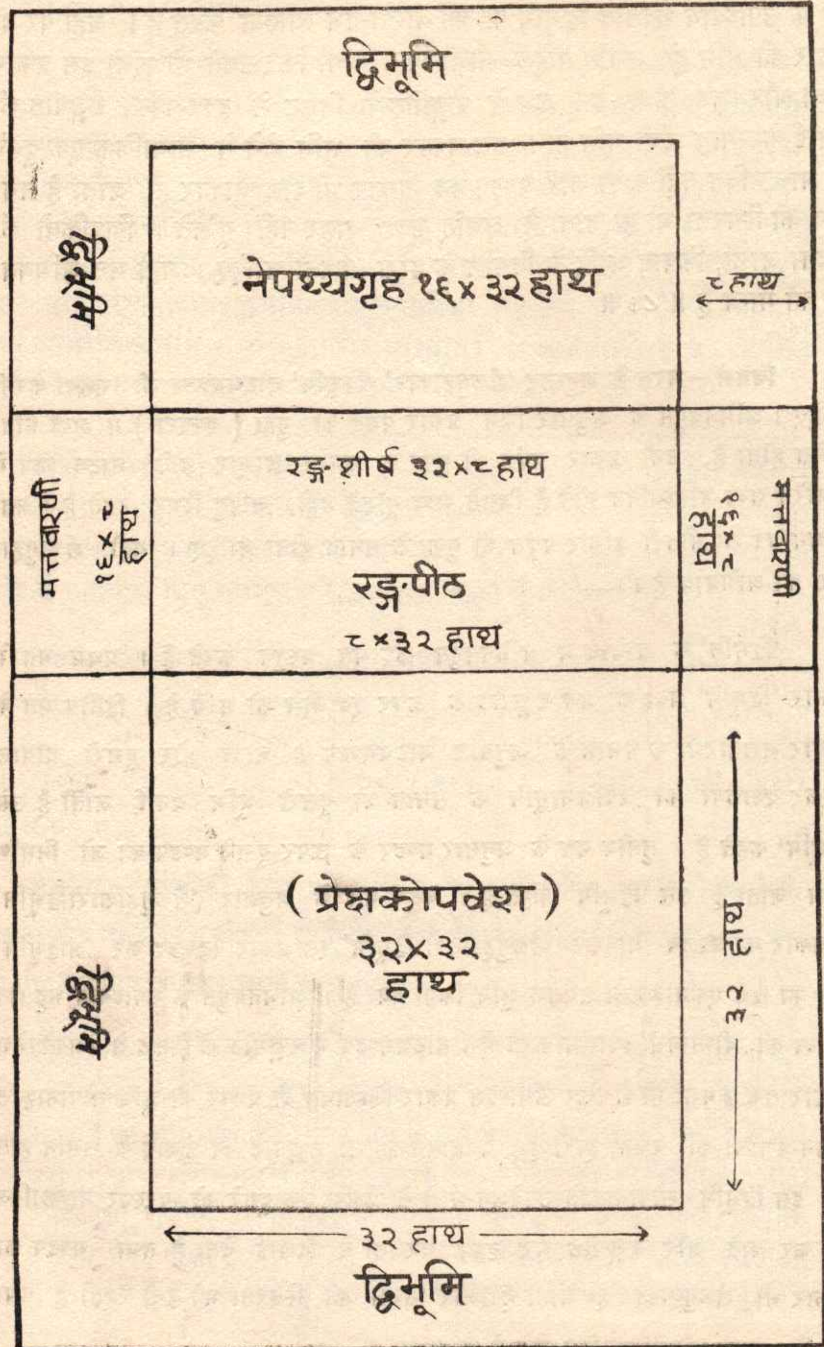
१. क. म. त. निवातो । २. ख. धीरशब्दभाक् ।

पाठ मानकर उसका अर्थ एकमञ्जिला समतल भूमि करते हैं। हमारे अर्थात् अभिनवगुप्त के उपाध्याय भट्टतौत द्विभूमि पद को वीप्सा-गर्भ व्याख्या करते है। जहाँ पर दो प्रकार की भूमि हो अर्थात् पहिले नीची फिर ऊँचो फिर उससे भी ऊँचो इस प्रकार नोची और फिर ऊँचो इस क्रम से रङ्गपीठ के निकट से द्वार-पर्यन्त रङ्गपीठ की उँचाई के समान ऊँचो भूमि हो। इस प्रकार की भूमि होने से सामाजिक एक दूसरे को आच्छादित नहीं करते और मण्डप का आकार भी शैलगुहाकार हो जाता है तथा शब्द की स्थिरता भो हो जातो है अर्थात् शब्द बाहर नहीं गूँजते। खिड़कियों की मन्दता जाली, किवाड़ आदि के निर्माण के द्वारा करनो चाहिए। यही मत अभिनवगुप्त को मान्य है ॥ ८७ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार 'शैलगुहाकार' 'द्विभूमि' नाट्यमण्डप की रचना करनी चाहिए। अभिनवगुप्त के अनुसार जिस प्रकार पर्वत की गुहा (कन्दरा) में शब्द प्रतिध्वनित होता है, उसी प्रकार पर्वत की गुफा के समान आकार वाले नाट्यमण्डप में उच्चरित शब्द प्रतिध्वनित होते हैं जिससे शब्द गूँजते नहीं, अपितु स्थिर रहते है। अतः नाट्यमण्डप का भीतरी आकार पर्वत की गुफा के समान होना चाहिए। यही 'शैलगुहाकार' का अभिप्राय है।

'द्विभूमि' के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कई मत प्रस्तुत करते हैं। प्रथम मत के अनुसार 'द्विभूमि' शब्द का अर्थ रङ्गपीठ के ऊपर एवं नीचे की भूमि है। द्वितीय मत के अनुसार मत्तवारणी के प्रमाण के अनुसार नाट्यमण्डप के चारों ओर दूसरी दीवाल बनाकर देवालयों की प्रदक्षिणाभूमि के समान जो दूसरी भूमि बनाई जाती है उसे 'द्विभूमि' कहते हैं। तृतीय मत के अनुसार मण्डप के ऊपर दूसरे मण्डप का जो निर्माण किया जाता है उसे 'द्विभूमि' कहते हैं। चतुर्थ मत के अनुसार 'शैलगुहाकारोद्विभूमि' में अकार का प्रश्लेष मानकर 'शैलगुहाकारोऽद्विभूमि' इस प्रकार पदच्छेद कर 'अद्विभूमि' शब्द का अर्थ एकमञ्जिला समतल भूमि किया गया है। अभिनवगुप्त के उपाध्याय भट्टतौत द्विशब्द की 'वीप्सागर्भ' व्याख्या करते हैं। नाट्यमण्डप में रङ्गपीठ के निकट से प्रेक्षकोपवेश के द्वार तक क्रमशः नीची फिर ऊँची इस प्रकार निम्नोगत दो प्रकार की भूमि सोपानाकृति आसन-प्रणाली की रचना होती है। ये आसन क्रमशः रङ्गपीठ की उँचाई के समान होते हैं। इस द्विभूमि सोपानाकृति उपवेशन-शैली से प्रेक्षक एक दूसरे को परस्पर आच्छादित नहीं कर पाते और रङ्गपीठ पर दृश्य सरलता से दिखाई देता है तथा मण्डप का आकार भी शैलगुहाकार हो जाता है और 'शब्दों' की स्थिरता भी बनी रहती है तथा उच्चरित पाठ्य भी प्रतिध्वनित होते हैं ॥ ८७ ॥

अभिनवगुप्त के अनुसार द्विभूमियुक्त नाट्यमण्डप



तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति[1] ॥ ८८ ॥
भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ।
सुधाकर्म [2]बहिस्तस्य विधातव्यं प्रयत्नतः[3] ॥ ८९ ॥

कुतपः संफेटकगायकवादकसमूहः । कुर्नाट्यभूमिस्तां तपति उज्ज्वलयतीति कृत्वा । कुतं शब्दं पातीत्यन्ये । गम्भीरत्वं तत्रैव शब्दस्य भ्रमणादन्योन्यप्रतिश्रुतिकारसमारम्भसम्पूर्णाच्च ॥ ८८ ॥

भित्तिलेपो भङ्ग(शङ्ख) वालुकाशुक्तिकालेपः ॥ ८९ ॥

अनुवाद—इसलिये कारीगरों द्वारा निवात अर्थात् हवा के प्रवेश से रहित नाट्यमण्डप बनाना चाहिये, जिससे कुतुप अर्थात् गायन-वादन के स्वरों में गम्भीरता एवं सुस्वरता बनी रहे ॥ ८८ ॥

अभि०—'कुतुप' शब्द का अर्थ परस्पर सम्भाषण करने वालों तथा गायक एवं वादकों का समूह है। 'कु' का अर्थ है नाट्यभूमि, उसको जो उज्वल करता है, उसे 'कुतुप' कहते हैं। अन्य व्याख्याकर 'कुतुप' शब्द का 'कुतं शब्दं पाति रक्षति' अर्थात् जो शब्दों की रक्षा करता है उसे 'कुतुप' कहते हैं, यह अर्थ करते हैं। स्वरों की गम्भीरता शब्द के नहीं घूमने के कारण तथा परस्पर एक दूसरे के उत्तर-प्रत्युत्तर के समारम्भ के कारण होती है ॥ ८८ ॥

विमर्श—भाव वह कि नाट्य में अभिनेताओं के परस्पर वार्तालाप तथा गायक एवं वादकों के गायन-वादन करने के कारण नाट्यमण्डप की शोभा बढ़ती है और वे ही शब्दों की रक्षा करते हैं, इससे स्वरों की गम्भीरता बनी रहती है, इसलिए 'निर्वात' नाट्यमण्डप बनाना चाहिए ॥ ८८ ॥

अनुवाद—भित्ति-रचना की विधि पूरा करके भित्ति पर लेप (प्लास्टर) कराना चाहिए और उसके बाहर प्रयत्नपूर्वक चूने से पुताई कराये ॥ ८९ ॥

अभि०—भित्तिलेप अर्थात् टूटे हुए शंख, बालू और शुक्तियों के चूर्ण से भित्ति पर प्लास्टर कराना चाहिए ॥ ८९ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्यमण्डप की भित्ति (दीवाल) बन जाने पर उस पर शंख, बालू, सुतुही आदि के चूर्ण से प्लास्टर कराना चाहिए और तदनन्तर सफेद चूने से पोताई करानी चाहिए ॥ ८९ ॥

---

१. ख. गाम्भीर्यं सुस्वरत्वं च कुतुपस्य भवेदिति । २. क. ठ. विधिस्तस्य ।
३. ख. घ. सुधाकर्मं तथैवास्य कुर्याद्बाह्यं प्रयत्नतः ।

भित्तिष्वथ[1] विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः ।
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत्[2] ॥ ९० ॥
[3]चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ।
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ॥ ९१ ॥
एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्मप्रयोक्तृभिः ।
[4]पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ॥ ९२ ॥

लताबन्धा[6] द्रुमलतादिबन्धसन्निवेशा वा मालत्यादिलतागतातोद्यवेष्टन-वैचित्र्यप्रकारवक्ष्यमाणपिण्डीबन्धप्रकारविशेषाश्च ॥ ९१ ॥

एतदुपसंहरति—एवं विकृष्टमिति ।

अनुवाद—इसके बाद भित्तियों (दीवारों) पर लेप (प्लास्टर) तथा चारों ओर से परिमार्जित कराने के बाद (दीवार के समतल एवं सौन्दर्ययुक्त हो जाने पर) उस पर (भित्ति पर) चित्राङ्कन (चित्र-रचना) करना चाहिये । चित्रकारी में पुरुषों और स्त्रियों के चित्र बनाने चाहिये तथा लताबन्ध एवं भोग-विलास सम्बन्धी चरित्रों का अङ्कन करना चाहिये ॥ ९०-९१ ॥

अभि०—लताबन्ध अर्थात् द्रुम (वृक्ष) लता आदि के रचना-विशेष से सन्निवेश अथवा मालती आदि लताओं के वाद्यों के वेष्टन की विचित्र प्रकार (शैलियों) अथवा आगे कहे जाने वाले पिण्डीबन्ध के विशेष प्रकारों (शैलियों) का चित्रण करें ॥ ९१ ॥

विमर्श—यहाँ द्रुमलतादि की जगह द्रमिडादि पाठभेद पाया जाता है । तदनुसार इसका अर्थ होगा—कामशास्त्र में वर्णित द्रमिड अभिनय के शैलियों के सन्निवेश अथवा मालती आदि लताओं के वायु से प्रेरित वेष्टन के विचित्र प्रकारों अथवा आगे कहे जाने वाले पिण्डीबन्ध के विशिष्ट प्रकारों का भित्तियों पर अङ्कन करना चाहिए ॥ ९१ ॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार नाट्यगृह-निर्माताओं द्वारा विकृष्ट नाट्यगृह बनाना चाहिए । अब मैं चतुरस्र नाट्यगृह का लक्षण कहूँगा ॥ ९२ ॥

---

१. ख. घ. भित्तिष्वपि च लिप्तासु । क. न. भित्तिकर्मसु लिप्तासु ।
२. ख. घ. प्रवर्त्तयेत् ।   ३. क. च. चित्रकर्माणि ।
४. क. म. भ. चात्र ।   ५. ख. घ. अतः परं प्रवक्ष्यामि ।
६. द्रमिडभिक्षय सन्निवेशा इति पाठान्तरम् ।

[1]समन्ततश्च कर्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव तु ।
शुभभूमिविभागस्थो नाटचज्ञैर्नाटचमण्डपः ।। ९३ ।।

यद्यपि समचतुरश्रोऽत एव शक्य ऊहितुं तथापि विस्पष्टार्थं वक्ष्यामीत्याशयेन पुनःशब्देनोपक्रमते—पुनरेवेति ।

ननु विकृष्टे स्तम्भविभागरङ्गयोजनादि नोक्तं तत्कथं प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्कायामावृत्त्याऽनेनैवोत्तरं—चतुरस्रसम्बन्धि यल्लक्षणं तत्पुनर्यस्माद्वक्ष्यामो यदस्य विकृष्टस्य सम्बन्धित्वेन तस्मान्नापूर्णं विकृष्टलक्षणम् । तथा यदस्य लक्षणमुक्तं तच्चतुरश्रेऽपि सञ्चारणीयमिति पुनश्शब्देन दर्शयति । तेनातिदेशा(शम)नागतापेक्षणाख्यं तत्र युराति (योजयति) ।। ९२ ।।

चतुरस्रमाह—समन्तत इति ।

अभि०—यद्यपि इससे अर्थात् इस विकृष्ट नाट्यमण्डप-रचना के वर्णन से समचतुरस्र नाट्यमण्डप का भी अनुमान किया जा सकता है, तथापि उसे स्पष्ट करने के लिए 'पुनः कहूँगा' इस आशय से 'पुनः' शब्द से उपक्रम करते हैं—

अब प्रश्न यह उठता है कि विकृष्ट नाट्यमण्डप में स्तम्भ-विभाग और रङ्गयोजना की व्यवस्था को नहीं कहा गया है तो उसे कैसे समझा जा सकता है ? इस प्रकार की शङ्का होने पर आवृत्ति के पुनः शब्द से उत्तर दिया गया है। चतुरस्र नाट्यमण्डप सम्बन्धी जो लक्षण है उसे फिर जब इस विकृष्ट नाट्यमण्डप के सम्बन्धी के रूप में कहेंगे तब विकृष्ट नाट्यमण्डप का लक्षण अपूर्ण नहीं रहता और जो इस विकृष्ट नाट्यमण्डप का लक्षण है उसे चतुरस्र में भी सञ्चारण कर लेना चाहिए, यह बात पुनः शब्द के द्वारा दिखलाते हैं। इससे अतिदेश और अनागताक्षेपण की उसमें योजना कर लेनी चाहिए ।। ९२ ।।

विमर्श—भाव यह कि विकृष्ट नाट्यमण्डप में स्तम्भ-विभाग तथा रङ्गयोजना आदि की व्यवस्था का वर्णन नहीं किया गया है अतः चतुरस्र नाटचमण्डप के लक्षण में उनके निर्माण की समग्र विधि एवं स्तम्भ-विभाग और रङ्गयोजना आदि की व्यवस्था का स्पष्ट वर्णन किया जायगा । इसीलिए भरतमुनि ने विकृष्ट नाटचमण्डप के स्तम्भ दि एवं प्रेक्षकोपवेशनादि की व्यवस्था को चतुरस्र नाटचमण्डप के समान समझने का उल्लेख किया है । अतः चतुरस्र नाटचमण्डप का लक्षण बताना आवश्यक हैं ।। ९२ ।।

अब चतुरस्र नाटचमण्डप का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—नाटच-विशेषज्ञों द्वारा शुद्ध भूमि का विभाग करके उसमें चारों ओर से बत्तीस हाथ के प्रमाण का चतुरस्र नाटचमण्डप का निर्माण करना चाहिये ।।। ९३ ।।

---

१. ख. घ. समन्ततस्तु कर्त्तव्यो हस्तो ।

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मङ्गलानि[1] च।
विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरस्रेऽपि कारयेत्[2] ॥ ९४ ॥

चतुरस्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च।
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा ॥ ९५ ॥

समन्तत इति—सर्वेष्वन्तेषु चतसृष्वपि दिक्ष्वित्यर्थः ॥ ९३ ॥

प्रविभज्य चेति। पूर्ववदेवेत्यर्थः ॥ ९५ ॥

यदि बाह्यतो भित्तिरभ्यन्तरे किमित्याह—तत्राभ्यन्तर इति।

अभि०—'समन्ततः' का अर्थ है—चारों ओर चारों दिशाओं में चतुरस्र नाट्यमण्डप बनाना चाहिए ॥ ९३ ॥

अनुवाद—पहिले विकृष्ट नाट्यमण्डप के प्रकरण में जो विधि, लक्षण और जो माङ्गलिक विधि-विधान कहे गये हैं वे सब चतुरस्र नाट्यमण्डप में करवाये ॥ ९४ ॥

अनुवाद—चतुरस्र भूमि को समतल करके और सूत्र (डोरी, रस्सी) से उसका विभाजन करके बाहर की ओर चारों ओर से सटी हुई पक्की ईंटों से मजबूत दीवाल बनाये ॥ ९५ ॥

अभि०—प्रविभज्य का अभिप्राय है—पहिले की तरह विभाग करके ॥ ९५ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि विकृष्ट नाट्यमण्डप के निर्माण में जो जो विधियाँ कही गई हैं उन-उन विधियों के अनुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप का भी निर्माण करना चाहिये और जो विधान वहाँ (विकृष्ट नाट्यमण्डप के प्रकरण में) नहीं बताये गये हैं उन्हें चतुरस्र नाट्यमण्डप के प्रकरण में कहेंगे। स्तम्भ-विधान तथा प्रेक्षकोपवेशन-विधान पहिले नहीं बताया गया है अतः उनका यहाँ निरूपण करेंगे। स्तम्भ-स्थापन का सामान्य विधान तो विकृष्ट नाट्यमण्डप के प्रकरण में बताया जा चुका है। यहाँ छत रोकने की दृष्टि से स्तम्भ-स्थापन तथा प्रेक्षकों के बैठने के लिए आसन-विधि का वर्णन विस्तारपूर्वक विशेष रूप से कहेंगे अर्थात् चतुरस्र नाट्यमण्डप में कहाँ कहाँ कितने कितने खम्भे स्थापित करने चाहिए, उसका यहाँ विस्तार से वर्णन करेंगे। सबसे पहिले चतुरस्र नाट्यमण्डप की भूमि को समतल करके रस्सी से चारों चोर से ३२ × ३२ हाथ नाप कर पक्की ईंट से चारों ओर मजबूत दीवाल बनावे ॥ ९४-९५ ॥

अभि०—इस प्रकार यदि बाहर की ओर दीवार बना दी गई तो भीतर की ओर क्या करना चाहिए? इस बात को अगले श्लोक में कहते हैं—

---

१. ख. मण्डलानि। २. ख. घ. चतुरस्रस्य तान्येव कारयेन्नाट्यवेश्मनः।

[1]तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि[2] स्थिताः ।
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता[3] मण्डपधारणे ॥ ९६ ॥
स्तम्भानां बाह्यतश्चापि[4] सोपानाकृतिपीठकम्[5]।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥ ९७ ॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ।
[6]रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम् ॥ ९८ ॥

अष्टभिर्भागैः सर्वतः क्षेत्रं विभजेत् । येन चतुरङ्गफलकवच्चतुष्पष्टिकाष्ठं भवति । तत्र मध्यमकोष्ठकचतुष्के रङ्गपीठं सर्वतोऽष्टहस्तम् । तस्य पश्चिमे भागे प्राक्पश्चिमं द्वादशहस्तं दक्षिणोत्तरतो द्वात्रिंशत्करं तत्क्षेत्रमवशिष्यते । (अत्र यद्रङ्गपीठेन स्वीकृतं तद्धि हस्ताष्टकमेव ।) यदवशिष्टं क्षेत्रं तन्मध्याद्रङ्गपीठ-निकटगतं प्राक्पश्चिमतश्चतुर्हस्तं विस्तारेण द्वात्रिंशद्धस्तं क्षेत्रांशाद्विभज्य तावत्प्र-माणमेव पश्चिमभागेऽपि षड्दारुकसंस्थानं रङ्गशिरः कुर्यात् । ततोऽपि पश्चिमे तावदेव नेपथ्यग्रहणम्(गृहम्) ।

अनुवाद—इसमें भीतर की ओर रङ्गपीठ पर नाट्यगृहनिर्माताओं द्वारा मण्डप को धारण करने में समर्थ दश स्तम्भों को स्थापित करना चाहिए ॥ ९६ ॥

अनुवाद - स्तम्भों के बाहर की ओर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंटों और लकड़ियों के द्वारा सीढ़ियों के आकार के आसन बनाना चाहिए ॥ ९७ ॥

अनुवाद—भूमिभाग से एक हाथ ऊँची उठी हुई आसन (प्रेक्षकोपवेशन) बनाये, जिससे रङ्गपीठ को (रङ्गपीठ के दृश्य को) अच्छी तरह देखा जा सके ॥ ९८ ॥

अभि०—चतुरस्र नाट्यमण्डप के क्षेत्र को चारों ओर से आठ भागों में विभाजित करे, जिससे चतुरङ्ग (शतरञ्ज) के चौपड़ के पट्ट (फलक) की तरह चौंसठ कोष्ठ का क्षेत्र बन जाय। उसमें बीच के चार कोष्ठकों में चारों ओर से आठ हाथ का रङ्गपीठ बनाये। उसके पश्चिम (पिछले) भाग में पूर्व-पश्चिम बारह हाथ का और उत्तर-दक्षिण बत्तीस हाथ का क्षेत्र बच जाता है। इसमें

---

१. क-न. कृताभ्यन्तरतः कार्यं रङ्गपीठं यथाविधि ।
२. ख-घ. रङ्गपीठे यथादिशम् । क-प. रङ्गपीठे यथादृढम् ।
३. ग. शस्ता मण्डपधारणे । क-त. शक्या मण्डपरक्षणे । क-ब. शस्ता मण्डपलक्षणे । क-न. शुभा मण्डपधारिणः । ४. ख. बाह्यतः स्थाप्यं ।
५. क-त. सोपानकृतपीठकम् । क-म. सोपानकृतिपीठकम् ।
६. ख. रङ्पीठविलोक्यं च कुर्यादासनिकं विधिम् ।

एवं स्थिते रङ्गपीठं लक्षयित्वा दश स्तम्भाः षड्दारुकस्तम्भव्यतिरिक्ता-देयाः। तत्र कोणचतुष्टये तावच्चत्वारः। तत्राग्नेयस्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिणदिश्येकः स्तम्भः। तथैव नैर्ऋतस्तम्भाद् द्वितीयः। एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम्। पूर्वभागे ऐशानाग्निगतात्स्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयमिति षट्। कोणगाश्चत्वार इति ये दश त एव।

बहिः समाजिकासनानि सर्वेभ्यो वा बहिः। अतिसामीप्ये दृष्टिविघातात्। अत एवाह—रङ्गपीठावलोकने साधुभूतमिति। अनेन द्विभूमित्वमेवानु-संहितम्॥ ९६-९८॥

रङ्गपीठ के भीतर का जो भाग है वह आठ हाथ का ही होगा और जो १२ × ३२ हाथ कम बचा हुआ क्षेत्र है उसमें से रङ्गपीठ के निकट का पूर्व-पश्चिम चार हाथ का और चौड़ाई में बत्तीस हाथ के क्षेत्रांश का विभाग करके पश्चिम भाग में उतने ही प्रमाण का षट्दारुक रङ्गशीर्ष का निर्माण करे और उसके भी पश्चिम में जितना अवशिष्ट भाग है उतने में ही (८ × ३२ हाथ) नेपथ्यगृह का निर्माण करे।

ऐसी स्थिति में रङ्गपीठ को लक्ष्य करके षड्दारुक स्तम्भों के अतिरिक्त दस स्तम्भ और स्थापित करने चाहिए। उसमें से चारों कोनों में चार स्तम्भ खड़ा करे। उनमें आग्नेय कोण के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दक्षिण दिशा में एक स्तम्भ खड़ा करे। उसी प्रकार नैऋत्य कोण के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दक्षिण दिशा में दूसरा स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार वायव्य और ईशान कोण को चार हाथ की दूरी पर उत्तर-दिशा में दो स्तम्भ लगाये। ईशान कोण तथा अग्निकोण के स्तम्भों से चार हाथ की दूरी पर पूर्व दिशा में दो स्तम्भ स्थापित करे, इस प्रकार छः स्तम्भ होते हैं। इस प्रकार ये छः स्तम्भ और चारों कोनों के चार स्तम्भ मिलकर दस स्तम्भ होते हैं।

इन दस स्तम्भों के अथवा सभी स्तम्भों के बाहर सामाजिकों के लिए आसन बनाये क्योंकि अत्यन्त समीप होने से दृष्टि अर्थात् देखने में बाधा होती है। इसीलिए कहा गया हैं—रङ्गपीठ के अवलोकन में सुविधाजनक इससे नाट्यमण्डप के द्विभूमित्व का ही समर्थन होता है॥ ९६-९८॥

विमर्श—समचतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण के सम्बन्ध में कहा गया है कि विकृष्ट नाट्यमण्डप के निर्माण में जो विधान बताये गये हैं वे सभी चतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण में भी समझ लेने चाहिए और जो विधान वहाँ नहीं बताये गये हैं उन्हें यहाँ चतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण के प्रसङ्ग में कहेंगे। वहाँ मुख्यरूप से दो बातें नहीं कही गई है—एक स्तम्भ-रचना का विधान और दूसरी प्रेक्षकोपवेशन के लिए आसनविधि। यहाँ इन दोनों का स्पष्ट विवेचन करेंगे।

[1]षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान्यथादिशम् ।
विधिना [2]स्थापयेत्तज्ज्ञो दृढान्मण्डपधारणे ।। ६६ ।।

अन्तरे स्तम्भविधिमाह—षडन्यानिति ।

प्रथम चतुरस्र नाटयमण्डप के लिए भूमि को समतल करके चारों ओर डोरी से बत्तीस-बत्तीस (३२ × ३२) हाथ नापकर चारों ओर पक्की दीवाल बनाये। फिर चतुरस्र भूमिक्षेत्र को चारों ओर से आठ-आठ भागों में विभक्त करे। इससे चार-चार हाथ के आकार वाले चौसठ कोष्ठक बन जाँयगे। उनमें से बीच के चार कोष्ठकों में रङ्गपीठ का निर्माण करे। इस प्रकार रङ्गपीठ का क्षेत्र ८ × ८ हाथ का चतुरस्र होगा। इस प्रकार बीच में रङ्गपीठ बनाने पर आगे और पीछे दोनो ओर ३२ × १२ हाथ का क्षेत्र बचता है। रङ्गपीठ के आगे के ३२ × १२ हाथ का क्षेत्र प्रेक्षकों के बैठने के लिए होगा और पीछे के ३२×१२ हाथ के क्षेत्र में से रङ्गपीठ के पास सटे हुए ३२×४ हाथ के क्षेत्र में रङ्गशीर्ष का निर्माण करे। शेष उसके पीछे के ३२ × ८ हाथ के क्षेत्र में नेपथ्यगृह बनाये। इस प्रकार चतुरस्र नाटयमण्डप का निर्माण करे।

स्तम्भ-स्थापन—चतुरस्र स्तम्भ-विधान नाटयमण्डप के मध्य में ८ × ८ हाथ का रङ्गपीठ बनाये। रङ्गपीठ के चारों कोनों पर चार स्तम्भ स्थापित करे। फिर अग्निकोण के स्तम्भ से दक्षिण चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार नैऋत्य कोण के स्तम्भ से दक्षिण चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार वायव्य कोण के स्तम्भ से उत्तर की ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे और ईशान कोण के स्तम्भ से उत्तर की ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे तथा इसी ईशान कोण के स्तम्भ से पूर्व की ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार अग्निकोण के स्तम्भ से पूर्व की ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इस प्रकार कुल दस स्तम्भ होते है। ये स्तम्भ षड्दारुक से अतिरिक्त होंगे।

प्रेक्षकोपवेशन स्थान—इन दस स्तम्भों के बाहर ३२ × १२ हाथ के क्षेत्र में सामाजिकों के बैठने के लिए आसन बनाये अथवा सभी स्तम्भों के बाहर प्रेक्षकों के बैठने के लिए आसन बनाये। यह आसन सोपानाकृति बनाना चाहिए जिससे सामाजिकों को रङ्गपीठ के दृश्य को देखने में सुविधा हो और प्रेक्षकों को किसी प्रकार की बाधा न हो।। ९६-९८ ।।

इसके बाद बीच के अन्य स्तम्भों की विधि को कहते हैं—

अनुवाद—तदनन्तर शिल्पवेत्ता मण्डप को धारण करने में दृढ़ छः और दूसरे स्तम्भों को दिशाओं के अनुसार स्थापित करे ।। १०१ ।।

१. ख. षडन्यान् सुन्दरान् दद्यात् । क–प. म. षडन्यान्सान्तरान्दद्यात् ।
२ ख. स्थापयेत्प्राज्ञो गूढा मण्डपधारणे । ग. धारयेत्तज्ज्ञो ।

अष्टौ स्तम्भान्पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्[1] ।
[2]स्थाप्यं चैव ततः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः[3] ॥ १०० ॥
विद्धास्यमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत्[4] ।

रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरौ अन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ । तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्वस्तम्भः ततश्चतुर्हस्तान्तरं दक्षिणस्तम्भं कुर्यादिति पूर्वन्यस्तानां दक्षिणस्तम्भानां दक्षिणभित्तेश्चान्तराले स्तम्भत्रयम् । एवमुत्तरस्यामपि ॥ ९९ ॥

अभि०—रङ्गपीठ के दक्षिण की ओर स्थापित दोनों स्तम्भों से चार हाथ की दूरी पर और परस्पर एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ स्थापित करे। अग्निकोण के स्तम्भ के सामने जो दूसरा पूर्व का स्तम्भ है उससे चार हाथ को दूरी पर दक्षिण में दक्षिण-स्तम्भ स्थापित करे। इस प्रकार पूर्व में स्थापित किये गये दक्षिण-स्तम्भों और दक्षिण-भित्ति के मध्य में तीन स्तम्भ हुए। इसी प्रकार उत्तर की ओर भी तीन स्तम्भ स्थापित किये जाँय। इस प्रकार ये छः स्तम्भ हुए ॥ ९९ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार कारीगर उन दस स्तम्भों के अतिरिक्त मजबूत और छत को धारण करने में समर्थ छः और स्तम्भों को स्थापित करे। अभिनव ने शंकुक के मत से उन स्तम्भों के लगाने के स्थान निर्धारित किये हैं। उनके अनुसार रङ्गपीठ के दक्षिण की ओर जो दो स्तम्भ स्थापित किये गये हैं उन दोनों स्तम्भों से दक्षिण की ओर चार-चार हाथ की दूरी पर दो और स्तम्भ खड़े किये जाँय। तदनन्तर अग्निकोण के सामने पूर्व की ओर चार हाथ की दूरी पर तीसरा स्तम्भ खड़ा करे। इस प्रकार दक्षिण के स्तम्भों और दक्षिण के दीवाल के मध्य तीन स्तम्भ और लगाये। इसी प्रकार उत्तर की ओर जो दो स्तम्भ पहिले लगाये गये थे उनके उत्तर चार हाथ कीं दूरी पर दो स्तम्भ और खड़ा करे। फिर ईशान कोण के स्तम्भ से पूर्व की ओर जो स्तम्भ खड़ा किया गया था उसके उत्तर की और चार हाथ की दूरी पर तीसरा स्तम्भ खड़ा करे। इस प्रकार उत्तर की ओर पहिले लगाये गये स्तम्भों और उत्तर भित्ति के मध्य तीन स्तम्भ और लगाये। इस प्रकार दक्षिण के तीन स्तम्भ और उत्तर के तीन स्तम्भ मिलकर ये छः स्तम्भ होते हैं ॥ ९९ ॥

---

१. ख. कारयेत् २, ख. ग. घ. संस्थाप्यं च पुनः।

३. अयं श्लोकार्द्धः 'ग' पुस्तके नास्ति।

४. अयं श्लोकार्द्धः 'ख' 'ङ' पुस्तकयोर्नास्ति। क (टि०) विद्धास्यं पुनः पीठमष्टौ हस्तप्रमाणतः इति पाठान्तरम्।

तेषामुपरीति। अधिकानष्टौ दद्यात्। तत्र दक्षिणभित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तरं पूर्वस्थापितस्तम्भाद्भित्तेश्चैकं स्तम्भं दद्यात्पूर्वम्। एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिणदिग्भागे। ततः पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रङ्गभागद्वयानुसारेण द्वौ (द्वौ द्वौ)। ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ द्वावित्यष्टौ।

विद्धमास्यं मुखं यस्य तत् पद्मादिविरचितं मुखं स्तम्भेष्वष्टहस्तं पीठं निक्षिपेत। विद्धास्यास्योपरि हस्तप्रमाणधारिणीनां तुलानां[1] धारकाः आश्रया स्तम्भा इति चतुरश्रे स्तम्भविधिः।

तमेव विकृष्टे[2] त्रिकोणेषु स्वबुद्ध्या योजयेदिति श्रीशङ्कुकाद्याः।

अनुवाद—उसके बाद फिर आठ स्तम्भों को स्थापित करे और तदनन्तर उनके ऊपर आठ हाथ प्रमाण वाला पीठ स्थापित करे तथा आठ-आठ हाथों के शहतीर (पीठ) जो एक दूसरे के अन्दर घुसे हुए हों उनके ऊपर स्थापित करें ॥१००॥

अभिनव—'तेषामुपरि' आठ स्तम्भ और अधिक लगावे। उनमें से दक्षिण-भित्ति के उत्तर की ओर पूर्व स्थापित स्तम्भ से और भित्ति के चार हाथ की दूरी पर पूर्व में एक स्तम्भ और स्थापित करे। इसी प्रकार उत्तर-भित्ति के दक्षिण की ओर पूर्व स्थापित स्तम्भ और भित्ति से चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ और स्थापित करे। उसके बाद पूर्व की दीवार से चार हाथ की दूरी पर रङ्गपीठ के दो भाग मानकर उसके अनुसार दो स्तम्भ खड़ा करे। फिर उसके बाद भी चार-चार हाथ की दूरी पर दो-दो स्तम्भ और खड़ा करे। इस प्रकार कुल आठ स्तम्भ हो जाते हैं।

'विद्धास्यं' का अर्थ है—'विद्धम् आस्यं मुखं यस्य तत्' अर्थात् जिसके मुख एक दूसरे के अन्दर विद्ध (घुसे हुए) हों, पद्म आदि की रचना से युक्त मुख वाले स्तम्भों के ऊपर आठ-आठ हाथ के शहतीरों को स्थापित करे और विद्ध अर्थात् मुखों के जोड़ के ऊपर एक-एक हाथ के प्रमाण के तुलाओं (धारणियों) को रोकने वाले काष्ठखण्ड स्तम्भों पर आरोपित किये जाँय। चतुरस्र नाट्यमण्डप में स्तम्भ-स्थापन की यह विधि हैं।

उसी को विकृष्ट और त्रिकोण नाट्यमण्डप में भी अपनी बुद्धि के अनुसार योजना करे, यह शङ्कुक आदि आचार्यों का मत है।

---

१ धारकाः स्तम्भाभया इति पाठान्तरम।

२. विकृष्ट त्रिकोणेषु इति पाठान्तरम्।

चतुरस्र नाट्यमण्डप और स्तम्भ विधान

विमर्श—चतुरस्र नाट्यमण्डप चारों ओर से बराबर ३२ × ३२ हाथ का होता है। पहिले भूमि को समतल करके फिर रस्सी से चारों ओर ३२ × ३२ हाथ बराबर नापकर पक्की ईंट से चारों ओर मजबूत दीवाल बनानी चाहिए। उसके बाद बाहर दीवाल बनाकर भीतर स्तम्भों को स्थापित करना चाहिए। सर्वप्रथम नाट्यमण्डप के बाहरी चारों कोनों पर चार स्तम्भ स्थापित करे। अग्निकोण में ब्राह्मण स्तम्भ, नैऋत्य कोण में क्षत्रियस्तम्भ, वायव्य कोण में वैश्य स्तम्भ और ईशान कोण में शूद्र स्तम्भ स्थापित करे। इसके बाद भीतर की ओर २४ स्तम्भ और स्थापित करे। ये २४ स्तम्भ कहाँ और किस प्रकार लगाये जाँय? इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने शङ्कुक, भट्टलोल्लट, वार्तिककार और भट्टतौत का मत प्रस्तुत किया है। इसमें प्रथम शङ्कुक का मत प्रस्तुत करते हैं।

शङ्कुक के अनुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप का क्षेत्र-विभाजन

शङ्कुक के मतानुसार ३२×३२ हाथ के वर्गाकार नाट्यमण्डप के क्षेत्र को शतरञ्ज के फलक के समान चारों ओर से आठ-आठ बराबर भागों में बाँट दिया जाय। इस प्रकार चार-चार हाथ के ६४ कोष्ठक बन जाते हैं। इन ६४ सम भागों में विभक्त हुए क्षेत्र के बीच में ८ × ८ हाथ का चतुरस्र रङ्गपीठ बनाये। फिर रङ्गपीठ के सामने ३२ × १२ हाथ के क्षेत्र में प्रेक्षकों के बैठने के लिए सोनानाकृति आसन बनाये। रङ्गपीठ के पीछे के भाग में ३२ × ४ हाथ के क्षेत्र में रङ्गशीर्ष का निर्माण करे। तदनन्तर उसके पीछे के ३२ × ८ हाथ के क्षेत्र में नेपथ्यगृह का निर्माण करे। रङ्गपीठ के दोनो ओर पार्श्व भाग में १२ × ८ का क्षेत्र बचता है। उसे मत्तवारणी के उपयोग में लाया जाय अथवा प्रेक्षकों के बैठने के उपयोग में लाया जाय, इस पर शङ्कुक ने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

शङ्कुक के मतानुसार प्रथम दशस्तम्भ-स्थापन विधि

आचार्य भरत ने पहिले रङ्गपीठ पर दश स्तम्भों के स्थापना का निर्देश किया है। किन्तु शङ्कुक ने भरत के 'रङ्गपीठोपरि' का अर्थ 'रङ्गपीठं लक्षयित्वा' अर्थात् रङ्गपीठ को लक्ष्य कर, उसे केन्द्र मानकर दश स्तम्भों की स्थापना करे, किया है। तदनुसार रङ्गपीठ के चारों कोनों पर पहिले चार स्तम्भ स्थापित करे। तदनन्तर अग्निकोण के स्तम्भ के दक्षिण ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार रङ्गपीठ के नैऋत्य कोण के स्तम्भ के दक्षिण ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार वायव्य कोण के स्तम्भ के उत्तर ओर चार हाथ की दूरी पर एक (सातवाँ) स्तम्भ खड़ा करे। तदनन्तर ईशान कोण के स्तम्भ के उत्तर ओर चार हाथ की दूरी पर एक (आठवाँ) स्तम्भ स्थापित करे। इसके बाद रङ्गपीठ के

ईशान कोण के स्तम्भ से पूर्व की ओर चार हाथ की दूरी पर नवाँ स्तम्भ स्थापित करे। फिर अग्निकोण के स्तम्भ के पूर्व की ओर चार हाथ की दूरी पर एक (दशवाँ) स्तम्भ स्थापित करे। इस प्रकार ये दस स्तम्भ होते हैं।

शङ्कुक के अनुसार अन्य छः स्तम्भ—

भरत ने छः स्तम्भों के सम्बन्ध में लिखा है कि नाट्यशिल्पी मण्डप को धारण करने में समर्थ छः दृढ़ स्तम्भों को स्थापित करे, किन्तु उसके स्थान का निर्देश नहीं किया है। शङ्कुक ने उन छः स्तम्भों के स्थापन के स्थान का निर्देश किया है। उनके अनुसार रङ्गपीठ के दक्षिण ओर (चार हाथ की दूरी पर) जो दो स्तम्भ स्थापित हैं उनसे दक्षिण ओर चार हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ और खड़ा करे। फिर अग्निकोण के पूर्व में चार हाथ की दूरी पर जो स्तम्भ खड़ा किया गया है, उसके दक्षिण की ओर चार हाथ की दूरी पर तीसरा स्तम्भ खड़ा करे। इसी प्रकार उत्तर भाग में रङ्गपीठ के वायव्य एवं नैऋत्य कोण के उत्तर की ओर चार हाथ की दूरी पर जो दो स्तम्भ खड़े किये गये हैं उनके उत्तर की ओर चार हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ और खड़े किये जाँय। फिर ईशान कोण के पूर्व में चार हाथ की दूरी पर जो स्तम्भ खड़ा किया गया है उसके उत्तर की ओर चार हाथ की दूरी पर तीसरा स्तम्भ खड़ा करे। इस प्रकार दक्षिण की ओर के तीन स्तम्भ और उत्तर की ओर के तीन स्तम्भ हुए। इस प्रकार ये छः स्तम्भ होते हैं।

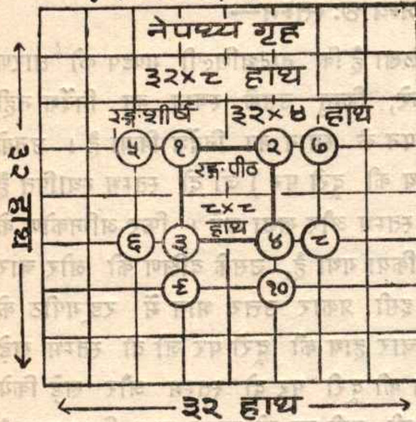
शङ्कुक के अनुसार अन्य आठ स्तम्भ—

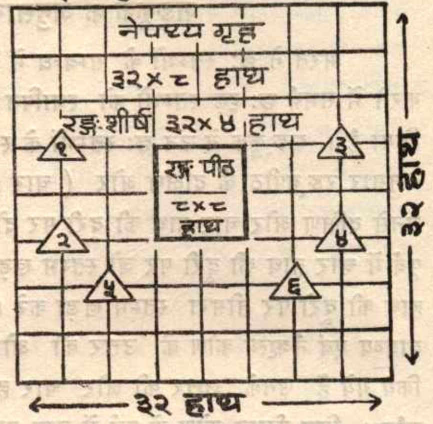
भरतमुनि ने दस और छः स्तम्भों के अतिरिक्त पुनः आठ स्तम्भों को स्थावित करने का विधान बताया है। (**अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कारयेत्—ना० शा०**) किन्तु उन्होंने उनके स्थान का निर्देश नहीं किया है। शङ्कुक ने उन आठ स्तम्भों के स्थापन का निर्देश करते हुए लिखा है कि दक्षिण-भित्ति के उत्तर की ओर तीन और दक्षिण में पूर्व स्थापित स्तम्भ के दक्षिण की ओर दोनों से चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ स्थापित करे। इसी प्रकार उत्तर की भित्ति से दक्षिण की ओर और उत्तर से पूर्व स्थापित स्तम्भ से तथा उत्तर भित्ति से चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ स्थापित करे। तदनन्तर पूर्व भित्ति से चार-चार हाथ की दूरी पर रङ्गपीठ के दोनों भाग में दो दो स्तम्भ स्थापित करे। फिर उसके बाद भी उनसे भी चार-चार हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ और खड़ा करें। इस प्रकार ये कुल आठ स्तम्भ होते हैं।

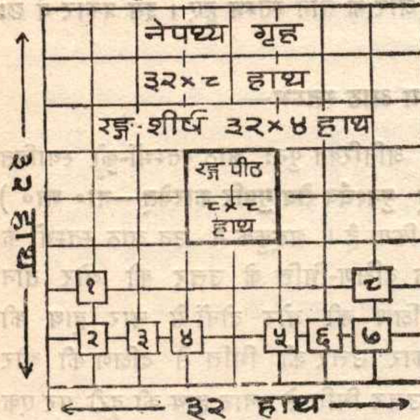
इस प्रकार शंकुक के अनुसार नाट्यमण्डप के भीतर १०×६×८=२४ (चौबीस) स्तम्भ स्थापित किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त नाट्यमण्डप के बाहर चारों कोनों पर ब्राह्मण आदि के चार स्तम्भ स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २८ स्तम्भ होते हैं।

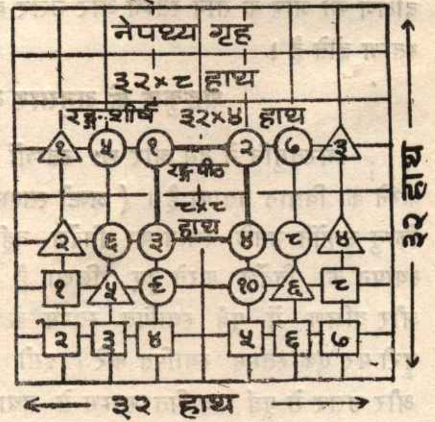
अन्ये तु—'अष्टौ स्तम्भान्पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहुः ।

शङ्कुक के अनुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप में स्तम्भ-व्यवस्था









अभि०—अन्य व्याख्याकार तो 'फिर आठ स्तम्भों को' इत्यादि कथन से इन (आठ) स्तम्भों को नेपथ्यगृह के निर्माण के विषय में कहते हैं ।

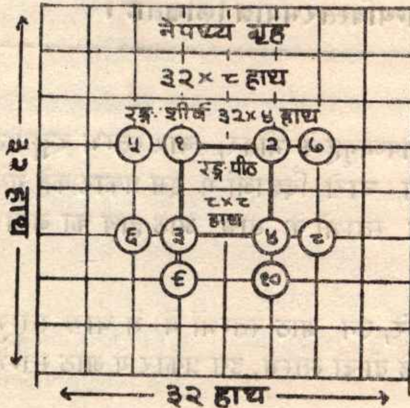
भट्टलोल्लट के अनुसार स्तम्भ-स्थापना

भट्टलोल्लट प्रभृति विद्वानों ने स्तम्भ-स्थापना के सम्बन्ध में दश स्तम्भ और छः स्तम्भों की स्थापना का विधान तो शङ्कुक के समान मानते है । किन्तु आठ स्तम्भों के स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है । भट्टलोल्लट आदि आठो स्तम्भों को नेपथ्यगृह से सम्बद्ध मानते हैं । शङ्कुक ने आठ स्तम्भों को प्रेक्षकोपवेशन वाले क्षेत्र में स्थापित करने का

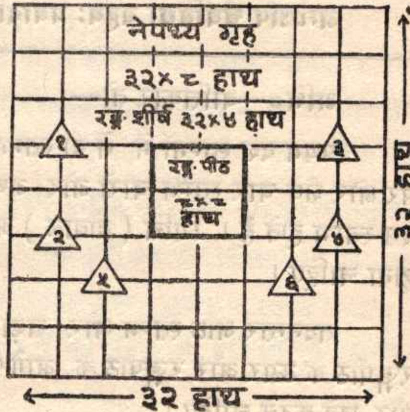
विधान बताया है किन्तु भट्टलोल्लट आदि का कहना है कि प्रेक्षकों के बैठने के स्थान में स्तम्भों को खड़ा करने से स्थान की कमी हो जाती है और प्रेक्षकों को दृश्य देखने में बाधा उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टि से भट्टलोल्लट आदि ने आठ स्तम्भों को नेपथ्यगृह में खड़ा करने का विधान बताया है। उनके मतानुसार नेपथ्यगृह के दक्षिण-भित्ति के मध्य से उत्तर की ओर चार हाथ की दूरी पर प्रथम स्तम्भ खड़ा करें, उस स्तम्भ के उत्तर की चार हाथ की दूरी पर दूसरा स्तम्भ और उससे भी चार हाथ की दूरी पर उत्तर में तीसरा स्तम्भ खड़ा करें। इसी प्रकार उत्तर-भित्ति के मध्य भाग से दक्षिण की ओर चार-चार हाथ की दूरी पर तीन स्तम्भ स्थापित करे। फिर नेपथ्यगृह के तीसरे और चौथे स्तम्भ से चार-चार हाथ की दूरी पर रङ्गशीर्ष की ओर सटे हुए दो स्तम्भ स्थापित करें। इस प्रकार आठ स्तम्भ होते हैं। भट्टलोल्लट आदि का मत अधिक वैज्ञानिक एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

भट्टलोल्लट आदि के अनुसार स्तम्भ-स्थापना-विधान

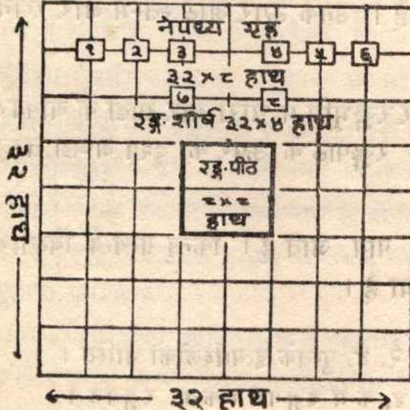
१· प्रथम दशस्तम्भ



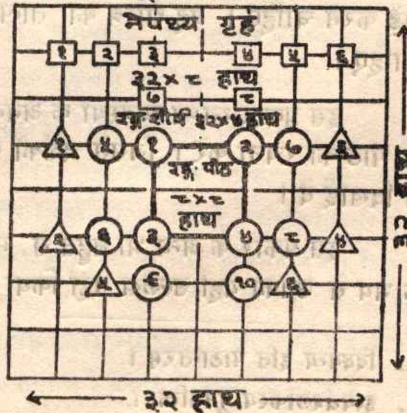
२· द्वितीय छः स्तम्भ



३· तृतीय आठ स्तम्भ



४· सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



वार्तिककृत्तु—

"अन्तर्नेपथ्यगृहं स्तम्भौ द्वौ पीठकाश्च चत्वारः ।
[1]परितोऽन्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते ॥
भित्तेः स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते ।" इति ।
[2]दत्तोऽष्यवाताथः, सोऽथा नानाभवेवुक्तः (?) ।
चत्वारः पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम् ।
[3]......पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ॥ (?)
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः ।
तैरुत्क्षिप्तैरिह तले स्यादालोकः समस्तरङ्गस्य[4] ॥
सोपानाकृतिपीठकमत्र विधेयं समन्ततो रङ्गे ।
येनालोकनसुविधा येष्वुपरि गतेषु काष्ठेषु ॥ इति ॥
अन्येऽपि चैवंविधा बहवः प्रवादा ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिताः ।

अभि०—वार्त्तिकार तो—

प्रथम दश स्तम्भों में से दो स्तम्भ नेपथ्यगृह के भीतर, चार स्तम्भ रङ्गपीठ पर और शेष चार स्तम्भ चारो ओर अथवा चारो दिशाओं में इस प्रकार कहे गये दस स्तम्भ होते हैं। भित्ति (दीवाल) और स्तम्भों के बीच आठ हाथ का अन्तर होना चाहिए।

तदनन्तर आठ स्तम्भ और खड़ा करे, उन आठ स्तम्भों में से चार स्तम्भ रङ्गपीठ के ऊपर और रङ्गपीठ के आगे-पीछे दो-दो स्तम्भ, इस प्रकार ये आठ स्तम्भ और खड़े करने चाहिए।

इनके अतिरिक्त शेष स्थानों पर आवश्यकता के अनुसार छः स्तम्भ और खड़े करने चाहिए। यह शास्त्र का तात्पर्य है। उनके ऊपर आठ स्तम्भ और रखने चाहिए।

इस प्रकार स्तम्भ-व्यवस्था के अनन्तर रङ्गभूमि में चारो ओर सीढी के आकार की पीठ की रचना करे। जिससे दर्शकों को रङ्गपीठ के ऊपर का दृश्य अच्छी तरह से दिखाई दे।

इस प्रकार के अन्य भी बहुत से मत पाये जाते हैं। किन्तु ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

---

१. दिक्ष्वन्ये इति पाठान्तरम् ।
२. ङ. पुस्तके इत्यर्धश्लोको नास्ति ।
३. इत्यर्धश्लोकस्य पुनरुक्तिः ।
४. क-म रङ्गमद्य । क-भ. रङ्गतले ।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने स्तम्भ-स्थापना के सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख करने के पश्चात् अब वार्त्तिककार के मत का उल्लेख करते हैं। वार्त्तिकार के मत में स्तम्भों के स्थापन की व्यवस्था शङ्कुकादि के मत से भिन्न प्रकार से की है। वात्तिककार के अनुसार प्रथम दश स्तम्भों में से दो स्तम्भ नेपथ्यगृह में स्थापित किये जाते हैं और चार स्तम्भ रङ्गपीठ के ऊपर खड़े किये जाते हैं। शेष चार स्तम्भ रङ्गपीठ के दोनों ओर रङ्गपीठ पर स्थापित स्तम्भों से चार-चार हाथ की दूरी पर खड़े करने चाहिए। इस प्रकार ये दश स्तम्भ होते हैं। ये स्तम्भ दीवाल से आठ हाथ की दूरी पर स्थापित होने चाहिए। शङ्कुकादि और वार्त्तिककार के मत में अन्तर यह है कि शङ्कुक के मत के अनुसार प्रथम दो स्तम्भ रङ्गपीठ के सामने की ओर लगाने का विधान है किन्तु वार्त्तिककार के मत में दोनों स्तम्भ रङ्गपीठ के पीछे नेपथ्यगृह में लगाने का विधान बताया गया है।

वार्त्तिककार के अनुसार आठ स्तम्भों में से प्रथम चार स्तम्भ रङ्गपीठ के दोनों ओर रङ्गपीठ से आठ हाथ की दूरी पर अर्थात् रङ्गपीठ पर स्थापित स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दोनों ओर दो-दो स्तम्भ पहिले खड़े किये गये है, उन स्तम्भों से दोनों ओर चार-चार हाथ की दूरी पर दो-दो स्तम्भ खड़े करने चाहिए और शेष चार स्तम्भ रङ्गपीठ के आगे-पीछे रङ्गपीठ के स्तम्भ से चार-चार हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ आगे की ओर दो स्तम्भ पीछे की ओर अर्थात् नेपथ्यगृह के स्तम्भ और रङ्गपीठ के स्तम्भ के बीच में स्थापित करने चाहिए। इस प्रकार वार्त्तिककार के मतानुसार इन आठ स्तम्भों का स्थान निर्धारित होता है।

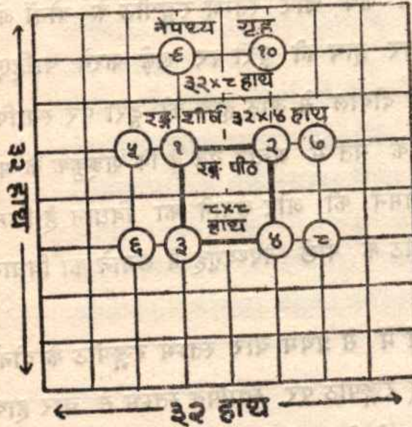
बार्त्तिककार के अनुसार छः स्तम्भों के स्थापन का कोई स्थान निर्धारित नहीं किया है। उनका कथन है कि दस और आठ स्तम्भ स्थापित करने के बाद जो स्थान शेष बचे हुए है उनमें आवश्यकता के अनुसार यथास्थान छः स्तम्भों को खड़ा करना चाहिए। वार्त्तिककार के अनुसार छः स्तम्भों के स्थापन का क्रम इस प्रकार कल्पित किया गया है कि रङ्गशीर्ष के दोनों पाश्वों में द्वार के दोनों स्तम्भों से चार हाथ की दूरी पर नेपथ्यगृह के द्वार के दोनो ओर भित्ति से चार हाथ दूरी पर दो स्तम्भ खड़ा करे। शेष दो स्तम्भ प्रेक्षकोपवेशन स्थान में दोनो ओर बगल की भित्ति से चार हाथ की दूरी पर स्थापित करे। इस प्रकार वार्त्तिककार के मतानुसार छः स्तम्भों के स्थापन का विधान बताया गया है।

इस प्रकार वार्त्तिककार के अनुसार चौबीस स्तम्भों के स्थापन की विधि बताई गई है और उनके स्थापन का स्थान निर्धारित किया गया है। चौबीस स्तम्भों के स्थान का क्रम निम्नलिखित चक्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

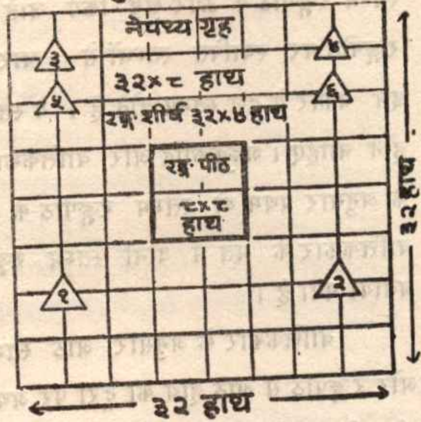
अयं चात्र सार इत्युपाध्यायाः। इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमिः रङ्गपीठं रङ्ग इति। तेषु चायं स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्तः। तथा हि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—तत्राभ्यन्तरत इति।

वार्त्तिककार के अनुसार स्तम्भ-व्यवस्था

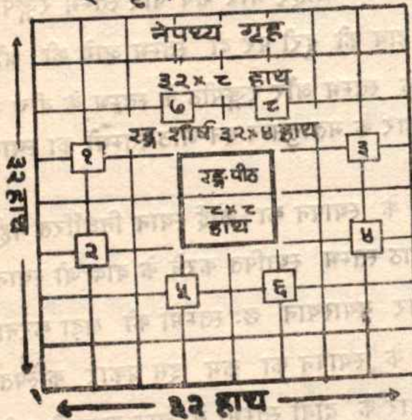
१· प्रथम दश स्तम्भ



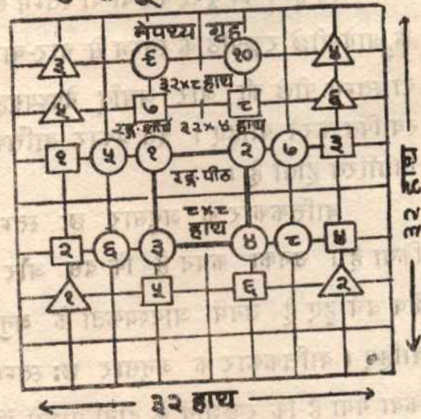
२· द्वितीय छः स्तम्भ



३· तृतीय आठ स्तम्भ



४· सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



उपाध्याय भट्टतौत का मत—

अभि०—यहाँ इस विषय का यह सार है, यहउपाध्याय भट्टतौत का मत है। यहाँ प्रेक्षागृह की तीन प्रकार की कल्पना की गई है—१—अधोभूमि अर्थात् प्रेक्षकों के बैठने की भूमि। २—रङ्गपीठ ३—रङ्गशीर्ष। उन तीनों भागों में यह स्तम्भ-स्थापन की अलग-अलग विधान कहा गया है—तदनुसार अधोभूमि अर्थात् नीचे की भूमि (प्रेक्षकोपवेश) में 'तत्राभ्यन्तरतः' इत्यादि के द्वारा स्तम्भ-स्थापन की विधि कहते हैं—

विस्तारे द्वादशहस्तायाममेवञ्च चतुर्हस्तान्तरा दातव्याः। द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरावन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योन्यं तयोरन्तरं तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येवं पञ्चतुलासु दश।

एतत्स्तम्भदशकव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह—स्तम्भानां बाह्यतश्चापीत्यादि। पूर्ववद्व्याख्येयम्।

अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—षडन्यानित्यादि। उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा(?)नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्तं भवति। रङ्पीठस्य यत्पृष्ठं रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्य(प्रवेशा)र्थम् जनप्रवेशनद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सङ्गृहीतं भवति। सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमभ्यनुजानीते।

चौड़ाई में बारह हाथ की भूमि में चार हाथ के अन्तर पर स्तम्भ खड़े करने चाहिए। दो खम्भे दोनों दीवारों की अपेक्षा बारह हाथ के अन्तर पर परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा आठ हाथ की दूरी पर खड़े करने चाहिए। उन दोनों स्तम्भों में परस्पर इस प्रकार अन्तर रखे जिससे द्वार में विद्धता न हो अर्थात् स्तम्भ दरवाजों के सामने न पड़े। इस प्रकार पांच तुलाओं में दस स्तम्भ होते हैं।

इन दस स्तम्भों के अतिरिक्त भूमि पर आसनों (बैठने के स्थान) की विधि का कथन करते हैं—**'स्तम्भानां बाह्यतश्चापि'** इत्यादि। इसकी व्याख्या पहिले की तरह करनी चाहिए।

अब रङ्गपीठ पर स्तम्भों के स्थापन की विधि को कहते हैं—'षडन्यान्' इत्यादि। ऊपर अर्थात् रङ्गपीठ के मुख से उपलक्षित अथवा नेपथ्यगृह के वायव्य कोण में (वरुण के कोण में) स्तम्भ स्थापित करे, यह कहा गया है। रङ्गपीठ का जो पृष्ठभाग अर्थात् रङ्गशीर्ष है, उस पर दूसरा स्तम्भ स्थापित करे। यहाँ एकवचन कहने से एक स्तम्भ ज्ञात होता है। इससे सिद्ध है कि दो दरवाजे ही रङ्गशीर्ष में नेपथ्य के पात्रों के प्रवेश के लिए बनाने चाहिए। चकार से अन्य लोगों के प्रवेश के लिए अर्थात् जनता के प्रवेश के लिए दूसरा द्वार बनाना चाहिए। अन्य मत से तीन दरवाजे बनाने चाहिए, यह भी सङ्गृहीत होता है। सर्व (सब) के ग्रहण से यहाँ अधिकता को दिखलाते हुए विकृष्ट नाटचमण्डप में स्तम्भों की अधिक संख्या को प्रमाणित करते हैं अर्थात् विकृष्ट नाटचमण्डप में स्तम्भों की संख्या अधिक हो सकती है।

त्र्यश्ररङ्गपीठे तु प्रतिरङ्गमध्य इति। रङ्गोऽत्र तच्छिरः। ततः पीठस्य पृष्ठतः रङ्गं यावत्परितोऽभितः परि कर्मप्रवचनीयो वर्जग(न)द्योतकः। रङ्ग-पीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य। तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रङ्गपीठं प्रतिकोण-स्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वारः। तदनन्तरं स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरं ततो द्वादशहस्तायामं यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यद्रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुलं चाष्टहस्तान्तरं स्तम्भचतुष्टयं [१]वर्जयित्वेत्यष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्तं चतुर्हस्तान्तरालेऽपि तिरश्चीनं देयम्। येन तुलितं चित्रं भवति। एतदाह—अष्टौ स्तम्भानित्यादि। रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः। तथा च विकृष्टमण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नतं वक्ष्यते। तत्र नियमादष्टस्तम्भा न्यस्यन्ते।

त्र्यस्र रङ्गपीठ में तो प्रति रङ्ग के मध्य में। यहाँ पर 'रङ्ग' पद का रङ्गशीर्ष अर्थ है। उसके पीठ से रङ्ग के चारो तरफ। अथवा यहाँ पर 'परि' कर्मप्रवचनीय है। कर्मप्रवचनीय वर्जन का द्योतक है। अतः रङ्गपीठ को छोड़कर उसके भीतर अर्थात् मण्डप के भीतर यह अभिप्राय है। वहाँ बत्तीस हाथ वाले रङ्गपीठ पर प्रत्येक कोण में स्तम्भ है, इस प्रकार आठ हाथ के दूरी पर चार स्तम्भ होंगे। उसके बाद दो स्तम्भ होंगे, इस प्रकार ये छः स्तम्भ आठ-आठ हाथ के अन्तर पर खड़ा करे। उसके बाद बारह हाथ का चौड़ा जो स्थान बचता है उसमें चार हाथ चौड़ा और बत्तीस हाथ लम्बा जो स्थान है वह रङ्गशीर्ष है, उसमें दो तुलायें देनी चाहिए। प्रत्येक तुला में आठ-आठ हाथ की दूरी पर चार स्तम्भ खड़े करने चाहिए। इस प्रकार ये आठ स्तम्भ रङ्गशीर्ष पर होते हैं। इसलिए चार हाथ की दूरी पर आठ-आठ हाथ के एक दूसरे में विधे हुए तिरछे स्तम्भ लगाने चाहिए। इससे सन्तुलित चित्र बन जाता है। यह बात 'अष्टौ स्तम्भान्' के द्वारा कहते हैं। अथवा उसके ऊपर अर्थात् रङ्गपीठ के ऊपर शिरोरूप जो भाग है अर्थात् रङ्गशीर्ष पर आठ स्तम्भ खड़ा करे, यह अभिप्राय है। विकृष्ट नाट्यमण्डप में रङ्गपीठ की अपेक्षा रङ्गशीर्ष को ऊँचा बनाना चाहिए, यह आगे कहेंगे। वहाँ नियम से आठ स्तम्भ अवश्य स्थापित करने चाहिए।

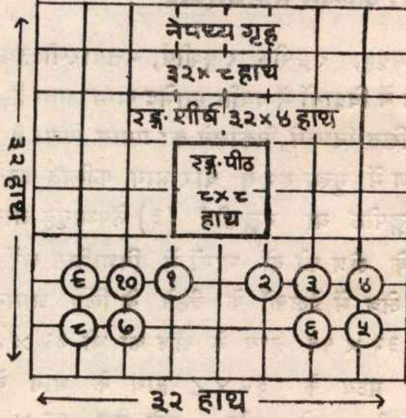
विमर्श—अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के अनुसार दस स्तम्भों के स्थापना की व्यवस्था इस प्रकार की है। उनके मतानुसार प्रेक्षागृह के तीन भाग हैं—अधोभूमि (प्रेक्षकोपवेशन स्थान), रङ्गपीठ और रङ्गशिर। उन्होंने अधोभूमि अर्थात् प्रेक्षकों के बैठने के स्थान में दश स्तम्भों को स्थापित करने का विधान बताया है। यह स्थान बत्तीस हाथ लम्बा और बारह हाथ चौड़ा होता है। उनके अनुसार दोनों ओर की भित्ती से बारह-बारह हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ खड़े करने चाहिए और उन दोनों के मध्य आठ हाथ का अन्तर होना चाहिए। शेष आठ स्तम्भों को बारह हाथ चौड़ी अधोभूमि में चार-चार हाथ के अन्तर पर स्थापित करने चाहिए। इनमें दो-दो स्तम्भों पर एक तुला रखनी

चाहिए। इस प्रकार पांच तुलाओं में दस स्तम्भ हो जाते हैं। भरतमुनि ने 'रङ्गपीठोपरिस्थिताः' का अर्थ 'रङ्गपीठ के ऊपर स्थित' किया है अर्थात् दस स्तम्भों को रङ्गपीठ के ऊपर स्थापित करने चाहिए। किन्तु भरतमुनि के इस कथन से भट्टतौत के मत के साथ विरोध परिलक्षित होता है। भट्टतौत ने इस विरोध के परिहार के लिए 'रङ्गपीठोपरिस्थिताः' में 'उपरि' शब्द का अर्थ आगे (सामने) किया है अर्थात् रङ्गपीठ के सामने अधोभूमि में दस स्तम्भों को स्थापित करना चाहिए।

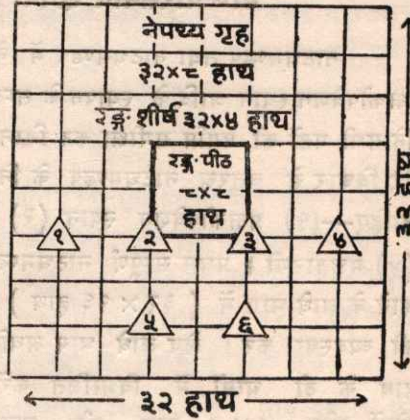
भट्टतौत के अनुसार छः स्तम्भ रङ्गपीठ पर और आठ स्तम्भ रङ्गशीर्ष पर खड़े करने चाहिए। उनके मतानुसार बत्तीस हाथ लम्बे रङ्गपीठ के आगे के दोनों कोनों पर दो स्तम्भ आठ हाथ की दूरी पर खड़े करने चाहिए। फिर उन दोनों स्तम्भों के दोनों बगल

भट्टतौत के अनुसार स्तम्भ-विधान

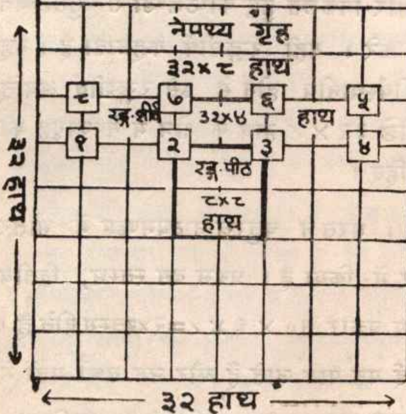
१· प्रथम दश स्तम्भ



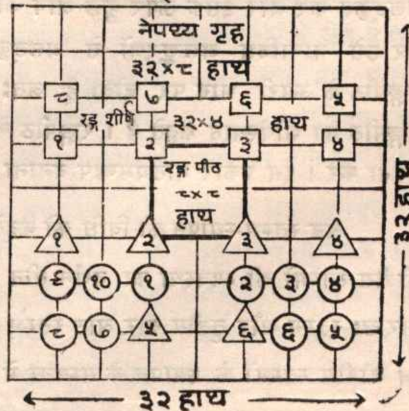
२· द्वितीय छः स्तम्भ



३· तृतीय आठ स्तम्भ



४· सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



तथा सामने आठ-आठ हाथ की दूरी पर चार स्तम्भ स्थापित करने चाहिए। इस प्रकार कुल छः स्तम्भ होते हैं। भट्टतौत के अनुसार रङ्गपीठ के पीछे बत्तीस हाथ लम्बा और बारह हाथ चौड़ा जो स्थान बचता है उनमें चार हाथ चौड़े और बत्तीस लम्बे स्थान को रङ्गशीर्ष कहते हैं। भट्टतौत के अनुसार आठ स्तम्भ रङ्गशीर्ष पर स्थापित करने चाहिए। रङ्गशीर्ष के पूर्व और पश्चिम दोनों पार्श्वों की सीमा पर बत्तीस हाथ की लम्बाई में आठ-आठ हाथ की दूरी पर चार-चार स्तम्भ खड़े करने चाहिए। इस प्रकार कुल आठ स्तम्भ होते हैं। इन स्तम्भों के ऊपर दोनों ओर एक-एक तुला स्थापित करे और इन तुलाओं को चार-चार हाथ पर छेद कर उनमें स्तम्भों को जोड़ दें। इससे छत मजबूत होती है। इस प्रकार भट्टतौत के मतानुसार आठ स्तम्भों के स्थापन का विधान बताया गया है। इस प्रकार भट्टतौत के अनुसार १०+६+८=२४ स्तम्भों के स्थान का विधान चित्रफलक में दिखाया गया है।

डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा कल्पित नाटचमण्डप

नाटचमण्डप तथा नाटचमण्डप में नेपथ्यगृह, रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष, मत्तवारणी तथा प्रेक्षकोपवेशन स्थान आदि के स्थापन के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। मैंने सभी मतों की पर्याप्त समीक्षा कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है। मेरे विचार से चतुरस्र नाटचमण्डप के निर्माण में मुख्य रूप से चार भाग कल्पित करने चाहिए—(१) प्रेक्षकोपवेशन स्थान (२) रङ्गपीठ या रङ्गशीर्ष (३) नेपथ्यगृह और (४) मत्तवारणी। प्रथम सम्पूर्ण नाटचमण्डप के क्षेत्र को दो भागों में विभाजित करें। आगे के आधे भाग में (३२ × १६ हाथ) के क्षेत्र में प्रेक्षकों के बैठने के लिए आसन की व्यवस्था करे। शेष आधे भाग अर्थात् ३२ × १६ हाथ के क्षेत्र को भी ३२ × ८ हाथ के दो भागों में विभाजित करें। मध्य के ३२ × ८ हाथ के भाग के दोनों ओर ८ × ८ हाथ की मत्तवारणी बनाये और बचे हुए १६ × ८ हाथ के क्षेत्र में रङ्गपीठ की रचना करे। रङ्गपीठ के पिछले हिस्से को षट्दारुक से अलङ्कृत करे और इसके ऊपर कुछ आगे की ओर निकलते हुए काष्ठखण्डों से सुसज्जित कर उसे नानाविध अलङ्करणों से अलङ्कृत करे। यही रङ्गशीर्ष कहलाता है। यह रङ्गपीठ के ऊपरी भाग पर होता है अतः शीर्षस्थानीय होने से इसे रङ्गशीर्ष अर्थात् रङ्गपीठ का शीर्षस्थान कहते हैं। रङ्गपीठ के पीछे ३२ × ८ हाथ के क्षेत्र में नेपथ्यगृह की रचना करे। इस प्रकार नाटचमण्डप बनाना चाहिए।

अब स्तम्भ-स्थापन की विधि को कहते हैं। भरत ने चतुरस्र नाटचमण्डप में भीतर चौबीस स्तम्भों की व्यवस्था का वर्णन तीन बार में किया है। प्रथम दस स्तम्भ, द्वितीय बार छः स्तम्भ और तृतीय बार आठ स्तम्भ। इस प्रकार १० × ६ × ८=२४स्तम्भ होते हैं। इन चौबीस स्तम्भों के स्थापन के सम्बन्ध में कई मत पाये जाते हैं और उन सभी मतों में कुछ न कुछ अन्तर पाया जाता है। इसका कारण अभिनवभारती का त्रुटिपूर्ण पाठ है जिसका

आश्रय लेकर शङ्कुक आदि व्याख्याकार अलग-अलग व्याख्यान करते हैं। यहाँ नाट्यशास्त्रोक्त कारिका के आधार पर स्तम्भ-स्थापन की विधि का निरूपण करते हैं। भरत ने दश स्तम्भों के सम्बन्ध में लिखा है कि **'तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरिस्थिताः। दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे'** अर्थात् उस नाट्यमण्डप के भीतर रङ्गपीठ पर नाट्यप्रयोक्ताओं द्वारा मण्डप धारण करने में समर्थ दस स्तम्भ स्थापित करने चाहिए। किन्तु भरत ने स्तम्भों के स्थापन के स्थान का निर्देश नहीं किया है, केवल इतना ही कहा है कि रङ्गपीठ पर दस स्तम्भ स्थापित करे। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में विभिन्न आचार्यों के मत से स्तम्भों के स्थान का निर्धारण किया है। भरत ने रङ्गपीठ के पृष्ठभाग में षट्दारुक स्थापन का विधान बताया है। अभिनवगुप्त ने रङ्गपीठ पर षट्दारुक स्तम्भों के अतिरिक्त दस स्तम्भ स्थापित करने की विधि बताई है **(दश स्तम्भाः षड्दारुकस्तम्भव्यतिरिक्ता देयाः)**। चतुरस्र नाट्यमण्डप में रङ्गपीठ का क्षेत्र १६ × ८ हाथ का होता है। इसमें प्रथम चारों कोनों पर चार स्तम्भ स्थापित करे। इसके बाद चारो कोनों के स्तम्भों से भीतर की ओर चार हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ खड़े करे। इस प्रकार आठ स्तम्भ होते हैं। शेष दो स्तम्भ रङ्गपीठ और मत्तवारणी के बीच में दोनो ओर खड़े करने चाहिए। इस प्रकार दश स्तम्भ हो जाते हैं।

इसके बाद नाट्यशिल्पी नाट्यमण्डप के भीतर दिशाओं के अनुसार अन्य छः स्तम्भों को स्थापित करे। नेपथ्यगृह और रङ्गपीठ के दोनों ओर नेपथ्यगृह से आठ-आठ हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ फिर उस स्तम्भ से आठ हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ और फिर उस स्तम्भ से आठ हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ स्थापित करे। इस प्रकार उत्तर में तीन स्तम्भ तथा दक्षिण में तीन स्तम्भ कुल छः स्तम्भ हो जाते हैं।

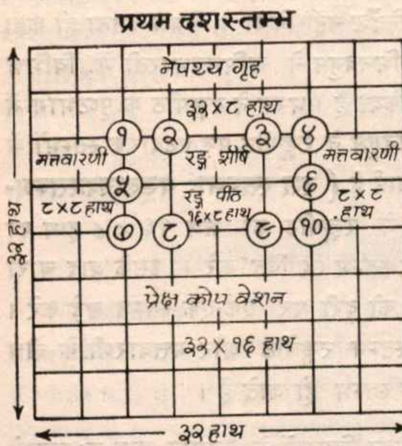
इसके बाद आवश्यकतानुसार आठ स्तम्भों की स्थापना करे। भाव यह कि जहाँ स्तम्भ खड़े करने की आवश्यकता हो वहाँ आठ स्तम्भ खड़ा करे। प्रेक्षकोपवेशन के लिए जो ३२ × १६ हाथ का स्थान शेष है उसमें आठ-आठ हाथ की दूरी पर आवश्यकतानुसार स्तम्भों की स्थापना करे अर्थात् बत्तीस हाथ लम्बाई तथा सोलह हाथ चौड़ाई के क्षेत्र में आठ-आठ हाथ के अन्तर पर आठ स्तम्भ स्थापित करें। रङ्गपीठ के सामने दोनों ओर रङ्गपीठ के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ स्थापित करे। फिर प्रेक्षकोपवेशन स्थान में उत्तर एवं दक्षिण दीवार से दोनों ओर आठ-आठ हाथ की दूरी पर तीन-तीन स्तम्भ स्थापित करे तथा नेपथ्यगृह में तीन स्तम्भ स्थापित करें। जिससे छत मजबूत हो। इसका एक अर्थ यह भी होता है कि उन छः स्तम्भों के ऊपर छतधारण करने में समर्थ आठ स्तम्भ स्थापित करने चाहिए। इसके बाद प्रेक्षकोपवेशन स्थान में प्रेक्षकों के बैठने के लिए सीढी के आकार का आसन बनाये। स्तम्भों के ऊपर भी स्तम्भ-स्थापना इस प्रकार करे जो एक दूसरे में विधे हुए हो और स्तम्भों की स्थापना इस प्रकार करे जिससे रङ्गपीठ का दृश्य स्पष्ट दिखाई दे।

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे ।
[1]धारणीधारणास्ते च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥ १०१ ॥

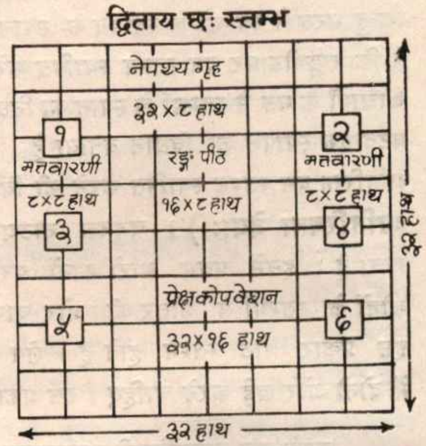
अपि तु दृढा न्यसनीया इति दर्शयति—तत्र स्तम्भा इति ।

डा० पारसनाथ द्विवेदी के मतानुसार मण्डप एवं स्तम्भ विधान

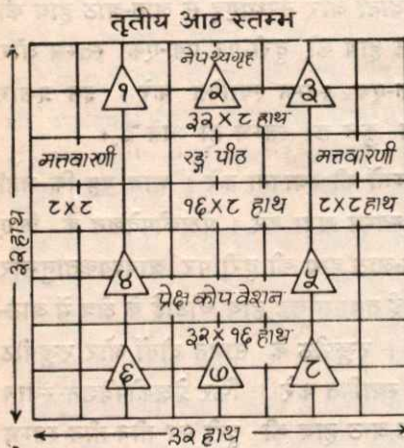
प्रथम दशस्तम्भ



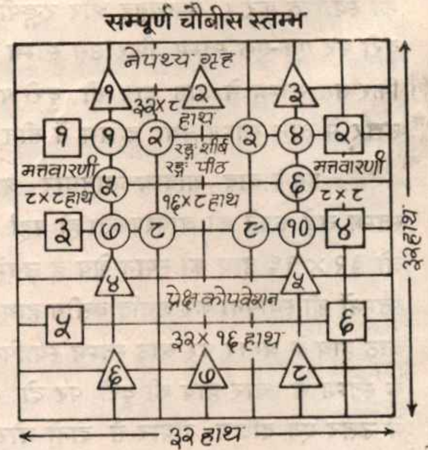
द्वितीय छः स्तम्भ



तृतीय आठ स्तम्भ



सम्पूर्ण चौबीस स्तम्भ



उन सभी स्तम्भों को मजबूती से खड़े करने चाहिए, इस बात को 'तत्र स्तम्भाः' इत्यादि वाक्य के द्वारा दिखलाते हैं—

अनुवाद—शिल्पशास्त्रवेत्ताओं को मण्डप धारण करने के लिए स्तम्भ खड़े करने चाहिए। वे स्तम्भ धारणी (धरन) को धारण करने वाले और शालस्त्री (शालभञ्जिकाओं) से अलङ्कृत हों ॥१०१॥

१. ख. धरणीधारितास्ते च ।

नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः[1] ।
द्वारं चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्[2] ॥ १०२ ॥
[3]जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥ १०३ ॥

---

[4]अथावशिष्टेषु हस्तेषु विधिमाह –नेपथ्यगृहकमिति ।

रङ्गपीठप्रवेशनमिति वचनेनेदमाह--कक्ष्यादिभागेन तावत् द्वे द्वारे तेन द्वारमिति जातावेकवचनम् । एकशब्दश्च राश्यभिप्रायेण । राशिकरणे च निमित्तप्रवेशोपायनम् । तथा च कक्ष्याध्याये वक्ष्यति—

विमर्श—शिल्पशास्त्रवेत्ता शिल्पशास्त्र के अनुसार छत को धारण करने के लिए तथा धारणी (धरन) धारण करने में समर्थ मजबूत स्तम्भों को खड़ा करे जो अनेक प्रकार की शालभञ्जिकाओं, पुत्तलियों से अलङ्कृत हों । 'धारणी' का अर्थ 'धरन' है । इसको शहतीर भी कहते हैं । अभिनवगुप्त ने 'शालस्त्री' का अर्थ काष्ठ की बनी हुई स्त्रियों की प्रतिकृति (**काष्ठमय्यः कान्ताप्रतिकृतयः**) किया है ॥ १०१ ॥

इसके बाद बचे हुए हाथों (३०×८) के विषय में 'नेपथ्यगृहम्' इत्यादि विधि को कहते हैं—

अनुवाद—इसके बाद प्रयत्नपूर्वक नेपथ्यगृह बनाना चाहिए और उसमें रङ्गपीठ पर प्रवेश के लिए एक द्वार बनाना चाहिए और जनता का प्रवेश सामने के द्वार से कराये, इसलिए रङ्गपीठ के सामने दूसरा द्वार बनाना चाहिए ॥ १०२-१०३ ॥

अभि०—'रङ्गपीठ पर प्रवेश करना (रङ्गपीठप्रवेशनम्) इस एकवचन के प्रयोग से यह कहा गया है कि कक्ष्या-विभाग में दो दरवाजे होने चाहिए, इसलिए यहाँ 'द्वारम्' जाति में एकवचन का प्रयोग है और 'द्वारं चैकं' में एक शब्द राशि के अभिप्राय से है । राशिकरण का हेतु पात्रों के प्रवेश का उपायन है । भाव यह कि अभिनव ने यहाँ 'द्वार' शब्द को जातिवाचक और 'एक' शब्द को राशि के अभिप्राय से एकवचन में प्रयुक्त माना है । जैसा कि कक्ष्या-विभाग नामक तेरहवें अध्याय में कथन करेंगे—

---

१. ख. घ. प्रयोक्तृभिः ।

२. ख. घ. भवेत्तस्य रङ्गपीठप्रवेशने ।

३. ख. घ, प्रवेशने चैवमादिमुख्येन ।

४. अथवावशिष्टेषु ।

"ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते ।
तयोर्भाण्डस्य विन्यासः मध्ये कार्यः प्रयोक्तृभिः ।" इति ।
(ना. शा. १३-२)

[१]तृतीयं द्वारं नेपथ्यगृहस्य, येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति । अन्यत्तु जनप्रवेशनद्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्यां दिशि कुर्यात् । द्वारवृत्त्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम् । ननु किमपेक्षमाभिमुख्यम् ? कक्ष्यापेक्षयैव पूर्वादिभिरित्युक्तम् । यद् वक्ष्यति च—

'यतो मुखं भवेद्भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य तु ।
सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगे विपश्चिता ॥' इति ।
(ना. शा. १३-११)

एवं चतुर्द्वारं नाट्यगृहम् । अन्ये त्वाद्यद्वार (द्वयं) वाद्येन हेतुनाऽन्यद्वारद्वयं पार्श्वस्थितं कुर्यादालोकसिद्ध्यर्थमिति षड्द्वारं नाट्यगृहमाचक्षते ॥ १०२-१०३ ॥

'मैंने पहिले नेपथ्यगृह के जो दो द्वार कहे थे, उनके (उन दोनों द्वारों के) मध्य में नाट्यप्रयागकर्त्ताओं को भाण्डों (वाद्यों) को रखना चाहिए ।'
(ना० शा० १३-२) ।

नेपथ्यगृह का तीसरा दरवाजा है जिससे पत्नी के साथ नट का परिवार प्रवेश करता है और भो लोगों (जनता) के प्रवेश का चौथा दरवाजा सामने अर्थात् पूर्व दिशा में बनवाये अर्थात् द्वार की आवृत्ति सामाजिक लोगों के प्रवेश के लिए है । अब प्रश्न उठता है कि किस अभिप्राय से आभिमुख्य (सामने या पूर्व दिशा) कहा गया है ? इस पर कहते हैं कि कक्ष्या की अपेक्षा से ही पूर्व आदि दिशाएँ कही गई हैं । जैसा कि आगे (तेरहवें अध्याय) में कहेंगे--

'जिस ओर नेपथ्यगृह का भाण्डद्वार (वाद्यों के रखने का दरवाजा अथवा भांड़ों के प्रवेश का दरवाजा) हो, नाट्य के प्रयोग में उसी को पूर्व दिशा समझें' (ना० शा० १३।१०) ।

इस प्रकार नाट्यगृह में चार दरवाजे होते हैं । अन्य लोग तो कहते हैं कि पहिले दो दरवाजे वाद्यों के लिए अर्थात् वाद्यवादकों के प्रवेश के लिए दूसरे दो दरवाजे नटों तथा सामाजिकों के प्रवेश के लिए तथा अन्य दो दरवाजे प्रकाश के लिए पार्श्वों में अर्थात् दोनों ओर (अगल-बगल) में बनाये । इस प्रकार नाट्यगृह में छः दरवाजे होने चाहिए ॥ १०२-१०३ ॥

१. तृतीयद्वारं नेपथ्यगृहस्य इति पाठान्तरम् ।

विमर्श—भरतमुनि ने पहिले द्वितीय अध्याय के ६९ वें श्लोक में नेपथ्यगृह में दो द्वार बनाने का निर्देश दिया है (**कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु**) किन्तु आगे चलकर द्वितीय अध्याय के १०२ वें श्लोक में **'द्वारं चैकं भवेतत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्'** रङ्गपीठ पर प्रवेश के लिए एक द्वार का विधान बताया है और जनता के प्रवेश के लिए रङ्गपीठ के सामने दूसरा द्वार बनाने का उल्लेख किया है। किन्तु भरतमुनि का यह कथन तेरहवें अध्याय के द्वितीय श्लोक, जिसे अभिनवगुप्त ने यहाँ उद्धृत किया है, के विपरीत है। वहाँ **'ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्त्तिते'** के द्वारा दो द्वारों का उल्लेख किया गया है। भरतमुनि ने यहाँ **'द्वारं चैकं भवेत्तत्र'** के द्वारा एक द्वार का उल्लेख किया है और तेरहवें अध्याय में कक्ष्या-विभाग प्रकरण में दो द्वारों का उल्लेख किया है जो परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध है। इस विरोध का परिहार करने के लिए अभिनवगुप्त को बड़ी खींचा-तानी करनी पड़ी है। अभिनवगुप्त ने 'द्वारं चैकं भवेत्तत्र' में 'द्वार' शब्द को जातिवाचक एकवचन माना है और 'एकं' पद को राशिवाचक माना है। इस प्रकार उन्होंने नेवथ्यगृह में दो द्वार बनाने का उल्लेख किया है। इस प्रकार भरत के मतानुसार नाटचमण्डप में तीन द्वार होने चाहिए। रङ्गपीठ पर प्रवेश के लिए नेपथ्यगृह में दो द्वार और जनप्रवेश के लिए सामने की ओर एक द्वार। किन्तु अभिनवगुप्त ने चार द्वारों की कल्पना की है। उनके मतानुसार नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए दो द्वार, बाहर से प्रेक्षागृह में जनता के प्रवेश के लिए एक द्वार तथा नटों एवं उनके परिवार के प्रवेश के लिए नेपथ्यगृह के पृष्ठ भाग में एक द्वार। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाटचगृह में कुल चार द्वार होते हैं। इनमें तीन द्वार नेपथ्यगृह से सम्बन्धित हैं और एक द्वार जन-प्रवेश के लिए है।

कुछ अन्य आचार्यों ने छः द्वारों की कल्पना की है। उनके मतानुसार वाद्य-वादकों के प्रवेश के लिए दो द्वार, पात्रों एवं प्रेक्षकों के प्रवेश के लिए विधानानुसार दो द्वार तथा प्रकाश के आने के लिए दोनो पार्श्वों में दो द्वार, इस प्रकार छः द्वार होते हैं। डा० मनकद ने पांच द्वारों की परिकल्पना की है। उनके मतानुसार नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए दो द्वार, मत्तवारणी और रङ्गपीठ के विभाजक दीवार में दोनों ओर दो द्वार तथा जनता के प्रवेश के लिए एक द्वार इस प्रकार कुल पांच द्वार होने चाहिए।

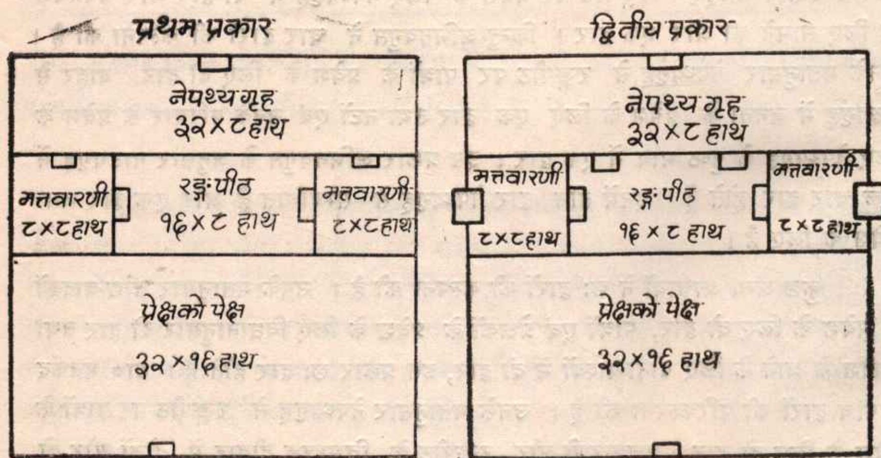
मेरे विचार से नाटचमण्डप में छः द्वार होने चाहिए, किन्तु आवश्यकतानुसार इससे अधिक भी द्वार बनाये जा सकते हैं। नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के आगम और निर्गम के लिए दोनों ओर दो द्वार बनाने चाहिए। जिनमें एक द्वार से पात्र प्रवेश करे और दूसरे द्वार से पात्र निकल जाँय। इसके अतिरिक्त मत्तवारणी से रङ्गपीठ पर प्रवेश के लिए दोनों ओर दो दरवाजे होने चाहिए। बाहर से नटों एवं इनके परिवार वाले अभि-नेताओं के प्रवेश के लिए नेपथ्यगृह में पीछे की ओर एक दरवाजा होना चाहिए और सामने की ओर जनता के प्रवेश के लिए एक दरवाजा होना चाहिए। इस प्रकार ये छः

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः ।
चतुरश्रं समतलं वेदिकासमलङ्कृतम् ॥ १०४ ॥

अथ रङ्गपीठरङ्गशिरसोर्वक्तव्यशेषं निरूपयति - अष्टहस्तन्त्विति ।
वेदिके शोभायुक्ते कार्ये ॥ १०४ ॥

दरवाजे होते हैं। दूसरे प्रकार से छः द्वारों की कल्पना इस प्रकार हो सकती। प्रथम नेपथ्यगृह से मत्तवारणी में प्रवेश के लिए दो द्वार तथा मत्तवारणी से रङ्गपीठ पर प्रवेश के लिए दो द्वार तथा बाहर से नटों एवं नटपरिवारों के प्रवेश के लिए नेपथ्यगृह में पृष्ठ-भाग में एक द्वार और जनता के प्रवेश के लिए सामने की ओर एक द्वार–इस प्रकार छः द्वार होते हैं। इनके अतिरिक्त बाहर से मत्तवारणो में प्रवेश के लिए दोनों ओर दो दरवाजे और बनाये जा सकते हैं ॥ १०२-१०३ ॥

नाट्यमण्डप में द्वारों की स्थिति



इसके बाद रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष के सम्बन्ध में जो कुछ शेष रह गया है उसको 'अष्टहस्तं तु' इत्यादि के द्वारा कहते हैं।

अनुवाद—रङ्गपीठ प्रमाण में आठ हाथ (८×८) चौकोर और समतल तथा वेदिका से अलङ्कृत बनाना चाहिए ॥ १०४ ॥

अभिनव—वेदिका शोभा से युक्त सुन्दर बनानी चाहिए ॥ १०४ ॥

विमर्श—चतुरस्र नाट्यगृह का रङ्गपीठ ८×८ हाथ का चौकोर, समचतुरस्र, समतल एवं वेदिका से सुसज्जित होना चाहिए और वेदिका सुन्दर अलङ्करणों से युक्त होना चाहिए ॥ १०४ ॥

पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारिणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥ १०५ ॥
समुन्नतं समं चैव रङ्गशीर्षं[1] तु कारयेत्।
[2]विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥ १०६ ॥

पूर्वप्रमाणम्। अध्यर्धहस्तोत्सेधत्वम् ॥ १०५ ॥

समुन्नतमिति। रङ्गपीठापेक्षया। एतच्चेह प्रसङ्गात्सूचयन् विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रय्यधिका कर्तव्या। अन्तरमप्यत्रैव दर्शितम् ॥ १०६ ॥

अनुवाद—वेदिका के दोनों पार्श्वों में (दोनों ओर) पूर्व में बताये गये प्रमाण के अनुसार चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारणी बनानी चाहिए ॥ १०५ ॥

अभिनव—पूर्व में निर्दिष्ट प्रमाण का अभिप्राय है कि मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँची बनानी चाहिए ॥ १०५ ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ से ऊँचा और सम रङ्गशीर्ष की रचना करनी चाहिए। विकृष्ट नाटचमण्डप में रङ्गशीर्ष ऊँचा बनाना चाहिए और चतुरस्र नाटचमण्डप में सम (रङ्गशीर्ष) बनाना चाहिए ॥ १०६ ॥

अभि०—'समुन्नतं' का अर्थ है रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊँचा अर्थात् रङ्गशीर्ष रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊँचा होना चाहिए। प्रसङ्ग से यह बात सूचित होती है कि "विकृष्ट नाटचमण्डप में उसी प्रकार से तीनों प्रकार के स्तम्भों की संख्या भी अधिक कर देनी चाहिए" इनका अन्तर भी यहीं दिखलाया गया है ॥ १०६ ॥

विमर्श—भरतमुनि का कथन है कि रङ्गशीर्ष को रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊँचा अथवा उसके समान समतल बनाना चाहिए। श्लोक के उत्तरार्द्ध में उन्होंने स्पष्ट किया है कि विकृष्ट नाटचमण्डप के रङ्गशीर्ष को रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊँचा बनाना चाहिए और चतुरस्र नाटचमण्डप में रङ्गपीठ के समान समतल रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए। इस कथन से यह भी सूचित होता है कि विकृष्ट नाटचमण्डप में तीनों प्रकार के (१० + ६ + ८) स्तम्भों की संख्या भी अधिक होनी चाहिए अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि विकृष्ट नाटचमण्डप में चतुरस्र नाटचमण्डप की अपेक्षा तीन खम्भे (स्तम्भत्रयी) अधिक लगाने चाहिए। यही विकृष्ट और चतुरस्र दोनों प्रकार के नाटचमण्डपों में अन्तर है। कुछ व्याख्याकार 'अधिका' के स्थान पर 'द्विगुणा' पाठ मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ होगा कि विकृष्ट नाटचमण्डप में स्तम्भों की संख्या चतुरस्र नाटचमण्डप की अपेक्षा दुगुनी होनी चाहिए ॥ १०६ ॥

---

१. ख. ग. रङ्गपीठं।
२. ख. विकृष्टेप्युन्नतं। ग. विकृष्टस्तून्नतं।

एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यस्रगेहस्य लक्षणम्[1] ॥ १०७ ॥
त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाटयवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ॥ १०८ ॥

अथ त्र्यस्रस्यातिदेशद्वारेण लक्षणं कर्तुमुपक्रममाह—त्र्यस्रमिति ।

त्र्यस्रमिति [2]लक्ष्यं, त्रिकोणमिति लक्षणम् । उभयानुग्रहाच्च विकृष्टचतुरस्रमानद्वयमेव भवति । मध्ये च त्रिकोणमेव रङ्गपीठम् । तथैव [3]रङ्गशिरः । नेपथ्यगृहं च ॥ १०८ ॥

अनुवाद— इस प्रकार इस विधि से चतुरस्र नाटयमण्डप की रचना होती है । इसके बाद त्र्यस्र नाटयमण्डप का लक्षण कहूँगा ॥ १०७ ॥

इसके बाद अतिदेश के द्वारा त्र्यस्र नाटयमण्डप का लक्षण करने के लिए उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—नाटयगृह के निर्माताओं को त्र्यस्र नाटयमण्डप को त्रिकोण (तिकोना) बनाना चाहिए और उसके बीच में त्रिकोण ही रङ्गपीठ बनाना चाहिए ॥ १०८ ॥

अभि०—इस कारिका में 'त्र्यस्र' और 'त्रिकोण' दो पद आये हैं । इनमें 'त्र्यस्र' पद लक्ष्य है और 'त्रिकोण' पद लक्षण है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के (विकृष्ट एवं चतुरस्र) नाटयमण्डपों का सम्बन्ध होने से विकृष्ट एवं चतुरस्र दोनों नाटयगृहों के दो प्रकार के परिमाण होते हैं । त्र्यस्र नाटयमण्डप के मध्य में त्रिकोण (त्रिभुजाकार) ही रङ्गपीठ बनाना चाहिए। इसी प्रकार रङ्गशीर्ष और नेपथ्यगृह भी त्रिकोण ही होने चाहिए ॥ १०८ ॥

विमर्श—डा० मनमोहन घोष एवं प्रो० सुब्बाराव ने त्र्यस्र नाटयमण्डप को त्रिकोण (त्रिभुजाकार) बताया है । उन्होंने नेपथ्यगृह को तो त्रिकोण माना है किन्तु रङ्गपीठ को त्रिकोण नहीं माना है । भरतमुनि और अभिनवगुप्त ने नेपथ्यगृह, रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष तीनों को त्रिकोण माना है । डा० घोष एवं प्रो० सुब्बाराव रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों को एक मानकर नाटयगृह में एक ही की कल्पना करते हैं । डा० घोष ने उसे रङ्गपीठ कहा है और सुब्बाराव ने रङ्गशीर्ष । किन्तु अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष की अलग-अलग कल्पना की है ॥ १०८ ॥

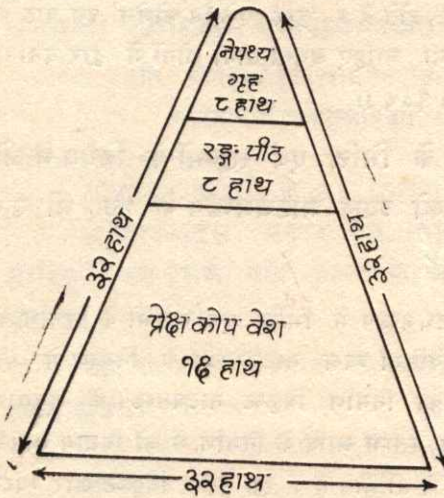
---

१. ख. ग. त्र्यस्रस्य मण्डपस्यापि संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
२. लक्ष्यमिति नास्ति ।
३. रङ्गशिरसः इति पाठान्तरम् ।

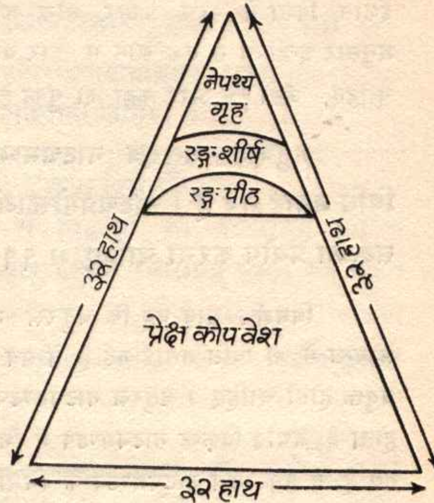
द्वारं तेनैव[1] कोणेन कर्तव्यं [2]तस्य वेश्मनः ।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥ १०९ ॥

तेनैव कोणेनेति । वारुणीगतेन । द्वारं जनप्रवेशनम् । येन तस्मिन्नेव कोणे द्वारे कर्तव्ये ॥१०९ ॥

डा० घोष के मतानुसार
त्र्यस्र नाट्यमण्डप का स्वरूप



भरत एवं अभिनवगुप्त के
अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप का स्वरूप



अनुवाद— उस त्र्यस्र नाट्यगृह का द्वार भी उसी कोण में बनाना चाहिए और दूसरा द्वार रङ्पीठ के पृष्ठभाग में बनाना चाहिए ॥ १०९ ॥

अभि०—उसी कोण से अर्थात् पश्चिम दिशा के कोने से। 'द्वार' पद से जनता का प्रवेश कराने वाले द्वार का ग्रहण होता है। जिससे उसी कोने में दो द्वार बनाने चाहिए ॥ १०९ ॥

विमर्श—त्र्यस्र नाट्यमण्डप में द्वार के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद पाया जाता है। इसका कारण पाठभेद है। मूल पाठ के अनुसार उसी कोण में अर्थात् मध्य कोण में एक द्वार बनाना चाहिए और दूसरा द्वार रङ्गपीठ के पृष्ठभाग में बनाना चाहिए। अभिनवगुप्त के अनुसार उसी कोने में अर्थात् पश्चिम कोण में नेपथ्यगृह में एक द्वार बनाना चाहिए और दूसरा द्वार रङ्गपीठ पर बनाना चाहिए, जिससे पात्र रङ्गपीठ पर प्रवेश करते हैं। जनता के प्रवेश के लिए उसी कोने में दो द्वार बनाने चाहिए। पाठभेद के अनुसार

---

१. ख. घ. द्वारमेकेन ।
२. घ. क. तु प्रवेशने ।

[1]विधिर्यश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः[2] ।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यस्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ।। ११० ।।

नेपथ्यगृह में पश्चिम दिशा के कोण में एक द्वार अभिनेताओं के प्रवेश के लिए बनाना चाहिए । नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए एक द्वार बनाना चाहिए और जनता के प्रवेश के लिए दोनों कोनों में दो द्वार बनाने चाहिए । इस प्रकार त्र्यस्र नाट्यमण्डप में चार द्वार होते हैं । 'द्वारं तेनैव कोणेन' का अर्थ है उसी कोण से । त्र्यस्र नाट्यमण्डप में तीन कोण हैं । प्रथम कोण अग्नि दिशा में, दूसरा कोण पश्चिम दिशा में और तीसरा कोण ईशान दिशा में—इस प्रकार तीन कोण होते हैं । 'द्वारं एकेनैव कोणेन' इस पाठ के अनुसार इन्हीं में से एक कोने में द्वार बनाना चाहिए अथवा तीनों कोनों में द्वार बनाना चाहिए, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ।। १०९ ।।

अनुवाद—चतुरस्र नाट्यमण्डप के भित्ति एवं स्तम्भों के विषय में जो विधि बताई गई है । नाट्यप्रयोक्ताओं को त्र्यस्र नाट्यमण्डप के लिए भी उन सब का प्रयोग करना चाहिए ।। ११० ।।

विमर्श—भाव यह कि चतुरस्र नाट्यमण्डप में भित्ति एवं स्तम्भों के निर्माण के सम्बन्ध में जो विधि बताई गई है वे सब विधियाँ त्र्यस्र नाट्यमण्डप के निर्माण में भी प्रयुक्त होनी चाहिए । चतुरस्र नाट्यमण्डप का निर्माण विकृष्ट नाट्यमण्डप के अनुसार होता है अर्थात् विकृष्ट नाट्यमण्डप में भित्ति, स्तम्भ आदि के निर्माण में जो विधान बताये गये हैं वे सब त्र्यस्र नाट्यमण्डप के निर्माण में भी होते हैं । इस प्रकार विकृष्ट और त्र्यस्र नाट्यमण्डप के समान ही त्र्यस्र नाट्यमण्डप में भी भित्ति, स्तम्भादि का विधान होना चाहिए । अब प्रश्न यह उठता है कि त्र्यस्र नाट्यमण्डप सबसे छोटा और तिकोना होता है । क्या विकृष्ट एवं चतुरस्र नाट्यमण्डप के लिए बताई गई समस्त विधियाँ त्र्यस्र मण्डप में सम्भव हैं ? मेरे विचार से 'स तु सर्वः प्रयोक्तव्यः' यह उपलक्षणमात्र है अर्थात् नाट्यमण्डप के निर्माण के सभी विधान विकृष्ट और चतुरस्र नाट्यमण्डप के समान होने चाहिए, किन्तु भित्ति एवं स्तम्भों की व्यवस्था आवश्यकतानुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप के अनुकूल होनी चाहिए । क्योंकि त्र्यस्र नाट्यमण्डप छोटा होता है, उसमें विकृष्ट एवं चतुरस्र नाट्यमण्डप के समान स्तम्भादि-व्यवस्था सम्भव नहीं है । इसलिए त्र्यस्र नाट्यमण्डप में शिल्पियों को आवश्यकतानुसार स्तम्भादि व्यवस्था करनी चाहिए । कुछ विद्वानों का कहना है कि त्र्यस्र नाट्यमण्डप में मत्तवारणी नहीं होती, जैसाकि ऊपर के चित्र में मत्तवारणी का स्वरूप स्पष्ट नहीं है । किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नाट्यमण्डप में मत्तवारणी का होना आवश्यक है ।। ११० ।।

---

१. क–म. द्वितीयं चतुरस्रस्य । क. विधेयश्च पुरस्तस्य ।

२. क–ङ., म. समन्वितः ।

एवमेतेन विधिना [1]कार्या नाट्यगृहा बुधैः ।
[2]पुनरेषां प्रवक्ष्यामि पूजामेव[3] यथाविधि ॥ १११॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डपविधानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

सङ्गतिं सूचयति—एवमेतेनेति ।

एतेन विधिना बहवो नाट्यमण्डपाः, न तु पूर्वोक्ताष्टादशभेदकलनयेत्यर्थः । बुधैरित्यूहापोहविद्भिः । पुनरिति । यद्यपि गदिताः सर्वे शुभदाः । तथापि पूजामिति वक्ष्यामीति पुनश्शब्दार्थः । [4]तत्र हि विधानं नोक्तम् । तदाह—यथाविधीति । एषामिति । मण्डपस्था देवताः । अनेनोपचारादुक्ताः ॥ १११ ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायामभिनवभारत्यां भारतीयनाट्यशास्त्रविवृतौ मण्डपाध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥

'एवमेतेन' इत्यादि के द्वारा अध्याय की सङ्गति दिखलाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार इस विधि से विद्वानों को नाट्यगृह बनाना चाहिए। अब इसके बाद शास्त्र के अनुसार इनके विधिवत् पूजन का कथन करूँगा ॥ १११ ॥

इस प्रकार भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में मण्डप-विधान नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अभिनव—इस विधि से बहुत से नाट्यमण्डप बनाये जा सकते हैं; केवल पूर्वोक्त अठारह प्रकार के नाट्यमण्डप के निर्माण के लिए ही यह विधि नहीं है। 'बुधैः' पद से ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करने वाले शास्त्रविद् अभिप्रेत है। 'पुनः' पद का अभिप्राय है कि यद्यपि सभी शुभद (कल्याणकारी) उपाय पहिले कहे जा चुके हैं फिर भी पूजा की विधि को कहूँगा, यह पुनः शब्द का अर्थ है। वहाँ उसका विधान नहीं कहा गया है, इसलिए कहते हैं कि शास्त्रविधि के अनुसार उनके अर्थात् मण्डपस्थ देवताओं की पूजा का विधान कहूँगा। 'एषाम्' पद से उपचार से मण्डपस्थ देवताओं के पूजा का विधान कहा गया है ॥ १११ ॥

इस प्रकार महामहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य विरचित अभिनवभारती नामक नाट्यवेदविवृत्ति में मण्डपाध्याय नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

---

१. ख. घ. कार्यं नाट्यगृहं बुधैः ।

२. ख. घ. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पूजामेषां यथाविधि ।

३. क. ङ. पूजामिति । तथापि वक्ष्यामीति पुनश्शब्दार्थः ।

४. क. ङ. तच्च विधानेनोक्तम् ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में अठारह प्रकार के नाट्यमण्डप के निर्माण का विधान प्रतिपादित हैं। उन अठारह प्रकार के नाट्यमण्डपों के निर्माण की जो विधि बताई गई है उस विधि के अनुसार और भी बहुत से नाट्यमण्डप बनाये जा सकते हैं। अतः नाट्यशास्त्रवेत्ताओं द्वारा अनेक प्रकार के नाट्यमण्डपों की कल्पना कर निर्माण करना चाहिए। अभिनवगुप्त का कथन है कि यद्यपि सभी प्रकार के शुभकारी उपाय पहिले बताये जा चुके हैं, फिर भी इन नाट्यमण्डपों में स्थित देवताओं की पूजा की विधि शास्त्रानुसार आगे कहूँगा। यहाँ पर 'एषाम्' पद उपलक्षण है। इससे अर्थात् लक्षणा के द्वारा 'एषामिति' इस पद से यह अर्थ निकलता है कि इन नाट्यमण्डपों में स्थित देवताओं की पूजा विधान आगे कहूँगा ॥ १११ ॥

उपसंहार—भरत ने नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार के नाट्यमण्डपों का वर्णन किया है—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। इनमें विकृष्ट प्रेक्षागृह आयताकार लम्बा, चतुरस्र प्रेक्षागृह वर्गाकार चौकोर और त्र्यस्र प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार त्रिकोण होता है। कुछ आचार्य विकृष्ट प्रेक्षागृह को मण्डलाकार भी मानते हैं किन्तु नाट्यशास्त्र में इसका कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। कुछ आचार्य उपर्युक्त तीनों प्रकार के विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र प्रेक्षागृहों को क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अवर (कनिष्ठ) मानते हैं अर्थात् उनके मतानुसार विकृष्ट प्रेक्षागृह ज्येष्ठ, चतुरस्र प्रेक्षागृह मध्यम और त्र्यस्र प्रेक्षागृह अधम (कनिष्ठ) होता है। किन्तु अन्य आचार्य विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनों प्रकार के प्रेक्षागृहों को उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से तीन-तीन प्रकार का मानते हैं। उनके मतानुसार 'हस्तदण्डसमाश्रयम्' का 'हाथ भर का दण्ड' ऐसा अर्थ कल्पित कर नौ प्रकार का प्रेक्षागृह होता है। तदनुसार 'हाथ भर का दण्ड' यह अर्थ लेने पर हाथ के माप के आधार पर निम्नलिखित नौ प्रकार के प्रेक्षागृह कल्पित किये जा सकते हैं।

१– विकृष्ट प्रेक्षागृह—उत्तम—१०८ × ६४ हाथ
मध्यम—६४ × ३२ हाथ
कनिष्ठ—३२ × १६ हाथ

२—चतुरस्र प्रेक्षागृह—उत्तम—१०८ × १०८ हाथ
मध्यम— ६४ × ६४ हाथ
कनिष्ठ— ३२ × ३२ हाथ

३–त्र्यस्र नाट्यमण्डप—उत्तम—१०८ हाथ तीनों कोने
मध्यम— ६४ हाथ ,, ,,
कनिष्ठ— ३२ हाथ ,, ,,

कुछ आचार्य 'हस्तदण्डसमाश्रयम्' में हाथ और दण्ड को अलग-अलग मानकर माप के अनुसार अठारह प्रकार के प्रेक्षागृहों की कल्पना करते हैं। उनके मतानुसार विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र ये तीनों प्रकार के नाट्यमण्डप हाथ के माप के आधार पर उत्तम, मध्यम, अवर भेद से नौ प्रकार के और इसी प्रकार दण्ड के माप के आधार पर भी नौ प्रकार के प्रेक्षागृह होते हैं। इस प्रकार कुल अठारह प्रकार के नाट्यमण्डप होते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त इतने अधिक भेदों को प्रयोग की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं मानते। शारदातनय ने भरत के अनुसार विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस्र प्रेक्षगृहों का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने उन तीनों प्रेक्षागृहों के अतिरिक्त 'वृत्त' नामक एक अतिरिक्त प्रेक्षागृह की भी परिकल्पना की है। इस प्रेक्षागृह में राजा और परिजन साथ ही संगीत का संयोजन करते हैं।

भरत ने तीन प्रेक्षागृहों का विवेचन आकार तथा माप के आधार पर किया है। भरत के अनुसार ज्येष्ठ प्रेक्षागृह देवताओं के लिए, मध्यम प्रेक्षागृह राजाओं के लिए तथा कनिष्ठ प्रेक्षागृह साधारण लोगों के लिए होता है। अभिनवगुप्त ने ज्येष्ठ प्रेक्षागृह को युद्ध-नियुद्ध, मार-काट, भगदड़, उत्कापात आदि दृश्यों वाले डिम आदि रूपकों के लिए उपयुक्त माना है तथा राजा आदि के चरित्र वाले नाटकों के लिए मध्यम प्रेक्षागृह को उचित माना है और साधारण लौकिक जीवन की विकृतियों को प्रदर्शित करने वाले भाण, प्रहसन आदि रूपकों के लिए अवर (कनिष्ठ) प्रेक्षागृह को उपयुक्त माना है।

किन्तु भरत ने उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम आकार वाले प्रेक्षागृह को सर्वोत्तम माना है। क्योंकि उसमें संवाद, गीत आदि स्पष्टतया सुनाई देते हैं। भरत ने अभिनय की दृष्टि से प्रेक्षागृह को दो भागों में कल्पित किया है। उनके मतानुसार सामने के आधे भाग में प्रेक्षकों के बैठने की व्यवस्था होनी चाहिए और पीछे के आधे भाग में रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष, नेपथ्यगृह तथा मत्तवारणी की व्यवस्था करनी चाहिए। रङ्गपीठ रङ्गमञ्च के आगे का मुख्यभाग है जिसपर नाटक अभिनीत होता है। रङ्गपीठ के पीछे का भाग रङ्गशीर्ष कहलाता है और रङ्गपीठ की अपेक्षा कुछ ऊँचा होता है। भरत के अनुसार रङ्गशीर्ष लकड़ी के काम (कारीगरी) से सुसज्जित होना चाहिए। डा० घोष एवं सुब्बाराव प्रभृति विद्वान् रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ को अलग-अलग नहीं मानते। उनके अनुसार रङ्गशीर्ष रङ्गपीठ का ऊपरी भाग है जो नानाविध अलङ्करणों से अलङ्कृत होता है और शीर्षस्थानीय होने के कारण उसे रङ्गशीर्ष कहते हैं। रङ्गपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारणी होती है। प्रेक्षागृह में मत्तवारणी का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। रङ्गशीर्ष के पीछे का भाग नेपथ्यगृह कहलाता है। नेपथ्यगृह में नाटक के पात्र वेश-भूषा आदि धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त नेपथ्यगृह में और भी बहुत सी नाट्य-क्रियायें भी सम्पादित होती हैं। भरत के अनुसार नेपथ्यगृह में दो दरवाजे होते हैं। नेपथ्यगृह नाटक के प्रस्तुतीकरण में अत्यन्त उपयोगी होता है।

नाट्य का मुख्य लक्ष्य है सामाजिकों को रसास्वादन कराना। अतः प्रेक्षागृह के निर्माण में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जिससे प्रेक्षकों के रसास्वादन में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न न हो। इसलिए भरत ने विकृष्ट मध्यम परिमाण वाले प्रेक्षागृह को सर्वोत्कृष्ट बताया है। सबसे बड़ा विशाल प्रेक्षागृह तथा कनिष्ठ प्रेक्षागृह को उन्होंने हेय कहा है क्योंकि प्रेक्षागृह के अत्यन्त विशाल होने पर संवाद, गीत आदि अच्छी तरह सुनाई न देने से तथा उनकी भावपूर्ण मुद्राएँ स्पष्टतया दृश्य न होने से रसास्वादन में बाधा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार कनिष्ठ प्रेक्षागृह अत्यन्त छोटा होने से पाठ्य के अत्यन्त विस्वर होने से माधुर्य नष्ट हो जायेगा, जिससे प्रेक्षकों को रसास्वादन में बाधा उत्पन्न होगी। इसीलिए भरत ने विकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप को सर्वश्रेष्ठ कहा है और ज्येष्ठ तथा अवर नाट्यगृह को त्याज्य बताया है।

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायां मनोरमाख्यायाभभिनवभारत्या हिन्दीव्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाट्यगृहे शुभे ।
गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः ॥ १ ॥

अभिनवभारती

यदाप्यायपरा लोकाः स्वे स्वे कर्मणि संगताः ।
प्राप्नुवन्ति फलं वन्दे तत्तेजोवपुरैश्वरम् ॥

निष्पन्ने मण्डपे पूजाऽवश्यं कर्तव्येति सङ्गतिः । तत्र प्रयोगक्रमोऽयम् । [1]अतथात्वेऽध्या (गताध्या)यानन्तरं पूर्वरङ्गाभिधानापत्तेः । तस्मान्मण्डपविधानशेष एव दर्शयिष्यते । अवश्यपूज्यत्वात् । जप्यपरैरिति । ये रक्षोघ्ना मन्त्रास्तज्जापकैरित्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवाद—समस्त लक्षणों से युक्त शुभ नाट्यगृह के निर्माण हो जाने पर उसमें जप में परायण ब्राह्मणों के साथ एक सप्ताह तक गायें निवास करें ॥ १ ॥

अभि०—जिसके आप्यायन (पोषण, शासन) में तत्पर लोग अपने-अपने कर्म (काम) में लगे हुए फल को प्राप्त करते हैं उस तेजोमय शरीर वाले ईश्वर को मैं प्रणाम करता हूं ।

मण्डप बन जाने पर पूजा अवश्य करनी चाहिए, यह अध्याय की सङ्गति है । वहाँ यह प्रयोग का क्रम है । ऐसा न मानने पर अध्याय की समाप्ति के बाद पूर्वरङ्ग के कथन का अवसर आ जायगा, इसलिए मण्डप के विधान से शेष अङ्ग को ही दिखाएँगे । क्योंकि मण्डपस्थ देवता अवश्य पूज्य हैं । 'जप्यपरैः' का अर्थ है, जो रक्षोघ्न मन्त्र है उसके जप करने वालों के साथ ॥ १ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्यगृह का निर्माण कार्य पूरा हो जाने पर मण्डपस्थ देवता की पूजा अवश्य करनी चाहिए । यही प्रयोग का क्रम है कि पहिले मण्डप का निर्माण करे, फिर पूजा करे । यदि इस क्रम को न माना जाय तो अध्याय की समाप्ति के बाद पूर्वरङ्ग आदि का प्रसङ्ग आ जायगा । अतः नाट्यमण्डप के निर्माण के बाद

---

१. क. तथात्वे इति पाठान्तरम् ।

ततोऽधिवासयेद्वेश्म रङ्गपीठं तथैव च ।
मन्त्रपूतेन तोयेन प्रोक्षिताङ्गो निशागमे ॥ २ ॥
यथास्थानान्तरगतो दीक्षितः प्रयतः शुचिः ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा नाट्याचार्योऽहताम्बरः[1] ॥ ३ ॥

तत इति । सप्ताहादनन्तरम् । अधिवासयेदिति । देवता मण्डपमधिवसन्त्यागच्छन्ति । नाट्याचार्यो धर्म(र्यक्तमुपरि)तनदेवतोपनिमन्त्रणमधिवासनं वेश्मनः ॥ २ ॥

दीक्षितो गृहीतव्रतः । नायको नाट्याचार्यः ॥ ३ ॥

मण्डपस्थ देवता की पूजा अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि मण्डपस्थ देवता पूजनीय हैं । इसीलिए यहाँ कहा गया है कि नाट्यमण्डप के बन जाने पर मण्डप में ब्राह्मणों से जप करावे और उनके साथ-साथ गायों को एक सप्ताह तक मण्डप में वसायें ॥ १ ॥

अनुवाद—इसके बाद रात्रि के आगमन-बेला में अर्थात् रात्रि होने पर अपने शरीर को मन्त्र से पवित्र जल से प्रोक्षित कर अपने घर से अन्यत्र स्थान पर रहकर दीक्षित होकर अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर संयत और पवित्र होकर तीन रात्रि तक उपवास करके नाट्याचार्य नवीन वस्त्र धारण कर नाट्यगृह और रङ्गपीठ में देवताओं का अधिवासन करे ॥ २-३ ॥

अभि०—'ततः' तदनन्तर एक सप्ताह के बाद अधिवासन करे अर्थात् जिससे देवता नाट्यमण्डप में अधिवास करते हैं (रहते हैं), आते हैं । नाट्याचार्य धर्मशास्त्र के अनुसार उपर्युक्त देवताओं का उपनिमन्त्रण करता है, यही नाट्यगृह का अधिवासन है । दीक्षित का अर्थ व्रत धारण करना है और नायक नाट्याचार्य होता है ॥ २-३ ॥

विमर्श—नाट्यमण्डप के निर्माण के बाद देवपूजन करना आवश्यक है, क्योंकि बिना देव-पूजन के नाट्यप्रयोग करना उचित नहीं है । अतः नाट्याचार्य एक दिन पूर्व रात्रि में पवित्र जल से अभिषिक्त होकर अन्यत्र निवास करे । तदनन्तर दीक्षा ग्रहण कर और पवित्र होकर तीन रात्रि तक उपवास करें । तब नाट्याचार्य नवनिर्मित नाट्यमण्डप में देवताओं के निवास के लिए आमन्त्रित करें और शास्त्र के अनुसार विधिपूर्वक उनका पूजन करे, क्योंकि पूजित देवता विघ्नों से नाट्यमण्डप की रक्षा करते हैं । इसीलिए नाट्यमण्डप बन जाने पर देवताओं का नाट्यमण्डप में आमन्त्रित कर अधिवासन और पूजन का विधान बताया गया है ॥ २-३ ॥

---

१. ग. नायकोऽहतवस्त्रधृक् ।

नमस्कृत्य महादेवं [1]सर्वलोकोद्भवं भवम् ।
[2]जगत्पितामहं चैव विष्णुमिन्द्रं गुहं तथा ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च लक्ष्मीं च सिद्धिं मेधां धृतिं स्मृतिम्[3] ।
[4]सोमं सूर्यं च मरुतो लोकपालांस्तथाऽश्विनौ ॥ ५ ॥
मित्रमग्निं [5]सुरान्वर्णान् रुद्रान्कालं कलिं तथा ।
मृत्युं च नियतिं चैव कालदण्डं तथैव च ॥ ६ ॥
विष्णुप्रहरणं चैव नागराजं च वासुकिम्[6] ।
[7]वज्रं विद्युत्समुद्रांश्च गन्धर्वाप्सरसो मुनीन् ॥ ७ ॥
भूतान् पिशाचान् यक्षांश्च गुह्यकांश्च महोरगान्[8] ।
असुरान्नाटचविघ्नांश्च तथाऽन्यान्दैत्यराक्षसान्[9] ॥ ८ ॥
[10]तथा नाटचकुमारीश्च महाग्रामण्यमेव च ।
यक्षांश्च गुह्यकांश्चैव भूतसङ्घांस्तथैव च ॥ ९ ॥
एतांश्चान्यांश्च [11]देवर्षीन्प्रणम्य रचिताञ्जलिः ।
[12]यथास्थानान्तरगतान्समावाह्य ततो वदेत् ॥ १० ॥
[13]भवद्भिर्नो निशायां तु कर्तव्यः सम्परिग्रहः ।
साहाय्यं चैव दातव्यमस्मिन्नाटचे सहानुगैः ॥ ११ ॥

---

१. ख. घ. सर्वलोकेश्वरं भवम् । ग. सर्वलोकोद्भवोद्भवम् ।
२. ख. घ. ङ. पद्मयोनिं सुरगुरुं ।
३. ख. घ. स्मृतिं मतिं । ग. धृतिं मतिम् ।
४. ख. सेन्दुं ।
५. ख. स्वरान् रुद्रान् वर्णान् । ग. स्वरान् वर्णान् रुद्रान् । घ. सुरान् रुद्रान् वर्णान् ।
६. ख. खगेश्वरम् ।
७. ख. वज्रविद्युत्समुद्रांश्च ।
८. क. ग. घ. महेश्वरान् ।
९. ग. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।
१०. क. म. तथा नाटचं च मातृश्च ।
११. ख. घ. ङ. राजर्षीन् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।
१२. ख. घ. यथास्थानस्थितान् देवान् निमन्त्र्यैतद्वचोऽवदत् ।
१३. ग. भगवद्भिर्निशायां नः ।

[1]सम्पूज्य सर्वानेकत्र कुतपं सम्प्रयुज्य च ।
जर्जराय प्रयुञ्जीत पूजां नाट्यप्रसिद्धये ॥ १२ ॥

नमस्कृत्यावाह्य । वदेदिति सम्बन्धः । परमेश्वरस्मरणं च प्रथममुचितमिति महादेवमिति । महाग्रामणीर्गणपतिः । अन्यांश्चेति । प्रथमाध्यायोक्तान् ॥४-११॥

एकत्रेति । स्थण्डिलभूभागे । कुतपमिति । चतुर्विधातोद्यभाण्डानि । एकत्र निवेशनं जर्जरस्य पूजार्थमवस्थापनम् ॥ १२ ॥

अनुवाद—इसके बाद समस्त लोकों को उत्पन्न करने वाले (जगदीश्वर) महादेव शिव तथा लोकपितामह ब्रह्मा को नमस्कार कर और विष्णु, इन्द्र, ग्रह, सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, धृति, मेधा, स्मृति, चन्द्रमा, सूर्य, मरुद्, लोकपाल तथा अश्विनीकुमार, मित्र, अग्नि, देवताओं, ब्राह्मणादि वर्णो, एकादश रुद्रों, काल, कलि, मृत्यु, नियति और कालदण्ड, विष्णु-प्रहरण, अर्थात् विष्णु के चक्र, नागराज, वासुकि, वज्र, विद्युत्, समुद्र, गन्धर्व, अप्सराओं, मुनियों, भूतों, पिशाचों, यक्षों, गुह्यकों, महोरगों, असुरों, नाट्यविघ्नों तथा अन्य दैत्यों, राक्षसों, नाट्यकुमारियों महाग्रामणी (गणपति), यक्षों, गुह्यकों, भूतसंघों, तथा अन्य देवर्षियों को करबद्ध (हाथ जोड़कर) प्रणाम कर तथा यथास्थान स्थित देवताओं का आवाहन करके कहे कि आप लोग रात में हमें अपने संरक्षण में रखे अथवा आप लोग हमारी पूजा को ग्रहण करें तथा अपने अनुचरों के साथ इस नाट्यकर्म में सहायता करें ॥ ४-११ ॥

अभि०—'नमस्कृत्य' का अर्थ है आवाहन करके । 'नमस्कृत्य' पद का दशवें श्लोक में कथित 'वदेत्' से सम्बन्ध है । पहिले परमेश्वर को स्मरण करना उचित है इसलिए पहिले महादेव लोकपति शिव का स्मरण किया गया है । 'महाग्रामणी' का अर्थ 'गणपति' है । 'अन्य' पद से प्रथम अध्याय में कहे हुए देवताओं का ग्रहण होता है ॥ ४-११ ॥

अनुवाद—समस्त देवताओं का एक जगह पूजन करके और समस्त वाद्यों की पूजा करके तब नाट्य की सिद्धि के लिए जर्जर की पूजा करें ॥ १२ ॥

अभि०—'एकत्र' का अर्थ है 'एक जगह स्थण्डिल भूमि पर' । 'कुतुप' का अर्थ है–'चार प्रकार के वाद्य-भाण्ड' । अर्थात् चार प्रकार के वाद्य-भाण्डों का जर्जर की पूजा के लिए एक जगह स्थापित करना ॥ १२ ॥

---

१. ख. घ. सम्पूज्य देवताः सर्वाः । क—न. त. निमन्त्र्य देवताः सर्वाः ।

[1]त्वं महेन्द्रप्रहरणं सर्वदानवसूदनम् ।
निर्मितस्सर्वदेवैश्च सर्वविघ्ननिबर्हणम्[2] ॥ १३ ॥
[3]नृपस्य विजयं शंस रिपूणां च पराजयम् ।
गोब्राह्मणशिवं[4] चैव नाट्यस्य च विवर्धनम् ॥ १४ ॥
एवं कृत्वा यथान्यायमुपास्यं[5] नाट्यमण्डपे ।
निशायां तु[6] प्रभातायां पूजनं प्रक्रमेदिह[7] ॥ १५ ॥
आर्द्रायां वा मघायां वा याम्ये पूर्वेषु[8] वा त्रिषु ।
आश्लेषामूलयोर्वापि कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १६ ॥

उपास्यमिति भावे कृत्यः उपासनामित्यर्थः ॥ १५ ॥
याम्यं भरणीनक्षत्रम् । पूर्वेष्विति नक्षत्रापेक्षानिर्देशः । तानि पूर्वफल्गुनी पूर्वाषाढा पूर्वाभाद्रपदा च ॥ १६ ॥

अनुवाद—हे जर्जर ! तुम इन्द्र के आयुध हो, तुम समस्त दानवों के नाशक हो, समस्त देवताओं के द्वारा निर्मित तुम समस्त विघ्नों का निवारण करने वाले हो । तुम राजा का विजय करो और शत्रुओं का पराजय करो । गौ और ब्राह्मणों का कल्याण करो तथा नाटय की वृद्धि करो ॥ १३-१४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नियमानुलार पूजन (देवों की उपासना) करके रात्रि में नाटयमण्डप में निवास करके प्रातःकाल पूजन का आयोजन करे ॥ १५ ॥

अभि०––'उपास्यं' का अर्थ है 'उपासना' । यहाँ पर 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'आस्' धातु से भाव में 'कृत्य' (यत्) प्रत्यय है, अतः इसका अर्थ 'उपासना' होगा ॥१५॥

अनुवाद—आर्द्रा, मघा, भरणी, तीनों पूर्वा अर्थात् पूर्वाफाल्गुनी पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, आश्लेषा अथवा मूल नक्षत्रों में रङ्ग (रङ्गमण्डप) का पूजन करे ॥ १६ ॥

---

१. क-च. म. त्वं महेन्द्रस्य प्रहरणं त्वं दानवनिषूदनम् ।
२. ख. सर्वविघ्ननिवारणम् । क. ग. सर्वविघ्ननिवर्हण ।
३. ख. नृपाय विजयं देहि ।
४. ख. गोब्राह्मणहितं ।
५. ख. घ. यथान्यायमुषित्वा । क-च. ब. निदध्यात् ।
६. ख. घ. निशायां च ।
७. ख. प्रक्रमेद्बुधः ।
८. ग. पूर्वासु ।

आचार्येण तु[1] युक्तेन शुचिना दीक्षितेन च ।
रङ्गस्योद्योतनं[2] कार्यं देवतानां[3] च पूजनम् ॥ १७ ॥
दिनान्ते वारुणे घोरे मुहूर्ते [4]यमदैवते ।
आचम्य तु यथान्यायं देवता वै[5] निवेशयेत् ॥ १८ ॥
[6]रक्ताः प्रतिसराः सूत्रं रक्तगन्धाश्च पूजिताः ।
रक्ताः सुमनसश्चैव यच्च रक्तं फलं भवेत् ॥ १९ ॥
[7]यवैस्सिद्धार्थकैर्लाजैरक्षतैः शालितण्डुलैः ।
नागपुष्पस्य चूर्णेन वितुषाभिः प्रियङ्गुभिः ॥ २० ॥

(उद्योतनमिति ।) ज्वलितदर्भोल्मुकेन स्प(द)र्शनं नीराजनमिति प्रसिद्धम् ॥१७॥

अभि०—'याम्य' का अर्थ है 'भरणी नक्षत्र'। 'पूर्वेषु' यह पद नक्षत्रों की अपेक्षा से कहा गया है, निर्देश किया गया है। वे पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा और पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र हैं। इस श्लोक में 'पूर्वेषु' के स्थान पर 'पूर्वासु' यह पाठ भी मिलता है। यह पाठ उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि 'पूर्वा' नक्षत्र है और पूर्वा नक्षत्र तीन हैं। इसी लिए 'त्रिषु' विशेषण दिया गया है 'त्रिषु पूर्वेषु' अर्थात् तीनों पूर्वा नक्षत्रों में। तीनों पूर्वानक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा और पूर्वाभाद्रपद है ॥ १६ ॥

अनुवाद–**सुयोग्य अथवा समाहितमन, पवित्र एवं दीक्षा प्राप्त आचार्य के द्वारा उद्योतन और देवताओं का पूजन करना चाहिए ॥ १७ ॥**

अभि०—'उद्योतन' का अर्थ है–जलते हुए दर्भ के अङ्गारों से प्रदर्शन अर्थात् नीराजन यह प्रसिद्ध है। प्रज्वलित दर्भ के अङ्गारों को चारो ओर घुमाना 'नीराजन' है ॥ १७ ॥

अनुवाद—दिन के अन्त में अर्थात् सन्ध्या के समय भूत जिसके देवता हैं, ऐसे दारुण एवं घोर मुहूर्त्त में आचार्य नियमानुसार आचमन कर (यथाविधि) देवताओं की स्थापना करे ॥ १८ ॥

---

१. ख. घ. सुयुक्तेन ।
२. ख. ग. रङ्गस्योद्यापनं ।
३. ख. घ. दैवतानां ।
४. ख. ग. घ. भूतदैवते ।
५. ख. ग. दैवतानि ।
६. ख. घ. रक्ताः प्रतिसराः तत्र । त. रक्तं प्रतिसरासूत्रं ।
७. ख. यवैः सिद्धार्थकैर्लाजैर्लक्षितैर्लाजतण्डुलैः ।

एतैर्द्रव्यैर्युतं [1]कार्यं [2]देवतानां निवेशनम् ।
आलिखेन्मण्डलं पूर्वं यथास्थानं यथाविधि ॥ २१ ॥
[3]समन्ततश्च कर्तव्यं हस्ताः षोडश मण्डलम्[4] ।
द्वाराणि चात्र कुर्वीत विधानेन[5] चतुर्दिशम् ॥ २२ ॥
मध्ये चैवात्र कर्तव्ये द्वे रेखे तिर्यगूर्ध्वगे ।
तयोः [6]कक्ष्याविभागेन दैवतानि निवेशयेत् ॥ २३ ॥

प्रतिसरा इति । सूत्रविनिर्मिता ग्रन्थिमन्तः कङ्कणविशेषाः । मण्डपस्य रङ्गपीठादेश्चोपर्युक्तं[7] सर्वं निवेश्यते । निवेशनमित्यावाहनकालेऽर्घ्यदा[8]न-मित्यर्थः । अन्ये तु निवेशनमित्यधिकरणे ल्युट् । मण्डलविशेषणं चैतत् । मण्डलं च यवादिभिरित्यादि । नागपुष्पं नागदन्तः । (१९-२१)

अनुवाद—इन पूजन में लाल रङ्ग के सूत्र का कंकण, मौली, लालचन्दन, लालरङ्ग का फूल और लाल रङ्ग का फल होना चाहिए । जौ, सरसों लाजा (धान का लावा, खील), विना टूटे हुए शालि (धान) के चावल, नागपुष्य का चूर्ण और छिलके रहित प्रियङ्गु इन द्रव्यों के साथ देवताओं का स्थापना करनी चाहिए ॥ १९-२१(१) ॥

अभि०—'प्रतिसर' का अर्थ है—'लाल सूत से बनाया गया गांठों वाला कङ्कण' । मण्डप और रङ्गपोठ के ऊपर उपर्युक्त सारो वस्तुएँ रखी जानी चाहिए । 'निवेशन' अर्थात् देवताओं के आवाहन के समय अर्घ्य देना । अन्य व्याख्याकार तो निवेशन पद में अधिकरण में ल्युट् (अन) प्रत्यय मानते हैं । यह मण्डल का विशेषण है और मण्डल जौ आदि के चूर्ण से बनाया जाता है । नागपुष्प का अर्थ नागदन्त है ॥ १९-२१(१) ॥

---

१. क. कुर्याद् ।
२. ख. ग. दैवतानां ।
३. ख. घ. समन्ततस्तु कर्त्तव्या ।
४. ख. मण्डलैः । घ. मण्डले ।
५. ख. विधिना च ।
६. ख. कक्ष्यानियोगेन । क–च. ब. उक्तविभागेन ।
७. क-भ. रङ्गपीठादेश्चोपयुक्तं ।
८. क-म. भ. कालेऽर्थदानमित्यर्थः ।

षोडशहस्तं यथा भवति तथा कार्यमिति। अतः चतुर्हस्तं रङ्गपीठपृष्ठ एव मण्डलमित्युक्तं भवति। तेन शङ्कुकादिभिः षोडशहस्तावकाशाभावः आसनस्तम्भादिवशात्। तस्मादकृत एव रङ्गपीठे इत्यादि वृथैव बहुतर-मुपन्यस्तम्। द्वे रेखे इति। प्राक्तने। तिर्यग्गतैका दक्षिणोत्तरगता। पृष्ठे द्वितीया पूर्वपश्चिमगता। तयोः रेखयोः। कक्ष्या स्थानान्तराणि। तेषु विभागेन भावितानि ॥ २१-२३ ॥

अनुवाद—पहिले यथास्थान (शास्त्रनिर्दिष्ट स्थान पर) विधिपूर्वक मण्डल की रचना करें और चारों ओर से सोलह हाथ का मण्डल बनाना चाहिए। इस मण्डल में चारों दिशाओं में विधिपूर्वक द्वार (दरवाजे) बनाये। उसके बीच में तिरछी एवं अधंगामी दो रेखाएँ बनाई जाँय। उनमें कक्ष्याविभाग के अनुसार देवताओं की स्थापना करे ॥ २१-२३ ॥

अभि०—जिस प्रकार १६ हाथ का हो उस प्रकार मण्डल बनाना चाहिए। इसलिए रङ्गपीठ के ऊपर चार हाथ का (वर्गाकार लम्बा-चौड़ा) मण्डल होता है, ऐसा कहा गया है। शङ्कुक आदि आचार्यों के अनुसार मण्डप में आसन और स्तम्भों के कारण १६ हाथ स्थान का अभाव रहेगा। इसलिए रङ्गपीठ पर १६ हाथ का मण्डल नहीं बनाया जा सकता है। अतः इस प्रकार का मण्डल आदि बनाना व्यर्थ है, यह बहुत कुछ कहा जा चुका है। 'दो रेखाएँ' प्राकृत हैं। एक रेखा तिरछी दक्षिण और उत्तर में दूसरी रेखा ऊर्ध्वगामी पूर्व और पश्चिम में। उन रेखाओं के कक्ष्या (स्थानान्तरों) में विभाग से देवताओं की स्थापना करें ॥ २१-२३ ॥

विमर्श—भरत और अभिनवगुप्त ने मण्डल निर्माण का विधान बनाया है किन्तु कुछ संस्करणों में 'मण्डल' के स्थान पर 'मण्डप' पाठ मिलता है। यहाँ 'मण्डल' पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता हैं क्योंकि मण्डप का विधान तो पहिले द्वितीय अध्याय में बताया जा चुका है। यहाँ तो देवताओं के स्थापन एवं पूजन के लिए मण्डल का विधान बताया जा रहा है। भरत के अनुसार देव-पूजन के लिए प्रथम मण्डल का निर्माण करें। यह मण्डल १६ हाथ का होना चाहिए और चारो दिशाओं में चार द्वार बनाने चाहिए। उस मण्डल में देवताओं की स्थापना कर पूजन करना चाहिए। अभिनवगुप्त का कथन है कि १६ हाथ का मण्डल ऐसा बनाये जो नाप में १६ हाथ का हो। इसलिए रङ्गपीठ पर चार हाथ वर्गाकार अर्थात् चार हाथ लम्बा एवं चार हाथ चौड़ा मण्डल बनाना चाहिए जो चारों ओर चार-चार हाथ होने से १६ हाथ हो जाता हैं। शङ्कुक आदि आचार्यो का कथन है कि नाट्यमण्डप में जनोपवेशनार्थ आसनों और स्तम्भों के निर्मित होने से १६ हाथ का स्थान ही नहीं रहता जहाँ मण्डल बनाया जा सके, इसलिए रङ्गपीठ पर मण्डल नही बनाना चाहिये, यह व्यर्थ में ही बार-बार कहा है।

पद्मोपविष्टं ब्रह्माणं तस्य[1] मध्ये निवेशयेत् ।
आदौ निवेश्यो भगवान्साधं भूतगणैः शिवः[2] ।। २४ ।।
नारायणो महेन्द्रश्च स्कन्दः[3] सूर्योऽश्विनौ शशी ।
[4]सरस्वती च लक्ष्मीश्च श्रद्धा मेधा च पूर्वतः ।। २५ ।।
पूर्वदक्षिणतो वह्निर्निवेश्यः [5]स्वाहया सह ।
[6]विश्वेदेवाः सगन्धर्वा रुद्राः सर्पगणास्तथा ।। २६ ।।
दक्षिणेन[7] निवेश्यस्तु[8] यमो मित्रश्च सानुगः ।
पितॄन्पिशाचानुरगान् गुह्यकांश्च निवेशयेत ।। २७ ।।
नैर्ऋत्यां राक्षसांश्चैव[9] भूतानि[10] च निवेशयेत् ।
पश्चिमायां समुद्रांश्च वरुणं यादसां पतिम्[11] ।। २८ ।।

कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि यहाँ पर 'हस्त' शब्द का अर्थ 'हस्तताल' है और हस्तताल एक बालिश्त अर्थात् अङ्गुष्ठ और मध्यमा अङ्गुली के फैलाने पर दोनों शिरों के बीच की दूरी को कहते हैं । यदि हम यहाँ 'हस्त' शब्द का हस्तताल या बालिश्त (बित्ता) अर्थ लेते हैं तो रङ्गपीठ में १६ बालिश्त भूमि पर मण्डल बनाया जा सकता है, क्योंकि चतुरस्र नाट्यमण्डप में रङ्गपीठ १६ × १६ बालिश्त (हस्तताल) का होता है । देवताओं के स्थापन एवं पूजन के लिए जो मण्डल बनाया जाय उसके चारो ओर चार द्वार बनाने चाहिए । उसमें कक्ष्या-विभाग के अनुसार देवताओं की स्थापना करनी चाहिए ।। २१-२३ ।।

---

१. ख. रङ्गमध्ये ।
२. ग. घ. भवः ।
३. ख घ. ङ स्कन्दार्कावश्विनौ ।
४. ख. सरस्वती च लक्ष्मीं च श्रद्धां मेधाम् ।
५. क-म. चन्द्रमा भानुरेव च ।
६. ख. घ. विश्वेदेवाश्च गन्धर्वा रुद्राश्च ऋषयस्तथा ।
ग. विश्वेदेवाः सगन्धर्वा रुद्रा. सर्वगणास्तथा ।
क-न. त. विश्वेदेवाः सगन्धर्वा रुद्राश्चाप्सरसस्तथा ।
७. ख. घ. निवेश्यश्च ।
८. ख. यमो मित्रस्तु सानुगः । क-म. यमः प्रेतगणैः सह ।
९. ख. नैर्ऋतांश्चैव ।
१०. ख. घ. सर्वभूतान् ।
११. ख. च निवेशयेत् । क. न. चाम्भसां पतिम् ।

वायव्यायां[1] दिशि तथा[2] सप्त वायून्निवेशयेत् ।
[3]तत्रैव विनिवेश्यस्तु गरुडः पक्षिभिः सह ॥ २९ ॥
[4]उत्तरस्यां दिशि तथा धनदं सन्निवेशयेत् ।
नाट्यस्य मातॄश्च तथा यक्षानथ सगुह्यकान्[5] ॥ ३० ॥
तथैवोत्तरपूर्वायां नन्द्याद्यांश्च[6] गणेश्वरान् ।
ब्रह्मर्षिभूतसङ्घांश्च यथाभागं निवेशयेत् ॥ ३१ ॥
स्तम्भे सनत्कुमारं तु दक्षिणे दक्षमेव च ।
ग्रामण्यश्चोत्तरे[7] स्तम्भे पश्चिमे स्कन्दमेव च ।
स्तम्भे स्तम्भे यथान्यायं पूजार्थं सन्निवेशयेत्[8] ॥ ३२ ॥
अनेनैव विधानेन यथास्थानं यथाविधि ।
[9]सुप्रसादानि सर्वाणि दैवतानि निवेशयेत् ॥ ३३ ॥

अनुवाद— उस मण्डल के मध्य में कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा जी को स्थापित करे। फिर सबसे पहिले भूतगणों के साथ भगवान् शिव को स्थापित करे। तदनन्तर नारायण, महेन्द्र, स्कन्द, सूर्य, चन्द्रमा, दोनों अश्विनीकुमार, सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा और मेधा को पूर्व दिशा में स्थापित करे। पूर्व दक्षिण कोण अर्थात् अग्निकोण में स्वाहा के साथ अग्निदेव, विश्वेदेवा, गन्धर्वों के साथ रुद्र और सर्पगणों (पाठभेद से ऋषिगणों) को स्थापित करें। दक्षिण दिशा में यम और अनुचरों के साथ मित्र, पितृगण, पिशाच, उरग (सर्पगण) और गुह्यकों की स्थापना करे। नैऋत्य कोण में राक्षसों और भूतों को स्थापित करे। पश्चिम दिशा में जल के स्वामी वरुण और समुद्रों की स्थापना करें। वायव्यकोण में

---

१. ख. ग. घ. वायव्यां वै ।
२. ख. सप्तवायुं ।
३. ख. घ. निवेशयेच्च तत्रैव गरुडं पक्षिभिः सह ।
४. ख. उत्तरस्यां कुबेरं च सर्वैरनुचरैः सह ।
   क-न. म. उत्तरस्यां कुबेरं च सर्वैरनुचरैर्वृतम् ।
५. ख. च गुह्यकान् । क च त. सहानुगान् ।
६. ख. घ. नन्दिनं च ।
७. क. ग. ग्रामण्यमुत्तरे ।
८. ख. विनिवेशयेत् ।
९. ख. घ. वर्णरूपान्विताः सर्वा देवताः सन्निवेशयेत् ।

तस्येति । मण्डलस्य । पद्मोपविष्टमिति । मध्ये पद्मं कार्यमित्यर्थः । आदाविति । तेन आदिदेशे ऐशानकोणे । प्रथमावसरे च तथैवावाहनस्योक्तत्वात् । पद्मोपम (पविष्टिमि) मिति प्रतिदिशः सम्बन्धनीयत्वेन (सम्बन्धीनि । तेन) नवपद्ममण्डलमित्युक्तं भवति । दक्षिणपूर्वे आग्नेयस्तम्भ इति । उत्तरपूर्वे ऐशानस्तम्भ इत्यर्थः । सुप्रसादानीति । तथा ध्यानेन निवेशितानीत्यर्थः ॥ २४-३३ ॥

सात वायुओं को स्थापित करें और उसी दिशा में पक्षियों के साथ गरुड़ की स्थापना करे । उत्तर दिशा में कुबेर को तथा नाट्य-मातृकाओं और गुह्यकों के साथ यक्षों को स्थापित करे । उसी प्रकार उत्तर-पूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में नान्दी आदि गणेश्वरों, ब्रह्मर्षियों और भूतसंघों को यथायोग्य स्थान पर स्थापित करे । पूर्व स्तम्भ में सनत्कुमार को, दक्षिण स्तम्भ में दक्ष को, पश्चिम स्तम्भ में स्कन्द को और उत्तर स्तम्भ पर गणेश को शास्त्रविधि के अनुसार प्रत्येक स्तम्भ पर पूजा के लिए स्थापित करे । इसी विधान के अनुसार यथायोग्य स्थान पर विधिपूर्वक अच्छी तरह प्रसन्न सभी देवताओं को स्थापित करे ॥ २४-३३ ॥

अभि०—नाट्यमण्डप में जिस मण्डल का निर्माण करे उस मण्डल के मध्य में कमल (पद्मदल) निर्माण करे और उस पर ब्रह्माजी को स्थापित करें । 'आदौ' से अभिप्राय है कि आदिदेश ईशान कोण में और प्रथम अवसर पर उसी प्रकार आवाहन का क्रम कहा गया है । 'पद्मोपविष्ट' का सम्बन्ध प्रत्येक दिशा से जोड़ना चाहिए । इसी से नौ पद्मों का एक मण्डल बनता है, यह कहा गया है । दक्षिण-पूर्व का अर्थ है अग्निकोण के स्तम्भ पर और उत्तर-पूर्व का अर्थ है–ईशान कोण के स्तम्भ पर । 'सुप्रसादानि' से अभिप्राय है–उसी प्रकार ध्यान से स्थापित करे ॥ २४-३३ ॥

विमर्श—यहाँ पर यह बताया गया है कि देवताओं की स्थापना एवं पूजा के लिए एक मण्डल का निर्माण करे और मण्डल के चारों ओर चार दरवाजे बनाये तथा उस मण्डल के मध्य में कमलदल बनाये जिस पर ब्रह्मा को बैठाये । इसी प्रकार प्रत्येक दिशा में अर्थात् आठो दिशाओं में एक-एक कमल दल का निर्माण करे जिन पर उन-उन दिशाओं के कथित देवताओं को स्थापित करे । इस प्रकार आठों दिशाओं के आठ और मध्य में एक कमलदल कुल नौ कमलदल होते हैं । नौ कमलदलों का एक मण्डल होता है । इसी मण्डल में सभी देवताओं की स्थापना करे । डा० एम० एम० घोष ने चारो स्तम्भों पर चार देवताओं को स्थापित करने का विधान बताया है उनके अनुसार पूर्व स्तम्भ पर सनत्कुमार, दक्षिण स्तम्भ पर यम, पश्चिम स्तम्भ पर स्कन्द और उत्तर स्तम्भ पर ग्रामणी (ग्रामदेवता) की स्थापना करे । उन्होंने यहाँ ग्रामणी का अर्थ गणपति लिया है ॥ २४-३३ ॥

स्थाने स्थाने यथान्यायं विनिवेश्य तु देवताः ।
[1]तासां प्रकुर्वीत ततः पूजनं तु यथार्हतः[2] ॥ ३४ ॥

देवताभ्यस्तु[3] दातव्यं [4]सितमाल्यानुलेपनम् ।
[5]गन्धर्ववह्निसूर्येभ्यो रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥ ३५ ॥

[6]गन्धं माल्यं च धूपं च यथावदनुपूर्वशः ।
दत्त्वा ततः प्रकुर्वीत [7]बलिं पूजां यथाविधि ॥ ३६ ॥

यथार्हतः तत्तदागमेषु यो यस्यां विधिर्दृश्यते देवतायां तेन क्रमेण ॥ ३४ ॥

माल्यानुलेपनम् ॥ ३५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार स्थान-स्थान पर नियमानुसार विधिपूर्वक देवताओं की स्थापना करके यथायोग्य उनका पूजन करें ॥ ३४ ॥

अभि०—'यथार्हतः' पद से तात्पर्य है कि उन-उन शास्त्रों में जिस देवता के लिए जो विधि बताई गयी है, उसी क्रम से उस देवता की स्थापना और पूजा करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

अनुवाद—देवताओं के लिए श्वेतवर्ण की माला और श्वेत चन्दन का अनुलेप प्रदान करना चाहिए। गन्धर्व, अग्नि और सूर्य के लिए रक्त पुष्प की माला और लाल चन्दन का अनुलेप अर्पित करना चाहिए। यथाविधि अर्थात् शास्त्र के अनुसार क्रमशः गन्ध, माला, और धूप आदि अर्पित कर तदनन्तर विधिपूर्वक पजा और बलि प्रदान करे ॥ ३५-३६ ॥

अभि०—यहाँ पर माल्यानुलेप का अर्थ माला प्रदान तथा चन्दन का अनुलेप करना लिखा है। भाव यह कि विधानानुसार देवताओं पर तो सफेद माला और सफेद चन्दन चढ़ाना चाहिए और गन्धर्व, अग्नि; सूर्य पर लाल माला एवं लाल चन्दन चढ़ाना चाहिए। इस प्रकार गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से देवताओं की पूजा करे और वलि प्रदान करे॥ ३५-३६ ॥

---

१. ख. घ. प्रकुर्वीत ततस्तासां पूजनं तु यथार्हतः ।
२. क–न. यथार्थतः । क-म. त. यथाक्रमम् ।
३. ख. घ. दैवतेभ्यस्तु ।
४. ख. घ. सितं माल्यानुलेपनम् ।
५. ख. घ. वह्निगन्धर्वसूर्येभ्यो ।
६. ग. गन्धान्माल्यांश्च ।
७. ख. बलिपूजां ।

[1]ब्रह्माणं मधुपर्केण पायसेन सरस्वतीम् ।
शिवविष्णुमहेन्द्राद्याः सम्पूज्या मोदकैरथ ॥ ३७ ॥
घृतौदनेन हुतभुक्सोमार्कौ तु गुडौदनैः ।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा मुनयो मधुपायसैः ॥ ३८ ॥
[3]यममित्रौ च सम्पूज्यावपूपैर्मोदकैस्तथा ।
पितॄन्पिशाचानुरगान् सर्पिःक्षीरेण तर्पयेत् ॥ ३९ ॥
[4]पक्वान्नेन तु मांसेन सुरासीधुफलासवैः ।
अर्चयेद् भूतसङ्घांश्च चणकैः पललाप्लुतैः ॥ ४० ॥
अनेनैव विधानेन सम्पूज्या मत्तवारणी ।
[5]पक्वान्नेन तु मांसेन सम्पूज्या रक्षसां गणाः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी को मधुपर्क से, सरस्वती को पायस (खीर) से, शिव, विष्णु, महेन्द्र आदि देवताओं को मोदकों (लड्डुओं) से पूजा करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

अनुवाद—अग्नि की घृतमिश्रित भात (ओदन) से, सूर्य और चन्द्रमा को गुड़ मिश्रित और भात से गन्धर्वों के साथ विश्वेदेवा और मुनियों को मधु सहित पायस से पूजन करे ॥ ३८ ॥

अनुवाद—यम और मित्र देवता को मालपुआ और लड्डुओं से पूजन करना चाहिए। पितरों, पिशाचों और सर्पगणों का घी और दूध से तर्पण करें ॥ ३९ ॥

अनुवाद—पक्वान्न (पकवान), मांस, मदिरा, सीरे से बनी मदिरा और फलों के आसव और मांसमिश्रित चने से भूतसंघों की अर्चना करे ॥ ४० ॥

अनुवाद—इसी विधि के अनुसार मत्तवारणी की पूजा करनी चाहिए। पक्वान्न और मांस से राक्षसों की पूजा करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

---

१. ख. घ. द्रुहिणं ।
२. ख. घ. वह्निश्च ।
३. ख. घ. यममित्रौ च समभ्यर्च्यौ मोदकैः सूपमिश्रितैः ।
४. ख. घ. पक्वामकेन ।
५. ग. पक्वान्नेन तु मात्स्येन । ख. घ. पक्वामकेन मांसेन ।

सुरामांसप्रदानेन [1]दानवान्प्रतिपूजयेत् ।
शेषान्देवगणांस्तज्ज्ञः[2] सापूपोत्कारिकौदनैः ॥ ४२ ॥

मत्स्यैश्च पिष्टभक्ष्यैश्च सागरान्सरितस्तथा ।
[3]सम्पूज्य वरुणं चापि दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४३ ॥

[4]नानामूलफलैश्चापि मुनीन्सम्प्रतिपूजयेत् ।
वायूंश्च पक्षिणश्चैव[5] विचित्रैर्भक्ष्यभोजनैः ॥ ४४ ॥

[6]मातृर्नाटचस्य सर्वास्ता धनदं च सहानुगैः ।
[7]अपूपैर्लाजिकामिश्रैर्भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत्[8] ॥ ४५ ॥

अनुवाद -मदिरा और मांस अर्पित कर दानवों की पूजा करें और पूजा-विधान के ज्ञाता को शेष देवताओं की मालपुआ के साथ लूची या लपसी तथा चावल (भात) से पूजा करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

अनुवार—मछली तथा उड़द की पीठी से बने हुए पदार्थ से (बड़ा आदि से) सागर और नदियों की पूजा करें और वरुण देवता की पूजा करके घृत-मिश्रित पायस (खीर) अर्पित करना चाहिए ॥ ४३ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के कन्द, मूल और फलों से मुनियों की पूजा करे और नाना प्रकार के विचित्र भक्ष्य भोजनों से वायु और पक्षियों की पूजा करे ॥ ४४ ॥

अनुवाद—सभी नाटच-मातृकाओं और अनुचरों के साथ कुबेर की मालपुआ और लूची या लपसी से मिश्रित भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों से पूजा करें ॥ ४५ ॥

---

१. ख. विधिना ।
२. ख. घ. प्राज्ञः ।
३. ख. घ अभ्यर्च्य वरुणश्चापि दातव्यो घृतपायसः ।
४. ख. नानामूलफलैश्चैव ।
५. ख. घ. विविधैः ।
६. ख. घ. नाटचस्य च तथा मातृः ।
७ ग. लेपिकामिश्रैः । ख. लोपिकाभिस्तैः । घ. लोचिताभिस्तैः ।
८. ख. घ. प्रयत्नतः ।

एवमेषां बलिः कार्यो नानाभोजनसंश्रयः ।
पुनर्मन्त्रविधानेन बलिकर्म च वक्ष्यते[1] ॥ ४६ ॥
देवदेव महाभाग [2]सर्वलोकपितामह ।
मन्त्रपूतमिमं सर्वं [3]प्रतिगृह्णीष्व मे बलिम् ॥ ४७ ॥
[4]देवदेव महादेव गणेश त्रिपुरान्तक ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव [5]मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ४८ ॥
[6]नारायणामितगते पद्मनाभ सुरोत्तम ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव [7]मन्त्रपूतो मयार्पितः ॥ ४९ ॥
पुरन्दरामरपते वज्रपाणे शतक्रतो ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव [8]विधिमन्त्रपुरस्कृतः ॥ ५० ॥

पाठान्तर से इसका अर्थ होगा कि सभी नाट्य मातृकाओं और अनुचरों के साथ कुबेर की पूजा और लाजा (लाजिक अर्थात् धान का लावा) आदि भक्ष्य पदार्थों से पूजा करे ॥ ४५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार इन देवताओं की अनेक प्रकार के भोजनों से बलि देनी चाहिए। इसके बाद मन्त्र-विधान के द्वारा बलि कर्म का कथन करेंगे ॥ ४६ ॥

अनुवाद हे देवाधिदेव महाभाग समस्त लोक के पितामह ! मन्त्रों से पवित्र मेरे द्वारा अर्पित इन समस्त बलि को आप ग्रहण करें ॥ ४७ ॥

अनुवाद—हे देवाधिदेव गणेश्वर त्रिपुरहन्ता महादेव शिव ! मेरे द्वारा (प्रस्तुत) विविध मन्त्रों से पवित्र इस बलि को ग्रहण करें ॥ ४८ ॥

अनुवाद—हे अमित (असीम) गति वाले, पद्मनाम, देवताओं में श्रेष्ठ नारायण, विष्णुदेव ! मन्त्रो से पूत मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को ग्रहण करें ॥ ४९ ॥

---

१. ख. ग. घ प्रवक्ष्यते ।
२. ख. घ. पद्मयोने पितामह ।
३. ख. घ. बलिं देव गृहाण नः ।
४. ग. महादेव महायोगिन् देवदेव सुरोत्तम ।
५. क-न. मन्त्रसंस्कारसंस्कृतः । क-न. विधिमन्त्रपुरस्कृतः ।
६. क–प. म. नारायणामृतपते ।
७. ख. घ. मन्त्रसंस्कारसंस्कृतः । क-अ. ममाच्युत ।
८. क–अ. मन्त्रपूतो मयार्पितः । ख. घ. बलिमन्त्रपुरस्कृतः ।

[1]देवसेनापते स्कन्द भगवन् शङ्करप्रिय ।
[2]वलिः प्रीतेन मनसा षण्मुख प्रतिगृह्यताम् ॥ ५१ ॥
महादेव महायोगिन्देवदेव सुरोत्तम ।
संप्रगृह्य बलिं देव रक्ष विघ्नात्सदोत्थितात्[3] ॥ ५२ ॥
देव देवि[4] महाभागे सरस्वति हरिप्रिये ।
प्रगृह्यतां बलिर्मातर्मया भक्त्या समर्पितः ॥ ५३ ॥
नानानिमित्तसम्भूताः पौलस्त्याः सर्व एव तु[5] ।
राक्षसेन्द्रा महासत्त्वाः[6] प्रतिगृह्णीत मे बलिम् ॥ ५४ ॥
लक्ष्मीः सिद्धिर्मतिर्मेधा सर्वलोकनमस्कृताः ।
मन्त्रपूतमिमं देव्यः प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—हे देवेन्द्र ! वज्रपाणि, शतक्रतो, पुरन्दर, इन्द्रदेव ! विविध मन्त्रों से सुसंस्कृत (पुरस्कृत) इस वलि को ग्रहण करें ॥ ५० ॥

अनुवाद—हे देवताओ के सेनापति, शङ्कर के प्रिय (पुत्र) छ मुख वाले (षड़ानन) भगवन् स्कन्द (कार्त्तिकेय) ! आप प्रसन्न मन से इस पवित्र वलि को ग्रहण करें ॥ ५१ ॥

अनुवाद—हे देवाधिदेव, महादेव, महायोगिन्, देवताओ में श्रेष्ठ, हे देव ! इस बलि को स्वीकार कर इन उठने वाले विघ्नों से हमारी सदा रक्षा करें ॥ ५२ ॥

अनुवाद—हे देवि देवि ! महाभागे ! विष्णुप्रिये ! हे माता सरस्वति ! मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित इस वलि को ग्रहण करें ॥ ५३ ॥

अनुवाद—हे अनेक कारणों से उद्भूत, पुलस्त्य के वंशज; महाशक्तिशाली सभी राक्षसो के स्वामी ! मेरे द्वारा अर्पित वलि को ग्रहण करे ॥ ५४ ॥

अनुवाद—हे समस्त संसार के वन्दनीय लक्ष्मी सिद्धि, मति एवं मेधा देवियों । मेरे द्वारा अर्पित मन्त्र से पूत इस बलि को ग्रहण करें ॥ ५५ ॥

---

१. ख. देवसेनापतिस्कन्द ।
२. ख. प्रीतेन मनसा देव ।
३. क–ग. सदोत्थितान् ।
४. देवि देव । ग. देवदेवि ।
५. ग. ते ।
६. ख. घ. प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ।

सर्वभूतानुभावज्ञ लोकजीवन मारुत ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः[1] ॥ ५६ ॥

देववक्त्र सुरश्रेष्ठ धूमकेतो हुताशन ।
भक्त्या समुद्यतो देव बलिः [2]सम्प्रति गृह्यताम् ॥ ५७ ॥

सर्वग्रहाणां प्रवर तेजोराशे दिवाकर ।
भक्त्या मयोद्यतो देव बलिः सम्प्रति गृह्यताम् ॥ ५८ ॥

सर्वग्रहपते सोम द्विजराज जगत्प्रिय ।
प्रगृह्यतामेष बलिर्मन्त्रपूतो मयोद्यतः[3] ॥ ५९ ॥

महागणेश्वराः सर्वे नन्दीश्वरपुरोगमाः ।
[4]प्रगृह्यतां बलिर्भक्त्या मया सम्प्रति चोदितः ॥ ६० ॥

अनुवाद—हे समस्त प्राणियों के प्रभाव एवं शक्तियों के जानकार (ज्ञाता) लोकजीवन, अर्थात् समस्त संसार के जीवन (प्राण), हे मरुतदेव ! मेरे द्वारा समर्पित मन्त्रों से पूत इस बलि को ग्रहण करें ॥ ५६ ॥

अनुवाद—हे देवताओं के मुख ! देवों में श्रेष्ठ, धूमकेतो ! (धुएँ के ध्वज वाले) हुताशन ! अग्निदेव ! भक्ति से समर्पित इस बलि को ग्रहण करें ॥५७॥

अनुवाद—समस्त ग्रहों में श्रेष्ठ ! तेज की राशि, हे दिवाकर ! (सूर्यदेव) मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित बलि को ग्रहण करें ॥ ५८ ॥

अनुवाद—हे समस्त ग्रहों के स्वामी द्विजराज ! जगत् के प्रिय ! चन्द्रदेव ! मेरे द्वारा अर्पित मन्त्र से पूत इस बलि को ग्रहण करें ॥ ५९ ॥

अनुवाद—नन्दीश्वर जिनमें अग्रगण्य हैं, ऐसे हे महागणेश्वरों ! इस समय मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित बलि को ग्रहण करें ॥ ६० ॥

---

१. ग. मयार्पितः ।

२. ख. ग. घ. सम्प्रतिगृह्यताम् ।

३. ख. प्रगृह्यतामेष बलिर्मन्त्रपूतः पुरस्कृतः । ग. प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ।

४. ख. घ. प्रतिगृह्णन्त्विमं भक्त्या बलिं सम्यङ् मयोदितम् ।
क-न. प्रगृह्यतामेष बलिर्मया भक्त्या प्रचोदितः ।
क-अ. गृह्यतां मे बलिर्भक्त्या गणाः संप्रतिपादिताः ।

नमः पितृभ्यः सर्वेभ्यः [1]प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ।
भूतेभ्यश्च नमो नित्यं येषामेष बलिः प्रियः ॥ ६१ ॥
कामपाल नमो नित्यं यस्यायं ते [2]विधिः कृतः ॥ ६२ ॥
नारदस्तुम्बुरुश्चैव विश्वावसुपुरोगमाः ।
परिगृह्णन्तु मे सर्वे गन्धर्वा बलिमुद्यतम्[3] ॥ ६३ ॥
यमो मित्रश्च भगवानीश्वरौ लोकपूजितौ ।
इमं मे प्रतिगृह्णीतां बलिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ६४ ॥
[4]रसातलगतेभ्यश्च पन्नगेभ्यो नमोनमः ।
दिशन्तु सिद्धिर्नाट्यस्य पूजिताः पापनाशनाः[5] ॥ ६५ ॥
सर्वाम्भसां पतिर्देवो वरुणो हंसवाहनः ।
पूजितः प्रीतिमानस्तु ससमुद्रनदीनदः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—समस्त पितरों को नमस्कार है। हे पितृगण ! आप इस बलि को ग्रहण करें और भूतगणों को नमस्कार है जिनको यह बलि सदा प्रिय है। हे कामपाल ! आपको नित्य नमस्कार है जिनके लिए यह विधि (बलि) की गई है ॥ ६१-६२ ॥

अनुवाद—नारद, तुम्बुरु और विश्वावसु प्रमुख सभी गन्धर्वगण ! मेरे द्वारा प्रदत्त बलि को आप सब ग्रहण करें ॥ ६३ ॥

अनुवाद—यम लोक द्वारा पूजित सामर्थ्यशाली भगवान् यम और मित्र दोनों मेरे द्वारा प्रदत्त मन्त्रों से पुरस्कृत इस बलि को ग्रहण करें ॥ ६४ ॥

अनुवाद—रसातल में रहने वाले पन्नगों (सर्पों) को बार-बार नमस्कार है। हे वायु का आहार करने वाले पवनाशनों ! मेरे द्वारा पूजित नाट्य में सिद्धि प्रदान करें ॥ ६५ ॥

अनुवाद—समस्त जलों के स्वामी, हंसवाहन वरुणदेव ! समुद्र, नद और नदियों के साथ मेरे द्वारा पूजित होकर प्रसन्न होवें ॥ ६६ ॥

---

१. क-त. प. ब. प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ।

२. ख. घ. बलिः ।

३. ख. बलियुत्तमम् ।

४. ख. घ. रसातलचरेभ्यश्चः ।

५. ख-ग. घ. पवनाशनाः ।

वैनतेय महासत्त्व सर्वपक्षिपते विभो[1] ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ६७ ॥
धनाध्यक्षो यक्षपतिर्लोकपालो धनेश्वरः ।
[2]सगुह्यकस्सयक्षश्च प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ६८ ॥
नमोऽस्तु नाट्यमातृभ्यो ब्राह्म्याद्याभ्यो नमोनमः ।
सुमुखीभिः प्रसन्नाभिर्बलिरद्य [3]प्रगृह्यताम् ॥ ६९ ॥
रुद्रप्रहरणं सर्वं[4] प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ।
विष्णुप्रहरणं चैव विष्णुभक्त्या मयोद्यतम् ॥ ७० ॥
तथा [5]कृतान्तः कालश्च सर्वप्राणिवधेश्वरौ[6] ।
मृत्युश्च नियतिश्चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ७१ ॥

अनुवाद—हे समस्त पक्षियों के स्वामी, महापराक्रमी, विनता के पुत्र भगवन् गरुड़देव ! मेरे द्वारा प्रस्तुत मन्त्र से पवित्र बलि को ग्रहण करें ॥ ६७ ॥

अनुवाद—हे धन के अधिपति ! यक्षों के स्वामी, लोकपाल, धनाधीश कुबेर सभी यक्षों और गुह्यकों के साथ मेरे द्वारा प्रस्तुत बलि को ग्रहण करें ॥ ६८ ॥

अनुवाद—नाट्यमातृकाओं को नमस्कार है और ब्राह्मी आदि नाट्यमाताओं को बार-बार नमस्कार है । हे सुन्दर मुख वाली देवियों ! प्रसन्न होकर इस बलि को ग्रहण करें ॥ ६९ ॥

अनुवाद—हे रुद्र के आयुध ! मेरे द्वारा अर्पित समस्त बलि को ग्रहण करें । और हे विष्णु के आयुध ! विष्णु की भक्ति से मेरे द्वारा प्रस्तुत बलि को ग्रहण करें ॥ ७० ॥

अनुवाद—हे समस्त प्राणियों के बध (मृत्यु) के स्वामी, सबका अन्त करने वाले कृतान्त और काल तथा मृत्यु और नियति ! मेरे द्वारा अर्पित बलि को ग्रहण करें ॥ ७१ ॥

---

१. ख. घ. प्रभो ।
२. ख. घ. सुगुह्यकैश्च यक्षैश्च ।
३. ख. ग. घ. सम्प्रतिगृह्यताम् ।
४. ख. घ. चैव ।
५. क-अ भूतान्तकः कालः ।
६. ख. सर्वप्राणिवशेश्वरौ । क-अ. च. ब. सर्वप्राणधनेश्वरः ।

याश्चास्यां मत्तवारण्यां संश्रिता[1] वास्तुदेवताः ।
मन्त्रपूतमिमं सम्यक्प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ७२ ॥
[2]अन्ये ये देवगन्धर्वा दिशो दश समाश्रिताः ।
[3]दिव्यान्तरिक्षभौमाश्च तेभ्यश्चायं बलिः कृतः ॥ ७३ ॥
[4]कुम्भं सलिलसम्पूर्णं पुष्पमालापुरस्कृतम् ।
स्थापयेद्रङ्गमध्ये तु सुवर्णं चात्र दापयेत् ॥ ७४ ॥
आतोद्यानि तु सर्वाणि कृत्वा वस्त्रोत्तराणि तु ।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पूजयेत् ॥ ७५ ॥

---

[5]उभयत्रापि सुरादिप्रधानो बलिरित्यर्थः ॥ ७३ ॥
अत्र पूजितस्थापितस्य कुम्भस्य विनियोगो भविष्यति ॥ ७४ ॥

अनुवाद—इस मत्तवारणी में जो वास्तुदेवता स्थापित हैं वे मन्त्र से पूत मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को अच्छी तरह ग्रहण करें ॥ ७२ ॥

अनुवाद—स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी पर रहने वाले, अन्य जो देवता और गन्धर्व दशों दिशाओं में स्थित हैं, उनके लिए यह बलि प्रस्तुत है ॥ ७३ ॥

अभिनव—सभी जगह देवता आदि को बलि देनी चाहिए ॥ ७३ ॥

अनुवाद—पुष्प और माला से सुसज्जित जल से पूरा भरे हुए घट को रङ्गमञ्च के मध्य में स्थापित करे और उसमें सुवर्ण डाले ॥ ७४ ॥

अभि०—यहाँ पर पूजा किये हुए स्थापित घट का विनियोग होगा ॥ ७४ ॥

अनुवाद—फिर सभी वाद्यों को वस्त्रों से ढक कर गन्ध, माला, फूल, धूप, भक्ष्य और भोज्य पदार्थों से पूजन करें ॥ ७५ ॥

विमर्श—देवताओं के पूजन के समय रङ्गमञ्च के मध्य में पूजा स्थल पर घट का स्थापन करे और इस घट को जल से पूर्ण करे तथा माला-फूल से सुसज्जित करे अथवा अनेक रङ्गों वाली माला या पत्तों की माला से सुसज्जित करे ॥ ७५ ॥

---

१. क-अ. संस्थिताः ।
२. ग. अन्येऽपि ये देवगणाः । क-अ अथान्येऽपि ये देवगणाः ।
३. ख. दिव्यान्तरिक्षा भौमाश्च ।
४. ख. कुम्भं सलिलपूर्णं च पर्णमालापुरस्कृतम् ।
५. ङ. सर्वत्रापि इति पाठान्तरमपि ।

पूजयित्वा तु सर्वाणि दैवतानि यथाक्रमम् ।
[1]जर्जरस्त्वभिसम्पूज्यः स्यात्ततो विघ्नजर्जरः ॥ ७६ ॥

श्वेतं शिरसि वस्त्रं स्यान्नीलं रौद्रे च पर्वणि ।
[2]विष्णुपर्वणि वै पीतं रक्तं स्कन्दस्य पर्वणि ॥ ७७ ॥

[3]मूलपर्वणि चित्रं तु देयं वस्त्रं हितार्थिना ।
सदृशं च प्रदातव्यं धूपमाल्यानुलेपनम्[4] ॥ ७८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सभी देवताओं का क्रमानुसार पूजन करके फिर जर्जर की पूजा करनी चाहिए। क्योंकि उसकी पूजा से समस्त विघ्न जर्जर (नष्ट) हो जाते हैं ॥ ७६ ॥

अनुवाद—सब का हित (कल्याण) चाहने वाले व्यक्ति को जर्जर के शिर (शिरोभाग) पर श्वेत वस्त्र, रुद्र के पर्व (पोढ़) पर नील वस्त्र, विष्णु के पर्व (पोढ़) पर पीत वस्त्र और स्कन्द के पर्व (पोढ़) पर रक्त वस्त्र तथा मूल पर्व (पोढ़) पर चित्र वर्ण का (रङ्ग-विरङ्गा) वस्त्र अर्पित करना चाहिए और वस्त्र के समान धूप, माला और चन्दन (अनुलेप) भी प्रदान करना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥

विमर्श—जर्जर बांस का एक लट्ठ होता है, जिसमें पाँच पर्व (पोर या पोढ़) और चार गाठें होती है। जर्जर के एक-एक पर्व (पोढ़) पर एक-एक देवता की स्थापना की जाती है। सबसे शीर्षस्थ पर्व पर ब्रह्मा, द्वितीय पर्व पर शङ्कर, तृतीय पर्व पर विष्णु, चतुर्थ पर्व पर स्कन्द और पञ्चम पर्व पर महानाग को स्थापित किया जाता है। ब्रह्मा आदि उस-उस पर्व के देवता कहे गये हैं। इसलिए शीर्ष-स्थानीय प्रथम पर्व ब्रह्मा का पर्व कहा गया है। इसी प्रकार द्वितीय पर्व रुद्र (शङ्कर) का, तृतीय पर्व विष्णु का, चतुर्थ पर्व स्कन्द का ओर पञ्चम मूल पर्व महानाग (शेष, वासुकि आदि) का पर्व कहा गया है। इसीलिए यहाँ शीर्षस्थानीय प्रथम पर्व पर श्वेत वस्त्र, द्वितीय रुद्र के पर्व पर नील वस्त्र, तृतीय विष्णु के पर्व पर पीतवस्त्र, चतुर्थ स्कन्द के पर्व पर लाल वस्त्र और पञ्चम महानाग के पर्व पर रङ्ग-विरङ्ग वस्त्र बाँधने का विधान बताया गया है। क्योंकि ब्रह्मा श्वेत वस्त्र रुद्र नीला तथा विष्णु पीला, स्कन्द लाल वस्त्र धारण करते हैं और महानाग को चितकबरे होने से उस रङ्ग का (रङ्ग-विरङ्ग) वस्त्र अर्पित किया जाता है ॥ ७७-७८ ॥

---

१. ख. जर्जरः प्रतिसंपूज्य ।

२. ख. घ. विष्णुपर्वणि स्यात् पीतं । विष्णुपर्वणि पीतं स्यात् ।

३. क. मृडपर्वणि ।

४. माल्यधूपानुलेपनम् ।

आतोद्यानि च सर्वाणि वासोभिरवगुण्ठयेत्[1] ।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत्[2] ॥ ७९ ॥

सर्वमेवं विधिं कृत्वा [3]गन्धमाल्यानुलेपनैः ।
विघ्नजर्जरणार्थं तु जर्जरं त्वभिमन्त्रयेत् ॥ ८० ॥

[4]अत्र विघ्नविनाशार्थं पितामहमुखैस्सुरैः ।
निर्मितस्त्वं महावीर्यो वज्रसारो महातनुः ॥ ८१ ॥

शिरस्ते रक्षतु ब्रह्मा सर्वैर्देवगणैः सह ।
द्वितीयं च हरः [5]पातु तृतीयं च जनार्दनः ॥ ८२ ॥

[6]चतुर्थं च कुमारस्ते पञ्चमं पन्नगोत्तमः ।
[7]नित्यं सर्वेऽपि पान्तु त्वां सुरार्थे च शिवो भव ॥ ८३ ॥

अनुवाद—इसके बाद सभी वाद्यों को वस्त्रों से आच्छादित करे फिर गन्ध, माला, धूप, भक्ष्य और भोज्य पदार्थों से उसकी पूजा करनी चाहिए ॥ ७९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार पूजा की समस्त विधियाँ पूर्ण करने के पश्चात् विघ्नों को जर्जर (नष्ट) करने के लिए गन्ध, माला और अनुलेप (चन्दन) के द्वारा जर्जर को अभिमन्त्रित करें ॥ ८० ॥

अनुवाद—हे जर्जर ! ब्रह्मा आदि प्रमुख देवताओं ने विघ्नों के विनाश के लिए तुम्हें महाबलशाली, बज्र के समान कठोर और विशालकाय बनाया है ॥ ८१ ॥

अनुवाद—हे जर्जर ! तुम्हारे शिर की रक्षा समस्त देवनाओं के साथ ब्रह्माजी करें, दूसरे पर्व की रक्षा शिव, तृतीय पर्व की रक्षा विष्णु करें, चतुर्थ पर्व की रक्षा स्कन्द और पञ्चम पर्व की रक्षा श्रेष्ठ नागराज करें। ये सभी देवता तुम्हारी सदैव रक्षा करें और तुम देवताओं के लिए कल्याणकारी बनो ॥ ८२-८३ ॥

---

१. घ. कृत्वा वस्त्रोत्तराणि तु ।
२. ख भोजयेत् ।
३. ख. धूपमाल्यानुलेपनैः ।
४. ख. घ. विघ्नानां शमनार्थं हि देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः । ५. क. पर्वं ।
६. क-न. चतुर्थं रक्षतु स्कन्दः ।
७ ख. घ. नित्यं सर्वे हि पान्तु त्वां सुरास्त्वं च शिवो भव । ग. पुनस्त्वं च शिवो भव ।

नक्षत्रेऽभिजिति त्वं हि प्रसूतोऽहितसूदन[1] ।
जयं चाभ्युदयं चैव [2]पार्थिवस्य समावह ।। ८४ ।।
जर्जरं पूजयित्वैवं बलिं सर्वं निवेद्य च ।
अग्नौ होमं ततः कुर्यान्मन्त्राहुतिपुरस्कृतम् ।। ८५ ।।
[3]हुत्वा स एव दीप्ताभिरुल्काभिः परिमार्जनम् ।
नृपतेर्नर्तकीनां च कुर्याद्दीप्त्यभिवर्धनम् ।। ८६ ।

आहुतिराह्वनम् । ।। ८५ ।।

हुत्वा हवनं तथा सत्याहुतिः स्यात् । दीप्ताभिरुल्काभिः परिमार्जनं नीराजनं कुर्यात् ।। ८६ ।।

विमर्श--जर्जर के शीर्षस्थानीय प्रथम पर्व के देवता ब्रह्मा है, इसलिए ब्रह्मा समस्त देवताओं के साथ शिर की रक्षा करें। द्वितीय पर्व के देवता शिव हैं। अतः द्वितीय पर्व की रक्षा रुद्र करें। तृतीय पर्व के देवता विष्णु हैं अतः विष्णु तृतीय पर्व की रक्षा करें। चतुर्थ पर्व के देवता स्कन्द (कार्त्तिकेय) हैं, अतः स्कन्द चतुर्थ पर्व की रक्षा करें। पञ्चम पर्व के देवता नागराज हैं अतः नागराज पञ्चम पर्व की रक्षा करें। हे जर्जर ! ये देवता तुम्हारी रक्षा करें ।। ८२-८३ ।।

अनुवाद—हे शत्रुओं का नाश करने वाले जर्जर ! तुम अभिजित् नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो, अतः तुम राजा (नायक) का जय और अभ्युदय करो। अर्थात् जय और उन्नति प्रदान करो ।। ८४ ।।

अनुवाद—इस प्रकार जर्जर की पूजा करके और उसे सम्पूर्ण बलि प्रदान करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक अग्नि में हवन करें ।। ८५ ।।

अभि०—यहाँ पर 'आहुति' शब्द का अर्थ आह्वन अर्थात् उच्चारण करना है। इस प्रकार 'मन्त्राहुतिपुरस्कृतम्' का अर्थ मन्त्रोच्चारण पूर्वक है। यहाँ पर आहुति शब्द का अर्थ 'हवन' नहीं है। अपितु 'हवनीय द्रव्य' है ।। ८५ ।।

अनुवाद—हवन के बाद राजा (नायक) और नर्तकी के तेज (दीप्ति) की वृद्धि हेतु अग्नि से प्रज्वलित अंगारों से परिमार्जन करे अर्थात् चारों ओर घुमायें ।। ८६ ।।

अभि०—'हुत्वा' का अर्थ है 'हवन करके'। इस प्रकार हवन की विधि समाप्त हो जाने पर प्रज्वलित उल्काओं (अङ्गारों) से परिमार्जन अर्थात् नीराजन करे। नीराजन का अर्थ है उल्का का चारों ओर घुमाना ।। ८६ ।।

---

१. ख. ग. घ. प्रसूतो रिपुसूदन !
२. ख. घ. पार्थिवाय प्रयच्छ नः ।
३. क. हुताश एव ।

अभिद्योत्य सहातोद्यैर्नृपतिं नर्तकीस्तथा ।
मन्त्रपूतेन तोयेन पुनरभ्युक्ष्य तान्वदेत् ॥ ८७ ॥
महाकुले प्रसूतास्थ[1] गुणौघैश्चाप्यलङ्कृताः ।
[2]यद्वो जन्मगुणोपेतं तद्वो भवतु नित्यशः ॥ ८८ ॥
एवमुक्त्वा ततो वाक्यं नृपतेर्भूतये बुधः ।
नाट्ययोगप्रसिद्ध्यर्थमाशिषस्सम्प्रयोजयेत् ॥ ८९ ॥
सरस्वती धृतिर्मेधा ह्रीः श्रीलक्ष्मीस्स्मृतिर्मतिः[3] ।
पान्तु वो मातरः[4] सौम्यास्सिद्धिदाश्च भवन्तु वः ॥ ९० ॥
होमं कृत्वा यथान्यायं हविर्मन्त्रपुरस्कृतम् ।
भिन्द्यात्कुम्भं ततश्चैव नाट्याचार्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

कुम्भस्य विनियोगमाह—भिन्द्यादिति ॥ ९१ ॥

अनुवाद समस्त वाद्यों के साथ राजा और नर्तकियों को प्रकाशित कर फिर यन्त्र से पवित्र जल से प्रोक्षण करके उनसे कहे कि --आप सब उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो और समस्त उत्तम गुणों से अलङ्कृत हो, अतः जो आपको जन्म एवं गुणों से प्राप्त हो, वैसा ही सदैव विद्यमान रहे ॥ ८७-८८ ॥

अनुवाद—बुद्धिमान् नाट्याचार्य राजा (नायक) के अभ्युदय (कल्याण) के लिए इस प्रकार कह कर तब नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए आशीर्वचन का प्रयोग करें ॥ ८८ ॥

अनुवाद—सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री (लज्जा) लक्ष्मी, स्मृति, मति आदि सौम्य स्वभाव वाली माताएँ आपको रक्षा करें और आपको सिद्धि प्रदान करने वाली हों ॥ ९० ॥

अनुवाद—इसके बाद मन्त्र से पुरस्कृत हवि से विधिपूर्वक हवन करके नाट्याचार्य प्रयत्नपूर्वक कुम्भ का भेदन करे अर्थात् घट को फोड़ दे ॥ ९१ ॥

अभि०—कुम्भ का विनियोग कहते हैं—भिन्द्यात् अर्थात् नाट्याचार्य हवन करने के बाद घट का फोड़ दे ॥ ९१ ॥

---

१. ख. घ. महाकुले प्रसूताश्च । क-अ. महागुणप्रसूतास्त ।
२. क-त. यद्यद् पूज्यं वचो लोके तद्वै भवतु नित्यशः ।
२. ख. घ. मतिः स्मृतिः ।
३. ख. घ. सर्वाः ।

अभिन्ने तु भवेत्कुम्भे स्वामिनः शत्रुतो भयम् ।
[1]भिन्ने चैव तु विज्ञेयः स्वामिनः शत्रुसंक्षयः ॥ ९२ ॥

भिन्ने कुम्भे ततश्चैव नाटचाचार्यः प्रयत्नतः[2] ।
प्रगृह्य दीपिकां दीप्तां सर्वं रङ्गं प्रदीपयेत् ॥ ९३ ॥

क्ष्वेडितैः स्फोटितैश्चैव वल्गितैश्च प्रधावितैः ।
रङ्गमध्ये तु तां दीप्तां सशब्दां सम्प्रयोजयेत् ॥ ९४ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवैस्तथा ।
सर्वातोद्यैः प्रणदितै [3]रङ्गे युद्धानि कारयेत् ॥ ९५ ॥

[4]तत्रच्छिन्नं च भिन्नं च दारितं च सशोणितम् ।
[5]क्षतं प्रदीप्तमायस्तं निमित्तं सिद्धिलक्षणम् ॥ ९६ ॥

अनुवाद—कुम्भ (घट) के न फूटने पर स्वामी (राजा) को शत्रु से भय उत्पन्न होता है और घट के फूट जाने पर स्वामी (राजा) के शत्रुओं का नाश हो जाता है ॥ ९२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार घट के फूट जाने पर नाटचाचार्य प्रयत्नपूर्वक जलता हुआ दीपक लेकर समस्त रङ्गमण्डप को प्रकाशित करे ॥ ९३ ॥

अनुवाद—नाटचाचार्य उस रङ्गमण्डप के मध्य सिंहनाद अर्थात् गर्जन करते हुए, आस्फोटन करते हुए, कूदते और दौड़ते हुए उस दीपिका की प्रभा को रङ्ग पर प्रकाशित करे अथवा रङ्गस्थल पर घुमा दे ॥ ९४ ॥

अनुवाद—शंख, दुन्दुभि के निर्घोष तथा मृदङ्ग एवं पणव (भेरी) के वादन के साथ रङ्गभूमि में युद्ध कराये। उस युद्ध में कट जाना, फट जाना, विदीर्ण हो जाना, घाव होना, खून के साथ घाव का चमकीला और बड़ा होना शुभ शकुन और सिद्धि (सफलता) का सूचक है ॥ ९५-९६ ॥

---

१. ग. भवेत् भिन्ने तु कुम्भे । क–अ. भिन्ने तु जायते राज्ञः सर्वशत्रुपरिक्षयः ।
२. ख. घ. नाटचाचार्योऽप्येतभीः । क-ठ. त. म. नाटचाचार्यः व्यपेतभीः ।
३. ग. रङ्गयुद्धानि ।
४. ख. तत्र भिन्नं च छिन्नं च । क-म. तत्राभिन्नं च छिन्नं च ।
५. ख. क्षतप्रदीप्तमायत्तं । ग. कृत्तं प्रदीप्तमायस्तं ।

सम्यगिष्टस्तु रङ्गो वै स्वामिनः [1]शुभमावहेत् ।
[2]पुरस्याबालवृद्धस्य तथा जनपदस्य च ॥ ९७ ॥
[3]दुरिष्टस्तु तथा रङ्गो दैवतैर्दुरधिष्ठितः ।
नाट्यविध्वंसनं कुर्यान्नृपस्य च तथाऽशुभम्[4] ॥ ९८ ॥
[5]य एवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ ९९ ॥
यज्ञेन सम्मितं ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम् ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत् ॥ १०० ॥
पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १०१ ॥

अनुवाद—अच्छी तरह से पूजन किया गया रङ्गमञ्च स्वामी (राजा) का, नगर के बालक से लेकर वृद्धों तक जनता का तथा जनपद का शुभकारी अर्थात् कल्याणकारी होगा ॥ ९७ ॥

अनुवाद—रङ्गमञ्च का विधिवत् पूजन न करने पर तथा देवताओं के गलत ढंग से अधिष्ठित होने पर नाट्य का विध्वंस तथा राजा का अशुभ होता है ॥ ९८ ॥

अनुवाद—जो नाट्याचार्य इस प्रकार से पूर्वोक्त विधि को छोड़कर स्वेच्छा से मनमाने ढंग से नाट्य का प्रयोग करता है वह शीघ्र ही अवनति को प्राप्त होता है और बाद में तिर्यग्योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेता है ॥ ९९ ॥

अनुवाद— रङ्गमण्डप के देवताओं का इस प्रकार पूजन करना यज्ञ के समान है । अतः रङ्गमण्डप की पूजा किये बिना अभिनय का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ १०० ॥

अनुवाद—ये रङ्गस्थ देवता पूजा किये जाने पर पूजनीय बनाते हैं और सम्मान किये जाने पर अर्थात् सम्मानित होने पर सम्मानित करते हैं, इसलिए सभी प्रकार के प्रयत्नों से रङ्ग का पूजन करना चाहिए ॥ १०१ ॥

---

१. क-अ. सिद्धिभावहेत् ।
२. ख. ग. पुरस्य बालवृद्धस्य । क-अ. पुरस्स ।
३. क—अ. अनिष्टमस्तु ।
४. ख. तथा शुभम् ।
५. ख. यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य ।

[1]न तथा प्रदहत्यग्निः प्रभञ्जन मीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १०२ ॥
शास्त्रज्ञेन विनीतेन शुचिना दीक्षितेन च ।
नाटयाचार्येण शान्तेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १०३ ॥
स्थानभ्रष्टं तु यो दद्याद्बलिमुद्विग्नमानसः ।
मन्त्रहीनो यथा होता प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ १०४ ॥
[2]इत्ययं यो विधिर्दृष्टो रङ्गदैवतपूजने ।
नवे नाटयगृहे [3]कार्यः प्रेक्षायां च प्रयोक्तृभिः ॥ १०५ ॥

इति भारतीये नाटयशास्त्रे [3]रङ्गदैवतपूजनं नाम
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

उद्विग्नमानस इत्यनवधानरूपं लक्ष्यते ॥ १०४ ॥

अनुवाद—वायु के द्वारा प्रेरित अर्थात् तेज हवा से प्रज्वलित अग्नि उतनी शीघ्रता से नहीं जलाती, जितनी तेजी से दूषित रीति (विधि) से प्रयोग किया गया नाटय या नृत्य प्रयोक्ता को क्षण भर में जला देता है ॥ १०२ ॥

अनुवाद—शास्त्रज्ञाता, विनीत, पवित्र और दीक्षित नाटयाचार्य को शान्त भाव से रङ्ग का पूजन करना चाहिए ॥ १०३ ॥

अनुवाद—जो नाटयाचार्य उद्विग्न मन से अनुचित स्थान में बलि प्रदान करता है वह मन्त्रहीन होता (हवनकर्त्ता) के समान प्रायश्चित का भागी होता है ॥ १०४ ॥

अभि०—'उद्विग्नमानसः' इस पद से अनवधान (असावधान) रूप अर्थ लक्षित होता है ॥ १०४ ॥

विमर्श—'उद्विग्नमानसः' पद का अभिप्राय है कि जो नाटयाचार्य उद्विग्न मन से अर्थात् असावधान चित्त होकर रङ्गस्थ देवताओं का पूजन करता है या बलि प्रदान करता है वह उसी प्रकार प्रायश्चित का भागी होता है जिस प्रकार बिना मन्त्र के अग्नि में हवन करने वाला होता प्रायश्चित का भागी होता है ॥ १०४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार रङ्गदेवता के पूजन में जो विधि दिखाई गई है अर्थात् बताई गई है। प्रयोक्ता को नवीन नाटयगृह में अभिनय के अवसर पर उसी विधि से पूजन करना चाहिए ॥ १०५ ॥

इस प्रकार भरतकृत नाटयशास्त्र में रङ्गदैवतपूजन नामक
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

---

१. ख. घ. न तथाऽऽशु दहत्यग्निः । २. ख. घ. एवमेव ।
३. ख. रङ्गदेवतापूजनं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

नवे नाट्यगृह इति मण्डपशेषत्वमेवोक्तम् । प्रेक्षायां चेति । नवायामिति केचित्संबन्धयन्ति । तेन···पूजा कार्येति । अन्ये तु प्रेक्षारम्भ सर्वथा (सर्वदा) पूजा कार्येत्याहुरिति शिवम् ॥ १०५ ॥

इत्थं तृतीयमध्यायं ग्रन्थिस्थानेषु योजये (यन्) ।
बुद्धयाऽभिनवगुप्तोऽहं शिवतातत्त्वबृंहितः ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचितायां भारतीयनाटचशास्त्रविवृताव-भिनवभारत्यां रङ्गदैवतपूजनं नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

अभि० - 'नवीन नाटचगृह' पद से मण्डप का अङ्ग बताया गया है। कुछ आचार्य 'प्रेक्षायाञ्च' पद से नवीन प्रेक्षागृह से सम्बन्ध जोड़ते हैं । 'विधि' शब्द का अर्थ 'पूजा' है, इसलिए पूजा करनी चाहिए। अन्य आचार्य तो प्रेक्षा के प्रारम्भ में सर्वथा सदैव पूजा करनी चाहिए, ऐसा मङ्गल-वचन कहते हैं ॥ १०५ ॥

अभिनव— इस प्रकार तृतीय अध्याय के ग्रन्थिस्थान अर्थात् कठिन स्थलों को बुद्धि से योजना करता हुआ मैं अभिनवगुप्त शिवता के तत्त्व से अर्थात् मङ्गलकारी तत्त्वों से दृढ़ (पुष्ट) हो गया हूँ।

इस प्रकार महामहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा रचित अभिनवभारती नामक नाटच-वेदविवृति में रङ्गदैवतपूजन नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

विमर्श--अभिनवगुप्त के अनुसार नवीन नाटचमण्डप के निर्माण के समय इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से रङ्गदेवता की पूजा करनी चाहिए । कुछ व्याख्याकार नवीन प्रेक्षागृह से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं । उनका कथन हैं कि यहाँ विधि का अर्थ पूजा है । इसलिए रङ्गदैवत की पूजा का जो विधान बताया गया है, नवीन प्रेक्षागृह के निर्माण के समय उसी प्रकार पूजन करना चाहिए । तीसरे व्याख्याकार कहते हैं कि प्रेक्षा अथवा नाटचप्रयोग (अभिनय) के आरम्भ के समय सब प्रकार से सदैव पूजन करना चाहिए । रङ्गमण्डप के मध्य में सभी देवताओं की स्थापना कर उनका पूजन तथा बलि प्रदान करना चाहिए। पूजन-विधि समाप्त हो जाने पर नीराजन अर्थात् देवताओं की आरती करनी चाहिए। इस प्रकार पूजा-विधान करने के बाद अभिनय प्रारम्भ करना चाहिए ॥ १०५ ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायां मनोरमाख्यामभिनवभारत्या हिन्दी-व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित नाटचशास्त्र एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अभिनव-भारती

स्वविलासैरिदं विश्वं यो दर्शयति सन्ततम् ।
समीरमूर्ति तं वन्दे गिरिराजसुताप्रियम् ॥[1]

अभिनव—जो अपने विलासों से इस विश्व (जगत्) को निरन्तर प्रकाशित करता है उस पार्वतीवल्लभ वायुरूप मूर्त्ति वाले शिव की वन्दना करता हूँ ।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत श्लोक में वायुरूप शिव की वन्दना की हैं । शिव की आठ मूर्त्तियाँ प्रसिद्ध हैं--जल, अग्नि, पृथिवी, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान । इन आठ मूर्त्तियों में वायुरूप भी एक मूर्ति है जिससे समस्त प्राणी प्राण को धारण करते हैं अर्थात् प्राणवायु । वायु में क्षेपण शक्ति है और वायु का विलास क्षेपण रूप है । यह जगत् शिव का विलास रूप है, जगत् के प्रत्येक क्रिया-कलाप को शिव प्रकाशित करते हैं और शिव गिरिराजसुता पार्वती के प्राणवल्लभ है । इसलिए यहाँ अपने विलासों से जगत् को प्रकाशित करने वाले पार्वतीवल्लभ वायुरूप शिव की वन्दना करते हैं ।

प्रथम अध्याय में कहा गया है कि यदि आप लोग इन देवताओं की पूजा करेंगे तो आप लोग भी पूजित होंगे । क्योंकि 'उत्तम व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं इतर लोग (साधारण जन) भी वैसा ही आचरण करते हैं' **(यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः)** । इस सिद्धान्त के अनुसार यदि आप लोग रङ्गदेवता की विधिवत् पूजा करते हैं तो मर्त्यलोक के प्राणी भी मर्त्यलोक में जाने पर आप की उसी प्रकार पूजा करेंगे, सम्मान करेंगे । अत: रङ्ग की पूजा करो, ऐसा कहा गया है । द्वितीय अध्याय में नाटचमण्डप के निर्माण का विधान बताया गया है । रङ्ग के देवताओं के स्थापन, आवाहन एवं पूजन का विधान इसके पूर्व तृतीय अध्याय में बताया गया है । नाटचमण्डप का निर्माण एवं रङ्गपूजा हो जाने के बाद नाटचप्रयोग (अभिनय) प्रस्तुत करने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । अतः चतुर्थ अध्याय में नाटच प्रयोग का विधान वर्णित करते हैं--

१. क—म. भ. समीरमूर्त्तिनः शम्भुः गिरिराजसुताप्रियः ।

एवं तु पूजनं कृत्वा मया [1]प्रोक्तः पितामहः।
आज्ञापय विभो[2] क्षिप्रं कः प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ १ ॥

एवन्त्विति। प्रथमाध्यायोक्ताभिप्रायेणेवमुच्यते। तथा हि—

"मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ।" (१-१२२)

इत्येवमवश्यकार्या पूजा। तत्र च—

"रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत्।" (१-१२७)

इति वचनानुसारेण वा[3] इदं प्रोक्तमित्येवमिति। (मयेति) द्रुहिणाज्ञप्तेन सतेत्यर्थः। मध्ये तु,

"अथवा याः कियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम्।
[4]भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्नाट्यवेश्मनि॥" (२-२)

अनुवाद—इस प्रकार पूजन करके मैंने ब्रह्माजी से कहा—हे प्रभो। शीघ्र आज्ञा दीजिये कि कौन सा नाटक खेला जाय? ॥ १ ॥

अभिनव—प्रथम अध्याय में कहे गये वचन के अभिप्राय से 'एवं तु पूजनं' इत्यादि का कथन करते हैं। जैसे कि—

'मृत्युलोक में जाने पर आप लोग भी इसी प्रकार पूजा को प्राप्त होंगे' (ना. शा. १-१२२)।

इसलिए रङ्ग की पूजा अवश्य करनी चाहिए। अथवा वहाँ—

रङ्ग की पूजा करो, इस प्रकार ब्रह्मा ने मुझे प्रेरित किया। (ना.शा. १-१२४)

इस वचन के अनुसार यह कहा गया है—'एवं तु' इत्यादि। ब्रह्मा की आज्ञा से मैंने इस वचन के अनुसार यह कहा है। मध्य में तो—

अथवा यहाँ नाट्यमण्डप में निर्माण की जो क्रियाएँ—अर्थात् मण्डप का रचना-प्रकार है, जो लक्षण (सन्निवेश, आकार, परिमाण आदि) और जो पूजन विधान है, भविष्य में होने वाले लोगों के द्वारा कैसे करना चाहिए, यह सब बतलाइये—(ना. शा. २।२)।

---

१. क-प्रोक्त पितामह।
२. ख. ध. प्रभो।
३. क. भ. चेदं।
४. भविष्यद्भिः कथं कार्यं पुरुषैर्नाट्ययोक्तृभिः।

[1]ततोऽस्म्युक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम्[2] ।
एतदुत्साहजननं [3]सुरप्रीतिकरं तथा[4] ॥ २ ॥

इति मुनप्रश्नितपूजा कथं कृतेति प्रसङ्गादेवमङ्गस्य यथासंभवं पूरकम् । सर्वात्मना दिव्ये नाट्यगृहे भोजनदानलाङ्गलोत्कर्षणादिविधेः समस्तस्यासम्भवादिति । प्रथमाध्यायानन्तर्यमेवास्य तु कर्तव्यम् ।

क्षिप्रमिति । अनेन पूजानन्तरं प्रयोगेण न चिरायितव्यमित्युक्तं भवति । प्रयुज्यत इति प्रयोगो दशरूपकान्यतमम् । यद्यपि च सम्फेटविद्रवकृता प्रस्तावना बद्धेत्युक्तं (१-५८) तथापि प्रयोगो विघ्नैः स्तम्भित इति नाट्यमण्डपे विघ्नसान्त्वनदैवतपूजने च कृतेऽन्त्य एवायमुपक्रम इति युक्त एव प्रश्नः । कः प्रयोगः प्रयुज्यतामिति ॥ १ ॥

अत्रोत्तरं श्लोकद्वयेनाह—[5]ततोऽस्मीति ।

इस प्रकार मुनि के द्वारा पूछी गई पूजा कैसे की गई है इस प्रसङ्ग से यथासम्भव 'एवन्तु' इत्यादि वचन से पूर्ति की गई है। सब प्रकार से दिव्य नाट्यगृह के तैयार हो जाने पर ब्राह्मणों को भोजन करना, दान देना, हल चलाना, इत्यादि समस्त विधियों का अच्छी तरह अनुष्ठान करना असम्भव है। प्रथम अध्याय के बाद ही तत्काल यह सब विधि करनी चाहिये ।

'क्षिप्रम्' का अभिप्राय है कि पूजा करने के बाद नाट्य-प्रयोग के विषय में (अभिनय के लिए) विलम्ब नहीं करना चाहिए, यह कहा गया है। 'प्रयुक्त किया जाय' इसका अभिप्राय दश रूपकों में से कोई एक रूपक का प्रयोग करना है। यद्यपि सम्फेट, विद्रव आदि से युक्त प्रस्तावना पहिले कही गयी है तथापि प्रयोग को विघ्नों ने स्तम्भित कर दिया है, इसलिए नाट्यमण्डप में विघ्नों को सान्त्वना के साथ रङ्ग के देवताओं के पूजन करने के बाद यह अन्तिम उपक्रम है, इसलिए यह प्रश्न करना उचित ही है कि कौन सा प्रयोग किया जाय ? ॥ १ ॥

'कौन सा प्रयोग किया जाय ?' इसका उत्तर दो श्लोकों में देते हैं—ततोऽस्मीत्यादि ।

---

१. क-म. ततोऽहमुक्तो । ठ. ततो ह्युक्तो ।

२. क–अ. मन्थनात् ।

३. क–सर्वप्रीतिकरं ।

४. ख-घ-महत् ।

५. ततोऽहमिति ।

योऽयं [1]समवकारस्तु धर्मकामार्थसाधकः ।
मया[2]प्राग्ग्रथितो विद्वन्स[3] प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ ३॥

योजयेति । [4]स्वपुत्रान्नटांस्तं प्रयोगं पुनरनुसन्धानशिक्षयेत्यर्थः । यो धर्मकामार्थोपायोपदेशको मया प्राङ्नाट्यवेदनिर्माणनान्तरीयकदशरूपकनिर्माणविधौ ग्रथितः । अयमिति च गुणनिकया त्वया सम्यक्साक्षात्कारकल्पत्वं नयनयोग्यत्वं कृतोऽमृतमन्थनं नाम समवकाराख्यः प्रयोगः, सह (स) विद्वन्ननुप्रयोज्यतामिति श्लोकद्वये सङ्गतिः ।

अनुवाद – इसके बाद भगवान् ब्रह्मा ने मुझसे कहा कि 'अमृतमन्थन' का अभिनय करो, यह उत्साह को बढ़ाने वाला तथा देवताओं के लिए प्रीतिकर अर्थात् आनन्द देने वाला है ॥ २ ॥

अनुवाद—हे विद्वन् ! जो यह समवकार (रूपक का एक भेद) मैंने बनाया है वह धर्म, अर्थ और काम का साधक (सिद्ध करने वाला) है, उसका प्रयोग (अभिनय) करो ॥ ३ ॥

विमर्श—'अमृतमन्थन' नामक समवकार रूपक की एक विधा है । कुछ संस्करणों में समवकार के स्थान पर 'समस्तकार्यस्य' पाठ मिलता है, तदनुसार इसका अर्थ होगा जो यह अमृतमन्थन नाम रूपक है वह समस्त कार्यों के धर्म, अर्थ और काम का साधक है । उसी प्रकार कुछ संस्करणों में 'सुरप्रीतिकरं' के स्थान पर 'सर्वप्रीतिकरं' पाठ मिलता है । तदनुसार अर्थ होगा—'यह अभिनय सब लोगों के लिए आनन्ददायक होगा' ॥ २-३ ॥

अभिनव-'योजय' का अभिप्राय है कि अपने पुत्रों नटों को पुनः पुनः अनुसन्धान करने की शिक्षा के द्वारा उस अभिनय के प्रयोग में लगा दो अर्थात् अपने पुत्र नटों के द्वारा अभिनय प्रयाग कराओ । धर्म, अर्थ, काम के उपायों का उपदेश करने वाले जिस ग्रन्थ को पहिले नाट्यवेद के निर्माण के लिए आवश्यक दशरूपकों के निर्माण के समय मैंने बनाया है और तुमने उसे गुणनिका (बार-बार अभ्यास, अनुशीलन) के द्वारा अच्छी तरह से साक्षात्कार-सदृश अभिनय के योग्य किया है वह अमृतमन्थन नामक समवकार नामक प्रयोग है। हे विद्वन् ! उसका प्रयोग कराइये, यह दोनों श्लोकों की संगति है।

---

१. ख, समस्तकार्यस्य ।

२. ख. ग. घ. प्रग्रथितो । क–म, प्रकथितो ।

३. क–म. सम्प्रयोगः ।

४. क. स्वपुत्रा नटास्तं ।

तुर्हेतौ। यस्मादेतदुत्साहजननं चतुर्विधनायकस्थायिभावोत्साहप्रभववीर-रसात्मकम्। तथेति। तेन प्रकारेण सुराणां सर्वेषां प्रीतिं रसनारूपां चर्वणालक्षणां करोति। उत्साहो जननो यस्येति समासः। तेन च प्रीतिप्रकारेणोत्साहस्य त्रिवर्गोपायविषयस्य जननम्। एतेन दृश्यं श्रव्यत्वमित्यनुसंहितम्। सङ्गतं [1]महा-वाक्यार्थाभिप्रायेणापि किञ्चिच्छब्दोन्मीलनाभिप्रायेणात्र कार्यं तेन [2]समवकीर्य-तेऽर्थो यत्र स समवकारः। सङ्गतिश्च—

"देवासुरबीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव॥" (१८-६३)

इत्यनेन दर्शितः (दर्शिता)। "अङ्कोऽङ्कस्त्वन्यार्थः कर्तव्यः" (१८-६९) इत्यनेन चावकीर्णता। एष च प्रयोगः समये (?) सुखभूयिष्ठतया एकरसे वस्तुन्युद्वेग-शीलाः एकानुसन्धानप्रयासभीरवश्च देवतुल्याः।

यहाँ पर 'तु' पद हेतु अर्थ में है। जिससे उत्साह का जनन (उत्पत्ति) होता है वह चार प्रकार के नायकों में धीरोदात्त नायक के स्थायीभाव उत्साह से उद्भूत वीररस रूप है। उस प्रकार से सभी देवताओं के लिए प्रीति को उत्पन्न करता है अर्थात् रसनारूप अर्थात् चर्वणारूप बना देता है। उत्साह ही जनन (उत्पत्तिस्थान) है जिसका, इस प्रकार यहाँ अन्यपदप्रधान बहुव्रीहि समास है। इसीलिए देवताओं के लिए प्रीति जनक होने से अर्थात् देवताओं को प्रसन्न करने के प्रकार से धर्म, अर्थ, काम के उपाय के विषयरूप उत्साह का जनक है। इससे दृश्य और श्रव्य दोनो का अनुसन्धान (समन्वय) हो गया। महावाक्यार्थरूप रस के अभिप्राय से और कुछ नये शब्दों के उन्मीलन के अभिप्राय से वहाँ प्रयोग करना चाहिए, इससे सम् अर्थात् अच्छी तरह जिस अर्थ का अवकीर्णन हो, वह समवकार है। यह अर्थ सङ्गत होता है।

"जो देवता और असुरों के बीज अर्थात् फल प्राप्ति के उपायों से रचित हो और जिसमें प्रख्यात एवं धीरोदात्त नायक हो" इस कथन के द्वारा सङ्गति दिखा दी गई है और "समवकार में प्रत्येक अङ्क में भिन्न-भिन्न अर्थ होता है अर्थात् भिन्न-भिन्न अङ्कों में भिन्न-भिन्न कथा-प्रबन्ध का उपस्थान होता हैं" इससे अर्थ की अवकीर्णता कथित है। समवकार का यह प्रयोग सुख-बहुल होने पर भी एकरस एकरूप वस्तु में बार-बार अनुसन्धान के प्रयास से भीरु देवतुल्य जन भी उद्विग्न हो जाते हैं।

---

१. क-भ. महावाक्यार्थाभिप्रायेणात्र कार्यम्, तेन सममवकीर्यतेऽर्थो यत्र स समवकारः।

२. क. सममवकीर्यते।

अमृतमथनं समवकार इति भिन्नलिङ्गसामानाधिकरण्यसूचनद्वारेण तदेव तदिति साक्षात्कारकल्पनाद्व्यवधान (नमव्यवसान) विषय ··· ··· स्याह। तत एव [1]विक्रमोर्वशीय[2]स्वप्नवासवदत्ता (त्ते) नाटकमिति कवयो व्यवहरन्ति ॥ २-३ ॥

अमृतमन्थन और समवकार भिन्न लिङ्ग वाले होने पर भी समानाधिकरण सम्बन्ध के द्वारा अभेद (अभिन्नता) सूचित होने से 'यह वही है' इस प्रकार व्यवधान विषय अर्थात् परोक्ष विषय का साक्षात्कार अभिनय के योग्य कहा है। इस प्रकार परोक्ष विषय साक्षात्कार-कल्प के कथन होने के कारण विक्रमोर्वशीय और स्वप्नवासवदत्ता को कवि लोग नाटक कहते हैं ॥ २-३ ॥

विमर्श—चतुर्थ अध्याय के प्रथम श्लोक में भरतमुनि ने ब्रह्माजी से निवेदन किया था कि हे भगवन् ! अभिनय के लिए नाट्यगृह तैयार हो गया है और रङ्ग के अधिष्ठातृ देवों के स्थापन, आवाहन और पूजन का विधान भी पूर्ण कर लिया गया है। इसके बाद अधिक विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं, अतः शीघ्र ही आज्ञा दीजिये कि कौन सा नाटक खेला जाय ? इस पर ब्रह्मा ने 'अमृतमन्थन' नामक समवकार का अभिनय करने के लिए मुझसे कहा। मुनि द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर उन्होंने दो श्लोकों में दिया था। इन दो श्लोकों की सङ्गति दिखाते हैं—

ब्रह्माजी ने 'अमृतमन्थन' नामक समवकार खेलने का आदेश दिया और कहा कि यह समवकार उत्साहजनक एवं देवताओं के लिए प्रीतिकारक हैं और धर्म, अर्थ एवं काम का साधक है, ब्रह्माजी ने भरतमुनि से कहा कि आप अपने पुत्रों को अच्छी तरह शिक्षित कर अभिनय के प्रयोग में लगा दो। 'अमृतमन्थन' समवकार नामक रूपक है। रूपक दस प्रकार के होते हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, ईहामृग, डिम, अङ्क, वीथी और प्रहसन। नाट्यवेद के निर्माण में दस रूपकों की रचना अत्यन्त आवश्यक है। इन दशविध रूपकों में समवकार एक रूपक है। रूपकों के अभिनय में परोक्षकथा को निरन्तर अभ्यास के द्वारा उसे प्रत्यक्षकल्प अभिनय के योग्य बना दिया जाता है। इसलिए अमृतमन्थन नामक समवकार के अभिनय के लिए आदेश दिया।

जो यह अमृतमन्थन नामक समवकार है वह उत्साहजनक अर्थात् वीररसात्मक है। वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है। उत्साह से वीर रस की निष्पत्ति होती हैं। इसलिए उत्साह वीर रस का जनक है। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशान्त इन चार प्रकार के नायकों में धीरोदात्त नायक का स्थायीभाव उत्साह है जो वीर रस के

१. क–भ विक्रमोर्वशीस्वप्नवासवदत्ता (त्ते) नाटकमिति।
२. क-म. स्वप्नवासवदत्तनाटकमिति।

रूप में परिणत हो जाता है, यह देवताओं के लिए प्रीतिजनक हैं। यह नाटच (अभिनय) सामाजिकों को आनन्द में निमग्न कर देता है। यह आनन्द ही रस है, यही आनन्द चर्वण है। इस प्रकार रस ही आनन्द, रसन, एवं चर्वण रूप है। किसी अभिनय को देखने से सामाजिक के हृदय में एक विलक्षण अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही रस है और रस ही आनन्द है, यही आस्वाद या आस्वादन है। यही आनन्द आस्वाद्यमान या चर्व्यमाण होने से रस कहलाता है। इसे आस्वाद या चर्वणा कहते हैं। यही रसना है। इस प्रकार आस्वाद ही रसना या चर्वणा रूप है।

यह नाटच (अभिनय) ही धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का साधन है। अग्निपुराण में धर्म, अर्थ और काम को नाटच का साधन बताया है (**त्रिवर्गसाधनं नाटचम्**)। इस प्रकार अर्थात् नाटच से त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है और त्रिवर्ग का उपाय विषय का (हेतु) उत्साह है। उत्साह वीर रस का जनक है और उत्साह का जनक यह समवकार है। अतः समवकार (नाटच) से धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति होती है। यह अमृतमन्थन नामक समवकार उत्साह का जनक है और उत्साह धर्म, अर्थ, काम के उपायभूत विषय का कारण है।

प्रथम अध्याय में महेन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा था कि हम लोग ऐसा क्रीडनीयक (खेल) चाहते हैं जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हो (**क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्**)। इस अभिनय अर्थात् अमृतमन्थन के अभिनय से उक्त कथन का समन्वय होगा, क्योंकि यह अमृतमन्थन नामक समवकार दृश्य और श्रव्य दोनों है। यह अनुसन्धान महावाक्यार्थ रूप रस है। महावाक्यार्थ (रूप रस) का जहाँ अच्छी तरह अवकीर्णन हो उसे 'समवकार' कहते हैं। समवकार का लक्षण नाटचशास्त्र में निम्न प्रकार दिया हुआ है।

देवासुरबीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव।
त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपदस्त्रिविद्रवः स्यास्त्रिशृङ्गारः॥

द्वादशनायकबहुलो ह्यष्टादशनाड़िकाप्रमाणश्च।
वक्ष्याम्यस्याङ्कविधिं यावत्यो नाड़िका यत्र॥

अङ्कस्तु सप्रहसनः सविद्रवः सकपटः सवीथीकः।
द्वादशनाड़ीविहितः प्रथमः कार्यः क्रियोपेतः॥

कार्यस्तथा द्वितीयः समाश्रितो नाड़िकाचतस्रस्तु।
वस्तुसमापनविहितो द्विनाड़िका स्यात्तृतीयस्तु॥

अङ्कोऽङ्कस्त्वन्यार्थः कर्त्तव्यः काव्यबन्धमासाद्य।
अर्थं हि समवकारे ह्यप्रतिसम्बन्धमिच्छन्ति॥

(नाटचशास्त्र १८।६६-६९)

अर्थात् समवकार में देवता तथा असुरों की कथावस्तु बीज अर्थात् फलप्राप्ति से सम्बद्ध होती है। इसका नायक प्रख्यात एवं धीरोदात्त होता है। इसमें तीन अङ्क, तीन प्रकार का कपट, तीन प्रकार का विद्रव तथा तीन प्रकार का शृङ्गार होता है। समवकार में बारह नायक होते हैं। इसमें कुल अठारह नाड़िका की घटनाएँ होती है। इसमें प्रहसन, कपट, विद्रव और वीथी के साथ बारह नाड़ियों का प्रथम अङ्क होना चाहिए। चार नाड़िका की घटना से युक्त द्वितीय अङ्क होना चाहिए और तृतीय अङ्क का समय दो नाड़िका का होना चाहिए जिसमें कथावस्तु की समाप्ति होती है। इसमें भिन्न-भिन्न अङ्कों में कथावस्तु भिन्न भिन्न होनी चाहिए।

समवकार में देव और असुरों से सम्बन्धित प्रख्यात कथावस्तु होती है और इसमें प्रख्यात इतिहास प्रसिद्ध बारह नायक होते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि नाट्यशास्त्र के २४वें अध्याय में यह बताया गया है कि 'देवताओं को धीरोद्धत, राजा को धीरललित, सेनापति और अमात्य को धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वणिक् को धीरप्रशान्त नायक समझना चाहिए, तब इस स्थिति में 'देवासुरबीजकृतः' इस कथन से विसंगति होगी। इस पर कहते हैं कि यद्यपि देवता धीरोद्धत होते हैं फिर भी धीर स्वभाव होने के कारण त्रिपुरारि आदि देव धीरोदात्त कहे जाते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो देवता लोग नाटक का नायक ही नहीं हो सकेंगे। अतः समवकार में देवता और असुर आदि प्रख्यात एवं धीरोदात्त नायक होते हैं, यह कथन उचित ही है। समवकार अवकीर्ण होता है। अवकीर्ण का अर्थ है बिखरा हुआ अर्थात् समवकार का कथानक बिखरा हुआ होता है। वहाँ प्रत्येक अङ्क की कथावस्तु अलग-अलग होती है। प्रत्येक अङ्क में अलग-अलग अर्थ (वस्तु) का अभिनय के रूप में उपस्थापन होता है। एक अङ्क की कथावस्तु दूसरे अङ्क से सम्बद्ध नहीं होती। इसलिए समवकार में अर्थ (विषय, वस्तु) अवकीर्ण होता है। क्योंकि इसमें भिन्न-भिन्न स्तम्भ वाले बारह नायक होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोगों के सुखबहुल होने पर भी किसी एक रूप वाली वस्तु का बार-बार अनुसन्धान करने के प्रयास से भीरु देवता लोग भी उद्विग्न हो जाते हैं। अतः समवकार में वस्तु अवकीर्ण होता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि 'अमृतमन्थनम्' में नपुंसकलिङ्ग हैं और समवकार में पुलिङ्ग है। इस प्रकार दोनों में लिङ्गभेद होने पर भी समानाधिकरण सम्बन्ध से दोनों में अभेद सम्बन्ध सूचित होता है। इस सूचना के द्वारा 'वही यह है' इस प्रकार व्यवहित अर्थात् परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार-कल्प अभिनय होता है। इस प्रकार परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार-कल्प अभिनय होता है। इस प्रकार परोक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष अभिनय होने के कारण ही विक्रमोर्वशीय और स्वप्नवासवदत्ता नाटक कहलाते हैं। भाव यह कि अमृत-मन्थन नामक समवकार का कथानक परोक्ष है अर्थात् प्राचीन होने से प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अभिनय के द्वारा वह प्रत्यक्ष-कल्प प्रतीत होता है ॥ २-३ ॥

तस्मिन्समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः ।
हृष्टाः समभवन्सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ॥ ४ ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य मामाहाम्बुजसम्भवः ।
नाट्यं सन्दर्शयामोऽद्य[1] त्रिनेत्राय महात्मने ॥ ५ ॥

एवमितिहासस्य परिसमाप्तिं पश्यन्सकलप्रयोगप्राणभूतकैशिकीसर्वस्वभूतनृत्तप्रयोगप्रस्तावनायेतिहासमनुसन्धत्ते—कस्यचित्त्विति ।

यावता कालेन गतेन शिक्षणं सम्पद्यते तावता कालेन गतेन हेतुनेत्यर्थः । एतेन [2]नाट्यप्रयोगस्तद्विदे प्रथमं दर्शनीय इति दर्शयति । तेन [3]यद्बलात्प्रयोगो ब्रह्मणे दर्शित इति व्याख्यातं तदसदेव । न चोपयुक्तं वस्तु भगवते प्रदर्शयितुमुद्योजयेदिति चासङ्गतं स्यात् । सन्दर्शयाम इति चानेन कवेस्तन्मध्ये प्रवेशसूचनेनोत्प्रेक्षकत्वसूचनं स्यादित्यलमनेन महात्मशब्देन । तस्यैवात्र प्रेक्षणे सम्यगौचित्यमित्याह ॥ ५ ॥

अनुवाद—उस अमृतमन्थन नामक समवकार का अभिनय प्रस्तुत होनेपर अपने भावों एवं कर्मों के प्रदर्शन से सभी देवता और दानव प्रसन्न हुए ॥ ४ ॥

अभिनव—इस प्रकार नाट्यशास्त्र के इतिहास की परिसमाप्ति को देखते हुए भरतमुनि सकल प्रयोगों के प्राणभूत कैशिकी वृत्ति के सर्वस्व नृत्त-प्रयोग की प्रस्तावना के लिए पुनः इतिहास का अनुसन्धान करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद किसी समय पद्मयोनि ब्रह्माजी ने मुझसे कहा कि हम लोग अब इस नाट्य-प्रयोग का प्रदर्शन त्रिनेत्रधारी महात्मा शङ्कर को दिखलायें ॥ ५ ॥

अभिनव—जितने समय में शिक्षणकार्य (नाट्यशिक्षण) सम्पन्न हो सकता है उतना समय बीत जाने पर । इससे अर्थात् नाट्यशिक्षण के सम्पन्न हो जाने से नाट्य-प्रयोग को सर्वप्रथम नाट्यवेत्ता विद्वान् के समक्ष प्रदर्शित करना चाहिए, यह दिखाते हैं । इससे जो अन्य लोग 'जबर्दस्ती यह प्रयोग ब्रह्मा को दिखाया गया' इस प्रकार व्याख्या करते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि व्याख्या करने से 'उपयुक्त वस्तु को भगवान् को दिखाने के लिए उद्योग करना चाहिए' यह कथन असंगत हो जायगा । 'सन्दर्शयामः' इस कथन से कवि का उनके मध्य में अर्थात् नाट्य प्रयोक्ताओं के मध्य में प्रवेश की सूचना से 'कवि भी नटों का प्रेरक होता है' यह सूचित होता है अर्थात

१. ख. सदर्शयामोऽत्र । क-ख. सन्दर्शयामोऽन्यम् । अ. सन्दर्शयिष्यामः ।
२. क-अ. ततः ।
३. क-भ. म. नाटचप्रयोगस्तत्त्वदेव ।
४. क-भ. म. यदि बलान् प्रयोगो ।

ततः सार्धं सुरैर्गत्वा [1]वृषभाङ्कनिवेशनम् ।
[2]समभ्यर्च्य शिवं पश्चादुवाचेदं पितामहः ॥ ६ ॥
मया समवकारस्तु योऽयं सृष्टः सुरोत्तम ?
श्रवणे दर्शने चास्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

श्रवणे दर्शने चेत्यनुसन्धत्ते—

तथा पूर्वं परीक्षकः कविना श्रावयितव्य इति श्रवण इत्यनेनोक्तम् । सामाजिकास्तु श्रावयितव्या इति नातीव समञ्जसम् । तावत्तेषां प्रवृत्त्ययोगात् । श्रवणादेव चोपदेशसिद्धौ प्रयोगवैकल्यात् । परमेश्वरस्य परीक्षकत्वात् परितोष्यत्वाच्च ज्ञानातिशयेन रसचर्वणात्मकमहाभोगसमर्पणेन च ॥ ६-७ ॥

नाट्यप्रयोक्ताओं के मध्य में कवि के प्रवेश से यह बात सूचित होती है कि कवि भी नटों को प्रयोग के लिए प्रेरणा देता है। यहाँ पर 'महात्मा' पद से यह अभिप्राय है कि उन्हीं त्रिनेत्रधारी शिव के ही इस अभिनय के देखने में सम्यक् योग्यता है। यह कहा गया है ॥ ५ ॥

इसके बाद श्रवण और दर्शन में इन दोनों पदों का अनुसन्धान करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद लोकपितामह ने देवताओं के साथ भगवान् शङ्कर के निवास-स्थान पर जाकर और शिव की अच्छी तरह पूजन करके फिर उनसे यह कहा–हे सुरश्रेष्ठ ! मैंने जो यह समवकार बनाया है उसके देखने और सुनने की कृपा करें ॥ ६-७ ॥

अभिनव—यहाँ 'श्रवण' पद से यह कहा गया है कि पहिले कवि को किसी समीक्षक (विद्वान्) को सुनाना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि सामाजिक को सुनाया ही जायगा, तो समीक्षक को सुनाने का क्या प्रयोजन है ? यह सामञ्जस्य नहीं बैठता अर्थात् यह सङ्गति नहीं बैठती। क्योंकि उसके विना पहिले सामाजिकों को उसके सुनने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यदि सुनने से ही उपदेश की सिद्धि हो जाती है अर्थात् यदि उसके उपदेश से शिक्षा मिल जाती है तो प्रयोग को निष्फलता हो जायगी अर्थात् अभिनय निष्फल हो जायगा। परमेश्वर ही परीक्षक हैं अतः उन्हें सुनाना चाहिए और ज्ञानातिशय से उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए और परमेश्वर की सन्तुष्टि के लिए ही रसचर्वणा रूप महाभोग (नैवेद्य) समर्पण करना चाहिए ॥ ६–७ ॥

---

१. क-अ. त्र्यम्बकस्य निवेशनम् ।
२. ख. अभ्यर्च्य च ।

पश्याम इति देवेशो द्रुहिणं [1]वाक्यमब्रवीत् ।
ततो मामाह भगवान् सज्जो भव महामते ? ॥ ८ ॥
ततो हिमवतः पृष्ठे नानानगसमाकुले[2] ।
[3]बहुभूतगणाकीर्णे रम्यकन्दरनिर्झरे ॥ ९ ॥
[4]पूर्वरङ्गः कृतः पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः ? ।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥ १० ॥

तत्र पूर्वरङ्गपूर्वकत्वं प्रयोगक्रमस्य दर्शयति—पूर्वरङ्ग इत्यादिना । अयमिति समवकारः । परमेश्वरचरितप्राधान्येन च [5]त्रिपुरदाहसंज्ञको डिमः । प्रयुक्त इत्यनेन परीक्षकपरितोषनिमित्तं प्रयोक्तृभिः किञ्चित्प्रयोज्यमित्याह ॥ १० ॥

अनुवाद—'हम अवश्य देखेंगे' इस प्रकार भगवान् शिव ने ब्रह्मा जी से कहा। इसके बाद भगवान् ब्रह्मा जी ने मुझसे (भरत से) कहा कि—हे मतामते ! (अभिनय-प्रदर्शन के लिए) तैयार हो जावो ॥ ८ ॥

अनुवाद—इसके बाद विविध पर्वत शिखरों से घिरे हुए, अनेक भूतगणों से परिपूर्ण (भरे हुए), सुन्दर गुफाओं एवं झरनों से सुशोभित हिमालय पर्वत के उच्च शिखर पर पहिले पूर्वरङ्ग-विधान के बाद वहाँ इस अमृतमन्थन नामक समवकार तथा त्रिपुरदाह नामक डिम का अभिनय किया गया है ॥ ९-१० ॥

अभि०—वहाँ 'पूर्वरङ्ग' इत्यादि के द्वारा पूर्वरङ्ग के साथ प्रयोग का क्रम दिखाते हैं—

अभि०—'अयम्' पद से समवकार का ग्रहण होता है। परमेश्वर के चरित की प्रधानता के कारण 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का प्रयोग किया गया है। 'प्रयोजितः' पद के द्वारा यह अभिप्रेत है परीक्षक (परमेश्वर) के परितोष (प्रसन्नता) के लिए प्रयोक्ता नटों द्वारा कोई प्रयोग (अभिनय) दिखाना चाहिए, यह कहा गया है ॥१०॥

विमर्श—ब्रह्मा के आदेश से भरतमुनि ने हिमालय पर्वत के एक रम्यशिखर पर पूर्वरङ्गविधानपूर्वक पहिले 'अमृतमन्थन' नामक सभवकार की अभिनय किया। तदनन्तर शिव के आदेश से वहीं पर 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का प्रयोग करके दिखाया गया।

---

१. क-अ. पुनरब्रवीत् ।
२. ख. घ. नानानगसमावृते ।
३. ग. बहुचूतद्रुमाकीर्णे ।
४. ख. ग. पूर्वरङ्गे कृते ।
५. क. त्रिपुरदाहसम्बन्धो ।

ततो भूतगणा हृष्टाः कर्मभावानुकीर्त्तनात् ।
महादेवश्च सुप्रीतः [1]पितामहमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

जैसा कि कहा गया है कि नाटकीय वस्तु के प्रारम्भ करने के पहिले अर्थात् नाटक प्रारम्भ होने के पूर्व रङ्गविघ्न की शान्ति के लिए नटद्वारा पूर्वरङ्ग का विधान किया जाता है। (**पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ।** शिशुपालवध २।८)। इसलिए यहाँ अभिनय प्रारम्भ होने के पहिले पूर्वरङ्ग का विधान किया गया है। पहिले 'त्रिपुरदाह' में परमेश्वर शिव के चरित की प्रधानता दिखाई गई है और परमेश्वर ही परीक्षक हैं, इसलिए परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए त्रिपुरदाह नामक डिम का अभिनय किया गया। 'डिम' दश रूपकों में से रूपक का एक भेद है। नाट्यशास्त्र में 'डिम' का लक्षण निम्न प्रकार बताया गया है—

प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
षड्सलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ॥
शृङ्गारहास्यवर्जः शेषैः सर्वैः समायुक्तः ।
दीप्तरसकाव्ययोनिः नानाभावोपसम्पन्नः ॥
निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्धनियुद्धाधर्षणसम्फेटकृतश्च कर्त्तव्यः ॥
मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुस्तोत्त्थानयोगयुक्तश्च ।
देवभुजगेन्द्र राक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ॥
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः ।
कार्यो डिमः प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्नः ॥
(ना० शा० १८।८४-८८)

'डिम' में घात-प्रतिघात का प्रमुखरूप से वर्णन होता है। इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम आदि का वर्णन होता है। इसमें चार अङ्क और शृङ्गारहास्य को छोड़कर छः रस होते हैं और देव, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक होते हैं। डिम का प्रमुख उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है। इसमें प्रमुखरूप से 'विद्रव' का वर्णन किया गया है। अभिनवगुप्त ने डिम, डिम्ब और विद्रव को पर्यायवाची माना है ॥ ९-१० ॥

अनुवाद—तदनन्तर सभी भूतगण अपने कर्मों एवं भावों के अनुकीर्त्तन (अनुदर्शन] से हर्षित हुए और महादेव शिव प्रसन्न होकर पितामह ब्रह्माजी से बोले ॥ ११ ॥

---

१. क-अ. पितामहमुखान् मुनीन् ।

अहो नाटचमिदं सम्यक् त्वया सृष्टं महामते[1]।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं [2]बुद्धिविवर्धनम् ॥ १२ ॥

मयाऽपीदं स्मृतं [3]नृत्यं [4]सन्ध्याकालेषु नृत्यता।
नानाकरणसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम्[5] ॥ १३ ॥

परितोषं फलतः प्रकटयति—मयापीदमिति।

अननेदमाह—भरतमुनिना [6]तावद्भगवन्नृत्तकैशिकीदर्शनात्तत्प्रयोगार्थमनुस्मृत्य किञ्चिन्नियोजितम्। तत्तु सम्यगुपदेशाभावान्नातीव सुश्लिष्टमिति। अत एव वक्ष्यति—सम्यगिति। स्मृतमित्यनादित्वमस्य दर्शयति। बहुवचनेनादरविषयतामिति। अङ्गहार एव नृत्तं[7]प्रयोगफलं प्रसूते। तदङ्गानि तु करणादीनि। द्वात्रिंशन्नृत्तकर्मणि प्रधानानीत्याशयेन विशेषणयोगमाह—नानेति ॥ १३ ॥

अनुवाद—हे महमते ! आपने बहुत सुन्दर इस नाटच (अभिनय) का निर्माण किया है। जो यश को देने वाला, शुभ (कल्याण) करने वाला और पुण्य एवं बुद्धि को बढ़ाने वाला है ॥ १२ ॥

परितोष को फल से प्रकट करते हैं—

अनुवाद—सन्ध्या के समय नृत्य करते हुए मैंने भी नाना प्रकार के करणों से युक्त एवं अङ्गहारों से विभूषित उस नृत्य का स्मरण किया है अर्थात् आविष्कार किया है ॥ १३ ॥

अभिनव—'मयापीदम्' (मैंने भी इसे) इससे यह कहते हैं कि भरतमुनि ने तो पहिले भगवान् शिव के नृत्त में कैशिकी वृत्ति को देखा था, उसके प्रयोग के अर्थो का स्मरण करके कुछ प्रयोग किया, किन्तु वह गुरु के उपदेश (शिक्षा) के अभाव में अच्छी तरह से सफल (सुसंगत) नहीं हुआ। इसीलिए कहेंगे—अच्छी तरह से से प्रयोग कोजिए। 'स्मृतम्' इस पद से नृत्त का 'अनादित्त्व' (अनादि होना) दिखाया

---

१. क दृष्टं महात्मना।
२. क-अ. कीर्त्तिविवर्द्धनम्।
३. ख. नृत्तं। क—च. ब. नित्यं।
४. क-प. ब. पुरा सन्ध्यामुपासता।
५. क—ध. विनिस्सृतम्।
६. क-म. भ. तावद्भरतनृत्तकैशिकीदर्शनात्तत्प्रयोगार्थमनुसृत्य।
७. क-म. भ. नृत्तफलं प्रसूते।

पूर्वरङ्गविधावस्मिंस्त्वया सम्यक्प्रयोज्यताम्[1] ।
[2]वर्धमानकयोगेषु[3] गीतेष्वासारितेषु[4] च ॥ १४ ॥
महागीतेषु चैवार्थान्सम्यगेवाभिनेष्यसि[5] ।
यश्चायं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धः प्रयोजितः ॥ १५ ॥
[6]एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्रो नाम भविष्यति ।

गया है। यहाँ पर—'नानाकरणसंयुक्तैरङ्गहारैः' में बहुवचन के प्रयोग द्वारा अङ्गहारों की आदरातिशयता (आदरणीयता) दिखाया गया है। क्योंकि अङ्गहार ही प्रयोग को सफल बनाने वाले नृत्त को जन्म देते हैं। उसके अङ्ग करण आदि हैं। बत्तीस प्रकार के अङ्गहार नृत्त कर्म में प्रधान (प्रमुख) हैं। इसी अभिप्राय से 'नानाकरण' आदि विशेषणों को कहा गया है ॥ १३ ॥

विमर्श—भरतमुनि ने शिवजी के समक्ष 'अमृतमन्थन' नामक समवकार और 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का प्रयोग किया था। उस प्रयोग को देखकर शिवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। किन्तु वह प्रयोग नृत्त-विहीन होने के कारण अधिक रञ्जक न हो सका। तब शिव ने प्रयोग को अधिक रञ्जक बनाने के लिए नाना प्रकार के करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्त का सृजन कर तण्डु को आदेश दिया कि वह इसकी शिक्षा भरत को दें। तब तण्डु ने भरत को करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्त की शिक्षा दी। इस प्रकार नाट्य-प्रयोग में करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्त की योजना की गयी ॥ १३ ॥

अब इसके विनियोग का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—इस पूर्वरङ्ग-विधान में तुम इन अङ्गहारों का अच्छी तरह प्रयोग करों। वर्धमानक योग, गीतों, आसारितों और महागीतों के प्रयोग में इन अर्थों का अच्छी तरह प्रयोग (अभिनय) कर सकोगे। जिस पूर्वरङ्ग का तुमने प्रयोग किया है वह शुद्ध पूर्वरङ्ग है। जब यह पूर्वरङ्ग इन नृत्यविधियों से मिश्रित होगा तो 'चित्रपूर्वरङ्ग' कहलायेगा ॥ १४–१६ ॥ (१)

---

१. ख. सम्यक् प्रयुज्यताम् ।
२. श्लोकार्धमिदं अ. ब. पुस्तकयोर्नास्ति ।
३. ख. ग. घ. वर्धमानकयोगेन ।
४. ख. गीतेष्वासादितेषु च ।
५. क–अ. ब सम्यक्त्वमभिनेष्यसि ।
६. ग. एतद्विमिश्रितश्चायं ।

विनियोगमस्य निरूपयति—पूर्वरङ्गविधाविति। रतिस्थाने (कतिस्थाने) रङ्गे नाट्यप्रयोगे यः पूर्वो भागस्त्वया शुद्धो वैचित्र्यरहितः प्रयुक्तः स एतेन नृत्तेन मिश्रितश्चित्रो नामेति [1]प्रासिद्ध्यात् भरत इत्येष भविष्यति ? । भरतमुनिना प्रत्याहाराद्यन्तर्यवनिकागतमङ्गनवकं गीतकादिप्ररोचनान्तकमङ्गदशकं यत्प्रयोगे नृत्तविरहितमेव प्रयुक्तं कर्तव्यमात्रेण, न तु कृतमङ्गदशकं यत्प्रयुक्तं तद्दृष्टादृष्टोभयप्रयोजनमपि यथा तत्र रञ्जकत्वं किञ्चित्। अनेन तु विमिश्रं विचित्रं दृष्टादृष्टात्मकफलं सम्यग्वितरतीत्यभिप्रायो महावाक्यस्य। अस्मिन्निति। त्वत्प्रयुयुक्षितप्रयोगोचितोद्धतपूर्वरङ्गप्रयोगविधौ। तत्प्रयुक्ता इमे करणाङ्गहाराः। सुकुमारपूर्वरङ्गे तु देवी(देव्या)कृता अनुद्धता अङ्गहारा इत्यभिप्रायात्। महागीतं च यद्गीतकवर्धमानमनादिरूपं तत्र सम्यग्वर्धमानादिक्रमेण, [2]तथा वाक्यार्थाभिनये यथायोगं योज्यमानाङ्गहारपिण्डीबन्धत्रयेण येनाभिनेतुं शक्ष्यसि ॥ १४-१६ ॥

अभिनव—'भरति स्वाङ्गं यत्र' अर्थात् जहाँ पर नट लोग स्वांग भरते हैं, उस रङ्गमण्डप में नाट्यप्रयोग में पूर्वरङ्ग जो प्रथम भाग है उसे तुमने शुद्ध रूप में अर्थात् वैचित्र्य रहित प्रयोग किया है जब वह इस नृत्त से मिश्रित होगा तो चित्र नाम से प्रसिद्ध होगा, जिस प्रसिद्धि के कारण नट लोग स्वांग का भरण करें, इस प्रकार वह 'भरत' होगा। भरतमुनि ने यवनिका के अन्तर्गत प्रत्याहार आदि नौ अङ्गो का और यवनिका के बाहर गीतकादि से प्ररोचना पर्यन्त दश अङ्गों का नाट्यप्रयोग में नृत्त के बिना ही कर्त्तव्यमात्र समझकर (कर्त्तव्यबुद्धि से) जो प्रयोग किया है और दश अङ्गों का जो प्रयोग किया है वह दृष्ट एवं अदृष्ट उभय प्रयोजन रूप होने पर भी उसमें कुछ भी रञ्जकता नहीं है। किन्तु इस प्रकार से अर्थात् विचित्र (नाट्य) है, दृष्ट और अदृष्ट उभयरूप फल को अच्छी तरह वितरित करते हैं, यह महावाक्य का अभिप्राय है। तुम्हारे द्वारा प्रयोग (अभिनय) करण की इच्छारूप इस प्रयोग में उचित और उद्धत जो पूर्वरङ्ग विधि है उसमें इन करणों एवं अङ्गहारों का प्रयोग किया जाता है और सुकुमार पूर्वरङ्ग में देवी पार्वतीद्वारा कृत अनुद्धत (कोमल) अङ्गहारों का प्रयोग होता है, इस अभिप्राय से कहा गया हैं। जो गीतक और वर्धमानक अनादि रूप महागीत हैं उसमें अच्छी तरह वर्धमानक क्रम से तथा वाक्यार्थाभिनय मैं भी यथायोग्य योज्यमान (प्रयुज्यमान) अङ्गहार, रेचक और पिण्डीबन्ध के क्रम से अभिनय कर सकोगे ॥ १४-१६ (१) ॥

---

१. क-भ. प्रसिद्धया।

२. क-भ. कथा।

श्रुत्वा महेश्वरवचः [1]प्रत्युक्तस्तु स्वम्भुवा ॥ १६ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व सुरसत्तम ।

विमर्श—भगवान् शिव ने भरत को पूर्वरङ्ग-विधान में नाना करणों से युक्त नृत्त के प्रयोग का निर्देश दिया है। किन्तु वह वैचित्र्यहीन शुद्ध पूर्वरङ्ग था। उस वैचित्र्यहीन शुद्ध पूर्वरङ्ग के प्रयोग को देखकर उसे अधिक रसमय बनाने के लिए करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्त के प्रयोग का विधान किया और शिव ने तण्डु के द्वारा भरत को शिक्षा दिलाई। तब से नृत्त को नाट्य में सम्मिलित कर लिया गया। पुरुषप्रयोज्य यह नृत्त उद्धत नृत्त था। यह नृत्त अनेकविध करणों एवं अङ्गहारों से युक्त था। इसी अवसर पर शिव के अनुरोध पर पार्वती ने 'लास्य' सुकुमार नृत्य की योजना की। इसका प्रयोग केवल स्त्रियाँ ही कर सकती थीं, क्योंकि इसमें कोमल भावों का प्रदर्शन होता है। यह नृत्य कोमल अङ्गहारों से युक्त था। इस प्रकार पूर्वरङ्ग में नृत्य, गीत एवं भाण्डवाद्यों की योजना की गई। तब नाना करणों एवं अङ्गहारों से विभूषित सुकुमार एवं उद्धत नृत्त का प्रयोग होने के कारण वह पूर्वरङ्ग चित्रपूर्वरङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अभिनवगुप्त का कथन है कि पहिले पूर्वरङ्ग नृत्य की योजना न होने के कारण पूर्वरङ्ग शुद्ध पूर्वरङ्ग माना जाता था किन्तु शिव के द्वारा निर्दिष्ट नृत्य की योजना के कारण वह शुद्ध पूर्वरङ्ग वैचित्र्यकारक 'चित्रपूर्वरङ्ग' नाम से विख्यात हुआ।

भरत ने यवनिका के अन्तर्गत प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त नौ पूर्वरङ्ग विधियों के प्रयोग का निर्देश दिया है। इन नौ पूर्वरङ्ग–विधियों का सम्बन्ध प्रयोक्ताओं से है। इससे सभी वाद्ययन्त्रों तथा हस्तपादप्रचार आदि का अन्तिम रूप से परीक्षण हो जाता है। यवनिका के बाहर गीतक से लेकर प्ररोचना पर्यन्त पूर्वरङ्ग की दस विधियों का प्रयोग होता है। पूर्वरङ्ग की ये दस विधियाँ सामाजिकों से सम्बन्धित हैं। इनमें स्तुति, आशीर्वचन और शुभाशंसा तथा काव्यार्थसूचन मुख्यरूप से होता है। भरतमुनि ने कर्त्तव्यबुद्धि से यवनिका के अन्तर्गत नृत्यविहीन प्रत्याहारादि नौ अङ्गों का प्रयोग किया था और यवनिका के बाहर गीतक से प्ररोचना पर्यन्त दस अङ्गों का प्रयोग किया था। उन्होंने दस अङ्गों का जो प्रयोग किया था वह दृष्ट और अदृष्ट उभय प्रयोजन वाला होकर भी रञ्जक नहीं था और शुद्ध था। किन्तु इस प्रकार से नृत्त से विमिश्र होने के कारण वह चित्र-पूर्वरङ्ग हो गया। इस प्रकार वह विचित्र पूर्वरङ्ग दृष्ट और अदृष्ट उभय फल भी देता है और विचित्रता उत्पन्न करने के कारण रञ्जक भी होता है ॥१४-१६ (१) ॥

अनुवाद—महेश्वर के वचन को सुनकर स्वयंभू ब्रह्माजी ने कहा—हे देव श्रेष्ठ ? अङ्गहारों के प्रयोग को बतलाइये ॥१६–१७॥ (१)

---

१. ख. ग. प्रयुक्तं च । क. प्रयुक्तश्च ।

[1]ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः[2] ॥ १७ ॥
[3]प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै ।

आचक्ष्व भरतायेति—अनेन मुनिः परमेश्वरप्रसादपात्रमात्मानं बहुमन्यमानो मामेव प्रति दैवेनैवेदं निरूपितं प्रयोजितस्त्वयाभिनेतुं शक्ष्यसीति कथयता प्रधानसन्निधौ तु नैव प्रतिवक्तव्यमित्याशयेन "श्रुत्वा महेश्वरवचः प्रत्युक्तं तु स्वयम्भुवा" इत्युक्तमिति दर्शयति । तण्डुं समाहूयेति । सर्वत्र पाठे तण्डुशब्द एव युक्तः, ताण्डवशब्दव्युत्पत्तिवशात् । तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी । (तयोरपरनामनी) ॥ १७-१८ (१) ॥

अनुवाद—इसके बाद भुवनेश्वर शिव ने तण्डु को बुलाकर कहा कि तुम भरत को अङ्गहारों का प्रयोग सिखलाओ ॥ १७–१८ ॥ (१)

अभि०—'आचक्ष्व भरताय' इससे मुनि अपने को परमेश्वर (शिव) का अधिक कृपापात्र मानते हुए 'मेरे ही लिए स्वयं महादेव (शिव) ने ही यह निरूपण किया है और तुम अभिनय कर सकोगे, इस प्रकार प्रेरित किया है' । प्रधान पुरुष के सन्निधि में तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, इस आशय से 'महेश्वर के वचन को सुनकर स्वयंभू ब्रह्मा ने स्वयं कहा' इस प्रकार कहा, यह दिखाते हैं । तब तण्डु को बुलाकार। सब जगह सभी पाठों में तण्डु शब्द का पाठ ही ठीक है, ताण्डव शब्द की व्युत्पत्ति के कारण अर्थात् तण्डु से ही ताण्डव शब्द बना है (तण्डुना प्रोक्तं कृतं वा ताण्डवम्) । अतः ताण्डव शब्द के आधार पर 'तण्डु' शब्द ही उचित है । तण्डु और मुनि शब्द नन्दि और भरत के द्वितीय (अपर) नाम है ॥ १७–१८ (१) ॥

विमर्श—भगवान् शिव भरतकृत अभिनय को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य का आविष्कार स्वयं भरत के लिए किया है तथा तण्डु को बुलाकर कहा कि इसका उपदेश भरत को दो । इस प्रकार उन्होंने तण्डु से भरत को करणों और अङ्गहारों से युक्त नृत्त की शिक्षा दिलवायी और कहा कि इसका सम्यक् प्रयोग तुम्हीं कर सकोगे । तण्डु से प्राप्त या तण्डु द्वारा उपदिष्ट शास्त्र ताण्डव कहलाता है । इस प्रकार ताण्डव शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर सभी पाठों में तण्डु शब्द का प्रयोग ही उचित है, तण्डु और मुनि शब्द नन्दि और भरत के अपर नाम हैं । इस प्रकार अभिनवगुप्त तण्डु और नन्दि (नन्दी) को एक ही व्यक्ति मानते हैं । शब्दकल्पद्रुम, हेमचन्द्र तथा रामकृष्ण कवि के अनुसार भी तण्डु और नन्दी एक ही व्यक्ति हैं । ये तण्डु (नन्दी) शिव के गण और ताण्डव नृत्य के प्रयोक्ता हैं ॥ १७-१८ (१) ॥

---

१. क-ङ. ब. त. ततस्ताण्डिनमाहूय ।

२. ख. घ. सुरसत्तमः ।

३. क–अ. द. प्रयोगमङ्गहाराणां भरतायोपदिश्यताम् ।

ततो ये[1] तण्डुना[2] प्रोक्तास्त्वङ्गहारा[3] महात्मना ॥ १८ ॥
[4]नानाकरणसंयुक्तान्व्याख्यास्यामि सरेचकान्[5] ।

य इति । आत्रेयप्रभृतीन्प्रति मुनिरेतदाह—सकरणान्सरेचकानिति । विशेषणत्वादङ्गहाराणामेव प्राधान्यम् । तत एव तेषामेव पूर्वमुद्देशः । उपायत्वात् । तत्र करणानां पूर्वं लक्षणं तत्सञ्चयात्मकत्वात् तेषाम् ॥ १८-१९ (१)॥

अनुवाद—इसके बाद महात्मा तण्डु ने जो अङ्गहार मुझे बतलाये हैं अर्थात् जिन अङ्गहारों को मुझे बतलाया है, अब मैं अनेक करणों एवं रेचकों के साथ उनकी व्याख्या करूँगा ॥ १८-१९ (१) ॥

अभिनव—इसके बाद भरतमुनि ने आत्रेय प्रभृति ऋषियों से कहा कि करणों और रेचकों के साथ अङ्गहारों की व्याख्या करूँगा। क्योंकि करणों और रेचकों के विशेषण होने के कारण अङ्गहारों की प्रधानता है। भाव यह कि यहाँ पर करण और रेचक अङ्गहारों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं, इनके विशेषण होने से अङ्गहारों की प्रमुखता है, इसलिए अङ्गहारों का पहिले कथन किया गया है। उपाय अर्थात् साधन होने के कारण वहाँ पहिले करणों का लक्षण कहा गया है और उन करणों के संचयात्मक होने के कारण ॥ १८-१९ ॥ (१)

विमर्श—यहाँ करणों और रेचकों का अङ्गहारों के विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है। इसलिए अङ्गहारों की प्रधानता होने के कारण पहिले अङ्गहारों का नाम मात्र कथन किया गया है। क्योंकि अङ्गहार प्रधान (अङ्गी) हैं और करण एवं रेचक अङ्ग। जैसा कि कहा गया है कि सभी अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती हैं। अतः करण अङ्गहारों के साधन (उपाय) हैं और चारों प्रकार के अभिनयों के संचय रूप हैं। इसलिए वहाँ पहिले करणों का लक्षण कहा जायगा अर्थात् अङ्गहारों के नाम गिनाने के बाद करणों का लक्षण पहिले बतलाये जायेंगे उसके बाद अङ्गहारों का विवेचन किया जायगा ॥ १८-१९ (१) ॥

---

१. ख. घ. वै ।
२. क-प. त. ताण्डिना । अ. तण्डिना ।
३. ख. त्वङ्गहारान् ।
४. क. तान्वा ।
५. क-अ. व्याख्याम्यवसरैकदा

स्थिरहस्तोऽङ्गहारस्तु तथा [1]पर्यस्तकः स्मृतः ॥ १९ ॥
[2]सूचीविद्धस्तथा चैव ह्यपविद्धस्तथैव च ।
[3]आक्षिप्तकोऽथ विज्ञेयस्तथा [4]चोद्धट्टितः स्मृतः ॥ २० ॥
विष्कम्भश्चैव सम्प्रोक्तस्तथा चैवापराजितः ।
[5]विष्कम्भापसृतश्चैव मत्ताक्रीडस्तथैव च ॥ २१ ॥
स्वस्तिको रेचितश्चैव पार्श्वस्वस्तिक एव च ।
वृश्चिकापसृतः[6] प्रोक्तो भ्रमरश्च[7] तथापरः ॥ २२ ॥
[8]मत्तस्खलितकश्चैव [9]मदाद्विलसितस्तथा ।
[10]गतिमण्डलको ज्ञेयः परिच्छिन्नस्तथैव च ॥ २३ ॥
[11]परिवृत्तचितोऽथ स्यात्तथा वैशाखरेचितः ।
परावृत्तोऽथ विज्ञेयस्तथा चैवाप्यलातकः ॥ २४ ॥
पार्श्वच्छेदोऽथ सम्प्रोक्तो विद्युद्भ्रान्तस्तथैव च ।
[12]ऊरूद्वृत्तस्तथा चैव स्यादालीढस्तथैव च ॥ २५ ॥
[13]रेचितश्चापि विज्ञेयस्तथैवाच्छुरितः स्मृतः ।
आक्षिप्तरेचितश्चैव सम्भ्रान्तश्च तथापरः ॥ २६ ॥

---

१. क-प. म. पर्यस्तहस्तकः ।
२. ख. सूचीविद्धस्तथा च स्यात् सूपविद्धस्तथैव च
३. ग. आक्षितप्कस्तु ।
४. ख. चोद्धाटितः ।
५. ख. घ. वृश्चिकापसृतः ।
६. ख. ग. वृश्चिकश्चैव सम्प्रोक्तः ।
७. ख. चमरश्च ।
८. क–छ. समस्स्खलितकश्चैव ।
९. क-प. त. पदाद्विलसितस्तथा ।
१०. ख. ग. घ. गतिमण्डलोऽथ विज्ञेयः । न. गतिमण्डलो विज्ञेयः ।
११. ग. घ. परिवृत्तरेचितः स्यात् । ख. परिवृत्तरेचितोऽथ स्यात् ।
१२. ख-ख. उद्वृत्तकस्तथैव ।
१३. क-त. अञ्चितश्चापि ।

अपसर्पस्तु[1] विज्ञेयस्तथा चार्धनिकुट्टकः ।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता [2]अङ्गहारास्तु नामतः ॥ २७ ॥

तत्राङ्गहारोद्देशमाह—स्थिरस्हत इत्यादिना द्वात्रिंशदेत इति इत्यन्तेन । अयं भावः—अष्टोत्तरे करणशते ज्ञाते चतुष्षष्टिकरणयोजनया त्रुटिताङ्गत्या (त्रुटिताङ्गगतरीत्या) यद्यप्यानन्त्यमङ्गहाराणां तथापि प्राधान्याद् दृष्टफलं प्रत्यधिकोपरक्ततया द्वात्रिंशन्नामतो निर्दिष्टाः । न तु परिगणनमेतत् । अङ्गानां देशान्तरे प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः । हरस्य चायं हारः प्रयोगः । अङ्गनिर्वर्त्यो हारोऽङ्गहारः । यद्वक्ष्यति—"महेश्वरस्य चरितं य इमम्" इति । (ना. शा. ४-३३०) ॥ १९-२७ ॥

अभि० —इसके बाद 'स्थिरहस्त' इत्यादि से लेकर 'द्वात्रिंशदेते' तक अङ्गहारों का नाममात्र से कथन करते हैं—

अनुवाद—अब अङ्गहारों का नाममात्र से कथन करते हैं - १—स्थिर-हस्त २–पर्यस्तक ३-सूचीविद्ध ४-अपविद्ध ५-आक्षिप्तक ६-उद्घट्टित ७-विष्कम्भक ८-अपराजित ९-विष्कम्भापसृत १०-मत्ताक्रीड़ ११-स्वस्तिकरेचित १२-पार्श्व-स्वस्तिक १३-वृश्चिकापसृत । १४-भ्रमर १५-मत्तस्खलित १६-मदविलसित १७-गतिमण्डलक १८-परिच्छिन्न १९-परिवृत्तचित २०-वैशाखरेचित २१-परावृत्त २२-अलातक २३-पार्श्वच्छेदक ३४-विद्युद्भ्रान्त २५-उरूद्वृत्त २६-आलीढ़ २७-रेचित २८. आच्छुरित २९. आक्षिप्तरेचित ३०. सम्भ्रान्त ३१. अपसर्प ३२. अर्धनिकुट्टक अङ्गहारों के ये बत्तीस नाम कहे गये हैं ॥ १९–२७ ॥

अभिनव—भाव यह है कि १०८ करणों का ज्ञान हो जाने पर ६४ करणों की योजना से अङ्ग की गति के त्रुटित होने से यद्यपि अङ्गहारों की संख्या अनन्त है, तथापि प्रमुख रूप से दृष्टफल वाले बत्तीस अङ्गहारों का निर्देश किया गया है । किन्तु यह परिगणन नहीं है कि इतने ही अङ्गहार हैं । अङ्गों का दूसरे स्थान पर पहुंचाने का प्रकार अङ्गहार है । अथवा 'हरस्य चायं हारः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार हार का अर्थ 'प्रयोग' है । अङ्गों के द्वारा सम्पाद्य हार (प्रयोग) अङ्गहार है । जैसा कि आगे कहेंगे—'जो महेश्वर के चरित का प्रयोग करेगा' ॥ १९–२७ ॥

---

१. ख. अपसर्पितोऽथ ।

२. ख. सम्प्रोक्तास्त्वङ्गहारास्तु । क–त. सम्प्रोक्ता ह्यङ्गहारास्तु ।

[1]एतेषां तु प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रयम् ।
[2]हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभिः ॥ २८ ॥
[3]अङ्गहारेषु वक्ष्यामि [4]करणेषु च वै द्विजाः ।

तत्र निर्दिष्टानामेषां लक्षणं वाच्यमित्याशङ्क्याह—एतेषान्त्वित्यादि । करणेषूक्तेष्वेव ते लक्षयितुं शक्यन्ते । ननु किं करणक्रमपाठ एव तेषां लक्षणं भविष्यति । नेत्याह—हस्तपादप्रचारश्चेति । अङ्गहारप्रयोगेषु कर्तव्येषु यानि करणानि तद्विषये करणात्करणान्तरसञ्चारे हस्तपादादेरङ्गस्य यः संहिताकार्यकल्पप्रयोगः तमपि वक्ष्यामि । चशब्दात्क्वचिन्न वक्ष्यामि । ऊहप्रदर्शनार्थम् । वैशब्दः [5]आगमप्रयोगद्योतकः ॥ २८ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि १०८ प्रकार के करणों का ज्ञान हो जाने पर हस्त-पदादि की योजना से और रस के अङ्गभूत गति, स्थिति आदि के प्रयोग से यद्यपि अङ्गहारों की संख्या अनन्त हैं, तथापि दृष्टि फल वाले बत्तीस अङ्गहार ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु ताल की गतियों के आधार पर इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया है । इनमें सोलह अङ्गहार त्र्यस्रतालों और सोलह अङ्गहार चतुरस्र तालों के अनुसार बताये गये हैं। शाङ्र्गदेव, अशोकमल्ल आदि इसी मत को स्वीकार करते हैं ॥ १९-२० ॥

अब वहाँ निर्दिष्ट इन अङ्गहारों का लक्षण कहना चाहिए, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—अब मैं करणों पर आश्रित इन अङ्गहारों का प्रयोग कहूंगा। हे द्विजों ! इन अङ्गहारों और करणों में प्रयोक्ताओं (अभिनेताओं) को हाथ और पैरों का जिस प्रकार संचालन करना चाहिए, उसे कहूंगा ॥ २८-२९ (१) ॥

अभि०—करणों के कहे जाने पर ही उनका लक्षण किया जा सकता है, क्या करणों का क्रम से पाठ कर देने मात्र से ही उनका लक्षण हो जायगा ? कहते हैं कि नहीं। अङ्गहारों का प्रयोग करना चाहिए, उनमें जो करण है उनके विषय में एक करण के बाद दूसरे करण के सञ्चार में हस्तपादादि अङ्गों का जो संहिताकार्यकल्प प्रयोग है उसे भी कहूँगा । 'च शब्द से कहीं पर नहीं कहूँगा' यह अभिप्राय है। ऊह प्रदर्शन में लिए अर्थात् कहीं कहीं बुद्धि से भी समझना चाहिए, इसलिए नहीं कहूँगा। 'वै शब्द आगम प्रयोग का द्योतक है ॥ २८-२९ (१) ॥

---

१. ख-घ. एषां चैव प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रितम् ।
२. ख. हस्तपादप्रचारस्तु ।
३. ख. क–त. अङ्गहारप्रयोगेषु ।
४. ख. घ. तथाऽहं द्विजसत्तमाः । क-त. करणानां च वै द्विजाः ।
५. क-भ. आगमप्रयोगस्य द्योतकः । क. आगमप्रयोगद्योतकस्तु ।

सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः करणैर्यतः[1] ॥ २९ ॥
[2]तान्यतः सम्प्रवक्ष्यामि नामतः कर्मतस्तथा ।
हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य[3] करणं भवेत् ॥ ३० ॥

अङ्हारविषये [4]वक्तव्ये पूर्वं किं [5]निरूपणार्हमित्याह—सर्वेषामिति ॥२९॥

तत्र करणानामङ्गहाराणां च सामान्यलक्षणं कर्तुमाह—हस्तपादेत्यादिना । क्रिया करणम् । कस्य क्रिया । नृत्तस्य । गात्राणां विलासक्षेपस्य । हेयोपादेयविषयक्रियादिभ्यो व्यतिरिक्ता या तत्क्रिया करणमित्यर्थः । नृत्यस्येति । व्यपदेशिवत्त्वेन षष्ठी । तस्याः क्रियायाः स्वरूपमाह—हस्तपादसमायोगः । हस्तोपलक्षितस्य पूर्वकायवर्तिशाखाङ्गोपाङ्गादेः पादोपलक्षितस्य चापरकायगतपार्श्वकटयूरुजङ्घाचरणादेः सङ्गततयाऽत्रुटितत्वेन वृत्तियोजने । पूर्वक्षेत्रसंयोगत्यागेन समुचितक्षेत्रान्तरप्राप्तिपर्यन्ततया एका क्रिया तत्करणमित्यर्थः । उत्तरसंयोगान्तं हि सर्वत्र कर्म । स चाप्यभिलषितोत्तरसंयोग एव क्रियावधित्वेन लोके प्रसिद्ध इति नापूर्वमेतत । [6]एतावदेवेहाधिकं (यत) सौन्दर्यानुप्रवेशेन सविलासत्वं नाम । अत एव नृत्तशब्देन विशेषणं नृत्तकरणमिति । एकदेशाभिप्रायेण तु करणशब्दस्य प्रयोगो भीमसेने भीम इतिवत् ॥ ३० ॥

अनुवाद—क्योंकि सभी अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों द्वारा होती है, इसलिए उनके नाम और कर्म (क्रियाओं) का अच्छी तरह व्याख्या करूँगा । नृत्त में हाथ और पैरों की गतियों एवं स्थितियों को करण कहते हैं ॥२९-३०॥

अभिनव—अङ्गहारों के विषय-प्रतिपादन करने के अवसर पर पहिले क्या निरूपण करने योग्य है ? इस पर कहते हैं कि सभी अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है। उनमें करणों और अङ्गहारों का सामान्य लक्षण करने के लिए कहते हैं—नृत्य में हस्तपादादि का समायोग करण है। क्रिया ही करण हैं। किसकी क्रिया ? नृत्त की अर्थात् गात्रों (अङ्गों) के विलास के साथ प्रक्षेपण (संचालन) की ? हेय (त्याज्य) एवं उपादेय (ग्राह्य) विषयक क्रियाओं से षष्ठी विभक्ति है। उस क्रिया के स्वरूप को कहते हैं—हस्तपादादि का समायोग। हस्त से उपलक्षित शरीर के पूर्वभाग के अङ्गों एवं उपाङ्गों आदि को तथा पाद से उपलक्षित शरीर के अपर-

---

१. ख. करणैर्भवेत् ।
२. ख. तान्यहं ।
३. ख. घ. नृत्तस्य ।
४. क-म. कर्तव्ये ।
५. क-भ. तन्निरूपणार्थं ।
६. क. [टि०]. एतदेवाधिकं ।

[1]द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो [2]नृत्तमातृका ।
[3]द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः ॥ ३१ ॥
[4]त्रिभिः कलापकं चैव चतुर्भिः षण्डकं भवेत् ।
पञ्चैव करणानि स्युः [5]सङ्घातक इति स्मृतः ॥ ३२ ॥
षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा ।
[6]करणैरिह संयुक्ता अङ्गहाराः प्रकीर्तिताः ॥ ३३ ॥

एवं तावत्करणस्य सामान्यलक्षणम् । तत्राङ्गहारस्य विशेषलक्षणं विरचयितुं पीठबन्धमाह --द्वे नृत्तकरणे इति ।

भाग के अङ्ग, कटि, उरू, जङ्घा, चरण आदि की संगति के साथ अत्रुटित रूप से संचालन की योजना। पूर्वदेश के संयोग के त्याग से समुचित अन्य स्थान की प्राप्तिपर्यन्त ही कर्म होता है। वह भी अभीष्ट उत्तरदेश का संयोग ही क्रिया की अवधि के रूप में लोक में प्रसिद्ध है, इसलिए यह कोई अपूर्व बात नहीं है। इतना ही यहाँ अधिक है कि जो सौन्दर्य के सम्बन्ध से सविलास अर्थात् विलास से युक्त है। इसलिए नृत्त शब्द करण का विशेषण हैं 'नृत्तकरण'। एकदेश के अभिप्राय से 'करण' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे भीमसेन के स्थान पर 'भीम' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ २९-३० ॥

इस प्रकार करण का सामान्य लक्षण कहा है। अब वहाँ अङ्गहार का विशेष लक्षण करने के लिए पीठबन्ध को कहते हैं—

अनुवाद—दो नृत्त-करणों की एक नृत्तमातृका होती हैं अर्थात् दो नृत्तकरण मिलकर नृत्तमातृका होते हैं और दो, तीन या चार मातृकाओं का एक अङ्गहार होता है। तीन करणों का एक कलापक, चार करणों का एक षण्डक और पाँच करणों का संघातक होता है, ऐसा कहा गया है। छः, सात, आठ तथा नौ करणों के संयोग से अङ्गहार बनते हैं ॥ ३१-३३ ॥

---

१. ग. द्वे नृत्यकरणे ।
२. ख. नृत्तमातृकाः । क-घ. नृत्तमातृका । ग. नृत्यमातृका ।
३. ख-ग. द्वाभ्यां त्रिचतुराभिर्वाप्यङ्गहारस्तु । क-म. त्रिचतसृभिर्वाप्यङ्गहारस्तु ।
४. ख. त्रिभिः कलापको ज्ञेयः चतुर्भिर्मण्डकस्तथा ।
ग. त्रिभिः कलापकं चैव चतुर्भिर्मण्डकं भवेत् ।
५. क-म. संघात इति सिद्धिजाः ।
६. ग. कारणैरिह संयुता अङ्गहारा इति स्मृताः । क-प. करणैरिह संयुक्तो अङ्गहार इति स्मृतः ।

[1]एतेषामेव वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम् ।

नृत्तमातृकेति । नृत्तस्याङ्गहारात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम् । नृत्तशब्देन विशेषणात् "यानि स्थानानि" इत्यादिना (ना० शा० ४-५९) याः करण-मातृका वक्ष्यन्ते ततो विशेषं दर्शयति । करणद्वयप्रयोगेण च विनिवृत्ताभिमानो (विनिर्वृत्तनृत्ताभिमानो) नास्ति । ततः परं तु नृत्यतीत्यभिमानात्करणद्वयं नृत्तमातृकेत्युक्तम् । एवग्रहणादन्यूनाधिकसङ्ग्रहः ॥३१॥

नृत्तमातृकालक्षणेनाङ्गहारसामान्यलक्षणेन च करणद्वयमूहिताङ्गहा-रान्तरं च पिण्डीबन्धोपयोगि प्रयोज्यानुजानीते—एतेषामिति ।

अङ्गहाराणामेव संबन्धित्वेन हस्तपादविकल्पनं करणं वक्ष्यामि । जाता-वेकवचनम् ।

ननु स्थानकचार्यादीनां प्राक् लक्षणं वाच्यम् । नैवम् । तेषां नाटचज्ञानादेव मुनिं प्रति विदितत्वात् । [2]नृत्तहस्ता अपि वर्तनात्मानोऽस्य विदिता एव । यत उक्तम् 'इदं नृत्तम्' इति । तत एवाङ्गिके (ना० शा० १०) तेषामभिधास्य-मानता । करणान्येव[3]त्विह······वाच्यानि ॥ ३४ ॥

अभिनव—'नृत्तमातृका' का अर्थ है-अङ्गहाररूप नृत्त की मातृका अर्थात् उत्पत्ति-कारण । 'नृत्त' शब्द के विशेषण होने से 'यानि स्थानानि' इत्यादि श्लोक में (ना. शा. ४।५९) में जिन करणमातृकाओं को कहेंगे, उससे इनकी विशेषता दिखाते हैं। दो करणों के प्रयोग से भी नृत्त का अभिमान निवृत्त नहीं होता है । उसके बाद तो 'नाचता है' इस अभिमान से दो करणों के योग को 'नृत्तमातृका' कहा है । 'एव' शब्द के ग्रहण से न्यून (कम) और अधिक संख्या का संग्रह (ग्रहण) होता है ॥ ३१ ॥

नृत्तमातृका के लक्षण और अङ्गहारों के सामान्य लक्षण के द्वारा पिण्डीबन्ध के उपयोगी करणद्वय (दो करणों) तथा कल्पित अङ्गहारों का प्रयोग करने की अनुज्ञा देते हैं—

अनुवाद—अब मैं इन अङ्गहारों के उपयुक्त हाथों और पैरों के संचालन की चर्चा करूँगा ॥ ३४ (१) ॥

इन अङ्गहारों के सम्बन्धित हस्तपादादि विकल्पन (संचालन) रूप करण को कहूँगा । यहाँ जाति में एकवचन है ॥

---

१. ख-घ. एतेषामिह ।

२. क-म. नृत्तहस्तादिवर्त्तमाना । क-भ. हस्तादिविवर्त्तनात्मानोऽस्य ।

३. क. त्विव·········वाच्यम् ।

तलपुष्पपुटं पूर्वं[1] वर्तितं वलितोरु[2] च ॥ ३४ ॥
अपविद्धं समनखं लीनं स्वस्तिकरेचितम् ।
मण्डलस्वस्तिकं[3] चैव निकुट्टकमथापि च ॥ ३५ ॥

अब प्रश्न यह है कि करणों के लक्षण के पहिले उनके अङ्ग स्थानक, चारी, आदि का लक्षण कहना चाहिए। उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि स्थानक, चारी आदि का ज्ञान नाट्यज्ञान से ही भरतमुनि को प्राप्त था। वर्त्तनाओं (हस्त-विन्यास अथवा करणों) के आश्रित चतुरस्र आदि नृत्तहस्त इन्हें विदित ही हैं। इसलिए कहा गया है 'इदं नृत्तम्' इत्यादि'। इसलिए आङ्गिकाभिनयों का निरूपण आङ्गिक अध्याय (नाट्यशास्त्र १० वें अध्याय) में कहेंगे। यहाँ तो केवल करण ही कहे जाँयगे अर्थात् करणों को ही कहना है ॥ ३४ ॥

विमर्श—भरतमुनि का कथन है कि समस्त अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है और नृत्य में हस्त एवं पादों की गतियों को करण कहते हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि क्रिया को करण कहते हैं। नृत्त की क्रिया नृत्तकरण है। यहाँ पर **'नृत्तस्य'** में व्यपिदेशिवद्भाव से षष्ठी विभक्ति है। व्यवहार में एकदेश का ग्रहण होता है अतः 'नृत्तकरण' को केवल 'करण' कहा जाता है। दो नृत्तकरणों के योग से नृत्तमातृकाएँ बनती है। तीन करणों के योग से 'कलाप', चार करणों के योग से खण्डक और पाँच करणों के योग से संघात बनता है। छः, सात, आठ, नव करणों के मेल से अङ्गहार बनता है। इन अङ्गहारों में करणों की संख्या न्यून और अधिक हो सकती हैं। दो, तीन, चार मातृकाओं के योग से अङ्गहार बनता है। संगीतरत्नाकर में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। नृत्त में अङ्गहारों के तरह-तरह के प्रयोग होते हैं और एक अङ्गहार में कई करण होते हैं। अतः हस्त-पादादि अङ्गों के अनेक प्रकार से संचालन मिलकर एक अङ्गहार बनता है। अभिनवगुप्त ने अङ्गों के समुचित संचालन को अङ्गहार कहा है। 'भरतार्णव' में चित्र-विचित्र ताल, लय एवं करणों के संयोग से अङ्गहारों की निष्पत्ति बताई गई है। भरतार्णव में नौ प्रकार के अङ्गहार बताये गये हैं जिनका सम्बन्ध नौ रसों से जोड़ा गया है। नाटचशास्त्र में बत्तीस प्रकार के अङ्गहार बताये गये हैं। इनमें सोलह त्र्यस्रताल से और सोलह चतुरस्रताल से सम्बन्धित है। कहा जाता है कि ये बत्तीस अङ्गहार शिव की देन है ॥ ३०-३४ ॥

---

१. ख-घ. चैव।
२. ख-घ. चलितोरु च।
३. ख-घ. मण्डलं स्वस्तिकं चैव।

तथैवार्धनिकुट्टं च [1]कटिच्छिन्नं तथैव च ।
अर्धरेचितकं चैव वक्षःस्वस्तिकमेव च ।। ३६ ।।

उन्नतं स्वस्तिकं चैव पृष्ठस्वस्तिकमेव च ।
दिक्स्वस्तिकमलातं च [2]तथैव च कटीसमम् ।। ३७ ।।

आक्षिप्तरुचितं चैव विक्षिप्ताक्षिप्तकं तथा ।
अर्धस्वस्तिकमुद्दिष्टमञ्चितं च तथापरम् ।। ३८ ।।

भुजङ्गत्रासितं [3]प्रोक्तमूर्ध्वजानु तथैव च ।
निकुञ्चितं च मत्तल्लि त्वर्धमत्तल्लि चैव हि ।। ३९ ।।

स्याद्रेचकनिकुट्टं च तथा पादापविद्धकम् ।
[4]वलितं घूर्णितं चैव ललितं च तथापरम् ।। ४० ।।

दण्डपक्षं तथा चैव भुजङ्गत्रस्तरेचितम्[5] ।
नूपुरं चैव सम्प्रोक्तं तथा वैशाखरेचितम् ।। ४१ ।।

भ्रमरं चतुरं चैव भुजङ्गाञ्चितमेव च ।
दण्डरेचितकं चैव तथा वृश्चिककुट्टितम्[6] ।। ४२ ।।

[7]कटिभ्रान्तं तथा चैव लतावृश्चिकमेव च ।
छिन्नं च करणं प्रोक्तं तथा वृश्चिकरेचितम् ।। ४३ ।।
वृश्चिकं व्यंसितं चैव तथा पार्श्वनिकुट्टकम्[8] ।
ललटतिलकं [9]क्रान्तं कुञ्चितं [10]चक्रमण्डलम् ।। ४४ ।।

---

१. क-त. कटिच्छन्नं, क-ख. कटिच्छन्नं ।
२. ख-म. तथा चैव ।
३. क-घ. चैव ।
४. ख-घ. घूर्णितं चैव ललितं वलितं च तथापरम् ।
५. क-म. भुजङ्गत्रासिरेचितम् ।
६. ग. वृश्चिककुट्टनम् ।
७. क-म. कटिकान्तम् ।
८. ख. पादनिकुट्टनम् ।
९. क. म. कान्तं कुञ्चितं । क-त. भ्रान्तं रुचितं ।
१०. क-ख. वक्रमण्डलम् ।

उरोमण्डलमाक्षिप्तं तथा तलविलासितम् ।
अर्गलं [1]चाथ [2]विक्षिप्तमावृत्तं दोलपादकम्[3] ॥ ४५ ॥
विवृत्तं विनिवृत्तं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम्[4] ।
विद्युभ्रान्तमतिक्रान्तं विवर्तितकमेव च ॥ ४६ ॥
गजक्रीडितकं चैव तलसंस्फोटितं तथा ।
गरुणप्लुतकं चैव गण्डसूचि तथापरम् ॥ ४७ ॥
परिवृत्तं समुद्दिष्टं पार्श्वजानु तथैव च ।
[5]गृध्रावलीनकं चैव सन्नतं सूच्यथापि च ॥ ४८ ॥
अर्धसूचीति करणं सूचीविद्धं तथैव च ।
अपक्रान्तं च सम्प्रोक्तं मयूरललितं तथा ॥ ४९ ॥
सर्पितं दण्डपादं च हरिणप्लुतमेव च ।
प्रेङ्खोलितं नितम्बं च स्खलितं करिहस्तकम् ॥ ५० ॥
प्रसर्पितकमुद्दिष्टं सिंहविक्रीडितं तथा ।
[6]सिंहाकर्षितमुद्वृत्तं [7]तथोपसृतमेव च ॥ ५१ ॥
[8]तलसङ्घट्टितं चैव जनितं चावहित्थकम् ।
[9]निवेशमेलकाक्रीडमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ ५२ ॥
मदस्खलितकं चैव विष्णुक्रान्तमथापि च[10] ।
[11]सम्भ्रान्तमथ विष्कम्भमुद्घट्टितमथापि च ॥ ५३ ॥

---

१. ख-घ. चापि ।
२. क. विक्षिप्तमवर्त्तितम् ।
३. ख. दोलपादुकम् ।
४. क-म. (टि०) निशुम्भकम् ।
५. ख. गृद्धावलीनकं ।
६. ख. प्रसर्पितं समद्दिष्टं । घ. समर्पितं समुद्दिष्टं ।
७. ख. (टि०) सिंहकम्पितमुद्वृत्तं ।
८. ख-घ. तथाऽपसृतमेव च ।
९. ग. तलघट्टितकम् ।
१०. ख. निवेशं मौलिकाक्रीडमूरूद्वृत्तं ।
११. ख-घ. विष्णुक्रान्तं तथैव च ।

वृषभक्रीडितं चैव लोलितं च तथापरम् ।
[1]नागापसर्पितं चैव [2]शकटास्यं तथैव च ॥ ५४ ॥
[3]गङ्गावतरणं चैवेत्युक्तमष्टाधिकं शतम् ।
अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम्[4] ॥ ५५ ॥

तत्र नामतः कर्मतश्चेत्युक्तम् । नामतस्तावदाह—तलपुष्पपुटमित्यादि ।

अभिनव—वहाँ पर नाम और कर्म के अनुसार कहा गया है । ये कारण संख्या में एक सौ आठ हैं । जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

अनुवाद—१. तलपुष्पपुट २. र्वात्तत ३. वलितोरु ४. अपविद्ध ५. समनख ६. लीन ७. स्वास्तिकरेचित ८. मण्डलस्वस्तिक ९. निकुट्टक १०. अर्धनिकुट्ट ११. कटिछिन्न १२. अर्धरेचित १३. वक्षःस्वस्तिक १४. उन्मत्त १५. स्वस्तिक १६. पृष्ठस्वस्तिक १७. दिक्स्वस्तिक १८. अलात १९. कटीसम २०. आक्षिप्त रेचित ११. विक्षिप्ताक्षिप्तक २२. अर्धस्वस्तिक २३. अञ्चित २४. भुजङ्गत्रासित २५. ऊर्ध्वजानु २६. निकुञ्चित २७. मत्तलि २८. अर्धमत्तलि २९. रेचकनिकुट्ट ३०. पादापविद्धक ३१. वलित ३२. घूर्णित ३३. ललित ३४. दण्डपक्ष ३५. भुजङ्गत्रस्तरेचित ३६. नूपुर ३७. वैशाखरेचित ३८. भ्रमर ३९. चतुर ४०. भुजङ्गाञ्चित ४१. दण्डरेचितक ४२. वृश्चिककुट्टित ४३. कटिभ्रान्त ४४. लतावृश्चिक ४५. छिन्न ४६. वृश्चिकरेचित ४७. वृश्चिक ४८. व्यसित ४९. पार्श्वनिकुट्टक ५०. ललाटतिलक ५१. क्रान्त ५२. कुञ्चित ५३. चक्रमण्डल ५४. उरोमण्डल ५५. आक्षिप्त ५६. तलविलासित ५७. अर्गल ५८. विक्षिप्त ५९ आवर्त्तक ६०. डोलपादक ६१ विवृत्त ६२. विनिवृत्त ६३. पार्श्वक्रान्त ६४ निशुम्भित ६५. विद्युद्भ्रान्त ६६. अतिक्रान्त ६७. विवर्त्तितक ६८. गजक्रीडितक ६९. तलसंस्फोटित ७०. गरुड़प्लुतक ७१. गण्डसूची ७२. परिवृत्त ७३. पार्श्वजानु ७४ गृधावलीनक ७५. सन्नत ७६. सूची ७७. अर्धसूची ७८. सूचीविद्ध ७९. अपक्रान्त ८०. मयूर ललित ८१. सर्पित ८२. दण्डपाद ८३; हरिणप्लुत ८४. प्रेङ्खोलित ८५. नितम्ब ८६. स्खलित ८७. कटिहस्तक ८८. प्रसर्पितक ८९. सिंहविक्रीडित ९०. सिंहाकर्षित ९१. उपसृत ९३. तलसंघट्टित ९४. जनित ९५. अवहित्थक ९६, निवेश ९७. एलकाक्रीडित ९८. उरूद्वृत्त ९९. मदस्खलितक १००. विष्णुक्रान्त १०१. सम्भ्रान्त १०२. विष्कम्भ १०३. उद्घट्टित १०४. वृषभक्रीडित १०५. लोलित १०६. नागापसर्पित १०७. शकटास्य १०८. गङ्गावतरण । मैंने इन १०८. करणों का कथन किया है ॥ ३४-५५ ॥

१. ख-ख सामापसर्पितं । क-म. नागावसर्पितं । २. ख-ख. शकटाख्यं ।
३. ख-ख. रङ्गावतरणं । ४. ख. पुस्तके श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति ।

[1]नृत्ते युद्धे नियुद्धे च तथा गतिपरिक्रमे[2] ।
[3]गतिप्रचारे वक्ष्यामि युद्धचारीविकल्पनम् ।। ५६ ।।
यत्र तत्रापि संयोज्यमाचार्यैर्नाटयशक्तितः[4] ।। ५७ ।।
प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्षःस्थितः करः ।
चरणस्यानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्करः ।। ५८ ।।

अष्टाधिकं शतमुक्तं यदङ्गहारोपयोगित्वे नियतसमप्रत्यस्तमयमिति किमनेन संख्यानिरूपणेनेत्याशङ्क्याह—अष्टोत्तरशतमित्यादिना ।

अभिनये वस्तुत्वेन यन्नृत्तं वक्ष्यतेऽभिनयान्तरालवर्त्तिच्छिद्रप्रच्छादनादेतत्प्रयुज्यते । शस्त्रादियुद्धे बाहुयुद्धे चाङ्गप्रयोगसौष्ठवार्थमपि प्रयुज्यते । पृथक्तया गत्यध्याय (ना. शा. १३) वक्ष्यमाणासु च गतिषु ये परिक्रमाः परिक्रमणानि तत्र पृथक् तेन पृथक्त्वेन[5] प्रयोगदर्शनादष्टोत्तरशतत्वं न नोपयोगि । एष च यथा विनियोगो भविष्यति तथा समनन्तरमेव वक्ष्यामः । अत्र 'अष्टोत्तरशतम्' इत्यादि श्लोकं केचिन्न पठन्ति । अन्ये (अन्ते) ततोऽप्यधिकं—

"हस्तपादप्रचारन्तु कटिपार्श्वोरुसंयुतम्" ।।

इति श्लोकं पठन्ति ।। ५६-५८ ।।

अभिनव—एक सौ आठ करणों को मैंने कहा है जो अङ्गहारों के लिए उपयोगी, नियत, सम, प्रत्यस्त (विषम) रूप हैं तो इनकी संख्या के निरूपण से क्या लाभ ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—'अष्टोत्तरशतमित्यादि' ।

अनुवाद—नृत्त में, युद्ध में और बाहुयुद्ध में तथा गतियों के संचलन में युद्धचारी के भेदों का गतिप्रचार नामक अध्याय में वर्णन करूँगा। नाटयचार्यों द्वारा इनका नाटयशास्त्रोक्त विधि से जहाँ तहाँ संयोजन करना चाहिए ।। ५६-५७ ।।

अनुवाद—करणों में प्रायः बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर और दाहिना हाथ चरणों (पैरों) की स्थिति के अनुसार रखना चाहिए ।। ५८ ।।

---

१. ग. (टि०) नृत्ये ।
२. क-च. गीतिपरिक्रमे ।
३. ग. गतिचारे प्रवक्ष्यामि ।
४. क-त. नाटययुक्तितः ।
५. क-भ. पृथक् प्रयोग । क-म. तेन प्रयोग ।

हस्तपादप्रचारन्तु कटिपार्श्वोरुसंयुतम् ।
[1]उरःपृष्ठोदरोपेतं वक्ष्यमाणं[2] निबोधत ।। ५९ ।।
यानि स्थानानि याश्चार्यो नृत्तहस्तास्तथैव च ।
[3]सा मातृकेति विज्ञेया तद्योगात्करणं[4] भवेत् ।। ६० ।।

तत्र महासामान्यरूपं करणमाह—यानि स्थानानीति। इहावस्थानं गतिश्चेति द्वयनिर्वर्त्यं करणम्। तत्रावस्थाने करकायोपयोगि स्थानकम्। गतौ तु चार्यः [5]पूर्वकाये तु गतौ नृत्तहस्ता दृष्टयश्च। स्थितौ पताकाद्याः। एत-

---

अनुवाद—अब कटि, पार्श्व और जंघा (उरु) से युक्त, वक्षःस्थल, पीठ और उदर के साथ कहे जाने वाले हाथ और पैरों के संचालन (गति) को आप समझें ।। ५९ ।।

अभिनव—अभिनय के लिए वस्तुतः जिस नृत्य को कहेंगे, उसका प्रयोग अभिनय के मध्यवर्त्ती छिद्रों (त्रुटियों) को छिपाने के लिए किया जाता है। शस्त्र आदि के युद्ध में और बाहुयुद्ध में अङ्गप्रयोग के सौष्ठव के लिए इसका (नृत्त का) प्रयोग किया जाता है। नाट्यशास्त्र गत्यध्याय नामक तेरहवें अध्याय में अलग से कहे जाने वाली गतियों में जो परिक्रमण हैं वहाँ भी इनका अलग से प्रयोगों के देखने से ज्ञात होता है कि इन १०८ करणों का उपयोग नहीं है। इनका विनियोग जैसा होगा वैसा निकट में ही कहेंगे। यहाँ पर कुछ लोग 'अष्टोत्तरशतं' इत्यादि श्लोक का कथन नहीं करते। दूसरे विद्वान् तो उससे भी अधिक "कटि, पार्श्व और जंघा से युक्त हाथ और पैरों के संचालन का' (हस्तपादप्रचारन्तु कटिपार्श्वोरुसंयुतम्) इस श्लोक का कथन करते हैं ।। ५६-५८ ।।

उनमें से महासामान्य करण को कहते हैं—

अनुवाद—जो स्थान, जो चारियाँ और जो नृत्तहस्त हैं, उन्हें नृत्तमातृकाएँ समझनी चाहिए। इनके संयोजन से (योग से) करण बनते हैं ।। ५९ ।।

---

१. क-न.म. उरुपृष्ठोदरोपेतं ।
२. ख-घ. नृत्तमार्गे ।
३. क-त. सामान्यकमिति ज्ञेयम् ।
४. घ. करणानि तु ।
५. क. (टि०) पूर्वकाले ।

[1]कटी कर्णसमा यत्र कोर्परांसशिरस्तथा ।
समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत् । ६१ ॥

च्चकारेण सङ्गृहीतम् । तेन [2]गतिस्थितिसंमिलितं करणमित्यानन्त्यं यद्यपि करणानां (करणं) तथाप्यङ्गहारोपयोगित्वादेतावदुक्तमिति श्लोकस्य तात्पर्यम् ॥ ६० ॥

अभिनव—यहाँ पर स्थानक और गति इन दोनों से सम्पाद्य करण होता है। वहाँ अवस्थानों में करणों के उपयोगी अवस्थान 'स्थानक' है और गतियों में चारियाँ हैं। इनमें शरीर के ऊपरी भाग में नृत्तहस्त एवं दृष्टियों का और स्थिति में पताक आदि हस्तों का प्रयोग होता है। यह चकार से जाना गया है। इसलिए गति और स्थिति के सम्मिलित रूप को 'करण' कहा गया है। यद्यपि करणों की संख्या अनन्त हैं, तथापि अङ्गहारों के उपयोगी होने से इतने करणों को कहा गया है। यह श्लोक का तात्पर्य है ॥ ६० ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि गति और स्थिति दोनों से करण सम्पन्न होते हैं। गति में चारियों का प्रयोग होता है। इनमें अङ्गों की विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं। स्थिति में स्थानकों का प्रयोग होता है। खड़े होने की एक प्रक्रिया स्थानक है। इसमें नर्त्तक एक स्थान पर स्थित रहते हुए अङ्गों का संचालन करता है। इन दोनों गति और स्थिति के सम्मिलित रूप में करण सम्पन्न होता है। अङ्गहारों के निर्माण में करणों का विनियोग आवश्यक है। यद्यपि गतिभेद से ये करण अनन्त हो सकते हैं किन्तु यहाँ अङ्गहारों के उपयोगी १०८ करणों का ही विवेचन किया गया है ॥ ६० ॥

अनुवाद—जहाँ पर कटि कर्ण के समान हों और कुहनी, कन्धा तथा शिर भी वैसा ही हो और वक्षःस्थल समुन्नत हो, वह सौष्ठव कहलाता है ॥ ६१ ॥

विमर्श—नाट्य और नृत्त में सौष्ठव का होना आवश्यक है क्योंकि सौष्ठव से विहीन कोई अङ्ग नाट्य और नृत्त में सौन्दर्याधायक नहीं होता। अतः अभिनेताओं एवं नर्त्तकों को नाट्य और नृत्त में सौष्ठव के लिए प्रयत्न करना चाहिए। कर्ण का अर्थ नाव का पतवार भी होता है। जिस प्रकार नौका का आधार पतवार है उसी प्रकार नाट्य एवं नृत्त में अङ्गहार और करणों का आधार कटि है। इस प्रकार जहाँ कटि कर्ण (पतवार)

---

१. ख. करौ कर्णसमौ यत्र कूर्पराङ्गशिरस्तथा ।
समुन्नतमुखं चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत् ।
घ. कटिजानुसमं यत्र कूर्परांसशिरस्तथा ।
समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत् ।

२. क. गतिस्थितिसंमिलिते करणमित्यानन्त्यं यद्यपि करणं ।

वामे पुष्पपुटः[1] पार्श्वे पादोऽग्रतलसञ्चरः ।
तथा च सन्नतं पार्श्वं तलपुष्पपुटं भवेत् ॥ ६२ ॥

(१) तलपुष्पपुटम्

तत्रोद्देशक्रमेण लक्षणान्याह—वाम इत्यादिना ।

"यस्तु सर्पशिरा प्रोक्तस्तस्याङ्गुलिनिरन्तरः ।
द्वितीयः पार्श्वसंश्लिष्टः स तु पुष्पपुटः करः ॥" (ना. शा. ९-१५०)

"उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिः प्रसृतोऽङ्गुष्ठकस्तथा ।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः पादेऽग्रतलसञ्चरे ॥" (ना शा. ९-२७३)

"कटी भवेच्च व्याभुग्ना पार्श्वमाभुग्नमेव च ।
तथैवापसृतांसं च किञ्चित्पार्श्वं नतं स्मृतम् ॥" (ना शा. ९२-३५)

एषां योजनोच्यते ।

के समान केन्द्रविन्दु हो । 'कर्ण' शब्द का एक अर्थ त्रिभुज रेखा भी है अर्थात् जहाँ पर कटि त्रिभुज रेखा के समान झुकी हुई हो । भाव यह कि नृत्य में कर (हाथ) को बार-बार कमर पर रखा जाता है । इस प्रकार कमर पर हाथ रखने से त्रिभुज रेखा बन जाती है । कमर, कन्धा और कोहनी तीनों त्रिभुजाकार हो जाते हैं । इसका प्रयोग करणों में बार-बार होता है । संगीतरत्नाकार में सौष्ठव का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

कटी जानुसमा यत्र कूर्परांसशिरःसमम् ।
उरः समुन्नतं सन्नं गात्रं तत्सौष्ठवं भवेत् ॥

अर्थात् जहाँ पर कटि जानु के समान हों और कुहनी, कन्धे एवं शिर सम हों वक्षःस्थल और शरीर अपने स्थान पर विश्रान्त हों वह सौष्ठव है । संगीतरत्नाकार में 'कटिः कर्णसमा' के स्थान पर 'कटिः जानुसमा' पाठ लिखता है । कुछ व्याख्याकार इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं ॥ ६० ॥

इसके बाद नाम-संकीर्त्तन के क्रम से लक्षण कहते है—

१. तलपुष्पपुट

अनुवाद—जहाँ पर वाम पार्श्व में पुष्पपुट कर और अग्रतलसंचर पाद हो तथा पार्श्व नत (झुकी हुई) स्थिति में हो तो "तलपुष्पपुट" नामक करण होता है ॥ ६२ ॥

विमर्श—जिस करण में बायें पार्श्व में हाथ पुष्पपुट मुद्रा में और पैर अग्रतलसञ्चर स्थिति में स्थित रहता है उसे 'तलपुष्पपुट' नामक करण कहते हैं । ६२ ॥

१. ख-घ. पुष्पपुटं ।

तत्र नृत्ते समपादलता [1]हस्तद्वयपूर्वकं [2]तत्तावत्प्राचुर्येण सर्वत्र। ततश्चाध्यर्धिकया[3] चार्या (ना. शा. १०-१७)।

"सव्यस्य पृष्ठतो वामश्चरणस्तु यतो भवेत्।
तस्यापसर्पणं चैव सा ज्ञेयाऽध्यर्धिका बुधैः॥ (ना. शा. १०-१७)

दक्षिणपादनिष्क्रमणेन समकालं व्यावर्तितेन करयुगलेन दक्षिणपार्श्वे समं नीतेन परिवर्तितकरणवशादानीतेन वामपार्श्वे सौष्ठवेन वामस्तनक्षेत्रे पुष्पपुटहस्तबन्ध इति। अग्रतलपादपुष्पपुटयोगादेकदेशसूचनं नामेदं तलपुष्पपुटमिति। एवमन्यत्रापि नामवासना ऊह्याः।

अभिनव—भरत ने नाट्यशास्त्र के नवें अध्याय में पुष्पपुट कर का लक्षण बताया है कि जो सर्पशीर्ष हस्त कहा गया है उसकी अर्थात् सर्पशीर्ष हस्त की उँगलियाँ संश्लिष्ट हों और दोनों पार्श्व संश्लिष्ट हो तो उसे 'पुष्पपुट' कर कहते हैं। भाव यह कि यदि सर्पशीर्ष हस्त में जब दोनों हाथ सटा दिये जाँय तो पुष्पपुट हस्त होता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र के नवम अध्याय में अग्रतलसंचर का लक्षण बताया है कि जिसकी एड़ी उठी हो, और अंगूठा फैला हुआ हो तथा सारी अङ्गुलियाँ अश्चित (झुकी हुई) हों तो उसे 'अग्रतलसंचर' कहते हैं। नाट्यशास्त्र के नवम अध्याय में 'नत' का लक्षण बताया गया है कि जिसका कटि भाग झुका हुआ हो, और पार्श्वभाग थोड़ा झुका हो तथा कन्धा फैला हुआ हो उसे 'नत' पार्श्व कहते हैं।

अब इनकी योजना को कहते हैं—वहाँ नृत्त में समपाद तल और हस्तद्वयपूर्वक लता के समान सभी जगह चतुरस्र करण प्रचुरमात्रा में होता है। और भी—

'यदि दाहिने पैर के पीछे की ओर बायें पैर को रखे और उस स्थिति में अपसर्पण करे, तो विद्वान् लोग उसे 'अध्यर्धिका' चारी कहते हैं। (ना० शा० १०।१७)–

इस प्रकार अध्यर्धिका चारी के द्वारा दाहिने पैर के निष्क्रमण से समकाल में ही दोनों हाथों को घुमाने से अर्थात् दाहिने हाथ को दक्षिण पार्श्व में ले जाने से तथा 'परिवर्त्तित' नामक करण के कारण बायें हाथ को वाम पार्श्व तथा सौष्ठव से बायें और दाहिने स्तन के (प्रदेश) में 'पुष्पपुट' नामक हस्तबन्ध होता है। इस प्रकार अग्रतलसंचर पाद और पुष्पपुट हस्त के संयोग से उसके एक देश को सूचित करने वाला 'तलपुष्पपुट' नामक करण होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी नामों की वासना (संस्कार) को समझना चाहिए।

१. क. (टि०) तलहस्तपूर्वकं।
२. क. तल्लतावत्प्राचुर्येण।
३. क-म. ततश्चाध्यर्धतया।

तत्र (यत्र) क्वचिद्वाक्यार्थाभिनय एव प्राधान्येन दृश्यते (दर्शिते) तत्र करणानामेव प्राधान्यम् । यत्रापि पदार्थाभिनयाः क्रियन्ते तत्राप्येकवाक्यानुप्रवेश-प्राधान्यप्रख्यापनायामवश्यमादौ मध्येऽन्ते वा यथावसरं करणमित्युपनिषत् । अत एव वक्ष्यति—

"अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह ।" इति । (ना. शा. ८-१५)

[1]वर्तनानुप्रवेशो हि शाखयैव गतार्थः स्यात् । तत्रैव च शाखान्ते भेदं वक्ष्यति—

"आङ्गिकश्च भवेच्छाखा ह्यङ्कुरः सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्नं नृत्तं तु करणाश्रयम्" (ना. शा. ८-१६) ॥

एतत्स्फुटं तत्रैव व्याख्यास्यत इत्यास्तां तावात् । अत्रोदाहरणं दिक्प्रदर्शनाय "अभिजअइ मळविमुक्क कमळासणउदितस्स" इत्यादावनेन वाक्यार्थाभिनये, नाट्येऽपि "पादाग्रस्थितया (रत्ना. १-१) इत्यादावुपसंहारवाक्यार्थाभिनये इदमेव युक्तं करणम् । न [2]नृत्यस्य पादाग्रस्थितत्वस्य कुसुमाञ्जलिक्षेपः । स चानेनैव सम्पन्नेन चतुरश्रीभूतत्वादङ्गादनन्तरं यदा प्रयुज्यते तदा हस्तयोः स्वे स्वे पार्श्वे आवेष्टितकरणं (ना. शा. ९-२१५) कृत्वा तत् उद्वेष्टितकरणेन (ना. शा. ९-२१६) पुष्पपुटप्रयोगः ।

जहाँ कहीं वाक्यार्थाभिनय अर्थात् रसाभिनय ही मुख्य रूप से दिखाई देता है वहाँ करणों की ही प्रधानता होती है और जहाँ पदार्थाभिनय अर्थात् भावाभिनय नृत्त होता है वहाँ भी एकवाक्यानुप्रवेश की प्रधानता प्रदर्शित करने में अवश्य ही प्रारम्भ में, मध्य में अथवा अन्त में यथावसर करणों का विनियोग करना चाहिए, यह रहस्य है। इसलिए आगे कहेंगे—

'इस नाट्य में शाखा, नृत्त और अङ्कुर ये अभिनय की तीन वस्तुएँ (अङ्ग) हैं। (ना० शा० ८।१५) ।

वर्तनानुप्रवेश तो शाखा के निरूपण से ही गतार्थ हो जाता है। वहीं पर अन्त में शाखा आदि भेदों को कहेंगे—

"आङ्गिक अभिनय शाखा है, अभिनय की सूचना अङ्कुर है और करणों के आश्रित अङ्गहारों से सम्पन्न होने वाला अभिनय नृत्त है" । (ना. शा. ८।१६)

इन सबकी स्फुट व्याख्या वहीं पर करेंगे, इसलिए यहाँ रहने दिया जाय। यहाँ पर उदाहरण दिखाने के लिए—

---

१. क-म.भ. वर्तमानानुप्रवेशो ।

२. क. यन्नृत्यस्य । क-भ. नृत्तस्य ।

आवेष्ट्यन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जनाद्या यथाक्रमम् ।
अभ्यन्तरेण करणं तदा तदावेष्टितमुच्यते ॥
उद्वेष्ट्यन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जनाद्या बहिर्मुखम् ।
क्रमशः करणं विप्रास्तदुद्वेष्टितमुच्यते ॥
(ना. शा. ९।२०७-२०८)

इत्यावेष्टितपरिवेष्टिते ।

यदा तु [1]करान्तरसन्निवेशानन्तरमिदं करणं प्रयुज्यते तदा त्यक्तव्यतदीयहस्तपादापेक्षया आदातव्यकरणगतहस्तपादाद्यपेक्षया च यथा वर्तनाक्रमेण स्वयमेव त्यागोपादाने अत्रुटिततया वा सम्पद्यते तथा कर्तव्यमित्यलं नृत्ताचार्योपयोगिनाऽनेन (नृत्ताचार्यगोपिता नाऽनेन) एतच्च यथावसरं दर्शयित्वा सर्वं निरूपयिष्यामः॥ ६२ ॥

'अभिजअइ मलविमुक्ककमलासणउदितस्स' (अभिजयति मलविमुक्तकमलासनोदितस्य) इत्यादि उपक्रमरूप बाक्यार्थाभिनय में और नाट्य में भी—

पादाग्रस्थिततया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने ।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन् कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः ॥
(रत्नावली १।१)

"शिव की आराधना में पैरों के अग्रभाग पर स्थित, स्तन के भार से झुकी हुई शिवजी के लालसा भरे तीनों नेत्रों से देखी गई, रोमाञ्च, पसीने एवं कम्पन से युक्त होने से लज्जा युक्त पार्वती के द्वारा शिव के मस्तक पर चढ़ाई गई किन्तु बीच ही में बिखर जाने वाली पुष्पाञ्जलि आप लोगों की रक्षा करे" ॥

इत्यादि उपसंहार रूप वाक्यार्थाभिनय में (नृत्याभिनय) में यही करण युक्त है । पादाग्रभाग में अवस्थित इस नृत्य के अभिनय में पुष्पाञ्जलि का प्रक्षेपण है और वह इसी प्रकार सम्पन्न होने से चतुरस्रीभूत अङ्ग के अनन्तर जब पुष्पाञ्जलि प्रक्षेपण करते हैं तब दोनों हाथों को अपने-अपने में आवेष्टितकरण करके तदनन्तर उद्वेष्टित करण किया जाता है तो पुष्पपुट हस्त का प्रयोग होता है ।

"जब तर्जनी आदि अंगुलियों को क्रमशः भीतर की ओर आवेष्टित अर्थात् मोड़ दिया जाता है तब आवेष्टित करण होता है और तर्जनी आदि अंगुलियों को जब क्रमशः बाहर की ओर खोल दिया जाता है तो उद्वेष्टित करण होता है ।" (ना. शा. ९।२०७-२०८) ॥

---

१. क. करणान्तरसन्निवेशानन्तरमिदं ।

जब करणान्तर के सन्निवेश के अनन्तर इस (पुष्पपुट) का प्रयोग करते हैं तब त्यागने योग्य उसके हस्तपादादि की अपेक्षा तथा ग्रहण करने योग्य इस करण के हस्तपादादि की अपेक्षा जहाँ जिस प्रकार वर्त्तनाक्रम से त्याग अथवा उपादान अविछिन्न रूप में सम्पन्न हो वहाँ उसी प्रकार करना चाहिए। इसलिए नाटचाचार्य के उपयोगी इतना ही रहने दिया जाय। यह यथावसर दिखाकर अर्थात् अभिनय करके सब का निरूपण करेंगे ॥ ६२ ॥

विमर्श—भरतमुनि ने तलपुष्पपुट करण का लक्षण किया है कि जिस करण में पुष्पपुट नामक हस्त तथा अग्रतल संचर नामक पाद और पार्श्व झुका हुआ हो उसे 'तलपुष्पपुट' करण कहते हैं। इस प्रकार इस करण में पुष्पपुट हस्तमुद्रा, अग्रतलसंचर पादगति तथा नत पार्श्व का प्रयोग होता है। सर्पशीर्ष हस्तमुद्रा में जब दोनों हाथ सटा दिये जाते हैं तो पुष्पपुट हस्त होया है। यदि अंगुलियों के साथ अंगूठे को फैलाकर भूमि पर स्थिर कर दिया जाय और एड़ी उठी हुई हो तो अग्रतलसंचर पाद कहा जाता है। यदि कटि और पार्श्वभाग झुका हुआ हो और कन्धा फैला हुआ हो तो नत पार्श्व कहा जाता है। इस प्रकार अग्रतलसंचर पाद तथा पुष्पपुटहस्त के संयोग से 'तलपुष्पपुट' नामक करण की रचना होती है।

तलपुष्पपुट नामक करण का प्रयोग पुष्पाञ्जलि-विधान में किया जाता है। वाक्यार्थाभिनय और पदार्थाभिनय (नृत्याभिनय) के प्रयोग में भी इसी करण का प्रयोग होता है। नृत्याभिनय में जब पुष्पाञ्जलि का प्रयोग किया जाता है तब दोनों हाथों को अपने-अपने बगल में आवेष्टित करण करके तदनन्तर उद्वेष्टितकरण किया जाता है। इसमें पुष्पपुटहस्त का प्रयोग होता है। आवेष्टित और उद्वेष्टित करण का लक्षण निम्न प्रकार है—

आवेष्टयन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या यथाक्रमम् ।
अभ्यन्तरेण करणं तदावेष्टितमुच्यते ॥
उद्वेष्टयन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या बहिर्मुखम् ।
क्रमशः करणं विप्रास्तदुद्वेष्टितमुच्यते ॥ (नाटचशास्त्र ९।२०७-२०८)

जब तर्जनी प्रभृति सभी अंगुलियाँ भीतर की ओर वेष्टित हो जाती हैं तब आवेष्टितकरण कहा जाता है और तर्जनी आदि अंगुलियाँ जब बाहर की ओर उद्वेष्टित होती हैं तो उद्वेष्टित करण कहते हैं। भाव यह कि जब अंगुलियों को मोड़कर मुट्ठी बांध दी जाती है तो आवेष्टितकरण होता है और जब मुट्ठी खोलकर क्रमशः बाहर की ओर अंगुलियाँ फैला दी जाती हैं तो उद्वेष्टितकरण होता है। इसी आवेष्टितकरण और उसके बाद उद्वेष्टितकरण का प्रयोग ही पुष्पपुट करण है। किन्तु जब एक करण के प्रयोग के अनन्तर इस पुष्पपुट का प्रयोग करते हैं तो हेयोपादेय हस्तपादादि की अपेक्षा जहाँ जिस प्रकार वर्तना क्रम से स्वयं ही हानोपादान अविच्छिन्नरूप से सम्पन्न हो वहाँ उसी प्रकार करना चाहिए। भाव यह कि जिस समय जहाँ जिसकी आवश्यकता होगी उसी समय वहाँ उसकी उपयोगिता दिखाकर अर्थात् अभिनय करके निरूपण करेंगे ॥ ६२ ॥

[1]कुञ्चितौ मणिबन्धे तु व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
हस्तौ निपतितौ चोर्वोर्वर्तितं करणं तु तत् ॥ ६३ ॥

(२) वर्तितम्

कुञ्चितावित्यादि ।

"आवर्तन्ते कनिष्ठाद्या अङ्गुल्योऽभ्यन्तरेण तु ।
यथाक्रमेण करणं तद् व्यावर्त्तितमुच्यते ॥ (ना. शा. ९-२०९)
"उद्वर्तन्ते कनिष्ठाद्या बाह्यतः क्रमशो यदा ।
अङ्गुल्याः करणं विप्रास्तदुक्तं परिवर्त्तितम् ॥ (ना. शा. ९।२१०)

इति व्यावर्त्तितपरिवर्त्तिते ॥

वक्षःक्षेत्रे उन्मुखं स्वस्तिकवदश्लिष्टमेव मणिबन्धनगतं करयुगलं कृत्वा तत्रैव विहस्तौ समकालं व्यावृत्तपरिवर्त्तितौ (परिवृत्तौ) विधायोत्तानावेव यथास्वमूर्वोः पातनीयौ । असूयावाक्यार्थाभिनये चोत्तानौ पताकौ । यथा— "तुज्झ कए सरिवं ररामर उण मरापरागुण अआविद्धत्तनआ" । तावेव पताकावधोमुखघृष्टमुखपातैरेतैर्यदा[2] तदा रोषवाक्यार्थाभिनये यथा—"सव··· डओ गु महिलो नु" इत्यादौ । एवं कटकामुखशुकतुण्डादयोऽपि यथायथमत्र योजयितव्याः । तत एवात्र मुनिना हस्तावशेषो न निरूपितः । अग्रतलसञ्चर एवात्र पाद इति केचित् । तद्धस्तौचित्यानुसारी पादयोग इति नृत्ताचार्याः ॥६३॥

२. वर्त्तित

अनुवाद—यदि मणिबन्ध (कलाई।) पर कुञ्चित हाथों को व्यावृत्त एवं परिवर्त्तित करके जंघाओं के ऊपर गिरा दिया जाय तो 'वर्त्तित' नामक करण होता है ॥ ६२ ॥

अभिनव–"जब कनिष्ठिका आदि अङ्गुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर आवर्त्तित की जाँय तो 'व्यावर्त्तित' (व्यावृत्त) नामक करण होता है।" (ना. शा. ९।२०९) और "जब कनिष्ठिका आदि अङ्गुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर परिवर्त्तित कर दी जाँय तो 'परिवर्त्तित' नामक करण होता है" (ना. शा. ९।२७०) ।

इस प्रकार व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित करण के लक्षण कहे गये हैं ।

अब वर्तित करण का स्वरूप कहते हैं—वक्षःस्थल में उन्मुख (उत्तान] स्वस्तिक के समान अश्लिष्ट (न मिले हुए) मणिबन्ध (कलाई) पर दोनों हाथों को रखकर वहीं दोनों हाथों को एक साथ व्यावृत्त एवं परिवृत्त करके दोनो जंघाओं

१. ख. (क ख.) कुञ्चितौ मणिबन्धौ च व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
२. क-म. भ. घृष्टमुखपतिरेता यदा ।

शुकतुण्डौ यदा हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
ऊरू च वलितौ [1]यस्मिन्वलितोरुकमुच्यते ॥ ६४ ॥

पर अर्थात् दक्षिण हाथ को दक्षिण जंघा पर और बायें हाथ को बायें जंघा पर गिराया जाय तो असूया-सूचक वाक्यार्थाभिनय में दोनों पताकहस्तों को उत्तान करके विनियोग होता है। जैसे–"तुव्झ कए सरिवं ररामर उण मरापरागुण अआविद्धत्तनआ" इत्यादि में उत्तान पताकहस्तों का प्रयोग है। उन्हीं पताकहस्तों को जब अधोमुख करके गिरा दिया जाय तो क्रोध-सूचक वाक्यार्थाभिनय में उनका विनियोग किया जाता है। जैसे—"सव·········डओ गु महिलो नु" इत्यादि में। इस प्रकार कटकामुख, शुकतुण्ड आदि हस्तों का भी यहाँ यथायोग प्रयोग करना चाहिए। इसीलिये यहाँ भरतमुनि ने अन्य अवशिष्ट हस्तों का निरूपण नहीं किया है। यहाँ पर अग्रतलसंचर नामक पाद का प्रयोग होता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। कुछ नाट्याचार्यों का कहना है कि हस्तमुद्रा के अनुसार यहाँ पादमुद्रा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६३ ॥

विमर्श—यदि दोनों हाथों को वक्षःस्थल के सन्मुख रखकर कलाइयों को किञ्चित् सटा दिया जाय और फिर स्वस्तिक मुद्रा में दोनों हाथों को एक साथ व्यावृत्त एवं परिवृत्त करके दोनों हाथों का उत्तान करके दोनों जंघाओं पर गिरा दिया जाय तो 'वर्त्तित' करण होता है। दोनों हाथों का पताकमुद्रा में असूया से अभिनय में प्रयोग किया जाता है। यदि उन पताकहस्तों को अधोमुख करके गिरा दिया जाय तो उनका विनियोग क्रोध के अभिनय में किया जाता है। कुछ आचार्यों के मत में वर्त्तित करण में यथायोग शुकतुण्ड आदि हस्तों का प्रयोग किया जाता है। कुछ आचार्यों का मत है कि विनियोग में तलपुष्पपुट करण की पादमुद्रा अग्रतलसंचर पाद का प्रयोग करना चाहिए और अन्य आचार्यों के मतानुसार हस्तमुद्रा के अनुरूप पादमुद्रा का प्रयोग करना चाहिए। संगीत-रत्नाकर के अनुसार यदि दोनों हाथों को एक साथ मिलाकर कलाई को स्वस्तिक मुद्रा में व्यावृत्त और परिवृत्त करके जंघाओं के बराबर हथेली रखकर लटका दिया जाय तो वर्तित करण होता है ॥ ६३ ॥

३. वलितोरुकम्

अनुवाद–जब शुकतुण्ड हस्तमुद्रा में दोनों हाथ व्यावृत्त और परिवृत्त हों और दोनों जंघाएँ 'वलित' मुद्रा में रखी जाय तो 'वलितोरुक' नामक करण होता है ॥ ६४ ॥

---

१. ख-घ. यत्र वलितोरु तदुच्यते। ग. (क-ख.) चलितोरु तदुच्यते।

(३) वलितोरुकम्

शुकतुण्डावित्यादि ।

"आद्या धनुर्नता कार्या कुञ्चितोऽङ्गुष्ठकस्तथा ।
शेषा भिन्नोर्ध्ववलिता ह्यरालेऽङ्गुलयः करे ॥" (ना. शा. ९-४६)
"अरालस्य[3] यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
शुकतुण्डः स तु करः" (ना. शा. ९-५३)
"भवेदभ्यन्तरं जानु यत्राहुर्वलितं तु तत् ।" (ना. शा. ९-२५२)

योजना तु—वक्षःक्षेत्रात्समकालं हस्तौ व्यावर्तितौ कृत्वा आक्षिप्तया पादचार्या सह पततः । परिवर्त्तनानुनीय वक्षःप्रदेशे शुकतुण्डावधोमुखौ स्थापयेत् । बद्धया च चार्या स्थितिः ।

एतन्मुग्धाविषयं च । यथा—"दुल्लणुल्लीति तुहिगुह्णंविळुळिअ अह्व हुदौ सुणाहि दिडात्तसहि" ।

'त्रिपताका तर्जनी वक्रतया शुकतुण्डः' इत्यतान्त्रिकैर्लिखितमुपेक्ष्यमेव ।

"अन्योन्यजङ्घासंवेधात् कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरुभ्यां वलनं यत्स्यात् सा बद्धा चार्युदाहृता ॥"
(ना. शा. १०-२१) ॥ ६४ ॥

अभिनव—जब आद्या अर्थात् तर्जनी अङ्गुली धनुष की तरह नत अर्थात् झुकी हुई हो और अंगूठा कुञ्चित हो तथा शेष अङ्गुलियाँ अलग-अलग ऊपर की ओर बलित हों तब 'अरालहस्त' कहा जाता है (ना० शा० ९।४६)। यदि अरालहस्त की अनामिका अङ्गुली को टेढ़ी करके झुका दिया जाय तो 'शुकतुण्ड हस्त' कहा जाता है (ना० शा० ९।५३)। जहाँ पर उरु (जानु) घुटने के भीतर हो, उसे 'वलित' कहा जाता है (ना० शा० ९।२५२)।

योजना इस प्रकार है—यदि वक्षःस्थल से दोनों हाथों को एक साथ व्यावर्त्तित करके आक्षिप्ता नामक पादचारी के साथ गिरावे और 'परिवर्त्त' के द्वारा वक्षःप्रदेश में लाकर शुकतुण्ड मुद्रा में दोनों हाथों को अधोमुख (नीचे की ओर मुख करके) रखे और बद्धा नामक चारी की स्थिति हो तो 'वलितोरुक' करण कहा जाता है।

मुग्धा नामक नायिका के लज्जाभाव के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। जैसे—"दुल्लणुल्लीति तुहिगुल्लं विलुलिअ अह्व हुदौ सुणाहि दिडात्तसहि" इत्यादि में इसका विनियोग है। 'त्रिपताक हस्त की तर्जनी को टेढ़ी करने पर शुकतुण्ड हस्त होता है', यह किसी अन्य तान्त्रिक द्वारा उल्लिखित मत उपेक्षणीय है।

'यदि दोनों जंघाओं के मेल से स्वस्तिक बनाकर तदनन्तर उरुओं से उसका वेष्टन किया जाय तो 'बद्धा' चारी होतो है।' (ना० शा० १०।२१) ॥ ६४ ॥

---

३. क-म. भ. अराले तु ।

[1]आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे निपातयेत् ।
[2]वामहस्तश्च वक्षस्थोऽप्यपविद्धं तु तद्भवेत् ।। ६५ ।।

(४ अपविद्धम् ।

"वक्षसोऽष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ्मुखौ कटकामुखौ ।" (ना. शा. ९-१८४) इति चातुरश्र्येण स्थित्वा ततो हस्तमावर्तितेन निष्क्रम्य ततः समकालमाक्षिप्तिकां चारीं कृत्वा तमेव हस्तं शुकतुण्डीकृतं तस्योर्वोः (तस्योरोः) पृष्ठे निपातयेत् । वामहस्तश्च कटकामुखः । स तु वक्षस्येवेति दक्षिणस्य करपादस्यापर्यवसानात्तदुपलक्षितवेगनिस्सरणादपविद्धमिति नाम्नैव [3]वर्तनायाश्चातुर्यं सूचितम् । असूयाकोपवाक्यार्थाभिनये चेदम् ।

यथा—

"विमाळकाळतुज्भ" इत्यादौ

मुनिविषयस्त्वस्यैव कैश्चित्प्रयोगो लिखितः तत्पात्रान्तरपरिवर्तनदोषात्स्वयमलक्ष्यत्वाच्चेत्युपेक्ष्यम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य व्याक्षिप्तं त्वञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घा स्वस्तिकसंयुक्ता चाक्षिप्ता नाम सा स्मृता ।।"

(ना. शा. १०-३७) ।। ६५ ।।

४. अपविद्ध

अनुवाद—जहाँ पर शुकतुण्ड नामक हस्त को घुमाकर जंघा (ऊरु) के ऊपर गिरा दिया जाय और बायें हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाय तो 'अपविद्ध' नामक करण होता है ।। ६५ ।।

अभिनव—"वक्षःस्थल से आठ अङ्गुल की दूरी पर सामने की ओर मुख वाले दोनों हाथ 'खटकामुख' कहे जाते हैं (ना० शा० ९।१८४) ।'

इस प्रकार खटकामुखमुद्रा में तथा चतुरस्र स्थिति में स्थित होकर हाथ को चक्राकार रूप में निकालकर तदनन्तर उसी समय आक्षिप्ताचारी करके उसी (दायें) हाथ को शुकतुण्ड मुद्रा में जंघा पर गिराये और बायें हाथ को 'खटकामुख मुद्रा' में वक्षःस्थल पर ही रखे । दाहिने हाथ और पैर का पर्यवसान न होने से उसके वेग के निकल जाने से अर्थात् वेग न रहने से 'अपविद्ध' नामक करण कहलाता है । इस प्रकार नाम से ही वर्तना अर्थात् हस्तविन्यास का चातुर्य सूचित होता है । इस करण की योजना असूया और क्रोध के वाक्यार्थाभिनय में की जाती है । जैसे—'विमाल-

१. ख. आवृत्य ।
२. ख-ध. वक्षःस्थो वामहस्तश्च अपविद्धं तु तद्भवेत् ।
३. क-म. भ. वर्तमानायाश्चातुर्यं

शिल्ष्टौ समनखौ पादौ करौ चापि प्रलम्बितौ ।
देहः स्वाभाविको यत्र [1]भवेत्समनखं तु तत् ॥ ६६ ॥
पताकाञ्जलिः वक्षःस्थं प्रसारितशिरोधरम् ।
[2]निहञ्चितांसकूटं च तल्लीनं करणं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

---

(५) समनखम् ।

प्रलम्बितौ कराविति लताहस्तौ मन्तव्यौ । न तु दोलाहस्तौ । तयोरेक-विषययोरत्र वर्तनायाश्चातुरश्र्यभङ्गहेतुत्वात् ।

"तिर्यक्प्रसारितौ चैव पार्श्वसंस्थौ लताकरौ ।" (ना. शा. ९-१९८)
एतच्च प्रथमप्रवेशे नृत्ते दृश्यते । जयमङ्गलादिविषये तु नास्य प्रयोगो युक्तः । यथा कैश्चिदिष्टः ॥ ६६ ॥

कालतुज्ञ०' इत्यादि में—इसके प्रयोग को किसी ने मुनि के विषय में लिखा है वह पात्रान्तर के परिवर्त्तन के दोष से स्वयं अलक्ष्य होने से अर्थात् भरतमुनि द्वारा लक्षण न लिखे जाने से उपेक्षणीय है ।

"यदि कुञ्चित पैर को उठाकर और अञ्चित पैर को आक्षिप्त कर भूमि पर रखे तथा जंघा स्वस्तिक मुद्रा से संयुक्त हो तो 'आक्षिप्ता' चारी कही जाती है ।"
(ना० शा० १०।३७) ॥ ६५ ॥

५. समनख

अनुवाद—जहाँ दोनों पैर 'समनख' स्थिति में परस्पर (एक दूसरे से) सटे हुए हों और दोनों हाथ लटके हुए हों तथा शरीर स्वाभाविक स्थिति में हो तो वह 'समनख' करण कहलाता है ॥ ६६ ॥

अभिनव—'लटकते हुऐ दोनों हाथों' से 'लताहस्त' समझना चाहिए, दोलाहस्त नहीं । क्योंकि उन दोनों के एक विषय होने से अर्थात् उन दोनों के एक विषय मानने पर यहाँ वर्तना अर्थात् हस्तविन्यास के चातुरश्र्य-भङ्ग का हेतु हो जायगा । लताकर का लक्षण बताते हैं—

'जब पार्श्व (बगल) में स्थित दोनों हाथों को तिरछे फैलाया जाय तो 'लता-हस्त' कहा जाता है ।' यह हस्तनृत्त के प्रथम प्रवेश में दिखायी देता है । जय और मङ्गल के विषय में इसका प्रयोग ठीक नहीं है, ऐसा कुछ लोगों को अभीष्ट है ॥६६॥

---

१. क-न. ज्ञेयं समनखं तु तत् ।
२. ख-घ निकुञ्चितांसकूटं च ।

(६) लीनम् ।

'पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषादञ्जलिः स्मृतः ।" (ना. शा ९१२८)

प्रसारितसमाः सर्वा यस्याङ्गुलयो भवन्ति हि ।

कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः ।। (ना. शा ९-१८)

रेचितग्रीवा ।

"रेचिता विस्तृतभ्रान्ता भावे मथननृत्तयोः ।।" (ना. शा ८-१७६)

इति केचित् । तदसत् । औचित्यायोगात् । तेन प्रणामापसारिता गमिता [1]नता स्याद्ग्रीवा ।

"उत्क्षिप्तबाहुशिखरं निकुञ्चितशिरोधरम् ।

[1]निहञ्चितं शिरः ।" (ना. शा. ८-३२)

तद्योगावंसकूटयोर्निहञ्चितत्वम् ।

योजना तूर्ध्वमण्डलिनौ (ना. शा. ९-२०३) नृत्तहस्तौ प्राक्प्रयुज्य [2]तद्वर्तनाक्रमेण वक्षोदेशेऽञ्जलिं रचयेत् । एतदेव पताकाग्रहणस्य प्रयोजनम् । अञ्जलेर्नलिनीपद्मकोशवर्तनया सम्पादनं माभूत् । अपि तूर्ध्वमण्डलवर्तनया । तथा पताकयोः स्फुटप्रयोगोत्पत्तिः । तथाऽप्यव्यभिचारात् । पताकाग्रहणमफलमेव । लौकिकाञ्जलिशङ्काशमनं तु सति तान्त्रिके तुच्छफलम् ।

एतच्च प्रियप्रार्थनावाक्यार्थाभिनये । यथा—'पुरिपडाळ्दु०ळडामं लिबिल्लइ दुंदुं" । न तु देवताप्रणामे वक्षःस्थोऽप्यञ्जलिरत्र । देवताप्रणामे तु शिरःस्थ इति वक्ष्यामः ।। ६७ ।।

६. लीन

अनुवाद—यदि 'पताक' हस्त को 'अञ्जलि' मुद्रा में वक्षःस्थल पर रखे और ग्रीवा (गरदन) नत अर्थात् झुकी हुई हो तथा दोनों स्कन्ध निहञ्चित अर्थात् उठे हुए हों तो 'लीन' नामक करण होता है ।। ६७ ।।

अभिनव – 'दो पताका हस्तों के मिलाने से 'अञ्जलिहस्त' कहा जाता है' (ना० शा० ९।१२६) ।

'जहाँ समस्त अङ्गुलियाँ समान रूप से फैली हुई हो और अंगूठा कुञ्चित अर्थात् तिरछा हो ता 'पताकहस्त' कहा जाता है ।' (ना० शा० ९।१८) ।

रेचितग्रीवा—जो ग्रीवा विस्तृता एवं घूमती हुई हो वह 'रेचिता' कही जाती है । इसका विनियोग मन्थन नृत्त में होता है (ना० शा० ८।१७९) । ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं, वह ठीक नहीं है । इससे प्रणाम के लिए झुकाई गई ग्रीवा नता कही जाती है ।'

१. क. निकुञ्चितं ।

२. क-म. तद्वर्णनाक्रमेण ।

स्वस्तिकौ [1]रेचिताविद्धौ विश्लिष्टौ कटिसंश्रितौ[2] ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः स्वस्तिकरेचितम् ॥ ६८ ॥

(७) स्वस्तिकरेचितम् ।

पूर्वं रेचितौ तत आविद्धौ वक्रौ ततो देहक्षेत्रमागतौ स्वस्तिकौ । ततोऽपि विश्लिष्टौ विप्रकीर्णौ । ततः कटिसंस्थौ पक्षप्रद्योतपक्षवञ्चितकाख्यौ । एवं नृत्तहस्तषट्कात्मकमेतत्करणम् । तत्र —

जहाँ पर दोनों बाहुशिखर अर्थात् कन्धे ऊपर की ओर उठे हुए हों और ग्रीवा नीचे की ओर झुकी हो तो 'निहञ्चित' कहा जाता है। (ना० शा० ८।३०)।

उसके अर्थात् निहञ्चित शिर के योग से स्कन्ध और कूट को निहञ्चित कहा जाता है।

योजना इस प्रकार है—ऊर्ध्वमण्डली नृतहस्तों का पहिले प्रयोग करके तब वर्तना (हस्तविन्यास) के क्रम से वक्षःस्थल पर अञ्जलि रखे। यहाँ पताकाग्रहण का यही प्रयोजन है। अञ्जलि का नलिनी-पद्मकोश नामक वर्त्तना के द्वारा सम्पादन न हो, अपितु ऊर्ध्वमण्डल वर्त्तना के द्वारा अर्थात् ऊर्ध्वमण्डल नृत्तहस्त के द्वारा अञ्जलि का सम्पादन हो और प्रयोग के द्वारा पताकहस्तों की उत्पत्ति स्पष्ट है, फिर भी अव्यभिचार अर्थात् नियतरूप से पताकहस्त का अञ्जलि के रूप में ग्रहण करना निष्फल है। तान्त्रिक प्रकरण उपस्थित होने पर लौकिक अञ्जलि की शङ्का का शमन रूप फल तुच्छ है। इस करण का प्रयोग प्रिया के प्रार्थना अर्थात् अनुनय विनय के वाक्यार्थाभिनय में होता है। जैसे—"पुरिपड़ालपलदु०लडामं लिबिल्लइ दुंदुं" इत्यादि में। देवता के प्रणाम में तो वक्षःस्थ अञ्जलि का प्रयोग नहीं होता। देवता के प्रणाम में तो शिरःस्थ अञ्जलि का प्रयोग होता है, यह बात आगे कहेंगे ॥ ६७ ॥

७. स्वस्तिक-रेचित

अनुवाद—जहाँ पर 'रेचित' और 'आबिद्ध' मुद्रा में दोनों हाथ एक साथ मिलकर स्वस्तिक मुद्रा में अलग-अलग कटि पर स्थित हो, विद्वानों को उसे 'स्वस्तिकरेचित' करण समझना चाहिए ॥ ६८ ॥

अभिनव—पहिले रेचित फिर आबिद्धवक्र मुद्रा तदनन्तर शरीर के क्षेत्र में आने पर स्वस्तिक मुद्रा उसके बाद अलग-अलग फिर कटिप्रदेश में स्थित पक्षप्रद्योत और पक्षवञ्चितक मुद्रा, इस प्रकार रेचकादि छः नृत्तहस्तों वाला यह करण होता है। उसमें—

---

१. ख-ग. रेचितौ विद्धौ । क-म. रेचकाविद्धौ ।
२. ख ग. घ. कटिसंस्थितौ ।

"रेचितावपि विज्ञेयौ हंसपक्षौ [1]द्रुतभ्रमौ।" (ना. शा ९-१९३)
"समाः प्रसारितास्तिस्रः तथा चोर्ध्वा कनीयसी।
अङ्गुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः॥" (ना. शा. ९-१०६)
"भुजांसकूर्पराग्रैस्तु कुटिलावर्तितौ करौ।
[2]पराङ्मुखतलाविद्धौ ज्ञेयावाविद्धवक्रकौ"॥ (ना. शा. ९-१९०)
"तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंस्थितौ।
स्वस्तिकाविति विज्ञेयौ विच्युतौ विप्रकीर्णकौ"॥ (ना. शा. ९-१८७)
"कटिशीर्षनिविष्टाग्रौ त्रिपताकौ यदा करौ।
पक्षवञ्चितकौ।" (ना. शा. ९-२००)
"तावेव तु परावृत्तौ पक्षप्रद्योतकौ स्मृतौ।" (ना. शा. ९-२०१)

योजना तु—चातुरश्रयान्तरे रेचितवर्तनया पक्षौ विधाय व्यावर्तितकरणेन शिरःक्षेत्रादधरगमनोपरिगमने च या आविद्धवक्रवर्तना तया वक्षःक्षेत्रस्वस्तिकौ विधाय तावेव विप्रकीर्णौ कृत्वा पुनःपक्षवञ्चितौ पुनः पक्षप्रद्योताविति तद्योगात्स्वस्तिकरेचितम्।

'हंसपक्ष हस्तों को द्रुतगति (शीघ्रता) से घुमा देने पर रेचितहस्त बन जाता है।' (ना० शा० ९।१९३)।

'जहाँ पर तीन अङ्गुलियाँ [तर्जनी, मध्यमा, अनामिका] समान रूप से फैलाई हुई हो और कनिष्ठिका अंगुली ऊपर उठी हुई हो तथा अंगूठा कुञ्चित हो, तो उसे 'हंसपक्ष' हस्त कहते हैं। [ना० शा० ९।१०६]

'यदि भुजा, कन्धा और कोहनी के अग्रभाग से दोनों हाथों को कुटिल [टेढ़ा] व्यावर्त्तित कर दिया जाय और हथेलियों को अधोमुख करके सटा दिया जाय तो उसे 'आविद्धवक्र' कहा जाता है।" [९।१९०]।

यदि 'तलमुख' हस्त को मणिबन्ध [कलाई] के पास स्वस्तिक आकार में संस्थित हों तो उसे 'स्वस्तिक' हस्त कहते हैं, और यदि उन्हें विच्युत कर दिया जाय अर्थात् उन्हें मणिबन्ध से हटा दिया जाय तो उसे 'विप्रकीर्ण' हस्त कहा जाता है।" [ना० शा० ९।१८७]

'यदि त्रिपताक हस्त को कटि तथा शीर्ष [शिर] के अग्रभाग पर रख दिया जाय तो उसे पक्षवञ्चितक' हस्त कहते हैं।' [ना० शा० ९।२००]।

'यदि उन्हीं पक्षवञ्चितक हस्तों को परिवर्त्तित अर्थात् उलटा कर दिया जाय तो उसे 'पक्षप्रद्योत' हस्त कहते हैं॥' [ना० शा० ९।२०१]

१. क. (टि०) द्रुतभूमौ प्रसारितौ।
२. क-न. पराङ्मुख लताबद्धौ।

स्वस्तिकौ तु करौ कृत्वा [1]प्राङ्मुखोर्ध्वतलौ समौ ।
तथा च मण्डलं स्थानं [2]मण्डलस्वस्तिकं तु तत् ॥ ६९ ॥

अत्र च तत्र तत्र नृत्तहस्ते प्रयोगवशादालातचार्या शतचार्यावद्वन्ते बहिर्मण्डलसंस्थानकृतेन समनखौ पादावनुवर्तत इत्यसत् । एतच्च यत्र नृत्तमेव प्राधान्येनाभिनयं तावत्कालं प्रहर्षादियोगे तत्र तत्र प्रयुज्यते ।

यथा—

"धण्णिइ धण्णिइ धणहिए अणुराहिणव्वहरासु ।
महुरकण्णे जितिसअउदाणवकुळिणिणोसु ।" ॥ ६८ ॥

८ मण्डलस्वस्तिकम् ।

[3]स्वस्तिकावुक्तलक्षणौ । करौ । प्राङ् मुखौ चतुरश्रौ ऊर्ध्वतलौ । ऊर्ध्वमण्डलिनौ ।

"वक्षसोऽष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ् मुखौ कटकामुखौ ।
समानकूर्परांसौ च चतुरश्रौ प्रकीर्तितौ ।" (ना. शा. ६-१८४)
"ऐन्द्रे तु मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ।
त्र्यश्रौ वक्षःस्थितौ चैव कटी जानुसमा तथा ॥" (ना. शा. १०-६५)

योजना इस प्रकार है—चतुरस्र हस्तमुद्रा के यदि वर्त्तना हंसपक्ष हस्तमुद्रा में दोनों हाथों को घुमाकर रेचित करे, फिर मस्तक प्रदेश से घुमाते हुए नीचे लाकर आबिद्धवक्र मुद्रा में परिर्वात्तित करके वक्षःप्रदेश पर स्वस्तिक हस्तमुद्रा धारण कर फिर उन्हीं को विप्रकोर्ण करके फिर पक्षवञ्चितक मुद्रा में तदनन्तर पक्षप्रद्योत मुद्रा में इस प्रकार बार-बार पक्षवञ्चितक तथा पक्षप्रद्योत हस्तमुद्रा के साथ हाथों को कटि प्रदेश पर स्थित करे। इसे ही स्वस्तिकरेचित करण कहते हैं।

यहाँ पर उन-उन नृत्तहस्तों के प्रयोग के कारण अलातचारी के द्वारा सैकड़ों चारियों [चालियों] की तरह......अन्त में बाहर मण्डल संस्थानक [स्थानक] के करने से समनख पादों का अनुवर्त्तन किया जाता है, ऐसा जो कहते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह जहाँ पर नृत्त ही प्रधानरूप से अभिनेय हो, उस समय अर्थात् नृत्ताभिनय में और हर्ष (प्रसन्नता) आदि भावों के अभिव्यञ्जन में स्वस्तिक रेचक करण का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

'धण्णिइ धण्णिइ धणहिए अणुराहिणव्वहरासु ।
महुरकण्णे जितिसअउदाणवकुलिणिणोसु" ॥ ६८ ॥

---

१. ख. प्राङ्मुखोर्द्धतलौ । २. ख. मण्डलं स्वस्तिकं हि तत् ।
३. क. स्वस्तिकावृत्तलक्षणौ ।

योजना तु—चतुरश्रहस्ताभ्यां स्थित्वा ततो विच्यवाप्रयोगसमकालमुद्वेष्टित-वर्तनया गत्वा तत ऊर्ध्वमण्डलिवर्तनिकया स्वस्तिकौ कुर्यात् । मण्डलस्थानकं च बध्नीयादिति । इति मण्डलस्वस्तिकम् ।

"विच्यवात्समपादाया विच्यवां सम्प्रयोजयेत् ।
निकुट्टयंस्तलाग्रेण पादस्य धरणीतलम् ॥" (ना. शा. १०-१६)

तलाग्रोऽग्रतलसञ्चरः । निकारवाक्यार्थाभिनये । यथा—"उव्वेळा वि अगत्थि अवळआ वाह्निअएहिंशि । जळचरिउ ससक्वसुण्णिमंमदउ" । इत्यादौ ॥ ६९ ॥

८. मण्डलस्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर चतुरस्र और ऊर्ध्वमण्डल वाले दोनों हाथों को स्वस्तिकमुद्रा में समानरूप से करके मण्डल नामक स्थानक की रचना की जाय, वहाँ 'मण्डलस्वस्तिक' करण होता है ॥ ६९ ॥

अभिनव—इस करण में दोनों हाथ पूर्वोक्तलक्षणयुत स्वस्तिक मुद्रा में होते हैं। प्राङ्मुख का अभिप्राय चतुरस्र कर और ऊर्ध्वतल का अभिप्राय ऊर्ध्वमण्डली हाथों से है। नाट्यशास्त्र में चतुरस्रहस्त का लक्षण निम्नप्रकार दिया गया है—

"यदि वक्षःस्थल (छाती) से आठ अङ्गुल की दूरी पर सामने की ओर पूर्वाभिमुख दोनों हाथ खटकामुख मुद्रा से स्थित हों तथा कोहनी और कन्धे समान रूप से स्थित हों तो उसे 'चतुरस्र' हस्त कहते हैं। (ना. शा. ९।१८४)

"ऐन्द्र मण्डल में दोनों पैर चतुस्ताल अर्थात् चार ताल के अन्तर पर स्थित तिरछे वक्षःस्थल (छाती) पर रखे जाते हैं और कटि तथा जानु (घुटने) समान अवस्था में रहते हैं। (ना. शा. १०।६५)।

योजना इस प्रकार है—इस करण में पहिले दोनों हाथों को चतुरस्र मुद्रा में स्थित करके तब पैरों को विच्यवाचारी में रखकर फिर उद्वेष्टित वर्तना से चलकर तब ऊर्ध्वमण्डल वर्तना के साथ हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में रखे। तब मण्डल स्थानक में स्थित हो। इसी को मण्डलस्वस्तिक कहते हैं।

"पैरों के अग्रतल (पञ्जे) से पृथ्वीतल पर कुट्टन करते हुए समपादा चारी के दोनों पैरों को हटाकर विच्यवा चारी का प्रयोग करें।" (ना. शा. १०।१९)। [विच्यवा चारी में विच्यवा चारी के दोनों पैरों को हटाकर अग्रतलसञ्चर स्थिति में रखकर पृथ्वी पर कुट्टन (सञ्चरण) होता है।]

यहाँ पर तालाग्र का अर्थ अग्रतलसञ्चर नामक पाद है। इस करण का प्रयोग तिरस्कार, पराभव या पश्चात्ताप आदि के वाक्यार्थाभिनय में होता है। जैसे—
"उव्वेला वि अगत्थि अबलआ वाह्निअएहिंशि ।
जलचरिऊ ससकसुण्णिमंमदउ" इत्यादि में।। ६९ ॥

निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ।
पादौ निकुट्टितौ चैव[1] ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम् ।। ७० ।।

---

९ निकुट्टकम् ।

"उन्नमनं विनमनं स्यादङ्गस्य निकुट्टनम् ।"

इति कोहलः ।

तेन हस्तस्यालपल्लवस्य कनिष्ठाङ्गुलिपतनोत्पतनप्रकारो निकुट्टनम् । इहापि वक्ष्यते । अञ्चित इति पादस्याप्युद्धट्टितरूपता ।

"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णि भूमौ निपातयेत् ।
अस्य पादस्य करणे भवेदुद्धट्टितस्तु सः ।।" (ना. शा. ९-२६६)

चकारेण मण्डलस्थानकमुच्यते । स्वबाहुशिरस इत्येकवचनाद्धस्ताविति[2] द्विवचनाच्च पर्यायेणाङ्गद्वयेन प्रयोगः । एवकाराद्दक्षिणेन प्रयोगे दक्षिण एव पादः वामेन वामः । तेन मण्डलस्थानके स्थित्वा चातुरश्र्यादन्तरमुद्वेष्टितकरणेन हस्तं नीत्वा स्कन्धशिरसि निकुट्टयेत् । तमेव पादमुद्धट्टितं कुर्यात् । वामं तु हस्तं यथावस्थितं पुनराविद्धवक्रवर्तनतया तं हस्तं चतुरस्रीकुर्यात् । तत्समकालं चोक्तविधिना द्वितीयमङ्गं विकुट्टयेदिति योजना ।

अस्य च पुनः पुनरात्मसम्भावनाप्रधाने वाक्यार्थेऽभिनेतव्ये प्रयोगः । यथा– "भीउणजाणमिहउसू भवउकज्जी ।।" ।। ७० ।।

---

९. निकुट्टक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ अपनी भुजा और शिर के बीच में निकुट्टित (संचालित) हो तथा उसी प्रकार दोनों पैरों को भी निकुट्टित रखे, उसे 'निकुट्टक' करण समझना चाहिए ।। ६९ ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कोहल के मतानुसार निकुट्टक का लक्षण प्रस्तुत किया है । आचार्य कोहल का मत है कि—

"अङ्गों का ऊपर तथा नीचे की ओर ले जाना 'निकुट्टन' कहा जाता है ।"

इस प्रकार अल्लपल्लव हस्तमुद्रा की कनिष्ठिका अंगुली का ऊपर उठाने तथा नीचे गिराने के प्रकार को 'निकुट्टन' कहा जाता है । इसी को यहाँ नाट्यशास्त्र में भी कहेंगे । 'पादौ' कहने का तात्पर्य है कि पैरों की उद्धट्टितरूपता यहाँ है । नाट्यशास्त्र में उद्धट्टित का लक्षण निम्न प्रकार दिया गया है—

"जिस पैर के करण में पादतल (पञ्जे) के अग्रभाग से खड़े होकर एड़ी को भूमि पर गिराये तो वह 'उद्धट्टित' कहा जाता है ।" (ना. शा. ९।२६७)

---

१. ग. ज्ञेयं तत्तु निकुट्टनम । क च. विज्ञेयं चैव कुट्टकम् ।

२. क-म. भ. इत्येकवचनाद्धस्तविधिवचनाच्च ।

अञ्चितौ बाहुशिरसि[1] हस्तस्त्वभिमुखाङ्गुलिः[2] ।
[3]निकुञ्चितार्धयोगेन भवेदर्धनिकुट्टकम् ॥ ७१ ॥

१० अर्धनिकुट्टकम् ।

चरममेवार्धं लक्षणम् । आद्येन तु निकुट्टितस्य हस्तस्य युक्त्या लक्षणं कृतम् । अलपल्लव इति वक्तव्ये कुञ्चितग्रहणं क्रियाविशिष्टत्वप्रदर्शकम् ।

"आवर्तिन्यः करतले यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
पार्श्वगास्ता विकीर्णाश्च स हस्तस्त्वलपल्लवः ॥" (ना. शा ९-९१)

शङ्कुकादिभिस्त्वञ्चनं देहाभिमुख्येव पृष्ठभागेन मनागलक्षणमिति व्याख्यायितं नाम्ना न[4] सङ्गतमित्यास्ताम् ।

चकार से यहाँ मण्डलस्थानक कहा गया है। 'स्वबाहुशिरसि' में एकवचन तथा 'हस्तौ' में द्विवचन के प्रयोग से यह भाव निकलता है कि क्रमशः दोनों (दायें और बायें) अङ्गों से प्रयोग किया जाता है। एवकार के प्रयोग का अभिप्राय है कि जब दायें पैर से अभिनय करे तो दायें पैर को उद्घट्टित करे और जब बायें पैर से अभिनय करे तो बायाँ पैर उद्घट्टित करें।

योजना इस प्रकार है—इस करण में इस प्रकार मण्डलस्थानक में स्थित होकर चतुरस्र मुद्रा में हाथों को रखकर उद्वेष्टित करण से हाथ कन्धे पर ले जाकर भुजा और शिर पर निकुट्टन करे और उसी पैर को उद्घट्टित करे। यहाँ इसी प्रकार क्रमशः दोनों का संचालन करे। जब दायें हाथ से यह क्रम करे तो बायें हाथ को आविद्धवक्र वर्तना से उस हाथ को चतुरस्र मुद्रा में यथावस्थित कर लें और उसी समय उक्त विधि से दूसरे अङ्ग को निकुट्टित करे। यह योजना है।

इस करण का प्रयोग आत्मसम्भावनाप्रधान वाक्यार्थाभिनय में किया जाता है। जैसे—"भीउणजाणमिहउसू भवउकज्जी" इत्यादि में ॥ ७० ॥

१०. अर्धनिकुट्टक

अनुवाद—जहाँ अञ्चित हाथों को बाहु के शीर्ष कन्धे पर रखे और हाथ की अंगुलियाँ अभिमुख हो, इस प्रकार निकुञ्चित हस्त के अर्धयोग से 'अर्धनिकुट्टक' करण होता है ॥ ७१ ॥

---

१. ख-ग. बाहुशिरसी, क-च बाहुशिखरौ ।
२. क-ब. हस्तः स्वाभिमुखाञ्जलिः ।
३. ख. घ निकुञ्चितश्च पादः स्यात् ज्ञेयमर्धनिकुट्टकम् ।
क-त. निकुट्टितार्धयोगेन । क-च. निकुट्टितार्धभागेन ।
४. क. (टि०) नाम्ना संगतम् ।

[1]पर्यायशः कटिश्छिन्ना बाह्वोः शिरसि पल्लवौ ।
पुनःपुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद्भवेत् ॥ ७२ ॥

अस्य च प्रयोगः, स्वात्मसम्भावनाविषय एवाप्ररूढे वाक्यार्थे । यथा—"हउपरपरिवध उद्घटइध" ॥ ७१ ॥

११. कटिच्छिन्नम् ।

"कटिमध्यस्य वलनाच्छिन्ना ।" (ना० शा० ९-२४५)
पर्यायश इत्युभयशेषः ।

"मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ ।" (ना० शा० ९-१९६) योजना तु—भ्रमरिकया (ना० शा० १०-४५) चार्या पर्यायेण पार्श्वद्वयभ्रमणं कृत्वा मण्डलस्थानके (ना० शा० १०-६५) स्थित्वा बाहुशिरसि च पल्लवं पताकालपल्लवच्छायाद्वितीयं पर्यायेण बिभ्रद्विधेयः । पुनरपरेणाङ्गेनैवमिति । त्रिश्चतुर्वैषैव क्रिया ।

अभिनव—इसमें अन्तिम अर्धभाग (उत्तरार्द्ध) ही लक्षण है । पूर्वार्द्ध में तो निकुट्टित हस्त का लक्षण युक्ति से किया गया है । यहाँ 'अलपल्लव' यह कहना चाहिए था, कुञ्चित का ग्रहण विशिष्ट क्रिया के प्रदर्शन के लिए है । नाट्यशास्त्र में अल्लपल्लव का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है—

"जिसके हाथ की अंगुलियाँ करतल (हथेली) में आवर्त्तित (धुमाई हुई) हों और वे ही पार्श्व में आकर विकीर्ण (विखरी हुई) हो जाँय तो वह 'अलपल्लव' हस्त होता है ।" (ना. शा. ९।९१) ।

शङ्कुक आदि आचार्यो ने तो शरीर के सन्मुख भाग से अञ्चन हो, किन्तु पृष्ठभाग से थोड़ा भी अञ्चन न हो, इस प्रकार जो व्याख्या की हैं वह नाम से सङ्गत नहीं है, इसलिए रहने दिया जाय ।

इस करण का प्रयोग आत्मसम्भावना के विषय में अप्ररूढ़ वाक्यार्थाभिनय में होता है । जैसे—"हउपरिपरवध उद्घटइघ" इत्यादि में ॥ ७१ ॥

११. कटिच्छिन्न

अनुवाद—जहाँ पर कटि क्रमशः छिन्न मुद्रा में हो और हाथ क्रमशः (बारी-बारी) पल्लव मुद्रा में शिर पर रखे जाँय, इस प्रकार बार-बार किया जाय तो वह 'कटिच्छिन्न' करण कहलाता हे ॥ ७२ ॥

१. ख.ग. पर्यायशः कटिः छिन्ना बाहू शिरसि पल्लवौ ।
ग- क-ख. पर्यायशः कटीछिन्ना बाह्वोः शिरसि पल्लवे ।
ख-ख. पर्यायशः कटीछिन्नौ बाहोः शिरसि पल्लवे ।

"अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन भ्रमरी स्मृता ॥"
(ना० शा० १०-४५)

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
उत्क्षिप्य पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥"
(ना० शा० १०-३०)

विस्मयप्रधानवाक्यार्थाभिनये चास्य प्रयोगः। तथा—"एभि उ० वि० खु गिडत्थ गिळित्थ उ० वोरु० [1]वदाणहुणं भूकुळावणइ"। विस्मयप्राधान्यख्यापनायैवात्रपल्लवस्यादौ प्रयोगः "अद्धक्खि आ" इत्यादौ ॥ ७२ ॥

अभिनव—"मध्यभाग में वलन (मुड़ी हुई) कटि 'छिन्ना' कटि कही जाती है।' (ना. शा. ९।२४७)।

'पर्यायशः' अर्थात् क्रमशः का अन्वय दोनों तरफ होता है।

"मणिबन्ध (कलाई) से मुक्त पताकहस्त को पल्लवहस्त कहते हैं।"
(ना. शा. ९।१९७)

योजना इस प्रकार है—कटिच्छिन्न करण में भ्रमरी चारी से क्रमशः दोनों पार्श्वों को घुमा कर मण्डलस्थानक में स्थित होकर बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे पर पल्लवहस्त को पताकहस्त और अलपल्लवहस्त के साथ क्रमशः धारण करें। फिर इसी प्रकार दूसरे अङ्गों के साथ प्रक्रिया करे। इस प्रकार यह प्रक्रिया तीन-चार बार को जाय तो कटिच्छिन्न करण होता है।

"यदि अतिक्रान्ता चारी के क्रम (प्रक्रिया) को करके त्रिक का परिवर्त्तन करे अर्थात् उरु, जानु और कटि का त्र्यस्र स्थानक में परिवर्त्तित करे फिर दूसरे पैर के तलवे से शरीर को घुमा दे तो 'भ्रमरी' चारो कही जाती है।" (ना. शा. १०।४५)।

"यदि कुञ्चित पाद (पैर) को ऊपर उठाकर सामने फैला दिया जाय और फिर उसे ऊपर उठाकर नीचे गिरा दिया जाय तो वह अतिक्रान्ता चारी कही जाती है।"
(ना. शा. १०।३०)।

विस्मयप्रधान वाक्यार्थाभिनय में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग होता है। जैसे—"एभि उ० वि० खु गिउत्थ गिलित्थ उ० वोरु० वदाणहुणं भूकुलावणइ" इस उदाहरण में। यहाँ पर विस्मय की प्रधानता को ख्यापन करने के लिए ही पल्लवहस्त का आरम्भ में प्रयोग किया गया है। जैसे—'अद्धक्खि आ' इत्यादि में ॥ ७२ ॥

---

१. क-म. वोकं वदा न इण्णि भकुलावणउ ।

अपविद्धकरः[1] सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः[2]।
सन्नतं यत्र[3] पार्श्वं च तद्भवेदर्धरेचितम् ॥ ७३ ॥

१२ अर्धरेचितकम् ।

"हस्तौ तु सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुष्ठकौ[4] यदा ।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ च तदा सूचीमुखौ स्मृतौ ॥" (ना० शा० ९-१९१)

मण्डल एव स्थानके स्थित्वा करो वक्षसि कटकामुखः सूचीमुखेन [5]हस्तेनापगमपूर्वकं विद्धो निकटयोजितः चपटचावसरे (तदपसारणे) च पार्श्वं सम्यक्सौष्ठवेन नतं पादश्च निकुट्टितस्तदा कायार्धस्य पर्यायेण रेचनाद्बहिर्गमनादर्धरेचितम् । एतच्चासमञ्जसचेष्टाप्रधानवाक्यार्थाभिनये । यथा—"गिरिगिइइळ०वमुं चोळउकज्जनुकारण" इत्यादौ ॥ ७३ ॥

१२. अर्धरेचित

अनुवाद—जहाँ पर सूचीमुख मुद्रा में हाथों को संचालित किया जाय और पैर निकुट्टित करे तथा पार्श्व को सन्नत मुद्रा में अवस्थित किया जाय वहाँ 'अर्धरेचित' करण कहा जाता है ॥ ७३ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में सूचीमुख का लक्षण निम्न प्रकार बताया गया है—

"जब सर्पशीर्ष हस्तों (हाथों) को मध्यमा और अङ्गुष्ठ (अंगूठा) के साथ तिरछा फैला दिया जाय तो 'सूचीमुख' हस्त होता है।" (ना० शा० ९।१९२)

योजना इस प्रकार है—इस करण में मण्डल स्थानक में स्थित होकर खटकामुख हस्त को वक्ष (हृदय) पर रख कर फिर सूचीमुख हस्तमुद्रा के अपसारण के साथ अपने निकट लाये और अपसारण के समय पार्श्व को सम्यक् सौष्ठव से 'नत' अवस्था में रखे तथा पैर को निकुट्टित करे तब शरीर के अर्धभाग को क्रमशः रेचन करे अर्थात् बाहर की ओर ले जाय। इस प्रकार यह 'अर्धरेचित' करण होता है। इस करण का प्रयोग असमञ्जस चेष्टाप्रधान वाक्यार्थाभिनय में होता है। जैसे—'गिरिगिइइल० वमुं चोलउकज्जनुकारण" इत्यादि में ॥ ७३ ॥

१. घ. अपविद्धः करः । क-न. अपविद्धकरः सूच्या पादश्चेत्स निकुट्टितः ।
क-म. भ. अपविद्धकरस्तुल्यपाशश्चेत् स निकुट्टितः ।

२. ख-घ. निकुट्टकः ।

३. क-म यस्य ।

४. क-म. भ. मध्यमाङ्गुलिकौ ।

५. क-म. भ. हस्तेनावगमपूर्वकं ।

स्वस्तिकौ चरणौ यत्र करौ वक्षसि रेचितौ[1] ।
निकुञ्चितं तथा वक्षो वक्षस्स्वस्तिकमेव तत् ॥ ७४ ॥

---

१३ वक्षःस्वस्तिकम् ।

वक्षसि तौ हस्तौ चतुरश्रौ स्थितौ तौ रेचितौ कृत्वा व्यावृत्तकरणेनानीय निकुञ्चिते आभुग्ने वक्षसि स्वस्तिकौ कार्यौ । हस्तस्वस्तिकानुसारेण च पादावन्योन्यं जङ्घानुगुल्फवलनेन स्वस्तिकौ कार्यौ ।

"निम्नमुन्नतपृष्ठं च व्याभुग्नांसं श्लथं क्वचित् ।
आभुग्नं तदुरः ।" (ना० शा० ९-२२४)

अत्र च नृत्तयोगात्सौष्ठवप्राधान्यमिति । भुग्नांसमिति । अंसौ हस्तापेक्षया । लज्जितजातानुतापप्रधाने वाक्यार्थे एवास्य प्रयोजनम् । यथा—

"भुंजइ सदेसदेसं धादंति बहिः णिं अमित एव वंसतिण्णववसिः अनु अन्नअविरंहीम ।" ॥ ७४ ॥

---

१३. वक्षःस्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर स्वस्तिक अवस्था में हों और दोनों हाथ रेचित अवस्था में वक्षःस्थल पर हों तथा वक्षःस्थल निकुञ्चित अर्थात् झुका हुआ हो, वह 'वक्षः स्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७४ ॥

अभिनव—वक्षःस्थल पर चतुरस्रमुद्रा में दोनों हाथों को रखे, फिर उन्हें रेचित करके व्यावृत्त करण के द्वारा लाकर निकुञ्चित (थोड़ा झुके हुए) आभुग्न वक्षःस्थल पर स्वस्तिक मुद्रा में रखे और स्वस्तिक हस्त के अनुसार पैरों को भी परस्पर जङ्घा और गुल्फ के वलन के द्वारा स्वस्तिक अवस्था में रखे । आभुग्न का लक्षण निम्न प्रकार है—

"जो वक्षःस्थल निम्न और पृष्ठभाग की ओर उन्नत और कन्धा व्याभुग्न (झुका हुआ) तथा शिथिल हो, वह वक्षःस्थल 'आभुग्न' कहलाता है ।"
ना० शा० ९।२२४)

यहाँ पर नृत्त के सम्बन्ध से सौष्ठव की प्रधानता हैं । 'भुग्नांसम्' में अंस (कन्धा) हाथों की अपेक्षा से कहा गया है । इस करण का प्रयोग लज्जा और अनुताप (पश्चाताप) प्रधान वाक्यार्थाभिनय में होता है । जैसे—

भुंजइ सदेसदेसं धादंति बहिः णिं अमित एव वंसतिण्णववसिः अनु अन्नअविरंहीम" इत्यादि में ॥ ७४ ॥

---

१. ग. वक्षःस्थरेचितौ ।
२. ख-घ. च । क-न. तु ।

अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ तु[1] करौ यदा ।
[2]उन्मत्तं करणं तत्तु विज्ञेयं [3]नृत्तकोविदैः ॥ ७५ ॥

---

१४. उन्मत्तकम् ।

"पार्ष्णिर्यत्र स्थिता भूमावूर्ध्वमग्रतलं तथा ।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादोऽञ्चित उच्यते ॥"

(ना० शा० ९-२७५)

आविद्धचार्या चास्य प्रयोगः ।

"स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चितस्तु प्रसारितः ।
निपतेदञ्चिताविद्धमाविद्धा नाम सा स्मृता ॥"

(ना० शा० १०-३८)

एकवचनद्विवचनाभ्यामङ्गपर्यायः सूच्यते । एतस्यातिसौभाग्यादिजनितगर्वविषयः[4] प्रयोगः । यथा—"इंतिइएण इहहि कह विमाखरिततवसिइ ।" ॥७५॥

---

१४. उन्मत्त

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर अञ्चित अवस्था में हों और दोनों हाथ रेचित अवस्था में हों, तो नृत्तवेत्ताओं द्वारा उसे 'उन्मत्त' नामक करण समझना चाहिए ॥ ७५ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में अञ्चित पाद का लक्षण निम्न प्रकार बताया गया है—"जिस पैर की एड़ी भूमि पर स्थित हो और पैर का अग्रतल (पञ्जा) ऊपर उठा हुआ हो तथा सभी अंगुलियाँ अञ्चित अर्थात् फैली हुई हों, वह 'अञ्चित' पाद कहा जाता है ।" (ना० शा० ९।२७५)

इसका प्रयोग आविद्धचारी में किया जाता है। आविद्धचारी का लक्षण निम्नप्रकार है—

"यदि स्वस्तिक पाद के एक पैर को सामने कुञ्चित तथा फैलाकर रखे और आविद्ध अर्थात् संश्लिष्ट एवं अञ्चित होकर उसे पृथ्वी पर गिरा दिया जाय तो आविद्धाचारी होती हैं ।" (ना० शा० १०।३८) ।

---

१. क. रेचितौ च करौ तदा ।
२. क-न. त. उन्मत्तकरणं हृचेतत् ।
३. ग. नृत्यकोविदैः । क-न. नाटचकोविदैः ।
४. क-भ म. सर्वविषयः ।

[1]हस्ताभ्यामथ पादाभ्यां भवतः स्वस्तिकौ यदा ।
तत्स्वस्तिकमिति प्रोक्तं करणं करणार्थिभिः ।। ७६ ।।

१५. स्वस्तिकम् ।

[2]उद्वेष्टितवर्तनवामहस्तो निष्क्रमस्य (निष्कास्य) व्यावर्तितस्य करण-समकालमुत्प्लुत्य युगपदेव हस्तपादस्य स्वस्तिकं रचयेत् । करणार्थिभिरिति वाक्यार्थाभिनयलक्षणा नृत्ताङ्गहाररूपा गतिपरिक्रमादिस्वभावाश्च क्रिया येऽर्थवन्त इति मध्ये तेन भङ्गिवचनेन सर्वेषां करणानां प्रयोजनं सूचितम् । तत्र [3]युक्त्यान्वेषणनिषेधरहस्ये च वाक्यार्थेऽभिनेतव्येऽस्य प्रयोगः । यथा "मणिचारिं ते मत्थिअरुअअं गढजांवणयेणवति हिअभुळणए किं त कंमणएण" ।। ७६ ।।

यहाँ पर 'अञ्चितेन पादेन' में एकवचन तथा 'रेचितौ तु करौ' में द्विवचन के प्रयोग से अङ्ग का पर्याय सूचित होता है अर्थात् एक पैर को अञ्चित अवस्था में रखे, और दोनों हाथों को रेचित अवस्था में रखे। इस करण का विनियोग सौभाग्य आदि से उत्पन्न गर्व के अभिनय में किया जाता है। जैसे—'इंतिइएण इहहि कह विमाखा-रिततवसिइ" इत्यादि में ।। ७५ ।।

१५. स्वस्तिक

अनुवाद—यदि दोनों हाथ और दोनों पैरों के द्वारा दो स्वस्तिक मुद्राओं की रचना की जाय तो करणाभिनेताओं ने उसे 'स्वस्तिक' करण कहा है ।।७६।।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि इस करण में उद्वेष्टित वर्तना के द्वारा बाँये हाथ को निकाल कर व्यावर्त्तित करण के समय अर्थात् चक्राकार घूमते हुए उछल कर दोनों हाथ और दोनों पैरों को एक साथ ही स्वस्तिक मुद्रा की रचना करे। '**करणार्थिभिः**' में वाक्यार्थाभिनय लक्षणा है। नृत्त के अङ्गहार रूप तथा गति, परिक्रम (चारों ओर घूमना) आदि रूप क्रियाएँ जो अर्थवान् हैं, इस प्रकार बीच में उस भङ्गिवचन (कहने की एक प्रकार की शैली) से सभी करणों का प्रयोजन सूचित किया गया है। उनमें युक्ति से अन्वेषण (खोज) एवं निषेध सूचक वाक्यार्थाभिय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—"मणिचारि ते मत्थिअरुअअं गढ़-जांवणयेणवंति हि अं भुलणाए किं त कंमणएण" इत्यादि वाक्य में ।। ७६ ।।

---

१. ख-घ. उभाभ्यां हस्तपादाभ्याम् ।
२. क-म. उद्वेष्टितवर्त्तमानहस्तः ।
३. क. युक्त्या द्वेषणनिषेधरहस्ये ।

विक्षिप्ताक्षिप्तबाहुभ्यां स्वस्तिकौ चरणौ यदा ।
[1]अपक्रान्तार्धसूचिभ्यां तत्पृष्ठस्वस्तिकं भवेत् ॥ ७७ ॥

---

१६. पृष्ठस्वस्तिकम् ।

"उरुभ्यां वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैनमपक्रान्ता तु सा स्मृता ॥" (ना० शा० १०-३१)
"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥" (ना० शा० १०-३४)

[2]अर्धशब्देन द्वितीयस्मिन्पादे सूची कार्या । न तु तस्मिन्नेव पर्यायेणेत्याह । तेनेत्थं योजना—उद्वेष्टितक्रियया बाहुद्वयविक्षेपसमकालमपक्रान्ता चारी[3] । तया[4] अपवेष्टितकरणसमकालं द्वितीयेन पादेन सूची विधाय स्वस्तिकं पादाभ्यां तथा हस्ताभ्यां कुर्यादिति । पृष्ठे पाश्चात्ये समे यत्स्वस्तिकं तथा दक्षिणपृष्ठे वामपादेन स्वस्तिकं त्रिकवलतया च पराङ्मुखीभूय स्वस्तिकमिति पृष्ठस्वस्तिकम् । प्रयोगोऽस्योक्तविषय एव । अन्ये तु पृष्ठविषये हस्ताभ्यां स्वस्तिकमिच्छन्तो युद्धविषये [5]परिक्रमेऽस्य प्रयोगमाहुः ॥ ७७ ॥

---

१६. पृष्ठस्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर विक्षेप और आक्षेप (ऊपर और नीचे फेकने की क्रिया) के साथ दोनों बाहुओं (भुजाओं) को स्वस्तिक मुद्रा में रखा जाय तथा अपक्रान्ता एवं अर्धसूची चारियों के साथ दोनों पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखा जाय तो वहाँ 'पृष्ठस्वस्तिक' करण होता है ॥ ७७ ॥

अभिनव—अभिनवभारती में अपक्रान्ता चारी का लक्षण निम्न प्रकार दिया गया है—'उरुओं (जंघाओं) का वलन करके अर्थात् दोनों जंघाओं को घुमाकर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर उसे पार्श्व (बगल) में गिरा दे तो वह 'अपक्रान्ता' चारी कहलाती है ।" (ना० शा० १०।३१) ।

सूची चारी का लक्षण—"कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जंघाओं के ऊपर ले जाकर फैला दे और अग्रभाग से उसे गिरा दे, तो उसे 'सूची' चारी कहते हैं ।" (ना. शा. १०।३४)

---

१. ग. अपक्रान्तार्धसूची च ।
२. क. ऊर्ध्वशब्देन ।
३. क-म. भ. चारी तु या ।
४. क-म. भ. अवचेष्टितकरणसमकालं ।
५. क-म. भ. परिक्रमस्य ।

पार्श्वयोरग्रतश्चैव यत्र श्लिष्टः करो भवेत्[1]।
[2]स्वस्तिकौ हस्तपादाभ्यां तद्दिक्स्वस्तिकमुच्यते ॥ ७८ ॥

---

१७. दिक्स्वस्तिकम् ।

हस्ताभ्यामथेत्यादिना यत्पश्चात्स्वस्तिकाख्यं करणमुक्तं तदेव यदा पार्श्वयोरग्रे चकारात्पृष्ठे [3]चतुर्दिङ्मुखेषु त्रुटितेनाङ्गेन क्रियतेऽत एवाङ्ग श्लिष्ट इति । तदा दिक्स्वस्तिकमिति । अनेन मध्ये निरूपितेन सर्वेषां करणानामित्थं प्रयोगमनुजानीते । प्रयोगश्चास्य गीतपरिवर्तेषु । यद्वक्ष्यति "यदा [4]गीतवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते" (ना० शा० ४-३०६) । इत्यादि ॥ ७८ ॥

यहाँ ऊर्ध्व शब्द का कथन दूसरे पैर के सूची कार्य से है न कि उसी में ही क्रमशः दुहराने से, ऐसा कहा गया है । इसलिए इस प्रकार योजना है—

इस करण में उद्वेष्टित क्रिया के साथ दोनों बाहुओं के विक्षेप के समय अपक्रान्ता चारी होती है और उसके द्वारा अर्थात् उस अपक्रान्ता चारी के द्वारा अपवेष्टित करने के समय दूसरे पैर से सूची नामक चारी (अर्धसूची) बनाकर दोनों हाथ और दोनों पैरों के द्वारा स्वस्तिक मुद्रा बनायी जाय । बायें पृष्ठ में दक्षिणा पाद से जो स्वस्तिक है और दक्षिण पृष्ठ में बायें पाद से जो स्वस्तिक है, त्रिक के चालन के साथ अर्थात् कूल्हे के पास की हड्डी को घुमाकर पराङ्मुख अर्थात् पीछे घूमकर जो स्वस्तिक बनाया जाता है वह पृष्ठस्वस्तिक कहलाता है । इस करण का प्रयोग स्वस्तिक करण में कहे गये विषय में अर्थात् अन्वेषण एवं निषेध सूचक वाक्यार्थाभिनय में होता है । अन्य आचार्य जो पृष्ठ में दोनों हाथों से स्वस्तिक बनाना चाहते हैं वे युद्ध विषयक परिक्रमण में इस करण का प्रयोग बताते हैं ॥ ७७ ॥

१७. दिक्स्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर पार्श्व में और आगे की ओर हाथ श्लिष्ट हो और दोनों हाथ एवं दोनों पैरों के द्वारा स्वस्तिक बनाया जाय तो वहाँ 'दिक्स्वस्तिक' करण होता है ॥ ७८ ॥

---

१. ख. यत्र श्लिष्टः कृतो भवेत् । ग. यत्र श्लिष्टकृतो भवेत् ।
घ. यत्र श्लिष्टः गतो भवेत् । क-त. यत्र श्लिष्टा कटी भवेत् ।

२. ख.ग. घ. स्वस्तिको ।

३. क. चतुर्दिङ्मुखेष्व त्रुटितेष्वङ्गेषु न क्रियते ।

४. क. गीतिवशादङ्ग ।

अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम्[1] **॥ ७६ ॥**

---

१८. अलातकम् ।

पृष्ठे प्रसारितः पादो वलितेनान्तरीकृतः।[2] ।
पार्ष्णिप्रपतिता चैवमलाता सा प्रकीर्तिता ॥" (ना० शा० १०-४१)

अंसाद्विनिष्क्रमणं व्यंसयेदिति । तं च नृत्तहस्तं (नितम्बहस्तं) दक्षिणेन रचयति । यत्—

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
द्वितीयं च क्रमं तूर्ध्वमूर्ध्वजानुः प्रकीर्तिता ॥" (ना० शा० १०-३३)

ततश्चारी निवेशाच्च पादस्याप्यलातादिसंज्ञा । एवं सर्वत्र ।

"बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ नितम्बाविति कीर्तितौ ।" (ना. शा. ८-१९६)

योजना तु—दक्षिणपादेनालातां चारीं प्रयुञ्जानो दक्षिणहस्तेन नितम्बं कृत्वा चतुरश्रमेव कुर्यात् । वामेन पादेनोर्ध्वजानुं ततो वामेनाप्यङ्गेन । एवमेतेऽप्यलातचार्या द्विःप्रयोगात्तन्नामधेयमेवेदं करणम् । प्रयोगश्चास्य ललितनृत्तविषये । यथा—"देवं हं उणवशंमि" इत्यादौ ॥ ७९ ॥

अभिनव—'हस्ताभ्यामथ' इत्यादि के द्वारा जो स्वस्तिक नामक करण कहा गया है, वही जब पार्श्वों में आगे और पीछे चारों दिशाओं में त्रुटित अङ्ग से श्लिष्ट किया जाता है। अत एव वह अङ्गश्लेष होता है, तब उसे दिक्स्वस्तिक कहते हैं। करणों के मध्य में निरूपित किये गये इस करण से सभी करणों का इसी प्रकार प्रयोग करना चाहिए। इस करण का प्रयोग गीत के परिवर्त में अर्थात् गाने के समय अङ्गों के सञ्चालन में होता है। जैसा कि आगे कहेंगे—"जब गीत के कारण अङ्ग बार-बार परिवर्त्तित होते हैं।" इत्यादि ॥ ७८ ॥

१८. अलातक

अनुवाद—अलात चरण का विधान करके अर्थात् अलाताचारी की प्रक्रिया करके दाहिने हाथ को कन्धे के नीचे ले जाकर ऊर्ध्वजानु चारी को क्रमशः सम्पादित करे तो उसे 'अलातक' करण कहते हैं ॥ ७६ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में अलाता चारी का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है—

---

१. ख-घ. ऊर्ध्वजानुक्रमं चैव अलातकरणं भवेत् ।
२. क-म. भ. वलितेनान्तरिक्षतः ।

स्वस्तिकापसृतः पादः करौ नाभिकटिस्थितौ[1] ।
पार्श्वमुद्वाहितं चैव करणं तत्कटीसमम् ॥ ८० ॥

१९. कटीसमम् ।

स्वस्तिकादनन्तरमपसृत इत्यनेन आक्षिप्तायाश्चार्या [2]अनन्तरमपक्रान्तायाश्चार्याः प्रयोगमाह । चकारेण करौ च स्वस्तिकाववधृतौ[3] । तत एको नाभिस्थः खटकः । एवमपरः कट्यामर्धचन्द्रः । तदेव पार्श्वं नतमपरमुद्वाहितं द्वितीयेनाङ्गेन ।

"पीछे की ओर फैलाये हुए पैर को वलन करके अर्थात् घुमा कर भीतर की तरफ करके एड़ी को गिरा दिया जाय तो अलाता नामक चारी होती है।" (ना० शा० १०।४१)।

कन्धे से हाथ का विनिष्क्रमण 'ध्वंसयेत्' के द्वारा कहा गया है और उसे दाहिने हाथ से नितम्बहस्त की रचना करे।

"कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु (जंघा) को स्तन के बराबर रखें, और दूसरा पैर क्रमशः स्थिर रखे तो 'ऊर्ध्वजानु' नामक चारी होती है।" (ना० शा० १०।३३)।

इसी चारी के निवेश से पाद की अलात आदि संज्ञा होती है। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए।

"बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे से विनिष्क्रान्त (निकले हुए) पताकहस्तों को नितम्बहस्त कहते हैं।" (ना० शा० ९।१९७)।

योजना इस प्रकार है—अलातक करण में दाहिने पैर से अलाताचारी का प्रयोग करता हुआ दाहिने हाथ से नितम्ब हस्तमुद्रा बनाकर चतुरस्र करे। फिर बायें पैर से ऊर्ध्वजानु नामक चारी को और फिर अलाता चारी के साथ बाँयें हाथ से नितम्ब हस्तमुद्रा बनाकर चतुरस्र करे। इस प्रकार यहाँ पर अलाता चारी के दो बार प्रयोग होने के कारण इस करण का नाम 'अलातक' रखा गया है। इस करण का प्रयोग ललितनृत्त में होता है। जैसे—"देवं हं उणवर्शमि" इत्यादि में ॥ ७९ ॥

१९. कटीसम

अनुवाद—**जहाँ पर स्वस्तिक करण के बाद पैर अपसृत अर्थात् पृथक् किये गये हों और दोनों हाथ नाभि और कटि पर स्थित हों तथा पार्श्व उद्वाहित चेष्टा में हो वहाँ पर 'कटीसम' करण होता है ॥ ८० ॥**

१. ख. नाभिकटीस्थितौ ।
२. क-म. भ. अनन्तरमुपक्रान्तायाश्चार्याः ।
३. क (टि) स्वस्तिकापसृतौ ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य आक्षिप्य त्वञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घास्वस्तिकसंयुक्तमाक्षिप्ता[1] नाम सा स्मृता ॥"
(ना. शा. १०-३७)

"उत्क्षिप्तचक्रा[2] तु यदाऽनामिका सकनीयसी ।
अस्यैव तु कपित्थस्य तदासौ खटकामुखः ॥"
(ना. शा. ९-६१)

"यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गुष्ठेन चापवत् ।
सोऽर्धचन्द्रः" (ना. शा. ९-४३)

"उद्वाहितं तूर्ध्वगतमुरो ज्ञेयम्" इति । (ना. शा. ९-२३१)
तत्पार्श्वमप्युद्वाहितम् । वैष्णवं चात्र स्थानकं कटिसमं तत्त्वबन्धाल्लभ्यते ।

"द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
तयोः समस्थितस्त्वेकः त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥
किञ्चिदञ्चितजङ्घं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ॥" (ना. शा. १०-५२-५३)
जर्जराभिमन्त्रणावसरे सूत्रधारेणायं प्रयोक्तव्यः ॥ ८० ॥

अभिनव—यहाँ पर स्वस्तिक के अनन्तर पैर को अपसृत करने के कथन से आक्षिप्ता चारी के बाद अपक्रान्ता चारी का प्रयोग करना, कहा गया है। चकार से दोनों हाथों का भी स्वस्तिक तथा अपसृत होना स्वीकृत है। उनमें से एक को कटकामुख (खटकामुख) मुद्रा में नाभि पर और दूसरे को अर्धचन्द्र मुद्रा में कटि पर रखना चाहिए। उसी प्रकार एक पार्श्व को नत और दूसरे को उद्वाहित (ऊपर उठा हुआ) स्थिति में रखे।

आक्षिप्ता चारी का लक्षण—

"कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर और दूसरे को अञ्चित अवस्था में नीचे रखे तथा जंघा को स्वस्तिक से संयुक्त करे तो आक्षिप्ता चारी होती है।" (ना० शा० १०।३७)।

खटकामुख का लक्षण—

"यदि कपित्थ हस्त की कनिष्ठिका अंगुली के साथ अनामिका अंगुली को ऊपर उठाकर वक्र कर दी जाय अर्थात् मोड़ दी जाय तो वह खटकामुख हस्त कहा जाता है।" (ना० शा० ९।६१)।

१. क (टि.) जङ्घास्वस्तिकसंयुक्ता आक्षिप्ता ।
२. क (टि.) आक्षिप्तवक्रा ।

हस्तो हृदि भवेद्वामः सव्यश्चाक्षिप्तरेचितः ।
[1]रेचितश्चापविद्धश्च तत्स्यादाक्षिप्तरेचितम् ॥ ८१ ॥

२०. आक्षिप्तरेचितम् ।

हृदयक्षेत्रे वामः सव्यश्च यो हस्तः स आसमन्तादित्यूर्ध्वं पार्श्वद्वये च व्यावर्तितकरणेन क्षिप्तः स रेचितो हंसपक्षद्रुतभ्रमात्मा । (ना. शा. ९-११३) । तत एक आक्षिप्तः स्ववक्षोदेशमधोमुख आनीतोऽञ्चितश्च रेचितः सन्नपविद्धश्च । गात्रक्षेत्रान्निष्क्रामित इत्याक्षिप्तरेचितं करणम् । पादावत्र प्रयोगानुसारेण अञ्चितसूचीरूपेण । त्यागोपादानपरस्परात्मनि[2] च वाक्यार्थेऽभिनेतव्येऽस्य प्रयोगः । यथा "हण्डे चिसुणइ एइं वइउं वण" इत्यादौ ॥ ८१ ॥

अर्धचन्द्र का लक्षण—

"जिस हाथ की अँगुलियाँ अंगूठे के साथ धनुष की तरह विनत (झुकी हुई) हों, वह हस्त अर्धचन्द्र कहा जाता है।" (ना० शा० ९। ३)।

"ऊपर उठे हुऐ वक्षःस्थल को उद्वाहित समझना चाहिए।" (ना० शा० ९।२३१)।

उसके पार्श्व में भी उद्वाहित समझे। यहाँ पर वैष्णव नामक स्थानक है। उसके सम्बन्ध से यह 'कटिसम' करण कहा जाता है। वैष्णव स्थानक का लक्षण निम्न प्रकार है—

"जहाँ पर दोनों पैरों के बीच में अढ़ाई (२½) ताल का अन्तर (अवकाश) हो, उनमें से एक पैर समुत्थित (स्वाभाविक अवस्था में) हो और दूसरा पैर त्र्यस्र (टेढ़ा, तिरछा) पार्श्व में स्थित हो तथा जंघा थोड़ी झुकी हुई हो और अङ्ग सौष्ठव से युक्त हो तो वैष्णवस्थानक होता है। इसका देवता विष्णु हैं।" (ना० शा० १०।५२-५३)।

इस करण का प्रयोग जर्जर के अभिमन्त्रण के अवसर पर सूत्रधार द्वारा किया जाता है ॥ ८० ॥

२०—आक्षिप्तरेचित

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ हाथ हृदय पर और दाहिना हाथ रेचित तथा आक्षिप्त (ऊपर तथा पार्श्व में फेंका हुआ) हो तथा दोनों हाथ रेचित और अपविद्ध मुद्रा में हो, तो 'आक्षिप्तरेचित' कारण होता है ॥ ८१ ॥

---

१. श्लोकार्धोऽयं कुत्रचिन्नोपलभ्यते ।
२. क. परम्परात्मनि ।

विक्षप्तं हस्तपादं च[1] तस्यैवाक्षेपणं पुनः ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयं विक्षिप्ताक्षिप्तकं द्विजः ।। ८२ ।।

२१. विक्षिप्ताक्षिप्तकम् ।

[2]एकस्य हस्तस्य व्यावर्तनकरणकाले पादस्य बहिर्निष्क्रमणलक्षणो विक्षेपः । द्वितीयहस्तस्तु चतुरश्र एव । पुनः परिवर्तितकरणेन तस्य हस्तपादस्याक्षेपो द्वितीयस्य विक्षेपः । गमनागमनप्रधाने वाक्यार्थे चास्य प्रयोगः ।

यथा—"आवर्तउजंतउ पुणं रगइदम्" इत्यादाविति केचित् ।

उपाध्यायास्त्वाहुः—अभिनयहस्ता ये वक्ष्यन्ते तत्प्रधानस्य करणस्य वाक्यार्थाभिनये प्रयोगः । न तु केवलवर्तनाप्रधानस्य केवलनृत्तहस्तप्रधानस्य वा तस्य तु नृत्ते प्रयोगः प्राधान्येन । अन्ये तु कदाचिदङ्गस्य मोदरक्षणा यथायोगमभिनयान्तराले गतिपरिक्रमतालान्तरसन्धाने युद्धनियुद्धचारीस्थानके सञ्चारे वा प्रयोग इति । एतच्च सर्वत्रानुसरणीयम् ।। ८२ ।।

अभिनव—हृदय प्रदेश पर स्थित जो बायाँ और दाहिना हाथ है उसे चारों ओर अर्थात् ऊपर और दोनों बगल (पार्श्व) में व्यावर्तित करके अर्थात् घुमाकर फेंका गया वह हंसपक्ष मुद्रा में शीघ्र घूमने वाला रेचित होता है । उनमें से एक हाथ आक्षिप्त वक्षःस्थल पर अधोमुख रूप में लाया गया और दूसरा रेचित होता हुआ अपविद्ध होता हैं । शरीर के क्षेत्र से निष्क्रामित (निकाला गया) है, इसलिए यह 'आक्षिप्तरेचित' करण कहलाता है । यहाँ पर दोनों पाद प्रयोग के अभिनय के अनुसार अञ्चित और सूची मुद्रा में रखे जाते हैं, इस करण का विनियोग त्याग एवं उपादान की परम्परा वाले वाक्यार्थाभिनय में होता है । जैसे—"हण्डे चिसुणइ एइं वइउं वण" इत्यादि में ।। ८१ ।।

२१—विक्षिप्ताक्षिप्तक

अनुवाद—विक्षिप्त अर्थात् ऊपर फेंके गये हाथ और पैरों को पुनः उसी का आक्षेपण (नीचे की ओर फेंकना) किया जाय तो हे द्विजों ! उसे 'विक्षिप्ताक्षिप्तक' करण समझना चाहिए ।। ८२ ।।

अभिनव—एक हाथ के व्यावर्त्तन करने के समय पैर का बाहर की ओर निकालना विक्षेप है । किन्तु दूसरा हाथ चतुरस्र ही रहता है । पुनः परिवर्त्तित करने से उस हाथ और पैर का आक्षेपण तथा दूसरे हाथ और पैर का विक्षेपण होता है ।

---

१. ख. ध. हस्तपादं तु ।

२. क. भ. म. एतस्य ।

स्वस्तिकौ चरणौ कृत्वा [1]करिहस्तं च दक्षिणम् ।
वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत् ।। ८३ ।।

२२. अर्धस्वस्तिकम् ।

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं तु दोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ।।
"तिर्यक्प्रसारितौ चैव पार्श्वसंस्थौ लताभिधौ ।"
(ना. शा ६-१९८-१९९)

"कटिहस्तम्" इति केचित्पठन्ति । तत्र व्याख्या कट्यां यो हस्तोऽर्धचन्द्रः [2]पक्षप्रद्योतकवञ्चितकौ वाममिति खटकास्यम् (ना. शा. ९-६१) पादाभ्यामेव स्वस्तिकयोगादर्धस्वस्तिकम् । एतत्करणमभिनयहस्तरहितमेव ।। ८३ ।।

इस करण का विनियोग यातायात (गमन-आगमन) प्रधान वाक्यार्थाभिनय में होता है। जैसे—'आवर्तउजंतउ पुणं रग इदम्' इत्यादि में, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

किन्तु उपाध्याय भट्टतौत कहते हैं—जिन अभिनय हस्तों का आगे निरूपण किया जायगा, उस-उस अभिनय-प्रधान करण के वाक्यार्थाभिनय में इस करण का प्रयोग होता है, न कि केवल वर्तनाप्रधान अथवा केवल नृत्तहस्त-प्रधान करण के अभिनय में। क्योंकि वर्तनाप्रधान और नृत्तहस्तप्रधान करण का तो नृत्त में ही मुख्य रूप से प्रयोग होता है।

अन्य आचार्य तो कहते हैं कि इस नाट्याङ्ग का विनियोग कभी अङ्ग के रक्षण में आवश्यकतानुसार अभिनय के बीच में गतियों के परिक्रमण में, तालों के अनुसन्धान में, युद्ध-नियुद्ध, चारी, स्थानक के सञ्चार में होता है। इसी का सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए ॥ ८२ ॥

२२—अर्धस्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैरों को 'स्वस्तिक' मुद्रा में करके और दाहिने हाथ को 'करिहस्त' मुद्रा में तथा बायें हाथ को वक्षःस्थल पर स्थित हो वहाँ 'अर्धस्वस्तिक' करण होता है ।। ८३ ।।

अभिनव—नाट्यशास्त्र में करिहस्त का लक्षण निम्नप्रकार है—

"जब ऊपर उठा हुआ (समुन्नत) एक लताहस्त एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में दौलायमान हो और दूसरा त्रिपताक हस्त कान के ऊपर स्थित हो तो उसे 'करिहस्त' कहते हैं।" (ना० शा० ९।२००)।

१. क-त. म. कटिहस्तं ।
२. क-म. भ. वक्षः प्रद्योतकस्त्वञ्चितकोपमिति । खटकारव्यम् ।

[1]व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ।
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ।। ८४ ।।

---

२३. अञ्चितम् ।

स एवेति योऽर्धस्वस्तिककरणे करिहस्त उक्तः स एवं व्यावर्तितकरणेन यदा नासाक्षेत्रे अलपल्लवाकृतित्वावञ्चितोदञ्चितसारणानुकारि तदञ्चितम् । एतस्य संमुखीनात्मविषये स्वातिशयकौतुकप्रधाने वाक्यार्थे प्रयोगः । यथा— 'एवउवेम्मकुहेउको' इति ।। ८४ ।।

"दोनों पार्श्वों में अर्थात् अगल-बगल में तिरछे फैलाये हुए हाथों को 'लताहस्त' कहते हैं।" (ना० शा० ९।१९९) ।

कुछ विद्वान् यहाँ 'करिहस्त' के स्थान पर 'कटिहस्त' पाठ मानते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं कि जो हाथ अर्धचन्द्र मुद्रा में कटि पर स्थित हो उसे 'कटि-हस्त' कहते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि पक्षप्रद्योतक और पक्षवञ्चितक मुद्रा में अर्धचन्द्र हस्त को कटि पर रखना चाहिए। 'वामम्' पद से खटकामुख का ग्रहण होता है। केवल पैरों से ही स्वस्तिक का योग होने से यह 'अर्धस्वस्तिक' कहलाता है। इसमें हस्ताभिनय का प्रयोग नहीं होता। यह करण अभिनय में स्वस्तिकहस्त से रहित होता है ।। ८३ ।।

२३—अञ्चित

अनुवाद—यदि करिहस्त मुद्रा वाले हाथ को क्रमशः व्यावृत्त (घुमाकर) और परिवृत्त (परिवर्त्तन) करण द्वारा नासिका के अग्रभाग पर अञ्चित (झुका हुआ) कर दिया जाय तो 'अञ्चित' करण होता है ।। ८४ ।।

अभिनव—वही अर्थात् अर्धस्वस्तिक करण में जो करिहस्त कहा गया है वही व्यावर्त्तित करण के द्वारा जब नासिका के क्षेत्र में अलपल्लव की आकृति में अञ्चित करते हैं तो उसे 'अञ्चित' करण कहते हैं। भाव यह कि इस करण में हाथों का सञ्चालन व्यावृत तथा परिवर्त्तित गति से होता है और अन्त में एक हाथ नासिका के सामने अलपल्लव हस्त के रूप में अञ्चित रहता है। इस करण का प्रयोग सामने अपने विषय में और अतिशय कौतुक प्रधान वाक्यार्थाभिनय में होता है। जैसे— 'एवउवेम्मकुट्ठे उको' इत्यादि में ।। ८४ ।।

---

१. क-प. म. व्यावृत्तपरिवृत्तं तु ।

कुञ्चितं [1]पादमुत्क्षिप्य [2]त्र्यश्रमूरुं विवर्तयेत् ।
कटिजानुविवर्ताच्च[3] भुजङ्गत्रासितं भवेत् ।। ८५ ।।

२४. भुजङ्गत्रासितम् ।

नृत्तस्यानादिसिद्धत्वात्करणमिदमुक्तरूपमाशङ्कितदृष्टनिकटतः सर्पत्रासाविष्टस्येव गतिसंवर्ते भुजङ्गत्रासितं करणम् । हस्तौ तु पादवशाद्व्यावर्तितपरिवर्तितौ भवतः । क्रमेणैको दोलाहस्तः (ना. शा. ९-१४१) परः खटकास्य इति करणम् । एतत्सादृश्यात्तु भुजङ्गत्रासितचारी (ना. शा. १०-४२) वक्ष्यते । एवं करणतुल्यं नाम सर्वचारीषु वाच्यम् ।। ८५ ।।

२४–भुजङ्गत्रासित

अनुवाद–जहाँ पर कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर जंघा को त्र्यस्र (त्रिकोण) चेष्टा में विवर्त्तित करे (घुमाए) तथा कटि और जानु को भी उसी प्रकार विवर्त्तित करे तो 'भुजङ्गत्रासित' करण होता है ।। ८५ ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार नृत्त के अनादि काल से सिद्ध होने के कारण यह करण उक्त प्रकार से निकट (पास) से देखे गये सर्प के भय से आविष्ट (भयभीत) व्यक्ति के समान आशङ्कित गति के अवरोध में होता है, इसलिए इसे 'भुजङ्गत्रासित' करण कहते हैं । इस कर में दोनों पैर हाथ की गति के अनुसार व्यावर्त्तित और परिवर्त्तित होते हैं । उनमें क्रमशः एक हाथ दोलाहस्त मुद्रा में (ना० शा० ९।१४८) और दूसरा खटकामुख हस्तमुद्रा में होता है । इसी के सादृश्य के कारण 'भुजङ्गत्रासिता' चारी भी कहेंगे अर्थात् इसी प्रकार के हाथ और पैरों के प्रयोग की समानता के कारण भुजङ्गत्रासिता चारी का निरूपण भी करेंगे । (ना० शा० १०।४२) ।

इसी प्रकार करणों के नाम के अनुसार सभी चारियों के नाम भी कहने चाहिए ।। ८५ ।।

विमर्श—संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय के अनुसार इस करण में भुजङ्गत्रासिता चारी की रचना कर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर उरू (जंघा), कटि और जानु त्रिकोण (तिरछा) में घुमाये फिर हाथों को पैरों की गति के अनुसार व्यावृत्त और परिवृत्त करे और एक हाथ को दोलहस्तमुद्रा में तथा दूसरे को खटकामुख मुद्रा में रखना चाहिए ।। ८५ ।।

---

१. क-न. म. पादमुद्दिश्य ।
२. ख. त्र्यस्रमूरू विवर्तयेत् । घ. ऊरूं निवर्तयेत् ।
३. ख. कटिजानु विवृत्तं च । ग. कटिजानु विवर्तौ च । घ. कटिजानू निवृत्तौ च ।

कुञ्चितं [1]पादमुत्क्षिप्य [2]जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावूर्ध्वजानु प्रकीर्तितम्[3] ॥ ८६ ॥
[4]वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु[5] निकुञ्चितम् ॥ ८७ ॥

---

२५. ऊर्ध्वजानु ।

"उत्क्षिप्ता यस्य पार्ष्णिः स्यादङ्गुल्यः कुञ्चितास्तथा ।
तथा कुञ्चितमध्यश्च स पादः परिकुञ्चितः ॥" (ना. शा. ९-२७७)
ऊर्ध्वजानु एवं भविष्यति—कुञ्चितसमकालं स एव हस्त एव कुञ्चितस्तन-समजानूपरि वोर्ध्वमुखोऽलपल्लवोऽरालो वा । तत्रापरस्तु वक्षःस्थखटकामुखः । ॥ ८६ ॥

२५—ऊर्ध्वजानु

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर और जानु को स्तन के समकक्ष (बराबर) रखे तथा हाथों को नृत्य के प्रयोग के अनुसार रखा जाय तो वहाँ 'ऊर्ध्वजानु' करण होता है ॥ ८६ ॥

अभिनव—"जिसकी एड़ी उठी हुई हो और अंगुलियाँ कुञ्चित (सिकुड़ी हुई) हों तथा मध्य भाग आकुञ्चित हो, तो उसे 'परिकुञ्चित' पाद (पैर) कहते हैं। (ना० शा० ९।२७८) ।

ऊर्ध्वजानु इस प्रकार होगा—पैर को कुञ्चित करने के समय में ही एक हाथ को भी कुञ्चित कर स्तन के सामने या जानु के ऊपर अलपल्लव अथवा अराल मुद्रा में ऊर्ध्वमुख रखे और दूसरे हाथ को खटकामुख मुद्रा में वक्षःस्थल पर रखे। यह ऊर्ध्वजानु करण होगा ॥ ८६ ॥

२६. निकुञ्चित

अनुवाद—यदि वृश्चिक करण में पैरों को रखकर (बाँये) हाथ को पार्श्व में निकुञ्चित करे (झुका दे) और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर निकुञ्चित करे तो 'निकुञ्चित' करण होता है ॥ ८७ ॥

---

१. क-म. पादमुद्दिश्य ।
२. ख जानुमूर्ध्वं प्रसारयेत् । घ. जानुहस्तं समं न्यसेत् । क-म. भ. जानुना च समं भवेत् ।
३. क-ठ. हस्तावूर्ध्वजानुः प्रकीर्त्तितः ।
४. ख. घ. करणं वृश्चिकं कृत्वा । क-ग. चरणं वृश्चिकं कृत्वा ।
५. ख घ. तद्धि निकुञ्चितम् । क-ठ. तद्धि निकुञ्चनम् ।

वामदक्षिणपादाभ्यां [1]घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्त[2]ल्ल्युदाहृतम् ॥ ८८ ॥

२६. निकुञ्चितम् ।

वृश्चिकाख्ये करणे यः पादो वक्ष्यते "पादः पृष्ठाञ्चिनस्तथा" इति (ना. शा. ४-१०८) स वृश्चिकशब्देनेहोच्यते । तेन पाश्चात्प्रसारितं चरणं कृत्वा तदेकं च हस्तं शिरःपार्श्वक्षेत्रेऽरालं द्वितीयं च नासाग्रक्षेत्रानुसारि वक्षस्यरालमेव कुर्यात् । अन्ये त्वाहुः—नासाग्रे एकः पताकः अन्यश्च सूच्यास्य इति । एतच्चाकाशगमनोन्मुखवितर्कप्रणिधानादिप्रधानवाक्यार्थाभिनये । यथा हनुमतः 'एषोऽस्मि व्योममार्गे प्रसभमभिचरन्किं विलम्बैः' । इत्यादौ ॥ ८७ ॥

अभिनव—वृश्चिक नामक करण में जिस पाद को कहेंगे (पादः पृष्ठाञ्चित-स्तथा–ना० शा० ४।१०८) वह पाद यहाँ वृश्चिक शब्द से कहा गया है। इसलिए पैर को पीछे की ओर प्रसारित करके एक हाथ को शिर पार्श्वभाग में ले जाकर अराल मुद्रा में और दूसरे हाथ को नासिका के अग्रभाग में ले जाकर वक्षःस्थल पर अराल मुद्रा में रखते हैं ।

दूसरे व्याख्याकार तो कहते हैं कि—एक हाथ नासिका के अग्रभाग पर पताक-मुद्रा में और दूसरे हाथ को सूचीमुख मुद्रा में रखना चाहिए ।

इस करण का विनियोग आकाशगमन, उन्मुख होकर तर्क करने तथा प्रणिधान आदि प्रधान वाक्यार्थाभिनय में होता है। जैसे—हनुमान् जी की उक्ति में—"यह मैं आकाश में तीव्र गति से चल रहा हूँ अब बिलम्ब की क्या आवश्यकता है" इत्यादि में ॥ ८७ ॥

२७. मत्तल्लि

अनुवाद– जहाँ पर बायें और दाहिने पैरों के द्वारा घूर्णन अर्थात गोल चक्कर और उपसर्पण के साथ उद्वेष्टित और अपवेष्टित हाथों से नृत्य (अभिनय) किया जाता है । उसे 'मत्तल्लि' करण कहते हैं ॥ ८८ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि इस करण में चारी भी इसी प्रकार मत्तल्लि नाम की होगी (ना० शा० १०।२८)। घूर्णन अर्थात् चक्राकार घूमने वाले पैरों के जो उपसर्पण होंगे उन्हीं से उपलक्षित पैरों से अभिनय होगा। घूर्णन का अर्थ है–एक पैर का दूसरे पैर के गुल्फ के पास स्वस्तिक मुद्रा में अपसर्पण करना। उस समय दोनों हाथ नितम्ब मुद्रा में उद्वेष्टित होते है और उपसर्पण काल में आवेष्टित

१. ख. क-प. म. पूर्णमानोपसर्पणै। ।
२. घ. मल्ली ।

[1]स्खलितापसृतौ पादौ वामहस्तश्च रेचितः ।
सव्यहस्तः कटिस्थः स्यादर्धमत्तल्लि तत्स्मृतम्[2] ॥ ८९ ॥

२७. मतल्लि ।

चार्यप्येवंरूपैव(ना. शा. १०-२८) भविष्यति । घूर्णमानस्य ततो यान्युपसर्पणानि पादस्य तैरुपलक्षिताभ्यां पादाभ्याम् । घूर्णनं च पादस्य द्वितीयपादगुल्फस्वस्तिकोपसर्पणम् । तत्समकालं च हस्तौ नितम्बाख्यावुद्वेष्टितौ तदोपसर्पणकालेऽपविद्धोपवेष्टने[3] एवं द्वितीयेनाङ्गेन । बहुवचनं पुनः पुनरित्थं क्रियेति सूचयति । मदनं मत्तं तनोतीति मत्तल्लि मदोत्कलस्य वीप्सायोगेन करणेन । तन्मत्तल्लित्रये विक्षेपः । मत्तशेखरकादिविषयोऽस्याः प्रयोगः ॥ ८८ ॥

२८. अर्धमत्तल्लि ।

वामः रेचितो हंसपक्षो द्रुतभ्रमः । स्खलित इति पादः । कट्यां द्वितीयः हस्तः । तरुणमदविषयः प्रयोगः ॥ ८९ ॥

होते हैं और उपसर्पणकाल में आवेष्टित होते हैं। इस प्रकार दूसरे अङ्ग में भी। यह क्रम बार-बार होता है। यहाँ पर 'उपसर्पणानि' में बहुवचन पद से यह सूचित होता है कि इस प्रकार यह क्रिया बार-बार करनी चाहिए।

मत्तल्लि शब्द का अर्थ है—'मत्तं मदनं तनोति विस्तारयतीति मत्तल्लिः'। अर्थात् जो मदन का विस्तार करता है उसे 'मत्तल्लि' करण कहते हैं। किन्तु इस व्युत्पत्ति की अपेक्षा 'मत्तं मदनं लीनाति इति मत्तल्लिः' अर्थात् जो मदन को द्रुत करता है; यह व्युत्पत्ति अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। इस प्रकार मत्तल्लित्रय में इसका विक्षेप (व्यपदेश) है। इस करण का प्रयोग शेखरक सदृश मदमत्त पात्र के अभिनय में होता है ॥ ८८ ॥

२८. अर्धमत्तल्लि

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर स्खलित करण में (फिसलन की दशा में) हटा लिए जाते हैं और बायाँ हाथ रेचित मुद्रा में होता है और दाहिना हाथ कटि पर स्थित होता है वहाँ 'अर्धमत्तल्लि' करण होता है ॥ ८९ ॥

अभिनव—इस करण में बायाँ हाथ रेचित होता है अर्थात् हंसपक्ष हस्त का द्रुतगति से संचालन होता है। पाद स्खलित होता है। दाहिना हाथ कटि पर होता है। इस करण का प्रयोग तरुण मद के अभिनय में होता है ॥ ८९ ॥

१. क-न. म. स्खलितापसर्पितौ ।
२. ख-घ. स्यादर्धमत्तल्लिमादिशेत् ।
३. क. तदोप सर्पणकालेऽपविद्धावपचेष्टितौ ।

[1]रेचितो दक्षिणो हस्तः पादः सव्यो निकुट्टितः ।
दोला चैव भवेद्वामस्तद्रेचितनिकुट्टितम्[2] ॥ ९० ॥

२९. रेचितनिकुट्टितम् ।

सव्य इति दक्षिण एव । निकुट्टित इत्युद्घट्टितक्रियया ।
"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ।"
यस्य पादस्य करणे भवेदुद्घट्टितस्तु सः (ना० शा० ९-२६७)
"अंसौ प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ ।
यदा भवेतां करणे स दोल इति संज्ञितः ॥" (ना० शा० ९-१४८)
स्त्रीलिङ्गयोगेन दोलाहस्तस्य प्रेङ्खोलितं यद्वर्तनया गमनागमने सूचयति ॥९०॥

२९—रेचितनिकुट्टक

अनुवाद—जहाँ पर दाहिना हाथ रेचित मुद्रा में और दाहिने पैर को निकुट्टित तथा बायें हाथ को दोलाकार मुद्रा में रखा जायतो वहाँ 'रेचित-निकुट्टक' नामक करण होता है ॥ ९० ॥

अभिनव—यहाँ 'सव्य' पद से 'दाहिना' अभिप्रेत है । 'निकुट्टित' पद का अभिप्राय उद्घट्टित क्रिया से है ।

"जहाँ पर पादतल के अग्रभाग से स्थित होकर अर्थात् पञ्जे के बल खड़ा होकर एड़ी को भूमि पर गिराया जाता है उसे उद्घट्टित कहा जाता है ।" (ना० शा० ९।२६७) ।

दोला का लक्षण—

"यदि दोनों कन्धे शिथिल हों, और दोनों पताकहस्त मुक्त एवं लम्बित (लम्बायमान) हो तो 'दोल' नामक हस्तमुद्रा होती है ।" (ना० शा० ९।१४८) ।

इसी में स्त्रीलिङ्ग का योग होने से 'दोलाहस्त' कहा जाता है । इस दोलाहस्त का हिलाना या झुलाना वर्तना चारी के द्वारा गमनागमन को सूचित करता है ॥ ९० ॥

विमर्शः—रेचित निकुट्टक करण में दाहिना हाथ हंसपक्ष चेष्टा में संचालित होता है और दाहिने पैर के अग्रभाग पर अर्थात् पञ्जे पर खड़ा होकर एड़ी को भूमि पर गिराते हैं । तथा दोल हस्तमुद्रा में कन्धे को शिथिलकर दोनों पताकहस्तों को नीचे लटका दिया जाता है । इसमें जानु और उरु को निकुञ्चित करने के लिए झुकाया जाता है ॥ ९० ॥

---

१. क-म. कुञ्चितो
२. ख-घ. रेचकनिकुट्टितम् । क-प. भ. रेचितनिकुट्टनम् । क-त. रेचकनिकुट्टकम् ।

कार्यौ नाभितटे हस्तौ प्राङ्मुखौ [1]खटकामुखौ ।
सूचीविद्धावपक्रान्तौ पादौ पादापविद्धके[2] ॥ ९१ ॥

---

३०. पादापविद्धकम् ।

नाभिक्षेत्रे पराङ्मुखौ । सूच्याख्येन पादेन द्वितीयं पादं विद्धं विधाय स एव सूचीपादोऽपक्रान्तचारीयुक्तः कार्यः । एवं द्वितीयोऽपि ।

"उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ।"
वामश्चैव स्वभावस्थः सूचीपादः प्रकीर्त्तितः ।
(ना० शा० ९।२७९)

"ऊरुभ्यां वलनं कृत्वा" इत्यपक्रान्ता । (ना० शा० १०।३१) पादात् पादान्तरमपविद्धमपसारितं यत्र तदिदं करणम् ॥ ९१ ॥

३०—पादापविद्ध

अनुवाद—यदि खटकामुख हाथों को प्राङ्मुख कर नाभिप्रदेश में रखा जाय और दोनों पैरों को सूचीविद्ध तथा अपक्रान्ता चारी में रखा जाय तो 'पादापविद्ध' नामक करण होता है ॥ ९१ ॥

अभिनव—नाभिप्रदेश में पराङ्मुख अर्थात् नाभिप्रदेश में दोनों हाथों को पराङ्मुख रखे । सूचीमुख नामक पाद (पैर) से द्वितीय पैर को विद्ध करके उसी सूचीपाद को अपक्रान्ता चारी से युक्त कर देना चाहिए । इसी प्रकार द्वितीय को भी करना चाहिए ।

सूचीपाद का लक्षण—

"जहाँ पर दाहिने पैर की एड़ी उठी हुई हो और अंगूठे के अग्रभाग से खड़ा होना हो तथा बायाँ पैर अपने स्वाभाविक स्थिति में हो तो सूचीपाद कहा जाता है ।"
(ना० शा० ९।२७८) ।

"उरुओं के वलन कर देने से अपक्रान्ता चारी होती है ।"
(ना० शा० १०।३१) ।

एक पैर से दूसरे पैर का जहाँ अपसारण होता है वहाँ पर यह करण होता है ॥ ९१ ॥

---

१. ख-घ. कटकामुखौ ।
२. ख. पादापविद्धकौ ।

अपविद्धो भवेद्धस्तः सूचीपादस्तथैव च ।
तथा त्रिकं विवृत्तं च वलितं नाम तद्भवेत् ॥ ९२ ॥

वर्तिताघूर्णितः[1] सव्यो हस्तो वामश्च दोलितः ।
स्वस्तिकापसृतः पादः करणं घूर्णितं तु तत् ॥ ९३ ॥

३१. वलितम् ।

"हस्तौ तु सर्पशिरसौ" (ना० शा० ९।१९१) इति सूचीमुखो हस्तः । स देहक्षेत्रादपसृतः कार्यः । तत्समकालं सूचीपादोऽप्यपसृतः । ततो भ्रमरिकां चारीं कृत्वा—

"अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन भ्रमरी स्मृता ॥" (ना० शा० १०।४८)

तदिदं त्रिकवलनाद्वलितम् ॥ ९२ ॥

३१—वलित

अनुवाद—जहाँ पर हाथ अपविद्ध हो और पैर सूची चारी की स्थिति में हो तथा त्रिक (कूल्हे के पास की हड्डी) का वलन (विवर्त्तन) हो वहाँ 'वलित' नामक करण होता है ॥ ९२ ॥

अभिनव—'दो सर्पशीर्ष हस्तों के मध्यस्थ अंगुलि को यदि तिरछा फैला दे तो सूचीमुख हस्त होता है।" (ना० शा० ९।१९१) । इसी सूचीमुख हाथ को शरीर के क्षेत्र से अपसृत कर देना चाहिए अर्थात् बाहर की ओर हटा देना चाहिए । उसी समय सूचीपाद को भी अपसृत कर देना चाहिए । इसके बाद भ्रमरी चारी का प्रयोग करना चाहिए । भ्रमरी चारी का लक्षण निम्न प्रकार है—

"अतिक्रान्ता चारी की क्रिया करके त्रिक का परिवर्तन करे । इस क्रम (प्रक्रिया) में द्वितीय पाद के तलुवे के भ्रमण से भ्रमरी चारी मानी गई है।" (ना० शा० १०।४५) ।

इस प्रकार त्रिक का वलन होने से यह 'वलित' नामक करण होता है ॥ ९२ ॥

३२—घूर्णित

अनुवाद—जहाँ पर दाहिना हाथ वर्त्तित (मुड़ा हुआ) और घूर्णित (चक्कर काटता हुआ) हो तथा बायाँ हाथ दोलित (झूलता हुआ) हो और पर स्वस्तिक मुद्रा में अपसृत हो तो वह 'घूर्णित' करण होता है ॥ ९३ ॥

---

१. ख-घ. वर्तितो घूर्णितः ।

करिहस्तो भवेद्वामो दक्षिणश्च विर्वर्तितः[1] ।
बहुशः [2]कुट्टितः पादो ज्ञेयं तल्ललितं बुधैः ॥ ९४ ॥

---

३२. घूर्णितम् ।

पार्श्वक्षेत्रादूर्ध्वव्यावर्तितेनाधोमुखपरिवर्तितेन यदा दोलाहस्तत्वाद्-घूर्णितम् ॥ ९३ ॥

३३. ललितम् ।

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वविलोलितः ।
(ना० शा० ९।१९९)

इत्ययं वामः । दक्षिणं विविधं कृत्वा बहुशो वर्तितः ।
"बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ नितम्बौ ।" (ना० शा० ९।१९६)

"केशदेशाद्विनिष्क्रान्तौ परिपार्श्वोत्थितौ तथा ।
विज्ञेयौ केशबन्धौ ॥" (ना० शा० ९।१९७)

इत्येवंप्रकारनृत्तहस्तयोजनया वर्तितः । चकाराद्वर्तनान्ते "त्रिपताकोऽपरः कर्णे" (ना० शा० ९।१९९) इति करिहस्तः । पादश्च हस्तानुसारेण निकुट्टितः पुनः पुनरन्येनाङ्गेन । तदिति सविलासनृत्तविषयमेतत् । अत एव ललितं नाम करणम् ॥ ९४ ॥

अभिनव—हाथ को पार्श्वभाग से ऊपर की ओर व्यावर्त्तन तथा नीचे की ओर परिवर्तन करके यदि दोलाहस्त बना दिया जाय तो घूर्णित' नामक करण होता है ॥ ९३ ॥

३३—ललित

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ हाथ करिहस्त मुद्रा में और दाहिना हाथ विर्वात्तत (मुड़ा हुआ) हो तथा पैर को बार-बार निकुट्टित करे तो विद्वानों को उसे 'ललित' करण समझना चाहिए ॥ ९४ ॥

अभिनव—"समुन्नत किये हुए लताहस्त को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक विलोलित करना" यह वामहस्त विषयक क्रिया है। दाहिने हाथ को विविध प्रकार से बार-बार विर्वात्तत करे।

"बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे से हाथों को बाहर निकालकर ले जाना नितम्बहस्त कहा जाता है।" (ना. शा. ९।१९७) ।

---

१. ग. अपवर्तितः ।

२. क-न. कुञ्चितः

[1]ऊर्ध्वजानुं विधायाथ तस्योपरि लतां न्यसेत् ।
दण्डपक्षं तु तत्प्रोक्तं करणं नृत्तवेदिभिः ॥ ९५ ॥
भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ ।
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ॥ ९६ ॥

३४. दण्डपक्षम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत्" (ना० शा० १०।३३) इति ऊर्ध्व जानुचारीं कुर्वन् "तिर्यक्प्रसारितौ" (ना० शा० ९।१९८) इति लताहस्तौ विधायैकं लताहस्तं तस्य जानुन उपरि क्षिपेत् । पुनर्द्वितीये-नाङ्गेनैवमित्येकत्र पार्श्वे दण्डवद्बाहुसमवस्थानाद्दण्डपक्षं करणम् ॥ ९५ ॥

"यदि पताकहस्त को केशप्रदेश से बाहर निकालकर पार्श्व में ऊपर उठाया जाय तो 'केशबन्ध' हस्त होता है।" (ना. शा. ९।१९८)।

इस प्रकार नृत्तहस्त की योजना के द्वारा वर्त्तना होती है। चकार से वर्तना के अन्त में 'कान के पास ऊपर त्रिपताकहस्त' (ना. शा. ९।२००) नामक करिहस्त का प्रयोग करे और पैर को हस्त के अनुसार बार-बार अन्य अङ्गों से निकुट्टित करे। इस प्रकार यह सविलास नृत्तविषयक है, इसलिए इसे ललित करण कहते हैं ॥ ९४ ॥

३४—दण्डपक्ष

अनुवाद—जहाँ पर ऊर्ध्वजानु चारी का विधान करके उसके ऊपर लताहस्त को रखे तो उसे नाट्यवेत्ता 'दण्डपक्ष' नामक करण कहते हैं ॥ ९५ ॥

अभिनव—"कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु को स्तन के समान कक्षा (समकक्ष) में रखे" (ना. शा. १०।३३) इस प्रकार ऊर्ध्वजानु चारी का विधान करता हुआ [तिरछे फैलाये हुए पार्श्व में संस्थित करों को लताहस्त कहते हैं (ना. शा. ९।१९९)] इस प्रकार लताहस्त का अभिनय करके एक लताहस्त को जानु के ऊपर प्रक्षिप्त करे। फिर दूसरे अङ्ग से इसो प्रकार पार्श्व में बाहु को दण्ड के समान समवस्थित करे। इस प्रकार बाहु को दण्ड के समान समवस्थित करने के कारण इसे 'दण्डपक्ष' करण कहा जाता है ॥ ९५ ॥

३५—भुजङ्गत्रस्तरेचित

अनुवाद—जहाँ पर भुजङ्गत्रासित चारी का प्रयोग करके रेचित किये हुए दोनों हाथों को वामपार्श्व में रखा जाय, उसे 'भुजङ्गत्रस्तरेचित' नामक करण कहा जाता है ॥ ९६ ॥

१. ग. ऊर्ध्वजानु विधायातः । ख. ऊर्ध्वं जानु विधायाथ । घ. ऊर्ध्वजानु विधायाथ ।

त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ।
[1]नूपुरश्च तथा पादः करणे नूपुरे न्यसेत्[2] ॥ ९७ ॥

---

३५. भुजङ्गत्रस्तरेचितम्।

तदित्यध्याहारः।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्तयेत्।" (ना शा. १०।४२)

इति विधाय द्वावपि हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ (ना. शा. ९।१९३) वामक्षेत्रगौ हस्तौ नेयौ ॥ ९६ ॥

३६. नूपुरम्।

पृष्ठतोऽभ्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु।
द्रुतं निपातयेद् भूमौ चारी नूपुरपादिका ॥" (ना. शा. १०-३५)

तेन भ्रमरिकया चार्या (ना. शा. १०।४५) त्रिकवलनं कृत्वा ततो नूपुरपादिकां चारीं येन पादेन करोति तद्दिक्केनैव हस्तेन रेचितम्। द्वितीयो लताहस्तः ॥ ९७ ॥

अभिनव—'यहाँ पर तत्' पद का अध्याहार होता है।

"कुञ्चित किये हुए पाद (पैर) को ऊपर उठाकर उरू (जंघा) को तिरछा विवर्त्तित करे" (ना. शा. १०।४२)।

इस विधि को करके हंसपक्ष हस्तों को तेजी से घुमाकर वामप्रदेश में ले जाना चाहिए ॥ ९६ ॥

३६—नूपुर

अनुवाद—जहाँ त्रिक को सुन्दर रीति से वलित करके (घुमाकर) हाथों को लता और रेचित हस्तमुद्राओं में करे तथा पैर को नूपुर चारी में न्यस्त करे तो वह 'नूपुर' करण कहलाता है ॥ ९७ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में 'नूपुरपादिका' चारी का लक्षण निम्नप्रकार किया गया है—

"अग्रतलसंचर पाद को पीछे की ओर से अञ्चित करके शीघ्र ही भूमि पर गिरा दिया जाय तो 'नूपुरपादिका' चारी होती है।" (ना. शा. १०।३५)।

इसलिए भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक (रीढ़) का बलन (घुमाव) करके तब जिस पैर से नूपुरपादिका चारी की जाती है उसी ओर के हाथ को रेचित करे और दूसरे हाथ को लताहस्त मुद्रा में रखे ॥ ९७ ॥

---

१. ख-ग. घ. नूपुरं च तथा पादं। क-प. नूपुरश्च तदा पादः।

२. क-त. करणं नूपुरं तु तत्। क-प. करणं नूपुरं मतम्।

रेचितौ हस्तपादौ च कटी [1]ग्रीवा च रेचिता ।
वैशाखस्थानकमेतद्भवेद्वैशाखरेचितम् ॥ ९८ ॥

---

३७. वैशाखरेचितम् ।

रेचितौ नृत्तहस्तौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमाविति । तदनुकारेण पादग्रीवाकटिगतं रेचितं ज्ञेयम् । यथोक्तं राहुलकेन—

"ग्रीवायां करयोः कट्यां पादयोश्च पृथक्पृथक् ।
भ्रमणं रेचितं विद्यात् ।" इति ।
"[2]तालास्त्रयोऽर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
[3]तालांस्त्रीनर्धतालं च निषण्णोरु प्रकल्पयेत् ॥
त्र्यश्रौ [4]वक्षःस्थितौ पादौ ॥" (ना. शा. १०/६१-६२)

वैशाखं [5]स्थानम् । एतत्करणमभिवाहने ॥ ९८ ॥

वैशाखरेचित

अनुवाद—जहाँ पर हाथ पैर को रेचित करे और इसी प्रकार कटि और ग्रीवा को भी रेचित करे तथा वैशाख स्थान का प्रयोग करे तो 'वैशाखरेचित' नामक करण होता है ॥ ९८ ॥

अभिनव—हंसपक्ष हाथों को शीघ्रता से घुमाने से रेचित नामक नृत्तहस्त होता है । उसके अनुकरण से पाद, ग्रीवा तथा कटि में भी रेचित समझना चाहिए । जैसा कि राहुलक ने कहा—

"ग्रीवा में, कटि में, दोनो हाथों और दोनों पैरों में अलग-अलग भ्रमण (घुमाव) को रेचित समझना चाहिए ।"

वैशाखस्थानक का लक्षण है—

"पैरों के बीच का अवकाश (अन्तर) साढ़े तीन ताल (३½ ताल) होना चाहिए और इसी प्रकार साढ़े तीन (३½) ताल के अन्तराल पर उरुओं की स्थिति (विश्रान्ति) की कल्पना होती है ।" इसमें दोनो पैर त्र्यस्र और वक्ष पर स्थित होते हैं । (ना. शा. १० / ६१–६२) ।

यह वैशाख स्थानक है । इस करण का विनियोग अभिवाहन में होता ॥ ९८ ॥

---

१. ख-घ. कटिग्रीवौ च रेचितौ । क-त. कटिग्रीवं रेचितम् ।
२. क-भ. तालत्रयोऽर्धतालश्च ।
३. क-म. तालत्रयोऽर्धतालश्च ।
४. क. वक्षस्थितौ ।
५. क- म. वैशाखंश्चाभिवाहने । क-भ. वैशाखेच्छादिवाहने ।

[1]आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ।
त्रिकस्य वलनाच्चैव[2] ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत् ।। ९९ ।।

---

३८. भ्रमरकम् ।

अनेन पादेनाक्षिप्ता चारी सूचिता ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य व्याक्षिप्य त्वञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घास्वस्तिकसंयुक्तमाक्षिप्ता नाम सा स्मृता ॥"
(ना. शा. १०/३७)

तेनैवं योजना—स्वस्तिकानन्तरं पादमाक्षिप्य तत्समकालमुद्वेष्टय "तर्जन्याद्या बहिर्मुलम्" (ना. शा. ९-२१६) इत्युद्वेष्टितमेकं हस्तं कृत्वा त्रिकवलनं कृत्वा पुनर्द्वितीयेनाङ्गेन तथैव । चकारात्तद्वलनानन्तरं स्वस्तिक एव पादः । एकवचनद्विवचनाभ्यां पर्यायेण प्रयोगोऽत्र सूचितः । यदि वोद्वेष्टितशब्देनोल्बणौ नृत्तहस्तावुपलक्षितौ ।

"करावुद्वेष्टिताग्रौ तु प्रविधायालपल्लवौ ।
ऊर्ध्वं प्रसारिताविद्धौ कर्तव्यावुल्वणौ ॥ इति (ना. शा. ९।२०८)

तदा युगपदेव प्रयोगे कृत्वा पादस्वस्तिकभ्रमणाद्देहस्य साक्षात्कृतः । सञ्ज्ञायां कन् । एतदुद्धतपरिभ्रमणविषये प्रयोक्तव्यम् ।। ९९ ।।

३८—भ्रमरक

अनुवाद—जहाँ पर पाद (पैर) आक्षिप्त चारी से युक्त होकर स्वस्तिक मुद्रा में स्थित हो और दोनो हाथ उद्वेष्टित हों तथा त्रिक का वलन (घुमाव) किया जाय वहाँ 'भ्रमरक" नामक करण होता है ॥ ९९ ॥

अभिनव—इस पैर से आक्षिप्ता चारी की सूचना मिलती है। आक्षिप्ता चारी का लक्षण निम्नप्रकार हैं—

"यदि कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर फिर नीचे करके अञ्चित अवस्था में रखे और जंघा को स्वस्तिक मुद्रा से युक्त करे तो 'आक्षिप्ता' चारी होती है।"
(ना. शा. १०।३७)।

योजना इस प्रकार है—इस करण में स्वस्तिक रचना के बाद पैर का आक्षेप करके उसी समय उद्वेष्टित मुद्रा में "तर्जनी आदि अंगुलियों से बहिर्मुख" (ना. शा. ९।२१६) इस प्रकार एक हाथ को उद्वेष्टित करके त्रिक का वलन करे फिर द्वितीय अङ्ग से भी उसी प्रकार करे। चकार से त्रिक के वलन के पश्चात् स्वस्तिक मुद्रा करे। 'स्वस्तिकः पादः' में एकवचन और 'करौ चोद्वेष्टितौ' में द्विवचन के प्रयोग से

---

१. ख-ख. दोलितो वाभकः पादः
२. ग. वलनं चैव ।

अश्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव तु[1] ।
दक्षिणः कुट्टितः पादश्चतुरं तत्प्रकीर्तितम् ॥ १०० ॥

---

३९. चतुरम् ।

अञ्चित इत्यलपल्लवः (ना. शा. ९।९१)

"तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां मध्ये तथाङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः ॥" (९-९३)

एवकारेण वक्षःक्षेत्राद् द्वयोरप्यलम् । तु शब्देन सन्निवेशाधिक्यं केवलमिति सूच्यते । कुट्टित इति ।

"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ।" (ना. शा. ९।२६६)

इत्युद्घट्टिताङ्गरूपः[2] । एतद्विदूषकस्य सविस्मयसूच्याभिनयादौ । यथा—
"सानुरे खण्डदासवर्यमिसासा ॥ १०० ॥

यह सूचित होता है कि क्रम से इनका प्रयोग करना चाहिए अथवा उद्वेष्टित शब्द से यहाँ उल्वण नृत्तहस्त उपलक्षित है । उल्वण का लक्षण निम्न प्रकार है—

"दोनो हाथों को अग्रभाग से उद्वेष्टित करके फिर अलपल्लव मुद्रा में हाथों को ऊपर की ओर फैलाकर आविद्ध करे तो 'उल्वण' हस्त होता है ।"

(ना. शा. ९।२०८) ।

तब एक साथ ही प्रयोग को करके स्वस्तिक पाद के घुमाने से शरीर का साक्षात्कार होता है । यहाँ पर 'संज्ञायां कन्' सूत्र से संज्ञा में 'कन्' प्रत्यय है । इस करण का प्रयोग उद्धत परिभ्रमण में किया जाता है ॥ ९९ ॥

विमर्श—संगीतरत्नाकर में कहा गया है कि इस करण में पहिले पैर को आक्षिप्ता चारी में रखा जाता है फिर हाथ को उद्वेष्टित मुद्रा में रखते हैं. फिर त्रिक का वलन (घुमाव) करके पादस्वस्तिक की रचना की जाती है । फिर इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से भी यही प्रक्रिया की जाती है और दोनों हाथ एक साथ उल्वण मुद्रा में होते हैं । उद्धत परिक्रमण में इसका विनियोग होता है ॥ ९९ ॥

३९—चतुर

अनुवाद—जहाँ पर बाँया हाथ 'अञ्चित' मुद्रा में और दाहिना हाथ 'चतुर' हस्तमुद्रा में न्यस्त हो और दाहिना पैर 'कुट्टित' स्थिति में हो तो वह 'चतुर' करण कहा जाता है ॥ १०० ॥

अभिनव—यहाँ पर 'अञ्चित' पद से 'अलपल्लव' का ग्रहण होता है । (ना. शा. ९।९१) । चतुरहस्त का लक्षण निम्नप्रकार है—

---

१. ख-ग. घ. च

२. क-भ. म. इत्युद्घट्टितांशरूपः ।

भुजङ्गत्रासितः पादो दक्षिणो रेचितः करः[1]।
[2]लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चितकं भवेत् ॥ १०१ ॥

---

४०. भुजङ्गाञ्चितकम् ।

"कुञ्चितं पादम् ।" (ना. शा. १०।४२) इत्यादि भुजङ्गत्रासितचार्यां पादः । "हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।" (९।१०३) इति दक्षिणो रेचितः । "तिर्यक्प्रसारितौ" इति (ना. शा. ९।१९८) वामो लताख्यो नृत्तहस्तः ॥ १०१ ॥

"जहाँ पर तीन अंगुलियाँ फैलाई हुई हों और कनिष्ठिका अंगुली ऊपर की ओर उठी हुई हो और उनके बीच में अंगूठा स्थित रहे तो वहाँ 'चतुरहस्त' होता है।" (ना. शा. ९।९३) ।

'चतुर एव' में 'एव' पद के प्रयोग से (एवकार से) वक्ष:प्रदेश से दोनों हाथों का और 'तु' शब्द से केवल सन्निवेश का आधिक्य सूचित होता है। 'कुट्टित' पद 'पैर के अग्रभाग (एड़ी) से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराये' (ना. शा. ९।२६६) इस प्रकार उद्घट्टित का अङ्ग रूप है। इस करण का प्रयोग विदूषक के विस्मयकारक अभिनय में होता है। जैसे—'सानुरे खण्डदासवर्यमिसासा' ॥ १०० ॥

विमर्श—'चतुर' नामक करण में बायाँ हाथ अल्लपल्लव या अञ्चित मुद्रा में रखा जाता है। 'अञ्चित' को ही अल्लपल्लव हस्त कहते हैं। इसमें दाहिना हाथ चतुर हस्तमुद्रा में और पैर उद्घट्टित (कुट्टित) स्थिति में झुका कर रखा जाता है। 'कुट्टित' को ही उद्घट्टित कहते हैं क्योंकि दोनों का लक्षण एक सा है। पञ्जे के बल पर खड़े होकर एड़ी को भूमि पर गिराना कुट्टित या उद्घट्टित कहा जाता है ॥ १०० ॥

४०—भुजंगाञ्चित

अनुवाद—जहाँ पर पैर भुजङ्गत्रासिता चारी की स्थिति में हो और दाहिना हाथ रेचित मुद्रा में तथा बायाँ हाथ लताहस्त मुद्रा में हो वहाँ "भुजंगाञ्चितक' करण होता है ॥ १०१ ॥

अभिनव—"कुञ्चित पाद" (ना. शा. १०।४२) इत्यादि भुजङ्गत्रासिता चारी में पाद का अभिनय है। 'हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ' (ना. शा. ९।१९३) इत्यादि से दक्षिणहस्त रेचित का बोध होता है और 'तिर्यक्प्रसारितौ' (ना. शा. ९।१९९) इत्यादि 'लता' नामक नृत्तहस्त का बोधक है ॥ १०१ ॥

---

१. ख-घ. रेचितौ दक्षिणः करः ।

२. क-म. लताख्यश्च ततो वामो भुजङ्गाञ्चितके भवेत् ।

विक्षिप्तं हस्तपादं तु समन्ताद्यत्र दण्डवत् ।
[1]रेच्यते तद्धि करणं ज्ञेयं दण्डकरेचितम् ।। १०२ ।।

---

४१. दण्डकरेचितम् ।

दण्डवद्धस्तविक्षेपेण रेचनेन च दण्डपक्षौ सूच्येते । पादविक्षेपेण तु दण्डपादाचारी ।

"हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
तथा प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ।।" (ना. शा. ९।२०२)
"नूपुरं चरणं कृत्वा पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
क्षिप्रमाविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता ।।" (ना. शा. १०।४४)

तत्प्रमोदविषयं करणम् । उद्धतविषये चास्य प्रयोगः (इत्यन्ये) ।। १०२ ।।

विमर्श—भुजगाञ्चित करण में भुजङ्गचारी का प्रयोग होता है । इस चारी में कुञ्चित एक पैर को ऊपर आक्षिप्त करते हैं, जंघा को त्रिकोण बनाकर कटि और जानु को विवर्त्तित करते हैं, दाहिने हाथ को हंसपक्ष मुद्रा में और बायें हाथ को लताहस्त मुद्रा में तिरछा फैलाते हैं । इस करण का प्रयोग विदूषक की गति के अभिनय में होता ।। १०१ ।।

४१—दण्डरेचित

अनुवाद—जहाँ पर हाथ और पैर को दण्ड के समान चारों ओर विक्षिप्त करके रेचित किया जाता है वहाँ 'दण्डरेचित' करण होता है ।। १०२ ।।

अभिनव—दण्ड के समान हाथ के विक्षेप (फेंकना) एवं रेचन से दण्डपक्ष हस्त सूचित होता है । किन्तु पैर के विक्षेप से दण्डपाद चारी की सूचना मिलती है ।

"जहाँ पर हंसपक्ष हाथों को कभी व्यावर्त्तन और कभी परिवर्त्तन कर दिया जाय तथा भुजाओं का प्रसारण कर दिया जाय तो 'दण्डपक्ष' होता है ।"

(ना. शा. ९।२०३) ।

"यदि पैर को नूपुरपादचारी में रखकर अर्थात् नूपुरपाद चारी का विधान करके पैर के सामने की ओर फैला दे और शीघ्र उसे आविद्ध कर दे तो 'दण्डपादा' चारी होती है ।" (ना. शा. १०.४४) ।

इस करण का विनियोग प्रमोद के प्रसङ्ग में होता है । अन्य लोग इस करण का प्रयोग उद्धत नृत्य के विषय में मानते हैं ।। १०१ ।।

विमर्श—इस करण में दण्डपादचारी का विनियोग होता है । पैर को नूपुरपादचारी में रखकर सामने की ओर फैलाया जाता है, फिर उद्वाहित कर घुमाया जाता है और हाथों को दण्डपक्ष हस्तमुद्रा में रेचित किया जाता है अर्थात् हंसपक्ष हस्त को पहिले व्यावर्त्तन एवं परिवर्त्तन करते हैं, फिर भुजाओं को दण्डवत् फैलाया जाता है ।। १०२ ।।

---

१. क-त. रेचिते ।

वृश्चिकं[1]चरणं कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ।
विधातव्यौ करौ[2]तत्तु ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम् ॥ १०३ ॥

सूचीं[3]कृत्वापविद्धं च दक्षिणं चरणं न्यसेत् ।
[4]रेचिता च कटिर्यत्र कटिभ्रान्तं तदुच्यते ॥ १०४ ॥

---

४२. वृश्चिककुट्टितम् ।

पृष्ठभागे रेचितजङ्घमुत्तानतलं वृश्चिकोपलक्षितं चरणं कृत्वा द्वावपि हस्तौ स्वबाहुशिरस्यलपल्लवौ निकुट्टितौ पर्यायेण विदध्यादिति । एतच्च विस्मयाकाशगमनेच्छादिप्रधाने वाक्यार्थविषये प्रयुज्यते । यथा, "पडिविधारिअं उवक्खंहिआ" इत्यादौ ॥ १०३ ॥

४३. कटिभ्रान्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेदप्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥" (ना. शा. १०।३४)

४२—वृश्चिककुट्टित

अनुवाद—यदि एक पैर को वृश्चिक मुद्रा में रखकर दोनों हाथों को निकुट्टित करें तो 'वृश्चिकनिकुट्टित' करण होता है ॥ १०३ ॥

अभिनव—पृष्ठ भाग में रेचित जङ्घा को उत्तान करके और वृश्चिक मुद्रा में पैर करके (रखकर, न्यस्त कर) दोनो हाथों को भी अपने कन्धे पर क्रमशः कभी अलपल्लव हस्तमुद्रा में रखे और कभी निकुट्टित करे । इस करण का प्रयोग विस्मय आकाशगमन, इच्छा आदि प्रधान वाक्यर्थाभिनय में होता है । जैसे—'पडिविधारिअं उवक्खंहिआ' इत्यादि में ॥ १०३ ॥

४३—कटिभ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पैर को सूची चारी में न्यस्त कर दाहिने पैर को अपविद्ध (अपसृत) करे और कटि को रेचित (चालित) मुद्रा मे रखा जाय तो 'कटिभ्रान्त' करण होता है ॥ १०४ ॥

---

१. ख. घ. वृश्चिकं करणं ।

२. ख-घ. तद्धि ।

३. ग. दत्त्वापविद्धं च ।

४. क. (टि०) पादयोरनुगौ हस्तौ । क-न. रेचितौ च कटिर्यत्र ।

अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।
लताख्यश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत् ॥ १०५ ॥

वामं द्रुतमपसारितं कृत्वा पार्श्वे दक्षिणं पादं न्यसेत् । समकालं पृष्ठपरावर्तनक्रमेण कटिं रेचयेत् । भ्रमरिकया वा चार्या (ना. शा. १०४५) [1]करयोश्च प्रयोगवशगत्वेन कटिभ्रमणकाले तयोरपि व्यावर्तनपरिवर्तनकरणं योजनान्ते चतुरश्रावस्थानम् । गतिपरिक्रमेऽस्य [2]तालाकारादियतिपरिपूरणविषये प्रयोगः ॥ १०४ ॥

४४. लतावृश्चिकम् ।

प्रथमार्धेन वृश्चिकं । वामं चरणं भूमौ[3] । आकाशादवपतनेऽस्य प्रयोगः । ॥ १०५ ॥

अभिनव—सूची चारी का लक्षण निम्न प्रकार है—

"कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु (जंघे) को ऊपर फैलाये ओर फिर उसे अग्रभाग के योग से नीचे गिरा दे तो 'सूची' चारी कहलाती है।"
(ना. शा. १०।३४)।

योजना इस प्रकार है—बायें पैर को शीघ्र ही अपसारित करके दाहिने पैर को पार्श्व में न्यस्त करे। उसी समय पृष्ठ के परावर्त्तन क्रम से कटि का रेचन करे। अथवा भ्रमरिका चारी के प्रयोग के द्वारा दोनों हाथों के प्रयोग के अनुसार कटि के रेचन (भ्रमण) के काल में हाथों का भी व्यावर्त्तन एव परिवर्त्तन करके अन्त में चतुरस्र स्थिति में रखे। इस करण का प्रयोग गति परिक्रमण में, तालों के मध्यभाग, यतियों के पूर्त्ति के अभिनय में किया जाता है ॥ १०३ ॥

४४—लतावृश्चिक

अनुवाद—जहाँ पर पैर को पृष्ठभाग से अञ्चित करके और अंगुलियाँ ऊपर की ओर कुञ्चित करके तथा वायें हाथ को लता नामक हस्तमुद्रा में न्यस्त करे तो 'लतावृश्चिक' करण होता है ॥ १०५ ॥

अभिनव—पूर्वभाग में (पूर्वार्द्ध में) वृश्चिक पाद का निर्देश है और बायाँ पैर भूमि पर रखने का है। आकाश से नीचे गिरने के अभिनय में इसका प्रयोग होता है ॥ १०५ ॥

---

१. क-म. भ. करणयोश्च ।
२. क. तालाकारादियतिपरिपूरणविषये ।
३. क-भ. त. भ्रमो ।

अलपद्मः कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ।
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत् ॥ १०६ ॥

---

४५. छिन्नम् ।

क्रमेण पार्ष्ण्योर्नमनोन्नमनाभ्यां (ना. शा. ६-२५१, २३५) यदा कटिच्छेदः । [1]पार्ष्ण्योर्नमनोन्नमने पर्यायेण । तथैव च कटिपार्श्वक्षेत्र एव ।

"आवर्तिन्यः करतले यस्याङ्गुल्यः ।" (ना. शा. ६-९१)

इत्येवंभूतोऽलपल्लवः । ईषद्‌गतागतपर्यायेण द्वाभ्यां हस्ताभ्यां प्रयुज्यते । वैशाखस्थानकेन "तालास्त्रयोऽर्धतालश्च" (ना. शा. १०-६१) इति "निष्क्रान्तौ" इति च लक्षणेन तदा कटिच्छेदयोगि छिन्नं नाम । अङ्गप्रतिसारणतालभञ्जनादिविषये चास्य प्रयोगः ॥ १०६ ॥

४५–छिन्न

अनुवाद—जहाँ पर अलपद्म हस्त को कटि प्रदेश पर रखा जाय और कटि क्रमशः 'छिन्न' मुद्रा में हो तथा नर्त्तक वैशाख-स्थानक में स्थित हो तो 'छिन्न' करण होता है ॥ १०६ ॥

अभिनव—क्रम से एड़ी के ऊपर उठाने तथा नीचे गिराने से जब कटि छिन्न हो जाती है तब छिन्न करण होता है। एड़ी का उठाना और गिराना क्रम से होता है। उसी प्रकार कटि के पार्श्वभाग में भी उन्नमन और नमन होता है। "जिस हाथ की अंगुलियाँ करतल (हथेली) में आवर्त्तित (घुमाई हुई) होती हैं।" इस प्रकार का अल्लपल्लव हस्त होता है। ईषत् (धीरे-धीरे) गमनागमन (जाने और आने) में क्रम से दोनो हाथों से इसका प्रयोग होता है और पैरों के बीच साढ़े तीन ताल का अवकाश होता है तथा 'निष्क्रान्त' इस लक्षण वाले वैशाखस्थानक से इसका प्रयोग होता है। इस करण का विनियोग अङ्गों के फैलाने, तालभङ्ग होने में होता है॥ १०६ ॥

विमर्श—'छिन्न' करण में अलपल्लव हस्त अर्थात् जिसमें समस्त अङ्गुलियाँ हथेली की ओर घूमी हुई हो, ऐसे अल्लपल्लव दोनों हाथों को क्रमशः कटि पर रखते हैं, एड़ियों को क्रमशः ऊपर-नीचे उठाते हुए कटि को बीच में घुमाते हैं और नर्त्तक वैशाख नामक स्थानक में खड़ा होता है। इसमें पैरों के बीच साढ़े तीन ताल का अन्तर होता है, और जानु निश्चल होते हैं ॥ १०६ ॥

---

१. क-म. भ. पार्श्वे नमनोन्नमने ।

वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकौ च करावुभौ।
[1]रेचितौ विप्रकीर्णौं च करौ वृश्चिकरेचितम् ॥ १०७ ॥

बाहुशीर्षाञ्चितौ हस्तौ पाद पृष्ठाञ्चितस्तथा।
[2]दूरसन्नतपृष्ठं च वृश्चिकं तत्प्रकीर्तितम् ॥ १०८ ॥

---

४६. वृश्चकरेचितम्।

"तावेव मणिबन्धान्ते।" इति (ना. शा. ९-१८७) स्वस्तिकौ। विप्रकीर्णकौ रेचितौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ। एतदाकाशयानके प्रयोज्यम् ॥ १०७ ॥

४७. वृश्चिकम्।

द्विवचनैकवचने अङ्गस्यापरिहारं सूचयतः। हस्तस्य बाहुशिरस्यञ्चनेन करिहस्तप्रयोगः सूच्यते।

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्त्तितः ॥" (ना. शा. ९-१९६)

४६—वृश्चिकरेचित

अनुवाद—जहाँ पर पैर को वृश्चिक मुद्रा में रखकर स्वस्तिक मुद्रा में स्थित दोनों हाथों को रेचित और विप्रकीर्ण किया जाजा है वहाँ 'वृश्चिकरेचित' करण होता है ॥ १०७ ॥

अभिनव—'वे ही मणिबन्ध के अन्त में' स्वस्तिक हस्त। उससे च्युत विप्रकीर्ण, रेचित, हंसपक्ष द्रुतभ्रम हस्त होते हैं। इस करण का प्रयोग आकाश यान के अभिनय में होता है ॥ १०६ ॥

विमर्श—इस करण में पैर को वृश्चिक मुद्रा में घुमाकर पीछे की ओर ले जाया जाता है। दोनों हाथ स्वस्तिक मुद्रा से पृथक् होकर विप्रकीर्ण स्थिति में आते हैं, फिर हंसपक्ष मुद्रा में ऊपर-नीचे घुमाव देते हुए शीघ्रता से संचालित होते हैं ॥ १०७ ॥

४७—वृश्चिक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ कन्धे पर अञ्चित अवस्था में हों, और पैर पृष्ठभाग अर्थात् पीठ के पीछे की ओर अञ्चित हों तथा पीठ अधिक झुकी हो वहाँ 'वृश्चिक' करण होता है ॥ १०८ ॥

---

१. ख-घ. रेचितापसृतो चैव कार्यं वृश्चिकरेचितम्।
क-ख. रेचितापसृतौ चैव कार्यौ वृश्चिकरेचिते।

२. क-म. दूरसन्नतपृष्ठश्च।

[1]आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ।
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्[2] ॥ १०९ ॥

दूरसन्नतपृष्ठत्वं वृश्चिकप्रयोगनान्तरीयं[3] सर्वत्र वृश्चिकप्रयोगेषु मन्तव्यम्। वृश्चिकपुच्छस्थानीयचरणं वृश्चिकमेतत्करणम्। तदुपलक्षितपादो वृश्चिकः। अस्याकाशगतौ च ऐरावणादिविषये प्रयोगः। यथा—"श्वेताभ्रभ्रान्तिकारी समवतरति रवादभ्रभूवल्लभोऽयम्" इति ॥ १०८ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'हस्तौ' में द्विवचन तथा 'पादः' में एकवचन का प्रयोग अङ्ग के अपरिहार को सूचित करते हैं। हाथ का बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे पर अञ्चन करने से 'करिहस्त' का प्रयोग सूचित होता है। करिहस्त का लक्षण है—

"यदि एक हाथ लताहस्त मुद्रा में एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोलित हो और दूसरा हाथ त्रिपाक हस्तमुद्रा में कान के ऊपर समुन्नत हो तो उसे 'करिहस्त' कहते हैं ॥ (ना० शा० ९।२००)।

वृश्चिक करण के प्रयोग में सर्वत्र वृश्चिक प्रयोग दूरसन्नत पृष्ठ अर्थात् पृष्ठ-भाग दूरतक (अधिक) झुका हुआ हो ऐसा मानना चाहिए। वृश्चिक (विच्छू) के पूंछ के समान चरण की स्थिति होने से इस करण को 'वृश्चिक' कहते हैं। वृश्चिक के पुच्छ से उपलक्षित पाद को यहाँ वृश्चिक कहा है। इस करण का प्रयोग आकाश में गमन और ऐरावत आदि के विषय में होता है। जैसे—"श्वेताभ्रभ्रान्तिकारी समव-तरति खादभ्रभूवल्लभोऽयम्" इत्यादि में ॥ १०८ ॥

विमर्श—इस करण में करिहस्त का प्रयोग होता है अर्थात् इस करण में दोनों हाथ लताहस्त मुद्रा में एक पार्श्व में विलोलित रहते हैं और एक पैर विच्छू की पूंछ के समान पीछे की ओर झुका हुआ तथा पृष्ठ भाग सन्नत होता है। कपिला वात्स्यायन के अनुसार दूसरा पैर सामने की ओर झुका हुआ होना चाहिए ॥ १०८ ॥

४८—व्यंसित

अनुवाद—जहाँ पर आलीढ़ नामक स्थानक का प्रयोग हो और दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर रेचित करके ऊपर और नीचे की ओर विप्रकीर्ण (फैला हुआ) कर दिया जाय तो वहाँ 'व्यंसित' करण होता है ॥ १०९ ॥

---

२. ख. आलीढस्थानके।

३. ख. घ. ऊर्ध्वाधौ विप्रकीर्णौ च व्यंसितं तद्विदुर्बुधाः।

२. क. नान्तरीयकं।

हस्तौ तु स्वस्तिकौ पार्श्वे तथा पादो निकुट्टितः[1] ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः [2]पार्श्वनिकुट्टितम् ॥ ११० ॥

४८. व्यंसितम् ।

"मण्डले दक्षिणं पादं पञ्चतालान्प्रसार्य तु ।
आलीढं स्थानकं कुर्यात् ॥" (ना. शा. १०-६७)

एकस्य तर्जन्याद्युद्वेष्टितेन (ना. शा ९-२१६) करणेनाधो विप्रकीर्णता । [3]द्वितीयस्तर्जन्यादिपरावर्तितकरणेनोर्ध्वंगतः, क्षेत्रपर्यायेणैक उत्तानो हंसपक्षो द्रुतभ्रमलक्षणो रेचकम् । अपरोऽधोमुख ऊर्ध्वाध इत्येकीकरणम् । तच्च करणमुभयत्र सम्बध्यते । एतच्च विभ्रमादिपरिक्रमविषयम् । ॥ १०९ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में आलीढ़ स्थानक का लक्षण निम्न प्रकार दिया गया है—

"यदि मण्डल स्थानक के अभिनय में दाहिने पैर को पाँच तालों के अन्तर पर फैला दिया जाय तो 'आलीढ़' स्थानक होता है ।" (ना० शा० १०।६७) ।

एक हाथ की तर्जनी आदि को उद्वेष्टित करने से विप्रकीर्ण हस्त चक्रगति से अधोगत अर्थात् नीचे की ओर चालित होता है और दूसरा हाथ तर्जनी आदि के परावर्त्तित करने से ऊर्ध्वगत (ऊपर की आर) होता है । क्षेत्रभेद के क्रम से एक हाथ उत्तान हंसपक्ष मुद्रा में रेचित होता है और दूसरा अधोमुख होता है । इस प्रकार ऊर्ध्वभाग और अधोभाग को मिलाना एकीकरण होता है । वह एकीकरण दोनों से सम्बन्धित होता है । इस करण का प्रयोग हनुमान् आदि के परिक्रमण में होता है ॥ १०९ ॥

४९—पार्श्वनिकुट्टक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ स्वस्तिक मुद्रा में पार्श्व में स्थित रहते हैं और पैर निकुट्टित होते हैं, उसे विद्वान् लोग 'पार्श्वनिकुट्टित' करण समझें ॥ ११० ॥

१. क. (टि०) पादौ निकुट्टितौ ।

२. ख. पार्श्वनिकुट्टनम् । घ. पार्श्वनिकुट्टकम्-भ. प. पादनिकुट्टकम । क-त. पादनिकुट्टितम् ।

३. क-म. भ. द्वितीयतर्जन्यादिपरावर्त्तितकरणेनार्थः ततः क्षेत्रपर्यायेणैते ।

४. क. हनुमदादि ।

वृश्चिकं[1] चरणं कृत्वा पादस्याङ्गुष्ठकेन तु ।
ललाटे तिलकं कुर्याल्ललाटतिलकं तु[2] तत् ॥ १११ ॥

---

४९. पार्श्वनिकुट्टकम् ।

"तावेव मणिबन्धान्ते" इति (ना. शा. ६-१८७) स्वस्तिकौ तथाशब्देन पार्श्वे तयोर्निकुट्टितत्वं पर्यायेणोच्यते[3] । तस्य तलमेव च पादस्य निकुट्टितत्वम् । पुनर्द्वितीयेनाङ्गेनेति पार्श्वगतहस्तनिकुट्टितयोगात् पार्श्वनिकुट्टितम् । [4]प्रकाशनसञ्चरणाभ्यासप्रधाने वाक्यार्थे चास्य प्रयोगः । यथा "पुण्णाव उडेहराभुइं कुहुएहमं······पेताहं (सहंसिपित") इत्यादौ ॥ ११० ॥

५०. ललाटतिलकम् ।

पादस्य तस्यैव पश्चाद्भागादितरस्याङ्गुष्ठेन तिलकं तिलकक्रियाहेतुभूतत्वेन लक्षितं संश्लेषं कुर्यादित्यादिकमेतत्करणं विद्याधरगतिविषये प्रयुज्यते । ॥ १११ ॥

अभिनव—"तावेव मणिबन्धान्ते" (ना० शा० ९।२१६) इसके अनुसार दोनों हाथ स्वस्तिक होते हैं। 'तथा' शब्द से पार्श्वभाग में दोनों पैरों का क्रमशः निकुट्टन होता है, कहा गया है। निकुट्टन का अर्थ है कि उस पैर के तल (पादतल) से निकुट्टित करे, फिर दूसरे अङ्ग से भी उसी प्रकार कुट्टन करें। इस प्रकार पार्श्वगत हाथों के निकुट्टन होने से इस करण का नाम 'पार्श्वनिकुट्टित' है। इस करण का विनियोग प्रकाशन, सञ्चरण के अभ्यास में किया जाता है ॥ ११० ॥

विमर्श—इस करण में दोनों हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में रखकर एक को ऊर्ध्वमुख और दूसरे को अधोमुख करके पार्श्व में निकुट्टित करते हैं। अभिनव ने पार्श्वगत हाथ के साथ पादतल का क्रमशः निकुट्टन को स्वीकार किया है ॥ ११० ॥

५०—ललाटतिलक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर को वृश्चिक चरण में ले जाकर उसी पैर के अंगूठे से ललाट में तिलक किया जाय, तो विद्वान् लोग उसे 'ललाटतिलक' करण कहते हैं ॥ १११ ॥

---

१. ख. करणं ।

२. ख-घ. च तत् ।

३. क. (टि०) पर्यायेणाधोमुखत्वं लभ्येते ।

४. क. प्रकाशनसंवरणाहारप्रधाने । क. प्रकाशनसंवरणाभ्यासप्रधाने । प्रकाशनसंवरणाभ्यासप्रधाने ।

पृष्ठतः कुञ्चितं कृत्वा व्यतिक्रान्तक्रमं ततः[1]।
अक्षिप्तौ च करौ कार्यौ क्रान्तके करणे द्विजाः ॥ ११२ ॥

---

५१. क्रान्तकम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
उत्क्षिप्य पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥"

इति (ना. शा. १०-३०)

चारीं तां कृत्वा पात्यमानं चरणं कुञ्चितं स्थापयेत् । पृष्ठतः कुञ्चितं च समादाय क्रियान्तपरिक्रमेण प्रसारयेत् । हस्तौ विचार्य[2] व्यावर्तितकरणेन देहक्षेत्रान्निष्क्रान्तः पुनः परिवर्तितकरणेनाक्षिप्तः । स वक्षसि खटकामुखः । पुनरपरेणाङ्गेन प्रयोगः । उद्धतपरिक्रमेऽस्य प्रयोगः ॥ ११२ ॥

अभिनव– वृश्चिकपाद के पृष्ठभाग से भिन्न अंगूठे से तिलक करे अर्थात् तिलक क्रिया में पैर को घुमाकर पीछे की ओर इस प्रकार ले जाते हैं कि पैर के अंगूठे से मस्तक का स्पर्श हो जाय । यहाँ तिलक करने के लिए तिलक क्रिया के हेतुभूत अंगुलि संश्लेष (स्पर्श) करे । इस करण का विनियोग विद्याधर की गति के अभिनय में किया जाता है ॥ १११ ॥

५१—क्रान्तक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर को पीछे की ओर कुञ्चित करके फिर अतिक्रान्ता चारी में प्रसारित करे और हाथों को आक्षिप्त करे अर्थात् हाथों को नीचे की ओर पटके तो वहाँ 'क्रान्तक' नामक करण होता है ॥ ११२ ॥

अभिनव—अतिक्रान्ताचारी का लक्षण निम्नप्रकार है—

"यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर सामने की ओर फैला दे । फिर उसे ऊपर की ओर ले जाकर नीचे भूमि पर गिरा दे तो अतिक्रान्ता चारी होती है ।"

(ना० शा० १०।३०) ॥

अतिक्रान्ता चारी को करके पात्यमान (गिराये जाने वाले) चरण को कुञ्चित अवस्था में स्थापित करे । फिर पीछे से कुञ्चित पैर को उठाकर दूसरी क्रिया से घुमाकर फैला दे, फिर दोनो हाथों को व्यावर्त्तित करके शरीर के क्षेत्र से बाहर निकाल कर फिर परिवर्त्तित करण के द्वारा आक्षिप्त करके खटकामुख मुद्रा में वक्ष-स्थल पर स्थापित करे । इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से भी करे । उद्धत नृत्य में इस करण का विनियोग होता है ॥ ११२ ॥

---

१. ख-घ. पृष्ठतः कुञ्चितं कुर्यादतिक्रान्तं समन्ततः ।
२. क. विचाल्य ।

आद्यः[1] पादो नतः कार्यः सव्यहस्तश्च कुञ्चितः ।
उत्तानो [2]वामपार्श्वस्थस्तत्कुञ्चितमुदाहृतम् ॥ ११३ ॥
प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेणानतेन च ।
[3]अभ्यन्तरापविद्धः स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ॥ ११४ ॥

---

५२. कुञ्चितम् ।

आद्यो नत इति जानुगमनेन भूतलसञ्चरो[4] लक्ष्यते । दक्षिणहस्तश्च कुञ्चितः उत्तानालपल्लवरूपो वामपार्श्वे विधेयः । तदेतन्निर्भरानन्दपूर्णदेवस्याभिनयविषये प्रयोक्तव्यम् । यथा "देहसुभाइडं मकरकलिअणुकापालविद्वेइचळणं धिआइं" इत्यादौ ॥ ११३ ॥

५२–कुञ्चित

अनुवाद—जहां पर दाहिने पैर को नत (झुका हुआ) रखे और बायें हाथ को कुञ्चित मुद्रा में उत्तान करके बायें पार्श्व (वामभाग) में रख दिया जाय, वहाँ 'कुञ्चित' करण होता है ॥ ११३ ।

अभिनव—'आद्यो नतः' अर्थात् आद्य पाद झुका हुआ हो, इस कथन से ज्ञात होता है कि जानुके गमन से भूमि पर सञ्चर अग्रतलसञ्चर लक्षित होता है। दाहिना हाथ कुञ्चित मुद्रा में उत्तान करके अलपल्लव हस्तमुद्रा में वामपार्श्व में रखना चाहिए । इस करण का प्रयोग पूर्ण आनन्द से युक्त देवता के अभिनय में होता है । जैसे—देहसुभाइडं' इत्यादि में ॥ ११३ ॥

विमर्श—इस करण में एक पैर झुक कर पीछे की ओर मुड़ा होता है । जानु का भूतल पर सञ्चरण होता है, दूसरा पैर समपाद स्थिति में आगे की हो झुका होता है, दाहिना हाथ वामपार्श्व में उत्तान होकर अलपल्लव मुद्रा में स्थित रहता है ॥ ११३ ॥

५३—चक्रमण्डल

अनुवाद—जिसमें दोनों भुजाएँ प्रलम्बित (लटकती हुई) हों और झुके हुए शरीर के द्वारा अपविद्ध अर्थात् अड्डिता चारी का प्रयोग हो, तो उसे 'चक्रमण्डल' करण कहा जाता है ॥ ११४ ॥

---

१. ख-घ. पादोऽञ्चितः ।

२. ख-घ. वामपार्श्वश्च ।

३. ख. अभ्यन्तरापविद्धा । ग. अभ्यन्तरापविद्धम् ।

४. क. जानुगमनेनाग्रतलसञ्चरो ।

[1]स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ।
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलिकन्तु तत् ।। ११५ ।।

५३. चक्रमण्डलम् ।

अड्डिता चात्रादौ चारी ।

"अग्रतः पृष्ठतो वाऽपि पादोऽग्रतलसञ्चरः ।
द्वितीयपादनिर्घृष्टो यस्यां स्यादड्डिता तु सा ।।"
(ना. शा. १०-२३)

[2]उद्धतपरिक्रमपरिष्करणादिविषये चैतत् ।। ११४ ।।

५४. उरोमण्डलम् ।

"भूमिघृष्टेन पादेन कृत्वाभ्यन्तरमण्डलम् ।
पुनरुत्सारयेदन्यं[3] स्थितावर्ता तु सा स्मृता ।।"
(ना. शा. १०-१५)

इत्यनया चार्याऽपसारणं स्वस्तिकस्य कार्यम् । बद्धाचार्यात्वादावस्थानमित्युक्तं भवति ।

अभिनव—यहाँ पर अड्डिता चारी का प्रयोग होता है। अड्डिता चारी का लक्षण है—

"जहाँ पर अग्रतलसञ्चर पाद कभी आगे और कभी पीछे की ओर स्थित हो द्वितीयपाद का घर्षण हो तो 'अड्डिता' चारी होती है।" (ना० शा० १०।२३)।

इस करण का प्रयोग उद्धत परिक्रमण के अभिनय ये होता है ।। ११४ ।।

५४—उरोमण्डल

अनुवाद—यदि स्वस्तिक मुद्रा में दोनों पैरों को आगे की ओर करके अपविद्ध चारी में रखे और दोनों हाथों को 'उरोमण्डल' मुद्रा में रखे तो 'उरोमण्डल' नामक करण होता है ।। ११५ ।।

---

१. क-न. म. उद्वेष्टिततलौ हस्तावपविद्धक्रमौ यतः ।
मण्डलं च शिरो ज्ञेयमुरोमण्डलमेव तत् ।।
ख. स्वस्तिकापसृतौ पादौ पादावर्धक्रमौ यदा ।
उरोमण्डलिको हस्तः उरोमण्डलकं तु तत् ।।
ग. स्वस्तिकापसृतौ पादाऽपविद्धकमौ यदा ।
उरोमण्डलिको हस्तः उरोमण्डलिकं तु तत् ।।

२. क. उद्धतपरिक्रमादिविषये ।

३. क-म. भ. पुनरुत्सादयेत्पादं ।

आक्षिप्तं हस्तापादं[1] च क्रियते यत्र वेगतः ।
[2]आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तत्द्विजोत्तमाः ॥ ११६ ॥

"अन्योन्यजङ्घासंवेधात्कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरुभ्यां वलनम्" इति (ना. शा. १०-२१)

तस्या रूपं स्वस्तिकसंस्थानाक्षिप्तम् ।

उद्वेष्टितो भवेदेको द्वितीयश्चापवेष्टितः ।
भ्रमितावुरसः स्थाने ह्युरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥"
(ना. शा. ४-२०९) ॥ ११५ ॥

५५. आक्षिप्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्याञ्चितम्" । इति (ना. शा. १०-३७)
आक्षिप्तया पादचार्या पार्श्वस्य किञ्चिन्नमनेन हस्तस्य चतुरश्रस्य खटकामुख्याक्षेपः इति विदूषकगतिविषयमाक्षिप्तकरणम् ॥ ११६ ॥

अभिनव—"यदि एक अग्रतलसञ्चर पैर को भूमि पर घर्षित करते हुए अभ्यन्तर मण्डल करके दूसरे पैर को पुनः उत्सारण करे तो वहाँ 'स्थितावर्त्ता' चारी होती।" (ना० शा० १०।१५)।

इस प्रकार इस चारी के द्वारा स्वस्तिक पैर का अपसारण (आगे की ओर हटाना) करना चाहिए। बद्धाचारी के द्वारा तो पहिले उसका अवस्थान कहा गया है। बद्धाचारी का लक्षण—

"दोनो जंघाओं के परस्पर योग से स्वस्तिक बनाकर उरुओं का जहाँ पर बलन (संचरण) हो, वहाँ बद्धा चारी होती॥" (ना० शा० १०।२१)।

बद्धा चारी का स्वरूप स्वस्तिक संस्थान (स्वस्तिक मुद्रा में स्थिति) के रूप में आक्षिप्त है। अर्थात् जंघाओं का स्वस्तिक स्थिति ही बद्धाचारी है।

"जहाँ पर एक हाथ उद्वेष्टित हो और दूसरा हाथ अपवेष्टित (नीचे झुका हुआ) हो फिर दोनो को वक्षःस्थल पर घुमाया जाय तो उरोमण्डली' हस्त कहा जाता है।" (ना० शा० ९।२०३)

५५—आक्षिप्त

अनुवाद—**जहाँ पर वेग से हाथ और पैरों को आक्षिप्त किया जाय अर्थात् इधर-उधर झटक कर फेंका जाय, हे श्रेष्ठद्विजों ! वहाँ 'आक्षिप्त' नामक करण होता है ॥ ११६ ॥**

---

१. ख-घ. आक्षिप्तहस्तपादं च । क. (टि०) आक्षिप्तहस्तपादौ तु ।

२. ख-घ. आक्षिप्तं करणं नाम तद्विज्ञेयं द्विजर्षभाः ।

ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः [1]पार्श्वेनोर्ध्वं प्रसारितः[2] ।
प्रकुर्यादञ्चिततलौ हस्तौ तलविलासिते ॥ ११७ ॥
पृष्ठतः प्रसृतः पादो द्वौ [3]तालावर्धमेव च ।
[4]तस्यैव चानुगो हस्तः पुरतस्त्वर्गलं तु तत् ॥ ११८ ॥

---

५६. तलविलसितम् ।

तेनैवोर्ध्वगतेन पादेन सहाञ्चिततलो वा श्लिष्टतलत्वात्कर्तव्यः । द्विवचनात्पर्यायेण द्वितीयेनाङ्गेन प्रयोगोऽभ्यासेन वा । पताकौ हस्तौ परस्परोपसंश्लिष्टाविति पादतलस्य हस्ततलस्य च विकृष्टे देशे आकाशे लसितं श्लेषणं यत्र तलविलसितम् । पादोद्धारसंज्ञया सूत्रधारादिविषये नाट्याचार्या योजयन्ति । ॥ ११७ ॥

अभिनव—'कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर अञ्चित करना आक्षिप्ता चारी होती है (ना० शा० १०।३७) ।

आक्षिप्ता नामक पादचारी के द्वारा पार्श्व (बगल) में थोड़ा झुकाने से चतुरस्र 'खटकामुख' हस्त का आक्षेप किया जाता है । इस प्रकार विदूषक की गति के विषय में इस चारी का प्रयोग होता है ॥ ११६ ॥

५६—तलविलसितम्

अनुवाद—जहाँ पर ऊपर उठी हुई अङ्गुलियों एवं तलवे वाले पैर को बगल में ऊपर की ओर फैलाया जाय और हथेलियों को अञ्चित करके रखा जाय वहाँ 'तलविलसित' करण होता है ॥ ११७ ॥

अभिनव—इस करण में ऊर्ध्वगत (ऊपर उठाए हुए अंगुलियों एवं तलवे वाले) पैर के साथ हाथ को अञ्चिततल स्थिति में रखना चाहिए अथवा श्लिष्ट अवस्था में रखे । 'हस्तौ' में द्विवचन के प्रयोग से यह सूचित होता है कि क्रम से दूसरे अङ्ग (हाथ) से भी अथवा अभ्यास से प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार पताक हस्तों को परस्पर संश्लिष्ट करते हैं, अतः पादतल और हस्ततल (हथेली) का विकृष्ट देश आकाश में संश्लिष्ट करने (मिलाने) के कारण इसे 'तलविलसित' करण कहते हैं । नाट्याचार्य इस करण की योजना सूत्रधार आदि के अभिनय में पादोद्धार नाम से करते हैं ॥ ११७ ॥

---

१. ख. पार्श्वेणोर्ध्वं प्रसारितः ।

२. क-प. समुच्छ्रितः, क-न. समुत्थितः । क-त. समागतम् ।

३. ख. द्वौ तलावूर्धमेव च ।

४. ख-घ. तस्यैवानुगतो हस्तः । क-घ. आस्ये चानुगतो हस्तः ।

५७. अर्गलम् ।

[1]द्वितीयचरणकनिष्ठाभागे सार्द्धत्तालद्वयजङ्घः सन् पादः प्रसृतो भवति । एतत्समकालं च स्तब्धबाहुद्वियीयं पार्श्वक्षेत्रं किञ्चिदग्रप्रसृतोऽलपल्लवाकारः करः तदन्तर्गतमर्गलयेत् । देहस्य (नियन्त्रणात् अर्गलम् । परिक्रमे चैतदङ्गदप्रभृतीनां भवति ।। ११८ ।।

५७—अर्गल

अनुवाद—जहाँ पर पैर पीछे की ओर अढ़ाई (२½) ताल के अन्तर पर फैला दिया जाय और हाथ को भी उसी के अनुसार सामने की ओर फैला दिया जाय तो 'अर्गल' नामक करण होता है ।। ११८ ।।

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में द्वितीय पाद अर्थात् बायें पैर की कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्रभाग पर 'सार्धताल' नामक जंघा वाला अथवा ढाई (२½) ताल के अन्तर पर स्थित पैर फैला हुआ होता है। इसी समय स्तब्ध (निश्चल) भुजा वाला बायां हाथ अलपल्लव मुद्रा में द्वितीय पार्श्व भाग में आगे की ओर कुछ फैला दिया जाय। इस प्रकार शरीर के नियन्त्रण कर देने से 'अर्गल' करण होता है। इस करण का प्रयोग अङ्गद प्रभृति वानरों के अभिनय में होता है ।। ११८ ।।

विमर्शः—इस करण में बायें पैर की कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्रभाग में दायें पैर को अवस्थित किया जाता है । दूसरे पैर की जंघा स्तब्ध (निश्चल) रहती है और पैर ढाई (२½) ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। इसके बाद निश्चल भुजावाले बायें हाथ को अपने बगल में अलपल्लव मुद्रा में आगे की ओर कुछ प्रसृत किया जाता है ।। अभिनवभारती में 'सार्धतालाह्वजङ्घः' पाठ मिलता है जिसका अर्थ होता है 'सार्धताल नामक जङ्घा वाला' । किन्तु सार्धताल नामक कोई जंघा नहीं होती, अतः यहाँ पर 'सार्धात्तालद्वयजङ्घः, पाठ मानना अधिक उपयुक्त है । जिसका अर्थ होता है कि जांघों का ढाई ताल का अन्तर । संगीतरत्नाकर में 'सार्धतालन्द्वितय' पाठ है जो इसी अर्थ को पुष्ट करता है । संगीतरत्नाकर के अनुसार 'अर्गल' करण का लक्षण है कि 'जहां पर बायें पैर की कनिष्ठिका अंगुली के अग्रभाग पर निश्चल जंघा वालों दायां पैर ढाई ताल के अन्तर पर फैलाया जाता है । उसी प्रकार निश्चल भुजा वाला दाहिना हाथ बायें बगल (वामपार्श्वं) में अलपल्लव मुद्रा में आगे की ओर कुछ फैलाया आता है ।' इसी

---

१. 'क' (गा० ओ० सि०) पुस्तके 'द्वितीयचरणकनिष्ठाभङ्गे सार्धान्तालाह्वजङ्घः सन् पादः प्रसृतो भवति' इति पाठः ।

विक्षिप्तं हस्तपादं च[1] पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा[2] ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ।। ११६ ।।
प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेत् द्रुतम्[3] ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ [4]तदावर्तमुदाहृतम् ।। १२० ।।

५८. विक्षिप्तम् ।

वा ग्रहणं चार्थे। तेन विद्युद्भ्रान्तादण्डपादाभ्यां (ना शा. १०-४०-४९) चारीभ्यामुद्वेष्टितापवेष्टितरेचकवर्तनया पार्श्वयोः पृष्ठेऽग्रे च हस्तपादविक्षेपः । इदमुद्धतगतिपरिक्रमसूचनादिविषयम् ।। ११६ ।।

प्रकार अशोकमल्ल के नृत्याध्याय में 'स्तब्धजंघः सार्धतालद्वयान्तरे' पाठ मिलता है । अतः अभिनवभारती में 'सार्धान्तालाह्वजंघः' के स्थान पर 'सार्धात्तालद्वयजङ्घः' पाठ रख देने से अर्थसंगति बैठ जाती है ।। ११७ ।।

५८—विक्षिप्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ और पैर पीछे की ओर तथा पार्श्व (बगल) की ओर एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाते हैं, उसे 'विक्षिप्त' करण कहते हैं ।। ११९ ।।

अभिनव—इस श्लोक में 'पार्श्वतोऽपि वा' का ग्रहण चकार अर्थ में है। इसमें विद्युद्भ्रान्त ओर दण्डपादचारी के द्वारा उद्वेष्टित और अपवेष्टित तथा रेचित अवर्त्तन प्रकिया के साथ (रेचक हस्त की वर्त्तना के साथ) आगे, पीछे तथा दोनों पार्श्वों में हाथ और पैरों को फेंका जाता है। इस करण का प्रयोग उद्धत गति से चलन में किया जाता है ।। ११९ ।।

५९—आवर्त्त

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को फैलाकर फिर शीघ्रता (तेजी) से आवर्त्तित अर्थात् घुमाकर लौटा ले और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित करे, उसे 'आवर्त्त' नामक करण कहते हैं ।। १२० ।।

१- ख. तु ।

२. ख-घ. पार्श्वतोऽथवा ।

३. क-च. पुर आवर्त्तयेत् क्रमात् । क-त पुर आवर्त्तयेद् द्रुतम् ।

४. ख-घ. तदावृत्तमुदाहृतम् । क-म. तदावर्तितमुच्यते ।

कुञ्चितं [1]पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं तु डोलयेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ डोलापादं तदुच्यते[2] ॥ १२१ ॥

---

५९. आवर्तम् ।

"पादः प्रसारितः सव्यः पुनश्चैवापसर्पितः ।
वामः सव्योपसर्पी च चाषगत्याम् । इति ॥" (ना. शा. १०-१८)

चाषगत्या चार्या प्रयोगः । हस्तौ च किञ्चिदुद्वेष्टितापवेष्टितरूपौ दोलावेवेति आ ईषत् वर्तनं हस्तपादस्य यत्र तदिदमावर्तकरणम् । एतन्नायकोपसर्पणे सागरिकापाशबन्धाद्यवसरे प्रयोज्यम् ॥ १२० ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में चाषगति चारी का लक्षण निम्नप्रकार बताया गया है—

"जहाँ पर दाहिने पैर को पहिले फैलाकर फिर अपसर्पण कर लिया जाता है अर्थात् पीछे हटाया जाता है। इसी प्रकार बायें पैर का भी दाहिने पैर के अनुसार अपसर्पण करना अर्थात् पीछे की ओर हटाकर फिर आगे बढ़ाना चाषगति चारी कही कही जाती है।" (ना० शा० १०।१८) ।

इस करण में चाषगति चारी का प्रयोग होता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित और अपवेष्टित स्थिति में सञ्चालित होते हैं तथा हाथ और पैर का थोड़ा वर्त्तन अर्थात् चक्राकार घुमाव होता है, इसलिए इसे 'आवर्त्त' करण कहते हैं। इस करण का प्रयोग नायक के उपसर्पण तथा सागरिका के पाशबन्ध के अवसर पर किया जाता है ॥ १२० ॥

विमर्श—'आवर्त्त' नामक करण के अभिनय में चाषगति चारी का प्रयोग होता है। इसमें दाहिने पैर को आगे फैलाकर फिर पीछे हटाया जाता है। इसी प्रकार बायें पैर को पीछे हटाकर फिर आगे की ओर बढ़ाया जाता है। फिर दोनों हाथों का उद्वेष्टित (खोलना) और अपवेष्टित (बन्द करना) रूप में संचालन होता है और हाथ-पैर चक्रगति से घूमते हैं। इस करण का प्रयोग भय से पीछे हटने के अभिनय में होता है ॥ १२० ॥

६०—डोलापाद

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में दोलित किया (झुलाया) जाता है और दोनों हाथों को उसी प्रकार संचालित किया जाता है, वह 'दोलापाद' करण कहा जाता है ॥ १२१ ॥

---

१. क-च. पादमुप्क्षिप्तं ।
२. ख-घ. दोलपादं प्रकीर्तितम् । क-च. तदुक्तं दोलपादकम् ।

आक्षिप्तं [1]हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तयेत्[2] ।
रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते[3] करणे द्विजाः ।। १२२ ।।

६०. डोलापादम् ।

पूर्वमूर्ध्वजानुचारी । (ना. शा. १०-३३) ततो दोलापादा ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं विलोलयेत् ।
पातयेदञ्चितं चैव दोलापादा ॥ (ना. शा. १०-३६)

डोलाहस्तावेव (ना. शा. ९-१४८) प्रयोगवशगौ इति डोलापादं करणम् ॥ १२१ ॥

अभिनव—डोलापाद करण में पहिले ऊर्ध्वजानु चारी फिर उसके बाद दोला-पाद चारी का प्रयोग होता है । दोलापाद चारी का लक्षण है—

"यदि कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में दोलित किया जाय अर्थात् झुलाया जाय और फिर अञ्चित कर भूमि पर गिरा दिया जाय तो 'दोलापाद' चारी होती हैं ।" (ना० शा० १०।३६) ।

इस डोलापाद करण में प्रयोग के अनुसार 'डोलाहस्त' रहता है अतः इसे 'डोलाहस्त' करण कहते हैं ॥ १२१ ॥

विमर्श—डोलाहस्त नामक करण में पहिले ऊर्ध्वजानु चारी का प्रयोग होता है अर्थात् कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु को वक्षःस्थल के समान कक्ष में रखा जाता है । फिर दूसरे पैर को क्रम से स्थिर रखा जाता है । इसके बाद दोलापादचारी का प्रयोग होता है, अर्थात् कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में झुलाया जाता है, फिर अञ्चित करके गिराते हैं । फिर पैरों के अनुसार हाथों को भी डोलाहस्त मुद्रा में रखा जाता है ॥ १२१ ॥

६१—विवृत्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ और पैर को आक्षिप्त किया जाय अर्थात् जहाँ पर हाथ और पैर को बाहर की ओर फेंका जाय, त्रिक का विवर्त्तन करे अर्थात् चारों ओर घुमाये तथा दोनों हाथों को रेचित करें, वह 'विवृत्त' करण कहलाता है ॥ १२२ ॥

१. क-म. आक्षिप्तं चक्रपादं च । क-म. आक्षिप्तहस्तपादं च ।

२. ख-घ. त्रिकं च विवर्तितम् । क-च. त्रिकं च परिवर्त्तयेत् ।
क-छ. त्रिकं च विनिर्वात्तितम् ।

३. क-ठ त-म. निवृत्ते । क-च. विवृते ।

सूचीविद्धं विधायाथ त्रिकं तु विनिवर्तयेत्[1] ।
करौ च[2] रेचितौ कार्यौ विनिवृत्ते द्विजोत्तमाः ॥ १२३ ॥

---

६१. विवृत्तम् ।

आक्षिप्य वामपादमाक्षिप्य स्वदेहक्षेत्रादपसारितवृत्याऽऽवर्त्य हस्तं च व्यार्वाततपरिर्वाततिाभ्यां तथैवाक्षिप्य त्रिकं भ्रमरिकया (ना. शा. १०-४५) वलयेत् । तद्रेचितौ च हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ हस्ताविति त्रिकविवर्तनयोगात् विवृत्तम् । अस्योद्धतगतिपरिक्रमे प्रयोगः ॥ १२२ ॥

६२. विनिवृत्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची ॥" (ना. शा. १०-३४)

अभिनव—इस करण में आक्षिप्ता चारी के द्वारा बांये पैर को आक्षिप्त करके अर्थात् उछालकर अपने शरीर के क्षेत्र से बाहर निकालकर अपसारित वृत्ति से घुमाकर और हाथ को व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित क्रिया के द्वारा उसी प्रकार आक्षिप्त करके फिर भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक को धुमाये। फिर दोनो हाथों को रेचित अर्थात् हंसपक्ष द्रुतभ्रम मुद्रा में संचालित करे। इस प्रकार त्रिक को घुमाकर संचालित करने के कारण इस करण को 'विवृत्त' करण कहते हैं। उद्धत गति के परिक्रमण करने के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १२२ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार इस करण में हाथ और पैर दोनों को आक्षिप्त कर त्रिक का विवर्त्तन किया जाता है तथा दोनों हाथों को रेचित किया जाता है, किन्तु अभिनवगुप्त 'हस्तपादं' के स्थान पर 'वामपादं' पाठ मानकर उसका अर्थ करते हैं कि इस करण में आक्षिप्ताचारी के द्वारा बायें पैर का आक्षेपण करके शरीर की सीमा से बाहर निकालकर हाथों को चक्राकार गति से व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित रूप में आक्षिप्त करके भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक को घुमाते हैं और हाथों को रेचित करते हैं ॥ १२२ ॥

६२–विनिवृत्त

अनुवाद—जहाँ पर सूचीविद्ध चारी का प्रयोग करके त्रिक को चारों ओर घुमाते हैं और दोनों हाथो को रेचित क्रिया के द्वारा संचालित करते हैं, उसे 'विनिवृत्त' करण कहते हैं ॥ १२३ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र में सूची का लक्षण निम्नप्रकार दिया है—

"यदि कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु के ऊपर लेजाकर फैला दे, फिर अग्रभाग से उसे नीचे गिरा दे तो 'सूची' चारी कहलाती है," (ना० शा० १०।३४)।

---

१. क-त. परिवर्त्तयेत् ।   २. ख-घ. करौ तु ।

[1]पार्श्वक्रान्तक्रमं कृत्वा [2]पुरस्तादथ पातयेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ [3]पार्श्वक्रान्तं तदुच्यते ॥ १२४ ॥

चार्या द्वितीयं पादं पार्ष्णिभागे स्वस्तिकयोजनया विद्धाचार्या[4] त्रिकस्यैकपार्श्वे विवर्तनस्य प्रत्यावर्तनक्रमेण निर्वृत्ति कुर्यात् । "अन्योन्योन्यजङ्घावेधेन बद्धया" (ना. शा. १०-२४) वा चार्योरुवलनं कुर्यात् । हस्तौ च रेचितौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ । उक्तं एवास्य प्रयोगः (विवृत्तवत्) ॥ १२३ ॥

६३. पार्श्वक्रान्तम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वस्थाने स्थितं न्यसेत् ।"
(ना. शा. १०-३२)

इति पार्श्वक्रान्ता चारी । तयाऽग्रे चरणं पातयेत् । हस्तयोश्च पादप्रयोगानुसारेण पर्यायेण पुरः प्रसारणम् । यदि वा प्रयुज्यत इति प्रयोगः गतिप्रचारयुद्धादिः । तत्र पादावुचितौ हस्तावित्येवं सर्वत्र । एतच्च रौद्रप्रधाने भीमसेनादेः परिक्रमे ॥ १२४ ॥

इस सूची चारी के द्वारा दूसरे पैर के पार्ष्णिभाग (एड़ी) में स्वस्तिक की रचना करे, फिर बद्धाचारी के द्वारा त्रिक (कटिप्रदेश) के एक पार्श्व में व्यावर्त्तन एवं प्रत्यावर्त्तन क्रम से निवृत्ति करे। जङ्घाओं के परस्पर वेध से (मिलन से) निष्पन्न बद्धाचारी से ऊरु (जंघाओं) का वलन करे, फिर दोनों हंसपक्ष द्रुतभ्रम संज्ञक हाथों को रेचित करे अर्थात् शीघ्रता से चक्राकार धुमाये। इस करण का प्रयोग विवृत्त करण की तरह होता है ॥ १२३ ॥

६३–पार्श्वक्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पार्श्वक्रान्त चारी का प्रयोग करके पैरों को आगे की ओर गिरा दे और दोनो हाथों को प्रयोग के अनुसार आगे की ओर संचालित करे, वहाँ 'पार्श्वक्रान्त' करण होता है ॥ १२४ ॥

अभिनव—"कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उठाकर पार्श्वभाग में संस्थित करे" (ना० शा० १०।३२)। इसको पार्श्वक्रान्ता चारी कहते हैं। उस पार्श्वक्रान्ता चारी के द्वारा आगे की ओर एक पैर को गिराये अर्थात् भूमि पर पटके और दोनों हाथों को पैरों के प्रयोग के अनुसरण पर क्रम से आगे की ओर फैलाये। अथवा जो

---

१. ख. पार्श्वजानुक्रमं कृत्वा । क-ठ. म. पार्श्वक्रान्तं त्रिकं कृत्वा ।

२. क-ठ. म. पुरस्तात् सम्प्रसारयेत् ।

३. ख-घ. पार्श्वक्रान्तमुदाहृतम् ।

४. ज. विद्धाध्वा ।

पृष्ठतः [1]कुञ्चितः पादो वक्षश्चैव समुन्नतम् ।
तिलके च करः स्थाप्यस्तन्निस्तम्भितमुच्यते[2] ॥ १२५ ॥
पृष्ठतो वलितं पादं शिरोधृष्टं प्रसारयेत् ।
[3]सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तं तदुच्यते ॥ १२६ ॥

---

६४. निस्तम्भितम् ।

द्वितीयपादस्य पृष्ठे पार्ष्णिभागे कुञ्चितः । समुन्नतमिति । निर्भुग्नं स्तब्धं च निम्नपृष्ठं चेति । खटकामुखः कर इति तदेतद्देशो मध्यमाङ्गुलिरूपो[4] ललाटे तिलकवदिति । पादेन भुव आघातान्निस्तम्भितं महेश्वराभिनयविषयम् । वृश्चिकोऽत्र पाद इत्येके ॥ १२५ ॥

प्रयोग किया जाता है वह प्रयोग है—जैसे गति-प्रचार, युद्ध आदि । उनमें सब जगह हाथ और पैरों का उचित प्रयोग करे। रौद्रप्रधान भीमसेन आदि के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १२४ ॥

६५—निस्तम्भित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर पृष्ठ भाग में कुञ्चित रखे, वक्षःस्थल को समुन्नत करे तथा तिलक के स्थान ललाट पर एक हाथ तिलक लगाने की मुद्रा में रखे वहाँ 'निस्तम्भित' करण होता है ॥ १२५ ॥

अभिनव—इस करण में एक कुञ्चित पैर दूसरे पैर के पृष्ठभाग एड़ी पर रखा जाता है। समुन्नत का अर्थ है कि वक्षःस्थल को निर्भुग्न अर्थात् स्तब्ध (स्थिर) एवं निम्नपृष्ठ करे। खटकामुख मुद्रा में स्थित हाथ की मध्यमा अङ्गुली से ललाट पर तिलक लगाने के समान स्थित हो। पैर से भूमि पर आघात करने से निस्तम्भित होता है। इस करण का प्रयोग महेश्वर शिव के अभिनय में होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार यह पैर वृश्चिक चरण मुद्रा में न्यस्त किया जाता है ॥ १२५ ॥

विमर्श—इस करण में कुञ्चित पाद पीछे की ओर मुड़ा होता है, वक्षःस्थल निर्भुग्न और पार्श्व उन्नत होता है तथा खटकामुख मुद्रा में हाथ की मध्यमा अंगुली से ललाट पर तिलक किये जाने का अभिनय होता है। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में इसे 'निशुम्भित' नाम से अभिहित किया गया है। दोनों का लक्षण समान है ॥ १२५ ॥

---

१. ख-ष. कुञ्चितौ पादौ ।

२. म-घ. निशुम्भितमुच्यते । ख. निसुम्भितमुच्यते ।

३. क-म. भ. मध्यमाङ्गुलिस्थे ।

४. ख. घ. हस्तौ च मण्डलाविद्धौ । ख-क. सर्वतोमण्डलाबद्धं ।

अतिक्रान्तक्रमं[1] कृत्वा पुरस्तात्संप्रसारयेत्[2] ।
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्तितो ॥ १२७ ॥

६५. विद्युद्भ्रान्तम् ।

पृष्ठत ऊरुमूलदेशात्प्रभृति वलितं चक्रवद्भ्रामितं तत एव प्रयोक्तुः शिरःक्षेत्रेण श्लिष्टं सर्वतो मण्डलगत्या आख्यया आविद्धं चतुरं कृत्वा प्रसारयेत् । प्रकर्षेण स [3]सर्वदिक्षु पर्यायेण सारयेत् । तत्पदस्य विद्युत उद्भ्रमणाद्विद्युद्भ्रान्तमुद्धतगतिपरिक्रमादिविषयम् ॥ १२६ ॥

६६. अतिक्रान्तम् ।

अतिक्रान्ता चारी (ना. शा. १०-३०) व्याख्याता । पुरस्तादिति स्वदेहस्याग्रेण । एतदपि गतिपरिक्रमादिविषयमेव । एवमन्यस्यापि यस्याभिनयविषयो नोपयोगस्तस्य विषयो मन्तव्यः ॥ १२७ ॥

६५–विद्युद्भ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पैर को पीछे की ओर से घुमाकर शिर (मस्तक) का स्पर्श करता हुआ प्रसारित करे तथा हाथ को मण्डल तथा आविद्ध मुद्राओं में संचालित करे वहाँ 'विद्युद्भ्रान्त' नामक करण होता है ॥ १२६ ॥

अभिनव—जहाँ पर पैर को पीछे की ओर से उरु प्रदेश अर्थात् जङ्घा के क्षेत्र से लेकर चक्र के समान घुमाये फिर प्रयोक्ता के शिरःक्षेत्र से श्लिष्ट होता हुआ सर्वतोमण्डल गति से आविद्ध कर फैला दे। अर्थात् प्रकृष्ट रूप से सभी दिशाओं में क्रम से फैला दे। इस प्रकार विद्युत् के समान ऊपर की ओर घुमा देने से विद्युद्भ्रान्त करण होता है। इस करण का प्रयोग उद्धत गति से परिक्रमण में किया जाता है ॥ १२६ ॥

विमर्श—इस करण में विद्युद्भ्रान्ता चारी का प्रयोग होता हे इसमें एक पैर को पीछे की ओर ले जाकर इस प्रकार फैलाये कि वह शिर का स्पर्श करे और बाहुओं को मण्डलगति से आविद्ध करके संचालित करते हैं ॥ १२६ ॥

६६–अतिक्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर पैरों को अतिक्रान्ता चारी में रखकर एक पैर को आगे की ओर फैलाये और दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार (पैरों की गति के अनुसार) संचालित करे, वहाँ पर 'अतिक्रान्त' करण होता है ॥ १२७॥

---

१. ग. अतिक्रान्तं क्रमं ।

२. क-च. पुरस्तात्संप्रयोजयेत् ।

३. क. सर्वादिषु ।

आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम् ।
[1]द्वितीयो रेचितो हस्तो विवर्तितकमेव तत् ॥ १२८ ॥
[2]कर्णेऽञ्चितः करो वामो लताहस्तश्च दक्षिणः ।
[3]दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितकं[4] भवेत् ॥ १२९ ॥

६७. विवर्तितकम् ।

आक्षिप्तहस्तापेक्षया द्वितीयो हस्तः । तं हंसपक्षद्रुतभ्रमक्रमं कुर्यात् ॥ १२८ ॥

अभिनव—अतिक्रान्ता चारी का लक्षण नाट्यशास्त्र के दशवें अध्याय में बताया गया है जिसमें कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उठाकर सामने फैलाया जाता है फिर ऊपर करके नीचे गिराया जाता है। इस प्रकार इस करण में पैर को ऊपर उठाकर शरीर के आगे की ओर फैलाते हैं और पैरों की गति के अनुसार हाथों का संचालन करते हैं। इस करण का प्रयोग गति, परिक्रमा आदि के अभिनय में होता है ॥ १२७ ॥

६७—विवर्त्तित

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ और पैर आक्षिप्त (फेंके गये) होते हैं और त्रिक विवर्त्तित होते हैं अर्थात् चक्राकार घूमते हैं तथा दूसरा हाथ रेचित मुद्रा में न्यस्त करते हैं, वहाँ 'विवर्त्तित' करण होता है ॥ १२८ ॥

अभिनव—इसमें आक्षिप्त हाथ की अपेक्षा दूसरे हाथ को हंसपक्ष द्रुतभ्रम मुद्रा में रेचित किया जाता है ॥ १२८ ॥

विमर्श—इस करण में हाथ, पैर आक्षिप्त होते हैं, त्रिक के विवर्त्तन के साथ पार्श्व भी घूमता है, हाथ रेचित होते हैं, उनमें एक हाथ आक्षिप्त होता है अभिनव के अनुसार दूसरा हाथ हंसपक्ष मुद्रा में शीघ्रता से घूमता है ॥ १२८ ॥

६८—गजक्रीडितक

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ हाथ कान के पास अञ्चित (मुड़ा हुआ) मुद्रा में रहता है और दाहिना हाथ 'लता' हस्तमुद्रा में रहता है तथा पैर दोलापाद चारी में होता है, उसे 'गजक्रीडितक' करण कहते हैं ॥ १२८ ॥

१. ख. घ. पुनश्च रेचयेद्धस्तम् ।

२. क-च. ख. कर्णाञ्चितः करो ।

३. ख. घ. दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितके भवेत् ।

४. ख. ग. गजक्रीडितके ।

द्रुतमुत्क्षिप्य चरणं पुरस्तादथ पातयेत् ।
तलसंस्फोटितौ हस्तौ [1]तलसंस्फोटिते मतौ[2] ॥ १३० ॥

६८. गजक्रीडितकम्

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।" (ना. शा. ९-१६९) इति यः करिहस्तो लक्ष्यते वृत्तमध्ये तस्यैव यदा त्रिपताकोऽसावञ्चितक्रियाविष्टो डोलापादचारी तदा गजक्रीडितम् । क्रियाविष्टत्वाच्चवाङ्गपर्यायोऽत्र लभ्यते । प्रयोगश्चास्य नामोचित एव विषये । यथा "अरुवद्रणा" इत्यादौ । ॥ १२९ ॥

६९. तलसंस्फोटितम् ।

अतिक्रान्तया (ना. शा. १०-३०) चार्या दण्डपादया (ना. शा. १०-४४) वा चरणमुक्षिप्याक्षिप्तं कृत्वा तथैवाग्रे निपातयेत् । तत्समकालं च पताकौ हस्तौ संश्लेषितशब्दादभिहितौ इति तलसंस्फोटितम् । तस्यैतद्विषय एव प्रयोगो, यथा "तालाद्दे वी सुसुखसुभसइ जणु" इत्यादौ ॥ १२९ ॥

अभिनव—'समुन्नत अर्थात् ऊपर उठा हुआ 'लताहस्त' एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर विलोलित होता है, (ना० शा० ९।१९९) इस प्रकार जो 'करिहस्त' का लक्षण किया गया है उसी को यदि अपने घेरे के भीतर त्रिपताक मुद्रा में अञ्चित क्रिया से आविष्ट करते हैं और पैर दोलापाद चारी में स्थित होता है तो 'गजक्रीडितक' करण होता है । क्रियाविष्ट कहने से यहाँ क्रम से अङ्गो का संचालन लक्षित होता है । इस करण का प्रयोग नाम के अनुसार अभिनय में होता है । जैसे 'अरुणद्रव' इत्यादि में ॥ १२८ ॥

६९—तलसंस्फोटित

अनुवाद—जहाँ पर पैर को शीघ्रता से ऊपर उठाकर आगे की ओर गिराया जाता है और दोनो हाथ 'तलसंस्फोटित' मुद्रा अर्थात् ताली बजाने की स्थिति से युक्त होता है, वह तलसंस्फोटित' करण कहलाता है ॥ १२९ ॥

अभिनव—इस करण में अतिक्रान्ता चारी अथवा दण्डपादा चारी के द्वारा पैरों को ऊपर उठाकर फिर उसी प्रकार आक्षिप्त कर (फेंक कर) आगे की ओर गिराया जाता है । इसी समय दोनों पताक हस्तों को संश्लिष्ट कर शब्द करते हैं अर्थात् दोनों हाथों से बार-बार ताली बजाते हैं । इसलिए उसे 'तलसंस्फोटित' करण कहते हैं । इस करण का प्रयोग तालियों के बजाने के अभिनय में होता है ॥ १२९ ॥

१. क-प. तलसंस्फोटिकौ ।
२. ख. ग. घ. स्मृतौ ।

[1]पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ ।
[2]समुन्नतं शिरश्चैव गरुडप्लुतकं भवेत् ॥ १३१ ॥
[3]सूचीपादो नतं पार्श्वमेको वक्षःस्थितः करः ।
द्वितीयश्चाञ्चितो [4]गण्डे गण्डसूची[5] तदुच्यते ॥ १३२ ॥

---

७०. गरुडप्लुतम् ।

वृश्चिकवच्चरणम् । एकोऽलातहस्तः (लताहस्तः) । द्वितीयो रेचितः । प्रयोगोऽस्य नामोचित एव विषये ॥ १३० ॥

७१. गण्डसूची ।

"उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ।
वामश्चैव स्वभावस्थः ॥" (ना. शा. ९-२८०)

इति सूचीपादः । अञ्चितोऽलपल्लवो गण्डक्षेत्रे । अन्ये तु सूचीपादं गण्डक्षेत्र-प्राप्तमिच्छन्ति । अन्ये तु सूचीमुखं नृत्तहस्तं गण्डाञ्चितं पुनः क्रियाविष्टमाहुः ।

७०—गरुड़प्लुतक

अनुवाद—जहाँ पर पैर को पीछे की ओर प्रसारित किया जाय अर्थात्—फैलाया जाय और दोनो हाथों को क्रमशः 'लता' और 'रेचित' मुद्रा में रखा जाय अर्थात् एक हाथ 'लता' मुद्रा में और दूसरा हाथ 'रेचित' क्रिया में रखा जाय अर्थात् तथा शिर समुन्नत हो तो वहाँ 'गरुड़प्लुतक' करण होता है ॥ १३० ॥

अभिनव—इस करण में पैर वृश्चिक के समान पीछे की ओर मुड़ा रहता है। एक हाथ लताहस्त मुद्रा में और दूसरा हाथ रेचित मुद्रा में न्यस्त रहता है। इस करण का प्रयोग नाम के अनुसार किये जाने वाले अभिनय में होता है ॥१३०॥

७१—गण्डसूची

अनुवाद—जहाँ पर पैर 'सूची' मुद्रा में और पार्श्व नत (झुका हुआ) होता है, एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा हाथ अञ्चित मुद्रा में कपोल पर स्थित होता है वहाँ पर 'गण्डसूची' करण होता है ॥ १३१ ॥

---

१. ग. पृष्ठप्रसारितौ पादौ लतारेचितकौ । ख-घ. पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ ।
   क-म. पृष्ठप्रसारितः पादः कुञ्चितौ रेचितौ करौ ।
२. ख. ग. घ. समुन्नतमुरश्चैव गरुडप्लुतके भवेत् ।
३. ख-घ. ग. सूचीपादोन्नतम् । क-म. सूचीपादौ नतौ ।
४. ख. गण्डो । ५. ख. घ. गण्डसूचि ।

[1]ऊर्ध्वापवेष्टितौ हस्तौ सूचीपादो[2] विवर्तितः ।
परिवृत्तत्रिकं[3] चैव परिवृत्तं तदुच्यते ॥ १३३ ॥

"हस्तौ तु सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुष्ठकौ यदा ।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ" (ना. शा. ९-१९९) इति ।

अन्ये तु सूच्यास्यमभिनयहस्तमाहुः ।
"खटकाख्ये यदा हस्ते तर्जनी सम्प्रसारिता ।
हस्तः सूचीमुखो नाम ॥" इति (ना. शा. ९-६५)

अत्र पक्षे गण्डसंश्रयप्रधानभूषणाभिनयविषयोऽस्य प्रयोगः यथा । "गंडप्पळी वण्णज्जळ एसो फळके अइदाम" इत्यादौ ॥ १३१ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में सूचीपाद, सूचीमुख नृत्तहस्त तथा अलपल्लव हस्तों का प्रयोग होता है । सूचीपाद का लक्षण है—

"जहाँ पर (दाहिने पैर की) एड़ी उठी हुई हो और अंगूठे के अग्रभाग पर स्थित हो और बायाँ पैर स्वाभाविक स्थिति में हो तो वह 'सूचीपाद' कहा जाता है ।
(ना. शा. ९।२८०) ।

यह सूचीपाद का लक्षण है । गण्डक्षेत्र अर्थात् कपालप्रदेश में 'अलपल्लव' हस्त अञ्चित हो । दूसरे आचार्य तो सूचीपाद को ही गण्डप्रदेश (कपोल) में प्राप्त हुआ मानते हैं । अन्य आचार्य तो सूचीमुख नृत्तहस्त को गण्डप्रदेश में (कपोल पर) अञ्चित फिर क्रियाविष्ट कहते हैं । सूचीमुख का लक्षण है—

जब दोनों सर्पशीर्ष हस्तों की मध्यमा और अङ्गुष्ठ अंगुलियों का मुखभाग तिरछा फैला हुआ हो तो उसे 'सूचीमुख' कहते हैं ।" (ना. शा. ९।१२९) ।

अन्य आचार्य तो 'सूचीमुख' नामक अभिनय हस्तमुद्रा के विषय में कहते हैं ।

"यदि खटकामुख हस्त की तर्जनी अँगुली को फैला दिया जाय तब 'सूचीमुख' नामक हस्त होता है ।" (ना. शा. ९।६५) ।

इस पक्ष में प्रधान रूप से कपोलों के अलङ्करण के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है । जैसे—'गाण्डप्पलीला०' इत्यादि में ॥१३१॥

७२—परिवृत्त

अनुवाद—जहाँ पर दोनो हाथ 'अपवेष्टित' मुद्रा में और पैर 'सूची' चारी से युक्त होकर विवर्तित होता है और त्रिक 'परिवृत्ति' स्थिति में होता है, वह 'परिवृत्त' करण कहलाता है ॥ १३२ ॥

---

१. ख. ऊर्ध्वाविचेष्टितौ । थ. ऊर्ध्वाववेष्टितौ ।

२. क-न. सूचीपादोऽपवर्त्तितः ।

३. ख. घ. परिवृत्तत्रिकश्चैव । क-प. भ. परिवृत्तं त्रिकं चैव ।

[1]एकः समस्थितः पाद ऊरुपृष्ठे स्थितोऽपरः ।
मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः पार्श्वजानु तदुच्यते ॥१३४॥

---

७२. परिवृत्तम् ।

"ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तावूर्ध्वदेशविवर्तनात् ।" (ना. शा. ९-२०३) सूचीलक्षणश्च (ना. शा १०-३४) पादो बद्धाचारी (ना. शा. १०-२१) माश्रित्य विचित्ररूपतया द्वितीयपादे (ना शा. १०-४५) वर्तितः अन्योन्यजङ्घासंवेधा-दिति । ततोऽपि भ्रमरिकया त्रिकं परिवर्तितमाहुः ॥ १३२ ॥

७३. पार्श्वजानु ।

उरुपृष्ठजनिस्थितः तस्यैव समस्थितपादस्योरोः द्वितीयोऽस्यापि हस्तः कट्यामर्धचन्द्र इति पार्श्वजानु । पार्श्वं ऊरुपृष्ठः तस्य पादस्य सम्बन्धि जानु येत्रेति । युद्धनियुद्धविषयमेतत् ॥ १३३ ॥

अभिनव—"ऊर्ध्व देश अर्थात् ऊपर की ओर विवर्त्तन होने से 'ऊर्ध्वमण्डी' हस्त होता है" ? (ना. शा. ९।२०४) ।

यदि सूची चारी से युक्त पैर को 'बद्धा' चारी का आश्रय लेकर विचित्र रूप से जङ्घाओं के परस्पर संश्लेष द्वितीय (बायाँ) पैर में वर्त्तित कर दे । फिर भ्रमरी चारी के द्वारा त्रिक को परिवृत्त कहा गया है ॥१३२॥

विमर्श—इस करण में दोनों हाथ ऊर्ध्वमण्डल मुद्रा में विवर्तित होते हैं अर्थात् ऊपर की ओर चक्राकार घूमते हैं । अभिनव के अनुसार इस करण को सूचीपाद और बद्धा चारी की स्थितियों के मिश्रण से माना गया है । इसमें उरु (जङ्घा) परिवृत्त अर्थात् पीछे की ओर घूमा हुआ होता है और पार्श्व विवर्त्तित रहता है । इसमें त्रिक भी भ्रमरी गति में परिवृत्त (घूमा हुआ) होता है ॥१३२॥

७३—पार्श्वजानु

अनुवाद—जहाँ वर पैर सम स्थिति में रहता है और दूसरा पैर उस (जङ्घा) पर रख दिया जाता है तथा एक हाथ मुष्टि मुद्रा में वक्षस्थल पर रख दिया जाता है, वह 'पार्श्वजानु' करण कहा जाता है ॥ १३३ ॥

अभिनव—इस करण में समपाद पैर के जङ्घा के ऊपर दूसरा पैर रखा जाता है । एक हाथ अर्द्धचन्द्र मुद्रा में कटि पर रखा जाता है और दूसरा पैर मुष्टि मुद्रा में वक्षःस्थल पर न्यस्त होता है । उरुपृष्ठस्थित पाद से सम्बद्ध जानु जहाँ हो, उसे 'पार्श्व-जानु' कहते हैं । इस करण का प्रयोग युद्ध-नियुद्ध के अभिनय में होता है ॥१३३॥

---

१. ख. एकः समुत्थितः पाद ऊरुपार्श्वस्थितः परः ।
घ. एकः समस्थितः पाद ऊरूपार्श्वे स्थितोऽपरः ।

पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चितजानुकः ।
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्यात् गृध्रावलीनकम् ।। १३५ ।।
उत्प्लुत्य चरणौ कार्यावग्रतः स्वस्तिकस्थितौ ।
सन्नतौ च तथा हस्तौ सन्नतं तदुदाहृतम् ।। १३६ ।।

---

७४. गृध्रावलीनकम्

पार्श्वात्प्रसारिपादोऽङ्गुष्ठभूमिसंश्लेषादञ्चितजानुकः । लताहस्तौ च पार्श्वगौ । तत्पक्षिनिरूपणादौ गृध्रावलीनकम् ।। १३४ ।।

७५. सन्नतम् ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणप्लुता ।।" (ना. शा. १०-४३) इत्यनया चार्योत्प्लुत्याग्रदेशे पादं स्वस्तिकं कुर्यात् । सन्नतौ च दोलाहस्तौ ।

"अंसौ प्रशिथिलौ हस्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ" (ना. शा. ९-१४८) एतदधमप्रकीर्तनादुपसर्पणादिषये ।। १३५ ।।

७४—गृध्रावलीनक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर पीछे की ओर फैलाकर जानु (घुटनों) को कुछ मोड़ दिया जाय और दोनों बाहुओं को प्रसारित कर दे अर्थात् फैला दे तो वहाँ 'गृध्रावलीनक' करण होता है ।। १३४ ।।

विमर्शः—इस करण में दोनों पैर पीछे की ओर अञ्चित होते हैं, एक पैर का घुटना झुका हुआ रहता है और अँगूठा भूमि का स्पर्श करता है। दोनों हाथ लता हस्त-मुद्रा में प्रसारित होते हैं और पार्श्व प्रसारित चेष्टा में फैला हुआ रहता है ।।१३४।।

७५—सन्नत

अनुवाद—जहाँ पर पैरों को उछालकर आगे की ओर स्वस्तिक मुद्रा में और दोनों हाथों को सन्नत (झुका हुआ या दोला मुद्राओं में) रखे, उसे 'सन्नत' करण कहा जाता है ।। १३५ ।।

अभिनव—"जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर फिर थोड़ा कूदकर-(उछलकर) नीचे की ओर गिरा दे और जङ्घा को अञ्चित परिक्षिप्त कर दे तो 'हरिण-प्लुता' चारी होती है।" (ना. शा. १०।४३) ।

इस चारी के द्वारा उछलकर पैर को आगे की ओर स्वस्तिक मुद्रा में रखे, फिर दोनों हाथों को सन्नत अर्थात् दोलाहस्त मुद्रा में रखे। दोलाहस्त का लक्षण निम्न प्रकार है।

जहाँ दोनों कन्धे शिथिल अर्थात् ढीले हों और दोनों पताकहस्त लटकते हुए हों, उसे 'दोलाहस्त' कहते हैं,

इस करण का प्रयोग अधम व्यक्ति के चलने के अभिनय में होता है ।। १३५ ।।

[1]कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य कुर्यादग्रस्थितं भुवि ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ सा सूची परिकीर्तिता[2] ॥ १३७ ॥
[3]अलपद्मः शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः ॥ १३८ ॥

---

७६. सूची ।

अग्रतः स्थितमिति ॥ १३६ ॥

७७. अर्धसूची ।

शिरःक्षेत्रे हस्तः । [4]तच्चार्यामेव करणमेकेनाङ्गेनेत्यर्धसूची[5] ॥ १३७ ॥

७६—सूची

अनुवाद—जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर आगे की ओर पृथ्वी पर स्थापित किया जाय और प्रयोग के अनुसार हाथों का संचालन करे तो वहाँ पर 'सूची' नामक करण होता है ॥ १३६ ॥

अभिनव—आगे की ओर रखे ॥ १३६ ॥

विमर्श—इस करण में कुञ्चित पैर को सूची चारी (ना. शा. १०।३४) में ऊपर उठाकर सामने भूमि पर स्थापित किया जाता है और हाथों की चेष्टाएँ पैरों के अनुसार होती है ॥ १३६ ॥

७७—अर्धसूची

अनुवाद—जहाँ पर हाथ अलपद्म मुद्रा में शिर पर स्थित किया जाय और दायाँ पैर सूची चारी में न्यस्त हो वहाँ 'अर्धसूची' नामक करण होता है ॥ १३७ ॥

अभिनय—'शिर के क्षेत्र में स्थित हाथ शिरोहस्त होता है । पैर सूची चारी में होता है । एक अङ्ग से क्रिया किये जाने के कारण इसे 'अर्धसूची' कहते हैं ॥ १३७ ॥

विमर्श—इस करण में सूचीचारी (ना. शा. १०।३४) के अनुसार दाहिना पैर कुञ्चित कर दूसरे समपाद पर न्यस्त किया जाता है । एक हाथ अलपल्लव मुद्रा में शिर के पार्श्व भाग तथा दूसरा हाथ वक्ष के पास न्यस्त किया जाता है ॥ १३७ ॥

---

१. क. अञ्चितम् । २. ख-ग. घ. तत्सूचि परिकीर्तितम् ।
३. ख. वामः पादः शिरोदेशे । घ. अलपद्मः शिरोदेशे ।
४. क. (टि०) तच्चार्या एव पादः । ङ.–सूचीचार्या एय पादः ।
५. क-म. इत्यर्धसूचितम् ।

पादसूच्या यदा पादो द्वितीयस्तु प्रविध्यते[1] ।
[2]कटिवक्षःस्थितौ हस्तौ सूचीविद्धं तदुच्यते ॥ १३९ ॥
कृत्वोरुवलितं पादमपक्रान्तक्रमं [3]न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ [4]हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते ॥ १४० ॥

---

७८. सूचीविद्धम् ।

प्रविध्यत इति सूचीपादौ । द्वितीय इति पादः पार्ष्णिस्थः क्रियत इत्यर्थः । कटिस्थितः पक्षवञ्चितकोऽर्धचन्द्रो वा द्वितीयः खटकामुख एव वक्षसि । चिन्ता-विषयेऽस्य प्रयोगः । यथा—"कालीकरमिकस्सकहम्" इत्यादौ ॥ १३८ ॥

७९. अपक्रान्तम् ।

"ऊरुभ्यां वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैतदपक्रान्ता ॥" (ना. शा. १०-३१)

इत्यपक्रान्तक्रमं कृत्वोरुवलितबद्धा चारीमन्योन्यजङ्घासंयोगाकृत्वा तु स्वस्तिक-मूरुभ्यां वलनमित्येवंभूतां कुर्यात् ॥ १३९ ॥

७८—सूचीबद्ध

अनुवाद—जहाँ पर सूची चारी की प्रक्रिया से एक पैर दूसरे पैर से संश्लिष्ट होता है और दोनों हाथ क्रमशः एक हाथ कटि पर और दूसरा वक्षः-स्थल पर स्थित होता है, उसे 'सूचीविद्ध' करण कहते हैं ॥ १३८ ॥

अभिनव—'प्रविध्यते' का अर्थ है कि सूचीपाद की प्रक्रिया से दूसरा पैर एड़ी पर स्थित होता है। (दोनों हाथों में) एक हाथ पक्षवञ्चितक अथवा अर्द्धचन्द्र चेष्टा में कटि पर स्थित होता है और दूसरा हाथ खटकामुख मुद्रा में (खटकामुख हाथ) वक्षःस्थल पर स्थित होता है। इस करण का प्रयोग चिन्ता के अभिनय में किया जाता है ॥ १३८ ॥

७९—अपक्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर जङ्घा को वलित करके चरणों को अपक्रान्ता चारी में रखते हैं और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित किया जाता है, वहाँ पर 'अपक्रान्त' करण होता है ॥ १४० ॥

---

१. घ. प्रवीड्यते ।

२. क-ख. ग. कटिदेशस्थितौ विद्धौ ।

३. क-ब. नयेत् ।

४. क-त. हस्तावपक्रान्ते प्रकीर्त्तिते ।

वृश्चिकं [1]चरणं कृत्वा[2] रेचितौ च तथा करौ।
तथा त्रिकं विवृत्तं च मयूरललितं भवेत् ॥ १४१ ॥
[3]अञ्चितापसृतौ पादौ शिरश्च परिवाहितम् ।
[4]रेचितौ च तथा हस्तौ तत्सर्पितमुदाहृतम् ॥ १४२ ॥

---

८०. मयूरललितम् ।

वृश्चिकं पादं विधाय रेचितौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ करौ कृत्वा पादं तमेवोरुदेशे निकुञ्च्य भ्रमरिकां चारीं कुर्यादिति मयूरनृत्तानुकारि मयूरललितम् ।

"अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन भ्रमरी भवेत् ॥" (ना.शा. १०-४५) ॥१४१॥

अभिनव—"जहाँ पर उरुओं (जङ्घाओं) का वलन करके कुञ्चित पैर का उद्धरण करे अर्थात् पैर को ऊपर उठाये, फिर पार्श्व में गिरा दे, वहाँ 'अपक्रान्ता' चारी होती है।" (ना. शा. १०।३१) ।

इस प्रकार अपक्रान्त चारी की क्रिया करके उरुओं का वलन करे फिर जङ्घाओं का वलन करे, इस प्रकार 'अपक्रान्त' करण रचित होता है ॥ १४० ॥

८०—मयूरललित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर को वृश्चिक चेष्टा में तथा दोनों हाथों को रेचित क्रिया में रखा जाता है फिर त्रिक का विवर्त्तन किया जाय तो वहाँ 'मयूरललित' नामक करण होता है ॥ १४१ ॥

अभिनव—इस करण में पैर को वृश्चिक चेष्टा में न्यस्त करके दोनों हाथों को हंसपक्ष मुद्रा में रेचित करे फिर पैर को उरु-प्रदेश में कुञ्चित करके 'भ्रमरी' चारी की रचना करे। इस प्रकार 'मयूरललित' करण है। भ्रमरी चारी का लक्षण इस प्रकार है।

'यदि पैर को अतिक्रान्ता चारी में ऊपर की ओर उठाकर त्रिक का परिवर्त्तन करे और फिर द्वितीय पाद के तलुवे से भ्रमण करने से 'भ्रमरी' चारी कहलाती है।' (ना. शा. १०।४५)

---

१. ख-घ. करणं ।
२. क-ठ. म. रेचितं च पदद्वयं । क-न. करद्वयम् ।
३. क-म. अञ्चितोऽवगतः पादः शिरश्च परिवारितम् ।
क-ख. च. अन्तरापसृतौ पादौ । क-छ. ब. अञ्चितोपगतः पादः ।
४. ख-घ. रेचितौ च करौ यत्र ।

[1]नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ।
[2]क्षिप्राविद्धकरं चैव दण्डपादं तदुच्यते ॥ १४३ ॥

---

८१. सर्पितम् ।

"पार्ष्णी (पार्ष्णिः) यस्य स्थितौ (स्थिता) भूमावुर्ध्वमग्रतलं भवेत् ।

अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादोऽञ्चित उच्यते ॥" (ना. शा. ९-२७५)
अञ्चितपादः सन्नपसृतो द्वितीयपादनिकटात्पलायितो यः तत् समकालमेव तत्पार्श्वगं शिरः । तथेति तत्पार्श्वगं एव हस्तो रेचितः । पुनरयं द्वितीयकर-पादस्य विधिः । तत्पार्श्वगतमेव च शिरः । अत एव च परिवाहितम् ।

यद्वक्ष्यति—

"पर्यायशः पार्श्वगतं शिरः स्यात्परिवाहितम् ।" (ना. शा. ८-२२७)

एतच्च पादकृतमदोपसर्पणविषयमिति मानं (नाम) बलाद् गम्यते ॥ १४१ ॥

८१—सर्पित

अनुवाद—यदि अञ्चित स्थिति में दोनों पैर अपसृत किये जाँय (हटाये जाँय) तथा शिर परिवाहित हो अर्थात् क्रम से पार्श्वों में घूमता हो और दोनों हाथ रेचित स्थिति में सञ्चालित किये जाँय तो 'सर्पित' नामक करण होता है ॥ १४२ ॥

अभिनव—"जिस पैर की एड़ी भूमि पर स्थित हो, अग्रतल ऊपर की ओर उठा हो और सारी अँगुलियाँ अञ्चित हों, उसे 'अञ्चित' पाद कहते हैं" ।

इस प्रकार एक पैर अञ्चित मुद्रा में होता हुआ अपसृत होता है अर्थात् द्वितीय पैर के निकट से पलायित होता है, उसी समय शिर पार्श्व में स्थित होता है । 'तथा' पद से सूचित होता है कि उसी पार्श्व में रेचित हस्त भी होता है । इसी प्रकार यही क्रम द्वितीय पैर और हाथ से भी किया जाता है। जिस ओर का हाथ-पैर सञ्चालित होता है उसी पार्श्व में शिर भी घूमता है । इसलिए इसे शिर को 'परिवाहित' कहा गया है । परिवाहित का लक्षण इस प्रकार है—

"क्रम से (बारी-बारी) शिर को पार्श्व में ले जाना 'परिवाहित' कहलाता है ।" (ना. शा. ८।२६)

इस करण का प्रयोग मदमत्त अपसर्पण के अभिनय में होता है ॥१४२॥

---

१. क-न. कुञ्चितं करणम् । क-ब. नूपुरं वलितं ।

२. ख-ब. क्षिप्रविद्धं करं । ग. क्षिप्रविद्धकरं चैव । क-प. म. क्षिप्तं विद्धं करञ्चैव ।

[1]अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्याद्धरिणप्लुतम् ॥ १४४ ॥

८२. दण्डपादम् ।

"पृष्ठतोऽभ्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेद्भमौ चारी नूपुरपादिका ॥" (ना शा. १०-३५)

इत्येतदनन्तरमेव दण्डपादादिपुरश्चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ।

"क्षिप्रापविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता ।" (ना. शा. १०-४४)

इत्येतत्सहितमेव पादसहितदण्डत्वरितहस्तं न्यसेदिति साटोपपरिक्रमादिविषय-मेतत् ॥ १४३ ॥

८३. हरिणप्लुतम् ।

इदृशस्यैव हरिणप्लुता चारी (ना. शा. १०-४३) भविष्यति । तस्यास्तु करणप्रवेशः प्रागेवोक्तः (सन्नतकरणव्याख्यावसरे) ॥ १४४ ॥

८२—दण्डपाद

अनुवाद—जहाँ पर पैर को 'नूपुर' चारी में रखकर 'दण्डपाद' चारी की प्रक्रिया में फैलाया जाता है और हाथ आविद्ध मुद्रा में शीघ्रता से सञ्चालित होता है या क्षिप्त होता है, वह 'दण्डपाद' चारी कहलाती है ॥ १४३ ॥

अभिनव—"जहाँ पर पैर को पीछे की ओर से अञ्चित करके अग्रतल को शीघ्रता से भूमि पर गिरा दे, वहाँ 'नूपुरपादिका' चारी होती है ।" (ना. शा. १०।४४)

इस चारी के करने के बाद ही दण्डपादा चारी को करके शीघ्रता से पैर को दण्डवत् फैला दे ।

"पैर को शीघ्रता से आविद्ध करना 'दण्डपादा' चारी होती है ।"
(ना. शा. १०।४४)

इस दण्डपादा चारी के साथ ही शीघ्रता से दण्डहस्त का भी विन्यास करे । इस करण का प्रयोग आडम्बरपूर्ण गति के अभिनय में होता है ॥ १४३ ॥

विमर्श—इस करण में पहिले अञ्चित पाद को उठाकर पीछे की ओर लेजाया जाता है । फिर दण्डपादा चारी की स्थिति में पैर को शीघ्रता से पार्श्व में घुमाया जाता है, फिर हाथों को आविद्ध मुद्रा में सञ्चालित किया जाता है ॥ १४३ ॥

८३–हरिणप्लुत

अनुवाद—'जहाँ पर अतिक्रान्ता चारी का प्रयोग करके उछलकर पैर को नीचे गिरा दे और फिर जङ्घा को अञ्चित करके (सिकोड़ कर) ऊपर की ओर फेंक दे वहाँ 'हरिणप्लुत' करण होता है ॥ १४४ ॥

१. ख. घ. अतिक्रान्तं क्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य विवर्त्तयेत् ।
ग. अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।

डोलापादक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
[1]परिवृत्तत्रिकं चैव तत्प्रेङ्खोलितमुच्यते ॥ १४५ ॥

[2]भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ[3] चाभिमुखाङ्गुली ।
बद्धा चारी तथा चैव नितम्बे[4] करणे भवेत् ॥ १४६ ॥

---

८४. प्रेङ्खोलितकम्

कुञ्चितं पादं पार्श्वात्पार्श्वं दोला। (ना. शा. १०-३६) तमेकं कृत्वा द्वितीयेनोत्प्लुत्य भ्रमरिकां (ना. शा. १०-४५) कुर्यात् ॥ १४५ ॥

अभिनव—इसी प्रकार की ही 'हरिणप्लुता' चारी आगे कही जायगी। इस चारी का करण में प्रयोग पहिले ही 'सन्नत' नामक करण की व्याख्या के अवसर पर कहा जा चुका है ॥१४४॥

विमर्श—इस करण में अतिक्रान्ता चारी का प्रयोग होता है। पहिले कुञ्चित पैर को ऊपर उछाल कर नीचे गिराते हैं और दूसरे अञ्चित पैर की जङ्घा को ऊपर की ओर क्षिप्त करते हैं। इस करण में हाथों की गति का निर्देश नहीं है किन्तु संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में हस्तक्रिया का निर्देश है। तदनुसार इस करण में खटकामुख हस्तों का प्रयोग होता है ॥१४४॥

८४—प्रेङ्खोलितक

अनुवाद—जहाँ पर दोलापाद नामक चारी का प्रयोग करके फिर उछाल कर पैर को नीचे गिरा दे और फिर त्रिक को परिवृत्त करे अर्थात् घुमा दे वहाँ 'प्रेङ्खोलितक' करण माना जाता है ॥ १४५ ॥

अभिनव—'कुञ्चित पैर को इस पार्श्व से उस पार्श्व में ले जाना 'दोलापाद' कहलाता है।" (ना. शा. १०।३६)। इस दोलापाद चारी के करने के बाद दूसरे पैर को उछालकर भ्रमरी चारी का प्रयोग करे ॥१४५॥

विमर्श—इस चारी में कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उछालकर इस पार्श्व से उस पार्श्व में घुमाकर भ्रमरी चारी में त्रिक को परिवर्त्तित किया जाता है ॥१४५॥

---

१. ख-ग. घ. परिवृत्तं त्रिकं चैतत् प्रेङ्खोलितकमुच्यते ।

२. क-म. न. भुजादूर्ध्वं ।

३. क. हस्तौ चाधोमुखाङ्गुली । ठ-म. हस्तावभिमुखाङ्गुली ।

४. क-ख. नितान्तकरणे । क-ठ. नितम्बकरणे ।

[1]दोलापादक्रमं कृत्वा हस्तौ तदनुगावुभौ।
[2]रेचितौ घूर्णितौ वापि स्खलितं करणं भवेत्[3] ॥ १४७ ॥

---

८५. नितम्बम्।

अभिमुखाङ्गुली। अथोर्ध्वाङ्गुलौ पताकौ व्यावर्तितकरणेन शिरोदेशं नीत्वा ततः परिवर्तितकरणेनोर्ध्वक्षेत्रेण निष्क्रान्तौ बाहू कृत्वा यथासमं बेशेऽन्योन्यं वीक्ष्यमाणौ पताकौ स्थापयेत्। ततो देहाभिमुखाङ्गुलिहस्तौ तदनुगावुभौ रेचिताघूर्णितौ चापि नितम्बनृत्तहस्तलक्षणौ कुर्यात्। [4]एतदभिमुखाङ्गुलित्वं निपातद्वयेन द्योतितम्। "बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ" (ना. शा. ९-१९७) निवेशात्तद्योगात्करणान्वितम् ॥ १४६ ॥

८६. स्खलितम्।

दोलापादगमनागमनसमकालं हंसपक्षोपलक्षितौ बाहू गमनागमनयुक्तं पुनरपरेणाङ्गनेति ॥ १४७ ॥

८५—नितम्ब

अनुवाद—जहाँ पर भुजाओं को शिर के ऊपर उठाया जाता है और हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर रहती हैं तथा पैरों की चेष्टा बद्धा चारी के अनुसार होती हैं वहाँ पर 'नितम्ब' करण होता है ॥ १४६ ॥

अभिनव—'अभिमुखाङ्गुली' का अर्थ है कि ऊपर उठी हुई अँगुलियों वाले दोनों पताकहस्तों को व्यावर्त्तित करण के द्वारा (घुमाकर) शिर के पास ले जाकर फिर परिवर्त्तितकरण के द्वारा अर्थात् पलटकर भुजाओं को ऊर्ध्वभाग (ऊपर के क्षेत्र) से निकालकर कन्धे पर आमने-सामने रख दे। उसके बाद उन्हीं के अनुसार शरीर की ओर अभिमुख अङ्गुलियों वाले 'रेचित' और 'घूर्णित' हाथों को 'नितम्ब' हस्तमुद्रा में न्यस्त करे। "नितम्ब हस्तमुद्रा में दोनों पताकहस्तों को स्कन्धप्रदेश से हटाकर नितम्ब पर लाया जाता है" (ना० शा० ९।१९७)। यहाँ पर निपातद्वय से यह सूचित होता है कि हाथों की अङ्गुलियाँ शरीर के सम्मुख (आमने-सामने) होनी चाहिए ॥ १४७ ॥

८६—स्खलित

अनुवाद—जहाँ पर दोलापाद चारी का प्रयोग करके उसके अनुसार (अनुगामी) दोनों हाथों को 'रेचित' और 'घूर्णित' मुद्रा में रखा जाय वहाँ 'स्खलित' करण होता है ॥ १४७ ॥

---

१. ख-घ. दोलपादक्रमं। क-ठ. दोलापादं क्रमं।
२. क-च. त. रेचिताघूर्णितौ चापि।
३. ग. न्यसेत्। क-ख. रेचिताघूर्णितं वापि।
४. क. एतत्त्रिभिर्मुखाङ्गुलित्वं।

एको[1] वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः[2] ।
[3]अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके[4] ॥ १४८ ॥

८७. करिहस्तकम् ।

प्रोद्वेष्टनक्रियया परः कर्णस्थः त्रिपताकस्तद्दिक्क एव च पादस्तत्प्रोद्वेष्टनसमकालमञ्चितः सम्प्रयोज्य निष्क्रमणीयः । करिहस्तेन नृत्तहस्तेन सदृशमेतदंश इत्येतत्तन्नामा ।

"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्त्तितः ॥" (ना.शा. ९-२००) ॥१४८॥

अभिनव—दोलापाद चारी गमनागमन (आने-जाने) के समय में ही हंसपक्ष हस्तमुद्रा से उपलक्षित दोनों भुजाओं का भी गमनागमन उचित है। इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से भी यही क्रिया करनी चाहिये ॥१४७॥

विमर्श—इस करण में दोलापाद चारी का प्रयोग किया जाता है और हाथ 'रेचित' एवं 'घूर्णित' मुद्रा में होते हैं। अभिनव के अनुसार यहाँ पर हंसपक्ष रेचित हस्तमुद्रा स्वीकृत है। घूर्णित कोई विशिष्ट हस्तमुद्रा न होकर चक्रगति से भ्रमण अभीष्ट है। यहाँ पर हाथों का सञ्चालन पैरों की क्रिया के अनुसार होता है ॥१४७॥

८७—करिहस्त

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ वक्षःस्थल पर स्थित होता है और दूसरे हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित होती हैं तथा पैर अञ्चित मुद्रा में होता है वहाँ 'करिहस्त' नामक करण होता है ॥ १४८ ॥

अभिनव—'प्रोद्वेष्टन' क्रिया से यह निर्दिष्ट है कि दूसरा त्रिपताकहस्त कान पर स्थित रहता है और प्रोद्वेष्टन के समय ही उसी दिशा का पैर अञ्चित मुद्रा में प्रयोग करके निकालना चाहिए। प्रोद्वेष्टन का अर्थ है-त्रिपताकहस्त का चारों ओर से घेरता हुआ संचालित होना। अर्थात् कान पर स्थित त्रिपताकाहस्त चारों ओर से घेरता हुआ संचालित होता है और उसी समय चरण भी अञ्चित होता है। करिहस्त नामक नृत्तहस्त के सदृश यह करण होता है इसीलिए इसे (करिहस्त) नाम से कहा गया है।

"जहाँ पर ऊपर उठा हुआ एक लताहस्त इस पार्श्व से उस पार्श्व तक विलोलित होता है अर्थात् झूलता रहता है और दूसरा त्रिपताक हस्त कान पर स्थित रहता है, वह 'करिहस्त' कहा जाता है। "(ना० शा० ९।२००)"

१. ख-ग. ध. वामः ।
२. क-ठ. प्रवेष्टिततलोऽपरः ।
३. क-न. वृश्चिकचरणश्चैव ।
४. क-ठ. म. करिहस्तकम् ।

एकस्तु रेचितो हस्तो [1]लताख्यस्तु तथा परः ।
[2]प्रसर्पिततलौ पादौ प्रसर्पितकमेव तत् ॥ १४९ ॥
[3]अलातं च पुरःकृत्वा द्वितीयं च द्रुतक्रमम् ।
हस्तौ पादानुगौ चापि सिंहविक्रीडिते स्मृतौ ॥ १५० ॥

---

८८ प्रसर्पितकम् ।

हंसपक्षो द्रुतभ्रम इति रेचितः । अपरो लताख्यो (ना. शा. ९-१९८) नृत्तहस्तः । रेचितकरस्य दिक्पादः पादान्तरान्मन्दं मन्दं भूमिघर्षणाच्चलेत् । एतस्य खेचरसंचारविषये प्रयोगः ॥ १४९ ॥

८९—सिंहविक्रीडितम् ।

अलातं चारीमग्रतां द्रुतं निक्षिप्य तदनुसारेणैव च हस्तं (ना. शा. १०-४१) द्वितीयमपि चक्रमेवंभूतं कुर्यादिति सिंहकरघातसाम्यात्सिंहविक्रीडितं रौद्रगतिविषयम् ॥ १५० ॥

८८—प्रसर्पितक

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ 'रेचित' स्थिति में और दूसरा हाथ 'लता-हस्त' प्रक्रिया में स्थित होते हैं तथा दोनों पर पृथ्वी पैर घिसते हुए प्रसर्पित होते हैं वहाँ पर 'प्रसर्पितक' करण होता है ॥ १४९ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'हंसपक्ष' नामक 'रेचित' हस्त है। दूसरा हाथ 'लता' नामक नृत्त हस्त के रूप में स्थित रहता है। रेचित हस्त की ओर का पैर दूसरे पैर की अपेक्षा भूमि का घर्षण करता हुआ मन्द गति से (धीरे-धीरे) सञ्चरित होता है। इस करण का प्रयोग आकाशचारी पात्रों की गति के अभिनय में किया जाता है ॥ १४९ ॥

८९—सिंहविक्रीड़ित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर अलात चारी प्रक्रिया में आगे करके द्वितीय पैर को द्रुत गति के साथ हाथों को भी पैरों के अनुसार संचालित किया जाता है, वहाँ 'सिंहविक्रीडित' करण होता है ॥ १५० ॥

---

१. ख. घ. लताख्यश्च तथापरः । ग. लताख्यस्तु तथापरः ।

२. ख. घ. संसर्पिततलौ ।

३. ख. घ. अलातकं च ।

[1]पृष्ठप्रसर्पितः पादस्तथा हस्तौ निकुञ्चितौ[2] ।
[3]पुनस्तथैव कर्तव्यौ सिंहार्कषितके द्विजाः ॥ १५१ ॥

आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तदेहमाश्रिप्तपादकम्[4] ।
उद्वृत्तगात्रमित्येतदुद्वृत्तं करणं स्मृतम् ॥ १५२ ॥

९०. सिंहार्कषितम् ।

वृश्चिक एकः पादः । निकुञ्चितौ स्वस्तिकेन पद्मकोशोर्णनाभौ (ना. शा. ९-८२-१२०) (दक्षिणहस्तौ) वामहस्तौ । पुनर्द्वितीयेन पादेन यदा वृश्चिकस्तदा तौ क्रियावर्तनावशादपसार्य पुनरपि तादृशावेव हस्ताविति सिंहाद्यभिनयविषयं [5]सिंहार्कषितकम् ॥ १५१ ॥

अभिनव—अलातचारी में पैर को द्रुतगति से आगे निक्षिप्त कर उसी के अनुसार हाथ को भी निक्षिप्त करे। इसी प्रकार द्वितीय चक्र में भी इसी प्रकार करे। भाव यह है कि अलातचारी में जिस पैर को आगे निक्षिप्त किया जाता है उसी ओर का हाथ भी उसी का अनुसरण करे। इसी प्रकार द्वितीय पैर से भी यही प्रक्रिया की जाती है। इस प्रकार सिंह के हाथ के घात की समानता के आधार पर इस करण का नाम 'सिंहविक्रीडित' है। रौद्र गति के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १५० ॥

९०—सिंहार्कषित

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर पीछे की ओर प्रसारित हो और दोनों हाथ निकुञ्चित मुद्रा में हो और उसी प्रकार फिर करे अर्थात् इसी क्रिया को पुनः बार-बार दुहराया जाय तो 'सिंहार्कषित' करण कहलाता है ॥ १५१ ॥

अभिनव—इस करण में एक पैर वृश्चिक चेष्टा में रहता है। स्वस्तिक प्रक्रिया से 'पद्मकोश' और 'ऊर्णनाभ' मुद्रा में दायाँ-बायाँ दोनो हाथ निकुञ्चित होते हैं अर्थात् ऊपर-नीचे फैलाये जाते हैं। फिर दूसरे पैर से जब 'वृश्चिक' चेष्टा की जाती है तो दोनो हाथ क्रिया के आवर्त्तन से हटाकर उसी प्रकार फिर किया जाता है, इस प्रकार सिंह आदि के अभिनय में 'सिंहार्कषित' करण का प्रयोग होता है ॥ १५१ ॥

१. ख. पृष्ठप्रसर्पितः । ग. पृष्ठप्रसारितः । क-अ. पृष्ठप्रसर्पितौ पादौ ।
२. ख. घ. कुञ्चितावर्तितौ करौ ।
३. घ. पुरस्तथैव कर्त्तव्यं ।
४. ख.घ. ग. आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तपादमाक्षिप्तदेहकम् ।
५. क-भ. म. सिंहाक्षिप्तकम् ।

आक्षिप्तश्चरणश्चैको[1] हस्तौ तस्यैव चानुगौ[2] ।
आनतं च तथा गात्रं तथोपसृतकं भवेत्[3] ॥ १५३ ॥

---

९१. उद्वृत्तम् ।

आक्षिप्तमासारितानीतं हस्तपादं यत्र । कथं सर्वदेहाक्षेपः । आह—उद्-वृत्ताचारीयुक्तं कृत्वा—

"पादमाविद्धमावेष्ट्य समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
परिवृत्त्य द्वितीयं तु सोद्वृत्ता चार्युदाहृता ॥" (ना शा.१०-३९) इति । अत एवोद्वृत्तं करणम् ॥ १५२ ॥

९२. उपसृतकम् ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्येत्याक्षिप्तां चारीं (ना. शा. १०-३७) वामतो व्यावृत्य करपरिवर्तनेन गात्रमानम्य दक्षिणमरालतां नयेत् । एतद्विनयोपसर्पणे यथा "महादेवी विष्णवेदि" इति ॥ १५३ ॥

९१—उद्वृत्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ, पैर और समस्त शरीर को द्रुत गति से उछालकर संचालित किया जाय तथा शरीर 'उद्वत्त' चारी में स्थित हो तो 'उद्वत्त' करण होता है ॥ १५२ ॥

अभिनव—जहाँ पर हाथ-पैर आक्षिप्त किये जाते है, सारे शरीर को आक्षिप्त किया जाता है, प्रसारित किया जाता है। कहते हैं—उसे 'उद्वृत्ता' चारी से युक्त करके 'एक पैर को आविद्धा चारी से आवेष्टित करके उछालकर नीचे की ओर गिरा दे, फिर दूसरे पैर को भी परिवर्त्तित कर इसी प्रकार करे। इस प्रकार 'उद्वृत्ता' चारो का प्रयोग होने के कारण इस करण का नाम 'उद्वृत्त' करण है ॥ १५२ ॥

९२—उपसृतक

अनुवाद—जहाँ पर एक पैर 'आक्षिप्ता' चारी में हो और उसी के अनुसार दोनों हाथ स्थित हों तथा शरीर आनत (झुका हुआ) चेष्टा में हो तो वहाँ 'उपसृतक' करण होता है ॥ १५३ ॥

अभिनव—कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर आक्षिप्ता चारी का प्रयोग करके बाँये हाथ के व्यावर्तन (घुमाने) से शरीर को झुकाकर दाँये हाथ कौ 'अराल' मुद्रा में रखे। विनयपूर्वक उपसर्पण के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—'महादेवी विष्णवेदि' इत्यादि में ॥ १५३ ॥

---

१. ख. घ. आक्षिप्तचरणः कार्यः । क-म. अग्रतश्चरणौ कार्यौ ।
२. ग. हस्तस्यैव वशानुगः ।
३. ख. घ. स्मृतम् ।

दोलापादक्रमं कृत्वा तलसङ्घट्टितौ करौ ।
[1]रेचयेच्च करं वामं तलसङ्घट्टिते सदा[2] ॥ १५४ ॥
एको वक्षःस्थितो हस्तो द्वितीयश्च प्रलम्बितः ।
[3]तलाग्रसंस्थितः पादो जनिते करणे भवेत् ॥ १५५ ॥

---

९३. तलसङ्घट्टितम् ।

कुञ्चितं पार्श्वात्पार्श्वमिति (ना. शा. १०-२६) दोलपादां चारीं कुर्वंस्तत्समकालं पताकौ सम्यग्घट्टितमन्योन्यतलं ययोस्तादृशौ करौ कृत्वा वैष्णवे स्थानके "तौ तालौ" (ना. शा. १०-५२) इत्यत्र स्थित्वा दक्षिणं हस्तं कटयां च द्वितीयं हंसपक्षद्रुतभ्रमात्मकं रेचकं कुर्यात् । अनुकम्पाप्रधाने वाक्यार्थेऽस्य प्रयोगः । "धाणवगळछिफ······अ० धिअचणारि" इत्यादि ॥ १५४ ॥

९४. जनितम् ।

वक्षसि मुष्टिहस्तः । प्रलम्बितो लताख्यः । अन्यासां क्रियाणामारम्भकाल एव तत्सन्निवेशजननयोगाद्यथोचितचारीवशानीतम् । जातिताचारी यथा—

मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्त्तितः ।
तलसञ्चरपादश्च जनिताचार्युदाहृता ॥ (ना. शा. १०।२५)

९३—तलसंघट्टित

अनुवाद—जहाँ पर दोलापाद चारी का प्रयोग करके फिर दोनों हाथ की हथेलियों को संघटित करे और बाँये हाथ को रेचित करे तो वहाँ 'तलसंघट्टित' करण होता है ॥ १५४ ॥

अभिनव—'कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोलित करे' इस प्रकार दोलापाद चारी का प्रयोग करता हुआ उसी समय दो पताक हाथों को 'जहाँ पर दोनों हाथ परस्पर अच्छी तरह संघट्टित (संश्लिष्ट) हों' ऐसा करके वैष्णव नामक स्थानक में स्थित होकर दाहिने हाथ को कटि पर और दूसरे हाथ को 'हंसपक्ष' मुद्रा में द्रुतभ्रमित रूप में रेचित करे। अनुकम्पा-प्रधान वाक्यार्थाभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—'धाणवगछलिफ' इत्यादि में ॥ १५४ ॥

९४—जनित

अनुवाद—जहाँ पर एक हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो और दूसरा हाथ प्रलम्बित (झूलता हुआ) रहे और पैर अग्रतलसंचर चारी की स्थिति में हो तो 'जनित' नामक करण होता है ॥ १५५ ॥

---

१. क-प. त. रेचयेच्चरणं वामं ।
२. ख. घ. तलसंटिते तथा ।
३. क-ठ. म. लताग्रसंस्थितः । क-भ. म. तदाग्रसंस्थितः ।

जनितं [4]करणं कृत्वा हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ।
[5]शनैर्निपतितौ चैव ज्ञेयं तदवहित्थकम् ॥ १५६ ॥

---

९५. अवहित्थकम् ।

"मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्तते ।
तलसञ्चरपादश्च जनिता चार्युदाहृता ॥"
(ना. शा. १०-२५) इति ।

चारीपादं कृत्वा । तथाप्यभिमुखाङ्गुली [6]इत्यरालालपल्लवतया ललाटवक्षः-क्षेत्रगौ हस्तौ विधाय शनैरिति यथाक्रममुद्वेष्टितकरणावधरोर्ध्वक्रमेण पार्श्वगौ कृत्वा पुनरपवेष्टितपरिवर्तितक्रिययारालालपल्लावावन्योन्यं सम्मुखं वक्षोदेशे कुर्यात् । गोपनप्रधाने वाक्यार्थेऽस्य प्रयोगः । इत्यवहित्थक्रमे तद्यथा—"ऐथगअं गइकरिं थविफासहसश्व० खे इग्रं बइसं परिहि" ॥ अन्ये तु अवहित्थहस्तेन—

"शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाञ्चितौ ।
शनैरधोमुखाविद्धौसोऽवहित्थ इति स्मृतः ॥" (ना. शा. ९-१५६)

इत्येतच्चिन्तादौर्बल्यविषयमाहुः ॥ १५६ ॥

अभिनव—इस करण में एक हाथ मुष्टिहस्त मुद्रा में वक्षःस्थल पर स्थित होता है और दूसरा लताहस्त प्रलम्बित रहता है। अन्य क्रियाओं के आरम्भ काल में ही उसके सन्निवेश से गतियाँ उत्पन्न होती है, इसीलिए इसे जनिता चारी कहते हैं, क्योंकि जनिता चारी के कारण ही समस्त गतियाँ उत्पन्न हैं। अतः यह समस्त गतियों की जनिका है ॥ १५५ ॥

९५—अवहित्थक

अनुवाद—जहाँ पर 'जनित' करण का सम्पादन करके एक दूसरे के सामने न्यस्त अंगुलियों वाले हाथों को धीरे-धीरे नीचे को गिराया जाता है, उसे 'अवहित्थक' करण कहते हैं ॥ १५६ ॥

अभिनव—"जहाँ पर एक मुष्टिहस्त वक्षःस्थल पर स्थित हो और दूसरा हाथ प्रलम्बित रहता है और पैर अग्रतलसंचर चारी में होता है तो 'जनिता' चारी कही जाती है।" (ना० शा० १०।२५)।

---

४. क-ख. चरणं ।
५. ख. शनैर्निपातितौ ।
६. क-भ. म. इत्यलपल्लवतया ।

करौ वक्षःस्थितौ कार्याबुरो निर्भुग्नमेव च।
मण्डलस्थानकं[1] चैव निवेशं करणं तु तत् ॥ १५७ ॥

९६. निवेशम्।
[2]"स्तब्धं च निम्नपृष्ठं च निर्भुग्नांसं समुन्नतम्।
उरो निर्भुग्नमेतद्धि···॥" (ना. शा. ९-२२७)

ऐन्द्रे मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ। गजवाहनादिविषयेऽनेन निवेशयेत्। गात्रस्याविश्रमणान्निवेशाख्यम् ॥ १५७ ॥

इस प्रकार जनिता चारी का प्रयोग करके सन्मुख अंगुलियों वाले हाथों को अराल और अलपल्लव मुद्रा क्रमशः ललाट और वक्षःस्थल पर न्यस्त कर फिर क्रम से उद्वेष्टित करण के साथ ऊपर-नीचे करते हुए पार्श्व (बगल) में लाये फिर उसके बाद अपवेष्टित एवं परिवर्त्तित क्रिया के द्वारा 'अराल' और 'अलपल्लव' दोनो हाथों को परस्पर एक दूसरे के सामने वक्षःस्थल पर विन्यस्त करे। गोपनप्रधान वाक्यार्थाभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। जैसे—'ऐथगअं॰' इत्यादि वाक्य में।

अन्य आचार्य तो 'अवहित्थ' हस्तमुद्रा के द्वारा इस करण की निष्पत्ति मानते हैं—

"जहाँ पर शुकतुण्ड हस्तों को वक्षःस्थल पर अभिमुख (सामने) अञ्चित कर धीरे-धीरे अधोमुख रूप में आविद्ध करे, वह 'अवहित्थ' हस्त कहलाता है"
(ना० शा० ९।१५६)

इस प्रकार चिन्ता और दुर्बलता का भाव प्रकट करने में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १५६ ॥

९६–निवेश

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर रखा जाय और उरःस्थल निर्भुग्न चेष्टा में रखा जाय तथा मण्डल नामक स्थानक का प्रयोग हो वहाँ 'निवेश' नामक करण होता है ॥ १५७ ॥

अभिनव—"जहाँ पर वक्षःस्थल स्तब्ध, पीछे झुकी हुई और कन्धे निर्भुग्न तथा समुन्नत (उठा हुआ) होता है उसे 'निर्भुग्न' वक्षःस्थल कहते हैं।"
(ना० शा० ९।२२७)

इसमें ऐन्द्र मण्डल में पैर चार ताल की दूरी पर स्थित होते हैं। हाथी तथा घोड़े पर चढ़ने के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है। शरीर को विश्राम न मिलने के कारण इसे 'निवेश' कहा जाता है ॥ १५७ ॥

१. ख. ग. घ. मण्डलं स्थानकं चैव निवेशकरणं तु तत्।
२. क-भ. म. निम्नमुन्नतपृष्ठम्।

तलसञ्चरपादाभ्यामुत्प्लुत्य [1]पतनं भवेत् ।
सन्नतं वलितं गात्रमेलकाक्रीडितं तु तत् ।। १५८ ।।
करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठेऽञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ह्यूरूद्वृत्तं तु तद्भवेत्[2] ।। १५९ ।।

---

९७. एलकाक्रीडितम् ।

पतनकाले गात्रस्य नमनं ततो वलनम् । एवं नामैकरूपाचारी (ना. शा. १०-२०) भविष्यति । अधमप्रकृतिगतिविषयमेतत् ।। १५८ ।।

९८. ऊरूद्वृत्तम् ।

"तलसञ्चरपादस्य पार्ष्णिर्बाह्योन्मुखी यदा ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ऊरूद्वृत्तेति सा स्मृता ।।" इति ।
(ना. शा. १०-२२)

अनया चार्या सह व्यावर्तितकरणेनारालं खटकं चोरुदेशे पृष्ठे च क्षिपेत् । प्रणयकोपेर्ष्याप्रार्थनादिविषयमेतत्करणम् ।। १५९ ।।

९७—एलकाक्रीडित

अनुवाद—यदि 'तलसंचर' अर्थात् अग्रतलसंचर पैरों से उछल कर फिर भूमि पर आ जाय और शरीर को झुकाकर घुमाये तो 'एलकाक्रीडित' करण होता है ।। १५८ ।।

अभिनव—पतन अर्थात् गिरने के समय शरीर का नमन अर्थात् झुकना फिर वलन होता है। इसमें 'एलकाक्रीडिता' चारी होती है। अधम प्रकृति के पात्रों की गति के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता हैं ।। १५९ ।।

९८—उरूद्वृत्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ को आवर्त्तित करके ऊरू (जंघा) के पृष्ठभाग पर अञ्चित रूप में रखा जाता है और जङ्घा अञ्चित (किञ्चित् झुकी हुई) तथा उद्वृत होती है वहाँ 'ऊरूद्वृत्त' करण होता है ।। १५९ ।।

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में 'उरूद्वृत्ता' चारी का प्रयोग होता है। 'उरूद्वृत्ता' चारी का लक्षण है—

"जहाँ पर 'तलसञ्चर' पाद की एड़ी बाहर की ओर उन्मुख हो और जङ्घाएँ अञ्चित (थोड़ी झुकी हुई) तथा उद्वृत्त (ऊपर की उठी हुई) हो वहाँ 'ऊरूद्वृत्ता' चारी होती है" । (ना० शा० १०।२२) ।

---

१. ख. ग. ध. पतनं तु यत् ।

२. ख. तदूरुद्वृत्तमुच्यते । ग. ह्यूरूद्वृत्तं तदुच्यते । घ. तदूरुद्वृत्तमुच्यते ।

करौ प्रलम्बितो कार्यौ शिरश्च परिवाहितम् ।
पादौ च वतिलाविद्धौ मदस्खलितके द्विजाः ॥ १६० ॥
[1]पुरः [2]प्रसारितः पादः कुञ्चितो [3]गगनोन्मुखः ।
करौ च रेचितौ यत्र विष्णुक्रान्तं तदुच्यते ॥ १६१ ॥

---

९९. मदस्खलितकम् ।

करौ दोलौ । पर्यायशः पार्श्वगतं शिरः । वलिताविद्धौ अवनतावनन्तरं स्वस्तिकापसृतौ पादौ पर्यायेणेति । मद्यमदविषयमेतत् ॥ १६० ॥

१००. विष्णुक्रान्तम् ।

विष्णोरित्थं क्रमणमत्र । तत्तद्विषय एवास्य प्रयोगः ॥ १६१ ॥

इस उरूद्वृत्ता चारी के साथ हाथों को व्यावर्त्तित करने अर्थात् चक्राकार घुमाने से क्रमशः 'अराल' हस्त को उरुप्रदेश पर और 'खटकामुख' हस्त को पीठ पर झुका कर रखा जाता है। भाव यह कि जंघाओं के अञ्चित होने से घुटने झुके होंगे और जंघाओं के ऊपर व्यावर्त्तित करके रखा जायगा। प्रणय में होने वाले कोप, ईर्ष्या, प्रार्थना आदि के भावों के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १५९ ॥

९९—मदस्खलितक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ प्रलम्बित अर्थात् नीचे लटकते हुए हों और शिर परिवाहित चेष्टा में हो तथा दोनों पैर आविद्धा चारी में वलित हो वहाँ पर 'मन्दस्खलित' करण होता है ॥ १६० ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार मदस्खलितक चारी में दोनों हाथ 'दोला' प्रक्रिया में झूलते हुए होते हैं। शिर क्रम से (बारी-बारी) से एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में घुमाया जाता है। 'वालिताविद्धौ' से तात्पर्य है कि पैर क्रम से पहिले वलित अर्थात् अवनत बाद में स्वस्तिक स्थिति में अपसृत अर्थात् फैलाये जाते हैं। मद्य-जनित मद के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १६० ॥

१००—विष्णुक्रान्त

अनुवाद—जहां पर पैर गगनोन्मुख अर्थात् आगे जाने के लिए उन्मुख कुञ्चित पैर आगे की ओर प्रसारित किये जाँय (फैलाये जाँय) और दोनों हाथ 'रेचित' मुद्रा में स्थित हों तो वहाँ 'विष्णुक्रान्त' नामक करण होता है ॥ १६१ ॥

अभिनव—यहाँ इसी प्रकार विष्णु का क्रमण होता है। विष्णु के पाद-क्रमण के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥ १६१ ॥

---

१. क-ठ. उरः । २. क. ख. प्रसर्पितः । ३. ख. ग. घ. गमनोन्मुखः ।

करमावर्तितं कृत्वा [1]ह्यूरुपृष्ठे निकुञ्चयेत् ।
ऊरुश्चैव [2]तथाविद्धः [3]सम्भ्रान्तं करणं तु तत् ॥ १६२ ॥
अपविद्धः करः सूच्या पादश्चैव [4]निकुट्टितः ।
वक्षःस्थश्च करो वामो विष्कम्भे करणे भवेत ॥ १६३ ॥

---

१०१. सम्भ्रान्तम् ।
आविद्धायां चार्यां सत्यामूरुस्तथा ।

"स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चितश्च प्रसारितः ।
निपतेदञ्चिताविद्ध आविद्धा नाम सा स्मृता ॥" (ना. शा. १०-३८)

तच्चारीप्रयोगकाले च व्यावर्तितपरिवर्तितकरणेनालपल्लवमूरुपृष्ठे न्यसेत् । सम्भ्रमपरिक्रमविषयमेतत् ॥ १६२ ॥

१०१—सम्भ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर हाथ को आर्वात्तत करके जङ्घा के पृष्ठभाग पर निकुञ्चित मुद्रा में रख दिया जाय और ऊरु उसी प्रकार आविद्धा चारी में स्थित हो तो वहां 'सम्भ्रान्त' करण होता है ॥ १६२ ॥

अभिनव—आविद्धा चारी के होने पर ऊरू उसी प्रकार आविद्ध होता है ।

"जहाँ पर स्वस्तिक पैर के आगे की ओर कुञ्चित पैर को फैला दिया जाता है और फिर अञ्चित पैर को आविद्ध (संश्लिष्ट) करके नीचे गिरा दिया जाता है, वहाँ 'आविद्धा' चारी होती है। (ना. शा. १०।३८)

आविद्धा चारी के प्रयोग के समय हाथों को व्यर्वात्तत एवं परिर्वात्तत चेष्टा (क्रिया) के द्वारा 'अलपल्लव' मुद्रा में ऊरु (जङ्घा) के पृष्ठभाग पर स्थापित किया जाता है। घबराहट से चलने के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ॥१६२॥

१०२—विष्कम्भ

अनुवाद—जहाँ पर हाथ अपविद्ध चेष्टा (क्रिया) में और पैर सूची पाद चारी की स्थिति में निकुट्टित हो तथा बांया हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो, उसे 'विष्कम्भ' करण कहते हैं ॥ १६३ ॥

---

१. ख. उरुपृष्ठे ।
२. ख. संभ्रान्तकरणं ।
३. ख. घ. तदाविद्धः ।
४. क.ठ. निकुञ्चितः ।

[1]पादावुद्धट्टितौ कार्यौ तलसङ्घट्टितौ करौ ।
नतश्च पार्श्वं कर्तव्यं[2] बुधैरुद्धट्टिते सदा ॥ १६४ ॥

१०२. विष्कम्भम् ।

वामः करो दक्षिणेन हस्तेन सूचीमुखं (ना. शा. ९-१६१) नृत्तहस्तात्मनापगमपूर्वकं विद्धः । स एव पादो निकुट्टितः । चकरात् द्वितीयोनैवाङ्गेन । एवकारेणेदमाह पुनः सूच्या (ना. शा. १०-३४) चार्योपलक्षितः पादः । परश्च निकुट्टितोऽलपल्लवोऽन्यस्तु वामः । एवं पुनःकरणे सति क्रियाविष्कम्भनाद्विस्तारणाद्विष्कम्भाख्यं करणम् ॥ १६३ ॥

१०३. उद्धट्टितम् ।

"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णी भूमौ निपात्यते ।" इति (ना. शा. ९-२६६) पादः । अन्योन्यमनेन तालिकादानोद्यतौ करौ पुनर्द्वितीयपाद उद्धट्टितः पर्यायेण च तथैव [3]पार्श्वयोर्नमनमिति । प्रमोदविषमेतत् ॥ १६४ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में 'सूची' पद से सूचीमुख हस्तमुद्रा अभिप्रेत है । तदनुसार बाँया हाथ सूचीमुख नृत्तहस्त चेष्टायें दाहिने हाथ से अलग होकर सिद्ध होता है और उसी समय वही बाँया पैर निकुट्टित होता है । 'चकार' के प्रयोग से वह सूचित होता है कि दूसरे अङ्ग से भी उसी प्रकार की चेष्टाएँ की जानी चाहिए । 'एवकार' के द्वारा यह कहा गया है कि पुनः (फिर) सूची चारी से उपलक्षित पैर कुट्टित होता है और बाँया हाथ अलपल्लव मुद्रा में न्यस्त होता है । इस प्रकार बार-बार करने पर क्रिया के विष्कम्भन अर्थात् विस्तारण से 'विष्कम्भ' नामक नामक करण होता है ॥ १६३ ॥

१०३–उद्धट्टित

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर 'उद्धट्टित' स्थित में हों और दोनों हाथ 'तलसंघट्टित' चेष्टा में हो तथा पार्श्व नत (झुका हुआ) हो वहां पर 'उद्धट्टित' करण होता है ॥ १६४ ॥

अभिनव– 'यदि पैर का तलवे के अग्रभाग अर्थात् पञ्जे के सहारे खड़े होकर एड़ी से भूमि का स्पर्श करे तो उसे 'उद्धट्टित' पाद होता है ।' (ना. शा. ९।२६६)

इस क्रिया से परस्पर एक हाथ से दूसरे हाथ पर ताली बजाये फिर दूसरे पैर को भी उसी प्रकार उद्धट्टित करे और उसी के साथ पार्श्व को भी नत चेष्टा में रखे । इस करण का प्रयोग प्रमोद के भावाभिनय में होता है ॥ १६४ ॥

---

१. क-ख. पादावुद्धाटितौ कार्यौ तलसंघटितौ करौ ।

२. ख. घ. नितम्बपार्श्वे कर्त्तव्यौ । ग. नितम्बपार्श्वं कर्तव्यम् । क-म. ततश्च पार्श्वं कर्त्तव्यम् । क-म. भ. दण्डं च पार्श्वं कर्त्तव्यम् ।

३. क. पार्श्वयोर्गमनमिति ।

[1]प्रयुज्यालातकं पूर्वं हस्तौ चापि हि रेचयेत् ।
कुञ्चितावञ्चितौ चैव वृषभक्रीडितं सदा[2] ॥ १६५ ॥
रेचितावञ्चितौ हस्तौ लोलितं वर्तितं शिरः ।
उभयोः पार्श्वयोर्यत्र तल्लोलितमुदाहृतम्[3] ॥ १६६ ॥

---

१०४. वृषभक्रीडितम् ।

अलातचारीं (ना. शा. १०-४१) कुर्वन्हस्तौ रेचितौ कुर्यात् । ततः कुञ्चितौ व्यावर्तितकरणेन कृत्वा ततो बाहुशिरस्यलपल्लवाकृती अञ्चितौ विधेयाविति वृषभमङ्गद्वारद्वयप्रयोगात्[4] वृषभक्रीडितम् ॥ १६५ ॥

१०५. लोलितम् ।

वैष्णवे स्थाने आदौ रेचितं हंसपक्षद्रुतभ्रमरूपं हस्तद्वितीयं चाञ्चितं वक्षस्यलपल्लवाकारं कुर्यात् । शिरश्च लोलितम् । सर्वतो लोलितमपि चोभयोः पार्श्वयोर्वर्तितं विभ्रमितम् ॥ १६६ ॥

१०४–वृषभक्रीडित

अनुवाद—जहाँ पर पहिले अलात चारी का प्रयोग करके फिर दोनों हाथों को रेचित करे फिर दोनों को 'कुञ्चित' एवं 'अञ्चित' मुद्रा में रखे तो 'वृषभक्रीडित' करण होता है ॥१६५ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में अलातचारी का अभिनय करते हुए दोनों हाथों को रेचित किया जाता है । फिर हाथों को व्यर्वात्तित करके अर्थात् गोलाकार घुमाते हुए कुञ्चित करके फिर बाहुशीर्ष पर अलपल्लव मुद्रा में अञ्चित किया जाता है अर्थात् वृत्ताकार मोड़ा जाता है । इस प्रकार बैल के समान दो अङ्गो के प्रयोग के कारण इस करण का नाम 'वृषभक्रौडित' है ॥१६५॥

१०५–लोलित

अनुवाद—जहाँ पर दोनों अञ्चित हाथ रेचित चेष्टा में और शिर को लोलित चेष्टा में दोनों पार्श्वों में विर्वात्तित किया जाय तो वहाँ पर 'लोलित' करण कहा जाता है ॥ १६६ ॥

---

१. ख. घ. प्रयुज्यालातकं पादं हस्तौ द्वावपि रेचितौ ।
२. ख. घ. स्मृतौ ।
३. ख. घ. ज्ञेयं लोलितकं बुधैः ।
४. क-म. द्वारद्वययोगात् ।

[1]स्वस्तिकापसृतौ पादौ शिरश्च परिवाहितम् ।
रेचितौ च तथा हस्तौ स्यातां नागापसर्पिते ।। १६७ ।।
निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम्[2] ।
[3]उद्वाहितमुरः कृत्वा [4]शकटास्यं प्रयोजयेत् ।। १६८ ।।

---

१०६. नागपसर्पितम् ।

परिवाहितं पर्यायशः पार्श्वगतं कुटिलगतियोगान्नागापसर्पितम् । इदं तरुण-मदविषयम् ।। १६७ ।।

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में पहिले वैष्णव स्थानक में स्थित होकर दाहिने हंसपक्ष हाथ को द्रुत गति से घुमाते हुए रेचित किया जाता है, फिर अञ्चित दूसरे हाथ को अलपल्लव हस्तमुद्रा में वक्षःस्थल पर रखे और लोलित शिर को दोनों पार्श्वों में विश्रान्त करे अर्थात् स्थिर करे।। १६६ ॥

१०६—नागासर्पित

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर स्वस्तिक स्थिति में हटाये जाते हैं और शिर परिवाहित होता है तथा दोनों हाथ 'रेचित' मुद्रा में सञ्चालित किया जाता है, उसे 'नागपसर्पित' करण कहते हैं ।। १६७ ।।

अभिनव—अभिनव के अनुसार इस करण में शिर को क्रम से पार्श्व में परि-वाहित किया जाता है अर्थात् घुमाया जाता है । कुटिल गति के कारण इस करण का नाम 'नागापसर्पित' है । तरुण मद के अभिनय में इस करण का प्रयोग होता है ।। १६७ ।।

१०७—शकटास्य

अनुवाद—जहाँ पर शरीर को निषण्ण अर्थात् स्थिर कर पैर को 'तल-संचर' चारी की प्रक्रिया में फैलाया जाता है और वक्षःस्थल को उद्वट्टित चेष्टा में रखा जाता है, उसे 'शकटास्य' या 'शकटमुख' करण कहते हैं ।। १६८ ।।

---

१. ख. घ पुस्तकयोः—
स्खलितासर्पितौ पादौ तथा हस्तौ च रेचितौ ।
परिवाहितं शिरश्चैव कुर्यान्नागापसर्पिते ।।
इति श्लोको लभ्यते ।

२. क. ख. तलसंचयम् ।

३. ग. उद्घाटितमुरः कृत्वा ।

४. क-ख. शकटाख्यं ।

[1]ऊर्ध्वाङ्गुलितलौ पादौ त्रिपताकावधोमुखौ।
हस्तौ शिरस्सन्नतं च गङ्गावतरणं[2] त्विति ॥ १६९ ॥

---

१०७. शकटास्यम्।

निषण्णं निस्सीमीकृतमङ्गं येन तेन तज्जानुसमस्थिते पदे पुरो गुल्फदेशे कुञ्चितो न तु जानुरेव पादः स एवाध्यर्धतालान्तरसञ्चरः प्रसार्यः। तत्सहितोऽपि हस्तो द्वितीयो वक्षसि खटकः। ईदृश्येवेयं चारी (ना. शा. १०-१६) भविष्यति। अनेन सन्निवेशेन शकटस्यासनं क्षेप इति। तथाविधबालक्रीडादिविषये भाणिकादिविषयेऽस्य प्रयोगः ॥ १६८ ॥

अभिनव—अभिनव ने निषण्ण का अर्थ निःसीमीकृत माना है। तदनुसार निषण्ण अर्थात् जिसके द्वारा अङ्ग निःसीमीकृत कर दिया गया है, उसके जानु के समस्थित पद में पहिले गुल्फ प्रदेश में कुञ्चित (वक्र) पैर को ही, न कि जानु को फैलाना चाहिए, क्योंकि वहीं पैर अध्यर्धतालान्तरसञ्चर अर्थात् डेढ़ (१½) ताल के अन्तर पर सञ्चरित होता है। उसके साथ दूसरा खटकामुख हाथ वक्षःस्थल पर न्यस्त होता है, इसी प्रकार यहाँ 'शकटास्या' चारी भी होती है। इस सन्निवेश से शकट का असन अर्थात् क्षेपण होता है। शकटास्या चारी का लक्षण है—

'जहाँ पर शरीर को स्थिर करते हुए पैर को अग्रतलसञ्चर मुद्रा में फैलाया जाता है तथा वक्षःस्थल को उद्वाहित स्थिति में रखा जाता है वहाँ 'शकटास्या' चारी होती है।' (ना॰ शा. १०।१६)।

इस प्रकार शकटास्या चारी और शकटास्य करण का लक्षण एक समान है। जो लक्षण (स्वरूप) चारी का है वही करण का है। इस करण का प्रयोग बालक्रीडा आदि के अभिनय में भाणिका आदि में किया जाता है ॥१६८॥

१०८—गङ्गावतरण

अनुवाद—जहाँ पर पैरों की अंगुलियों के तल ऊपर की ओर उठे हुए हों और दोनों हाथ त्रिपताक हस्तमुद्रा में अधोमुख स्थित हों तथा शिर सन्नत अर्थात् झुके हुए स्थिति में हो तो उसे 'गङ्गावतरण' कहते हैं ॥ १६९ ॥

अभिनव—अभिनव ने अभिनवभारती में इस करण के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किया है। तदनुसार कुछ आचार्य 'ऊर्ध्वाङ्गुलितल' पद से समपाद का अञ्चित रूप में अवस्थान कहा है। किन्तु यह कथन किसी शब्द का अर्थ न होने से ठीक नहीं है। इसलिए पाद (पैर) अञ्चित नहीं होता।

---

१. ग. ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः।

२. ख. घ. गङ्गावतरणं च तत्। क-ख. रङ्गावतरणं त्विति।

[1]यानि स्थानानि याश्चार्यो व्यायामे कथितानि[2] तु ।
पादप्रचारस्त्वेषां तु करणानामयं भवेत् ॥ १७० ॥

१०८. गङ्गावतरणम् ।

अत्र केचिदूर्ध्वाङ्गुलितल इत्यनेन [3]समपादाञ्चितावस्थानमुक्तमित्याहुः । एतच्चायुक्तमशब्दार्थत्वात् । तस्मादञ्चितो न पादः । अन्ये त्वाहुः—अनेन क्रमेणाग्रतलसञ्चारो [4]वृश्चिकहस्तपाद इति । अपरे तु—चकारेण च पादस्य त्रिपताकहस्तयोश्शिरसश्च सन्नतत्वात्तेन प्रथमं पादोद्धारं स्थित्वा पादमूर्ध्वं विधाय तदुपरि च पताकाहस्तौ तं पादं क्रमेणाग्रतलसञ्चारो वृश्चिकपादं[5] सन्नमयेत् अवरोधयेत् । तदनुसारेण च त्रिपताकाहस्तं सन्नमयेत् । तथैव क्रमेण शिरः । एवमेव त्रिविक्रमपादप्रसरणपूर्वकं गङ्गादेव्या अवतरणमिति नाम्नैवास्य करणस्य विषयो दर्शितः । इतिशब्दः समाप्तौ ॥ १६९ ॥

[इत्यष्टोत्तरशतकरणनिरूपणं समाप्तम्]

दूसरे आचार्य कहते हैं कि इस क्रम से अग्रतलसञ्चर पाद से यहाँ वृश्चिक पाद का ग्रहण होता है।

अन्य आचार्यों का कथन है कि यहाँ (सन्नतं च में) चकार भिन्न क्रम का बोधक है, अतः पैर के त्रिपताक हस्तों और शिर के सन्नत होने से पहिले पैर को ऊपर की ओर उठाकर उसके ऊपर पताक हस्तों को रखकर उस पाद को क्रम से अग्रतलसञ्चर वृश्चिकपाद को झुका दे । उसी के अनुसार त्रिपताक हस्तों को झुका दे और उसी क्रम से शिर को भी झुका दे । इसी प्रकार तीन विक्षेप वाले पैरों को फैलाने के समान गङ्गादेवी का अवतरण होता है । इसलिए इसी नाम से इस करण का विषय दिखाया गया है । यहाँ पर 'इति' शब्द समाप्ति का सूचक है ॥ १६९ ॥

इस प्रकार १०८ करणों का निरूपण समाप्त हुआ ।

१ इतः परं श्लोकचतुष्टयं 'ख' पुस्तके (काशीसंकरणे) नास्ति ।

२. क-अ. गदितानि तु ।

३. क-म. भ. संवादं भूमावस्था ।

४. क-म. भ. वृश्चिकपादः ।

५. क-भ.म. [अपरे तु चकारेण भिन्नक्रमेण च तदास्य त्रिपताकाहस्तयोः शिरसश्च सन्नतत्वात्तेन प्रथमः पादोद्धारः । स्थित्वा पादमूर्ध्वं विधाय तदुपरि च त्रिपताकहस्तौ तं पादं क्रमेण] इति कोष्ठकान्तर्गतं वाक्यमधिकं दृश्यते । किन्त्वयं भागः पुनरुक्तः ।

ये चापि [1]नृत्तहस्तास्तु गदिता [2]नृत्तकर्मणि ।
तेषां समासतो योगः करणेषु विभाव्यते ॥ १७१ ॥
प्रायेण करणे कार्यों वामो वक्षःस्थितः करः ।
चरणश्चानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्करः ॥ १७२ ॥
चार्यश्चैव तु याः प्रोक्ता नृत्तहस्तास्तथैव च ।
सा मातृकेति विज्ञेया तद्भेदात्करणानि तु ॥ १७३ ॥

अनुवाद—इस नृत्त रूप व्यायाम में जिन स्थानों और जिन चारियों का उल्लेख किया गया है उन करणों के सम्बन्ध में यह पाद-प्रचार (व्यवस्थित) है और नृत्त (नृत्य) कर्म में जो नृत्तहस्त कहे गये हैं, करणों में संक्षेप में उनका योग समझा जाता है। इन करणों में बांया हाथ प्रायः बक्षःस्थल पर स्थित रहता है और दाहिना हाथ पैर का अनुगत होता है अर्थात् दाहिना हाथ पैर का अनुसरण करता है । जो चारियां कही गई हैं और उसी प्रकार जो नृत्तहस्त कहे गये हैं उन्हीं को मातृका समझनी चाहिए अर्थात् वे ही मातृकाएँ हैं । उनके भेद से करणों की रचना होती है ॥ १७०-१७३ ॥

विमर्श—यहाँ पर 'यानि स्थानानि' यहाँ से लेकर 'तद्भेदात्करणानि तु' यहाँ तक चार श्लोक कुछ संस्करणों में नहीं हैं और अभिनवगुप्त ने इन चार श्लोकों की व्याख्या भी नहीं की है । सम्भवतः इसीलिए कुछ संस्करणों में ये श्लोक नहीं पाये जाते । मैंने इन श्लोकों को प्रक्षिप्त न मानकर मूलगत पाठ माना है और उनका हिन्दी-अनुवाद भी किया है ।

इन चारों श्लोकों का भावार्थ यह है कि नृत्त, नृत्य अथवा अभिनय के प्रकरण में जो स्थानक, चारियाँ, नृत्तहस्त आदि कहे गये हैं, करणों में उनका प्रयोग होता है । खड़े होने की चेष्टा को स्थानक, पाद-संचालन की प्रक्रिया को चारी, नृत्त में हाथों के संचालन एवं न्यास की प्रक्रिया को 'नृत्तहस्त' कहते हैं । करणों के प्रयोग में प्रायः बायाँ हाथ वक्ष पर होता है किन्तु सब जगह यह स्थिति नहीं पायी जाती । इसी प्रकार दाहिने हाथ का चरणानुगत होने की बात भी सब जगह नहीं पायी जाती । दो करणों के मेल से 'मातृका' होती है । स्थान, चारी, नृत्तहस्तों में मातृका का प्रयोग कहा गया है । मातृकाओं के भेद से करण बनते हैं ॥ १७०-१७३ ॥

---

१. क-ब. नृत्यहस्तास्तु ।
२. क-अ. नृत्यकर्मणि ।

अङ्गहारलक्षणम्

अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्यङ्गहारविकल्पनम् ॥ १७४ ॥

अङ्गहारलक्षणम् ।

तलपुष्पपुटस्य पूर्वनिर्देशात्सर्वत्र वर्तनाप्राधान्येनोपक्रम इति सूचितं परं प्रयोगमाह । उक्तमुपसंहरन् क्रमप्राप्तानङ्गहारान्यथोद्देशं लक्षणीयत्वेन प्रतिजानीते—अष्टोत्तरशतमित्यादिना । हि यस्मात्करणानामष्टोत्तरशतमुदितं ततो हेतोः परं विशिष्टमङ्गहारो विकल्प्यते परस्परतो भेद्यते येन तदङ्गहारेष्वेव विशेषलक्षणं वक्ष्यामीति सम्बन्धः । जातावेकवचनम् ॥ १७३ ॥

अङ्गहार का लक्षण

करणों के निरूपण के प्रसङ्ग में 'तलपुष्पपुट' नामक करण का प्रथम निर्देश होने के कारण सब जगह करणों में वर्त्तना (हस्ताभिनय में शोभाधायक तत्त्व) का मुख्य रूप से उपक्रम होता है, यह सूचित किया गया है। इसके बाद प्रयोग को कहते हैं। अपने कथन का उपसंहार करते हुए क्रम प्राप्त अङ्गहारों का यथोद्देश लक्षण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—'अष्टोत्तरशतमित्यादि ।

अनुवाद—इस प्रकार मैंने इन एक सौ आठ (१०८) करणों को कहा है। अर्थात् निरूपण किया है। अब मैं अङ्गहारों का विकल्प कहूँगा ॥ १७४ ॥

अभिनव— जिन करणों से मैंने एक सौ आठ करणों को कहा है, उनसे विशिष्ट अङ्गहारों का विकल्प अर्थात् परस्पर भेद को कहते हैं, जिससे उन अङ्गहारों में ही विशेष लक्षणों को कहूँगा, यह सम्बन्ध है। यहाँ पर 'जाति' में एकवचन है ॥ १७४ ॥

विमर्श—एक सौ आठ करणों का निरूपण करने के बाद अब अङ्गहारों का विवेचन किया जाता है। इसके पूर्व १०८ करणों का विवेचन किया गया है अब उन करणों से विशिष्ट अङ्गहारों का निरूपण करते हैं। यतश्च समस्त अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है, इसलिए अङ्गहारों के विवेचन के पहिले करणों का विवेचन किया गया है। यहाँ पर 'विकल्प' पद से दो अर्थ निकलते हैं—एक भेद और दूसरा विशेष लक्षण। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अङ्गहार के भेदों का अलग-अलग लक्षण करना विशेष लक्षण है। अतः अब अङ्गहारों के भेद एवं विशेष लक्षणों का निरूपण करेंगे।

अङ्गहार बत्तीस हैं—(१) स्थिरहस्त (२) पर्यस्तक (३) सूचीविद्ध (४) अपविद्ध (५) आक्षिप्तक (६) ऊद्‌घट्टित (६) विष्कम्भक (८) अपराजित (९) विष्कम्भापसृत (१०) मत्ताक्रीड़ (११) स्वस्तिक रेचित (१२) पार्श्वस्वस्तिक (१३) वृश्चिकापसृत (१४) भ्रमर (१५) मत्तस्खलितक (१६) मत्तविलसित (१७) गतिमण्डल (१८) परिच्छिन्न (१९) परिवृत्तकरेचित (२०) वैशाखरेचित (२१) परावृत्त (२२) अलातक (२३) पार्श्वच्छेद (२४) विद्युद्भ्रान्त (२५) उद्वृत्तक (२६) आलीढ़ (२७) रेचित (२८) आच्छुरित (२९) आक्षिप्तरेचित (३०) सम्भ्रान्त (३१) अपसर्पित (३२) अर्धनिकुट्टक ।

१—स्थिरहस्तः

प्रसार्योत्क्षिप्य च [1]करौ समपादं प्रयोजयेत् ।
व्यंसितापसृतं [2]सव्यं हस्तमूर्ध्वं प्रसारयेत् ॥ १७५ ॥
प्रत्यालीडं ततः कुर्यात्[3] तथैव च निकुट्टकम् ।
ऊरूद्वृत्तं ततः [4]कुर्यादाक्षिप्तं स्वस्तिकं ततः ॥ १७६ ॥
नितम्बं करिहस्तं[5] च कटिच्छिन्नं च [6]योगतः ।
स्थिरहस्तो भवेदेष[7] त्वङ्गहारो हरप्रियः ॥ १७७ ॥

---

१. स्थिरहस्तः ।

तत्रोद्देशक्रमेण स्थिरहस्तं लक्षयति—प्रसार्येत्यादिना हरप्रिय इत्यन्तेन ।

तत्र प्रसार्योत्क्षिप्य च कराविति त्रिपताकाञ्जलि वक्षःस्थमिति लक्षितस्य लीनाख्यस्य करणस्य (ना. शा. ४-६६) प्रथमेतिकर्तव्यतानिरूपणेनोपलक्षितम् । एतच्च तल्लक्षण एवोक्तमस्माभिः पताकशब्दस्य प्रयोजनं वदद्भिः । इदमिदं करणं योगतोऽन्यादौ ह्यनया जिघृक्षतीत्यक्षिप्तकरणगतहस्तपादाद्यौचित्य-

---

१—स्थिरहस्त

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथों को फैलाकर फिर ऊपर की ओर ले जाकर पैर को समपाद स्थिति में रखा जाता है, फिर दाहिने हाथ को व्यंसित एवं अपसृत करके अर्थात् कन्धे के ऊपर ले जाकर फैलाया जाता है। फिर प्रत्यालीढ़ स्थिति (खड़े होने की एक मुद्रा) में खड़े होकर उसी प्रकार निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, स्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों के योग से जो प्रयोग (अभिनय या नृत्य) किया जाता है वह शिव को प्रिय लगने वाला 'स्थिरहस्त' नामक अङ्गहार कहलाता है ॥ १७५-१७७ ॥

अभिनव—अब उद्देशक्रम से 'प्रसार्य' इत्यादि से लेकर 'हरप्रियः' यहाँ तक 'स्थिरहस्त' का लक्षण करते से—

---

१. क-ब. चरणौ ।
२. ख-घ. सव्यमूर्ध्वं हस्तं ।
३. ख-ग. घ. कृत्वा ।
४. क-त. कुर्यात्स्वस्तिकाक्षिप्तमेव च ।
५. ख-घ. करिहस्तश्च । क-ब. कटिहस्तश्च ।
६. ख-घ. तथैव च ।
७. क-च. त. ब. भवेदेवमङ्गहारो हरप्रियः ।

युक्तवर्तनाचारीयोजनया यदि भवति तत एव चाविच्छिन्ना शुभा च । प्रबन्धादलातचक्रवदेकबुद्धचनुसंहार्यं तदलम् । स्थिरहस्तो नामाङ्गहार इति सम्बन्धः । एवं सर्वत्र योगत इति सर्वाङ्गहारेषु सम्बध्यते ।

अन्ये तु योगात्समाधेरप्ययं भगवतः प्रीतय इति व्याचक्षते ।

समपादमिति समनखं करणम् ।

"श्लिष्टौ समनखौ पादौ करौ चापि प्रलम्बितौ ।

देहः स्वाभाविको यत्र भवेत्समनखं तु तत्"। इति (ना. शा. ४-६५) ।

व्यंसिते—

"आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।

ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत् ॥" (ना. शा. ४-१०८)

इति लक्षिते करणेऽपसृतौ विप्रकीर्णौ यौ हस्तौ तौ द्वावप्यूर्ध्वस्थानस्थितौ कृत्वा आलीढस्य परिवर्तनेन (ना. शा. १०-७०) प्रत्यालीढं स्थानकं कुर्यात् । ततो निकुट्टिते "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" ना. शा. ४-६९) इति नवमं करणम् ।

अभिनव–यहाँ पर "दोनों हाथों को फैलाकर, ऊपर की ओर उठाकर त्रिपताक अञ्जलि को वक्षस्थल पर रखे" इससे यह लक्षित होता है कि यहाँ पर सबसे पहिले 'लीन' नामक करण का सम्पादन करना चाहिए। इस बात को हमने पताक शब्द का प्रयोजन बताते हुए 'लीन' करण के लक्षण में ही कह दिया है। इस प्रकार यदि इस करण का प्रयोग योग से अर्थात् आक्षिप्त करण गत हस्त-पादादि के औचित्य से युक्त वर्त्तना चारी की योजना से होता है तो वह अविच्छिन्न रूप से शुभ होती है। प्रबन्ध के अनुसार अलात चक्र की तरह इसका अनुपसंहार करना चाहिए। 'स्थिर-हस्त' नामक अङ्गहार है, यह सम्बन्ध है। इस प्रकार सब जगह सभी अङ्गहारों में 'योगतः' (योग) से सम्बन्ध है।

कुछ आचार्य तो योग से समाधि अर्थ लेते हैं, तदनुसार भगवान् की प्रसन्नता के लिए समाधि में इसका उपयोग हो सकता है, इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

'समपाद' का अर्थ 'समनख' करण है। "जहाँ पर दोनों पाद श्लिष्ट होते हैं वहाँ समनख करण होता है" (ना० शा० ४।६५)।

व्यंसित करण का लक्षण है—

:जहाँ पर 'आलीढ़' नामक स्थानक का प्रयोग हो और दोनों हाथ वक्षःस्थल पर रेचित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण स्थिति में हों वहाँ 'व्यंसित' करण होता है"

(ना० शा० ४।१०८)

ततोऽपि "करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठ" (ना. शा. ४-०५९) इत्यष्टनवतितमम्। ततः स्वस्तिकं हस्ताभ्यामथ पादाभ्यामिति (ना. शा. ३-७५) पञ्चदशम्। तत "आक्षिप्तं हस्तपादं चेति" (ना. शा. ४-००५) पञ्चपञ्चाशत्। "भुजावूर्ध्वं विनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली" (ना. शा. ४-१४६) इति नितम्बगतिः। ततः करिहस्तम्—"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोपरि" (ना. शा. ४-०४८) इति सप्ताशीतितमम्। ततः "पर्याशः कटिश्छिन्ना बाहू शिरसि" (ना. शा. ४-७२) इत्येकादशम्।

इत्येवं करणग्रामसम्यग्योजनया कृतं स्थिरहस्तमङ्गहारं निर्वर्तयति। अतः[1] सर्वेष्वङ्गहारेषु करणद्वयवर्गं सर्वं करणजातं चतुर्दिङ्मुखेषु प्रयोज्यमिति नाट्याचार्या मन्यन्ते। अनागतातीतवेदी मुनिस्तदयुक्तं मन्यमान एकान्नविंशतितमे हि परिवृत्तकरेचितेऽङ्गहारे (ना. शा. ४-२९९) वक्ष्यति पराङ्मुखविधिर्भूय

इस प्रकार के लक्षण से लक्षित 'व्यंसित' करण में 'अपसृत' और 'विप्रकीर्ण' नामक जो दोनों हाथ हैं, उन दोनों को ही ऊपर की ओर ले जाकर आलीढ़ स्थान के परिवर्त्तन से प्रत्यालीढ़ स्थानक (ना० शा० १०।७०) इसके बाद 'निकुट्टितौ यदा करणौ' (ना० शा० ४।६९) इत्यादि लक्षण वाले 'निकुट्टक' नामक नवें (नवम) करण का प्रयोग करे, फिर उसके बाद 'करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठम्' (ना० शा० ४।५९) इत्यादि लक्षण से युक्त 'उरूद्वृत्त' नामक करण का प्रयोग करे, फिर 'हस्ताभ्यामथ पादाभ्याम्' (ना० शा० ४।७५) इत्यादि लक्षण वाले 'स्वस्तिक' नामक पन्द्रहवें करण का प्रयोग करे, फिर 'आक्षिप्तं हस्तपादं च' (ना० शा० ४।११५) इत्यादि लक्षण से युक्त ५५वें 'आक्षिप्त' नामक करण का प्रयोग करे। तदनन्तर "जहाँ पर दोनीं भुजाएँ ऊपर की ओर उठी हुई हों तथा अंगुलियाँ सामने की ओर हों" (ना०शा० ४।१४६)। इत्यादि लक्षण से युक्त 'नितम्ब' नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद "जहाँ पर बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो और दाहिना हाथ प्रोद्वेष्टित हो' (ना० शा० ४।१४८) इत्यादि लक्षण वाले 'करिहस्त' नामक ८७वें करण का प्रयोग करना चाहिए। फिर 'जहाँ पर कटि छिन्न मुद्रा में हो और दोनीं बाहु शिर पर अलपल्लव मुद्रा में हो' (ना० शा० ४।७२) इत्यादि लक्षण वाले 'कटिच्छिन्न' नामक ११वें करण का प्रयोग करना चाहिए।

१. क. अत्र हारेषु करणावयववर्गं।

एवमेव भवेत्' इत्यङ्गहारविधावित्यर्थायोगात्। तदाङ्गिकेष्वेव वक्ष्यामः। उद्वेष्टितकरणस्वरूपं निरूपयतः प्रयोगश्चैषामदृष्टार्थ एव। प्रयोगे च [1]तत्तद्वाक्यार्थादूनं विप्रकर्षानुसारेण। एतच्च पूर्वरङ्गे (अ-५) यथोपदेशं वक्ष्यामः। 'युद्धे नियुद्धे च' इत्यादौ (ना. शा. ४-५६)। [2]विशेषेणैतेषाम् कदाचित्प्रयोगः। एवं स्थिरहस्त एव नानिर्वर्तनं लक्ष्यत इति न वृथा तन्निर्देशेनायासः ॥११५-११७॥

इस प्रकार करणों की सम्यक् योजना से किया गया अङ्गहार 'स्थिरहस्त' नामक अङ्गहार बनता है। इसलिए सभी अङ्गहारों में करणों के सभी अङ्गों, सभी करणों का चतुर्मुख (चारों ओर) प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। भूत और भविष्य के वेत्ता मुनि (भरतमुनि) उसे उचित मानते हुए 'परिवृत्तक-रेचित' नामक उन्नीसवें अङ्गहार के निरूपण के प्रसङ्ग में कहेंगे "पराङ्मुख होकर अर्थात् मुख फेरकर फिर से इसी प्रकार सभी करणों का प्रयोग करे" इस प्रकार 'अङ्गहार की विधि में सभी करणों का प्रयोग करना चाहिए, यह अर्थ ध्वनित होता है। उस विधि को आङ्गिक अभिनय के प्रसङ्ग में कहेंगे। उद्वेष्टित करण के स्वरूप का निरूपण करते हुए इनका प्रयोग अदृष्टार्थ अर्थात् अदृष्ट करण वाला कहा गया है। इनके प्रयोग में विप्रकर्ष के अनुसार उन-उन वाक्यार्थों से न्यून होता है। इसे पूर्वरङ्ग के निरूपण के अवसर पर उपदेश के अनुसार कहेंगे। अर्थात् पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त अङ्गहार दृष्ट फल वाला होता है। नृत्य में, युद्ध में, नियुद्ध में, बाहुयुद्ध में इन अङ्गहारों का विशेष रूप से प्रयोग होता है। इस प्रकार स्थिरहस्त अङ्गहार में निवर्त्तन नहीं ज्ञात होता, इसलिए उनका निर्देश करने का आयास करना व्यर्थ है॥ १७५-१७७॥

विमर्श—यहाँ पर 'दोनों हाथों को फैलाकर, ऊपर उठाकर' (प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ) यह अंश 'त्रिपताक हस्त की अञ्जलि को वक्षःस्थल पर रखे' इत्यादि लक्षण से लक्षित 'लीन' नामक करण का इस 'स्थिरहस्त' अङ्गहार में सर्वप्रथम प्रयोग करना चाहिए, इस बात को 'त्रिपताक' शब्द का प्रयोजन बताते हुए 'लीन' करण के लक्षण में ही हम कह चुके हैं। यदि लीन करण का प्रयोग हस्त-पादादि औचित्य के साथ वर्तना चारी की योजना के द्वारा किया जाता है तो वह शुभ होता है।

'समपाद' एक स्थानक है, खड़े होने की एक चेष्टा, जिसमें दोनों पैर एक ताल की दूरी पर स्वाभाविक स्थिति में रखे जाते हैं। अभिनवगुप्त ने इस अङ्गहार में 'समनख'

१. क-भ. म. तद्व्याख्यार्थादूनं।

२. विषयेणैतेषाम्।

करण के प्रयोग का उल्लेख किया है, क्योंकि इस करण में दोनों पैर श्लिष्ट होकर स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं। इस करण के प्रयोग के बाद फिर 'व्यंसित' करण का प्रयोग होता है। इस करण में 'आलीढ़' नामक स्थानक का प्रयोग होता है और दोनों हाथ वक्षःस्थल पर रेचित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं। फिर इस करण में विप्रकीर्ण (अपसृत) दोनों हाथों को ऊपर-नीचे करके 'आलीढ़' नामक स्थानक का परिवर्त्तन करके 'प्रत्यालीढ़' स्थानक की योजना करे। इसके बाद 'निकुट्टित' करण का प्रयोग करना चाहिए। 'निकुट्टित' करण में दोनों हाथ शिर और बाहु के बीच में निकुट्टित (संचालित) होते हैं और उसी प्रकार दोनों पैर भी निकुट्टित होते हैं। तदनन्तर 'ऊरूद्वृत्त' नामक करण का प्रयोग करे अर्थात् हाथ को व्यावर्त्तित करके (चक्राकार घुमाते हुए) ऊरू के पृष्ठभाग पर अञ्चित रूप में अर्थात् झुकाकर रखे और जङ्घाओं को अञ्चित तथा उद्वृत्त (ऊपर की ओर घूमी हुई) मुद्रा में रखे। तत्पश्चात् 'स्वस्तिक' करण का प्रयोग करे अर्थात् दोनों हाथों और पैरों को 'स्वस्तिक' मुद्रा में रखे। इसके बाद 'आक्षिप्त' करण की योजना करे अर्थात् हाथ और पैरों को वेग से उठाकर आक्षिप्त करना चाहिए। फिर 'नितम्ब' करण की योजना में अभिमुख (या अधोमुख) अंगुलियों वाले दोनों पताक हाथों को व्यावर्त्तित करके शिर के ऊपर शीघ्रता से ले जाया जाय और पैरों को बद्धाचारी में रखे। इसके बाद 'कटिहस्त' करण की योजना करे। इसमें एक हाथ अर्थात् बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखे और दाहिने हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित मुद्रा में रखे तथा पैर अञ्चित (झुकी हुई) स्थिति में रखे। इसके बाद 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग करे अर्थात् कटि के मध्यभाग को बारी-बारी से चालित करे और हाथों को बारी-बारी पल्लव चेष्टा में रखे। इस प्रकार इन दस (१०) करणों का क्रम से प्रयोग करने से 'स्थिरहस्त' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है। यह अङ्गहार शिव को अधिक प्रिय है। कुछ संस्करणों में 'हरप्रियः' के स्थान पर 'हरिप्रियः' पाठ मिलता है। किन्तु यहाँ 'हरप्रियः' पाठ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि नृत्त तथा अङ्गहारों के प्रयोग का सम्बन्ध शिव से है उन्होंने अङ्गहारों का प्रयोग-विधान तण्डु को बताया था और तण्डु ने भरत को सिखाया था। नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट ये बत्तीस अङ्गहार शिव की देन है॥ १७५–१७७॥

अभिनव—कुछ आचार्य तो 'प्रसार्य' इत्यादि अंश से लेकर 'प्रत्यालीढं ततः कुर्यात्' पर्यन्त अंश का सभी अङ्गहारों में पहिले योजना करते हैं, तो प्रथम अङ्ग की सङ्गति करण का योग कैसे होगा? इस अभिप्राय से कहते हैं। दूसरे आचार्य तो 'प्रत्येक अङ्गहार में समुचित योजना स्वयं समझ कर करनी चाहिए, इस प्रकार कहते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि श्रुत अर्थात् जैसा कथित है, उसकी हानि अर्थात् उसका त्याग करने से क्या लाभ है? इसलिए जैसा है वैसा रहने दीजिये।

२—अथ पर्यस्तकः

तलपुष्पापविद्धे द्वे[1] वर्तितं सनिकुट्टकम्[2] ।
[3]ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ॥ १७८ ॥
[4]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
एषः पर्यस्तको नाम [5]ह्यङ्गहारो हरोद्भवः ॥ १७९ ॥

केचित्प्रसार्येत्यादिना प्रत्यालीढं ततः कुर्यादित्यन्तं सर्वेष्वङ्गहारेषु प्रथममितिकर्तव्यतां योजयन्ति प्रथमाङ्गसङ्गतिकरणयोगः कथमित्यभिप्रायेण । अन्ये तु प्रत्यङ्गहारसमुचिताः साधारणाः स्वयमूह्या इत्याहुः । श्रुतहानौ को गुण इत्यपरे ।

२. पर्यस्तकः ।

तलपुष्पपुटेत्यादि । तत्र "वामे पुष्पपुट" (ना. शा. ४-६१) इति प्रथमम् । "आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे" "वामहस्तश्च वक्षस्थः", (ना. शा. ४-६४) इत्यपविद्धम् । "कुञ्चितौ मणिबन्धे तु" इति (ना. शा. ४-६२) वर्तितम् । "निकुट्टिताविति" (ना. शा. ४-६९) निकुट्टकम् । "करमावृत्तकरणम्" इति (ना. शा. ४-१५९) ऊरूद्वृत्तम् । [तत[6] "आक्षिप्तं हस्तपादम्" (४-११६) इत्याक्षिप्तम् । "स्वस्तिकापसृता" विति (४-११५) उरोमण्डलम् । ततो "भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्ता" विति (४-१४६) नितम्बकरणम् । अनन्तरं "वामो वक्षःस्थित" इति (४-१४८) करिहस्तम् । ततः "पर्यायश" इति (४-७२) कटिच्छिन्नम् । एतेन करणदशकेन पर्यस्तकः ॥] ॥ १७८-१७९ ॥

२—पर्यस्तक

अनुवाद—पर्यस्तक अङ्गहार में सर्वप्रथम 'तलपुष्प' तथा 'अपविद्ध' नामक करणों का प्रयोग होता है। तत्पश्चात् 'वर्त्तित' तथा 'निकुट्टक' करणों का प्रयोग किया जाता है। फिर 'ऊरूद्वृत्त' और 'आक्षिप्त' तथा 'उरोमण्डल' करण प्रयुक्त होते हैं, फिर 'नितम्ब', करिहस्त' तथा 'कटिच्छिन्न' नामक करणों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार शिव के द्वारा आविष्कृत 'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार होता है ॥१७८-१७९ ॥

---

१. ख-घ. 'च' २. ख-घ. संप्रसारयेत् । ग. सनिकुट्टकम् ।
३. क-ङ. म. ऊरुवृत्तं ततः कुर्यादुरोमण्डलमेव च ।
४. ख. नितम्बं करिहस्तश्च । क-न. भ. नितम्बः करिहस्तश्च ।
५. ख-घ. त्वङ्गहारो ।
६. क-म. कोष्ठकान्तर्गतो भागो नास्ति ।

अभिनव—'पर्यस्तक' नामक करण में सबसे पहिले पुष्पपुट (ना० शा० ४।६१) नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् 'आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे' तथा 'वामहस्तश्च वक्षस्थः' (ना०शा० ४।६४) लक्षण वाला 'अपविद्ध' करण का प्रयोग करे। फिर 'कुञ्चिते मणिबन्धे तु' (ना० शा० ४।६२) इत्यादि लक्षणों वाला 'वर्त्तित' करण प्रयुक्त करे। तदनन्तर 'निकुट्टिताविति' (ना० शा० ४।६९) इत्यादि लक्षण से युक्त 'निकुट्टक' नामक करण का प्रयोग करे। तत्पश्चात् 'करमावृत्तकरणम्' (ना० शा० ४।१५९) इत्यादि लक्षणों वाला 'ऊरूद्वृत' करण का प्रयोग करे। फिर 'आक्षिप्तं हस्तपादं' (ना० शा० ४।११६) इत्यादि लक्षण से समन्वित आक्षिप्त करण का प्रयोग करना चाहिए। फिर 'स्वस्तिकापसृताविति' (ना० शा० ४।११५) इत्यादि लक्षणों वाला 'उरोमण्डल'करण का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद 'भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ' (ना० शा० ४।१४६) इत्यादि लक्षण वाला 'नितम्ब' करण का प्रयोग करे। तदनन्तर 'वामो वक्षःस्थितः' (ना० शा० ४।१४८) लक्षण वाले 'करिहस्त' करण का प्रयोग करे। फिर 'पर्यायशः' (ना० शा० ४।७२) इत्यादि लक्षणयुक्त 'कटिच्छिन्न' नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार दश करणों के योग से 'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १७८-१७९ ॥

विमर्श—'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार में सबसे पहिले 'पुष्पपुट' नामक करण का प्रयोग करना चाहिए। पुष्पपुट करण का लक्षण है—'जहाँ पर बाँये पार्श्व में पुष्पपुट हस्त अर्थात् संश्लिष्ट अंगुलियों वाले हाथों को परस्पर संश्लिष्ट करे और पैर अग्रतलसंचर मुद्रा में स्थित हो तथा पार्श्व नत हो वहाँ 'पुष्पपुट' नामक करण होता है'' (ना० शा० ४।६२)। पुष्पपुट करण के प्रयोग करने के पश्चात् 'अपविद्ध' नामक करण का प्रयोग करे अर्थात् शुकतुण्ड हस्त को आवर्त्तित करके ऊरू (जङ्घा) के पृष्ठभाग पर गिराये, फिर बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखना चाहिए। इसके बाद 'वर्त्तित' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् मणिबन्ध में आश्लिष्ट हाथों को व्यावृत्त एवं परिवर्त्तित करके जङ्घाओं के ऊपर रख दिया जाय। इसके बाद 'निकुट्टक' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् दोनों हाथों को अपने बाहु और शिर के बीच में संचालित (निकुट्टित) करे और उसी प्रकार पैरों का भी संचालन करे। तदनन्तर 'ऊरूद्वृत' करण का प्रयोग करे अर्थात् हाथों को व्यावर्त्तित करके जङ्घा के ऊपर कुछ झुका हुआ रखे और जङ्घाएँ झुकी हुई तथा ऊपर की ओर घूमी हुई स्थिति में होनी चाहिए। इसके बाद 'आक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् हाथ और पैरों को वेग के साथ आक्षिप्त करे। तदनन्तर 'उरोमण्डल' करण का प्रयोग करे, अर्थात् तब पैरों को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखे तथा एक हाथ को ऊपर की ओर उठाए हुए तथा दूसरे हाथ को नीचे की ओर लटकाए हुए वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखे। तदनन्तर 'नितम्ब' करण का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर 'करिहस्त' करण का प्रयोग करे अर्थात् एक हाथ वक्षःस्थल पर

३—अथ सूचीविद्धः

[1]अलपल्लवसूचीं च कृत्वा विक्षिप्तमेव च ।
आवर्तितं ततः कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ॥ १८० ॥
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव[2] च ।
करिहस्तं कटिच्छिन्नं सूचीविद्धो भवेदयम् ॥ १८१ ॥

---

३. सूचीविद्धः ।

[3]अलपल्लवसूचीं चेति । "अलपद्मः [4]शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः ।" इति (ना.शा. ४-१३८) अलपल्लवोपलक्षितमर्धसूच्याख्यं सप्तसप्ततितमं करणम् ।

"विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ इति (ना. शा॰ ४-११९)

इति विक्षिप्तम् । एकान्नषष्टितमं यदावर्ताख्यं करणं—

"प्रसार्य कुञ्चितं पादं [5]पुनरावर्त्तयेद् द्रुतम् ।
प्रयोगवशगौ हस्तौ तदावर्त्तमुदाहृतम्" ॥ इति (ना. शा. ४-१२०)

तदेवावर्तितशब्देनोक्तम् । ततो निकुट्टकादीनि षट् करणान्युक्ताङ्गहारवदेव स्थिरहस्त इव ॥ १८०-१८१ ॥

रखे और दूसरा हाथ प्रोद्वेष्टित (चारों ओर से घेरे हुए) रखना चाहिए। फिर 'कटिच्छिन्न' करण की योजना में कटि को बार-बार चालित कर तथा हाथों को बारी-बारी से पल्लवमुद्रा में रखे। इस प्रकार दस करणों के योग से 'पर्यस्तक' करण बनता है। ॥ १७८-१७९ ॥

३—सूचीविद्ध

अनुवाद—सूचीविद्ध अङ्गहार में सर्वप्रथम अलपल्लव हस्त तथा सूचीमुख पाद की योजना के बाद 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर 'आवर्त्तित' करण का प्रयोग करे, फिर उसी प्रकार 'निकुट्टक' करण का प्रयोग करे। उसके बाद ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार सूचीविद्ध अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १८०-१८१ ॥

---

१. क-त. अलपद्मं च सूचीश्च ।
२. ख-घ. उरोमण्डलकं तथा
३. क. अर्धपल्लवसूचीं इति पाठान्तरमपि ।
४. शिरोदेशे इति पाठान्तरम् ।
५. क. पुनस्त्वावर्त्तयेद् द्रुतम् ।

४—अथापविद्धः

अपविद्धं तु करणं सूचीविद्धं [1]तथैव च।
उद्वेष्टितेन हस्तेन त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ १८२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर 'अलपल्लव हस्तमुद्रा शिरःप्रदेश में हो और सूचीपाद की स्थिति हो' इस कथन से अलपल्लव से उपलक्षित 'अर्धसूची' नामक ७७वें करण का संकेत मिलता है।

'जहाँ पर हाथ और पैर पीछे और बगल में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाँय, वहाँ 'विक्षिप्त' करण होता है" (ना० शा० ४।११९)।

इत्यादि लक्षणों ये युक्त 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग होता है। तत्पश्चात् 'आवर्त्त' नामक ५९वें करण का प्रयोग करे।

"जहाँ पर कुञ्चित पैर को फैलाकर फिर शीघ्रता से घुमाकर आवर्त्तित करे और हाथों को प्रयोग के अनुसार संचालित करे तो वहाँ 'आवर्त्त' करण होता है।"

(ना० शा० ४।१२०)

इसी को 'आवर्त्तित' करण भी कहते है। इसके बाद निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न आदि छः करणों का प्रयोग स्थिरहस्त अङ्गहार में उक्त विधि के अनुसार करे ॥ १८०-१८१ ॥

विमर्श—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम हाथ को अल्लपल्लव मुद्रा में तथा पैर को 'सूची' प्रक्रिया में रखना चाहिए। यह स्थिति 'अर्धसूची' नामक करण में होती है, अतः यहाँ पर 'अर्धसूची' करण का प्रयोग होना चाहिए, ऐसी अभिनवगुप्त की मान्यता है। इसके बाद 'विक्षिप्त' नामक करण का प्रयोग करे अर्थात् हाथ पैर को पीछे तथा बगल में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाँय। इसके बाद 'आवर्त्त या आवर्त्तित' करण का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् कुञ्चित पैर को फैलाकर फिर शीघ्रता से घुमाकर आवर्त्तित करना चाहिए। तदनन्तर निकुट्टक करण की योजना में दोनों हाथों की भुजाओं और शिर के बीच में संचालित करे और उसी प्रकार पैर का भी संचालन करें। फिर ऊरूद्वृत्त करण अर्थात् हाथों को आवर्त्तित करके जङ्घा के ऊपर सिकुड़ा हुआ रखे और जङ्घाएँ सिकुड़ी हुई तथा ऊपर की ओर मुड़ी हुई स्थित हों। फिर आक्षिप्त करण अर्थात् हाथ और पैरों को वेग के साथ आक्षिप्त करे, तदनन्तर उरोमण्डल अर्थात् पैर को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखे, फिर करिहस्त अर्थात् एक हाथ को वक्षःस्थल पर और दूसरे हाथ को प्रोद्वेष्टित मुद्रा में तथा पैर को अञ्चित चेष्टा में रखना चाहिए, इसके बाद कटिच्छिन्न करण अर्थात् कटि मध्यभाग को बार-बार चालित करे तथा हाथों को बारी-बारी अलपल्लव मुद्रा में शिर पर रखे। इस प्रकार नौ करणों के योग से 'सूचीविद्ध' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १८०-१८१ ॥

---

१. ख-घ. पुनर्भवेत्।

उरोमण्डलकौ हस्तौ कटिच्छिन्नं तथैव च ।
[1]अपविद्धोऽङ्गहारश्च विज्ञेयोऽयं प्रयोक्तृभिः ।। १८३ ।।

४. अपविद्धः ।

अपविद्धन्त्वित्यादि ।

"[2]आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे निपातयेत् ।
वामहस्तश्च वक्षःस्थोऽप्यपविद्धं तु तद्भवेत् ।। (ना. शा. ४-६४)
"पादसूच्या यदा पादो द्वितीयश्च प्रविध्यते ।
कटिवक्षःस्थितौ हस्तौ सूचीविद्धं तदुच्यते ।।" (ना. शा. ४-१३९)

एवं करणद्वयं कृत्वोद्वेष्टितेन करणेन (ना. शा. ९-२१६) बद्धया चार्या त्रिकं वलितं कृत्वोरोमण्डलहस्तोपलक्षितमुरोमण्डलकरणं ततोऽपि कटिच्छिन्नं विदध्यात् ।

"स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ।
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलकं तु तत् ।।" (ना. शा. ४-११५)

४—अपविद्ध

अनुवाद—जहाँ पर सर्वप्रथम अपविद्ध तथा फिर सूचीविद्ध करणों का संयोजन किया जाय और फिर उद्वेष्टित हस्त के साथ त्रिक (कटिप्रदेश) को परिवर्त्तित किया जाय अर्थात् घुमाया जाय, फिर उरोमण्डलक करण में हाथों को न्यस्त करके कटिच्छिन्न करण का प्रयोग करे वहाँ पर प्रयोक्ताओं को 'अपविद्ध' नामक अङ्गहार समझना चाहिए ।। १८२-१८३ ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त ने इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'अपविद्ध' करण का प्रयोग स्वीकार किया है । अपविद्ध करण का लक्षण है—

"जहाँ पर शुकतुण्ड नामक हाथ को आवर्त्तित करके (घुमाकर) जङ्घा के ऊपर रखा जाय और बाँया हाथ वक्षस्थल पर रखा जाय, वहाँ पर 'अपविद्ध' करण होता है ।" (ना० शा० ४।६५)

सूचीविद्ध करण का लक्षण—

"जहाँ पर एक पैर को सूचीपाद मुद्रा में रखकर दूसरे पैर से आविद्ध करे और दोनों हाथों को क्रमशः कटि और वक्षस्थल पर स्थित हो वहाँ पर 'सूचीविद्ध' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१३९) ।

---

१. ख-घ. अपाविद्धाङ्गहारस्तु विज्ञेयस्तत्प्रयोक्तृभिः ।
क-अ. द. अपविद्धस्तु विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ।

२. क-म. आपत्य ।

प्रयोक्तृभिरिति ये प्रयोगकुशलास्तैः । स्वयमङ्गस्य गतिः सम्यग्विद्वद्भिर्ज्ञातुं न शक्य इत्यनेनेदमाह । एतेषु करणेषु यदा मध्यवर्तनशिरोभ्रूनेत्रादिकर्मसहितापि या योजना च सा अंशश्च स्वरूपतत्त्वविदा स्वयमङ्गीकर्तुं शक्यः । अन्यस्य तूक्तापि प्रयोक्तुमशक्या न चापि निरूपयितुं शक्या । गीतवाद्यलययतिवाक्यार्थ-भेदेन च तस्या एव योजना । योजने चानन्त्यम् । नहि सुशिक्षितोऽपि लक्षण-कारो वाक्यानां प्रतिपदं लक्षणं कर्तुं शक्नोति । अस्य पश्चादिदं प्रयोज्यमिति [1]ज्ञापितेन किञ्चिदात्मनो योजना च संहिता कार्या । नियमनमग्रे वक्ष्याम इत्युक्तम् । तेन मण्डलादिस्थाननिरूपणमिह कैश्चित्कृतं निरुपयोगमेवे-त्यास्ताम् ॥ १८३ ॥

इस प्रकार 'अपविद्ध' और 'सूचीविद्ध' नामक दोनों करणों का प्रयोग करने के पश्चात् उद्वेष्टित हाथ से बद्धाचारी के द्वारा त्रिक का वलन करे । अर्थात् कटिदेश को घुमाया जाय, फिर उरोमण्डल हस्त से उपलक्षित उरोमण्डल करण का प्रयोग करे, फिर उसके बाद कटिच्छिन्न करण का संयोजन करे । उरोमण्डलक करण का लक्षण है—

"जहाँ पर पैरों को स्वस्तिक स्थिति से युक्त करके अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और एक हाथ को ऊपर उठाये हुए तथा दूसरे हाथ को नीचे लटकाये हुए वक्षःस्थल के पास घुमाया जाता है वहाँ 'उरोमण्डलक' करण होता है ।"

(ना० शा० ४।११५)

'प्रयोक्तृभिः' का अर्थ है जो नाट्यप्रयोग तथा नृत्यप्रयोग में कुशल है उनके द्वारा । अङ्ग की गति (अङ्गहार की गति) को विद्वान् लोग स्वयं अच्छी तरह नहीं जान सकते, इसीलिए 'प्रयोग में कुशल विद्वानों को समझना चाहिए' यह कहा गया है । इन करणों में जब बीच में शिर, भौंह, नेत्र आदि के साथ जो योजना की जाती है, उसको तथा उसके अंश को स्वरूपतत्त्व के जानकार विद्वानों को स्वयं स्वीकारकर लेना चाहिए । अन्य का तो बताये जाने पर भी योजना का प्रयोग नहीं किया जा सकता है और न निरूपण किया जा सकता है । गीत, वाद्य, लय, यति के प्रतिपादक वाक्यार्थं के भेद से उसी की योजना की जा सकती है । इस प्रकार योजना के प्रकार अनन्त हैं । सुशिक्षित लक्षणकार भी वाक्यों का प्रतिपद लक्षण नहीं कर सकता । 'इसके बाद इसका प्रयोग करना चाहिए' इस ज्ञापन के साथ कुछ अपनी भी योजना का अनुसन्धान करना चाहिए, इसका नियमन आगे कहेंगे, यह कहा गया है । इसलिए यहाँ पर मण्डलादि स्थानको का निरूपण जो किसी ने किया है वह निरुपयोग है अर्थात् उसका कोई उपयोग नहीं है, इस प्रकार वे परास्त हो गये ॥ १८२-१८३ ॥

१. क. दयापितेन ।

५—अथाक्षिप्तकः

करणं नूपुरं कृत्वा विक्षिप्तालातके पुनः।
पुनराक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकं तथा ॥ १८४ ॥
[1]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च।
[2]आक्षिप्तकः स विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ॥ १८५ ॥

---

५. आक्षिप्तकः।

करणं नूपुरमित्यादि।

त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ"।
नूपुरं च तथा पादः करणे नूपुरे भवेत् ॥ (ना. शा. (४-६७)
विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ॥ (ना. शा. ४-११६)

इति विक्षिप्तम्।

"अलातं चरणं कृत्वाऽप्यंसयोर्दक्षिणं करम्।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम् ॥" (ना. शा. ४-७८)

यत्र यत्र पुनर्ग्रहणं तत्र तत्र केचित् द्वियोगमाहुः। द्वितीयाङ्गहारोक्तमाक्षिप्तादिकरणपञ्चकम् ॥ १८४-१८५ ॥

५—आक्षिप्तक

अनुवाद—जहाँ पर 'नूपुर' करण का प्रयोग करने के बाद 'विक्षिप्त' एवं 'अलातक' करणों का प्रयोग किया जाय, फिर उसके बाद 'आक्षिप्तक' करण और 'उरोमण्डलक' करणों का प्रयोग करे, फिर इसी प्रकार नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो अङ्गहार-प्रयोक्ताओं द्वारा उसे 'आक्षिप्तक' अङ्गहार समझना चाहिए ॥ १८४-१८५ ॥

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'नूपुर' करण का प्रयोग होता है जिसमें त्रिक (कटिदेश) को वलित करके (घुमाकर) दोनों हाथों को लतारेचित मुद्रा में रखा जाता है और पैर नूपुरपादिका चारी में रखा जाता है (ना० शा० ४।९७)।

इसके बाद 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए जिसमें हाथ और पैर को पीछे और बगल की ओर एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंके जाते हैं।
(ना० शा० ४।११९)।

---

१. ख-घ नितम्ब; करिहस्तश्च। क-द. म. नितम्बकरिहस्तश्च कटिच्छेदं तथैव च।
२. ख-घ. आक्षिप्तकस्तु विज्ञेयौ।

६. अथोद्धट्टितः

उद्वेष्टितापविद्धस्तु करः पादो [1]निकुट्टितः ।
पुनस्तेनैव योगेन वामपार्श्वे भवेदथ ।। १८६ ।।
उरोमण्डलकौ हस्तौ [2]नितम्बं करिहस्तकम् ।
[3]कर्तव्यं सकटिच्छिन्नं नृत्ते तूद्धट्टिते सदा ।। १८७ ।।

---

६. उद्धट्टितः ।

उद्वेष्टितापविद्धस्त्विति । अनेन प्रथमश्लोकेन पर्यायशोऽङ्गद्वयप्रयोगं निकुट्टकं करणमाह—

"निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ।
पादौ निकुट्टितो चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम्" ।।
(ना. शा. ४-६९) इति ।

उरोमण्डलकादिकरणचतुष्कं द्वितीयाङ्गहारवदेव ।। १८७ ।।

तदनन्तर 'अलातक' करण का प्रयोग करे जिसमें एक पैर को पीछे की ओर फैलाया जाता है और फिर घुमाकर भीतर की तरफ करके दूसरे पैर की एड़ी के पास गिराया जाता है, फिर दाहिने हाथ को कन्धे से हटाकर नितम्ब पर लाया जाता है।

यहाँ पर जहाँ जहाँ 'पुनः' शब्द का प्रयोग है वहाँ वहाँ उन करणों को दुहराया जाता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। इसके बाद द्वितीय 'पर्यस्तक' नामक अङ्गहार में निर्दिष्ट आक्षिप्त आदि पाँच करणों का प्रयोग करना चाहिए ।।१८४-१८५।।

६—उद्धट्टित

अनुवाद—जहाँ पर दाहिने हाथ को 'उद्वेष्टित' और 'अपविद्ध' मुद्रा में रखा जाता है और दाहिने पैर को 'निकुट्टित' चेष्टा में रखते हैं। फिर उसी प्रकार बाँये पार्श्व में बाँये हाथ को 'उद्वेष्टित' तथा अपविद्ध मुद्रा में तथा बाँये पैर को 'निकुट्टित' चेष्टा में रखते हैं फिर इसके बाद दोनों हाथों को 'उरो-मण्डल' स्थिति में रखे। फिर इसके बाद नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'उद्धट्टित' अङ्गहार कहा जाता है ।। १८६-१८७ ।।

---

१. क-ठ. ब. निकुञ्चितः ।
२. ख-घ. नितम्बः करिहस्तकः ।
३. ख-घ. कर्तव्यः स कटिच्छेदो नृत्ते तूद्घट्टिते बुधैः ।
ग. कर्त्तव्यं सकटिच्छिन्नं नृत्ते तद्घटिते सदा ।

७. अथ विष्कम्भः

पर्यायोद्वेष्टितौ हस्तौ पादौ चैव निकुट्टितौ।
कुञ्चितावञ्चितौ [1]चैव ह्यूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ १८८ ॥
चतुरश्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टकम्[2]।
[3]भुजङ्गत्रासितं चैव करं चोद्वेष्टितं पुनः ॥ १८९ ॥
[4]परिच्छिन्नं च कर्तव्यं त्रिकं भ्रमरकेण तु।
[5]करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भे परिकीर्तितम् ॥ १९० ॥

अभिनव—'उद्वेष्टितापविद्धौ' अर्थात् 'उद्वेष्टित और अपविद्ध' इस प्रथमश्लोक के द्वारा क्रम से दो अङ्गों के प्रयोगवाला 'निकुट्टक' करण को कहते हैं—"जहाँ पर दोनों हाथ बाहु और शिर के बीच संचालित होते हैं और उसी प्रकार दोनों पैर भी निकुट्टित हों वहाँ 'निकुट्टक' करण होता है।" (ना० शा० ४।७०)। उरोमण्डलक, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न ये चार करण द्वितीय 'पर्यस्त' नामक अङ्गहार में निर्दि ट विधि के अनुसार संयोजित करने चाहिए ॥ १७६-१८७ ॥

विमर्श—यहाँ पर उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न इन चार करणों को द्वितीय अङ्गहार में बताये गये लक्षण के अनुसार प्रयुक्त करने चाहिए। द्वितीय अङ्गहार के निरूपण के अवसर पर बताया गया है। उरोमण्डल करण के प्रयोग में पैरों को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखते हैं और एक हाथ को ऊपर की ओर उठाए हुए तथा दूसरे को नीचे की ओर लटकाए हुए वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखते हैं। तत्पश्चात् 'नितम्ब' करण के हाथों को कन्धे से हटाकर नितम्ब पर लाकर रखते हैं और 'करिहस्त' करण के प्रयोग में एक हाथ को वक्षस्थल पर और दूसरे को प्रोद्वेष्टित रखते हैं, फिर 'कटिच्छिन्न' करण के प्रयोग में कटि को बार-बार चालित कर हाथों को बारो-बारी से पल्लव मुद्रा में रखा जाता है। इस प्रकार निकुट्टक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न नामक पांच करणों के योग से 'उद्वेष्टित' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १८६-१८७ ॥

---

१. ख-घ. कुञ्चितावञ्चितौ च ऊरूद्वृत्तं तथैव च।
२. क-न. निकुट्टितम्।
३. ख-घ. भुजङ्गत्रासकं।
४. क-अ. परिक्षिप्तं।
५. ख. घ. ग. करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भः परिकीर्तितः।
क-ठ. करिहस्तः कटिच्छेदो विष्कम्भः परिकीर्त्तितः।

७. विष्कम्भः ।

पर्यायोद्वेष्टिताविति । अनेनार्धेनानन्तराङ्गहारवदेव प्रथममण्डलद्वयेन निकुट्टितं करणमित्याह । कुञ्चिताविति । हस्तौ पादौ चेति सम्बन्धः । तेन कुञ्चितस्य करणस्याञ्चितस्य चाङ्गद्वयपर्यायेण प्रयोज्यत्वमुक्तम् ।

"वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम् ॥" (ना. शा. ४-८७)
"स्वस्तिकौ चरणौ कृत्वा करिहस्तं च दक्षिणम् ।
वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत्" ॥ (ना. शा. ४-८३)

इत्यनन्तरं

"व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ।
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ॥" (ना. शा. ४-८४)

७—विष्कम्भक

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ बारी-बारी से 'उद्वेष्टित' किये जाँय अर्थात् चक्राकार घुमाये जाँय तथा दोनों पैरों को 'निकुट्टित' किया जाय, फिर इसी प्रकार क्रम से हाथों को 'कुञ्चित' तथा पैरों को 'अञ्चित' करण में प्रयुक्त किया जाय। तत्पश्चात् उसी प्रकार 'ऊरूद्वृत' करण के प्रयोग में न्यस्त हाथों को चतुरस्र स्थिति में रखकर पैर से 'निकुट्टक' करण का प्रयोग करे, फिर 'भुजङ्गत्रासित' करण के अभिनय में हाथ को उद्वेष्टित स्थित में रखे, फिर 'भ्रमर' करण के प्रयोग से त्रिक (कटिप्रदेश) को वलित अर्थात् छिन्न किया जाय, फिर अन्त में 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' करणों का संयोजन किया जाय, वहाँ पर 'विष्कम्भक' नामक अङ्गहार होता है ॥ १८८-१९० ॥

अभिनव—'पर्यायेणोद्वेष्टितौ' अर्थात् क्रम से (बारी-बारी) उद्वेष्टित होता है। इस अर्धश्लोक से पूर्व कथित अङ्गहार के समान ही प्रथम मण्डलद्वय से 'निकुट्टित' करण का प्रयोग करे, यह कहा गया है। 'कुञ्चितौ' पद से हाथ और पैर दोनों का सम्बन्ध है। इससे कुञ्चित और अञ्चित करणों का प्रयोग बारी-बारी से दोनों अङ्गों से करना चाहिए, यह कहा गया है ॥

"जहाँ पर 'वृश्चिक' करण में पैरों को रखकर हाथ को पार्श्व में निकुञ्चित करे और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर निकुञ्चित रखे तो वहाँ 'निकुञ्चित' करण होता है।" (ना० शा० ४।८८)।

"जहाँ पर दोनों पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखा जाय और दाहिना हाथ करिहस्त मुद्रा में रखा जाय तथा बाँया हाथ वक्षःस्थल पर निहित किया जाय वहाँ 'अर्धस्वस्तिक' करण होता है।" (ना० शा० ४।८३)।

चतुरश्रमिति अनेनार्धेनार्धनिकुट्टकं दशमं करणमाह—

"अञ्चितो बाहुशिरसि हस्तस्त्वभिमुखाङ्गुलिः ।
निकुञ्चितार्धयोगेन भवेदर्धनिकुट्टकम्"॥(ना. शा. ४-७१) इति ।

द्वितीयो हि तत्र प्राङ्मुखं खटकरूपं चतुरश्रो हस्तः ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्त्तयेत् ।
कटिजानुविवर्तश्च भुजङ्गत्रासितं भवेत् ॥" (ना. शा. ४-८५)

भुजङ्गत्रासितं चतुर्विंशम् । अत्रैवकारेण हस्तप्रयोगमनुक्तं निरूपयति—करं चोद्वेष्टितमिति । तत्समकालं च भ्रमरकेणाष्टात्रिंशेन (ना. शा. ४ ९६) करणेन परित इत्युभयाङ्गप्रयोगेण छिन्नत्रिकं कुर्यात् । कटिमध्यस्य वलनाच्छिन्ना । यतः—

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ।
त्रिकस्य वलानाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्" (ना. शा. ४।९९)

इति भ्रमरकम् । ततः करिहस्तः कटिच्छिन्नश्च पूर्वाङ्गहारवदेव ॥ १८९-१९० ॥

इसके बाद—

"यदि 'अर्धस्वस्तिक' करण में 'करिहस्त' मुद्रा में निहित हाथों को क्रमशः 'व्यावर्त्तित' (गोलाकार घुमाकर) और 'परिवर्त्तित' (दूसरी ओर घुमाकर) करके नासिका के अग्रभाग पर यदि अञ्चित किया जाय अर्थात् झुका दिया जाय तो 'अञ्चित' करण होता हैं ।" (ना० शा० ४।८४) ।

'चतुरस्र' इस अर्धश्लोक के कथन से 'अर्धनिकुट्टक' नामक दसवें करण को कहते हैं—

"यदि सामने की हुई अंगुलियों वाला हाथ कन्धे पर झुका हुआ हो तो निकुट्टित करण के आधे योग से 'अर्धनिकुट्टक' करण होता है ।" (ना० शा० ४।७१) ।

दूसरा हाथ प्राङ्मुख 'खटकामुख' रूप में चतुरस्र होना चाहिए ।

"यदि कुञ्चित (सिकुड़े हुए) पैर को ऊपर उठाकर जङ्घा को त्र्यस्र चेष्टा विवर्त्तित कर दिया जाय और कटि एवं जानु को भी उसी प्रकार विवर्त्तित कर दिया जाय तो 'भुजङ्गत्रासित' करण होता है ।" (ना० शा० ४।८५) ।

'भुजङ्गत्रासित' २४वाँ करण है । यहाँ पर एवकार के द्वारा सूचित होता है कि जिन हस्तप्रयोगों को नहीं कहा गया है उनका भी निरूपण करते हैं—'करं चोद्वेष्टितम्' इति । उसी समय 'भ्रमरक' नामक ३८वें करण के द्वारा दोनों अङ्गों के प्रयोग से त्रिक को छिन्न (वलन) कर दे अर्थात् झुका दे । क्योंकि कटि के मध्य का वलन होने से छिन्न कटि होती है । जैसे—

८. अथापराजितः

[1]दण्डपादं करं चैव विक्षिप्याक्षिप्य चैव हि।
व्यंसितं वामहस्तं च सह पादेन सर्पयेत् ॥ १९१ ॥
निकुट्टकद्वयं कार्यमाक्षिप्तं मण्डलोरसि[2]।
[3]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपराजिते ॥ १९२ ॥

"जहाँ पर आक्षिप्त चारी से युक्त पैर स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित होते हैं और त्रिक का वलन होता है, वहाँ 'भ्रमरक' करण होता है।" (ना० शा० ४।९९)।

यह 'भ्रमरक' करण का लक्षण है। इसके बाद 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' करणों का प्रयोग पहिले कहे हुए दूसरे अङ्गहार में वर्णित विधि के अनुसार होगा ॥ १८८-१९० ॥

विमर्श—इस अङ्गहार में जिन करणों का प्रयोग होता है उनमें 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' नामक करणों को छोड़कर शेष करणों के संयोजन का स्वरूप अभिनव-भारती व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। 'करिहस्त' और कटिच्छिन्न' करणों का संयोजन उद्वेष्टित' अङ्गहार में प्रतिपादित विधि के अनुसार होगा। तदनुसार करिहस्त' करण में एक साथ वक्षःस्थल पर और दूसरा हाथ प्रोद्वेष्टित रखा जाता है तथा 'कटिच्छिन्न' करण में कटि को बार-बार चालित कर हाथों को बारी-बारी से पल्लव मुद्रा में रखते हैं ॥ १८८-१९० ॥

८—अपराजित

अनुवाद—अपराजित अङ्गहार में 'दण्डपाद' नामक करण का प्रयोग करके दाहिने हाथ को विक्षिप्त और आक्षिप्त क्रिया से युक्त करे, फिर 'व्यंसित' करण का प्रयोग करे जिसमें पैर के साथ बाँये हाथ को सर्पित करे अर्थात् चालित करे फिर 'निकुट्टक' तथा 'अर्द्धनिकुट्टक' करणों के संयोजन के साथ 'आक्षिप्त' और 'उरोमण्डल' करणों का संयोजन करे। अन्त में 'करिहस्त' और कटिच्छिन्न' करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ १९१-१९२ ॥

अभिनव—इस अङ्गहार के प्रयोग में सर्वप्रथम 'दण्डपाद' करण का प्रयोग किया जाता है। दण्डपाद करण का लक्षण है—

---

१. क-अ. करणं दण्डपादं च। क-न. दण्डपादं करं कृत्वा।

२. ख-घ. मण्डलोरसा।

३. ख-घ. करिहस्तः कटिच्छेदः कर्त्तव्यस्त्वपराजिते।

८. अपराजितः ।

दण्डपादमित्यादि ।

> 'नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ।
> क्षिप्राविद्धकरं चेति दण्डपादं तदुच्यते ॥" (ना. शा. ४-१४३)

यदत्र करणे निरूपितं तदेवेह भङ्क्त्वा दर्शितं विक्षिप्येत्यादिना । "आलीढ-स्थानकं यत्र" (ना. शा. ४-१०९) इति व्यंसितं प्रथमाङ्गहारोक्तम् । वामहस्ते-त्यादिना प्रसर्पितमष्टाशीतितमकरणमाह ।

> "एकस्तु रेचितो हस्तः लताख्यश्च तथापरः ।
> प्रसर्पिततलौ पादौ प्रसर्पितकमेव ॥" इति (ना. शा. ४-१४९)

निकुट्टकद्वयमिति । निकुट्टमर्धनिकुट्टं च (ना. शा. ४-६९-७०) "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" इति । "अञ्चितो बाहुशिरसि हस्तस्तु" इति । मण्डलोरसीत्युरो-मण्डले करणे (ना. शा. ४-११५) सतीत्यर्थः । आक्षिप्तादीनि कटिच्छिन्नान्तानि चत्वारि द्वितीयाङ्गहारवदेव ॥ १९१-१९२ ॥

"जहाँ पर पैर को 'नूपुर' चारी की स्थिति ने रखकर फिर 'दण्डपाद' चारी की स्थिति में फैलाया जाता है और हाथ को शीघ्रता से आविद्ध चेष्टा में संचालित किया जाता है, वहाँ 'दण्डपाद' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४३) ।

इस करण में जिनका निरूपण किया गया है यहाँ उन्हें तोड़कर 'विक्षिप्य' इत्यादि के द्वारा दिखाया गया है। "आलीढ़ स्थानकं यत्र" इत्यादि लक्षण से विशिष्ट प्रथम अङ्गहार में कथित 'व्यंसित' करण का प्रयोग करना चाहिए। 'वामहस्त' इत्यादि के द्वारा 'प्रसर्पित' नामक ८८वें करण को कहा गया है। प्रसर्पित करण का लक्षण है—

"जहाँ पर एक हाथ रेचित चेष्टा में होता है और दूसरा हाथ 'लताहस्त' प्रक्रिया में न्यस्त होता है, वहाँ 'प्रसर्पित' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४९) ।

'निकुट्टद्वय' से 'निकुट्ट' और 'अर्धनिकुट्ट' दोनों का ग्रहण होता है। जहाँ पर दोनों हाथ बाहु और शिर के मध्य निकुट्टित (संचालित) होते हैं और उसी प्रकार पैरों को भी निकुट्टित किया जाता है, वहाँ 'निकुट्टक' करण होता है और जब सामने की हुई अंगुलियों वाला हाथ कन्धे पर झुका हुआ होता है तो 'अर्धनिकुट्टक' करण होता है।" (ना० शा० ४।७०-७१), 'मण्डलोरसि' पद से 'उरोमण्डल' करण का ग्रहण होता है, 'आक्षिप्त' करण से 'कटिछिन्न' पर्यन्त चार करणों का द्वितीय अङ्गहार में निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार संयोजन करना चाहिए ॥ १९१-१९२ ॥

९. अथ विष्कम्भापसृतः

[1]कुट्टितं करणं कृत्वा भुजङ्गत्रासितं तथा ।
रेचितेन तु [2]हस्तेन [3]पताकं हस्तमादिशेत् ॥ १९३ ॥
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत [4]ह्युरोमण्डलकं तथा ।
लताख्यं [5]सकटिच्छिन्नं विष्कम्भापसृते भवेत् ॥ १९४ ॥

विमर्श—'अपराजित' अङ्गहार में सर्वप्रथम 'दण्डपाद' करण का प्रयोग किया जाता है । इस करण में पैर को 'नूपुर' चारी में रखकर फिर 'दण्डपाद' चेष्टा में रखा जाता है । हाथ को पहिले बाहर की ओर फेंक कर फिर भीतर की ओर आकृष्ट किया जाता है । इस प्रकार 'विक्षिप्त' और 'आक्षिप्त' करणों के प्रयोग के बाद 'व्यंसित' करण का संयोजन किया जाता है । इसमें आलीढ़ स्थानक के प्रयोग के बाद हाथ को वक्षःप्रदेश से रेचित कर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण किया जाता है । इसके बाद बायें पैर के साथ बाँये हाथ को सर्पित किया जाता है । अभिनव के अनुसार सर्पित (प्रसर्पित) एक करण है जिसमें हाथ-पैर के संचालन का निर्देश है । इसके बाद निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक करणद्वय का संयोजन होता है जिसमें दोनों हाथ बाहु और शिर के मध्य संचालित होते हैं और पैर भी उसी प्रकार संचालित होता है और अभिमुखाङ्गुलिहस्त कन्धे पर झुका हुआ विन्यस्त होता है । इसके बाद आक्षिप्त करण में हाथ और पैरों को वेग के साथ आक्षिप्त किया जाता है और उरोमण्डल करण के प्रयोग द्वारा पैरों को स्वस्तिक चेष्टा से हटाकर अपविद्ध प्रक्रिया में रखकर एक हाथ को उठाये हुए तथा दूसरे को लटकाए हुए वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखा जाता है । तत्पश्चात् करिहस्त करण के द्वारा एक हाथ को वक्षःस्थल पर और दूसरे को प्रोद्वेष्टित अर्थात् चारों ओर से घेरे हुए रखा जाता है । अन्त में कटिच्छिन्न करण के प्रयोग के द्वारा कटि को बार-बार चालित करके हाथों भी बारी-बारी से पल्लव चेष्टा में रखा जाता है ॥ १९१-१९२ ॥

९—विष्कम्भापसृत

अनुवाद—जहाँ पर 'कुट्टित' और 'भुजङ्गत्रासित' करणों के प्रयोग करने के बाद रेचित हस्त के साथ पताकहस्त की योजना की जाय । उसके पश्चात् आक्षिप्तक तथा उरोमण्डल करणों का संयोजन करके कटिच्छिन्न करण के साथ लताहस्त का प्रयोग किया जाय वहाँ पर 'विष्कम्भापसृत' नामक अङ्गहार होता है ॥ १९३-१९४ ॥

---

१. क-ढ़. ब. कुञ्चितं च करं कृत्वा । घ. कुट्टितं करणे कृत्वा ।
२. क-त. पादेन ।
३. ख-घ. पताकाहस्तमादिशेत् ।
४. ख-घ. उरोमण्डलकं तथा ।
५. ख-घ. सकटिच्छेदम् ।

९. विष्कम्भापसृतः ।

कुट्टितमित्यादि । निकुट्टकमर्धनिकुट्टकं चेति द्वे कुट्टितशब्देन साधारण्यात्सङ्गृहीते । "कुञ्चितं पादम्" (ना. शा. ४-८४) इत्यादि भुजङ्गत्रासितं चतुर्विंशतितमम् । रेचिते तेनेत्यादिनार्धेन पञ्चत्रिंशकं (ना. शा. ४-९६) दर्शयतीति ।

"भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ ।
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ॥" (ना. शा. ४-९६)

अस्य चाङ्गपर्यायेण प्रयोग इति पताकाग्रहणेनाह । आक्षिप्तकादित्रयं पूर्वाङ्गहारवदेव । केवलमत्र कटिच्छिन्ने करणे (ना. शा. ४-७१) पर्यायेणैको लताहस्तः ॥ १९३-१९४ ॥

अभिनव—'कुट्टितम्' इत्यादि । यहाँ कुट्टित शब्द से साधारण रूप से निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक करणों का ग्रहण होता है । 'कुञ्चितं पादं' (ना० शा० ४।८४) इत्यादि लक्षण वाला 'भुजङ्गत्रासित' २४वाँ करण है । 'रेचितेन' इत्यादि श्लोकार्द्ध से भुजङ्गत्रस्तरेचित' नामक ३५वें करण को दिखाते हैं—

"जहाँ पर पैर को भुजङ्गत्रासित चारी में रखकर दोनों हाथों को रेचित हस्तमुद्रा में वाम पार्श्व में न्यस्त किया जाता है वहाँ 'भुजङ्गत्रासितरेचित" करण होता है । (ना० शा० ४।९६) ।

इस करण का प्रयोग अङ्गों के क्रम से करना चाहिए, यह पताका शब्द के ग्रहण से कहा गया है । आक्षिप्त आदि तीन करण अर्थात् आक्षिप्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न का प्रयोग पहिले अङ्गहार में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार होगा । यहाँ पर केवल 'कटिच्छिन्न' करण में एक लताहस्त का क्रम से (बारी-बारी) संयोजन करना चाहिए ॥ १९३–१९४ ॥

विमर्श—इस करण में सर्वप्रथम कुट्टित करण के प्रयोग का निर्देश है । किन्तु कुट्टित नामक कोई करण नहीं होता । अभिनवगुप्त ने कुट्टित शब्द से निकुट्टक और अर्धनिकुट्टक दोनों करणों को स्वीकार किया है । उन्होंने इसी प्रकार रेचित शब्द भुजङ्गत्रस्त रेचित करण को स्वीकार किया है । इसके बाद आक्षिप्तक, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों के संयोजन का निर्देश किया है । अभिनव ने यहाँ पर केवल 'कटिच्छिन्न' करण के प्रयोग में क्रम से 'लताहस्त' के प्रयोग का निर्देश दिया है । इस प्रकार 'कटिच्छिन्न' करण में लताहस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १९३-१९४ ॥

१०. अथ मत्ताक्रीडः

[1]त्रिकं सुवलितं कृत्वा [2]नूपुरं करणं तथा ।
भुजङ्गत्रासितं सव्यं [3]तथा वैशाखरेचितम् ॥ १९५ ॥
आक्षिप्तकं ततः कृत्वा परिच्छिन्नं तथैव च ।
बाह्यभ्रमरकं कुर्यादुरोमण्डलमेव च ॥ १९६ ॥
[4]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
मत्ताक्रीडो भवेदेष [5]ह्यङ्गहारो हरप्रियः ॥ १९७ ॥

---

१०. मत्ताक्रीडः ।

[त्रिकं सुवलितं कृत्वेति । भ्रमरकं करणम् "आक्षिप्तः स्वस्तिकः पाद इत्यादि (ना. शा. ४-९९) । ततो नूपुराख्यं करणं "त्रिकं सुवलितम् -इति (ना. शा. ४-९७), "कुञ्चितं पादम्" इति (ना. शा. ४-८४) भुजङ्गत्रासितम् । सव्यमिति दक्षिणाङ्गेनैव वैशाखरेचितम् (३-९८) । "आक्षिप्तं हस्तपादम्" इति (ना. शा. ४-११६) आक्षिप्तकरणम् । परिच्छिन्नमिति —

१०—मत्ताक्रीड़

अनुवाद—जहाँ पर त्रिक को सुन्दर ढंग से वलित करके (घुमाव देकर) फिर नूपुर करण का प्रयोग किया जाता है, फिर भुजङ्गत्रासित और वैशाख-रेचित करणों का संयोजन किया जाय, फिर आक्षिप्त और छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय, तत्पश्चात् बाह्यभ्रमरक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का संयोजन किया जाता है वहाँ पर शंकर को प्रिय लगने वाला 'मत्ताक्रीड़' नामक अङ्गहार होता है ॥ १९५-१९७ ॥

अभिनव—'त्रिकं सुवलितं कृत्वा' अर्थात् 'त्रिक को सुन्दर ढंग से वलित करके' इस कथन से यहाँ 'भ्रमरक' करण के प्रयोग का संकेत मिलता है । 'भ्रमरक' करण का लक्षण है—

"यदि स्वस्तिक चेष्टा में स्थित पैर को आक्षिप्त किया जाय और दोनों हाथों को उद्वेष्टित अर्थात् चक्राकार गति से घुमाकर त्रिक का वलन किया जाय तो 'भ्रमरक' करण होता है ।" (ना० शा० ४।९९) ।

---

१. ख-घ. त्रिकं तु वलितं कृत्वा ।
२. क-न. भ. चरणं चैव नूपुरं । क-अ. ठ. करणं चैव नूपुरम् ।
३. ख-घ. चरणं चैव रेचितम् ।
४. ख-घ. ग. नितम्बः करिहस्तं च कटिच्छेदं तथैव च ।
५. घ. अङ्गहारो भवेत् प्रियः । ध. अङ्गहारो भव प्रियः ।

"अलपद्मः कटीदेशे च्छिन्ना पर्यायशः कटी"।

इति च्छिन्नं करणम् (ना. शा० ४-१०६) बाह्यभ्रमरकमिति वामभ्रमरकम्। ततो व्यंसितम् "आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः" इति (ना. शा. ४-९९) भ्रमरकम्। व्यंसितं "आलीढं स्थानकं यत्रेति (४-१०६)। उरोमण्डलम्—"स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इति (ना. शा. ४-११५) नितम्बं—"भुजावूर्ध्वौ विनिष्क्रान्तौ" इति (ना. शा. ४-१४६) करिहस्तं "वामो वक्षःस्थितो हस्तः" इति (ना. शा. ४-१४८)। कटिच्छिन्नम् "पर्यायशः कटी छिन्ना" इति (ना. शा. ४-४१)। एतानि द्वादश करणानि ॥ १९५-१९७ ॥

इसके बाद नूपुर करण का प्रयोग करे अर्थात् त्रिक को सुन्दर ढंग से वलित करके (घुमाकर) दोनों हाथों को क्रम से लता और रेचित चेष्टा में तथा पैर को नूपुर पादचारी में रखना चाहिए। (ना० शा० ४।९७)।

तदनन्तर 'भुजङ्गत्रासित' करण के संयोजन के द्वारा कुञ्चित पैर को ऊपर की ओर उठाकर ऊरु को विवर्तित करके जानु को स्तन के बराबर लाकर न्यस्त करना चाहिए (ना० शा० ४।८५)। फिर दाहिने हाथ से 'वैशाखरेचित' करण का विनियोग करे जिसमें हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा को रेचित किया जाता है और वैशाखस्थानक की स्थिति होती है (ना० शा० ४।९८)। तत्पश्चात् 'छिन्न' करण में अलपद्म हाथों को कटि पर रख कर कमर को क्रमशः घुमाये तथा वैशाखस्थानक में खड़ा होना चाहिए। (ना० शा० ४।१०६) तदनन्तर भ्रमरक करण का बायें अङ्ग से प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद 'व्यंसित' करण का प्रयोग करे जिसमें आलीढ़ स्थानक के प्रयोग के बाद दोनों हाथों को रेचित चेष्टा में वक्ष पर रखकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण किया जाता है (ना० शा० ४।१०९)।

इसके बाद 'उरोमण्डल' करण का संयोजन करे जिसमें पैर को स्वस्तिक चेष्टा से हटाकर अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और हाथ 'उरोमण्डल' हस्तमुद्रा में प्रयुक्त किया जाता है (ना० शा० ४।११५) फिर 'नितम्ब' करण का प्रयोग करे जिसमें दोनों भुजाएँ ऊपर की ओर उठो हुई होती है और हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर रहती है तथा पैर बद्धाचारी में होते हैं (ना० शा० ४।१४६)। इसके बाद 'करिहस्त' करण में बाँये हाथ को वक्षःप्रदेश में रखा जाता है और दाहिने हाथ उद्वेष्टित किया जाता है तथा पैर को अञ्चित चेष्टा में रखा जाता है (ना० शा० ४।१४८)। फिर अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें कटि को बार-बार चालित कर हाथों को बारी-बारी 'पल्लव' चेष्टा में रखा जाता है। इस प्रकार बारह करणों के योग से 'मत्ताक्रीड़' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १९५-१९७ ॥

११. अथ स्वस्तिकरेचितः

रेचितं हस्तपादं च[1] कृत्वा वृश्चिकमेव च ।
पुनस्तेनैव योगेन वृश्चिकं[2] सम्प्रयोजयेत् ॥ १९८ ॥
निकुट्टकं तथा चैव [3]सव्यासव्यकृतं क्रमात् ।
[4]लताख्यः सकटिच्छेदो भवेत्स्वस्तिकरेचिते ॥ १९९ ॥

---

११. स्वस्तिकरेचितः ।

रेचितमिति । रेचितं हस्तपादं चेति वैशाखरेचितम् (ना. शा. ४-९८) । वृश्चिकं "बाहुशीर्षाञ्चितौ" इति (ना. शा. ४-१०८) पुनरिति वैशाखरेचितवृश्चिके प्रयोजयेत् । निकुट्टकं "निकुट्टतौ यदा हस्तौ" इति (ना. शा. ४-६९) वामदक्षिणकृतौ लताख्यौ नृत्तहस्तौ (ना. शा. ९-१९८) । ततः कटिच्छिन्नं "पर्यायशः कटी च्छिन्ना" इति (ना. शा. ४-७४) षट् करणानि ॥ १९८-१९९॥

११—स्वस्तिकरेचित

अनुवाद—स्वस्तिक रेचित करण में हाथ और पैर को रेचित करके 'वृश्चिक' करण का प्रयोग किया जाता है, फिर उसी प्रकार उन्हीं हाथ-पैरों के योग से 'वृश्चिक' करण का पुनः प्रयोग किया जाता है । फिर दायें और बाँये दोनों अङ्गों से 'निकुट्टक' करण का संयोजन किया जाता है । फिर दोनों हाथों से 'लता' नामक नृत्तहस्त के साथ 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है ॥ १९८-१९९ ॥

अभिनव—'रेचितं हस्तपादं च' अर्थात् 'हाथ और पैर को रेचित करके' इस कथन से यहाँ 'वैशाखरेचित' करण अभिप्रेत है जिसमें हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा रेचित होते हैं और वैशाख' स्थानक की स्थिति होती है (ना० शा० ४।९८) । फिर 'वृश्चिक' करण का प्रयोग होता है जिसमें दोनों हाथ कन्धे पर अञ्चित चेष्टा में स्थित रहते हैं और पैर पीछे की ओर अञ्चित होता है और पीठ अधिक नत (झुकी हुई) होती है । (ना० शा० ४।१०८) । फिर इसी प्रकार 'वैशाखरेचित' करण के साथ 'वृश्चिक' करण के प्रयोग को दुहराया जाता है । तत्पश्चात् दोनों हाथों से निकुट्टक करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें दोनों हाथ शिर और भुजाओं के मध्य में संचालित होते हैं और दोनों पैर निकुट्टित होते हैं । (ना० शा० ४।७०) । फिर अन्त में लताहस्त मुद्रा के साथ 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है

---

१. ग. तु । २. ख-घ. कृत्वा वृश्चिकमेव तु ।
३. ख-घ. सव्यासव्यकृतैः क्रमैः । ४. क-अ. लताख्यं सकटिच्छिन्नं ।

१२. अथ पार्श्वस्वस्तिकः

[1]पार्श्वे तु स्वस्तिकं बद्ध्वा कार्यं त्वथ निकुट्टकम् ।
[2]द्वितीयस्य च पार्श्वस्य विधिः स्यादयमेव हि ॥ २०० ॥
[3]ततश्च करमावर्त्य ह्यूरुपृष्ठे निपातयेत् ।
ऊरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं पुनरेव हि ॥ २०१ ॥
[4]नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
पार्श्वस्वस्तिक इत्येष ह्यङ्गहारः प्रकीर्तितः ॥ २०२ ॥

---

१२. पार्श्वस्वस्तिकः ।

पार्श्वयोः स्वस्तिक इति दिक्स्वस्तिकं करणम् । पार्श्वयोरग्रतश्चैव" इति (ना. शा. ४-७७) । एकाङ्गेनार्धनिकुट्टकम्—"अञ्चितौ बाहुशिरसि" इति (ना. शा. ४-७०) । पुनर्दिक्स्वस्तिकं कृत्वा द्वितीयपार्श्वेनार्धनिकुट्टकं योजयेत् । "करमावर्त्य" इत्यपविद्धम् । "आवर्त्य शुकतुण्डाख्यम्" इति (ना. शा. ४-६४) । ऊरूद्वृत्तम्—"करमाविद्धकरणम्" इति (ना. शा. ४-१५९) । "आक्षिप्तं हस्तपादम्" इति (ना. शा. ४-११६) आक्षिप्तम् । नितम्बादिकरणत्रयं पूर्ववत ॥ २०९-२०२ ॥

जिसमें कटि को बार-बार चालित कर फिर हाथों को बारी-बारी से पल्लव मुद्रा में रखा जाता है। (ना० शा० ४।७२) । इस प्रकार छः करणों के योग से 'स्वस्तिक रेचित' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ १९८-१९९ ॥

१२—पार्श्वस्वस्तिक

अनुवाद—जहाँ पर पार्श्व में स्वस्तिक मुद्रा बनाकर 'निकुट्टक' करण का प्रयोग किया जाय, फिर दूसरे पार्श्व में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया (विधि) की जाय और फिर हाथ को आवर्तित करके ऊरुपृष्ठ अर्थात् जङ्घा के ऊपर गिरा दिया जाय, फिर 'ऊरूद्वृत' करण का प्रयोग किया जाय, फिर आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय, वहां 'पार्श्व-स्वस्तिक' अङ्गहार होता है । २००-२०२ ॥

---

१. ग. पार्श्वस्वस्तिकपादौ च कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ।
   ख. पार्श्वं तु स्वस्तिकं बुद्ध्वा कार्यं त्वथ निकुट्टकम् ।
   घ. पार्श्वे तु स्वस्तिकं बध्वा कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ।
२. ख. घ. द्वितीयस्तु पार्श्वस्य विधिः स्यादेष एव हि ।
३. ख. घ. ततश्च करमावृत्य ऊरूपृष्ठे निपातयेत् ।
४. ख. घ. नितम्बः करिहस्तश्च कटिच्छेदं तथैव च ।

१३. अथ वृश्चिकापसृतः

वृश्चिकं [1]करणं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च।
[2]तमेव च करं भूयो नासाग्रे [3]सन्निकुञ्चयेत् ॥ २०३ ॥
तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा [4]नितम्बं परिवर्तयेत्।
[5]करिहस्तं कटिच्छिन्नं वृश्चिकापसृते भवेत् ॥ २०४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर दोनों पार्श्वों में स्वस्तिक' इससे दिक्स्वस्तिक' करण का ग्रहण होता है। जिसमें पार्श्व में तथा आगे की ओर हाथ श्लिष्ट रहता है और हाथ-पैर स्वस्तिक स्थिति में होते हैं (ना० शा० ४।७८)। फिर एक अङ्ग से 'निकुट्टक' करण के निर्देश होने से यहाँ 'अर्धनिकुट्टक' करण का स्पष्ट उल्लेख है। अर्धनिकुट्टक करण में अभिमुखाङ्गुलि हस्त बाहुशीर्ष (कन्धे पर) पर झुका हुआ होता है (ना० शा० ४।७१)। इसके बाद फिर इसी प्रकार दूसरे पार्श्व से भी 'दिक्स्वस्तिक' करण का प्रयोग करके फिर 'अर्धनिकुट्टक' करण का प्रयोग करे, फिर हाथ को घुमाकर नीचे की ओर लाकर जङ्घा पर स्थापित करे (अपविद्धकरण ४।६४)। इसके बाद 'ऊरुद्वृत्त' करण का प्रयोग करे जिसमें हाथों को घुमाकर ऊरुपृष्ठ पर अञ्चित रूप में रखा जाता है और जङ्घाएँ अञ्चित एवं उद्वृत्त होती हैं। (ना० शा० ४।१५९)। फिर 'आक्षिप्त' करण का अभिनय करें, इसमें हाथ और पैरों को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद नितम्ब, करिहस्त और 'कटिच्छिन्न' करणों का संयोजन पूर्व अङ्गहार में प्रतिपादित प्रक्रिया (विधि) के अनुसार करना चाहिये ॥ २००-२०२ ॥

विमर्श—'पार्श्वस्वस्तिक' अङ्गहार के लक्षण में 'पार्श्वे तु स्वस्तिकं बद्ध्वा' के स्थान पर 'पार्श्वे तु स्वस्तिकं कृत्वा' पाठ मिलता है जिससे 'पार्श्व में स्वस्तिक करण को करके अर्थात् स्वस्तिक करण के संयोजन का संकेत मिलता है। एक भिन्न पाठ के अनुसार पार्श्व में पैरों के स्वस्तिक मुद्रा में रखने का स्पष्ट निर्देश है। इसी प्रकार 'कार्यं त्वथ निकुट्टकम्' के स्थान पर 'कुर्यादर्धनिकुट्टकम्' पाठ मिलता है जिसमें 'अर्धनिकुट्टक' का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार 'ऊरूद्वृत्तम्' के स्थान पर 'ऊरुवृत्त' और 'कटिच्छिन्न' के स्थान पर 'कटिच्छेद' पाठ मिलता है, किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता है। इस प्रकार आठ करणों के योग से यह अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २००-२०२ ॥

---

१. क. न. त. चरणं। २. क. अ. न. तथैव च।
३. ख. घ. सन्निवेशयेत्। ४. ख. घ. नितम्बमथ वर्तयेत्।
५. ख. घ. कटिहस्तं कटिच्छेदं वृश्चिके सम्प्रयोजयेत्।

१३. वृश्चिकापसृतः ।

वृश्चिकमिति । वृश्चिकचरणलताहस्तत्वात् लतावृश्चिकम्—
"अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।
लताख्यश्च करो वामः लतावृश्चिकं भवेत् ॥" (ना. शा ४।१०५)
नासाग्र इति निकुञ्चितम्—
'वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम् ॥' इति (ना.शा ४-८७) ।
तमेवोद्वेष्टितमिति मत्तल्लि—
"वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्युदाहृतम् ॥" इति (ना. शा. ४-८८) ।
नितम्बादित्रयं पूर्ववत् । केचिन्नितम्बस्य भ्रमरमाहुः ॥ २०३-२०४ ॥

१३—वृश्चिकापसृत

अनुवाद—जहाँ पर 'वृश्चिक' करण को करके 'लता' नामक हस्तमुद्रा का प्रयोग किया जाता है और फिर उसी हाथ को नासिका के अग्रभाग पर झुका कर रखा जाय, फिर उसी हाथ को उद्वेष्टित कर अर्थात् चक्राकार घुमाकर 'नितम्ब' करण के रूप में परिवर्त्तित कर दिया जाय और फिर क्रमशः 'करिहस्त' और 'कटिच्छिन्न' करणों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'वृश्चिकापसृत' अङ्गहार कहते हैं ॥ २०३-२०४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार वृश्चिक चरण के साथ लताहस्त के प्रयोग का निर्देश होने से यहाँ पर 'लतावृश्चिक' करण का प्रयोग अभिप्रेत है। 'लता-वृश्चिक' करण में पैर वृश्चिक मुद्रा में रहता है अर्थात् एक पैर सामने की ओर झुका हुआ पीछे की ओर अञ्चित होता है और दूसरा पैर पीछे को ओर मोड़कर ऊपर ले जाया जाता है और बांया हाथ लताहस्त मुद्रा में स्थित रहता है (ना० शा० ४।१०५)। इसी प्रकार उसी हाथ को नासिका अग्रभाग पर निकुञ्चित करने से 'निकुञ्चित' करण का बोध होता है जिसमें पैर को वृश्चिक चेष्टा में करके बांये हाथ का पार्श्व में निकुञ्चित किया जाता है और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर रखा जाता है (ना० शा० ४।८७)। 'तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा' अर्थात् उसी हाथ को उद्वेष्टित करके इस निर्देश से यहाँ पर 'मत्तलि' करण के प्रयोग निर्देश किया गया है, जिसमें दोनों पैर घूमते हुए पीछे की ओर अपसर्पित होते हैं और हाथ उद्वेष्टित और अपविद्ध स्थित में रहते हैं। (ना० शा० ४।८८)। इसके बाद नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न तीनों करण पूर्व अङ्गहार में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। कुछ आचार्य 'नितम्ब-परिवर्त्तन' का अर्थ 'नितम्ब-भ्रमण' करते हैं ॥ २०३-२०४ ॥

१४. अथ भ्रमरः

कृत्वा नूपुरपादं तु तथाक्षिप्तकमेव च।
[1]परिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीपादं तथैव च ॥ २०५ ॥
[2]नितम्बं करिहस्तं चाप्युरोमण्डलकं तथा।
कटिच्छिन्नं[3] ततश्चैव भ्रमरः स तु संज्ञितः ॥ २०६ ॥

---

१४. भ्रमरः।

कृत्वेति। नूपुरपादं कृत्वेति नूपुरं करणम्—"त्रिकं सुवलितं कृत्वा" इति (ना. शा. ४-९७)। आक्षिप्तकं "आक्षिप्तहस्तपादम्" इति (ना. शा. ४-११६)। परिच्छिन्नम्—

१४—भ्रमर

अनुवाद—जहाँ पर पैर को नूपुर पादचारी में रखकर आक्षिप्तक करण का प्रयोग किया जाता है, फिर छिन्न करण का प्रयोग किया जाय, फिर सूची-पाद चारी के प्रयोग के द्वारा 'सूचीविद्ध' करण का प्रयोग किया जाय, फिर क्रमशः नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'भ्रमर' अङ्गहार कहते हैं ॥ २०५-२०६ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'कृत्वा नूपुरं पादं' अर्थात् 'नूपुरपादचारी का प्रयोग करके' इस कथन के द्वारा 'नूपुर' करण का प्रयोग अभीष्ट है जिसमें त्रिक को वलित करके दोनों हाथों को 'लता' और 'रेचित' हस्तमुद्राओं में रखा जाता है तथा पैर नूपुर पादचारी में स्थित किया जाता है (ना० शा० ४।९७)। इसके बाद 'आक्षिप्तक' करण का प्रयोग करे, जिसमें हाथ और पैरों को शीघ्रता से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद 'छिन्न' करण का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें अलपद्म हस्त को कटि पर रखा जाता है और कटि छिन्न स्थिति में रहती है (ना० शा० ४।१०६) तदनन्तर 'सूचीविद्ध' करण का प्रयोग होता है जिसमें एक पैर सूचीपाद चारी में स्थित होकर दूसरे पैर से विद्ध होता है और दोनों हाथ कटि और वक्षःस्थल पर स्थित होते हैं (ना० शा० ४।१३९), फिर 'नितम्ब' करण का प्रयोग करके दोनों भुजाओं को ऊपर उठाया जाता है और हाथों को अभिमुखाङ्गुलि रखा

---

१. ग. कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीविद्धं तथैव च।
   ख. कटिच्छिन्नं तु कर्त्तव्यं सूचीपादे तथैव च।
२. ख. घ. नितम्बः करिहस्तश्च उरोमण्डलकं तथा।
३. ख. घ. कटिच्छेदं।

१५. अथ मत्तस्खलितकः

मत्तल्लिकरणं कृत्वा करमावर्त्य[1] दक्षिणम् ।
कपोलस्य प्रदेशे तु [2]कार्यं सम्यङ् निकुञ्चितम् ॥ २०७ ॥
[3]अपविद्धं द्रुतं चैव तलसंस्फोटसंयुतम् ।
[4]करिहस्तं कटिच्छिन्नं मत्तस्खलितके भवेत् ॥ २०८ ॥

"अलपद्मः शिरोदेशे च्छिन्ना पर्यायशः कटी"

इति (ना. शा. ४-१०६)। सूचीपादम्—'पादसूच्या यदा' इति (ना. शा. ४-१३६)। नितम्बं "भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ" इति (ना. शा. ४-१४६)। करिहस्तं "वामो वक्षःस्थितो हस्तः" इति (ना. शा. ४-१४८) उरोमण्डलं "स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इति (ना. शा. ४-११५)। कटिच्छिन्नं "पर्यायशः कटी च्छिन्ना" इति (ना. शा. ४-७२)—॥२०५-२०६॥

जाता है तथा पैर बद्धा चारी में स्थित रहते हैं (ना० शा० ४।१४६) फिर 'करिहस्त' करण में बायें हाथ को वक्षःस्थल पर और दाहिने हाथ प्रोद्वेष्टित किया जाता है तथा पैर को अञ्चित चेष्टा में रखते हैं (ना० शा० ४।१४८)। इसके बाद 'उरोमण्डल' करण में पैरों को स्वस्तिक स्थिति से हटाकर अपविद्ध भ्रम में रखा जाता है और हाथ उरोमण्डल हस्त मुद्रा में निहित होता है (ना० शा० ४।११५)। तदनन्तर 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें क्रमशः कटि छिन्न चेष्टा में तथा पल्लव हस्त को कन्धे पर रखा जाता है। (ना० शा० ४।७२)। यहाँ पर 'कटिच्छिन्न' के स्थान पर 'कटिच्छेद' पाठ मिलता है। इन चार करणों के योग से 'भ्रमर' अङ्गहार बनता है ॥ २०५-२०६ ॥

१५—मत्तस्खलितक

अनुवाद—'मत्तस्खलितक' अङ्गहार में 'मत्तल्लि' करण का प्रयोग करके दाहिने हाथ को आवर्त्तित करके (गोल घुमाकर) कपोल-प्रदेश पर अच्छी तरह निकुञ्चित कर दे, फिर 'अपविद्ध' करण के साथ 'तलसंस्फोट' करण का प्रयोग करना चाहिए, तदनन्तर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करे ॥ २०७-२०८ ॥

---

१. ख. घ. करमावृत्य । क–त, करमाविष्टच ।
२. ख. घ. कर्तव्यं तु निकुञ्चितम् ।
३. ख. घ. अपविद्धं तथा चैव तलसंस्फोटितंम तथा ।
४. ख. करिहस्तः कटिच्छेदो मत्तस्खलितकं भवेत् । घ. करिहस्तं कटिच्छेदं ।

१५. मत्तस्खलितः ।

मत्तल्लीति—

"वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्ल्युदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-८८) ।

कपोलस्येति गण्डसूची—

"सूचीपादोन्नतं पार्श्वमेको वक्षःस्थितः करः ।
द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते" ॥ इति (ना. शा. ४-१३२) ।

सम्यङ् निकुञ्चितमिति लीनं नाम करणम्—

"पताकाञ्जलिवक्षःस्थं प्रसारितशिरोधरम् ।
निकुञ्चितांसकूटं च तल्लीनं करणं स्मृतम् ।" (ना. शा. ४-६७)

अपविद्धम् "आवर्त्य शुकतुण्डाख्यम्" इति (ना. शा. ४-६५), अपविद्धगतेनैव तलसंस्फोटितं "द्रुतं विक्षिप्य चरणम्" इति (ना. शा. ४-१३०) । करिहस्तादिद्वयं पूर्ववत् ॥ २०७-२०८ ॥

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'मत्तल्लि' करण का प्रयोग किया जाता है। इस करण में दोनों हाथ घुमाते हुए ऊपर फेंके जाते हैं और हाथों को 'उद्वेष्टित' और 'अपविद्ध' चेष्टा में रखा जाता है (ना० शा० ४।८८)। अभिनव के अनुसार हाथ के आवर्त्तन तथा उसके कपोल प्रदेश पर सम्यक् निकुञ्चन से 'गण्डसूची' और 'लीन' करणों के प्रयोग का निर्देश है। 'गण्डसूची' करण के प्रयोग में पैर सूचीपाद स्थिति में, पार्श्व झुका हुआ और एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा अञ्चित होकर गण्डस्थल पर निहित होता है, (ना० शा० ४।१३२) और 'लीन' करण के प्रयोग में अञ्जलिबद्ध पताकहस्त वक्षःस्थल पर निहित होता है और गरदन अपसारित रहती है और कन्धे उठे हुए तथा गरदन झुकी हुई होती है। (ना०शा० ४।६७)। इसके बाद 'अपविद्ध' करण का प्रयोग करना चाहिए जिसमें 'शुकतुण्ड' नामक हाथ को मोड़कर जङ्घा के पृष्ठभाग पर न्यस्त किया जाता है और बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाता है। (ना० शा० ४।६५)। 'अपविद्ध' करण से प्रयोग के बाद 'तलस्फोटित' करण का संयोजन करना चाहिए, इससे पैर को शीघ्रता से उठाकर सामने की ओर गिराया जाता है और हाथों को ताली बजाने की प्रक्रिया में रखा जाता है। (ना० शा० ४।१३०)। इसके बाद 'करिहस्त' और कटिच्छिन्न' नामक करणों का प्रयोग पूर्व में अर्थात् द्वितीय अङ्गहार में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रकार सात करणों के योग से 'मत्तस्खलितक' अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २०७-२०८ ॥

१६. अथ मदविलसितः

दोलैः करैः प्रचलितैः स्वस्तिकापसृतैः पदैः ।
अञ्चितैर्वलितैर्हस्तैस्तलसङ्घटि्टतैस्तथा[1] ॥ २०९ ॥
[2]निकुट्टितं च कर्तव्यमूरूद्वृत्तं तथैव च ।
[3]करिहस्तं कटिच्छिन्नं मदाद्विलसिते भवेत् ॥ २१० ॥

---

१६. मदविलसितः ।

दोलैरिति । दोलैः करैरिति मदस्खलितमेकोनशततमं करणम् । स्वस्तिकापसृतैः पदैर्मत्तल्लि सूचितम् । ततस्तलसंघट्टितैरिति तलसंस्फोटितमूनसप्ततिकरणम् । वलितशब्देन त्रीण्यपि करणानि बहुविधचित्रगुम्फानीति । ततो निकुट्टकादिकरणचतुष्कम् । अत्र केचिद् दोलादिकरणानां त्रयाणां त्रिरभ्यासात् त्रयोदश करणानि वाऽऽहुः । अन्ये तु करणसप्तकस्यापि त्रिरभ्यासादेकविंशतीति ॥ २०९-२१० ॥

१६—मदविलसित

अनुवाद—'मदविलसित' अङ्गहार में दोला नृत्तहस्त को संचालित किया जाता है और पैरों को स्वस्तिक चेष्टा से अपसृत किया जाता है अर्थात् हटाया जाता है तथा अञ्चित एवं वलित हाथों से 'तलसंट्टित' क्रिया की जाती है। फिर क्रमशः निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ २०९-२१० ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर दोलाहस्तों के संचालन का उल्लेख होने से 'मदस्खलितक' नामक ९९वें करण के प्रयोग का संकेत मिलता है। इसी प्रकार 'स्वस्तिक पैरों के अपसरण' के उल्लेख से 'मत्तल्लि' करण का प्रयोग सूचित होता है। इसके बाद अञ्चित एवं वलित हाथों के संघट्टित करने से 'तलसंघट्टित' करण के प्रयोग का निर्देश है। अभिनवगुप्त ने 'तलसंघट्टित' पद से 'तलसंस्फोटित' नामक ६९वाँ करण स्वीकार किया है। ये तीनों करण अनेक प्रकार से चित्रित किये जाते हैं। इसके बाद निकुट्टक आदि चार करणों का प्रयोग किया जाता है।

---

१. ख. तलसंघटितैस्तथा ।
२. क. ख. निकुञ्चितं च ।
३. क.-न. म. करिहस्तः कटिच्छेदो ।

१७. अथ गतिमण्डलः

[1]मण्डलं स्थानकं कृत्वा तथा हस्तौ च रेचितौ ।
उद्धट्टितेन पादेन [2]मत्तल्लिकरणं भवेत् ॥ २११ ॥
[3]आक्षिप्तं करणं चैव ह्युरोमण्डलमेव[4] च ।
[5]कटिच्छिन्नं तथा चैव भवेत्तु गतिमण्डले ॥ २१२ ॥

---

१७. गतिमण्डलः ।

मण्डलमिति । मण्डलस्थानकेन मण्डलस्वस्तिकनिवेशे करणे उद्दिष्टे । तत उन्मत्तं रेचिताविल्याह । पादेनोद्धट्टिताख्यं त्र्युत्तरशतम् । आक्षिप्तादीनि त्रीणि चाष्टौ करणानि गतिमण्डले ॥ २११-२१२ ॥

यहाँ पर कुछ आचार्य आरम्भ के दोला, मत्तल्लि और तलसंस्फोटित तीन करणों को तीन बार तिहराने से नौ तथा आगे के चार करणों के योग से तेरह करणों का प्रयोग माना गया है। अन्य आचार्य तो सातों करणों के तीन बार आवृत्ति करने से इक्कीस करणों के प्रयोग को स्वीकार करते हैं ॥ २०९-२१० ॥

१७—गतिमण्डल

अनुवाद—'गतिमण्डल' नामक अङ्गहार में प्रथम मण्डल नामक स्थानक का प्रयोग करके दोनों हाथों को रेचित किया जाता है, फिर उद्धट्टित पैर से मत्तल्लि करण का प्रयोग किया जाता है, उसके बाद आक्षिप्त, उरोमण्डल और कटिच्छन्न करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ २११-२१२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर मण्डलस्थानक के उल्लेख से 'मण्डलस्वस्तिक' और 'निवेश' करणों के प्रयोग का निर्देश किया गया है। उसके बाद रेचितहस्त द्वारा 'उन्मत्त' करण का संकेत है। इसी प्रकार उद्धट्टित पाद के निर्देश से 'उद्धट्टित' करण के प्रयोग का संकेत है। इसके बाद आक्षिप्त, मत्तल्लि, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों के प्रयोग का निर्देश किया गया है। इस प्रकार कुल आठ करणों के योग से यह 'गतिमण्डल' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २११-२१२ ॥

---

१. ख. ग. घ. मण्डलस्थानकं ।
२. ख. मत्तल्लीकरणं भवेत् । क-अ. ब. द. मत्तल्लीं सम्प्रयोजयेत् ।
३. ख. आक्षिप्तकरणं ।
४. ख. घ. उरोमण्डलकं तथा ।
५. ख. घ. कटिच्छेदं ।

१८. अथ परिच्छिन्नः

समपादं प्रयुज्याथ [1]परिच्छिन्नं त्वनन्तरम् ।
आविद्धेन तु पादेन [2]बाह्यभ्रमरकं तथा ॥ २१३ ॥
[3]वामसूच्या त्वतिक्रान्तं भुजङ्गत्रासितं तथा[4] ।
[5]करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिच्छिन्ने विधीयते ॥ २१४ ॥

---

१८. परिच्छिन्नः ।

समपादमिति । "श्लिष्टौ समनखौ पादौ" (ना. शा. ४-६५) इति समनखं प्रथमं कुर्यात् । ततश्छिन्नं पञ्चचत्वारिंशत् । आविद्धपादेनाविद्धचार्यां संभ्रान्तमेकोत्तरशतम् । ततो भ्रमरकमष्टत्रिंशत् । वामसूच्यार्धसूची वामपादेन । ततोऽतिक्रान्तं षट्षष्टितमम् । भुजङ्गत्रासितादीनि त्रीणि च नवभिः परिच्छिन्नः ॥ २१३-२१४ ॥

१८—परिच्छिन्न

अनुवाद—जहाँ पर समपाद स्थानक के प्रयोग के बाद छिन्न करण का प्रयोग किया जाता है और आविद्ध चारी में स्थित पैर के अभिनय के साथ बाह्य भ्रमरक करण का प्रयोग किया जाता है, फिर बाँये पैर के द्वारा अर्धसूची करण का तथा उसके बाद अतिक्रान्त और भुजङ्गत्रासित करण का प्रयोग किया जाता है, फिर अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ 'परिच्छिन्न' नामक अङ्गहार होता है ॥ २१३-२१४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त ने इस अङ्गहार में समपाद स्थानक से 'समनख' करण को स्वीकार किया है। समनख करण में दोनों पाद एक दूसरे से सटे हुए (श्लिष्ट) होते हैं और दोनों हाथ उसी स्थिति में प्रलम्बित होते हैं। (ना० शा० ४।६५)। परिच्छिन्न का प्रयोग 'छिन्न' करण का द्योतक है जो ४५वाँ करण है। पैर का आविद्धचारी के साथ निर्देश होने से 'सम्भ्रान्त' नामक १०१वें करण का संकेत है। फिर भ्रमरक नामक ३८वें करण के प्रयोग का निर्देश है। बाँये पैर से सूचीचारी के द्वारा अर्धसूची करण का निर्देश है। उसके बाद अतिक्रान्त और भुजङ्गत्रासित करण का प्रयोग होता है और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार नौ करणों के योग से 'परिच्छिन्न' अङ्गहार निर्माण होता है ॥ २१३-२१४ ॥

---

१. ख. परिच्छिन्नस्त्वनन्तरम् ।
२. क-अ. बाहभ्रमरकं तथा । क-प. वात्याभ्रमरकं तथा । ३. ख. घ. वामं सूच्या ।
४. इतः परं श्लोकत्रयं 'ख' पुस्तके नास्ति । ५. क-न. म. करिहस्तः कटिच्छेदः ।

१६. अथ परिवृत्तकरेचितः

शिरसस्तूपरि स्थाप्यौ स्वस्तिकौ [1]विच्युतौ करौ ।
ततः सव्यं करं चापि गात्रमानम्य रेचयेत् ॥ २१५ ॥
[2]पुनरुत्थापयेत्तत्र गात्रमुन्नम्य रेचितम् ।
[3]लताख्यौ च करौ कृत्वा वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ॥ २१६ ॥
रेचितं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं तथा ।
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत स्वस्तिकं [4]पादमेव च ॥ २१७ ॥
[5]पराङ्मुखविधिर्भूय एवमेव भवेदिह ।
[6]करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिवृत्तकरेचिते ॥ २१८ ॥

१६—परिवृत्तकरेचित

अनुवाद—जहाँ पर विच्युत अर्थात् विप्रकीर्ण हुए दोनों हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में शिर पर रखा जाता है। फिर शरीर को झुकाकर दाहिने हाथ को रेचित करे। फिर शरीर को उन्नत करके रेचित हाथ को ऊपर उठाये, तदनन्तर दोनों हाथों 'लताहस्त' मुद्रा में रखकर 'वृश्चिक' करण का प्रयोग किया जाय। फिर इसके बाद रेचित, करिहस्त, भुजङ्गत्रासित, आक्षिप्त करणों का प्रयोग किया जाय, तदनन्तर पैर को स्वस्तिक प्रक्रिया में रखकर पराङ्मुख अर्थात् मुख फरकर फिर इन्हीं विधियों को करे, फिर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो वहाँ पर 'परिवृत्तक-रेचित' नामक अङ्गहार होता है ॥ २१५-२१८ ॥

---

१. क-अ. ड. ब. विधुतौ करौ ।
२. क-ब. पुनः संस्थापयेत् तत्र गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।
क-त. पुनरुत्थापयेत्तत्—गात्रमुन्नाम्य रेचयेत् ।
३. क-न. म. लताख्यं च करं कृत्वा ।
४. ख. पदमेव च ।
५. ख. पराङ्मुखीविधिर्भूयादेवमेव भवेदिह ।
घ. पराङ्मुखौ विधियर्भू एवमेव भवेदिह ।
क-ल. न. म. पराङ्मुखी विधिर्भूय एष एव भवेदिह ।
६. ख. करिहस्तः कटिच्छेदः । घ. करिहस्तं कटिच्छेदं ।

१९. परिवृत्तकरेचितः ।

शिरसस्त्विति । शिरस उपरीति नितम्बं पञ्चाशीतितमम्—

"भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ।

बद्धाचारी तथा चैव नितम्बे करणे भवेत्" ॥ (ना. शा.४-१४६) ।

इति नितम्बम् । ततः स्वस्तिकरेचितं सप्तमम् (ना.शा. ४-६८) । गात्रस्यानमनेन विक्षिप्ताक्षिप्तकमेकविंशम् (ना. शा. ४-८२) । पुनः पुनरिति लताख्यावित्यनेनार्धेन लतावृश्चिकम् (ना. शा. ४-१०५)

"अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।

लताख्यश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०५)

इति लतावृश्चिकम् ।

"एको वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।

अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके" ॥ इति । (ना. शा. ४-१४९)

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर शिर पर हाथों को स्वस्तिक प्रक्रिया में रखने से 'नितम्ब' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है जिसमें दोनों भुजाओं को ऊपर उठाया जाता है और हाथों को सामने अंगुलियाँ वाला रखा जाता है (ना० शा० ४।१४६) । उसके बाद 'विप्रकीर्ण दोनों हाथों को स्वस्तिक प्रक्रिया में रखे' इस कथन से सातवें 'स्वस्तिकरेचित' करण के प्रयोग का संकेत मिलता है जिसमें रेचित और आविद्ध दोनों हाथों को स्वस्तिक प्रक्रिया में अलग-अलग कटि-प्रदेश में रखा जाता है। (ना० शा० ४।६८) । इसके बाद शरीर के आनमन से दाहिने हाथ से रेचित क्रिया करने से 'विक्षिप्ताक्षिप्त' नामक इक्कीसवें करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है जिसमें ऊपर फेंके हुए हाथ और पैरों को फिर उसी प्रकार आक्षेपण किया जाता है (ना० शा० ४।८२) । फिर शरीर को उन्नत करके रेचित चेष्टा में हाथ को उठाने तथा हाथों को 'लता' प्रक्रिया में न्यस्त करने के निर्देश द्वारा 'लतावृश्चिक' करण के प्रयोग की सूचना मिलती है जिसमें एक पैर जिसका तल और अंगुलियाँ ऊपर की ओर सिकुड़ी होती है, उसे पीछे की ओर अञ्चित होता है और बाँया हाथ 'लता' चेष्टा में होता है। (ना० शा० ४।१०५) । इसके बाद हाथों के रेचित प्रयोग द्वारा 'उन्मत्त' करण के प्रयोग का निर्देश है जिसमें पैर अञ्चित चेष्टा में और रेचित प्रक्रिया में न्यस्त किया जाता है (ना० शा० ४।७५) । फिर 'करिहस्त' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा हाथ प्रोद्वेष्टित मुद्रा में स्थित रहता है और पैर अञ्चित रहता है (ना० शा० ४।१४९) ।

२०. अथ वैशाखरेचितः

रेचितौ सह गात्रेण ह्यपविद्धौ करौ यदा[1]।
पुनस्तेनैव [2]देशेन गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।। २१९ ।।
[3]कुर्यान्नूपुरपादं च भुजङ्गत्रासितं तथा।
रेचितं मण्डलं चैव [4]बाहुशीर्षं निकुञ्चयेत् ।। २२० ।।

रेचितमित्युन्मत्तकरणम्। "अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ" इति (ना. शा. ४-७४)। "एको वक्षःस्थितो हस्तः" इति करिहस्तकम्। "कुञ्चितं पादम्" इति (ना. शा. ४-८५) भुजङ्गत्रासितम्। "आक्षिप्तं हस्तपादम्। इत्याक्षिप्तकम् (ना. शा. ४-११६)। स्वस्तिकं पादमित्यस्यैव पादस्वस्तिकपर्यन्ततया बद्धां चारीं सूचयन्नितम्बकरणमाह—"भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ" (ना. शा. ४-१४६)। पराङ्मुखेति। अङ्गहारेषु मध्ये परिभाषमाणो मुनिरेतदाह—सर्वेष्वेव चाङ्गहारेषु पाश्चात्यं करणद्वयं वर्जयित्वा वर्तनीयानि करणानि। तानि चतुर्दिङ्मुखेषु प्रयुज्य संमुखमन्त्ये करणद्वयेन पूरयेदिति ।। २१५-२१८ ।।

इसके बाद 'भुजङ्गत्रासित' करण का संयोजन करना चाहिए, जिससे कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर त्र्यस्र ऊरु को विवर्त्तित किया जाता है और कटि और जानु का भी विवर्त्तन किया जाता है। (ना० शा० ४।८५) फिर 'आक्षिप्तक' करण के प्रयोग द्वारा हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद पैरों की स्वस्तिक क्रिया से बद्धा चारी को सूचित करने वाले 'नितम्ब' करण के प्रयोग का निर्देश किया जाता है जिसमें दोनों भुजाएँ ऊपर उठी हुई होती हैं और हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर होती है तथा पैर बद्धा चारी में होता है।

(ना० शा० ४।१४६)।

पराङ्मुखेति—अङ्गहारों के विषय में परिभाषित करते हुए मुनि यह कहते हैं कि सभी अङ्गहारों में पीछे के दो करणों को छोड़कर शेष सभी करणों का प्रयोग करना चाहिए, उन करणों को चारों ओर संमुख से प्रयोग कर लेने के बाद अन्त में उन दोनों करणों (करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों) के प्रयोग के द्वारा इस अङ्गहार को पूर्ण करना चाहिए। इस प्रकार 'परिवृत्तक-रेचित' अङ्गहार निष्पन्न होता है ।। २१५-२१८ ।।

---

१. ख-घ. तथा।
२. क-त. योगेन।
३. ख-घ. कार्यम्।
४. क. ग. बाहुशीर्षे।

[1]ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ।
करिहस्तं [2]कटिच्छिन्नं कुर्याद्वैशाखरेचितौ ॥ २२१ ॥

२०. वैशाखरेचितः ।

रेचिताविति । अनेन श्लोकेन क्रमेण वैशाखरेचितमङ्गमङ्गद्वयेन प्रयोज्यमित्याह ।

"रेचितं हस्तपादं च कटी ग्रीवा च रेचिता" ।
वैशाखस्थानकेनैतद्भवेद्वैशाखरेचितम् ॥ (ना. शा. ४-९८)
वैशाखरेचितं करणम् ।

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरं च तथा पादकरणे नूपुरे भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-६७)

इति नूपुरोर्ध्वपादम् । कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्येति (ना. शा. ४-८५) भुजङ्गत्रासितम् । रेचितमित्युन्मत्तकरणम् । "अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ" इति (ना. शा. ४-७४) मण्डलमिति मण्डलस्वस्तिकम्—

२०—वैशाखरेचित

अनुवाद—जहाँ पर शरीर के साथ दोनों हाथों को रेचित कर 'अपविद्ध' चेष्टा में रखा जाय और फिर शरीर को ऊपर उठाकर फिर उसी प्रकार रेचित करे, फिर नूपुर, भुजङ्गत्रासित, रेचित और मण्डल करणों के संयोजन के साथ भुजा एवं शिर अथवा कन्धे को निकुञ्चित किया जाय, फिर इसके बाद ऊरूद्वृत आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो वहाँ पर 'वैशाखरेचित' नामक अङ्गहार होता है ॥ २१९-२२१ ॥

अभिनव—'वैशाखरेचित' अङ्गहार में शरीर के साथ हाथों को रेचित प्रक्रिया में अपविद्ध करने तथा पुनः शरीर को उन्नत करके दूसरे पार्श्व से भी ऐसा ही करने के निर्देश के द्वारा 'वैशाखरेचित' करण को संपादित करने का संकेत है । इस श्लोक के द्वारा क्रम से 'वैशाखरेचित' करण दोनों अङ्गों से प्रयुक्त करना चाहिए, यह कहा गया है । 'जहाँ पर हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा आदि रेचित होते हैं वैशाखस्थानक की स्थिति होती है वहाँ 'वैशाखरेचित' करण होता है । (ना० शा० ४।९८) इसके बाद 'नूपुर' करण का प्रयोग किया जाता है । 'जहाँ पर त्रिक को वलित करके दोनों हाथों को 'लतारेचित' प्रक्रिया में रखा जाता है और पैर 'नूपुर' पादचारी में होता है वहाँ 'नूपुर' करण होता है (ना० शा० ४।९७) । फिर 'भुजङ्गत्रासित' करण का प्रयोग करना चाहिए किसमें कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जङ्घा को त्र्यस्र विवर्त्तित किया जाता है और कटि तथा जानु को भी विवर्त्तित किया जाता है (ना० शा० ४।८५) ।

१. क-त. ऊरुवृत्तम् । २. ख-घ. कटिच्छेदं ।

२१. अथ परावृत्तः

आद्यं तु जनितं कृत्वा पादमेकं प्रसारयेत् ।
तथैवालातकं कुर्यात् त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।। २२२ ।।
अञ्चितं वामहस्तं च [1]गण्डदेशे निकुट्टयेत् ।
[2]कटिच्छिन्नं तथा चैव [3]परावृत्ते प्रयोजयेत् ।। २२३ ।।

"स्वस्तिकौ तु करौ कृत्वा प्राङ्मुखोर्ध्वतलौ समौ ।
तथा च मण्डलस्थानं मण्डलस्वस्तिकं भवेत्" ।। इति (ना. शा. ४-६८)

बाहुशीर्ष इत्यनेन निकुट्टितं करणमाह—

"निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ।
पादौ निकुट्टितौ चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम्" ।। इति (ना. शा. ४-६९) ।
ऊरूद्वृत्तादिकरणजातं क्रमेणोक्ताङ्गहारवत् ।। २१९-२२१)

फिर यहाँ पर रेचित के प्रयोग से 'उन्मत्त' करण का तथा मण्डल के प्रयोग से 'मण्डलस्वस्तिक' करण का निर्देश किया गया है। 'उन्मत्त' करण में पैर को अञ्चित करके हाथों को रेचित प्रक्रिया में रखा जाता है (ना० शा० ४।७५) और 'मण्डलस्वस्तिक' करण के प्रयोग में ऊपर की ओर उठी हुई हथेलियों वाले दोनों हाथों को स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है (ना० शा० ४।६९) बाहुशीर्ष अर्थात् कन्धे पर निकुञ्चन क्रिया के प्रयोग से यहाँ 'निकुट्टक' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है जिसके प्रयोग में दोनों हाथ बाहु और शिर के बीच में संचालित होते हैं और पैर निकुट्टित होता है (ना० शा० ४।७०)। इनके अतिरिक्त ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करण पूर्व अङ्गहारों में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त करने चाहिए ।। २१९-२२१ ।।

२१—परावृत्त

अनुवाद—'परावृत्त' अङ्गहार में पहिले 'जनित' करण का प्रयोग करके एक पैर को फैलाना चाहिए, फिर 'अलात' करण का प्रयोग करके त्रिक को परिवर्त्तित करना चाहिए, फिर बाँये हाथ को निकुञ्चित करके कपोल-प्रदेश पर निकुट्टित कर, फिर अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार छः करणों के योग से 'परावृत्त' अङ्गहार निष्पन्न होता है ।।२२२-२२३।।

१. क-अ. ड म. गण्डे चैव निकुट्टितम ।
२. क-न. म. कटिच्छेदम् ।
३. ख. परावृत्तं ।

२१. परावृत्तः ।

आद्यम्त्विति ।

"एको वक्षःस्थितो हस्तो द्वितीयश्च प्रलम्बितः ।
तलाग्रसंस्थितः पादो जनिते करणे भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१५५) इति ।

[1]आद्यशब्दो दक्षिणाङ्गप्रयोज्यत्वमस्याह । पादमेकं प्रसारयेदिति शकटास्यं करणमाह—

"निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ।
उद्वाहितमुरःकृत्वा शकटास्यं प्रयोजयेत्" ॥ (ना. शा. ४-१६८)
"अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम्" ॥ (ना. शा. ४-७८)

इत्यलातम् । त्रिकं तु परिवर्तयेदिति भ्रमरकम् ।

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ।
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्" ॥ इति (ना. शा. ४-९९)

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'जनित' करण का प्रयोग करना चाहिए जिसका लक्षण है कि "जहाँ पर एक हाथ वक्षःस्थल पर स्थित हो और दूसरा हाथ प्रलम्बित हो तथा पैर अग्रतलसंचर प्रक्रिया में स्थित हो वहाँ 'जनित' करण होता है।" (ना० शा० ४।१५६)। यहाँ पर 'आद्य' शब्द से दाहिने अङ्ग से प्रयोग करना चाहिये, यह कहा गया है। 'एक पैर को फैलाये' इस कथन से 'शकटास्य' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है। शकटास्य करण का लक्षण है—

"जहाँ पर शरीर की सम स्थिति से पैर को तलसञ्चर स्थिति में फैलाया जाता है तथा वक्षःस्थल को उद्वट्टित स्थिति में रखा जाता है वहाँ 'शकटास्य' करण होता है।" (ना० शा० ४।१६८)।

अलात करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को अलातचारी की प्रक्रिया में रखकर, दाहिने हाथ को कन्धे के बराबर ले जाकर ऊर्ध्वजानु चारी का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'अलात' नामक करण होता है।" (ना० शा० ४।७९)।

'त्रिक का परिवर्त्तन करे' इस कथन से 'भ्रमरक' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है। भ्रमरक करण का लक्षण है—

"जहाँ पर आक्षिप्त चारी में स्थित पैर स्वस्तिक स्थिति में रहता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित होते हैं तथा त्रिक वलित होता है वहाँ 'भ्रमरक' करण होता है।" (ना० शा० ४।९९)।

---

१. क-म. अन्यशब्दो ।

२२. अथ अलातकः

स्वस्तिकं [1]करणं कृत्वा व्यंसितौ च करौ पुनः ।
अलातकं प्रयुञ्जीत ह्यूर्ध्वजानु[2] निकुञ्चितम् ॥ २२४ ॥
[3]अर्धसूची च विक्षिप्तमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ।
करिहस्तं [4]कटिच्छिन्नमङ्गहारे ह्यलातके ॥ २२५ ॥

अञ्चितं वामहस्तं चेत्यनेनार्धेन करिहस्तं करणं गण्डदेशे निकुट्टयेदिति विशेषयुक्तमाह—

"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।
अञ्चितं चरणं चैव प्रयोज्यः करिहस्तकः ॥ इति (ना. शा. ४-१४८)
पर्यायशः कटिच्छिन्ना बाह्वोः शिरसि पल्लवौ ।
पुनः पुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद् भवेत् ॥ (ना. शा. ४-७१)
इति कटिच्छिन्नाम् ॥ २२२-२२३ ॥

'बायें हाथ को अञ्चित चेष्टा में कपोल-प्रदेश पर निकुञ्चित करे' इस कथन से 'करिहस्त' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है ।

"जहाँ पर बाँया हाथ वक्षःस्थल पर हो और दूसरा हाथ प्रोद्वद्वेष्टित हो, तथा पैर अञ्चित हो, वहाँ 'करिहस्त' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१४८) ।

इसके बाद 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें कटि 'छिन्न' प्रक्रिया में होती है और पल्लव हस्तों को बारी-बारी से कन्धे पर ले जाता है (ना० शा० ४।७२) । इस प्रकार छः करणों के योग से 'परावृत्त' नामक अङ्गहार बनता है ॥ २२२-२२३ ॥

२२—अलातक

अनुवाद—जहाँ पर 'स्वस्तिक' करण का प्रयोग करके फिर हाथों को 'व्यंसित' करण की प्रक्रिया में रखा जाता है फिर अलातक, ऊर्ध्वजानु, निकुञ्चित, अर्धसूची, विक्षिप्त , उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ पर 'अलातक' नामक अङ्गहार होता है ॥ २२४-२२५ ॥

---

१. क-त. प. चरणं ।
२. ख. घ. ऊर्ध्वजानु । ग. उर्ध्वजानु ।
३. ख. अर्धसूचीव विक्षिप्तमुद्धृताक्षिप्तके तथा । ग. ऊर्ध्वसूची च ।
४. ख. करिहस्तः कटिच्छेद त्वङ्गहारे त्वलातके ।
क-न. म. करिहस्तः कटिच्छेदो ह्यङ्गहारे ह्यलातके ।

२२. अलातकः ।

स्वस्तिकमित्यादि । स्वस्तिकाविति (ना. शा. ४-६८) स्वस्तिकम् । व्यंसितौ चेति द्विवचनेन पुनश्शब्दे स्वस्तिकव्यवधानेन व्यंसितस्य द्विप्रयोगमाह ।

"आलीढस्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्" ।। (ना. शा. ४-१०६)
"अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ।
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम्" ।। (ना. शा. ४-७८)
"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावूर्ध्वजानु प्रकीर्त्तितम्" ।। (ना. शा. ४-८६)
"वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ।
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम्" ।। (ना. शा. ४-८७)

इति निकुञ्चितम् ।

अभिनव—इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'स्वस्तिक' करण का प्रयोग होता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर सामने की ओर ऊपर उठी हुई हथेलियों वाला दोनों हाथ स्वस्तिक मुद्रा में हों और मण्डल-स्थानक हो, वहाँ 'स्वस्तिक' करण होता । (ना० शा० ४।६९)।

अभिनवगुप्त के अनुसार 'व्यंसितौ' में द्विवचन का प्रयोग होने के कारण तथा पुनः शब्द से कहा गया है कि स्वस्तिक के व्यवधान होने से 'व्यंसित' करण का यहाँ दुबारा प्रयोग करना चाहिए अर्थात् पहिले 'व्यंसित' करण का प्रयोग करे, फिर स्वस्तिक का और फिर दुबारा 'व्यंसित' करण का प्रयोग करना चाहिए। व्यंसित करण का लक्षण है—

"जहाँ पर आलीढ़ स्थानक के साथ रेचित दोनों हाथ वक्षःस्थल पर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं वहाँ 'व्यंसित' करण होता है। (ना० शा० ४।१०९)।

अलात करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को अलात चारी के करके दाहिने हाथ को कन्धे के पास ले जाया जाय और ऊर्ध्वजानु चारी का क्रमशः प्रयोग करे वहाँ 'अलात' नामक करण होता है।" (ना० शा० ४।७९)।

ऊर्ध्वजानु करण का लक्षण—

"जहाँ पर कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जानु को स्तन के बराबर रखे और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार रखे, वहाँ 'ऊर्ध्वजानु' करण होता है।"

(ना० शा० ४।८६)।

"अलपद्मः शिरोदेशे सूचीपादश्च दक्षिणः ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः" ॥ (ना. शा. ४-१३८)
इत्यर्धसूची ।
"विक्षिप्तं हस्तपादं च पार्श्वतः पृष्ठतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-११९)
आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तदेहमाक्षिप्तपादकम् ।
उद्वृत्तगात्रमित्येतदुद्वृत्तं करणं स्मृतम् ॥ (ना. शा. ४-१५२)
"आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः ।
आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद्द्विजोत्तमाः" ॥ (ना. शा. ४-११६)
इत्याक्षिप्तम् ।
"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तकः" ॥ (ना. शा. ४-१४८)
इति करिहस्तम् ।
"पर्यायशः कटिच्छिन्ना बाह्वोः शिरसि पल्लवौ ।
पुनः पुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद्भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-७२)
इति कटिच्छिन्नम् ॥ २२४-२२५ ॥

निकुञ्चित करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को वृश्चिक करण की मुद्रा में रखकर हाथ को पार्श्व में निकुञ्चित किया जाय और दाहिने हाथ को नासिका के अग्रभाग पर निकुञ्चित करे तो वहाँ 'निकुञ्चित' करण होता है।" (ना० शा० ४।८७) ।

अर्धसूची का लक्षण—

"जहाँ पर अलपल्लव मुद्रा में न्यस्त हाथ शिर पर होता है और दाहिना पैर सूची चारी में स्थित होता है वहाँ 'अर्धसूची' नामक करण होता है।"

(ना० शा० ४।१३८) ।

विक्षिप्तकरण का लक्षण—

"जहाँ पर हाथ और पैरों को पीछे और पार्श्व में एक मार्ग का अनुसरण करते हुए क्षिप्त किया जाता है वहाँ 'विक्षिप्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।११९) ।

उद्वृत्त करण का लक्षण—

"जहाँ पर हाथ, पैर और समस्त शरीर को द्रुत गति से फेंक कर शरीर को उद्वृत्त चारी में न्यस्त करे वहाँ 'उद्वृत्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१५२) ।

आक्षिप्त करण का लक्षण—

"जहाँ पर हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है, उसे 'आक्षिप्त' करण कहते हैं।" (ना० शा० ४।११७) ।

२३. अथ पार्श्वच्छेदः

निकुट्य वक्षसि करावूर्ध्वजानु प्रयोजयेत् ।
[1]आक्षिप्तस्वस्तिकं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २२६ ॥
ऊरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं[2] करिहस्तकम् ।
कटिच्छिन्नं[3] तथा चैव पार्श्वच्छेदे विधीयते ॥ २२७ ॥

---

२३. पार्श्वच्छेदः ।

निकुट्येत्यादि । अनेन वृश्चिककुट्टितं द्विचत्वारिंशत्तमकरणमाह—

"वृश्चिकं चरणं कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ।
विधातव्यौ करौ तत्तु ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम् ॥ (ना.शा. ४-१०३)

करिहस्त का लक्षण—

"जहाँ पर बाँये हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाता है और दाहिना हाथ प्रोद्वेष्टित मुद्रा में रहता है और पैर अञ्चित चेष्टा में प्रयुक्त होता है, उसे 'करिहस्त' करण कहा जाता है।" (ना० शा० ४।१४८)।

अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर कटि को बार-बार दोनों ओर चालित किया जाता है और कन्धे के ऊपर दोनों हाथों को बारी-बारी से रखा जाता है वहाँ 'कटिच्छिन्न' करण होता है। (ना० शा० ४।७२)

इस प्रकार ग्यारह करणों के योग से 'अलातक' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है। यहाँ पर 'व्यंसित' करण के दो बार प्रयोग करने का निर्देश है। यदि 'व्यंसित' दो करण के रूप में स्वीकार किया जाता है तो करणों की संख्या बारह हो जाती है॥ २२४-२२५ ॥

२३—पार्श्वच्छेद

अनुवाद— जहाँ पर दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर निकुट्टित करके ऊर्ध्व-जानु करण का प्रयोग किया जाता है, और आक्षिप्त एवं स्वस्तिक करणों के संयोजन के बाद त्रिक को परिवर्त्तित किया जाता है। उसके बाद उरोमण्डलक करण के प्रयोग के साथ नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ 'पार्श्वच्छेद' नामक अङ्गहार होता है॥ २२६-२२७ ॥

---

१. ख-घ. आक्षिप्तं स्वस्तिकं ।
२. ख-घ. नितम्बः करिहस्तकः ।
३. ध. कटिच्छेदं कटिच्छेदः ।

२४—अथ विद्युद्भ्रान्तः

सूची[1] वामपदं दद्याद्विद्युद्भ्रान्तं च दक्षिणम् ।
दक्षिणेन पुनः सूची विद्युद्भ्रान्तं[2] च वामतः[3] ॥ २२८ ॥
परिच्छिन्नं तथा चैव ह्य[4]तिक्रान्तं च वामकम् ।
लताख्यं [5]सकटिच्छिन्नं विद्युद्भ्रान्तश्च स स्मृतः ॥ २२९ ॥

कुञ्चितं पादमित्यूर्ध्वजानु (ना. शा. ४-८६), "आक्षिप्तं हस्तपादं च" इत्याक्षिप्तकम् (ना. शा. ४-११६) "हस्ताभ्यामथ पादाभ्याम्" (ना. शा. ४-७५) इति स्वस्तिकम् । हस्तद्वारेणोरोमण्डलकरणम्—

"स्वस्तिकापसृतौ पादावाविद्धक्रमणं यदा ।
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलिकतन्तु तत् ॥ (ना. शा. ४-११५)

नितम्बादित्रयं पूर्ववत् ॥ २२६-२२७ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर दोनों हाथों को वक्ष पर निकुट्टित करने से 'वृश्चिकनिकुट्टित' नामक ४२वें करण के प्रयोग का संकेत मिलता है ।

"जहाँ पर पैर को वृश्चिक चेष्टा में रखकर दोनों हाथों को निकुट्टित स्थिति में रखा जाता है, वहाँ 'वृश्चिकनिकुट्टित' करण होता है । (ना० शा० ४।१०३) ।

इसके बाद ऊर्ध्वजानु करण का प्रयोग कुञ्चित पैर से किया जाता है अर्थात् इस करण में कुञ्चित पैर ऊपर की ओर फेंककर जानु को स्तन के बराबर न्यस्त किया जाता है और दोनों हाथों को प्रयोग के अनुसार न्यस्त किया जाता है ।'

(ना० शा० ४।८६) ।

इसके वाद आक्षिप्त करण के प्रयोग द्वारा हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० ना० ४।११६) । तदनन्तर स्वस्तिक करण के प्रयोग में हाथ और पैरों द्वारा दो स्वस्तिक मुद्राओं की रचना की जाती है (ना० शा० ४।७६) । इसके बाद हाथों के द्वारा उरोमण्डल करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें स्वस्तिक स्थिति से पैर को हटाकर अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और हाथ उरोमण्डल हस्त-मुद्रा में प्रयुक्त होता हैं । (ना० शा० ४।११५) । इसके बाद नितम्ब करिहस्त और कटिच्छिन्न नामक करण पूर्वोक्त द्वितीय अङ्गहार के लक्षण में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार छः करणों के योग से 'पार्श्वच्छेद' अङ्गहार की निष्पत्ति होती है ॥ २२६-२२७ ॥

---

१. ख-घ. सूची वामपादं ।
२. ख-घ. विद्युद्भ्रान्तः ।
३. ग. वामकम् ।
४. ख-ग. घ. त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
५. क. अञ्चितं च शिरश्चैव ।
६. ख-घ. सकटिच्छेदं ।

२४. विद्युद्भ्रान्तः ।

सूचीत्यादि वामाङ्गप्रयोज्यमर्धसूचीकरणमाह—

"अलपद्मः शिरोदेशे सूचीपादश्च दक्षिणः ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः" ॥ (ना. शा. ४-१३८)

दक्षिणेन विद्युद्भ्रान्तं करणम्—

"पृष्ठतो वलितं पादं शिरोधृष्टं प्रसारयेत् ।
सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तं तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१२६)

एतद्दक्षिणेन । पुनरेतदेव द्वयमङ्गविपर्ययेण । तदाह—दक्षिणेन पुनरिति । परिच्छिन्नमिति छिन्नं करणम् ।

"पल्लवौ तु कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ।
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०६)

२४—विद्युद्भ्रान्त

अनुवाद—जहाँ पर बाँये पैर को सूची चेष्टा और दाहिने पैर को विद्युद्भ्रान्त प्रक्रिया में रखा जाता है और इसी प्रकार फिर दाहिने अङ्ग (पैर) से सूची पाद चारी तथा बाँये पैर से विद्युद्भ्रान्त करण का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद छिन्न करण का प्रयोग करके बाँये अङ्ग से अतिक्रान्त करण का प्रयोग किया जाता है। फिर अन्त में लतावृश्चिक और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'विद्युद्भ्रान्त' नामक अङ्गहार होता है ॥ २२८-२२९ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'सूची' पद से बाँये अङ्ग से प्रयोज्य 'अर्धसूची' करण को कहा गया है जिसका लक्षण है कि जहाँ पर 'अल्लपल्लव हस्त को शिर पर रखा जाता है और दाहिने पैर को सूची चारी में न्यस्त किया जाता है वहाँ 'अर्धसूची' करण होता है। (ना० शा० ४।१३८) ।

इसी प्रकार दाहिने अङ्ग से प्रयोज्य विद्युद्भ्रान्त करण को कहा गया है जिसका लक्षण है कि जहाँ पर पैर को पीछे की ओर वलित करके शिर से श्लिष्ट होता हुआ प्रसारित किया जाय और हाथ मण्डल तथा आविद्ध प्रक्रिया में हो तो वहाँ 'विद्युद्भ्रान्त' करण होता है। (ना० शा० ४।१२६) । फिर इन्हीं दोनों करणों को विपरीत अङ्गों से अर्थात् अङ्ग का विपर्यय करके सम्पादित किया जाता है उसी बात को 'दक्षिणेन पुन.' इत्यादि के द्वारा कहते हैं। अर्थात् दाहिने पैर से अर्धसूची करण और बाँये से विद्युद्भ्रान्त करण का प्रयोग किया जाता है।

'परिच्छिन्न' शब्द से 'छिन्न' करण का निर्देश है। जिसमें दोनों अल्लपल्लव हाथ क्रम से छिन्न प्रक्रिया से कटि पर स्थित होते हैं और वैशाख नामक स्थानक होता है (ना० शा० ४।१०६) ।

२५—अथ उद्वृत्तकः

कृत्वा नूपुरपादं तु सव्यवामौ प्रलम्बितौ ।
करौ पार्श्वे ततस्ताभ्यां [1]विक्षिप्तं सम्प्रयोजयेत् ।। २३० ।।
ताभ्यां सूची तथा चैव त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
लताख्यं [2]सकटिच्छिन्नं कुर्यादुद्वृत्तके सदा ।। २३१ ।।

"अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा पुरस्तत्संप्रसारयेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्तितौ" ।। (ना. शा. ४-१२७)

एतद्वामेनाङ्गेन लताख्यमिति लतावृश्चिकम् ।

"अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ।
लताख्यश्च करो वामः तल्लतावृश्चिकं भवेत्" ।। (ना. शा. ४-१०५)

इति लतावृश्चिकम् । कटिच्छिन्नं प्राग्वत् ।। २२८-२२६ ।।

अतिक्रान्त करण का लक्षण—

"जहाँ पर पैर को अतिक्रान्त चारी में स्थित कर आगे की ओर प्रसारित किया जाता है और हाथ प्रयोग के अनुसार संचालित होते हैं, वहाँ 'अतिक्रान्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१२७)।

इसका प्रयोग बाँये अङ्ग से करना चाहिए। 'लताख्यम्' शब्द से 'लतावृश्चिक' करण का निर्देश है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर कुञ्चित ऊपर उठी हुई अंगुलियों वाला पैर पीछे की ओर अञ्चित होता है और बांया हाथ 'लता' नामक हस्तमुद्रा में स्थित होता है वहाँ 'लतावृश्चिक' करण होता है।" (ना० शा० ४।१०५)।

यह लतावृश्चिक करण है। 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग पहिले द्वितीय अङ्गहार में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार करना चाहिए। इस प्रकार छः करणों के योग से 'विद्युद्भ्रान्त' नामक अङ्गहार की निष्पत्ति होती है ।। २२८-२२९ ।।

२५—उद्वृत्तक

अनुवाद—जहाँ पर पैर को नूपुर पादचारी में रखकर दायें-बांये हाथों को पार्श्व में प्रलम्बित किया जाता है फिर उन्हीं दोनों हाथों से 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग किया जाता है और उन्हीं के द्वारा 'सूची' करण का प्रयोग करके त्रिक को परिवर्त्तित किया जाता है और अन्त में 'लता' नामक करण के साथ 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग किया जाता है। वहाँ पर 'उद्वृत्तक' नामक अङ्गहार होता है ।। २३०-२३१ ।।

---

१. क-न. म. विक्षेपम् ।   २. ख-घ. सकटिच्छेदं ।

२५. उद्वृत्तकः ।

कृत्वा नूपुरपादमिति ।

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरं च तथा पादं करणे नूपुरे न्यसेत् ॥" (ना. शा. ४-९७)

सव्यवामग्रहणेन पर्यायशः करावििति च द्विवचनेन यौगपद्यं सूचयन् भुजङ्गाञ्चितं चत्वारिंशत्तमम् ।

"भुजङ्गत्रासितः पादो रेचितो दक्षिणः करः ।
लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चिकं भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-१०१)

गृधावलीनकं चतुस्सप्ततितमं करणं दर्शयति—

"पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चितजानुकः ।
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्याद् गृध्रावलीनकम्" ॥ (ना. शा. ४-१३५)

अतएव करणद्वयमेवोपसंहरति । ताभ्यामनन्तरं विक्षिप्तमिति—

"विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-११९)

अभिनव—'नूपुर पाद का प्रयोग करके' इस कथन से 'नूपुर' करण के प्रयोग का संकेत मिलता है । नूपुर करण का लक्षण है—

"यदि त्रिक को अच्छी तरह वलित करके दोनो हाथों को लता और रेचित प्रक्रिया में रखा जाता है और पैर को नूपुर पादचारी में स्थित किया जाय तो 'नूपुर' करण कहा जाता है ।" (ना० शा० ४।९७) ।

दायें-बाँये हाथ के क्रमशः (बारी-बारी से) प्रयोग करने से तथा 'करौ' में द्विवचन के प्रयोग से एक समय एक साथ करने की सूचना देते हुए भुजङ्गाञ्चित चालीसवाँ करण और गृध्रावलीनक चौहत्तरवाँ करण सूचित किया गया है ।

"जहाँ पर पैर भुजङ्गत्रासित चारी में स्थित होता है और दाहिना हाथ रेचित होता है और बायाँ हाथ 'लता' हस्तमुद्रा में रहता है, वहाँ 'भुजङ्गाञ्चित' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१०१) ।

"जहाँ पर थोड़ा झुके हुए जानु (घुटने) वाले पैर को पीछे की ओर प्रसारित किया जाता है और दोनों बाहु प्रसारित होते हैं, वहाँ 'गृध्रावलीनक' करण होता है ।
(ना. शा. ४।१३५) ।

इसलिए दोनों करणों का उपसंहार करते हैं । उन दोनों करणों के प्रयोग के बाद 'विक्षिप्त' करण का प्रयोग किया जाता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर हाथ और पैर दोनों को पीछे और बगल (पार्श्व) में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए क्षिप्त किया जाता है, वहाँ पर 'विक्षिप्त' नामक करण होता है ।"
(ना. शा. ४।११९)

२६—अथालीढ़ः

आलीढव्यंसितौ हस्तौ बाहुशीर्षे निकुट्टयेत् ।
[1]नूपुरश्चरणो वामस्तथालातश्च दक्षिणः ॥ २३२ ॥
तेनैवाक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकौ करौ ।
करिहस्तं [2]कटिच्छिन्नमालीढे सम्प्रयोजयेत् ॥ २३३ ॥

तदपीच्छया अङ्गं पर्यायेणेत्युपसंहारेणाह—ताभ्यामनन्तरं सूचीति । तेनाङ्गपर्यायेण योगस्याक्षेपोपलब्धेः तेन सन्धानायोद्वृत्तं करणम् । [त्रिकपरिवर्तनेन बद्धया चार्या नितम्बं करणम् । ततो "अञ्चितः पृष्ठतः पाद" इत्यादिया लतावृश्चिकं चतुश्चत्वारिंशत्तमम् । ततः कटिच्छिन्नम् ॥ २३०-२३१ ॥

२६. आलीढः ।

आलीढेति ।

आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधो विप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत्" ॥ (ना. शा. ४-१०९)

उस विक्षिप्त करण को भी बारी-बारी दो बार प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि उन दोनों के प्रयोग के अनन्तर 'सूची' करण का प्रयोग करे। इसलिए अङ्ग के पर्याय से योग के आक्षेप की उपलब्धि होने से उनके अनुसन्धान के लिए 'उद्वृत्त' करण होता है। त्रिक के परिवर्तन से बद्धा चारी के द्वारा 'नितम्ब' करण का प्रयोग करे, उसके बाद 'अञ्चितः पृष्ठतः पादः' इस लक्षण से लक्षित 'लतावृश्चिक' ४४वें करण का प्रयोग करना चाहिए। अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग करे। इस प्रकार नौ करणों के योग से 'उद्वृत्तक' अङ्गहार निष्पन्न होता ॥ २३०-२३१ ॥

२६—आलीढ़

अनुवाद—जहाँ पर आलीढ़ स्थानक और व्यंसित करण का प्रयोग करके हाथों को कन्धे पर निकुट्टित किया जाता है और बाँया पैर 'नूपुर' करण तथा दाहिने पैर को 'अलातक' करण की प्रक्रिया में रखा जाता है। फिर उसी हाथ से 'आक्षिप्तक' करण का प्रयोग किया जाय। फिर दोनों हाथों को उरोमण्डल चेष्टा में रखा जाय। अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय तो है, उसे 'आलीढ़' अङ्गहार कहते हैं ॥ २३३-२३३ ॥

---

१. क-त. नूपुरं चरणं ।
२. ख. कटिच्छेदं त्वालीढं ।

२७—अथ रेचितः

[1]हस्तं तु रेचितं कृत्वा पार्श्वमानम्य रेचयेत् ।
पुनस्तेनैव योगेन [2]गात्रमानम्य रेचयेत् ॥ २३४ ॥
[3]कार्यं नूपुरपादं च भुजङ्गत्रासितं तथा ।
रेचितं करणं कार्यमुरोमण्डलमेव च ।
[4]कटिच्छिन्नं तु कर्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते ॥ २३५ ॥

इति व्यंसितं दर्शयति। बाहुशीर्षे इति निकुट्टकं नवमं करणम्। "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" (ना. शा. ४-७०) निकुट्टितकरणम्। ततः वामतो नूपुरं, "त्रिकं सुवलितमित्यादि" (ना. शा. ४।९७) दक्षिणतश्च "अलातं चरणं कृत्वा व्यंसये" दित्यलातकम् (ना. शा. ४-७८)। तेनैवेति दक्षिणेन। "आक्षिप्तं हस्तपादं चे" त्याक्षिप्तम् (ना. शा. ४-११६)। उरोमण्डलकादिकरणत्रयं पूर्ववत् ॥ २३२-२३३ ॥

अभिनव—आलीढ़ इत्यादि। इस अङ्गहार में सर्वप्रथम आलीढ़ स्थानक के साथ 'व्यंसित' करण का प्रयोग होता है। जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर आलीढ़ स्थानक का प्रयोग होता है और दोनों हाथ रेचित होकर वक्षःस्थल पर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं, वहाँ 'व्यंसित' करण होता है।"
(ना० शा० ४।१०९)

इस प्रकार व्यंसित करण को दिखाया गया है। 'बाहुशीर्षे निकुट्टयेत्' अर्थात् कन्धे पर निकुट्टन करे, इस कथन से 'निकुट्टक' करण को सूचित किया गया है जिसका लक्षण है कि "जहाँ पर दोनों हाथों को बाहु और शिर के मध्य में निकुट्टित किया जाता है और इसी प्रकार पैरों को भी निकुट्टित किया जाय तो 'निकुट्टक' करण होता है।" (ना. शा. ४।७०) इसके बाद बांये पैर से नूपुर करण (ना० शा० ४।७०) और दाहिने पैर से 'अलातक' करण (ना० शा० ४।७९) का प्रयोग किया जाता है। फिर 'आक्षिप्त' करण का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद उरोमण्डलक करिहस्त और कटिच्छिन्न इन तीन करणों को पूर्व के अङ्गहारों में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार आठ करणों के योग से 'आलीढ़' नामक अङ्गहार निष्पन्न होता है ॥ २३२-२३३ ॥

---

१. क-ज. हस्तौ तु रेचितौ कृत्वा। २. ख. गात्रमुन्नभ्य।
३. 'क' पुस्तकेऽयं श्लोकार्द्धः नास्ति।
४. ख. कटिच्छेदस्तु कर्त्तव्यो ह्यङ्गहारे तु रेचिते। ग. कटिच्छिन्नं तु कर्त्तव्यङ्गहारे च रेचयेत्। घ. कटिच्छेदं तु कर्त्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते।

२७. रेचितः ।

हस्तं तु रेचितमिति । अनेन श्लोकेन सर्वाणि हस्तरेचनवन्ति करणानि सङ्गृह्णीते । तथा चोपसंहरिष्यति रेचितं करणमिति । जातावेकवचनेन हि किञ्चित्प्रतिपद्यते । रेचितं नाम करणमस्ति यदनेनोच्यते । कार्यमित्यनेन तावतां करणानां श्लिष्टाङ्गतया स्वबुध्या स्वकार्यवद्धि चित्रमेव योजनं कार्यमिति सूचयति । अत एवायं विचित्रभेदसङ्कीर्णोऽङ्गहारः । तथा चान्यत्र श्रूयते ।

"पञ्चविंशतिविचित्र (मातृका) प्रक्रमेण विविधं व्यरीरिचत् ।
रेचिताङ्गहरणं महेश्वरा [1]गेयमार्गमिव सप्तभिः स्वरैः ॥" इति ।

"स्वस्तिकौ रेचिताविद्धौ विश्लिष्टौ कटिसंश्रितौ ।
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः स्वस्तिकरेचितम्" ॥

(ना. शा. ४-६८)

इति स्वस्तिकरेचितम् ।

२७—रेचित

अनुवाद—जहाँ पर हाथ को रेचित करके पार्श्व (बगल) झुकाकर रेचित किया जाता है, फिर उसी प्रक्रिया से शरीर को झुकाकर रेचित करे। फिर रेचित करण का प्रयोग कर उरोमण्डल करण का संयोजन करे। फिर अन्त में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाय तो वहाँ 'रेचित' अङ्गहार होता है ॥ २३४-२३५ ॥

अभिनव—'हाथ को रेचित करके' अर्थात् इस अङ्गहार में हाथों को रेचित किया जाता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि इस श्लोक से रेचन क्रिया से युक्त हाथों वाले अर्थात् रेचित हाथों वाले सभी करणों का संग्रह किया गया है, जैसा कि उपसंहार में 'रेचितं करणं' के द्वारा कहा जायगा। यहाँ पर 'रेचितं' में जाति में एकवचन है, जिससे कुछ जानने का संकेत है। 'रेचित नामक करण है जहाँ' यह इसके द्वारा कहा जाता है। 'कार्यं' पद से यह सूचित होता है कि सभी करणों को अङ्गों सहित एक साथ अपनी बुद्धि से विचित्र हो संयोजन करना चाहिए। इसीलिए यह अङ्गहार विचित्र भेदों से सङ्कीर्ण है और जैसा कि अन्यत्र सुनाई देता है—

"महेश्वर ने रेचित अङ्गहार को पचीस विचित्र मातृकाओं को प्रक्रिया से विविध प्रकार का बनाया है, जैसे गेय (गीति) के मार्ग को संगीताचार्यों ने सात स्वरों से विविध प्रकार का बनाया है।"

---

१. क-म. योगमार्गमिति ।

"अपविद्धकरः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ।
सन्नतं यत्र पार्श्वं च तद्भवेदर्धरेचितम्" ॥ (ना. शा. ४-७३)

इत्यर्धरचितम् "स्वस्तिकौ चरणौ यत्र" इति वक्षःस्वस्तिकम्, ततो "अञ्चितेन तु पादेन" इत्युन्मत्तश्चेति द्वादशादीनि त्रीणि, "हस्तो हृदि भवेद्वामः इति (ना. शा. ४-८०) आक्षिप्तरेचितम् । "स्खलितापसृतः पादः" इत्यर्ध-मत्तल्लि (ना. शा. ४-८९)। ततो "रेचितो दक्षिणो हस्तः" इति रेचक-निकुट्टकं च (ना. शा. ४-९०) ।

"भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ" इत्यादित्रयं भुजङ्गत्रस्त-रेचितं (ना. शा. ४-९६) नूपुरं (ना. शा. ४-९७), वैशाखरेचितं च । (ना. शा. ४-९८) ।

इस अङ्गहार में सर्वप्रथम 'स्वस्तिकरेचित' करण का प्रयोग किया गया है जिसमें रेचित और आविद्ध क्रिया से युक्त वक्षःस्थल पर स्थित दोनों हाथ स्वस्तिक स्थिति में कटिप्रदेश पर स्थित होते हैं। (ना० शा० ४।६८) । इसके बाद 'अर्ध-रेचित' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें सूचीमुख हस्त अपविद्ध होता है और पैर निकुट्टित किया जाता है तथा पार्श्व नत रहता है। (ना० शा० ४।७३) ।

इस प्रकार यहाँ पर अर्धरेचित, वक्षःस्वस्तिक और उन्मत्त आदि बारहवें करण से लेकर तीन करण अर्थात् बारहवें, तेरहवें और चौदहवें करणों के प्रयोग का निर्देश है। इसके बाद आक्षिप्त करण के प्रयोग का निर्देश है जिसमें बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर और दाहिना हाथ रेचित तथा आक्षिप्त मुद्रा में आक्षिप्त किया जाता है (ना.शा.४।८०)। फिर 'अर्धमत्तल्लि' करण का प्रयोग होता है जिसमें दोनों पैर स्खलित स्थिति से अपसृत किये जाते हैं और बायाँ हाथ रेचित स्थिति में रहता है तथा दाहिना हाथ कटि प्रदेश पर स्थित रहता है। (ना० शा० ४।८९)। फिर रेचकनिकुट्टक (रेचितनिकुट्टित) करण का प्रयोग होता है जिसमें दाहिना हाथ रेचित स्थिति में और दाहिना पैर निकुट्टित चेष्टा में तथा बायाँ हाथ 'दोला' मुद्रा में स्थित रहता है। (ना० शा० ४।९०) ।

इसके बाद भुजङ्गत्रस्तरेचित से लेकर तीन करणों अर्थात् भुजङ्गत्रस्तरेचित, नूपुर और वैशाखरेचित करणों का प्रयोग किया जाता है। भुजङ्गत्रस्तरेचित में दोनों पैर भुजङ्गत्रासित चारी में स्थित होते हैं और वाम पार्श्व में स्थित दोनों हाथ रेचित चेष्टा में न्यस्त होते हैं (ना० शा० ४।९६) । 'नूपुर' करण में त्रिक को अच्छी तरह वलित करके दोनों हाथों को 'लता' और 'रेचित' प्रक्रिया में रखा जाता है और पैर नूपुर चारी में स्थित होता है (ना० शा० ४।९७) । वैशाखरेचित करण में हाथ, पैर, कटि और ग्रीवा रेचित चेष्टा में स्थित होते हैं (ना० शा० ४।९८) ।

"भुजङ्गत्रासितः पादौ रेचितो दक्षिणः करः" (ना. शा. ४-१०१) इत्यादि-करणद्वयं भुजङ्गाञ्चितकं दण्डरेचितकं च (ना. शा. ४-१०२)। "वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकौ च करावुभौ" इत्यादि (ना. शा. ४।१०७) वृश्चिकरेचितम्।

"आलीढस्थानकं यत्र" इत्यादि (ना. शा. ४-१०६) व्यंसितम्। "आक्षिप्तं हस्तपादे" त्यादिद्वयम्। विवृत्तं (ना. शा. ४-१२२) विनिवृत्तं च (ना. शा. ४-१२३)।

"आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम्" (ना. शा. ४-१२८) इति विवर्तितकम्। "पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ" इत्यादि (ना. शा. ४-१३१) गरुडप्लुतकम्।

तदनन्तर भुजङ्गाञ्चितक और दण्डरेचितक इन दो करणों का संयोजन किया जाता है। जहाँ पर पैर भुजङ्गत्रासित चारी में तथा दाहिना हाथ रेचित एवं बायाँ हाथ लता चेष्टा में रहता है वहाँ 'भुजङ्गाञ्चित' नामक करण कहा जाता है। (ना०शा० ४।१०१) तथा जहाँ पर हाथ और पैर दण्ड के समान विक्षिप्त किये जाते हैं अर्थात् ऊपर फेंके जाते हैं वहाँ 'दण्डरेचितक' करण होता है (ना० शा० ४।१०२)।

इसके बाद 'पैर को वृश्चिक चेष्टा में रखकर स्वस्तिक मुद्रा में दोनों हाथों को रेचित और विप्रकीर्ण किया जाता है। (ना० शा० ४।१०७) इस लक्षण से युक्त वृश्चिकरेचित करण का प्रयोग किया जाता है।

इसके बाद "जहाँ पर आलीढ़ स्थानक होता है और दोनों हाथ वक्षःस्थल पर रेचित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं वहाँ 'व्यंसित' करण होता है" (ना०शा० ४।१०९) इस लक्षण से लक्षित 'व्यंसित' करण का संयोजन किया जाता है। इसके बाद 'विवृत' करण का प्रयोग होता है जिसमें हाथ और पैर को आक्षिप्त किया जाता है तथा त्रिक को विवर्त्तित किया जाता है और दोनों हाथों को रेचित चेष्टा में रखते हैं (ना० शा० ४।१२२)। फिर 'विनिवृत्त' करण का संयोजन होता है जिसमें सूचीविद्ध चारी के प्रयोग के साथ त्रिक को विनिर्वर्त्तित करते हैं, और हाथों को रेचित प्रक्रिया में रखते हैं (ना० शा० ४।१२३)।

इसके पश्चात् 'विवर्त्तिक' करण का विनियोग किया जाता है जिसमें हाथ और पैर आक्षिप्त होते हैं और त्रिक विवर्त्तित होता है तथा दूसरा हाथ रेचित चेष्टा में रहता है (ना० शा० ४।११८)। फिर 'गरुड़प्लुतक' करण का प्रयोग होता है जिसमें पैर पीछे की ओर प्रसारित होता है और दोनों हाथ लता और रेचित चेष्टा में रहते हैं तथा शिर समुन्नत होता है (ना० शा० ४।१३१)।

"वृश्चिकं चरणं कृत्वा रेचितौ च तथा करौ" (ना. शा ५-१४१) इति मयूरललितम्। सर्पितकं च (ना. शा. ४-१४२)। "दोलापादक्रमं कृत्वा:" (ना. शा. ४-१४७) इत्यादि स्खलितम्। "एकस्तु रेचित" इति (ना. शा. ४-१४९) प्रसर्पितकम्। दोलापादक्रम" मिति (ना. शा. ४-१५४) तलसङ्घट्टितम्। "प्रयुज्यालातक" मित्यादिद्वयं वृषभक्रीडितकं (ना. शा. ४-१६५) लोलितं च (ना. शा. ४-१६६)।

एवं करणपञ्चविंशतिवैचित्र्येण प्रयोज्याः। चतुष्षडादिक्रमेण पुनरुक्ततया चतुर्दिङ्मुखेषु यावत्समाप्ता भवति। यत उक्तम्—

"द्वाभ्यां त्रिचतुराभिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः" इति (ना. शा. ४-३१)

इसके बाद 'मयूरललित' करण का प्रयोग होता है जिसमें पैर वृश्चिक चेष्टा में और हाथ रेचित प्रक्रिया में स्थित होते हैं तथा त्रिक विवर्त्तित होता है (ना० शा० १।१४१) फिर 'सर्पित' करण में पैरों को अञ्चित स्थिति से अपसृत स्थिति में किया जाता है, शिर परिवाहित चेष्टा में रहता है और दोनों हाथ रेचित प्रक्रिया में स्थित होते हैं (ना० शा० १।१४२)। फिर 'स्खलित' करण का प्रयोग होता है जिसमें दोलापादचारी का प्रयोग करके तदनुसार दोनों हाथों को रेचित और घूर्णित किया जाता है (ना० शा० ४।१४७)। फिर 'प्रसर्पितक' करण में एक हाथ रेचित प्रक्रिया में और दूसरा हाथ 'लता' मुद्रा में रखा जाता है और पादतल प्रसर्पित होते हैं अर्थात् घिसते हुए संचरण करते हैं (ना. शा. ४।१४९)

इसके बाद 'तलसंघट्टित' करण का विनियोग किया जाता है। इस करण में दोलापाद चारी के प्रयोग के साथ दोनों हाथों के तल संघट्टित होते हैं और बायाँ हाथ रेचित प्रक्रिया में रहता है (ना. शा. ४।१५४)। तदनन्तर 'वृषभक्रीडितक' करण का प्रयोग होता है जिसमें अलातक चारी के प्रयोग के साथ हाथों को रेचित किया जाता है और दोनों पैर कुञ्चित और अञ्चित चेष्टा में रहते हैं (ना. शा. ४।१६५)। फिर 'लोलित' करण का प्रयोग होता है। इस करण में दोनों अञ्चित हाथों को 'रेचित' प्रक्रिया में रखा जाता है और लोलित शिर को दोनों पार्श्वों में घुमाया जाता है। (ना. शा. ४।१६६)।

इस प्रकार पचीस करणों का प्रयोग विचित्र रूप में करना चाहिए। चार, छः आदि के क्रम से बार-बार करने पर पुनरुक्ति होने पर भी चारों दिशाओं में इस अङ्गहार की समाप्ति होती है। जैसा कि कहा गया है—

'दो, तीन अथवा चार मातृकाओं से यह अङ्गहार निष्पन्न होता है।' (ना. शा. ४।३१)।

२८—अथाच्छुरितः

नूपुरं [1]चरणं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
[2]व्यंसितेन तु हस्तेन त्रिकमेव विवर्तयेत्[3] ॥ २३६ ॥
[4]वामं चालातकं कृत्वा [5]सूचीमत्रैव योजयेत्
[6]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कुर्यादाच्छुरिते सदा ॥॥ २३७ ॥

"पुनस्तेनैव योगेन गात्रमानम्ये" त्यनेन मध्ये वैचित्र्याच्चक्रमण्डलेन (ना, शा. ४-११४) व्यवहितेयं करणपरम्परा प्रयोज्येत्याह—

"प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेण नतेन च ।
अभ्यन्तरापविद्धं स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ॥" (ना. शा. ४-११४)

आनम्येत्यादिरन्तर्भावितण्यर्थः । प्रयोग एवं प्रयोज्यः । प्राग्वदुरोमण्डलं कटिच्छिन्नं च ॥ २३४-२३५ ॥

'फिर उसी योग से शरीर झुका कर' इस कथन से यह निर्देश किया गया है कि बीच-बीचमें विचित्रता के लिए एक करण के प्रयोग के बाद 'चक्रमण्डल' नामक करण के प्रयोग द्वारा करण-प्रयोग में व्यवधान करना चाहिए । चक्रमण्डल करण का लक्षण है—

"जहाँ पर प्रलम्बित (लटकते हुए) बाहुओं तथा आनत (झुके हुए) शरीर के द्वारा अपबिद्ध चारी का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर 'चक्रमण्डल' नामक करण होता है । (ना. शा. ३।११४) ।

यहाँ 'आनम्य' में 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भावित है अर्थात् शरीर को झुकाकर 'आनम्य' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार इस अङ्गहार का प्रयोग करना चाहिए। फिर अन्त में 'उरोमण्डल' और 'कटिच्छिन्न' नामक करणों का प्रयोग द्वितीय अङ्गहार में प्रतिपादित विधि के अनुसार पहिले के समान करना चाहिए ॥ २२३-२३५ ॥

---

१. ख. घ. नूपुर करणं कृत्वा ।
२. क-न. व्यसितेन ।
३. ख. त्रिकं चैव निवर्त्तयेत् । घ. त्रिकं चैव विवर्त्तयेत् । क-अ. त्रिकन्तु परिवर्त्तयेत् ।
४. ग. घ. पादं चालातकं ।
५. ख. घ. सूचीं तत्रैव योजयेत् । क-न. त. सूचीं तेनैव योजयेत् ।
क-म. सूची तत्रैव योजयेत् ।
६. ख. करिहस्तं कटिच्छेदं कुर्यादाच्छुरितं तथा ।

२८. आच्छुरितः।

नूपुरमित्यादि। त्रिकन्तु परिमितं नूपुरं परिवर्तयेदित्यनेन भ्रमरकम्—

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा।
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्"॥
(ना. शा. ४-९९) इति।

व्यंसितेन त्विति व्यंसितम्—"आलीढं स्थानकं यत्रे"ति (ना. शा. ४-१०९)। ततोऽलातकम्—"अलातं चरणं कृत्वा" इति (ना. शा. ४-७८)। त्रिकमेवेत्येवकारेण नितम्बं "भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ" इति (ना. शा. ४-११६) सूचितम्। ततः करणद्वयं पूर्ववत्॥ २३६-२३७॥

२८—आच्छुरित

अनुवाद—जहाँ पर नूपुर चारी में पैर को रखकर त्रिक का परिवर्तन किया जाय और फिर 'व्यंसित' करण में स्थित हाथ से त्रिक का परिवर्तन किया जाय। फिर बायें पैर को अलातक चारी में रखकर यहीं पर 'सूची' करण का प्रयोग किया जाय। तदनन्तर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाय, वहाँ 'आच्छुरित' नामक अङ्गहार होता है॥ १३६-२३७॥

अभिनव—इस अङ्गहार में नूपुर पादचारी के द्वारा नूपुर करण के प्रयोग की ओर संकेत है। त्रिक के परिवर्त्तन के द्वारा 'भ्रमरक' करण के प्रयोग का निर्देश किया गया है, जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर आक्षिप्त चारी में स्थित पैर को स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है और दोनों हाथ उद्वेष्टित स्थिति में रहते हैं तथा त्रिक का वलन होता है वहाँ 'भ्रमरक' करण होता है।" (ना. शा. ४।९९) 'व्यंसित' पद से अर्थात् हाथ को व्यंसित कर देने से 'व्यंसित' करण की ओर निर्देश है जिसमें आलीढ़ स्थानक में स्थित होकर वक्षःस्थल से हाथ को रेचित करके ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण किया जाता है। (ना. शा. ४।१०९)।

इसके बाद 'अलातक' पाद चारी का प्रयोग करके' वाक्य के द्वारा 'अलातक' करण के प्रयोग की ओर संकेत है, जिसमें अलात चारी का प्रयोग करके दाहिने हाथ को कन्धे से नीचे की ओर ले जाकर ऊर्ध्वजानु चारी के क्रम में रखा जाता है। (ना. शा. ४।७८)। यहाँ 'त्रिकमेव' से एवकार के निर्देश से 'नितम्ब' करण का प्रयोग सूचित होता है जिसका लक्षण है कि नितम्ब करण में दोनों भुजाएँ ऊपर की ओर उठी हुई होती है और हाथ अभिमुखाङ्गुलि होते है तथा इसमें बद्धा चारी का प्रयोग होता है (ना. शा. ४।१४६)। इसके बाद करिहस्त और कटिच्छिन्न दोनों करण पूर्व में प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयुक्त होते हैं॥ २३६-२३७)

२६—अथाक्षिप्तरेचितः

[1]रेचितौ स्वस्तिकौ पादौ रेचितौ[2] स्वस्तिकौ करौ ।
कृत्वा विश्लेषमेवं तु तेनैव विधिना पुनः ॥ २३८ ॥
पुनरुत्क्षेपणं चैव [3]रेचितैरेव कारयेत् ।
[4]उद्वृत्ताक्षिप्तके चैव ह्युरोमण्डलमेव च ॥ २३९ ॥
नितम्बं करिहस्तं च [5]कटिच्छिन्नं तथैव च ।
[6]आक्षिप्तरेचितो ह्येष करणानां विधिः स्मृतः ॥ २४० ॥

२६. आक्षिप्तरेचितः ।

रेचितौ स्वस्तिकावित्यादि । यत्र यत्र करणे करयोः पादयोर्वा रेचितस्वस्तिकसाहित्यं तत्तदिहाप्यनुजानाति पृथगभिधानेन । रेचितं स्वस्तिकं ह्येतेनैव ह्येतानि करणानि । स्वस्तिकरेचितं "स्वस्तिकौ रेचिताविद्धौ" (ना. शा. ४।६७) इति । पृष्ठस्वस्तिकं दिक्स्वस्तिकं च "विक्षिप्ताक्षिप्तबाहुभ्याम्" इत्यादि (ना. शा. ४-७७) "पार्श्वयोरग्रतश्चैव" इत्यादि (ना. शा. ४-७८) च कटीसमं "स्वस्तिकापसृतः पादः" इत्यादि (ना. शा. ४-८०) ।

२६—आक्षिप्तरेचित

अनुवाद—जहाँ पर स्वस्तिक हाथ एवं पैरों को रेचित किया जाय और फिर उसी विधि से उनका विश्लेष (अलग) करके फिर उसी रेचित प्रक्रिया से उनका उत्क्षेपण किया जाता है, फिर उद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, नितम्ब करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'आक्षिप्त-रेचित' अङ्गहार माना जाता है ॥ २३८-२४० ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार इस अङ्गहार में जहाँ-जहाँ जिस-जिस करणों में हाथ और पैरों को स्वस्तिक प्रक्रिया से रेचित चेष्टा में न्यस्त किया जाता है वहीं उनका पृथक् प्रयोग भी निर्दिष्ट है। यहाँ 'रेचित' और 'स्वस्तिक' शब्दों से स्वस्तिक और रेचित होने वाले सभी करणों का प्रयोग ग्रहण किया जाता है। इस

---

१. ग. रेचितस्वस्तिकौ पादौ ।
२. घ. रेचितस्वस्तिकौ करौ ।
३. क-न. रेचितेनैव ।
४. ख. घ. उद्वृत्ताक्षिप्तकं चैव उरोमण्डलमेव च । क-त. उत्क्षिप्ताक्षिप्तके चैव ।
क-म. उद्रिक्ताक्षिप्तकञ्चैव ।
५. ख. कटिच्छेदं ।
६. ख. आक्षिप्तरेचकेऽप्येषः । घ. आक्षिप्तरेचिते त्वेष ।

घूर्णितम्—

"वर्तिताघूर्णितः सव्यो हस्तो वामश्च दोलितः।

स्वस्तिकापसृतः पादः करणं घूर्णितं तु तत् ॥" (ना. शा. ४-९३)इति।

भ्रमरकम्—"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पाद" इति (ना. शा ४-९९)।

वृश्चिकरेचितम्—"वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकं च" इति (ना. शा. ४-१०७)।

पार्श्वनिकुट्टकम्—"हस्तौ तु स्वस्तिकौ पार्श्वे" इति (ना. शा. ४-११०)।

प्रकार अभिनव के अनुसार जिन-जिन करणों में हाथ और पैर स्वस्तिक प्रक्रिया के साथ रेचित किये जाते हैं उन सबका प्रयोग यहाँ पर अपेक्षित है। तदनुसार सर्वप्रथम स्वस्तिक प्रक्रिया के रेचन से होने वाले 'स्वस्तिकरेचित' करण का प्रयोग किया जाता है। जिसका लक्षण है कि 'जहाँ पर रेचित और आबिद्ध मुद्रा वाले दोनों हाथों को स्वस्तिक स्थिति में अलग-अलग कटि-प्रदेश में न्यस्त किया जाता है वहाँ 'स्वस्तिकरेचित' करण होता है (ना० शा० ४।६८)। फिर इसके बाद पृष्ठस्वस्तिक और दिक्स्वस्तिक करणों का प्रयोग किया जाता है। पृष्ठस्वस्तिक करण में विक्षेपण और आक्षेपण के साथ दोनों हाथ स्वस्तिक स्थिति में और दोनों पैर अपक्रान्त और अर्धसूची चारी के साथ स्वस्तिक प्रक्रिया में स्थित होते हैं (ना० शा० ४।७६) और 'दिक्स्वस्तिक' करण में पार्श्वों (बगल) में तथा आगे की ओर एक हाथ श्लिष्ट होता है और हाथ एवं पैरों द्वारा स्वस्तिक की रचना की जाती है। (ना० शा० ४।७७)। फिर 'कटीसम' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें पैर को स्वस्तिक क्रिया के बाद अपसृत किया जाता है और दोनों हाथ कटि और नाभि पर स्थित होते हैं तथा पार्श्व उद्घट्टित चेष्टा में स्थित रहता है। (ना० शा० ४।८०)।

इसके बाद 'घूर्णित' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें दाहिना हाथ वर्त्तित होकर (मुड़कर) घूर्णित अर्थात् चक्कर काटता हुआ होता है और बायाँ हाथ दोला चेष्टा में झूलता रहता है तथा पैर स्वस्तिक स्थिति से अपसृत होता है।
(ना० शा० ४।९३)।

इसके बाद 'भ्रमरक' करण प्रयुक्त होता है जिसमें आक्षिप्त पैर को स्वस्तिक प्रक्रिया में और हाथ उद्वेष्टित स्थिति में होता है तथा त्रिक का वलन होता है (ना० शा० ४।९९)। फिर 'वृश्चिकरेचित' करण के प्रयोग में पैर को वृश्चिक चेष्टा में न्यस्त करके स्वस्तिक चेष्टा में स्थित दोनों हाथों को रेचित और विप्रकीर्ण किया जाता है। (ना० शा० ४।१०७)। इसके बाद 'पार्श्वनिकुट्टक' करण का प्रयोग होता है जिसमें हाथों को स्वस्तिक चेष्टा में रखा जाता है और पैर पार्श्व में निकुट्टित होता है। (ना० शा० ४।११०)। फिर 'उरोमण्डल' करण का संयोजन किया जाता है जिसमें

उरोमण्डलकम्—"स्वस्तिकापसृतौ" इति (ना. शा. ४-११५)। सन्नतम्—"उत्प्लुत्य चरणौ कार्याविग्रतः स्वस्तिकौ स्थितौ" (ना. शा. ४-१३६) इति। सिंहाकर्षितकम् —"पृष्ठप्रसारित" इति (ना. शा. ४-१५१)। नागापसर्पितम्—"स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इति (ना. शा. ४-१६७)। वक्षःस्वस्तिकादौ तु रेचनं नास्तीति न सङ्गृहीतम्। परे त्वङ्गपरिवर्तनक्रमेण तत्रापि रेचितमिच्छन्तस्तदपि सङ्गृह्णते।

एवं हस्तपादस्वस्तिकश्च (स्वस्तिकञ्च) सद्रेचितश्च (सद्रेचितञ्च) वैचित्र्येण विधाय तेनैव विधिनेत्यत्रुटितेनाङ्गेनोत्क्षेपणं हस्तपादस्य कार्यम्। अनेन यत्र यत्रैतदस्ति तत्तत्करणं सूचयति। तद्यथा दण्डपक्षम्—"ऊर्ध्वजानुं विधायात तस्योपरि लतां न्यसेत्" इति (ना. शा. ४-९५)। ललाटतिलकं—"वृश्चिकं चरणं कृत्वा" इति (ना. शा. ४-१११)। तलविलसितम्—"ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पाद" इति (ना. शा. ४-११७)। निशुम्भितम्—

पैर स्वस्तिक मुद्रा से हटकर (अपसृत) अपविद्ध क्रम में स्थित होते हैं और हाथ उरोमण्ड़ल स्थिति में प्रयुक्त होते हैं। (ना० शा० ४।११५)। फिर 'सन्नत' करण के प्रयोग में थोड़ा उछल कर पैरों को स्वस्तिक स्थिति में लाया जाता है और दोनों हाथों को दोला स्थिति में सन्नत रखा जाता है (ना० शा० ४।१३६)। फिर 'सिंहाकर्षितक' करण का संयोजन किया जाता है जिसमें पैर पीछे की ओर प्रसारित किया जाता है और हाथ निकुञ्चित होते हैं और इसी प्रक्रिया को फिर दुहराया जाता है। (ना० शा० १५१)। फिर 'नागापसर्पित' नामक करण का संयोजन किया जाता है। इस करण में पैर स्वस्तिक चेष्टा से अपसृत होते हैं और शिर परिवाहित होता है तथा दोनों हाथ रेचित होते हैं। (ना० शा० ४।१६७)। इस क्रम में 'वक्षःस्वस्तिक' आदि का संग्रह नहीं किया गया है; क्योंकि उसमें रेचन क्रिया नहीं होती। किन्तु अन्य आचार्य तो परिवर्त्तन क्रम के द्वारा 'वक्षःस्वस्तिक' में भी रेचित प्रक्रिया को मानते हैं अतः उसका भी संग्रह करते हैं।

इस प्रकार हाथ और पैरों के द्वारा स्वस्तिक एवं रेचित करणों की प्रक्रिया को विचित्रता से करके उसी विधि से अत्रुटित अङ्ग से हाथ-पैरों का उत्क्षेपण करना चाहिए। इससे यह सूचित होता है कि जहाँ जहाँ जिन-जिन करणों में इस प्रकार हाथ-पैरों का उत्क्षेपण किया जाता है उन सबका यहाँ प्रयोग अपेक्षित है। तदनुसार यहाँ उत्क्षेपण क्रिया वाले सभी करणों का प्रयोग करना चाहिए। सर्वप्रथम 'दण्डपक्ष' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें ऊर्ध्वजानु चारी करके उसके ऊपर लताहस्तों को रखा जाता है (ना० शा० ४।९५)। फिर 'ललाटतिलक' करण का प्रयोग किया

"पृष्ठतः कुञ्चितः पादो वक्षश्चैवसमुन्नतम् ।
तिलके च करः स्थाप्यः ।" इति (ना. शा. ४-१२५)

विद्युद्भ्रान्तं "पृष्ठतो वलितं पादम्" इति (ना. शा. ४-१२६) । गजक्रीडितं "कर्णेऽञ्चितः करो वामः" इति (ना. शा. ४-१२९) । नितम्बं "भुजावूर्ध्व-विनिष्क्रान्ता" विति (ना. शा. ४-१४६) । विष्णुक्रान्तम्—"ऊर्ध्वं प्रसारितः पादः" इति (ना. शा. ४-१६१) । तत उद्वृत्तमित्यूरूद्वृत्तम् । (ना. शा. ४-१५९) । अत्र समाक्षिप्तकरणमध्ये तस्य दृष्टत्वात् [1]करमावृत्य तत्करण-मिति । "आक्षिप्तं हस्तपादं च" इत्याक्षिप्तम् (ना. शा. ४-११६) । "स्वस्तिकापसृतौ पादौ" इत्युरोमण्डलम् (ना. शा. ४-११५) साहचकाराच्च (साहचर्याच्चकाराच्च) कटिच्छिन्नमप्यन्ते केचिदिच्छन्ति ॥ २३८-२४० ॥

जाता है । इस करण में पैर को वृश्चिक चेष्टा में रखकर उस पैर के अंगूठे से ललाट पर तिलक किया जाता है (ना० शा० ४।१११) । फिर 'तलविलसित' नामक करण का विनियोग किया जाता है जिसमें ऊर्ध्वाङ्गुलि एवं तलवाले पैर को बगल (पार्श्व) में ऊपर की ओर फैलाया जाता है, और हथेलियों को 'अञ्चित' चेष्टा में रखा जाता है । (ना० शा० ४।११७) । इसके बाद निशुम्भित करण का संयोजन होता है जिसका लक्षण है—

"जहाँ पर पैर को पीछे की ओर कुञ्चित किया जाता है और वक्षःस्थल समुन्नत होता है तथा हाथ तिलक लगाने की मुद्रा में स्थित होता है वहाँ 'निशुम्भित' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१२५) ।

इसके बाद 'विद्युद्भ्रान्त' नामक करण का संयोजन होता है । इस करण में पीछे की ओर मुड़ा हुआ पैर शिर का स्पर्श करता हुआ प्रसारित किया जाता है और हाथ चारों ओर मण्डल तथा आविद्ध चेष्टाओं में संचालित होता है । (ना० शा० ४।१२६) । फिर 'गजक्रीडित' करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें बायाँ हाथ कान के पास अञ्चित (मुड़ा हुआ) होता है और दाहिना हाथ 'लता' प्रक्रिया से युक्त होता है तथा पैर दोलापाद चारी में स्थित रहता है (ना० शा० ४।१२९) फिर 'नितम्ब' करण का प्रयोग होता है जिसमें भुजाएँ ऊपर की ओर उठी हुई और हाथ सामने की ओर झुकी हुई अंगुलियों वाला होता है तथा पैर बद्धाचारी में स्थित होता है (ना० शा० ४।१७६) । फिर 'विष्णुक्रान्त' चारी का प्रयोग होता है जिसमें गमनोन्मुख अर्थात् जाने के लिए उद्यत पैर सामने की ओर प्रसारित होता है और दोनों हाथ रेचित होते हैं अथवा पाठभेद के अनुसार कुञ्चित पैर गगनोन्मुख अर्थात् आकाश की ओर प्रसारित होता है और हाथ रेचित होते हैं (ना० शा० ४।४६१) ।

१. क-म. भ. करणमावृत्य ।

३०. अथ सम्भ्रान्तः

विक्षिप्तं[1]करणं कृत्वा [2]हस्तपादं मुखानुगम् ।
[3]वामसूचीसहकृतं विक्षिपेद्वामकं करम् ॥ २४१ ॥
[4]वक्षःस्थाने भवेत्सव्यो वलितं त्रिकमेव च ।
नूपुराक्षिप्तके चैव [5]ह्यर्धस्वस्तिकमेव च ॥ २४२ ॥
नितम्बं करिहस्तं च ह्युरोमण्डलकं तथा ।
[6]कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सम्भ्रान्ते नृत्तयोक्तृभिः ॥ २४३ ॥

इसके बाद उद्वृत्त अर्थात् उरुद्वृत्त करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें हाथ को आवृत्त करके ऊरु (जङ्घा) के पृष्ठभाग पर अञ्चित स्थिति में रखा जाता है और जङ्घाएँ अञ्चित एवं उद्वृत्त होती हैं। यहाँ समाक्षिप्त करणों के मध्य में इसे भी देखा गया है अतः हाथ को आवृत्त करके इस करण का प्रयोग होता है। आक्षिप्त करण का लक्षण है कि 'जहाँ पर हाथ और पैरों को वेग से 'आक्षिप्त' किया जाता है वहाँ 'आक्षिप्त' करण होता है (ना० शा० ४।११६) इसके बाद 'उरोमण्डल' करण का प्रयोग होता है जिसमें पैर स्वस्तिक प्रक्रिया से हटकर अपविद्ध क्रम में रखा जाता है और हाथ उरोमण्डल चेष्टा में होते हैं (ना. शा. ४।१२५) साहचार्य से कुछ विद्वान् यहाँ पर अन्त में 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग भी मानते हैं। २३८-२४० ॥

३०—सम्भ्रान्त

अनुवाद—'सम्भ्रान्त' नामक अङ्गहार में विक्षिप्त करण का प्रयोग करके हाथ और पैर को मुख के अनुसार संचालित किया जाता है। फिर बायें हाथ को सूची प्रक्रिया से युक्त विक्षिप्त किया जाता है अर्थात् फेंका जाता है। इसमें दाहिना हाथ वक्षःस्थल पर रखा जाता है और त्रिक को वलित किया जाता है। इसके बाद क्रमशः नूपुर, आक्षिप्त, अर्धस्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है ॥ २४१-२४३ ॥

---

१. ग. विक्षिप्तकरणं ।
२. ख. ग. हस्तपादमुखानुगम् । क-म. वामपादमुखानुगं ।
   क-न. वामहस्तमुखानुगम् ।
३. ख. घ. वामसूची करं कृत्वा । क-ङ. वामसूचीसमं कृत्वा ।
४. ख. घ. वक्षःस्थं च भवेत् ।
५. ख. ब. स्यादुरोमण्डलं तथा । क-त. वा उरोमण्डलं तथा ।
६. ख. घ. कटिच्छेदश्च कर्त्तव्यः ।

३०. सम्भ्रान्तः ।

विक्षिप्तमित्यादि ।

' विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ।
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम्" ॥ (ना. शा. ४-११९)

इति विक्षिप्तम् । "हस्तपादं मुखानुगम्" इत्यञ्चितं गण्डसूचीं गङ्गावतरणं चेति दर्शयति—

"व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ।
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम्" ॥ (ना शा. ४-८४)

इत्यञ्चितम् ।

"सूचीपादो नतं पार्श्वमेको वक्षः स्थितः करः ।
द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१३२)

इति गण्डसूची ।

"ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादस्त्रिपताकावधोमुखौ ।
हस्तौ शिरः सन्नतं च गङ्गावतरणं त्विति" ॥ (ना. शा. ४-१६९)

इति गङ्गावतरणम् ।

अभिनव—यहाँ पर 'विक्षिप्त' पद से 'विक्षिप्त' करण का निर्देश है । 'जहाँ पर हाथ और पैर को पीछे तथा आगे की ओर एक दूसरे का अनुसरण करते हुए फेंका जाता है वहाँ 'विक्षिप्त' करण कहलाता है ।' (ना० शा० ४।११९) ।

'हाथ और पैर को मुख के अनुसार संचालित किया जाता है' इस कथन से यह सूचित होता है कि इसमें क्रमशः अञ्चित, गण्डसूची और गङ्गावतरण नामक करणों का प्रयोग करना चाहिए ।

'जहाँ पर अर्धस्वस्तिक करों को क्रमशः व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित करके नासिका के अग्रभाग पर अञ्चित किया जाता है वहाँ 'अञ्चित' नामक करण होता है (ना० शा० ४।८४) ।

"जहाँ पर पैर सूची चारी की स्थिति में होता है और पार्श्व नत (झुका हुआ) होता है (पाठभेद के अनुसार पार्श्व उन्नत होता है) तथा एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा अञ्चित स्थिति में कपोल पर स्थित होता है वहाँ 'गण्डसूची' करण होता है । (ना० शा० ४।१३२) ।

"जहाँ पर ऊपर उठी हुई अङ्गुलियों एवं तल वाले पैर स्थित होते हैं और हाथ त्रिपताक स्थिति में अधोमुख होते हैं और शिर सन्नत चेष्टा में होता है वहाँ 'गङ्गावतरण' नामक करण होता है ।" (ना० शा० ४।१६९) ।

वामसूचीसहकृतमित्यनेनार्धसूचीं दण्डपादं च दर्शयति—

"अलपद्मः शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः।
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः" ॥ (ना. शा. ४।१३८)

इत्यर्धसूची।

"नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत्।
क्षिप्राविद्धकरं चैव दण्डपादं तदुच्यते" ॥ (ना. शा. ४-१४३)

इति दण्डपादम्।

एतच्च वामेनाङ्गेन। सव्य इति दक्षिणे वक्षसि। वामस्योपयोगित्वात्। अनेन चतुरं करणं सूचयति—

"अञ्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव च।
दक्षिणः कुट्टितः पादश्चतुरं तत्प्रकीर्तितम् ॥" इति
(ना. शा. ४-१००)।

वलितं त्रिकमिति भ्रमरकम्—

"आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा।
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत् ॥"
(ना शा. ४-९९) इति भ्रमरकम्।

'वामसूचीसहकृत' पद से यहाँ अर्धसूची और दण्डपाद करणों को सूचित किया गया है। 'जहाँ पर हाथ अलपद्म मुद्रा में शिर पर स्थित होता है और दाहिना पैर सूची चारी में होता है वहाँ 'अर्धसूची' करण होता है।" (ना० शा० ४।१३८)।

"जहाँ पर पैर को नूपुर चारी में रखकर दण्डपाद चारी में प्रसारित किया जाता है और हाथ शीघ्रता से आविद्ध होता है उसे 'दण्डपाद' करण कहते हैं।" (ना० शा० ४।१४३)।

इनका प्रयोग बायें अङ्ग से करना चाहिए। सव्य अर्थात् दाहिने हाथ को वक्ष पर रखना चाहिए; क्योंकि बायें अङ्ग का उपयाग हो चुका है। इससे 'चतुर' करण को सूचित किया गया है। चतुर करण का लक्षण है—

"जहाँ पर बायाँ हाथ अञ्चित और दाहिना हाथ चतुर चेष्टा में स्थित होता है और दाहिना पैर कुट्टित होता है वहाँ 'चतुर' करण होता है।" (ना. शा. ४।१००)

'त्रिक को वलित करे' इस कथन से 'भ्रमरक' करण का प्रयोग सूचित होता है जिसमें पैर आक्षिप्त चारी से युक्त स्वस्तिक मुद्रा में स्थित होता है अथवा स्वस्तिक मुद्रा में पैर आक्षिप्त होता है और हाथ उद्वेष्टित होते हैं तथा त्रिक का वलन होता है। (ना० शा० ४।९९)।

३१. अथापसर्पितः

[1]अपक्रान्तक्रमं कृत्वा व्यंसितं हस्तमेव च ।
कुर्यादुद्वेष्टितं चैव ह्यर्धसूचीं[2] तथैव च ॥ २४४ ॥
विक्षिप्तं [3]सकटिच्छिन्नमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ।
[4]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपसर्पिते[5] ॥ २४५ ॥

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरश्च तथा पादः करणे नूपुरे न्यसेत् ॥" (ना. शा. ४-९७)

इति नूपुरम् ।

"आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः ।
आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद् द्विजोत्तमाः ॥ (ना. शा. ४-११६)

इत्याक्षिप्तम् ।

स्वस्तिकं चरणं कृत्वा कटिहस्तं च दक्षिणम् ।
वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत् ॥" (ना. शा. ४-८३)

इत्यर्धस्वस्तिकम् । नितम्बादिचतुष्कं पूर्ववत् ॥ २४१-२४३ ॥

इसके बाद 'नूपुर' करण का प्रयोग होता है। नूपुर करण में त्रिक को वलित करके हाथों को लता और रेचित चेष्टा में रखा जाता है और पैर नूपुर चारी में अवस्थित होता है (ना० शा० ४।९७)। इसके बाद आक्षिप्त करण का प्रयोग होता है, जिसमें हाथ और पैर को वेग से आक्षिप्त किया जाता है (ना० शा० ४।११६)। इसके बाद 'अर्धस्वस्तिक' करण का संयोजन किया जाता है।

"जहाँ पर दोनों पैरों को स्वस्तिक स्थिति में रखकर दाहिने हाथ को कटि पर तथा बायें हाथ को वक्षःस्थल पर रखा जाता है वहाँ 'अर्धस्वस्तिक' करण होता है।" (ना० शा० ४।८३)।

इसके बाद नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न इन चार करणों का पूर्व अङ्गहारों के लक्षण में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार प्रयोग करना चाहिये ॥ २४१-२४३ ॥

---

१. क-ख. अतिक्रान्तं क्रमं कृत्वा ।
२. ख. ग. ह्यर्धं सूची ।
३. ख. ग. सकटिच्छेदं ।
४. क-ष.म. करिहस्त। कटिच्छेद। कार्यंस्त्वर्धनिकुट्टके ।
५. ख. कर्त्तव्यमुपसर्पिते ।

३१. अपसर्पितः ।

अपक्रान्तमित्यादि । अपकान्तं—

"कृत्वोरुवलितं पादमपक्रान्तक्रमं न्यसेत् ।
प्रयोगवशगौ हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते" ।। (ना. शा. ४-१४०)

व्यंसितम्—

"आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ।
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत् ।। (ना. शा. ४-१०९) ।

अतो व्यंसितात्करणात्करक्रियामेव गृह्णीयादित्येवकारेणाह । एकवचनं जातौ । उद्वेष्टितमिति करिहस्तकरणं निर्दिशति—

"वामो वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ।
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके" ।।
इति (ना. शा. ४-१४८) ।

३१—अपसर्पित

अनुवाद—जहाँ पर अपक्रान्त करण का प्रयोग करके हाथ से ही व्यंसित करण का प्रयोग किया जाता है फिर हाथ को उद्वेष्टित प्रप्रिया में संचालित कर अर्धसूची करण का प्रयोग करे, फिर विक्षिप्त, कटिच्छिन्न, उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'अपसर्पित' नामक अङ्गहार होता है ।। २२४-२४५ ।।

अभिनव—'अपक्रान्तम् इत्यादि के द्वारा 'अपसर्पित' अङ्गहार का निरूपण करते हैं । इस अङ्गहार में प्रथम 'अपक्रान्त' करण का प्रमोग होता है । अपक्रान्त करण का लक्षण निम्न प्रकार है—

"जहाँ पर जङ्घा को वलित करके पैर को अपक्रान्त चारी की प्रक्रिया में रखा जाय और प्रयोग के अनुसार हाथों को संचालित करे, वहाँ पर 'अपक्रान्त' करण होता है ।" (ना० शा० ४।१४०) ।

इसके बाद व्यंसित करण का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें आलीढ़ स्थानक का प्रयोग होता है और हाथ रेचित मुद्रा में वक्ष पर स्थित होकर ऊपर-नीचे विप्रकीर्ण होते हैं । (ना० शा० ४।१०९) । इसलिए यहाँ पर व्यंसित करण से करक्रिया (हस्तचेष्टा) को ही ग्रहण करना चाहिए, यह बात एव शब्द से कहा गया है । यहाँ पर 'हस्तमेव' में जाति में एकवचन का प्रयोग हुआ है । अनः यहाँ हस्त से दोनों हाथों का ग्रहण होता है । 'उद्वेष्टितम्' पद से यहाँ 'करिहस्त' करण का निर्देश है । जिसका लक्षण है—

३२. अथार्धनिकुट्टकः

कृत्वा नूपुरपादं च [1]द्रुतमाक्षिप्य च क्रमम् ।
पादस्य चानुगौ हस्तौ[2] त्रिकं च[3] परिवर्तयेत ॥ २४६ ॥

निकुट्य करपादं चाप्युरोमण्डलकं पुनः ।
[4]करिहस्तं कटिच्छिन्नं कार्यमर्धनिकुट्टके ॥ २४७ ॥

"अलपद्मः शिरोदेशे सूचीपादः" (ना. शा. ४-१३८) इत्यर्धसूची । "विक्षिप्तं हस्तपादं च" (ना. शा. ४-११९) इति विक्षिप्तम् । "पर्यायशः कटीच्छिन्ना" (ना. शा. ४-७१) इति कटिच्छिन्नम् । उरूद्वृत्तिमिहोद्वृत्तशब्देनोक्तम् । (ना० शा० ४-१५९) । [5]प्राग्वदन्ते (त्रीणि) करणानि ॥ २४४-२४५ ॥

"जहाँ पर बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर स्थित होता है और दूसरे हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित स्थिति में होती है तथा पैर अञ्चित चेष्टा में होता है वहाँ 'करिहस्त' करण होता है।" (ना० शा० ४।१४८)

इसके बाद 'अर्धसूची' करण का प्रयोग होता है जिसमें एक हाथ अलपद्म मुद्रा में शिर पर स्थित होता है और दाहिना हाथ सूची चारी में न्यस्त होता है। (ना० शा० ४।१३८)। फिर विक्षिप्त करण का प्रयोग किया जाता है जिसमें हाथ और पैर पीछे और बगल में एक दूसरे का अनुसरण करते हुए क्षिप्त होते हैं अर्थात् फेंके जाते हैं। (ना० शा० ४।११९) इसके बाद 'कटिच्छिन्न' करण का प्रयोग होता है जिसमें क्रमशः कटि छिन्न मुद्रा में होतो है और पल्लवहस्त कन्धे पर स्थित होता है। (ना० शा० ४।७२) फिर 'उरुद्वृत्त' करण का प्रयोग होता है जिसमें हाथ को व्यावर्त्तित करके उरु के पृष्ठ भाग पर अञ्चित मुद्रा में स्थापित किया जाता है और जङ्घाएँ अञ्चित एवं उद्वृत्त होती हैं (ना० शा० ४।१५९)। अन्त में आक्षिप्त, करिहस्त और कटिच्छिन्न तोन करण पहिले की तरह प्रयुक्त होते हैं। ॥ २४४-२४५ ॥

१. क-न. ब. दण्डमाक्षिप्य । क-अ. दण्डमाक्षिप्य च क्रमात् ।
२. ग. पादौ ।
३. ख. ग. घ. त्रिकं तु ।
४. ख. घ. करिहस्तः कटिच्छेदः कार्यस्त्वर्धनिकुट्टके ।
५. क-म. भ. प्राग्वदेतानि तानि करणानि ।

३२. अर्धनिकुट्टकः ।

कृत्वा नूपुरपादमित्यादि ।

"त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ।
नूपुरश्च तथा पादः करणे नुपूरे भवेत्" ॥ (ना. शा. ४-९७)

इति नूपुरपादम् । द्रुतमाक्षिप्येत्यादिना विवृत्तं करणमाह—

"आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम् ।
रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते करणे द्विजाः ॥ इति
(ना. शा ४-१२२)

निकुटच्येत्यनेन करपादनिकुट्टितं यत्र तानि करणान्याह–निकुट्टितार्धनिकुट्टका-दीनि । उरोमण्डलकादित्रयं पूर्वाङ्गहारवत ॥ २४६-२ ७ ॥

ये येऽङ्गहारास्तेषां प्रतिकरणं गुरुपरिमाणं कलानिवर्तनकालस्तावता सम्यक्करणं वर्तनाक्रमेण शक्यम् । तत्र ये षड्द्वादशचतुर्विंशतिरित्यादि-करणात्मका एकेन द्वाभ्यां वाऽभ्यसितेन युक्तास्ते त्र्यश्रमानेन बोद्धव्याः ।

३२—अर्धनिकुट्टक

अनुवाद—'अर्धनिकुट्टक' अङ्गहार में पैर को नूपुर पादचारी में रखकर फिर शीघ्रता से हाथ-पैर को क्रमशः आक्षिप्त करके हाथों को पैर के अनुसार रखते हुए त्रिक का परिवर्त्तन करे, फिर हाथ-पैर को निकुट्टित कर उरोमण्डल करण का प्रयोग करे, अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करना चाहिए ॥ २४६-२४७ ॥

अभिनव—'कृत्वा नूपुरपादम्' इत्यादि के द्वारा अर्धनिकुट्टक अङ्गहार का निरूपण करते हैं। इस अङ्गहार में सर्वप्रथम नूपुर करण का प्रयोग होता है जिसमें त्रिक को वलित करके हाथों को लता और रेचित चेष्टाओं में रखा जाता है और पैर नूपुर पादचारी में अवस्थित होता है। (ना० शा० ४।९७)। फिर हाथ-पैर को आक्षिप्त कर विवृत्त करण का प्रयोग कहा जाता है जिसका लक्षण है—

"विकृतकरण में जहाँ पर हाथ और पैर को आक्षिप्त करके त्रिक को विवर्त्तित किया जाता है अर्थात् घुमाया जाता है और दोनों हाथों को रेचित प्रक्रिया में संचालित किया है।" (ना० शा० ४।१२२)।

'निकुट्य' (निकुट्टित करके) पद से जहाँ पर हाथ-पैर निकुट्टित किये जाते हैं उन सभी करणों को अर्धनिकुट्टक अङ्गहार में प्रयोग होता है। उरोमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न इन तीन करणों का प्रयोग पूर्व में प्रतिपादित विधि के अनुसार करना चाहिए ॥ २४५-२४७ ॥

एकस्य द्वयोर्वा मध्ये तु प्रवेशयितुं तालकलाद्यभिसन्धानेन शक्यत्वात्। ते च षोडशात्र सन्ति। पूर्ववदेवाष्टषोडशादिकरणात्मका एकेन द्वाभ्यां वाऽभ्यसितेन किञ्चिदधिका वा ते चतुरश्रतालविषया द्रष्टव्याः। तेऽपि षोडशैव। एकस्य क्वचिदूनत्वेऽपि कस्यचित्पुनः क्रियया तालहरणं शक्यमिति मन्तव्यम्।

तत्रापविद्ध उद्घट्टितो विष्कम्भस्तदपसृतः स्वस्तिकरेचितो वृश्चिकापसृतो मत्तस्खलितो गतिमण्डलः परिवृत्तकरेचितः परावृत्तकोऽलातक उद्वृत्तको रेचित आक्षिप्तरेचितः सम्भ्रान्तोऽर्धनिकुट्टकश्चेति त्र्यश्रतालकाः षोडश। एषां चतुरश्राश्रयास्तावन्तः। तत्र द्विभेदभिन्नेष्ववान्तरभेदेन षोडशसु पूर्वरङ्गाङ्गे-ष्वुत्थापनादिप्ररोचनान्तेषु बहिर्यवनिकागतेषु प्रयोगात् द्वात्रिंशद्रूपतेत्येवं केचित्।

अभिनव—यहाँ पर जो जो अङ्गहार प्रतिपादित है उनमें प्रत्येक करण के गुरु परिमाण तथा कलाओं से उनके सम्पादन में जो काल (समय लगेगा, उतने परिमाण और समय से वर्त्तना क्रम के द्वारा अच्छी तरह सम्पादित किये जा सकते हैं। उनमें जो अङ्गहार छः, बारह और चौबीस करणों से निष्पन्न होने वाले हैं तथा जिनमें एक अथवा दो करणों का अभ्यास अर्थात् पुनरावृत्ति हुई है उन अभ्यसित करणों वाले अङ्गहार हैं, उन्हें त्र्यस्रताल मान के अनुसार समझना चाहिए। जिनमें ताल एवं कला आदि के अभिसन्धान से अर्थात् ताल एवं कला आदि के प्रमाणानुसार एक अथवा दो करणों का बीच में प्रवेश किया जा सकता है वे सोलह मात्रा तक के हो सकते है। पहिले के समान ही आठ और सोलह करणों से निष्पन्न होने वाले तथा एक अथवा दो करणों के पुनरावर्त्तन से युक्त अथवा उससे अधिक परिमाण वाले जो अङ्गहार है वे चतुरस्र ताल मान के अनुसार समझना चाहिए। वे भी सोलह ही हैं। यहाँ कहीं एक के न्यून (कम) होने पर किसी अन्य किया से ताल एवं कलाओं का आहरण किया जा सकता है।

उनके अपविद्ध, उद्‌घट्टित, विष्कम्भ, विष्कम्भापसृत, स्वस्तिकरेचित, वृश्चिकापसृत, मत्तस्खलित, गतिमण्डल, परिवृत्तरेचित, परावृत्तक, अलातक, उद्‌वृत्तक, रेचित, आक्षिप्तरेचित, सम्भ्रान्त और अर्धनिकुट्टक ये १६ अङ्गहार त्र्यस्र ताल वाले हैं। इसी प्रकार चतुरस्र ताल वाले १६ अङ्गहार होते हैं[1]। उनमें चतुरस्र और त्र्यस्र रूप दो भेदों से भिन्न अवान्तर भेद से सोलह विभागों में विभक्त पूर्वरङ्ग के बहिर्यव-निकागत उत्त्थापना आदि से प्ररोचना पर्यन्त पूर्वरङ्ग के अङ्गों का प्रयोग होने से बत्तीस प्रकार के रूपों को प्राप्त कर लेते हैं ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

१. स्थिरहस्त, पर्यस्त, सूचीविद्ध, अपराजित, वैशाखरेचित, पार्श्वस्वस्तिक, भ्रमर, आक्षिप्तक, परिच्छिन्न, मदविलसित, आलीढ़, आच्छुरित, पार्श्वच्छेद, अपसर्पित, मत्तक्रीड़ और विद्युद्भ्रान्त ये सोलह अङ्गहार चतुरस्रताल मान वाले अङ्गहार हैं।

द्वात्रिंशदेते [1]सम्प्रोक्ता ह्यङ्गहारा द्विजोत्तमाः ?
चतुरो रेचकांश्चापि[2] गदतो मे निबोधत ॥ २४८ ॥

एके त्वाहुः—चतसृणां नर्तकीनां प्रतियोगं चत्वार इति पुनः पिण्डीरेचकन्यासापन्यासश्चतुर्धेति द्वात्रिंशत्। एतच्च पूर्वरङ्ग (ना. शा. ५) व्याख्याने स्पष्टयिष्याम इत्यलम्।

अन्ये तु गीतकानामाङ्गनिबन्धानां वस्तुनिबन्धानां च वस्तु त्रिविधम्। वर्धमानकरणानि नव। गुणनिकया सप्तविंशति। चत्वारि आसारितानि। पाणिकक्प्रकारा। इत्येवंभूतं च यतो ब्रह्मगीतिवैचित्र्यं [3]द्वात्रिंशद्भासितं तस्मात्तत्प्रयोगानात्मनोऽङ्गहारेऽपि तावदेवेत्याहुः।

अन्ये तु [4]परमेश्वरभाषितत्वादियता सफलसम्पत्तिहेतुत्वमित्याहुः। एतन्मनसि कृत्वोपसंहरति—द्वात्रिंशदेत इति ॥ २४६-२४७ ।

कुछ आचार्य तो कहते हैं कि चार नर्त्तकियों के प्रत्येक के प्रयोग से चार-चार अङ्गहार होते हैं इस प्रकार प्रत्येक नर्त्तकियों के चार-चार के योग से सोलह अङ्गहार हो जाते हैं, फिर पिण्डीबन्ध एवं रेचकों के न्यास एवं अपन्यास क्रिया से ये बत्तीस हो जाते हैं। पूर्वरङ्ग के व्याख्या के अवसर पर इसे स्पष्ट किया जायगा। अतः यहाँ रहने दिया जाय।

अन्य आचार्यों का तो कहना है कि अङ्गों और वस्तुओं से निबद्ध गीतों वस्तु तीन प्रकार के होते हैं—वर्धमानक आदि २७, आसारित ४ और पणिका एक। इस प्रकार ब्रह्मगीति की विचित्रता से बत्तीस प्रकार के होते हैं। इसलिए उनके प्रयोग रूप अङ्गहार के भी उतने भेद होते हैं।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि सकल सम्पत्ति के कारण परमेश्वर के द्वारा कथित होने से बत्तीस अङ्गहार होते हैं, यह मानना ठीक है। इसी बात को मन में रखकर उपसंहार करते है—'ये अङ्गहार बत्तीस होते हैं ॥ २४६-२४७ ॥

अनुवाद - हे द्विजोत्तमों ! मैंने इन बत्तीस प्रकार के अङ्गहारों का वर्णन कर दिया है। अब मेरे द्वारा कहे गये चार प्रकार के रेचकों को सुनिये (समझिये ॥ २४८ ॥

---

१. ख. सम्प्रोक्तास्त्वङ्गहारा। क-न. गदितास्त्वङ्गहारा।
२. ख. घ. रेचकांश्चैव।
३. क-म. त्रिशद्धस्तं।
४. क. परमेश्वरभाषितत्वादि यथा।

अथ रेचकाः

पादरेचक एकः स्यात् द्वितीयः कटिरेचकः ।
[1]कररेचकस्तृतीयस्तु चतुर्थः कण्ठरेचकः ॥ २४६ ॥
[2]रेचिताख्यः पृथग्भावे वलने चाभिधीयते ।
उद्वाहनात्पृथग्भावाद्वलनाच्चापि[3] रेचकः ॥ २५० ॥
[4]पार्श्वात्पार्श्वे तु गमनं स्खलितैश्चलितैः पदैः ।
विविधैश्चैव पादस्य पादरेचक उच्यते ॥ २५१ ॥
त्रिकस्योद्वर्तनं चैव [5]कटीवलनमेव च ।
[6]तथाऽपसर्पणं चैव [7]कटिरेचक उच्यते ॥ २५२ ॥

अनुवाद—पहिला पादरेचक, दूसरा कटिरेचक, तीसरा कररेचक और चौथा कण्ठरेचक या ग्रीवारेचक होता है ॥ २४९ ॥

अनुवाद—अलग-अलग करके वलन क्रिया (गोल घुमाव) के अर्थ में 'रेचित' पद प्रयुक्त होता है और अङ्गों को ऊपर की ओर उठाकर अलग-अलग वलन (चक्राकार गति) होने से भी इसे 'रेचक' कहा जाता है ॥ २५० ॥

विमर्श—भरत ने 'रेचक' पद की व्याख्या करते हुए कहा कि रेचक एक अलग क्रिया है । इसमें अङ्गों का अलग-अलग वलन किया जाता है अर्थात् अङ्गों को चक्राकार गति से घुमाया जाता है अथवा उन-उन अङ्गों को ऊपर उठाकर अलग-अलग चक्राकार गति से घुमाया जाता है । करण और चारी से भिन्न होने के कारण इसका अलग से प्रतिपादन किया गया है ॥ २५० ॥

१—पादरेचक

अनुवाद—जहाँ पर अनेक प्रकार से प्रकम्पित (स्खलित) गति से संचालित पैरों को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में ले जाया जाता है उसे 'पादरेचक' कहा जाता है ॥ २५१ ॥

---

१. ख. कररेचस्तृतीयस्तु ।
२. इतः प्रभृति श्लोकपञ्चकं क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति ।
३. ख. वलनाच्चापि ।
४. क-न. पश्चात् पार्श्वे तु ।
५. ख. घ. कटी चलनमेव च ।
६. ग. तथापि सर्पणं ।
७. ख. ग. घ कटीरेचक उच्यते ।

[1]उद्वर्तनं परिक्षेपो विक्षेपः परिवर्तनम्[2] ।
विसर्पणं च हस्तस्य हस्तरेचक उच्यते ॥ २५३ ॥
उद्वाहनं सन्नमनं [3]तथा पार्श्वस्य सन्नतिः ।
भ्रमणं चापि विज्ञेयो ग्रीवाया रेचको बुधैः ॥ २५४ ॥

अथ रेचकानाह—पादरेचक इति । पादयोरेव चलनं न च पार्ष्णिभूतयोरन्तर्बहिश्च [4]सन्ततं नमनोन्नमनव्यंसितं [5]नमनमङ्गुष्ठाग्रस्य च । हस्तयोरेव चलनं हंसपक्षयोः पर्यायेण द्रुतभ्रमणम् । ग्रीवायावस्तु [6]रेचितत्वं विधुतभ्रान्तता । सर्वतो भ्रमणाच्चापि विज्ञेयं तु रेचिताङ्कक इत्यादिसङ्ग्रहोपादानात्पृथगेते वैशाखमण्डलादिस्थानकस्थेन प्रयोज्या इति दर्शयन् वैशाखरेचितेन करणेन सङ्गृहीतत्वमेषां दर्शयति । पृथग्दृष्टार्थताख्यापनार्थं चैषां करणाङ्गहारान्तर्भूतानामप्युपादानम् । सुकुमारगीतवाद्यप्रधाने च प्रयोग एषां प्रयोगः ॥२५१-२५४॥

२—कटिरेचक

अनुवाद—जहाँ पर त्रिक को ऊपर की ओर उठाया जाता है और कटि का वलन अर्थात् चक्राकार घुमाव किया जाता है और फिर पीछे की ओर अपसर्पण किया जाता है वह 'कटिरेचक' कहलाता है ॥ २५२ ॥

३—हस्तरेचक

अनुवाद—जहाँ पर हाथों का उठाया जाना, फेंका जाना, आगे फैलाया जाना, घुमाया जाना और अन्त में फिर खींच लिया जाना निर्दिष्ट होता है, उसे 'हस्तरेचक' कहते हैं ॥ २५३ ॥

४—कण्ठरेचक (ग्रीवा रेचक)

अनुवाद—जहाँ पर ग्रीवा को ऊपर उठाया जाता है, फिर नीचे झुकाया जाता है, फिर पार्श्व में झुकाया जाता है तथा घुमाया जाता है, उसे 'ग्रीवारेचक' या 'कण्ठरेचक' कहा जाता है ॥ २५४ ॥

---

१. ग. घ उद्वर्तनः ।
२. ख. घ विक्षेपपरिवर्तनम् ।
३. ग. तथा पार्श्वं च सन्नतिः । क-त. पार्श्वात् पार्श्वस्य सङ्गतिः । क-ट. पश्चात् पार्श्वं च सङ्गतिः ।
४. क-म. सन्ततं नमनोन्नमनहसितं ।
५. क. गमनअङ्गुष्ठाग्रस्य ।
६. क-म.भ. रेचितत्वं विज्ञेयं तु रेचिताङ्गकः ।

[1]तुम्वुरुणेदमुक्तम्—

"अङ्गहाराभिधानात्तु करणै रेचकान्विदुः।" (इति)। इहाप्येतन्मुनेर्मतमिति लक्ष्यते। यत्सहशब्देन तत्र तत्र निर्दिशति "व्याख्यास्यामि सरेचकान्" (ना. शा. ४-१९) इति।

अभिनव—इसके बाद अब रेचकों को को कहते हैं—'पादरेचक' इत्यादि। पादरेचक में पैरों से ही चलन (गमन) होता है, एड़ियों से नहीं अर्थात् इसमें पैरों के द्वारा ही चलन क्रिया होती है। एड़ी आदि से चलन क्रिया नहीं होती। किन्तु एड़ियों भीतर बाहर निरन्तर नमन-उन्नमन होता है और अङ्गुष्ठाग्रभाग का भी नमन होता है। संगीतरत्नाकर में भी बताया गया है कि दोनों अंगूठे के अग्रभाग तथा एड़ियों के बाहर-भीतर निरन्तर नमन-उन्नमन (झुकने और उठने) की गति होने पर 'पादरेचक' करण होता है।

इसी प्रकार 'हस्तरेचक' में भी हाथों का ही चलन होता है अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा में स्थित दोनो हाथों को क्रम से शीघ्रतापूर्वक चारों ओर घुमाया जाना **'हस्तरेचक'** कहलाता है। ग्रीवा (कण्ठ) का कम्पित करके इधर-उधर घुमाया जाना **'ग्रीवारेचक'** कहा जाता है (विधुतभ्रान्तता--विधुत अर्थात् कम्पित होना, भ्रान्त अर्थात् घूमना) कटि को चारों ओर घुमाने से **'कटिरेचक'** समझना चाहिए। ये रेचक अङ्गहार के अङ्ग फल को उत्पन्न करते हैं। अङ्गों के चारों ओर वलन (भ्रमण) होने के कारण इसे रेचक समझना चाहिए। इस प्रकार संख्या का उपादान होने के कारण इन रेचको का वैशाखमण्डल नामक स्थानक में खड़े होकर प्रयोग करना चाहिए, यह बताते हुए वैशाखरेचित नामक करण से इनका सं'ग्रह दिखा दिया है। करण एवं अङ्गहारों के अन्तर्गत अङ्गरूप में इनका उपादान होने पर भी दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल बतलाने के लिए इनका अलग से उपादान किया गया है। सुकुमार गीत और वाद्य-प्रधान प्रयोग (नृत्य या अभिनय) इनका प्रयोग किया जाता है॥ २४१-२५४॥ तुम्बुरु ने तो यह कहा है—

"करणों के द्वारा सम्पाद्य अङ्गहारों के अभिधान (कथन) से ही रेचकों को समझ लेना चाहिए।" यहाँ पर भी मुनि (भरतमुनि) का मत ज्ञात होता है। जो 'सह' शब्द से जगह-जगह पर निर्दिष्ट किया गया है–'व्याख्यास्यामि सरेचकान्' अर्थात् रेचकों की व्याख्या करूँगा।

१. क-म. भ. तुम्बुरुं तेनोक्तम्।

रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ।
सुकुमारप्रयोगेण [1]नृत्यतिस्म च पार्वती ।। २५५ ।।

नन्वेवं करणाङ्गहाररेचकाः किं पूर्वरङ्गानेव (ङ्ग एव) वैचित्र्यकारित्वमात्रे (णै) वोपयुज्यन्ते । नेह प्रस्तुमः (नेति ब्रूमः) । कथं तर्हि । देवतापरितोषकत्वेनापि । तदपि च वैचित्र्यमात्रात् । यावतत्तद्देवताध्वज[2]प्रतिकृतिभूतपिण्डीबन्धनिष्पत्तिद्वारेणेत्याभिप्रायेण पिण्डीबन्धावतरणाय भरतमुनिः पुराकल्पमाह [3]श्लोकचतुष्टयेन—रेचकैरङ्गहारैश्चेत्यादिना ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या ये करण, अङ्गहार और रेचक केवल पूर्वरङ्ग के अङ्गों में विचित्रता सम्पादन करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, उत्तर है कि नहीं। फिर प्रश्न होता है कि तो क्या देवताओं को प्रसन्न करने के लिए इनका प्रयोग होता है ? उत्तर, वह भी तो विचित्रता के कारण है। क्योंकि उन-उन देवताओं के ध्वज, प्रतिकृतिभूत पिण्डीबन्धों की निष्पत्ति के द्वारा ही इनकी विचित्रता होती है। इस अभिप्राय से पिण्डीबन्ध के अवतरण के लिए भरतमुनि चार श्लोकों से पुराकथा (इतिहास) को कहते हैं—रेचकैरङ्गहारैश्चेत्यादि ।

अनुवाद– रेचकों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य करते हुए भगवान् शङ्कर को देखकर पार्वती ने सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्य किया ।। २५५ ।।

विमर्श—काशी संस्करण में २५५ वें श्लोक में 'नृत्यन्ती चैव पार्वतीम्' के स्थान पर 'नृत्यतिस्म च पार्वती' पाठ मिलता है। काशी वाले संस्करण के पाठ के आधार पर इसका अन्वय ठीक बैठता है और अर्थ भी संगत होता है। किन्तु गायकवाड़, बड़ौदा संस्करण के पाठ के अनुसार इसका अर्थ होगा 'नृत्य करती हुई पार्वती को देखकर जिसका अर्थ संगत नहीं लगता। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में बड़ौदा वाले संस्करण के आधार पर 'नृत्यन्ती चैव पार्वतीं' पाठ को स्वीकार किया है। यदि चारों श्लोकों का क्रम बदल कर निम्न प्रकार रख दिया जाव तो अर्थसंगति में कोई वाधा नहीं होगी।

मृदङ्गभेरीपटहैर्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः ।
पणवैर्दर्दुरैश्चैव सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ॥
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ।
नानाङ्गहारैः प्रानृत्यल्लवतालपतालवशानुगैः ॥
रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ।
सुकुमारप्रयोगेण नृत्यन्तीं कैव पार्वतीम् ।।
पिण्डीबन्धांस्ततो द्बष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः ।
चक्रुस्ते नाम पिण्डीनां बन्धनाम सलक्षणम् ।।

---

१. क. नृत्यन्तीं चैव पार्वतीम् । ग. नृत्यन्ती चैव पार्वतीम् ।
२. क-म. भ. यावत्तद्देवताजप.....भूत । ३. क-म. भ. पुराकल्पमाद्यश्लोकचतुष्टयेन ।

मृदङ्गभेरीपटहैर्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः[1] ।
[2]पणवैर्दर्दुरश्चैव सर्वातोद्यैः [3]प्रवादितैः ॥ २५६ ॥
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ।
नानाङ्गहारैः [4]प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः[5] ॥ २५७ ॥

दक्ष के यज्ञ विध्वंस हो जाने पर सन्ध्या के समय प्रमथगाणों द्वारा मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, पडिण्डिम (तासा), गोमुख, पणव और दर्दुर आदि वाद्यों के बजाये जाने पर महेश्वर शङ्कर ने अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ लय और ताल का अनुसरण करते हुय नर्त्तन किया। तब रेचकों एवं अङ्गहारों के साथ नृत्य करती हुई पार्वती को देखकर उसके बाद पिण्डीबन्ध नृत्य कों देखकर नन्दि भद्रमुख प्रभुति गणों ने गिण्डीबन्धों का लक्षण के साथ नामकरण कर दिया।

कहा जाता है कि भगवान् शङ्कर के द्वारा दक्ष को विध्वंस कर दिये जाने पर सन्ध्या के समय शङ्कर ने नृत्य प्रारम्भ किया था। उस समय प्रसन्नता से भरे प्रमथगणों ने मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि वाद्यो का वादन किया था। नृत्यकाल में नन्दि और भद्रमुख गणों ने पिण्डीबन्ध प्रक्रिया का अनुशीलन कर लक्षणों के अनुसार उनका नामकरण कर दिया।

अग्निपुराण के अनुसार अङ्गहार और करणों के प्रयोग में एक नियत आकृति को पिण्डीबन्ध कहते हैं। किन्तु शारदातनय ने नर्त्तक और नर्त्तकियों के सामूहिक नृत्य जो पिण्डीबन्ध कहा है। नाटचशास्त्र में नर्त्तन के एक आकार विशेष (नृत्य की एक विशेष मुद्रा) को पिण्डीबन्ध माना गया है।

अनुवाद –दक्ष के यज्ञ के विध्वंस किये जाने के बाद महेश्वर शङ्कर सन्ध्या के समय मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि सभी वाद्यों के निनादित होने पर अर्थात् बजाये जाने के साथ अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ ताल एवं लय के अनुसार अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ नाचने लगे ॥ २५६-२५७ ॥

---

१. ग. घ. भाण्डझञ्झागोमुखैः ।

२. ख-घ. पणवैर्दर्दुराद्यैश्च नानातोद्यैः प्रवादितैः । क-न. म. पणवैर्दर्दुराख्यैश्च ।

३. ग प्रमादितैः । क-तः निनादितैः ।

४. क-ख. ननर्त्त ।

५. ग. वशानुगम् ।

[1]पिण्डीबन्धांस्ततो दृष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः।
[2]चक्रुस्ते नाम पिण्डीनां बन्धमासां सलक्षणम् ॥ २५८ ॥

[3]इह त्रयश्चकाराः । तत्रैको हेतावन्ये समुच्चये । तत्रैवमभिसम्बन्धः । यस्मात्प्रहर्षपरवशप्रमथाभिहतमृदङ्गादिभिरुपलक्षिते दक्षयज्ञे निहते प्रहर्षवशान्नर्तिनि । (नृत्यन्तं नृत्यन्तीमिति) धातुसम्बन्धे प्रत्यया इत्यनेन । (प्रयोगः[4] । अन्यथा नृत्तवन्तमित्यादि स्यात् ।) सन्ध्याकाले दिनात्यय इति प्रमोदविकासमये । तत एव पुण्यात्मके । सततमतिशयेन भृशं च नृत्यति तद्धेतोः । रेचकैरङ्गहारैश्चव न तु सुकुमारं प्रणृत्यन्तं शङ्करं वीक्ष्य सुकुमारप्रयोगमेव कृत्वा तु अर्थतत्त्वेन नृत्यन्तीं भगवतीं च वीक्ष्य । तत एवेति तावतामेव । अङ्गहारा रेचकाश्चेति । तद्धेतुकान्पिण्डीबन्धान्दृष्ट्वा नन्दी तथा भद्रमुखवीरभद्रप्रभृतयो नन्दिभद्रदेवतागणास्तत्प्रमुखाः पिण्डीबन्धनाम चक्रुः । आकारसादृश्येऽयं(न)च पिण्डीबन्धं प्रयोगं चक्रुः । सलक्षणं लक्षणपर्यन्तम् । अन्तवचनेऽव्ययीभावः । अङ्गहारप्रयोगनान्तरीयकतया आकारविशेषसम्पत्ति दृष्ट्वा सम्यकायुज्य लक्षणं विदधिर इति यावत् । द्वयोः प्रयोक्तृतया सुकुमाराबृत्तनृत्तयोः समकालप्रयोगेण पिण्डीबन्धनिष्पत्ति सूचयति नन्दिभद्रमुखा गणा इति । अनेन चतुष्प्रभृतिप्रयोज्यतामप्याह–

अनुवाद—इसके बाद नन्दी, भद्रमुख प्रभृति गणों ने पिण्डीबन्धों को देख कर इन पिण्डीबन्धों का सलक्षण (लक्षणों के साथ) नामकरण किया ॥२५८॥

अभिनव—यहाँ पर तीन चकार है। उनमें एक हेतु अर्थ में है, अन्य समुच्चय अर्थ में। उनमें इस प्रकार सम्बन्ध है। जिससे प्रसन्नता में निमग्न प्रमथगणों द्वारा बजाये गये मृदङ्ग आदि वाद्यों से उपलक्षित दक्ष के यज्ञ के विध्वंस हो जाने पर प्रसन्नतावश नर्त्तन किया। 'नृत्यन्तं' तथा 'नृत्यन्तीम्' यह प्रयोग 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' सूत्र के अनुसार है। इसका अर्थ वर्त्तमानकालिक हर्षणकर्त्तृकर्त्तृक नर्त्तन है। यदि 'धातु सम्बन्धे प्रत्ययाः' इस सूत्र के अनुसार प्रयोग नहीं होगा तो 'नृत्यवन्तम्' यह प्रयोग होगा। सन्ध्या के समय दिन के बीत जाने पर प्रचुरमात्रा में प्रमोद (हर्ष) विकास के समय। इसीलिए वह पुण्यात्मक समय था। निरन्तर अत्यधिक बार-बार नाचते हैं, इसलिए रेचकों और अङ्गहारों के साथ न कि सुकुमार नृत्य के साथ नाचते

१. ख. डिण्डिमभ्रान्ततो दृष्ट्वा नन्दीभद्रमुखा गणा। ग. पिण्डीबन्धास्ततो।
क-न. म. डिण्डिमभद्रांस्ततो। क-अ. पिण्डीबद्धांश्च नो दृष्ट्वा।
२. ग. घ. चक्रुर्नामानि पिण्डीनां बन्धांश्चैव सलक्षणान्।
ख. ऐश्वरी वृषपिण्डी च नन्दिनश्चापि पादसी।
३. क इह चत्वारश्चकाराः।
४. क-म. भ. कोष्ठकान्तर्गतभागो नास्ति।

नन्दिभद्रनामैव गण इति। नन्दिकेश्वरनियतस्थानं मृदङ्गः। मुरजः भेरी कांस्यशकलान्तःपूर्णा महर्षकाभङ्गमर्दलः। डिण्डिमः करटिका। गोमुखो भङ्गी[1]। अन्तरीयुक्तस्तन्त्रीयुक्तः पटहः पणवो दर्दुरो महाघटिकाधार इति सर्वं एते चर्मावनद्धभेदाः। लयो द्रुतमध्यविलम्बितात्मा। तस्य यस्तालः प्रतिष्ठा। अपि च तत्त्वं विशिष्टवर्धमानगीतकादिनियतवैणवस्वरविशेषात्मकधातुवाद्यशेषभूतशुष्कप्रयोगप्रकृतिकावनद्धवाद्यगीतिनियतप्रतिष्ठितलयात्मकत्वम्। नाट्ये च प्रयोज्यचित्तवृत्तिपरिवृत्तानुसारेणान्यथान्यथाभावेन। तस्य यो वशः सामर्थ्यं तस्यानुषङ्गं कृत्वा तदनुसारित्वेनानुगम्यमानः अनुसृतं कृत्वेत्युभयथा तन्त्रेण द्रष्टव्यम्। लयतालवशस्यास्य लयतालवशत्वानुगो यत्रेति।

हुए शङ्कर को देखकर और अर्थतत्त्वेन सुकुमार प्रयोग के साथ नाचती हुई पार्वती को देखकर तथा अङ्गहार करण और रेचक नृत्य हेतुक पिण्डीबन्धों को समझकर नन्दी और भद्रमुख, वीरभद्र प्रभृति देव सदृश गणों ने 'पिण्डीबन्ध' नामकरण किया। आकार-सादृश्य में 'पिण्डीबन्ध' प्रयोग किया गया है। 'सलक्षण' पद से 'लक्षण-पर्यन्त' अभिप्रेत है। 'पर्यन्त' में अव्ययीभाव समास है। अङ्गहार प्रयोग से (अनिवार्य) रूप से जुड़े हुए आकार विशेष को देखकर अर्थात् अच्छी तरह प्रयोग करके लक्षण बनाया है। शिव और पार्वती दोनों के प्रयोक्ता होने में सुकुमार और उद्धत नृत्तों के समकाल (एक ही समय) प्रयोग से पिण्डीबन्धों की निष्पत्ति को सूचित करते हैं—'नन्दि तथा भद्रमुख प्रभृति गणों ने पिण्डीबन्धों का सलक्षण नामकरण किया' इत्यादि। नन्दिभद्र नामक गण है। नन्दिकेश्वर का नियत स्थान मृदङ्ग है अर्थात् इस पिण्डीबन्ध नृत्य में नन्दिकेश्वर ने सङ्गत की थी। मृदङ्ग का दूसरा नाम मुरज है। भेरी काँस्य से निर्मित एक बाद्यविशेष है। इसे नागाड़ा भी कहते हैं। डिण्डिम डिम् डिम् शब्द करने वाला वाद्यविशेष है, जो नगाढ़े से छोटा होता है। इसे करटिका कहते हैं। गोमुख तुरही के आकार का वाद्यविशेष है। पटह को पणव भी कहते हैं। दर्दुर एक बाद्यविशेष, जिसका आधार महाधाटिका है। ये सभी वाद्य चर्म (चमड़े) से मढ़े हुए होते है। ये चर्मावनद्ध वाद्य के भेद हैं। लय द्रुत, मध्य और बिलम्बित रूप तीन प्रकार का होता है। उसका जो ताल अर्थात् प्रतिष्ठा। और भी तत्त्व यह है कि विशिष्ट वर्धमान नामक गीत आदि से नियत वीणा का स्वर विशेषरूप, धातु-निर्मित वाद्यों के अङ्गभूत, शुष्क प्रयोग स्वरूप, अबनद्ध वाद्य और गीति से नियत, लय से प्रतिष्ठित 'ताल' होता है। नाट्य में प्रयोज्य चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के अनुसार अन्यथा भाव से उसके सामर्थ्य के अनुसार अनुसरण करके दोनों प्रकार में तन्त्र के द्वारा देखना चाहिए। लयतालवशानुग अर्थात् लय और ताल के वश के अनुकूल चलने वाले ये अङ्गहार जिस नृत्य में हो।

१. क. भण्डी।

ननु च नाट्य एवाङ्गानुसारित्वेन लयादि। न तु नृत्त एव। आङ्गिके नाट्यस्य भेदः। उच्यते—इहादृष्टविशेषसम्पत्तिहेतुत्वं वर्धमानादिप्रयोगस्य सोपकरणनृत्तप्रयोगस्य च। तत्र गुणप्रधानभावं प्रति कामचारः। यदा गीतकादेः प्राधान्यं तदा तदनुसार्यङ्गं भवति। तदभिप्रायेणैव यद्वक्ष्यति—

"गत्या वाद्यानुसारिण्या तस्याश्चारीं प्रयोजयेत्"। इति (ना० शा० ४-२८१)। यदा तु नृत्तस्यादृष्टसम्पादकत्वे प्राधान्यं क्रियते तदा तदनुसारेण गीतकादेराश्रयणम् यदाश्रयेण वक्ष्यति—

"गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम्।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते॥" (ना शा ५-१३) इति।

अनेन हि चतुर्थेन पादेन ताण्डवस्य प्राधान्यं तदुपयोगित्वं च गीतकादेरुक्तम्। न च नाट्यात्तु भेदः। नाट्ये ह्यङ्गं गीतकं चेत्युभयमप्यप्रतिष्ठितम्। तथा च करचरणचारीमण्डलादि यत्तत्राङ्गोपयोगि तत्स्वरूपेण लयादिव्यवस्थया वा नियतमेव यथारसं प्रयुज्यमानत्वेन विपर्ययात्[1]। एवं ध्रुवागानादावपि द्रष्टव्यम्। सैव हि ध्रुवा कदाचित् द्रुता प्रयुज्यते कदाचिद्विलम्बितेति द्वयमपि कुत्रचित्। तत्रापि[2] गीतं च प्रयोज्यचित्तवृत्ति (परिवर्तत्वं तन्त्रम्)

अब प्रश्न उठता है कि लय और ताल तो अङ्गों के अनुसार नाट्य में ही प्रयुक्त होते हैं, नृत्त में ही नहीं। क्योंकि नृत्त तो आङ्गिक अभिनय (नाट्य) का भेद है। इस पर कहते हैं—यहाँ पर वर्धमान आदि गीत प्रयोग और वाद्यादि उपकरण सहित नृत्त प्रयोग के ये अदृष्ट फल के हेतु हैं। उनमें गौण और प्रधान भाव स्वेच्छा पर है। जब गीत आदि की प्रधानता होगी तो गीत का अनुसरण करने वाला नृत्त अङ्ग होगा। इसी अभिप्राय से आगे कहेंगे—

"वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से चारी का प्रयोग करना चाहिए"। (ना० शा० ४।२८१)।

और जब अदृष्ट के सम्पादक नृत्त की प्रधानता होगी हो तो नृत्त का अनुसरण करने वाला गीत आदि का आ य लिया जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे—

"मन्द्रक आदि गीतों में किसी एक गीत की योजना करनो चाहिए और जहाँ ताण्डव नृत्त की योजना की जाय वहाँ वर्धमान गीत की योजना करवी चाहिए।" (ना० शा० ५।१३)।

१. क-विपर्यासात्।
२. क-म. तत्राविगीतं च।

इह तु गीतमङ्गं च द्वयमपि स्वप्रतिष्ठितम् । तथा हि यस्य यादृशं लययतिस्वरूपादिकं निरूपितं तत्र विपर्येति मन्त्रादिवत् । वेदवत् न वा (इह तु) योग्यतयाऽङ्गाङ्गि भावः । तथा हि--अपविद्धं द्रुतं चैव" (ना. शा. ४-२०७) इत्यङ्गहारे गीतकादावपि मध्ये स्रोतोगतलयादिरित्यादिकं नान्यथा क्रियते । तेन "प्रधानमनुवध्यन्ते गुणाः" इत्येतदिह सङ्कोचयति । किन्तु स्वप्रतिष्ठितेऽपि द्वये येन यत्सम्मेलनयोग्यं तत्तत्र प्रयुज्यत इत्येतावानङ्गाङ्गिभावः । एवं शत्रुज्वलनप्रवृत्तामर्षा(त्तसा)भिमाननरपतिद्वितयवत् । अत एव प्रयुज्यत इत्युक्तम् । तेनैव तथाकरणं सूच्यते ।

यहाँ पर चतुर्थ पाद (ताण्डवं यत्र युज्यते) के द्वारा ताण्डव नृत्त की प्रधानता और गीत आदि को उसका उपयोगी अङ्ग बतलाया गया है। नाट्य से नृत्त का भेद नहीं है । क्योंकि नाट्य में नृत्त और गीत दोनों प्रतिष्ठित रहते हैं। हाथ पैर, चारी, मण्डल आदि जो उस नाट्य में उपयोगी अङ्ग हैं उनके स्वरूप अथवा लय आदि की व्यवस्था के अनुसार नियत रूप से प्रयोग में रस के अनुकूल परिवर्तन कर देना चाहिए । इसी प्रकार ध्रुवागान आदि में भो समझना चाहिए। वही ध्रुवा सभी द्रुत के रूप में प्रयुक्त होती है, कभी बिलम्बित रूप में और कभी दोनो रूप में प्रयुक्त होती है । वहाँ भी अभिनेय चित्तवृत्ति के परिबर्तन के अनुसार गीत का प्रयोग होता है । यहाँ तो गीत और नृत्त दोनो प्रतिष्ठित होते हैं । जैसाकि जिसका जैसा लय, यति, स्वरूप आदि बतलाया गया है, मन्त्र आदि के समान उसमें परिवर्त्तन नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार वेदवाक्य अथवा मन्त्रों में परिवर्त्तन नहीं होता, उसी प्रकार गीत, नृत्त में जिसका जो स्वरूप, लय, ताल, यति आदि का निरूपण किया गया है वैसा हो प्रयोग होता है उसमें परिवर्त्तन नहीं होता। यहाँ पर तो योग्यतानुसार अङ्गाङ्गिभाव होता है। जैसाकि-'अपबिद्धं द्रुतं चैव' (ना० शा० ४।२०८) इत्यादि मत्तस्खलित अङ्गहार में गीत आदि के मध्य में प्रवाहगत लय आदि में परिवर्त्तन नहीं किया जाता है। इसलिए 'गुण प्रधान के अनुबन्धी होते हैं' इस व्याप्ति का यहाँ सङ्कोच होता है । किन्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर भी दोनों में जिसका जिसके साथ सम्मेलन हो सकता है उसका उसके साथ प्रयोग किया जाता है, इतना ही अङ्गाङ्गिभाव है। जिस प्रकार शत्रु के हृदय में उत्पन्न जलन, ईर्ष्या, अभिमान से युक्त दो राजाओं में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव होता है। इसलिए यहाँ 'प्रयुज्यते' यह कहा गया है । उसी से वैसा करना सूचित होता है ।

तत्र दक्षयज्ञे निहते मृदङ्गादिवाद्यं प्रमथैः प्रवर्तितमिति तदनुगं नृत्तम्। सन्ध्याकालेषु हृदयभूतानन्दोल्लासात्मकेषु भगवन्नृत्तप्राधान्ये स्थिते वाद्यादिप्रवृत्तिः। एतदर्थमेवेत्थंभूतलक्षणतृतीयया साधारण्येनार्थोऽभिहितः। अवसरद्वयाभिधानं चैतदर्थमेव लक्षणमर्थत्वे तथैव दृश्यते?। तथा हि—गीतमेव तदाऽन्यार्थं तदन्यगत्वेन नृत्तादि यथा डोम्बिकादौ। तत्र हि परिष्करणाद्यपि (परिक्रमणाद्यपि) सुकुमारेणैवाङ्गेन। तत्रापि वर्णाङ्गप्राधान्यं क्वचित्। यथा प्रस्थानादौ। क्वचिद्गीयमानरूपकाभिधेयप्राधान्यं यथा त्रिपुरदाहडिमादौ ([1]शिल्पकादौ)। क्वचिद्वाद्यप्राधान्यं भाणकादिषु भग्न(भण्ड)तालपरिक्रमणादौ। क्वचिन्नृत्तप्राधान्यं यथा डोम्बिकादिप्रयोगानन्तरं हुडुक्कावाद्यावसरे। अत एव तत्र लोकभाषया चिल्लिमार्ग इति प्रसिद्धिः। चारीमार्गो ह्यसावङ्गप्राधान्यात्। तत्रापि वैचित्र्येण मध्ये मध्ये गीतवाद्यादेरपि प्राधान्यम्। वाद्यस्यापि [2]क्वचित् सुषिरावनद्धभेदेन प्राधान्यं यथायोगं विवेचनीयमित्यलं बहुना।

यहाँ पर भी दक्ष के (यज्ञ के विध्वंस हो जाने पर प्रमथगणों ने मृदङ्ग आदि वाद्यों का वादन किया था और उसी के अनुगत (अनुसार) नृत्त भी किया था। सन्ध्या के समय हृदय में उद्भूत आनन्द के उल्लास रूप किये गये भगवान् शिव के नृत्त ताण्डव में वाद्यादि की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए इत्थंभूत लक्षण तृतीया के द्वारा (इत्थंभूत लक्षणे तृतीया) साधारण रूप से यह अर्थ कहा गया है। इसीलिए दो अवसरों का कथन और लक्षण उसी प्रकार सार्थक दिखाई देते हैं। जैसाकि—'जब गीत आदि अन्य के लिए हैं तो नृत्त भी अन्य के लिए होगें, जैसे-डोम्बिक आदि में, वहाँ पर परिक्रमण आदि भी सुकुमार अङ्ग के द्वारा ही किये जाते हैं। वहाँ पर भी कहीं पर वर्ण अङ्गों की प्रधानता होती है। जैसे प्रस्थान आदि में। कहीं पर गीयमान रूपक अर्थ को प्रधानता होती है। जैसे त्रिपुरदाह डिम आदि में या शिल्पक आदि में। कहीं पर वाद्य (बाजे) की प्रधानता होती है। जैसे–भाण (भाण्ड) ताल के परिक्रमण आदि में। कहीं नृत्त की प्रधानता होती है। जैसे—डोम्बिका के प्रयोग के बाद हुडुक्क-वादन के अवसर पर। इसीलिए लोकभाषा में 'चिल्लिमार्ग' इस नाम से प्रसिद्ध है। अङ्ग की प्रधानता से वह चारीमार्ग नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर भी विचित्रता से बीच-बीच में गीत, वाद्य आदि की प्रधानता होती है। वाद्य की भी कहीं पर सुषिर, अवनद्ध आदि भेद से प्रधानता होती हैं। इस प्रकार यथायोग विवेचन करना चाहिए और अधिक कहने से रहने दिया जाय।

---

१. क. शिल्पक इति शब्दः शिङ्ककशिङ्कटकसिङ्कठकषिद्गकादिभेदेन दशरूपकादिलक्षणग्रन्थेषु दृश्यते।

२. क. क्वासुषिरावनद्धभेदेन।

तत्रैते पिण्डीबन्धा आधाराङ्गप्रयोगसाधकतमभेदाद् बहुप्रकारं भिद्यन्ते। तत्र भूमिर्देश आकाशद्वयभेदात्सप्तसप्तभेद एकैक इत्याधारभेदाः सप्त। हस्तौ पादौ (अक्षिणी) शिर इत्यङ्गभेदा अपि सप्तेत्येकान्नपञ्चाशत्। एकोऽनेको वा प्रयोक्ता। सोऽपि समप्रयोगो विषमप्रयोगो वेति चतुर्धाकरणेन सम्पाद्यते अङ्गहारेण वेत्यष्टाभिरेकान्नपञ्चशतो गुणनात्। द्विनवत्यधिकं त्रिशतं पारमेश्वराः (पिण्डीबन्धाः)।

"कल्पापायनिशान्तसान्ध्यसमये सद्व्योमरङ्गाङ्गणं[1]
सम्प्राप्य प्रतताङ्गहारवलनावैचित्र्यचित्रस्थितिः।
आकाशे स्ववपुष्यके(?)च विविधां सृष्टिं समासूत्रयन्
त्रैलोक्यस्थपतिस्त्वमेव भगवन्विश्वाकृतिर्जृम्भसि" ॥ इति।

अनया च (दिशा) पिण्डीबन्धानां तत्तद्देवताप्रकृतिभङ्गागादिसूचनद्वारेण केवलमपि करणं प्रयुज्यमानमेव हर्षदायि भवति ॥ २५८ ॥

इस प्रकार ये पिण्डीबन्ध आधार, अङ्ग, प्रयोग एवं साधक के भेद से अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उनमें आधार से स्थानगत भेद अभिप्रेत है। यह भूमि, आकाश और स्वर्ग (आकाशद्वय) भेद से एक-एक सात-सात प्रकार के होते हैं। इस प्रकार आधार स्थानगत भेद से सात प्रकार का होता है। इसी प्रकार दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र और एक शिर इस प्रकार अङ्गगत (अङ्ग के) सात भेद होते हैं। प्रयोक्ता एक या अनेक होने से प्रयोगगत भेद होता है और वह भी समप्रयोग और बिषमप्रयोग के भेद से चार प्रकार का होता है और ये चार भेद करणों एवं अङ्गाहारों के द्वारा सम्पादित होने के कारण आठ प्रकारों का उनचास प्रकारों से गुणा करने पर ३९२ भेद हो जाते हैं।

"कल्प की समाप्ति पर प्रलय होजाने के बाद निशा के अन्त में सन्ध्या की वेला में आकाश रूपी सुन्दर रङ्गभूमि पर पहुँच कर विस्तृत अङ्गहारों के वलन (करण, सम्पादन) के वैचित्र्य से चित्र (आश्चर्यजनक) स्थिति वाले तथा नानाप्रकार की सृष्टि करने के लिए आकाश में अपने शरीरभूत आधार पर सूत्र को फैलाने वाले तीनों लोक के स्थपति भगवन्! आप विश्व के आकार में प्रकट हो रहे हैं।"

इस प्रकार पिण्डीबन्धों के उन-उन देवताओं की प्रकृति के सूचन द्वारा केवल करणों का प्रयोग भी हर्षदायक होता है ॥ २५८ ॥

विमर्श—करणों, अङ्गहारों और रेचकों के निरूपण करने के बाद भरतमुनि ने चार श्लोकों में पिण्डीबन्ध नृत्य के अवतरण का इतिहास बताया है। तदनुसार भगवान् शंकर ने जब दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया था, उस समय सन्ध्या की वेला में शिव ने हर्षपूर्ण नृत्य किया था और प्रसन्नता में निगमन प्रमथगणों ने वाद्यों से सङ्कृत की थी। शिव का

१. क. सद्व्योमरङ्गं गणः।

वह नृत्य अङ्गहार, करण एवं रेचकों के प्रयोग से उद्धत था। तब पार्वती ने भगवान् शिव को नृत्य करते हुए देखकर सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्य किया। इस प्रकार शिव और पार्वती के द्वारा एक ही साथ समकाल में उद्धत एवं सुकुमार नृत्यों के प्रयोग से 'पिण्डी-बन्धों' की निष्पत्ति हुई है। यह पिण्डीबन्ध नृत्य का एक आकार-विशेष है। अग्निपुराण-कार ने भी नृत्य के एक विशेष प्रकार आकृति-विशेष को पिण्डीबन्ध कहा है, इसमें अङ्गहार और करण विनियोजित होते है, लय और ताल के साथ नर्त्तन होता है तथा मृदङ्ग, भेरी आदि वाद्यों से सङ्गत की जाती है। लय के द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन प्राण हैं। यह द्रुतमध्यविलम्बितात्मा लय ताल में प्रतिष्ठित होता है। ताल गीत, नृत्य और वाद्य में एक लयात्मक आधार प्रदान करता है और लय ताल को नियन्त्रित करने का कार्य करता करता है। इस प्रकार वर्धमान आदि गीत और वाद्योपकरणसहित नृत्त दोनों अदृष्ट फलविशेष के जनक है। इन दोनों में गुणप्रधान भाव स्वेच्छा पर निर्भर है। यदि गीत की प्रधानता होगी तो गीत उसका अङ्ग होगा। जैसा कि आगे कहा आयगा—

"मद्रक आदि गीतों में किसी एक गीत की योजना करनी चाहिए और जहाँ पर ताण्डव नृत्त का प्रयोग होता है वहाँ वर्धमान गीत की योजना करनी चाहिए" (ना शा. ५।१३)

इस प्रकार 'ताण्डवं यत्र युज्यते' इस चतुर्थ चरण के अनुसार यहाँ पर ताण्डव की प्रधानता है और गीत ताण्डव की उपयोगी नाट्य में नृत्त और गीत दोनों अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिए नाट्य में कर, चरण, चारी, मण्डल आदि उपयोगी अङ्गों के स्वरूप अथवा लय आदि की व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार ध्रुवागान आदि के विषय में भी समझना चाहिए। वही ध्रुवा कभी द्रुत होती है, कभी विलम्बित होती है और कभी दोनों होती है। उसमें भी प्रयोज्य चित्तवृत्तियों के अनुसार गीत का गायन होता है। यहाँ पर नाटय में तो नृत्त और गीत दोनों अङ्ग अपने में प्रतिष्ठित हैं। नृत्त और गीत में तो जैसा लय, ताल, यति, स्वर, गान आदि बतलाया गया है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकार वेद अथवा मन्त्रों में स्वर आदि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। किन्तु नाट्य में तो योग्यता के अनुसार अङ्गाङ्गिभाव होता है। जिस प्रकार 'मत्तस्खलित' अङ्गहार में गीत आदि के मध्य में प्रवाह-प्राप्त लय आदि का अन्यथा (विपरीत) प्रयोग नहीं करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार 'गुण प्रधान के अनुबन्धी होते हैं' इस सिद्धान्त का यहाँ सङ्कोच नहीं होता। किन्तु इन दोनों में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर भी जिसका जिसके साथ मेल खाता है उसका उसके साथ प्रयोग होता है, इतना ही अङ्गाङ्गिभाव है।

अब पिण्डीबन्ध के भेदों को कहते हैं। ये पिण्डीबन्ध आधार, अङ्ग, प्रयोग और साधकतम भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ आधार पद से स्थानगत भेद गृहीत होता

[1]ईश्वरस्येश्वरी पिण्डी नन्दिनश्चापि पट्टसी[2] ।
चण्डिकाया भवेत्पिण्डी [3]तथा वै सिंहवाहिनी ॥ २५९ ॥
तार्क्ष्यपिण्डी भवेद्विष्णोः पद्मपिण्डी स्वयम्भुवः ।
शक्रस्यैरावती पिण्डी [4]झषपिण्डी तु मान्मथी ॥ २६० ॥
शिखिपिण्डी कुमारस्य [5]रूपपिण्डी भवेच्छ्रियः ।
धारापिण्डी च जाह्नव्याः पाशपिण्डी यमस्य च[6] ॥ २६१ ॥
वारुणी च नदीपिण्डी [7]याक्षी स्याद्धनदस्य तु[8] ।
हलपिण्डी बलस्यापि[9] सर्पपिण्डी तु भोगिनाम् ॥ २६२ ॥
गणेश्वरी महापिण्डी[10] दक्षयज्ञविमर्दिनी ।
[11]त्रिशूलाकृतिसंस्थाना रौद्री स्यादन्धकद्विषः[12] ॥ २६३ ॥

एवं तत्र प्रधानदेवतोद्देशेन तावत् पिण्डीबन्धान्दर्शयति श्लोकपञ्चकेनेश्वरस्येत्यादिना ।

है । स्थान भेद अर्थात् सप्तलोक के भेद से आधारगत सात भेद होते हैं, इसी प्रकार दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र और एक शिर ये अङ्गगत सात भेद हैं । इस प्रकार एक-एक के सात-सात भेद होने से उनचास भेद होते हैं और प्रयोगगत चार भेद होते हैं । प्रयोक्ता एक हो अथवा अनेक और वह भी समप्रयोग हो अथवा विषमप्रयोग इस प्रकार प्रयोगगत चार भेद होते हैं । इसी प्रकार साधकगत चार भेद भी होते हैं । इस प्रकार आठ भेदों से उनचास भेदों में गुणा करने पर कुल ३९२ भेद होते हैं । अङ्गहारों और करणों से सम्पादित होने पर इनके अनेक भेद हो सकते हैं ॥ २५८ ॥

इस प्रकार यहाँ प्रधान देवताओं का नाम संकीर्त्तन करके 'ईश्वरस्य' इत्यादि पांच श्लोकों के द्वारा पिण्डीबन्धों को दिखाते हैं—

अनुवाद—ईश्वर की पिण्डी का नाम ईश्वरी है, नन्दी की पिण्डी का नाम पट्टसी और चण्डिका की पिण्डी का नाम सिंहवाहिनी है । विष्णु की पिण्डी का

---

१. क-म. त. ऐश्वरी वृषपिण्डी च । २. घ. पट्टिसी । ख. पादसी । ३. क-न. ब. तथैव ।
४. ग. झषा स्यात्मन्मथस्य तु । घ. झषा पिण्डी तु मान्मथी ।
५. घ. ऊलूपिण्डी । ६. ख. घ. तु । ७. क- ङ. व. यक्षा ।
८. ख. घ. च । ९. ख-घ. बलस्याद्य ।
१०. क-अ. वज्रपिण्डी च लौहिकी । त. द. कालपिण्डी तु लौहिकी ।
११. क-अ. त्रिपुरान्तकरी रौद्री तथा दक्षमखस्य च ।
१२. ख. स्यादन्तकद्विषः ।

भगवत एव प्राधान्यात् परितोषणीयतेति तस्याव्यक्तं यदीश्वरशब्दवाच्यं निर्विशेषं रूपं तस्य तादृश एव शिवलिङ्गाकृतिः पिण्डीबन्धः। पिण्डी आधाराङ्गादिसङ्घातः। तया बध्यते बुद्धौ प्रवेश्यते तनुभावेन सकलया वा व्योमादाविति पिण्डीबन्ध आकृतिविशेषः। तस्यैकदेशाभिधानं पिण्डीति। यदि वा पिण्डीविशिष्टान्येव तान्याहेति। आवध्यते पुनरनेनेति पिण्डीबन्धः करणाङ्गहारादिः। अन्ते च भगवत एव व्यक्तरूपस्य पिण्डीबन्धो भविष्यति।

परमेश्वरानन्तरं च प्रधानभूतस्य पिण्डीबन्धलक्षणविधायिनो नन्दिनः। पट्टसी[1] उभयत्र त्रिशूलाकृतिरायुधविशेषः। तदनन्तरं भगवत्याः। सिंहश्चासौ वाहनश्च तस्यैवमिति। आक्रान्ततया। भूमिर्वा[2] लिङ्गस्य सिंहः। तदाकृतिकत्वं दर्शयति। तदनन्तरं विष्णोर्ब्रह्मणश्च। ऐरावतीति गजाकारा। रूपपिण्डी स्वाकारा (पद्माकारा)। धारापिण्डी पुनः पुनः प्रयुज्यमाना नदीपिण्डी भवति। याक्षी वैश्रवणायुधः मुद्गराकारा॥ २५९-२६३॥

नाम तार्क्ष्य, स्वयंभू (ब्रह्मा) की पिण्डी का नाम पद्म, इन्द्र की पिण्डी का नाम ऐरावती और मन्मथ (काम) की पिण्डी का नाम झष है। कुमार (स्कन्द) की पिण्डी शिखी, श्री (लक्ष्मी) की पिण्डी रूप (उल्लू), जाह्नवी की पिण्डी धारा और यम की पिण्डी पाश है। वरुण की पिण्डी नदी, कुवेर की पिण्डी याक्षी, बलराम की पिण्डी हल और सांपों की पिण्डी सर्प है। गणेश्वर की पिण्डी दक्षयज्ञविमर्दिनी नामक महापिण्डी और अन्धकासुर का वध करने वाले शङ्कर को त्रिशूल के आकार की रौद्री नामक पिण्डी होती है॥ २५९-२६३॥

अभिनव—भगवान् को ही प्रमुख रूप से परितुष्ट करना है, इसलिए उसका जो ईश्वर शब्द वाच्य निर्विशेष रूप है, इसका वैसा ही शिवलिङ्गाकृति पिण्डीबन्ध है। पिण्डी का अर्थ है आधारभूत हस्तपादादि अङ्गों का संघात। उससे जो बांधा जाय अर्थात् सूक्ष्म रूप से अथवा व्योमादि रूप से समस्त कलाओं से बुद्धि में प्रवेश करे वह आकृतिविशेष पिण्डीबन्ध है। उसके एकदेश का नाम पिण्डी है अथवा पिण्डीविशिष्ट ही उन नामों को कहते हैं। जिसके द्वारा बांधा जाता है, उसे पिण्डीबन्ध कहते हैं, वे करण, अङ्गहार आदि हैं। अन्त में भगवान् के ही व्यक्तरूप का पिण्डीबन्ध होगा।

परमेश्वर के बाद प्रधानभूत पिण्डीबन्ध का लक्षण बनाने वाले नन्दि (नन्दी) के पिण्डीबन्ध का नाम पट्टसी है। पट्टसी दोनों ओर से त्रिशूल के आकार का एक आयुधविशेष है। उसके बाद चण्डिका को पिण्डीबन्ध सिंहवाहिनी अर्थात् सिंह रूपी वाहन है अथवा चण्डिका से आक्रान्त होने से सिंह लिङ्ग (चिह्न) है। इसप्रकार

---

१. क. पट्टसः। २. क-म. मिश्रामिवालिङ्गस्य।

वाहन रूप सिंह का आकार होने से यह पिण्डी लिङ्ग की भूमि है और पिण्डी उसकी आकृति है। इसके बाद विष्णु और ब्रह्मा को पिण्डी दिखाते है। तत्पश्चात् इन्द्र की पिण्डी ऐरावती गजाकार पिण्डी है। रूपपिण्डो अपने आकार वाली होती है। जाह्नवी की पिण्डो का नाम धारापिण्डो है। बार-बार प्रयोग की जाने वाली धारापिण्डी नदीपिण्डो होती है। याक्षी पिण्डी कुबेर के आयुध मुद्गर के आकार की होती है ॥ २५९-२६३ ॥

विमर्श — नाट्यशास्त्र में विभिन्न देवताओं की पिण्डियों का वर्णन किया गया है। प्रथम ईश्वर की पिण्डी ईश्वरी का वर्णन है। अभिनवगुप्त के अनुसार ईश्वर की पिण्डी अव्यक्त निर्विशेष रूप शिवलिङ्गाकृति है। घोष ने पाठभेद के आधार पर शिव की बृषपिण्डी मानी है। शिव के प्रमुख गण नन्दी की पिण्डी का नाम 'पट्टसी' हैं। पट्टस त्रिशूल की आकृति का एक आयुध है जिसके दोनों ओर शूल होता है। चण्डिका की पिण्डी सिंहवाहिनी है, चण्डिका का वाहन सिंह है। अतः वाहन के आधार पर इसका नाम 'सिंहवाहिनी' रखा गया। विष्णु का वाहन तार्क्ष्य (गरुड़) है इसलिए वाहन के आधार पर विष्णु की पिण्डी का नाम 'तार्क्ष्य' रखा गया। ब्रह्मा कमल (पद्म) से उत्पन्न माने जाते हैं, इसलिए ब्रह्मा के पिण्डी का नाम 'पद्म' रखा गया है। इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी है, अतः इन्द्र की पिण्डी का 'ऐरावती' नाम दिवा गया है। मन्मथ कामदेव का नाम है। कामदेव के ध्वज का चिह्न मत्स्य (मछली) है, अतः इनकी पिण्डी का नाम 'झष' रखा है। कार्त्तिकेय का वाहन मोर है, इसलिए वाहन के आधार पर स्कन्द (कार्त्तिकेय) की पिण्डी का नाम 'शिखिपिण्डी' है। श्री (लक्ष्मी) की पिण्डी का नाम 'रूप' है। अभिनव गुप्त ने स्वाकार अर्थात् पद्माकार होने से इसे रूपपिण्डी माना है। घोष ने रूपपिण्डी के स्थान पर 'ऊलूपिण्डी' पाठ मानकर लक्ष्मी के वाहन "उल्लू (उलूक) के नाम पर लक्ष्मी की पिण्डी का नामकरण किय है। नदी की धारा से सम्बन्धित होने से जाह्नवी की पिण्डी का नाम 'धारापिण्डी' है। यम का पाश से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए यम की पिण्डी का नाम 'पाश' रखा गया है। बरुण की पिण्डी का नाम नदीपिण्डी है। धारा-पिण्डी के बार-बार प्रयोग किये पर नदीपिण्डी होती है। कुबेर की पिण्डी याक्षी है। याक्षी कुबेर का मुद्गराकार आयुध है। इसी आधार पर कुबेर की पिण्डी का नाम 'याक्षी' पड़ा। बलराम का आयुध हल है इसलिए इनकी पिण्डी का नाम 'हलपिण्डी' रखा गया है। नाग देवता की पिण्डी का नाम 'सर्पपिण्डी' है। गणेश्वर की पिण्डी का नाम दक्षयज्ञ-विमर्दिनी महापिण्डी है। शिव के प्रमुख गणों ने ही दक्ष के यज्ञ को विध्वंस किया था, अतः इस आधार पर इनकी पिण्डी का नाम 'दक्षयज्ञविमर्दिनी' पड़ा। इस पिण्डीबन्ध का सम्बन्ध गणेश्वर गणपति से जोड़ा जा सकता है। अन्धकासुर का वध करने वाले रुद्र की पिण्डी का नाम पट्टसी है, जो त्रिशूल की आकृति की मानी गई है। ॥ २५९-२६२ ॥

एवमन्यास्वपि तथा देवतासु यथाक्रमम् ।
[1]ध्वजभूताः प्रयोक्तव्याः पिण्डीबन्धाः [2]सुचिह्निताः । २६४ ।

एवं प्रतिपाद्याभिधायान्यत्रापि दर्शयत्येवमित्यादिना । अन्यास्विति । तृतीयाध्याये पूज्यत्वेन निरूपितासु । तदभिप्रायेणैव यथाक्रममित्युक्तम् । ध्वज-पूजाहुत्यायुधवाहनविशेषरूपाः । सचिह्नका[3] इत्यनेनापि केनचित्कर्मादि(क्रमादि) सूचकेन रूपेणोपलक्षिताः ।

एतदुक्तं भवति--या काचिद्देवतेत्युच्यते तस्याः पश्चान्नृत्तेन परितोषणं कार्यम् । तन्मध्ये च तदीयायुधवाहनकर्मभावाद्यनुकारी अङ्गप्रयोगो विधेयः । अत एव "पादाग्रस्थितया" (रत्ना १-१) इत्यत्र तलपुष्पपुटकरणेन कर्मणा विशेषसूचकेन भगवत्याः परितोषणं सम्पाद्यते । "तिलके च करः स्थाप्य" (६४ करणम्) इत्यभिनयेन भगवतः परितोषः । "निकुट्टितौ यदा हस्तौ" (९ करणम्) इत्यनेन त्रिशूलाकृतिर्या कायसम्पत्तिः । गरुडप्लुतकेन तार्क्ष्याकार-गतिसूचनम् । गङ्गावतरणेन धारापिण्डी । नागापसर्पितेन भोगिपिण्डी । "प्रसार्यो-

---

अनुवाद—इसी प्रकार क्रमानुसार अन्य देवताओं की पिण्डियों के नाम भी होते है । इस प्रकार अपनी अपनी ध्वजाओं से चिह्नित पिण्डीबन्धों का प्रयोग करना चाहिए ।। २६४ ।।

अभिनव—इस प्रकार प्रतिपाद्य अर्थों को कहकर 'एवम्' इत्यादि के द्वारा अन्य देवताओं में भी इसे दिखाते हैं । 'अन्यासु' का अभिप्राय है तृतीय अध्याय में पूज्य रूप में जिनका निरूपण किया गया है उन देवताओं में । उसी अभिप्राय से 'यथाक्रम' यह कहा गया है । ध्वज, पूजा आहुति, आयुध, वाहन विशेष रूप हैं । 'सुचिह्निताः' पद से उन-उन देवताओं के कार्यो के सूचक रूप से प्रतीत होने वाले चिह्न ग्राह्य है ।

यह कहा गया है कि--जो कोई देवता कहे जाते हैं, उन देवताओं का भी पीछे नृत्त के द्वारा परिपोषण करना चाहिए और उनके बीच में उन्हीं देवताओं के आयुध, वाहन, कर्म और भावों का भो आङ्गिक अनुकरण (अभिनय) किया जाता है । अतएव 'पादाग्रस्थितया' इस श्लोक में कर्म विशेष के सूचक तलपुष्पपुट करण से भगवती का परितोषण किया जाता है । 'तिलके च करः स्थाप्यः' अर्थात् 'हाथ को तिलक लगाने की मुद्रा में मस्तक पर रखना चाहिए' इस लक्षण वाले निशुम्भित करण के द्वारा भगवान् का परितोष किया जाता है । "निकुट्टितौ च यदा हस्तौ"

---

१. ख. ग. वज्रभूताः २. घ. स्वचिह्निता। क-म. स्वचिह्नकाः । क-अ. सुचिह्नकाः ।
३. क-म. स्वचिह्नकाः ।

त्क्षिप्य च करौ" इत्यङ्गहारेण (ना. शा. ४-१७४) [१]आकारीयभौमत्रिशूल-शिवलिङ्गादिपिण्डीनिष्पत्तिः । रेचितेनाक्षिप्तरेचितेन च समस्तानामुक्तानां [२]चाधाराद्यनन्तभेदानां निष्पत्तिः । तथा च नन्दिमत उक्तम्—

"रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः ।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत्" ॥ इति ।

एवमन्यदप्यूह्यमित्यनुपयोगात्समस्तं न लिखितम् । आगमभ्रंशरक्षणाय तु दिङ्-निरूपिता ॥ २६३ ॥

अर्थात् दोनो हाथ शिर और बाहु की बीच में निकुट्टित हो और दोनों पैर भी निकुट्टित हो" इस लक्षण से लक्षित निकुट्टक करण के प्रयोग से त्रिशूलाकृति शरीर सम्पत्ति सूचित होती है। गरुड़प्लुतक करण से धारापिण्डी का और नागापसर्पित करण से भोगिपिण्डी का अभिनय होता है। इसी प्रकार "प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ" (ना. शा. ४१७४) इस स्थिरहस्त नामक अङ्गहार से आकार वाले भौम, त्रिशूल, शिवलिङ्ग आदि पिन्डीबन्धों की निष्पत्ति को सूचित किया जाता है। रेचित और आक्षिप्तरेचित अङ्गहारों के प्रयोग से सभी कथित देवताओं के आधार आदि अनन्त भेदों की निष्पत्ति कही गई है। जैसा कि नन्दि (नन्दिकेश्वर) के मत में कहा गया है—

"जो दो प्रकार का रेचित नामक अङ्गहार बताया गया है। उनके प्रयोग से सभी देवता पूर्ण रूप से प्रसन्न होते हैं, इसलिए 'ताण्डव' नृत्त में उनका प्रयोग करना चाहिए।"

इसी प्रकार अन्य बाते भी समझनी चाहिए, उनका यहाँ उपयोग न होने से समस्त बातें नही लिखी गई हैं। नाट्यशास्त्र (ागमशास्त्र) के विनाश से रक्षा के लिए यहाँ दिङ्मात्र प्रदर्शित किया गया है ॥ २६४ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि इसी प्रकार अन्य देवताओं के पिण्डीबन्धो उनके आयुध-वाहनादि के अभिनय के सम्बन्ध में समझना चाहिए जिनका तृतीय अध्याय में पूज्य रूप में निरूपण किया गया है। पिण्डीबन्धों के द्वारा उन-उन देवताओं का परितोष किया जाता है और उन-उन देवताओं के आयुध वाहन आदि के भावों का आङ्गिक अभिनय किया जाता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार रेचित नामक अङ्गहार के प्रयोग से सभी देवता प्रसन्न होते हैं, इसलिए ताण्डव में उनका प्रयोग करना चाहिए ॥२६४॥

१ क. आधारीयभौम० ।
२. क. चाराद्यनन्तभेदानां ।

[1]रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च ।
[2]सृष्ट्वा भगवता [3]दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ।। २६५ ।।
[4]तेनापि हि ततः [5]सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ।
[6]नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः ।। २६६ ।

एतदुपसंहरति--रेचका इति ।

पिण्डीबन्धग्रहणेन शिखिपिण्डप्रभृत्युपायमयूरललितादिकरणसङ्ग्रहः । अतएवानया केवलस्यापि करणस्य देवतापरितोषणेनादृष्टार्थं प्रयोगः । यथा विष्णुक्रान्तस्य [7]वक्रमण्डलस्य च वैष्णवक्रीडासूचकस्य सः । एवकारेणाङ्गहारप्रयोगनान्तरीयकपिण्डीबन्धसम्बन्धः । अङ्गहारा एव पिण्डीबन्धाः तथान्येऽपि पिण्डीबन्धा इति केवलकरणसङ्ग्रहः । चकारात्पिण्डीबन्धनिष्पत्त्युपायत्वं करणद्वयस्यापि यदा विद्यते अन्यस्य करणसमूहात्मनः कल्पितस्याङ्गहारस्य वा । तस्यापि प्रयोगे प्रत्यनुज्ञानमाह । एतदर्थमेव नृत्तमातृकाया लक्षणमङ्गहाराणां च सामान्यलक्षणं प्रणीतम् ।

इसका उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद भगवान शङ्कर ने रेचकों, अङ्गहारों और पिण्डबन्धों की रचना करके तण्डु मुनि को प्रदान किया । तदनन्तर तण्डु मुनि ने गान तथा भाण्डवाद्यों से अच्छी तरह समन्वित कर जिस नृत्यप्रयोग का रचना की, वह 'ताण्डव' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।। (२६५-२६६ ।।

अभिनव—यहाँ पर पिण्डीबन्ध शब्द के ग्रहण से शिखिपिण्डी आदि के उपायभूत मयूरललित आदि करणों का संग्रह होता है । इसलिए इस रीति से देवताओं के परितोषण से उत्पन्न अदृष्ट फल के लिए केवल करण का भी प्रयोग होता है । जैसे वैष्णवक्रीड़ा के सूचक विष्णुकान्त और चक्रमण्डल करणों का प्रयोग होता है । 'तथैव' में एवकार के प्रयोग से यह सूचित होता है कि अङ्गहारों के प्रयोग में पिण्डीबन्धों का आवश्यक (अनिवार्य) सम्बन्ध होता है । यद्यपि अङ्गहार हो पिण्डीबन्ध है, तथापि अन्य भी पिण्डीबन्ध होते हैं, इसलिए केवल करणों का संग्रह किया गया है ।

१. ख. रेचिताश्चाङ्गहाराश्च । घ. रेचकाश्चाङ्गहाराश्च ।
क-न. म. रेचकांश्चाङ्गहारांश्च पिण्डीबन्धांस्तथैव च ।
२. क-ढ़. व. सृष्टाः ।
३. ख दत्तस्ताण्डचाय मुनये तथा ।
४. ख. ताण्डिनापि ततः ।
५. क-अ. सम्यक्तानभाण्डसमन्वितः ।
६. ख. नृत्यप्रयोग। । क-ख. नृत्तप्रयोग। संसृष्टो यस्ताण्डवमिति स्मृत। ।
क-अ. नृत्तप्रयोग। सृष्टोऽयं यत्ताण्डवमिति स्मृतम् ।
७. क-म. चक्रमुक्तस्य ।

सृष्ट्वेति। ननु स्मृतं नृत्तं सन्ध्याकालेष्वित्यनेनैतद्विरुद्धयते। न। स्थानकचारीनृत्तहस्तभ्रूताराकर्मादीनां वर्णानामिव प्रवाहानादित्वेऽपि विशिष्टपरमात्मना(नः) शोभाविशेषेण भगवता पुनः निर्माणं वेदानामिवेत्यविरोधः। वेदरचनापि हि वर्णानां नित्यत्वेऽपि प्रतिप्राणिस्थानकरणाभिघातसम्पत्त्यभिव्यक्तपौर्वापर्यनिबन्धना कृतका। सा परं पूर्वपूर्वरचनासजातीयत्वप्रवाहेणानित्या। तथा नत्तमपीति न कश्चिद्विरोधः[1]।

दत्ता इति। या तन्त्रा(स्वातन्त्र्य)मनुजानानो निजबुद्धिकृतं यत्तेन तत्र वैचित्र्यमनुप्रवेशितं न तद्दृष्टप्रतिघातीति दर्शयति। तेन शोभाप्राधान्यमेवात्र ज्याय इत्यनद्यतन इति यावल्लक्ष्यं न विरूपमिति मन्तव्यम्। मुनये इत्यूहापोहादिकुशलाय।

चकार पद से यह कहा गया है कि जब पिण्डीबन्ध की निष्पत्ति के उपायत्व दो करणों में विद्यमान है तो करणसमूह रूप कल्पित अङ्गहार भी पिण्डीबन्ध की निष्पत्ति के उपाय है। अतः उन अङ्गहारों के प्रयोग के लिए भी अनुज्ञा कह दी है। इसीलिए ही नृत्तमातृका का लक्षण और अङ्गहारों का सामान्य लक्षण बनाया है।

अभिनव-सृष्ट्वा इत्यादि—यहाँ पर 'सृष्ट्वा' अर्थात् रचना करके यह कहा गया है। अब प्रश्न उठता है कि नृत्त बहुत प्राचीन है। भगवान् 'शिव ने सन्ध्याकाल में उसका स्मरण किया था इस कथन से 'सृष्ट्वा' अर्थात् 'रचना करके' का विरोध परिलक्षित होता है। इस पर कहते हैं–नहीं। जैसे वर्णो के प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी परमात्मा ब्रह्मा जी के द्वारा वेदों के निर्माण में कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार स्थानक, चारी, नृत्त, हाथ, भौंह, तारा आदि के कर्म में प्रवाहरूप से अनादिता होने पर भी विशिष्ट परमात्मा के द्वारा शोभा के विशेष हेतुभूत नृत्त का पुनः निर्माण किया, यह कहा गया है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं। जिस प्रकार वर्णों के नित्य होने पर भी प्रत्येक प्राणियों के मुखगत तालु आदि स्थान और प्रयत्न अभिघात से अभिव्यक्त वर्णों के पौर्वापर्य के कारण वेदों की रचना नवीन नहीं कही जाती और वह रचना पूर्वरचना के सजातीय रूप प्रवाह के कारण नित्य है उसी प्रकार नृत्त (नृत्य) भी नित्य है। इसलिए उक्त कथन से कोई विरोध नहीं है।

'दत्ता' अर्थात् दिया, उससे स्वतन्त्रता की अनुज्ञा देते हुए अपनी बुद्धि से उत्पन्न जो विचित्रता उसमें अनुप्रविष्ट की गई उससे दृष्ट फल का प्रतिघात नहीं होता, यह 'दत्ता' पद से दिखाया गया है। इसलिए यहाँ नृत्त में शोभा की प्रधानता ही श्रेष्ठ है, इसलिए आजभी लक्ष्य विकृत नहीं हुआ है, यह मानना चाहिए। मुनि का अर्थ है ऊहापोह अर्थात् तर्क-वितर्क में कुशल। अतः तर्क-वितर्क में कुशल मुनि को नृत्त की शिक्षा दी।

1. क. किञ्चिद्विरोधः।

हि यस्मात् अर्था यतो दत्ताः अतो नृत्तात्मकः प्रयोगः सम्यग्वैचित्र्येण। (स्पष्टः) सृष्टः। सम्यगिति समञ्चिततालसाम्यात्मिका[1] सङ्गेति (अञ्चन्ति) गच्छन्तीति सम्यग्भूतं यद्गानं गीतम्। भाण्डं भणति शब्दं करोतीति [2]भडितव्य इत्यनया वा पुष्कराध्यायोदितया व्युत्पत्त्या (तदादि)तदिति। इह तद्गीतं वाद्यं च सम्यगञ्चितं तदनुसारि। तत्प्रधानतया नृत्तप्रधानत्वेन गीतेन वाद्येन च समन्वितः। अत एव तण्डोरयं ताण्डव इति वैयाकरणैः स्मृतम्।

अत्र भरतमुनिरेव परकीयामाशङ्कामुपनिबध्नाति। अनभिज्ञानाच्च मुनीनामभिनयादीनामप्यविदुषां कथम् 'अभिनयः कृत' इति गीतकार्थेति गीतेष्वासारितेष्विति च वचनोपपत्तिस्स्यात्। (न)। तस्मान्मुनिरेवेदं स्वयमाशङ्कते। पूर्वपक्षत्वेन वा शङ्केयमिति प्रकटयितुं [3]सुकुमारमिति (सुकुमारमतिभिः) मध्ये 'ऋषय ऊचुः' इति प्रक्षिप्तम्।

क्योंकि शिव ने तण्डु मुनि को नृत की शिक्षा दी थी, इसलिए मुनि ने अच्छी तरह विचित्रता के साथ नृत्त का सम्पादन किया। 'सम्यक्' शब्द सम् और अञ्च् से मिलकर बनता है 'सम् अञ्चन्ति गच्छन्ति इति सम्यक्'। सम् का अर्थ है ताल और लय, उसे जो प्राप्त करता है वह सम्यक् है। इस प्रकार ताल और लयात्मक गान (गीत) और भाण्ड से समन्वित नृत्तप्रयोग। भाण्ड का अर्थ है वाद्ययन्त्र। 'भणति शब्दं करोति इति भाण्डम्' अर्थात् जो शब्द करता है ऐसे आनद्ध वाद्य को भाण्ड कहते हैं अथवा पुष्कराध्याय में कही गई व्युत्पत्ति के अनुसार भाण्ड-वाद्य है। (भणति इति भाण्डं पुष्करम्)। यहाँ पर गीत और वाद्य दोनों समन्वित होकर नृत्त का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार मुख्य (प्रधान) होने से नृत्त गीत और वाद्य से समन्वित होता है। इसीलिए वैयाकरणों ने 'तण्डोरयं ताण्डवः' अर्थात् तण्डु का यह कार्य ताण्डव है, यह व्युत्पत्ति की है॥ २६४-२६५॥

यहाँ पर भरतमुनि ही दूसरे की आशङ्का को उपस्थित करते हैं। मुनियों को अभिज्ञान अर्थात् अभिनय के विषय में जानकारी न होने से अभिनय के अजानकार लोगों द्वारा 'अभिनय किया' 'गायन किया' तथा 'गीतेष्वासारितेषु' (आसारित गीतों में) इन वचनों की उपपत्ति कैसे होगी? इसलिए मुनि स्वयं आशङ्का करते हैं अथवा पूर्वपक्ष के रूप में इस आशङ्का को प्रकट करने के लिए सुकुमारता की बुद्धि से दो श्लोकों के बीच में 'ऋषय' ऊचुः' (ऋषियों ने कहा) यह प्रक्षिप्त कर दिया है।

---

१. साम्यातिका।

२. क-भडितव्याण्ण।

३. क–म. सुकुमारमतिर्हि मध्ये।

तत्रेत्थमाशङ्का। नृत्तं नाटचाद्भिन्नमभिन्नं वा। भिन्नत्वेऽपि सप्रयोजनमप्रयोजनं वा। न तावद्भिन्नम्। अङ्गविक्षेपनृत्तगीतवत्त्वेनावैलक्षण्यात्। अभिनयप्रयोगस्य गीयमानपदार्थवाक्यार्थगतनाटचविषयस्य[1] भाव्यविकलस्य दर्शनमस्ति तावत्। अवान्तरवैलक्षण्यं च दर्शनरूपके न विद्यते। एकपात्रहार्ये[2] त्वसन्निहितेऽपि न [3]प्रियतमसखीप्रभृतौ तद्विषयोक्तिप्रत्युक्त्यादिप्रयोगो नाट्येऽपि। आकाशभाषितादौ भाणरूपके च विद्यते। ते च यथाह राहुलः—

> [4]"परोक्षोऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत्प्रियः।
> सखी च नाटचधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्" ॥ इति।

तथा—

भाणे चैकाकी वा यो योज्योऽनेकाङ्गहारिणि। मुनिना हि वक्ष्यते 'भाणकवच्चैकहार्यं स्यात्" इति। वार्तिककृताऽप्युक्तम्—

> "वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः।
> उभयोरपि हि समाने को भेदो [5]नृत्तनाटचयोः" ॥

मुनि स्वयं आशङ्का करते हैं। उनकी आशङ्का यह है कि नृत्त क्या नाट्य से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है तो किसी प्रयोजन से अथवा निष्प्रयोजन? इनमें प्रथम पक्ष कि नृत्त नाट्य से भिन्न है, यह ठीक नहीं। नृत्त नाट्य से भिन्न नहीं है। अङ्गविक्षेपरूप नृत्त और गीतवत्ता होने से नाट्य नृत्त से बिलक्षण नहीं है। नाट्य में गीयमान वाक्यार्थ रूप अभिनय का अविकल रूप से दर्शन होना है। दश रूपकों में अवान्तर वैलक्षण्य नहीं है। क्योंकि एक पात्र द्वारा अभिनेय नाट्य में (रूपकों में) प्रियतम, सखी प्रभृति पात्रों के पास में न होने पर भी उनकी उक्ति और प्रत्युक्ति आदि का प्रयोग आकाशभाषित और भाण आदि रूपकों में रहता है। जैसाकि राहुल ने कहा है—

"परोक्ष में भी नारी को प्रत्यक्ष की तरह प्रिय को प्रिय तथा सखी को सखी कहना चाहिए। यह नाट्यधर्म है। भरत ने दोनों को कहा है।"

और भी—

अनेक अङ्गों से मनोहर एक पात्र द्वारा अभिनय करना चाहिये। जैसा कि मुनि भी आगे कहेंगे—"भाण के समान एकपात्र द्वारा अभिनेय रूपक होता है।" वार्तिककार ने भी कहा है—

---

१. क–नाठ्यार्थगतविषयत्वे। २. क-एकपात्राहार्य।
३. क. प्रियसमसखिप्रवृत्तौ। ४. क. परोक्षेऽपि च।
५. क नृत्तनाटयगतः।

अत्रोच्यते। (यदि साक्षाद्बुद्ध्यभावान्न नाट्यं तदसत्। इयं प्रियतम-गुणकीर्तनपरा नृत्यति। खण्डिता नृत्यति। कलहान्तरिता नृत्यति इति बुद्धेः सम्भवात्। यदाह—

"या चैवंविधगुणकीर्तनवचनेषु प्रियतमस्य संरक्ता।
सख्याः समक्षमुच्चैः प्रमदा सैवानुकार्याऽत्र"॥

एतेनोत्साहगातव्यानामर्थेऽनुकार्यत्वं दर्शितम्।

अथ [1]गीयमानरूपकाभिनयदर्शनात् नाट्यतो वैलक्षण्यं न तत्तावत्। वैलक्षण्यमात्रप्रयोजकावान्तरभेदस्य सर्वत्र सम्भवादिति ह्युक्तम्। न चेवं वैलक्षण्यम्। नाट्येऽपि तस्य भावात्। वक्ष्यते [2]चाङ्गोपाङ्गकशारीराभिनय-लक्षणविधौ।

"स्थाने ध्रुवास्वभिनयो यत् क्रियते हर्षशोकरोषाद्यैः।
भावरससप्रयुक्तं ज्ञेयं नाट्यायितं तच्च"॥ इति। (ना. शा. २२-४७)

"नाट्य में (अभिनय) में वाणी का अनुगमन करते हुए अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए गात्रविक्षेप होता है और नृत्त में भी गात्रविक्षेप किया जाता है। इस प्रकार जब दोनों में समानता है तो नाट्य और नृत्त में अन्तर क्या है?"

इस पर कहते हैं कि नृत्त में साक्षात् बुद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से नृत्त नाट्य नहीं हो सकता, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रियतम के गुणों के कीर्त्तन में तत्पर हुई यह नायिका नाच रही है, यह खण्डिता नायिका नाच रही है, यह कलहान्तरिता नाच रही है, इस प्रकार की साक्षात्बुद्धि सम्भव है। जैसाकि कहा है—

"जो प्रमदा (नायिका) सखी के समक्ष प्रियतम के इस प्रकार के गुणों के कीर्त्तन में अनुरक्त है वही नायिका अनुकरणीय है।"

इससे उत्साहमय गीतों के अर्थ का अनुकार्यत्व दिखाया गया है अर्थात् यहाँ यह दिखाया गया है कि गेय (गीयमान) अर्थ अनुकरणीय है।

यदि यह कहा जाय कि गीयमान वर्थ वाले रूपकों में अभिनय का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से नाट्य से नृत्त विलक्षण होता है, यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि वैलक्षण्य मात्र का (केवल विलक्षणता) का प्रयोजन अवान्तर भेद सब जगह सम्भव है, यह कहा जा चुका है। किन्तु यह विलक्षणता नहीं है। क्योंकि नाट्य में भी तो वह विलक्षणता होती है। यह सब अङ्गोपाङ्ग अर्थात् आङ्गिक शरीराभिनय के लक्षण प्रतिपादन के अवसर पर कहेंगे।

"ध्रुवाओं में हर्ष, शोक, रोष आदि से युक्त जो अभिनय किया जाता है, भाव एवं रसों से युक्त वह अभिनय ही नाट्य कहा जाता है।" (ना० शा० २२।४७)।

१. क-म. गीयमानं नाट्याभिनयदर्शनात्।
२. क-म. पाद्यकशारीराभिनय लक्षणविधौ।

उपरञ्जकमपि तत्र गीतं नाट्यायितं रूपकं वाद्याभिनययोश्च व्यक्त इति। तत्प्रयोगस्य (तत्प्रयोगश्च) सर्वत्र। डोम्बिकाप्रस्थानषिद्गकभाणकभाणिकाराग-काव्यादेर्दशरूपकलक्षणेनासङ्ग्रहान्नाट्याद्भेद इति चेत्। तदैकान्तिकम्। तोटक-प्रकरणिकारासकप्रभृतेस्तदसङ्गृहीतस्यापि नाट्यरूपत्वात् "कोहलस्तु ब्रवीति" इति च परिहारस्य समानत्वात्। वाचिकोऽप्यभिनय आसीनपाठ्यादौ क्वचिद-स्त्येव। "अहो गाणगाणबुल्लिभाण" इत्यादौ। आहार्यस्तु प्राधान्येनैकः कृतः भाणादावपि न क्षणे क्षणे परिवर्तते। सात्त्विकोऽप्यङ्गीकृत एव कोहलाद्यैः "सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयः" इत्यादिवचनमालिखद्भिः। आङ्गिकस्तु स्फुट एव। अस्त्री(अन्यस्त्री) [1]डोम्बिकाषिद्गकानामन्योन्यानन्वितत्वं वाक्यानामिव। समवा-कारेऽपि अङ्गानामस्त्रीप्रधानेऽर्थे तत्रान्वय इति चेदिहापि समानम्। देवतास्तुतेः स्त्रीपुंभावाश्रयस्य च शृङ्गारस्य सर्वानुगमात्तस्यैव च प्राधान्याद्वक्ष्यति—"देव-स्तुत्याश्रयकृतं स्त्रीपुंभावसमाश्रयम्"। इति। अत एव च चूडामणिडोम्बिकायां प्रतिज्ञातं "बिंदुगुणं वमि सहि इहोदिव त्रो अमिदुणधं। महसारकः गेते उं (?)"। अत एव सहृदयाः स्मरन्ति "वध(स)मचूडामणिआ" (इति।) तस्मान्नृत्तं [2]नाट्यदभिन्नं तल्लक्षणोपेतत्वात्।

वहाँ पर उपरञ्जक गीत भी नाट्यरूप है, क्योंकि वह वाद्य और अभिनय के द्वारा व्यक्त होता है। उसका प्रयोग सब जगह होता है। डोम्बिका, प्रस्थान, षिद्गक, भाण, भाणिका आदि रागकाव्यों का दशरूपक के लक्षण के अनुसार ग्रहण नहीं होता है, अतः उनका नाट्य से भेद है। किन्तु यह कथन एकान्तिक है। क्योंकि तोटक, प्रकरणिका, रासक आदि भी दशरूपक लक्षण से गृहीत नहीं हैं, किन्तु वे नाट्यरूप होते ही हैं। 'कोहल तो कहते हैं, यह परिहार दोनों जगह समान है। वाचिक अभिनय भी आसीन पाठ्य आदि में कहीं रहता ही है। जैसे, 'अहो ! गाओ गाओ इत्यादि में। आहार्य अभिनय तो प्रधान रूप से एक है, भाण आदि में भी क्षण-क्षण वेश-परिवर्त्तन नहीं होता। "सात्त्विक अतिरिक्त अभिनय है' इत्यादि वचन को लिखने वाले कोहल आदि आचार्यो ने भी सात्त्विक अभिनय को स्वीकार किया है। आङ्गिक अभिनय तो स्पष्ट ही है। प्रधान डोम्बिका, षिद्गक आदि नृत्तात्मक रागकाव्य वाक्यों के समान परस्पर अनन्वित रहते हैं। यदि जिसमें स्त्री प्रधान नहीं है, ऐसे समवकार में भी अङ्गों का अन्वय होता है तो वह यहाँ भी है। अतः दोनों में समानता है। देवताओं की स्तुति और स्त्रीपुंभाव के आश्रित शृङ्गार के सब जगह अनुगम होने से और उसी को प्रधानता होने से आगे कहेंगे—"देवस्तुत्याश्रयकृतमित्यादि"। इसलिए 'चूड़ामणि-डोम्बिका' में प्रतिज्ञा की है "बिंदुगुणं" इति। इसलिए सहृदय लोग कहते हैं— "समचूड़ामणिआ" इत्यादि। इसलिए नृत्त नाट्य से भिन्न नहीं होता है।

---

१. क-म. डोम्बी काचिद् ग्रन्थकाठिन्यानन्वितत्वं।

२. क-म. नाट्याद्भिन्नम्।

ऋषय ऊचुः—

[1]यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृतः[2] ।
[3]कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते ॥ २६७ ॥
[4]न गीतकार्थसम्बद्धं न चाप्यर्थस्य भावकम् ।
[5]कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च ॥ २६८ ॥

एतदाह—यदा प्राप्त्यर्थमिति । यतो हेतोरर्थानां काव्यार्थानां प्राप्त्यर्थं साक्षात्कारबुद्धया स्वीकारार्थं तज्ज्ञैः प्रयोक्तृभिराङ्गिकाद्यभिनयः कृतः । तत्र त(क)स्मादेतन्नृत्तं कृतम् । नृत्तशब्देन व्यपदिष्टम् । न तु नाटचशब्देनैवेत्यर्थः । भवतु वा भिन्नं तथापि कं स्वभावं लक्षणं च स्वात्मन्यङ्गीकरोति । लौकिकत्वं लोकोत्तरत्वं वा । लौकिकत्वे घटादिवस्तुतुल्यत्वं तदनुकारत्वं प्रतिबिम्बादिरूपता वा । तत्रापि नाटचाच्छायात्मकतैव । नाटचस्यैव ह्यमी भागनिष्पन्दाश्चित्रपुत्रिका-पुस्तप्रभृतयो ग्रन्थकारकल्पिताः साक्षात्कारकल्पप्रत्ययसम्पदा कथापर्यन्तम् । तथा लोकोत्तरत्वे न तु नाटचस्यैवावान्तरभेदभावं तत् ।

ऋषियों ने कहा—

अनुवाद—जब अर्थों को प्राप्त करने के लिए नाट्यवेत्ताओं ने अभिनव की योजना की तो उन्होंने नृत्त की सर्जना किसलिए की और उसके स्वभाव (स्वरूप, प्रकृति) की अपेक्षा क्या थी ? यह नृत्त न तो गीत के अर्थ से सम्बन्ध रखता है और न उसके अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो उसे आसारित गीतों से सम्बद्ध क्यों रचा गया ? ॥ २६७-२६८ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस कारण से काव्यार्थ की प्राप्ति के लिए अर्थात् साक्षात्कार बुद्धि के द्वारा उसे स्वीकार करने के लिए नाट्यप्रयोक्ताओं ने आङ्गिकादि अभिनय की योजना की तो उसी समय इस वृत्त को भी रचना की और उसे नृत्तशब्द से व्यपदिष्ट किया, तो नाट्यशब्द से व्यपदिष्ट क्यों नहीं किया ?

१. क-अ यथा । २. क-ब स्मृतः ।

३. ख. तस्मान्नृत्ते कृते ह्येतत् तत्स्वभावमपेक्षते ।
क-म. तस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं वा भावमपेक्षते ।
ग. तस्मन्नृत्तं कृत्तं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते ।

४. ख. न. गीतकार्थसम्बन्धो न वाच्यार्थस्य भावकम् ।
घ. न. गीतकार्थसम्बद्धं न वाच्यार्थस्य भावकम् ।

५. क-त. म. तस्मान्नृत्तं कृतम् ।

तथाविधमपि च तन्न निष्प्रयोजनम् । तद्भावाद्युपलक्षणीयं स्यात् । असिद्ध-मेतत्—चतुर्वर्गोपदेशस्य राघवविजयादिकरागकाव्येषु दृष्टत्वात् । डोम्बिकादौ तु कामस्यैव प्रच्छन्नरागपरमरहस्योपदेशात् । "यद्वामाभिनिवेशित्वम्" (ना. शा. २२-१९९) इत्यनेन सामान्याभिनये प्रच्छन्नरागस्यातीव देव(मन्मथ)सार-सर्वस्वत्वेनाभिधानात् । [1]सहसूकरभल्लूककासरादिवर्णनेनापि भाणप्रेरणभा-णिकादावप्रस्तुतप्रशंसार्थान्तरन्यासदृष्टान्तादिना पुरुषार्थस्यैवोपदेशदर्शनादिति प्रयोजनभेदादपि न भेदः । यदा यतोऽर्थानां प्राप्त्यर्थं तज्ज्ञैरनृता(नुवा) दिभिः (नृत्तानुरागिभिः) कविभिरभिनय इत्यभिनीयमानो रागकाव्यादिः कृतः ।

अथवा पाठभेद के अनुसार इस नृत्त की रचना क्यों की ? अच्छा नृत्त नाट्य से भिन्न है, यह मान लिया जाय तो वह किस स्वभाव (स्वरूप या धर्म) और लक्षण को अपने में स्वीकार करता है ? लौकिक मानने पर भी यदि वह घट आदि वस्तुओं के तुल्य है या उसका अनुकारी या प्रतिबिम्ब रूप है तो वह नाट्य का छायारूप ही है । ये साक्षा-त्कारकल्प ज्ञानसम्पदा के आधार पर ग्रन्थकार द्वारा कल्पित चित्र, पुत्रिका (गुडियाँ) तथा पुस्त (पुत्तलियाँ) आदि स्वरूप से लेकर कायापर्यन्त सभी नाट्य के ही भाग हैं, निष्यन्द हैं । लोकोत्तर मानने पर तो वह नाट्य के ही अवान्तरभेदमात्र हैं ।

ऐसा मान लेने पर भी वह निष्प्रयोजन नहीं है । उसके भाव आदि उपलक्षणीय होंगे । उसे निष्प्रयोजन कहना असिद्ध है । क्योंकि राघवविजय आदि रागकाव्यों में में भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारो वर्गो का उपदेश देखा जाता है । डोम्बिका आदि में तो काम के ही परम रहस्य प्रच्छन्न राग का उपदेश है । जैसा कि "यद्वा-माभिनिवेशित्वादि" अर्थात् "जिससे स्त्रियों में आसक्ति होती है और जिससे उसका निवारण होता है और जो स्त्रियों के लिए दुर्लभ है वह काम की परम रति है ।" ना० शा० २२।२०७) । इसके द्वारा सामान्याभिनय में प्रच्छन्न राग (रति) को काम का सर्वस्व कहा गया है । इसी प्रकार भाण, प्रस्थान, भाणिका आदि में सिंह, सुअर भालू, भैंसा आदि के वर्णन से भी अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि के द्वारा पुरुषार्थ का ही उपदेश देखा गया है, अतः भिन्न प्रयोजन होने पर भी भेद नहीं है । जब प्रयोजन आदि अर्थो को प्राप्त करने के लिए नृत्य के अनुरागी नृत्तवेत्ताओं ने अभिनय की बुद्धि से अभिनीयमान काव्यों का निर्माण किया है तो किस कारण से यह नृत्त नाट्य नहीं हो सकता और नाट्य क्यों नहीं हो सकता ? ये दोनों ही गात्रविक्षेप रूप हैं अर्थात् नाट्य में भी गात्रविक्षेप होता है और नृत्त में भी गात्रविक्षेप होता है । जब दोनो समानार्थक हैं अर्थात् जब दोनों का अर्थ समान है तो किस भेदक स्वभाव की अपेक्षा है । अतः यह भिन्न स्वभाव वाला नहीं है । जैसाकि वार्तिक है—

---

१. क-म. हस्तकरद्वयकापारादिवर्णनेनापि ।

तस्मात्कस्माद्धेतोरेतन्नृत्तं न नाट्यम् । नाट्यं च कस्मान्न नृत्तम् । गात्रविक्षेपात्मकं हि तदपि । तुल्ये च तथाऽर्थे कं भेदकं स्वभावमपेक्षते । नास्त्यसौ भिन्नस्वभाव इति यावत् । यद्वार्तिकम्—

एवमवान्तरवाक्यैरुपदेशो रागदर्शनीयेषु ।
सिंहादिवर्णनैर्वा क्वचिदप्यर्थान्तरन्यासात् ॥" इति ॥

तस्मात्स्वभावस्य प्रयोजनस्य चाभेदान्नृत्तं नाट्यादभिन्नमिति ।

अथोच्यते —[1]राघवविजयादिरागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव । अभिनययोगात् । यत्त्वभिनयादिशून्यं केवलं वलनावर्तनाभ्रूक्षेपताराचलनचरणधारणकम्पस्फुरितकटिच्छेदरेचकादि तदस्माकं नृत्तं भविष्यति । यत्र नाट्यशङ्कापि नास्ति । ननु किं तेनोत्प्रेक्षितेन[2] (तेन प्रेक्षितेन वा) प्रयोजनम् । ननूक्तं नाट्योपयोगित्वं—

"तस्य शाखा च नृत्तं व तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः" ॥ इति । (ना. शा. ८-१५)

एतद दूषयति —यदा प्राप्त्यर्थमिति । इह "योऽयं स्वभावो लोकस्य" इति (ना. शा. १-११९) लक्षणेन नाट्यं लक्षितम् । तत्राभिनयानामुपयोग उक्तार्थाभिमुख्यप्राप्तिः । नृत्तस्य तूक्तरूपस्य न किञ्चित्प्रयोजनम् । उपरञ्जकतया गीतवाद्यादिवदुपयोग इति चेत् —गीतस्य तावत्—

"यत्तु काव्येन नोक्तं स्यात्तद्गीतेन प्रसाधयेत् ॥" इति

"इस प्रकार रागकाव्यों में अवान्तर वाक्यों के द्वारा अथवा सिंहादि के वर्णनों के द्वारा अथवा कहीं अर्थान्तरन्यास के द्वारा उपदेश दिया गया है ।"

इसलिए स्वभाव (स्वरूप) और प्रयोजनों के भिन्न न होने से नृत्त नाट्य से भिन्न नहीं है अर्थात् नृत्त नाट्य से अभिन्न है ।

यदि यह कहा जाय कि राघवविजय आदि रागकाव्यों का प्रयोग नाट्य है, क्योंकि उसमें अभिनय होता है तो जो अभिनय से शून्य केवल वलन, आवर्त्तन, भ्रूक्षेप, तारा का चलन, चरण-न्यास, कम्प, स्फुरित, कटिच्छेद, रेचक आदि हैं वे हमारे मत में नृत्त ही होंगे । जहाँ पर नाट्य की आशङ्का नहीं है वहां उत्प्रेक्षा (सम्भावना) करने का क्या प्रयोजन है ? नृत्त को नाट्य का उपयोगी है, यह तो कहा जा चुका है—

"नाट्य प्रयोक्ताओं को अभिनय के तीन अङ्गों शाखा, नृत्त और अङ्कुर को जानना चाहिए ।" (ना. शा. ८।१५) ।

---

१. क-म. इदं नास्ति । २. क. तेन मोक्षितेन वा ।

"यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्" इति "न तैरेव तु वाक्यार्थैः" इति न्यायेन प्रकृतिचित्तवृत्तिकथावस्थादि सूचयतोऽस्त्युपयोगः । वाद्यस्यापि गीतसाम्याक्षिप्त-तालोद्दीपकत्वेन । एतन्मध्यात्तु नृत्तं कतृं कं स्वभावमपेक्षते । न युद्धनियुद्धगतिपरि-क्रमादावस्योपयोग इत्युक्तम् । तत्रापि कं स्वभावं लौकिकमलौकिकं वाऽपेक्षते । लौकिकत्वे प्रयोज्यत्वेन लोकधर्म्या सङ्ग्रहोऽस्य । चारीमण्डलादिक्रमेण च तस्याङ्ग एव निरूपणं भविष्यति । अथाप्यलौकिकस्तथापि सिद्धम् । 'ऊर्ध्वेन तु कुर्यात्' इत्यादिचतुरहस्ताभिनेतव्यविषयविभागन्यायेनाभ्यधिकं सुन्दरोपरञ्जकभागानु-प्रवेशे पुनरपि नाट्यादभ्यधिकता ।

अथोच्यते—पूर्वरङ्गप्रयोगस्य वैचित्र्यसिद्धयं तदेतदिति । तत्रापि पूर्वरङ्ग-प्रयोज्यया ब्रह्मगीत्या साकम् । (अथाङ्गाङ्गिभावेन) अस्याङ्गाङ्गिभावेन वा । [1]तत्राद्ये पक्षे स्यादसामञ्जस्यम् । अन्त्ये तु पक्षे [2]कथमाङ्गिकहस्तचार्याद्यभावः ।

इसमें दोष दिखाते हैं—"जब अर्थों की प्राप्ति के लिए।" यहाँ पर 'योऽयं लोकस्य' अर्थात् "लोक का जो यह सुखदुःखमय स्वभाव है वही आङ्गिक आदि अभिनयों से युक्त 'नाट्य' कहा जाता है" इत्यादि लक्षण से लक्षित नाट्य है। वहाँ अभिनयों के उपयोग में पूर्वोक्त प्रयोजनों की अनुकूल प्राप्ति होती है। किन्तु उक्तरूप नृत्त का तो कोई प्रयोजन नहीं है। यदि यह कहा जाय कि गीत, वाद्य आदि के समान उपरञ्जक होने से उसका उपयोग है तो गीत का तो—

"जो काव्य के द्वारा नहीं कहा जा सकता, उसे गीत के द्वारा सिद्ध करें।"

और भी "जिसे वाक्य के द्वारा नहीं कह सकते" और "उन्हीं वाक्यार्थों से जिसे नहीं कह सकते" इस न्याय से लोगों की चित्तवृत्ति, कथा, अवस्था आदि को गीत द्वारा सूचित किया जाता है। गीत साम्य अथवा गीत और लय के लिए अपेक्षित ताल के उद्दीपक रूप में वाद्य का भी उपयोग है। किन्तु इसमें से नृत्त किस स्वरूप की अपेक्षा करता है। युद्ध, नियुद्ध, गति, परिक्रम आदि में इसका कोई उपयोग नहीं है। यह कहा जा चुका है। उनमें भी किस स्वरूप की अपेक्षा है। लौकिक अथवा अलौकिक ? लौकिक स्वरूप को प्रयोज्य रूप में मानने पर लोकधर्मी के रूप में इसका संग्रह हो जायगा। चारी, मण्डल आदि के क्रम से उसका अङ्ग में ही निरूपण हो जायगा - यदि यह कहें कि यह अलौकिक है तो भी सिद्ध ही है। 'ऊर्ध्वेन तु कुर्यात्' इत्यादि लक्षण वाले चतुरहस्त से इसका अभिनय करना चाहिए, तो विषय-विभाग के सिद्धान्त से अधिक है और नाट्यधर्मी के अनुप्रवेश में सुन्दर उपरञ्जक भाग का अनुप्रवेश कर देने से फिर भी नाट्य से अधिकता है।

१. क-म. तत्राद्यपक्षेऽस्य नासामञ्जस्यम् ।
२. क. कथमाहितहस्तचार्याद्यभावः ।

तदुक्तम्—

'महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यति।'' इति (ना. शा. ४-१५)।

अत्राह–यदा प्राप्त्यर्थमिति। अर्थानां गीतकपदाभिधेयानां प्राप्त्यर्थमभिमुखं नयनार्थम्। यद्ययं नृत्ताभिमतोऽभिनयो विहतस्तत्कस्मादभिनयत्वे तुल्ये नृत्तमेतन्न नाट्यम्। तथाहि—गीतकार्थाभिनये कर्तव्ये [1]कमन्यमाङ्गिकहस्तचार्याद्यभिनयव्यतिरिक्तं स्वभावमपेक्षते। न कञ्चिदन्यमित्यर्थः।

अथोच्यते—न गीतकादिपदार्थाभिनयतयाऽस्योपयोग इति। किन्तर्ह्यन्यथा गीतकादावस्योपयोग इति। तत्राह—

यहाँ पर कहा जाता है कि पूर्वरङ्ग के प्रयोग की विचित्रता की सिद्धि के लिए यह नृत्त है अर्थात् पूर्वरङ्ग में वैचित्र्य, सौन्दर्य लाने के लिए नृत्त का प्रयोग होता है। वहां पर भी यह प्रश्न उठता है कि पूर्वरङ्ग में प्रयोज्य ब्रह्मगीति के साथ इसका प्रयोग होगा अथवा अङ्गाङ्गीभाव से? इनमें प्रथम पक्ष अर्थात् ब्रह्मगीति के साथ इसका प्रयोग मानने पर असामञ्जस्य होगा और अन्तिम पक्ष अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से प्रयोग मानने पर आङ्गिक अभिनय हस्त, चारी आदि का अभाव कैसे होगा?

विमर्श—यहाँ पर पाठभेद से 'आङ्गिक' के स्थान पर 'आहित' पाठ भी मिलता है। 'आहित' का अर्थ है उससे जुड़ा हुआ। इस प्रकार इसका अर्थ होगा कि अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से प्रयोग मानने पर उससे सम्बद्ध अर्थात् नृत्त से सम्बन्ध हस्त तथा चारी आदि का अभाव कैसे होगा?

इसलिए कहा गया है—

"महागीतों में भी इन नृत्त की विधियों का अच्छी तरह अभिनय करोगे"।
(ना. शा. ४।१५)।

यहाँ पर यह कहते हैं—"जब अर्थों की प्राप्ति के लिए" अर्थात् गीतक पद से अभिधेय (वाच्य) अर्थों की प्राप्ति के लिए अर्थात् अभिमुख नयन के लिए यदि यह नृत्त अभिमत अभिनय विहित है तो अभिनय के तुल्य होने पर यह नृत्त नाट्य क्यों नहीं मान लिया जाता? और भी गीतक पद से वाच्य अर्थों के करणीय अभिनय में हस्त, पाद, चारी आदि आङ्गिक अभिनयों के अतिरिक्त किस अन्य स्वरूप की अपेक्षा है अर्थात् किसी और स्वरूप (स्वभाव) की अपेक्षा नहीं है।

यहाँ यह कहा जाता हैं कि गीतक आदि पदार्थो के अभिनय के रूप में इसका उपयोग है, अन्यथा गीतक आदि के प्रयोग में इसका उपयोग क्यों होता? इस पर कहते हैं—

१. क. कमन्यमाङ्गिकहस्तकार्याद्यभिनयव्यतिरिक्तं।

न गीतकार्थसम्बद्धं न चाप्यर्थस्य भावकमिति ।

इह गीतकार्थास्तदारम्भकाः वस्त्वङ्गप्रभृतयः । तेषु न संबद्धं तन्मध्ये न परिगणितमित्यर्थः । यदि ह्यङ्गवस्त्वादितन्मध्यपरिगणनमस्य भवेन्न तद्भवेदप्यन्यतदुपयोगस्तदारम्भकत्वात् । नचैतदुपगतम् । न च युक्तम् । नृत्तस्य गीतद्वितीयजातीयत्वात् ।

ननु यथा तत्सुषिरादिवाद्यं तदङ्गसम्बद्धमपि तत्रोपयोगि तथेदं भविष्यतीत्याशङ्क्याह – न चाप्यर्थस्येति । [1]अर्थ्यंते प्रधानतया गीतकादौ निरूप्यत इत्यर्थः । स्वरूपपदतालादिः । तस्याप्येतद्भावकं प्रापकं न भवति ।

एतदुक्तं भवति—स्वरात्मके भागे प्रतिबिम्बरूपतया लग्नस्वरत्वेन स्थानप्रदायितया स्वरपरमार्थप्रापकतया स्वरात्मगीतिभागे स्तुतः सुषिरोपयोगः । अवनद्धस्यापि तत्साम्योपायतालांशप्रापकत्वेन पदपातादभिधेयोपयोगित्वेऽप्यभिनयरूपया (भिनयरूपतया) नाट्यावभेद एव स्यादित्युक्तम् ।

"नृत्त न तो गीत के अर्थों से सम्बन्ध रखता है और न गीत के अर्थ का भावक (प्रापक) है ।" (ना, शा. ४।२६३) ।

यहां पर गीतक अर्थ के आरम्भक वस्तु और अङ्ग प्रभृति हैं । उनसे इनका कोई सम्बन्ध नही है अर्थात् उनके बीच में इसका परिगणन नहीं है । यदि यह अङ्ग और वस्तु रूप होता तो इसमें इसका परिगणन अवश्य होता, किन्तु ऐसा है नहीं यदि ऐसा होता तो आरम्भक होने से इसका कुछ और उपयोग होता । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि नृत्त गीत की अपेक्षा विजातीय है ।

अब जिस प्रकार सुषिर आदि वाद्य का गीत के अङ्गो से सम्बद्ध होने से वहाँ उनका उपयोग होता है । इसी प्रकार इसका भी उपयोग होगा, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—'गीत के अर्थ का भावक (प्रकाशक) भी नहीं होगा ? अर्थ्यते, अर्थात् प्रधान रूप से गीतक आदि में जिनका निरूपण किया जाता है, वे स्वर, पद, ताल आदि हैं । इसका भी यह (नृत्त) भावक (प्रकाशक) नहीं है ।

यह कहा गया है—सुषिर वाद्यों के स्वरात्मक गीति भाग का प्रतिबिम्ब रूप होने से, स्थान (तान) के प्रदाता के रूप में स्वर के साथ संलग्न (सम्बद्ध) होने से स्वर के परम अर्थ का प्रकाशक हौने से स्वरात्मक गीतिभाग में उनका (सुषिर वाद्यों का) उपयोग संस्तुत है अर्थात् सुषिर वाद्य स्वरात्मक गीति भाग का प्रतिब्रिम्ब है, स्वर से सम्बद्ध होने से तान का प्रदाता है, और स्वर के परम अर्थ (उपरञ्जन) का प्रकाशक है अतः सुषिर वाद्य का उपयोग स्वरात्मक गीतिभाग में प्रस्तुत है । अवनद्ध वाद्यों के भी गीत साम्य के उपायभूत ताल रूप अंश के प्रकाशक

१. क-म. अन्ये तु प्रधानतया ।

[भरतः]—

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कञ्चिन्नृत्तमपेक्षते[1] ।
किं तु शोभां [2]प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम् ॥ २६९ ।

अथोच्यते रेचकाङ्गहारनिबन्धात्मकं यन्नृत्तं न तेन कश्चिदर्थोऽभिनीयते । अपि तु यथा विशिष्टैर्मन्त्रैः भावनाविशेषैश्चाभ्युदयसिद्धिः तथा विशिष्टदेवतासूचकैर्मन्त्रैस्तथा तद्गीते चाभ्यधायि । [3]ब्रह्मगीताङ्गवस्तुषु सप्तविंशतिसङ्ख्येष्वासारितेषु वर्धमानारम्भकेषु चतुर्षु चकारात्पाणिकायामित्येतेषु सम्बद्धमेतदङ्गहारात्मकं द्वात्रिंशत्कारं नृत्तमिति तत्सम्बन्धश्चेदानीं न किञ्चित् । पृथङ्नृत्तकाव्यादौ (पृथङ्निवृत्तकाव्यादौ) नाट्यरूपतैव । नाट्योपयोगित्वेनापि नृत्ततालगीतकाद्युपयोगोऽपि दुर्घट इति त्रिधा पूर्वपक्षसंक्षेपः ॥ २६७-२६८ ॥

एतत्परिहर्तुमाह - अत्रोच्यत इत्यादिश्लोकत्रयेण ।

होने से, पदपात से अभिधेय के उपयोगी होने पर भी अभिनय रूप होने से नृत्त को नाट्य से अभिन्नता ही है। भाव यह कि स्वरात्मक गीतिभाग में अवनद्ध वाद्य की भी उपयोगिता है। अवनद्ध वाद्य स्वर और लय के उपाय भूतकाल के प्रकाशक हैं। पदपात अर्थात् गात्रविक्षेप होने से नृत्त नाट्य से अभिन्न है।

कहा जाता हैं कि रेचक एवं अङ्गहारों का निबन्ध रूप जो वृत्त है, उससे किसी अर्थ का अभिनय नहीं होता, अपितु जिस प्रकार विशिष्ट मन्त्रों से और भावना विशेष के द्वारा विशिष्ट देवता के सूचक मन्त्रों से अभ्युदय की सिद्धि होती है उसी प्रकार उस देवता के गीत में भी सिद्धि कही गयी है। ब्रह्मगीत के अङ्ग वस्तु आसारित, बर्धमानक और पणिका इनसे सम्बन्ध अङ्गहार रूप नृत्त बत्तीस प्रकार का होता है, किन्तु उनका सम्बन्ध इस समय कुछ नहीं है। इस प्रकार अलग सम्पन्न होने वाले नृत्तरूप रागकाव्य आदि नाट्यरूप ही हैं। नाट्य के उपयोगी होने पर भी नृत्त, ताल, गीतक आदि का उपयोग भी दुर्घट है। इस प्रकार तीन प्रकार का पूर्वपक्ष का संक्षेप है, सार है ॥ २६७-२६८ ॥

अभिनव—पूर्वपक्ष की शङ्का का परिहार करने के लिए 'अत्रोच्यते' इत्यादि तीन श्लोकों से कहते हैं—

भरत ने कहा

अनुवाद—यहाँ जो कहा जाता है कि नृत्त किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु शोभा को उत्पन्न करता है, इसलिए उसका प्रवर्त्तन किया गया है।२६९।

---

१. ख. घ. नृत्त कञ्चिदपेक्षते ।

२. ख. घ जनयतीत्यतो नृत्तमिदं स्मृतम् । ग. जनयतीत्यतो नृत्यं प्रवर्त्तितम् ।
क-म. जनयन्तामिति नृत्तं प्रवर्त्तितम् ।

३. क. भवाभगीताद्यङ्गवस्तुषु । क-म. भवाभगिनीतरङ्गवस्तुषु ।

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ।
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ २७० ॥
[1]विवाहप्रसवाहप्रमोदाभ्युदयादिषु ।
[2]विनोदकारणं चेति नृत्तमेतत्प्रवर्तितम् ॥ १७१ ॥

अस्मिन्पूर्वपक्षे तूच्यते प्रत्युत्तरमिति शेषः । तत्र यदुक्तमङ्गविक्षेपनृत्तगीतमयत्वान्नाट्यादेर्भेदो (नाट्यादभेदो) रागकाव्यादिनृत्तस्येति तदनैकान्तिक(त्व, मस्य हेतोः लौकिकनृत्तेऽपि स्फुटम् । नाट्यादिलक्षणसहगोपने तु लौकिके गात्रविक्षेपण(ण) पठ्यमानमभिनीयमानं वा यावत्पदजातमर्थो नाभिनीयते इति किं नानुसन्धीयते । किं वा न साक्षात्क्रियायोग्यतां नीयते । प्राप्यकल्पोऽसिद्धः । लोकेऽपि सौमनस्याभावादङ्गोपाङ्गपरिक्षेपानुयातस्य वाक्यादीरितस्य दृष्टत्वात् । गीयतां(गायतां) पदार्थसंवादकृततन्मयीभावदशा(बद्धा)याश्च स्फुटमेव सात्त्विकाङ्गतावलोकनात् ।

अनुवाद—प्रायः सभी लोगों को स्वभाव से ही नृत्त प्रिय होता है और मङ्गलकारी है यह समझ कर इस नृत्त का कथन किया है ॥२७०॥

अनुवाद—विवाह, प्रसव अर्थात् पुत्रजन्म, आवह अर्थात् सपत्नीक जामाता के श्वशुर घर आने पर प्रमोद तथा अभ्युदय के आदि अवसर पर मनोविनोद के साधन इस नृत्त को प्रवर्तित किया गया है ॥ २७१ ॥

अभिनव—पूर्वपक्ष में तो कहते हैं—'प्रत्युत्तर पद यहाँ शेष है जो श्लोक में नहीं कहा गया है। यहाँ पर जो यह कहा गया है कि अङ्गविक्षेपरूप नृत्त गीतमय होने से रागकाव्यादि नृत्त नाट्य से अभिन्न है वह अनैकान्तिक है, क्योंकि यह हेतु लौकिक नृत्त में भी स्पष्ट है । नाट्यादि लक्षण के साथ संयोजन करने पर तो लौकिक गात्रविक्षेपण के समय पठ्यमान (पढ़े जाने वाले) पद-समूह अथवा अभिनीयमान (अभिनय किये जाने वाले) अर्थ का अभिनय नहीं किया जाता है, इसका अनुसन्धान क्या नहीं किया जाता ? अथवा क्या इसका साक्षात्कार आप नहीं करते ? इससे प्रथम कल्प (पक्ष) 'नृत्त नाट्य से अभिन्न है' यह असिद्ध हो गया । लोक में भी सौमनस्य (सौहार्द) के अभाव होने से अङ्गों एवं उपाङ्गों का परिक्षेपण तथा वाणी से कथित (शब्द समूह) देखे जाते हैं। गाने वालों में पदार्थसंवाद (नाट्य-कथा) से उत्पन्न तन्मयीभाव की दशा में सात्त्विक भाव का स्पष्ट रूप देखा जाता है।

---

१. क. ब. विचार्य प्रसवोद्वाहप्रमोदाभ्युयादिषु । क-त. विवाहप्रसवाबास० ।

२. ख. घ. विनोदकरणं चैव नृत्तमेतत् प्रकीर्तितम् ।

अथापरः पक्षस्तु नृत्तेऽपि समानः(समानम्)। तथाहि—नृत्तकाव्ये डोम्बिकादौ वर्णच्युतादिव वर्णादिप्रयोगे तावदभिनयकथैव नास्तीति किं तत्र विचार्यते। केवलं नृत्तस्वभावमात्रमपि तत्केवलं भावितकाव्यार्थगतार्थतत्त्वसौकुमार्यकृतमङ्गस्य तथात्वमिति निर्णेष्यत इत्यास्तां तावदेतत्।

तदनन्तरं तु धारापरिक्रमपूर्वकलयप्रयोगावसरे "पाआलअलोससाहिणिहुजयजयलच्छिमचचमलिआ" इत्यादि यद्गीयते तत्कस्योक्तिरूपम्। यदि तावन्नर्तितुमागताया लौकिक्या डोम्बिकाप्रवृत्तनर्तक्याः तदा सैवेदानीमेवंभूतं वस्तुरूपं लौकिकं वचनमभिधत्ते। गायनादिस्वक्रमिकस्ववाक्यत एकवाक्यतः साक्षात्कारकल्पार्थः। साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायगोचरकार्यत्वं च नाट्यस्य लक्षणमित्यवोचाम।

तेन यथा कश्चित्कञ्चिदन्यापदेशगानादिक्रमेण[1] वस्तूद्बोधनकरणद्वारेण वा छन्दानुप्रवेशितया वा कस्यचिन्मनस्यावर्जनातिशयं विधत्ते। नृत्यन्नपि गायन्नपि तद्वदेव डोम्बिकादौ द्रष्टव्यम्। विडम्बिडोम्बीत्यादावपि(?) वचसि

और दूसरा पक्ष तो नृत्त में भी समान है। जैसे—डोम्बिका आदि नृत्तकाव्य में वर्णच्युत काव्य में वर्णादि के प्रयोग के समान अभिनय की कथा ही नहीं है अर्थात् जिस प्रकार वर्णच्युत काव्य में वर्ण प्रयोग की बात (कथा) या प्रसङ्ग ही नहीं है उसी प्रकार नृत्त काव्य में अभिनय का प्रसङ्ग ही नहीं है तो भेदाभेद के विषय में क्या विचार करना है? जो केवल नृत्त का स्वभाव मात्र है वह केवल भावना के द्वारा भाषित किये गये काव्यार्थगत अर्थतत्त्व के सौकुमार्य से किये गये अङ्ग का सहज धर्म है, इसका निर्णय आगे करेंगे, इसलिए इसे रहने दिया जाय।

तदनन्तर धाराप्रवाहपूर्वक लय के प्रयोग के अवसर पर "पाआल-अलोस०" इत्यादि जो गाया जाता है वह किसकी उक्ति है? यदि नाचने के लिए आई हुई डोम्बिका में प्रवृत्त लौकिकी नायिका की यह उक्ति है तो वही इस समय इस प्रकार की वस्तुरूप लौकिक वचन कहती है। गायन आदि में अपने क्रम के अनुरूप अपने वाक्य से एक वाक्यता से प्राप्त साक्षात्कार सदृश अर्थ है। साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसायात्मक ज्ञान (अर्थ) नाट्य का लक्षण है, यह पहिले कह चुके हैं।

इसलिए जैसे कोई किसी अन्य के बहाने गायन आदि के क्रम से अथवा वस्तु के उद्बोधनकरण के द्वारा अथवा अभिप्राय के अनुसार नाचता हुआ और गाता हुआ किसी भी व्यक्ति के मन को अत्यधिक आकर्षित करता है। उसी प्रकार डोम्बिका आदि में समझना चाहिए। 'विडम्बिडोम्बी' इत्यादि वाक्य में वही डोम्बिका है।

१. क-म. तानादिक्रमेण।

सैव डोम्बिका। नरपतिपरितोषकार्थाभिधायिवचननिष्ठेन गीतेन नृत्तेन वान्येन (वाद्येन)च राजानमनुरञ्जयितुं गृहीतो मन्त्रित्वेन पूर्वं स्थित्वा मध्ये काचिदीदृशी चौर्यकामुककेलीवासमनासाद्य कापि पुनरेवंविधा कश्चिदेवम्भूतश्चौर्यकामुकः कोऽप्येवम्भूतस्तत्र काचिदेवम्भूता प्रौढदूतीत्येवमादि राजपुत्रहृदयानुप्रवेशयोग्यं तत्प्रसादेन धनार्जनोपायमभिदधती तमेव राजपुत्रं परत्वेन तथैव वा धनमुद्दिश्यान्यदपि चेष्टितमभिधीयते। डोम्बिकाकृत्यमेवोपसंहरति गु.मालायां "जामि हराधर्तु गिअपुण्णं चिसमि" इत्यादौ। तत्र सा नृत्यती डोम्बिका च बहुतरोपरञ्चकगीतादिपटुचेटकपरिवृता त्वां प्रत्येवमहमुपश्लोकितवतीति तन्मध्यवर्तिगायनमुखसङ्क्रमितनिजवचना लौकिकेनैव रूपेण तद्गीयमानरूपकगतलयतालसाम्येन तावन्नृत्यति। तद्गीयमानपदार्थस्य च सातिशयमावर्जनीये राजादौ हृदयानुप्रवेशितां दर्शयितुं लौकिकव्यवहारगतहस्तभ्रूकर्मरोमाञ्चाक्षिविकारतुल्ययोगक्षेमतयैवाङ्गविकारादिसंभवमप्याक्षिपति।

एवं गीतेन रञ्जनं प्राधान्येन विधाय तदुपयोगिनं चाङ्गिनं चाङ्गव्यापारं प्रदर्श्य नृत्तेन पुनस्तच्चित्तग्रहणं कुर्वती नृत्तं प्रधानभावं गीतं च तदुपसर्जनभावं नयन्ती तत एव तदभिनयमनाद्रियमाणा तद्गीयमानाङ्गावाद्विक्षप्ततदुदितभावमेवाङ्गविक्षेपं करोति लयपरिष्वक्तकरणादौ। तत्रेत्यंशे लौकिकमात्रस्वभाव-

राजा को परितुष्ट करने वाले अर्थों के वाचक वाक्यनिष्ठ गीत, नृत्त और वाद्यों के द्वारा राजा को प्रसन्न करने के लिए स्वीकार किया और पहिले मन्त्री के रूप में स्थित होकर मध्य में कोई इस प्रकार की कामिनी चौर्यकामुक (प्रच्छन्न कामी) को केलीवास को प्राप्त न करके कोई इस प्रकार की कामिनी कोई इस प्रकार का कामुक प्रच्छन्न कामुक के साथ कोई इस प्रकार विट, कोई इस प्रकार की प्रौढदूती इस प्रकार राजपुत्र के हृदय में प्रवेश करने योग्य बातों से प्रसन्न करके धन कमाने का उपाय करती हुई उसी राजपुत्र को आकृष्ट करती है, उसी प्रकार धन कमाने के उद्देश्य से अन्य चेष्टाएँ भी करती हैं। डोम्बिका का उपसंहार करते हैं—'गुणमाला' में 'जामि हराधर्तु' इत्यादि में। वहाँ पर वह नाचती हुई डोम्बिका अत्यधिक उपरञ्जक गीत आदि में कुशल चेटकों से घिरी हुई 'तुम्हारी मैंने इस प्रकार की स्तुति की' यह कहती हुई उसी बीच में गायन के ब्याज से अपनी बातों को सुनाती हुई लौकिक रूप से ही गीयमान रूपकगत लय और ताल के साम्य से नाचती है। और उस गीयमान पदार्थ का अत्यन्त आवर्जनीय राजा आदि के हृदय में अनुप्रवेश दिखाने के लिए (प्रभाव डालने के लिए) लौकिक व्यवहारगत हस्त-संचालन भ्रूकर्म रोमाञ्च, आदि विकार (नेत्र-संचालन) के समान अङ्गसञ्चालन भी करती है।

रामनटादिव्यवहारवत् क्व प्रयोज्यप्रयोजकभावाशङ्का। कस्य वा सामाजिकस्य व्युत्पादनमभिसंहितम्। तदनन्तरं च यथैव सा गीतनृत्तादि प्रायुङ्क्त तथैव सदृशं न नर्तकी प्रयुङ्क्ते। न तु डोम्बिका साक्षात्कारकल्पेन दर्शयति तदीया-हार्यादिना स्वात्मरूपप्रच्छादनाद्यभावात्। तत एव न डोम्बिकां साक्षात्कारकल्पेन सा दर्शयति। अपि तु तथैव नृत्तं साभिनयं केवलं च प्रदर्शयति तेन। नाट्याङ्ग-तायां यत् दृष्टं पताकादि तद्दर्शनमात्रतया। अतो नाट्यं संस्कारकं नृत्तस्येत्य-ङ्गादिव्यपदेश इत्युपचारादुच्यते।

नाट्यस्य प्रस्तावनाप्राणप्रतिबिम्बकल्पं नृत्तमित्ययमपि व्यवहारस्ततस्त्य एव। नाट्यस्यात्र नामाप्यस्ति पदमूर्ध्वादौ चातुरश्र्यभङ्गाभावे (?) तद्भावाद्य-योगात् नाट्यरूपत्वे हि साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायसम्पत्त्युपयोगिनः पात्रं प्रति भाषानियमस्य छन्दोऽलङ्कारादिनियमोऽवश(श्य)रूपाद्योगयोगिन आहार्य-

इस प्रकार वह प्रधानरूप से गीत के द्वारा मनोरञ्जन करके उसके उपयोगी अर्थात् रञ्जनोपयोगी प्रमुख अङ्गव्यापार को प्रदर्शित करके नृत्त के द्वारा फिर उसके चित्त को आकृष्ट करती हुई नृत्त की प्रधानता और गीत की गौणता (अप्रधानता) सिद्ध करती हुई, इसलिए उस अभिनय की परवाह न करती हुई (अभिनय की उपेक्षा करती हुई), गीयमान भाव से विक्षिप्त उससे इन्द्रिय भाव में विभोर लय से समन्वित करण आदि के विषय में अङ्गविक्षेप करती है अर्थात् नाचती है। वहाँ इतने अंश में केवल लौकिक स्वभाव से बद्ध राम नटादि के व्यवहार के समान प्रयोज्य-प्रयोजक भाव को आशङ्का कहाँ है? और किस सामाजिक के व्युत्पादन की अभिसन्धि है? तदनन्तर जिस प्रकार उसने नृत्य गीतादि का प्रयोग किया था, इसो प्रकार नर्तकी उसी के समान प्रयोग करती है, डोम्बिका वैसा नहीं करती। वह तो प्रत्यक्ष के समान दिखाती है। क्योंकि वह आहार्य वेश-भूषा के द्वारा अपने स्वरूप का प्रच्छादन नहीं करती। इसलिए वह डोम्बिका को साक्षात्कार सदृश नहीं दिखाती। अपितु उसी प्रकार वह केवल साभिनय नृत्य प्रदर्शित करती है, जिससे नाट्याङ्ग के रूप में जो पताक आदि देखे गये हैं वह केवल दर्शन मात्र है। इसलिए नाट्य नृत्य का संस्कारक है, और नृत्य नाट्य अङ्गादि का नाम है, यह उपचार से कहा जाता है।

नाटक की प्रस्तावना का प्राणभूत नृत्त नाट्य का प्रतिबिम्बकल्प है, यह व्यवहार औपचारिक है। 'पदमूर्ध्वम्' इत्यादि में नाट्य का नाम भी है चतुरश्र्य का अङ्ग न होने पर ऊर्ध्वीभवन आदि होगा ही नहीं। नृत्त के नाट्यरूप होने पर साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसाय ज्ञान के उपयोगी पात्र के प्रति भाषा के नियम, छन्द एवं अलङ्कार आदि के नियम, रूप आदि के उपयोगी आहार्य विशेष, जाति, अंश,

विशेषस्य जात्यंशकादेरिति परिक्रमादेश्च स नास्यैवोपयोगो भवेत् । न वैवमस्ति । मूलभूतस्य च पाठ्यस्य सम्भावनानुषक्तमाकाशभाषितमपि स्यात् । पादताडित-कादि भाणरूपक इव । इह तु मूलत एव न केनचित्किञ्चिदुच्यते । "अहो गाणे" त्यादि गायनं यच्चोक्तं "प्रमदा सैवानुकार्यत्र" इति तदप्यनेन प्रतिसमाहितं नर्तक्याः स्वरूपानाच्छादनात् । कलहान्तरितेयं खण्डितेयं नृत्यतीति व्यवहार औपचारिकः । तदर्थगीयमानरूपकगतगीतवाद्यानुसारित्वात्तन्नृत्तस्य । न तु मुख्यः । लम्बालकत्ववेणीधारणमङ्गलवलयापरिग्रहादितदुचितवेषादिपरिग्रह-वैकल्यात् । यच्च नाट्यायितत्वमाशङ्कितं तदस्थाने भ्रान्तम् । सहृदयैर्नाट्या-यितमिति हि तावन्तं गीयमानमभिनीयते असाङ्गत्यापत्तेः । अपि तु यादृशा लयतालादिना यादृगर्थसूचनयोग्याभिनयः सात्त्विकादिप्रधानरसानुसारितया प्रयोगयोग्यस्तदुचितार्थपरिपूरणं ध्रुवागीतेन क्रियते । सूच्या ह्यमी (सूक्ष्मा ह्यमी) पल्लवप्रकारा अङ्कुरादयो निवृत्त्यङ्कुरान्ता ये विघ्नायितवच्च नाट्यायितम् । एतच्च स्वक्षेत्र एव वितनिष्यामः ।

कला आदि तथा परिक्रम आदि का उपयोग ही नहीं होगा अथवा ऐसा नहीं है। मूलभूत पाठ्य की सम्भावना से अनुषक्त (सम्बद्ध) आकाशभाषित भी नहीं होता, जैसे 'पादताड़ितक' आदि भाण रूपक। यहाँ तो मूल से ही कोई कुछ नहीं कहता है। "अहो गाणे०" इत्यादि गायन और जो कहा गया है "वहाँ पर प्रमदा अनुकार्य है" यह "नर्तकी ने अपने स्वरूप का आच्छादन नहीं किया है" इससे उसका भी समाधान हो गया है। यह कलहान्तरिता नाचती है, यह खण्डिता (नायिका) नाचती है, यह व्यवहार औपचारिक है मुख्य नहीं। मुख्य तो नाट्य के लिए गाये जाने वाले गीत और वाद्य हैं, नृत्त तो उस गीत और वाद्य का अनुगामी है। लम्बे बाल, वेणी का धारण करना, मङ्गल-वलय का धारण, तदनुरूप वेश-भूषा आदि का धारण करना, आदि निष्फल हो जायगा। जो नृत्त में नाट्यकी आशङ्का करते हैं वह अनवसर में भ्रान्ति है। सहृदय लोग नाट्य मानते हैं, क्योंकि उतने गीत का अभिनय करते हैं, यह असङ्गत हो जायगा और भी जैसा ताल और लय आदि के द्वारा जिस तरह के अर्थ के सूचना के योग्य अभिनय है, सात्त्विकादि प्रधान रस के अनुकूल प्रयोग के योग्य है, उस उचित अर्थ का पूरण ध्रुवा गीत से किया जाता है। सूच्य अङ्कुर से लेकर निवृत्युङ्कुर पर्यन्त जो पल्लव प्रकार नाट्यायित है। (नाट्यायित शारीराभिनय का एक भेद है)। यह सब अपने स्थान पर विस्तार से कहेंगे।

एवं नाटचायितशङ्काऽप्यत्र न काचित्। मूलभूतस्याभिनयस्यैवाभावात्। तद्भावे यथा—"मुंचइ वळवि अंअअ इरोअगुहंसणळिण अग्नि चिङज" इत्यादौ मूर्च्छादिसाक्षात्कारः शय्यायाश्चाङ्गनिपतनादिबाहुस्तथा नृत्तकाव्येऽपि स्यात् "होशं दणपक हमहुमाइषक" इत्यादौ। नचैवमस्तीत्युक्तमसकृत्। एतेन प्रयोजनभेदोऽपि प्रत्याप्तः (प्रत्युक्तः)। नहि सामाजिकाः प्रीयन्तां व्युत्पद्यन्तां वेत्यभिसन्धिना नृत्तप्रयोगः। तत्सम्पत्तिस्तु नान्तरीयकत्वाद्भवतु। ज्योतिष्टोमादिप्रयोगसङ्गीतापनोदादिवददृष्टविशेषोद्देशेनैव हि तस्य प्रयोगः। डोम्बिकादेर्दृष्टोद्देशेन राजपुत्रादिप्रीतये यद्यपि प्रवृत्तिर्लौकिकी सा। अद्यत्वे तु न द्वयम्। नर्तक्याः प्रवृत्तिः प्रवर्तना वा देवतापरितोषफलैव। यथोक्तं तत्र—

> "यत्किञ्चिल्लास्यमेतेन [1]देवस्तुष्यति नित्यशः।
> यत्किञ्चित्ताण्डवं तेन सोमः सानुचरः शिवः"॥ इति।

मूले च सूदादेरिव वस्तुभूतरूपरसादिमध्यपातिविषयविशेषयोजनया कृता प्रीतिः साध्या। डोम्बिकावर्णनगतस्यैवालौकिकरूपान्तरप्रादुर्भावान्तरस्येति व्युत्पत्त्यभिसन्धानं चानुभवतीति केयं सम्भावना गेयेऽपि। नाट्ये तु तदेव प्रधानं भरत-

इस प्रकार यहाँ पर (नृत्त में) अभिनय की कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि नाटयरूप अभिनय का यहाँ अभाव है। नृत्त में नाट्य का सद्भाव मानने पर "मुंचइ वलवि" इत्यादि में मूर्च्छा आदि का साक्षात्कार और "होश दणपक" इत्यादि में शय्या पर अङ्गपतन आदि का आधिक्य नृत्त काव्य में भी होगा, किन्तु ऐसा नहीं है, यह कई बार कहा जा चुका है। इससे प्रयोजन भेद भी कह दिया। सामाजिक प्रसन्न हो जायँ अथवा व्युत्पन्न हो जायँ, इस प्रयोजन (अभिसन्धि) से नृत्त प्रयोग नहीं होता। इसकी प्राप्ति तो आवश्यक हो जायगी। ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के प्रयोग और संगीत के द्वारा मनोविनोद के समान अदृष्टविशेष को लक्ष्य करके ही इसका प्रयोग होता है। डोम्बिका आदि का प्रयोग राजपुत्र आदि को प्रसन्न करने के लिए दृष्ट फल के उद्देश्य से किया जाता है, किन्तु वह प्रवृत्ति लौकिकी है। आज तो दोनों (दृष्ट और अदृष्ट) नहीं हैं। नर्तकी की प्रवृत्ति तो देवता के परितोष फलक होती है। जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"जो कुछ कोमल नृत्त नारियों द्वारा किया जाता है उससे देवता प्रसन्न होते हैं और जो ताण्डव नृत्त पुरुषों के द्वारा किया जाता है, उससे उमा (पार्वती) और अनुचरों सहित शिव प्रसन्न होते हैं।"

१. क. देबी तुष्यति नित्यशः।

मुनिप्रभृतीनां तथैव मूलतः प्रवृत्तेः। अन्यत्वे तु जीविका (जीविता) पर्यवसितत्वमिति [1]पुरुषमितिपुरुषदौरात्म्यम्, एतद्धर्मादिचतुष्टयोपदेशि पुराकल्पोपदेशनमिव पुस्तकवाचकानां मूलेन प्रवर्त्तनात्तत्र व्युत्पत्त्यभिसन्धेरेवेति फलभेदः।

अन्योऽपि लक्षणभेदो नाट्यरूपताशङ्कापराकरणहेतुग्रन्थव्याख्यानावसरे वक्ष्यते। तन्नाट्यलक्षणप्रयोजनाभेदादित्यसिद्धो हेतुः। तदाह—नृत्तं कर्तृ कञ्चिदर्थमर्थ्यमानं साक्षात्कारं प्राप्यमानं नाट्यवेदमपेक्षते येन लक्षणभेदः स्यात्। तथा न कश्चिदर्थः सामाजिकान्प्रति व्युत्पादनीयधर्माद्युपायान्यतमं व्यपेक्षते, येन प्रयोजनभेदोऽपि स्यादित्यतो हेतोरेतन्नृत्तं प्रवर्तितं नृत्तवाचोयुक्त्यैव व्यवहृतम्। न तु (ननु) नाट्यमिति।

किञ्चिदपि शुद्धं नाट्याङ्गं पूर्वरङ्गादिकं वेति पाठो वा यदा प्राप्त्यर्थमित्यादि प्रतिसमाहितम्। ननु भवत्वेवं भूतं नृत्तं, नाट्यं तु कथमस्योपयोग इत्युक्तं गीतकस्यापि कथमुपयोगः।

मूल में अर्थात् 'प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः' (प्रायः सभी लोगों को नृत्त स्वभावतः प्रिय होता है) इस मूल वाक्य में सूद (रसोइयाँ) आदि के समान वस्तुभूत रूप, रस आदि के मध्यपाति विषय विशेष की योजना से प्रीति साध्य है। डोम्बिका के वर्णन गत अलौकिक रूपान्तर के प्रादुर्भाव से प्रीति साध्य है इस व्युत्पत्ति अभिसन्धान का जो अनुभव होता है, उसकी गेय में क्या सम्भावना है? नाट्य में तो वही प्रधान है। भरतमुनि प्रभृति की प्रारम्भ से ही उसी प्रकार प्रवृत्ति रही है। नृत्त में तो जीविका के लिए प्रवृत्ति होती है। यह पुरुष की दुरभिसन्धि है, यह नृत्त तो धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय का उपदेश देने वाला है, इतिहास के उपदेश के समान पुस्तक पढ़ने वालों की उसमें प्रारम्भ से ही प्रवृत्ति होने से उसमें व्युत्पत्ति के उद्देश्य से फलभेद होता है।

अन्य लक्षणभेद को नाट्यरूपता की शङ्का के निराकरण हेतु ग्रन्थ के व्याख्यान के अवसर पर कहेंगे। उस नाट्य के लक्षण एवं प्रयोजन से अभेद होने से (अभिन्न होने से) यह हेतु असिद्ध है। इसलिए कहते हैं कि नृत्त किसी प्रयोजन को साक्षात्कार रूप अर्थ को प्राप्त कराने वाले नाट्यवेद की अपेक्षा करता है जिससे लक्षणभेद हो। ऐसा कोई अर्थ नहीं है जो सामाजिकों के प्रति व्युत्पादनीय धर्मादि उपायों में से अन्यतम उपाय की अपेक्षा करता हो, जिससे प्रयोजनभेद भी हो, इसलिए इस नृत्त का प्रवर्त्तन हुआ अर्थात् नृत्त शब्द से व्यवहृत हुआ। अतः नृत्त नाट्य नहीं है।

---

१. क. पुरुषमतिपुरुषदौरात्म्यम्।

उक्तं—'यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्" इति "यत्तु काव्येन नोक्तं स्यात्" इति। ध्रुवायास्तु सम्पाठमात्रमेवास्तु। अलं वर्णालङ्कारयोजनात्मकगानक्रियादि-प्रसारायासेन।

ननु रामरावणादिगत(ता)ग्राह्यत्याज्यरूपचरितार्थडम्बरस्य हृदयानु-प्रवेशद्वारभूतं हृद्यं तत्सूचीकल्पं स्वयं हृदयानुप्रवेशित्वादित्युक्तं प्राक्। तत एव तर्हि नृत्तस्य वलनावर्तनादेरन्तरङ्गेऽस्य नाट्यः उपयोगः विशेषतो हि तद्विनाऽ-लातचक्रप्रतिमत्वे तैर्बुद्धिग्राह्यमेव नाट्यं न स्यात्। तत एव विमलाभिनय-माणिक्यगुम्फविधायिसूत्रस्थानीयं वलनादिरूपनृत्तसजातीयत्वान्निकटत्वादन्तरङ्ग-गीतादिव्यापि नाट्यम्।

तदेतदाह – किन्तु शोभां प्रजनयेदिति। नृत्तं प्रवर्तितं प्रकृष्टमत्रुटितं वर्णनाविलासवलनादिदक्षिणं यद्वर्णितं कायावयवानां कायस्य च विलास-चेष्टावस्थानात्मकं वर्तितं तदात्मकं यन्नृत्तं तच्छोभां रञ्जनायोग्यत्वं शोभाना-न्तरीयकचमत्कारं प्रकर्षेण गानादिना वैलक्षण्येन जनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितमित्य-न्तेनाभिसम्बन्धः। हेतौ लिङ्।

कुछ भी शुद्ध नाट्य का अङ्ग पूर्वरङ्ग आदि है, यह पाठ भी 'यदा प्राप्त्यर्थम्' इत्यादि से समाधान हो गया। अच्छा, इस प्रकार का नृत्त होवे, किन्तु नाट्य में इसका उपयोग कैसे होगा ? इस प्रकार कहा गया है कि-- गीत का भी उपयोग कैसे होगा ?

कहा भी है—जिनको वाक्यों से न कहा जा सकें' और 'जिसे काव्य से न कहा जा सके' इत्यादि। ध्रुवा का तो केवल पाठ ही होता है। अतः वर्ण, अलङ्कार के योजना रूप (वर्णालङ्कारयोजनात्मक) गानक्रिया के प्रसार का आयास (प्रयत्न) व्यर्थ है।

राम और रावण के ग्राह्य और त्याज्य रूप अर्थाडम्बर के हृदय में प्रवेश के द्वारभूत जो हृद्य है वह सूचोकल्प (सूई के समान) स्वयं हृदय में अनुप्रवेश करने योग्य है। यह पहिले कहा जा चुका है। इसीलिए वलन, आवर्त्तन रूप नृत्त का नाट्य में उपयोग होता है। विशेष रूप से उसके नृत्त के विना अलातचक्र के समान यह नाट्य सहृदयों के द्वारा बुद्धि से ग्राह्य नहीं होगा। इसलिए निर्मल अभिनय रूप माणिक्य के गुम्फन करने वाला सूत्रस्थानीय नाट्य है, वह नाट्य वलनादि रूप नृत्त के सजातीय एवं निकट होने के कारण अन्तरङ्ग गीत आदि में व्याप्त है।

उसे कहते हैं – 'किन्तु शोभा प्रजनयेति नृत्तं प्रवर्त्तितम्' अर्थात् 'नृत्त शोभा (सौन्दर्य) को उत्पन्न करेगा, इसलिए नृत्त को प्रवर्त्तित किया'। प्रकृष्ट अर्थात्

ननु रञ्जकत्वं भोजनादीनामप्यस्ति। तत्तदनुप्रवेशनियमोऽत्रेत्याशङ्कां-मध्येऽपाकरोति—प्रायेणेति।

विवाहप्रसवावाहादिषु सर्वस्य लोकस्य स्वभावतः स्वभावेष्वात्माभिमतेषु स्वदेहेनात्मना नर्तनमिष्टं वल्लभम्। सर्वोऽपि जनो विवाहादौ नृत्यति योऽपि वादयन्नृत्यति तेनापि। दर्दुरूढेनापि(दरिद्रेणापि) मङ्गल्यमिति। विवाहो वध्वा आनयनम्। तत्पूर्वकः सर्व उत्सवः। पुत्रजन्म प्रसवः। ततो जामातुः सवधूकस्य सर्वत्र श्वशुरभवनगमनमावाहः। प्रमोदा राज्ञामर्थकरणादयः। अभ्युदयो मनोरथ-प्राप्तिरभिलषितस्योदय इति। आदिग्रहणेनानाकाङ्क्षितशुभप्राप्त्यादि। एतेन विनोदनमिति श्लोकत्रयस्य सम्बन्धः। एतच्च "कैशिकीमपि योजय" (ना. शा. १-४२) इत्यत्र दर्शितम् ॥ २६९-२७१ ॥

कं स्वभावमपेक्षत इति प्रतिसमाधातुमाह—अतश्चैवेति।

अत्रुटित वर्णन, विलास एवं वलनादि के अनुकूल शरीर के अवयवों का और शरीर का विलास, चेष्टा, अवस्थान रूप जो वर्णन है और तदात्मक जो नृत्त है (अङ्ग-विक्षेप रूप) वह शोभा अर्थात् शोभा के आवश्यक चमत्कार गान (गीत), वाद्य आदि की विलक्षणता से उत्पन्न होगा, इसलिए नृत्त को प्रवर्त्तित किया, यहाँ तक पूर्ववाक्य का सम्बन्ध है। 'प्रजनयेत्' में हेतु में लिङ् लकार है।

प्रश्न यह है कि रञ्जकता तो भोजन आदि में भी है और वे भी नियम से हृदयानुप्रवेशी हृदय में प्रविष्ट होते हैं तो उन्हें भी नाट्य का अङ्ग क्यों नहीं मान लिया जाता ? इस प्रकार शङ्का करके 'प्रायेण' इत्यादि के द्वारा बीच में ही इसका निराकरण करते हैं।

'विवाह, पुत्रजन्म, वर के स्वागतार्थं मनोविनोद के लिए नृत्त प्रवृत्त होता है।' यह नृत्त सभी लोगों को स्वभाव से प्रिय है। सभी लोग विवाह के अवसर पर नाचते हैं, बाजे बजाते हुए नाचते हैं। यहाँ तक कि नास्तिक व्यक्ति भी मङ्गल समझकर नाचता है। वधू को घर में लाना, तत्सम्बन्धी उत्सव विवाहोत्सव है। **प्रसव** का अर्थ पुत्रजन्म है। उसके बाद वहू के साथ दामाद का ससुर के घर में जाना '**आवह**' है। 'प्रमोद' राजाओं का अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि और 'अभ्युदय' अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति है, आदि पद से अभीष्ट शुभ की प्राप्ति ग्राह्य है। इससे 'विनोदकरणम्' तीन श्लोकों का सम्बन्ध है। यह कैशिकी की भी नाट्य में 'योजना कीजिए' इत्यादि में दिखा दिया है ॥ २६९-२७१ ॥

अब नृत्त किस किस स्वरूप की अपेक्षा करता है' इसका समाधान करने के लिए कहते हैं—

अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भूतसङ्घैः प्रर्वतिताः ।
ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः[2] ॥ २७२ ॥

अतश्च कारणान्नृत्तं प्रवर्तितम् । प्रारम्भे पूर्वरङ्गे लक्षणवर्तितं योजितमिति सम्बन्धः । एवकारो हेतौ यस्मात्प्रतिक्षेपात् । ज्झण्टुमाद्याः शुष्काक्षराः देवैः प्रतिक्षिप्तत्वात् भूतसङ्घैश्च दैत्यादिभिः प्रवर्तिता ।

"निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम्" । (ना. शा. ५-३५)

इति वक्ष्यते ।

अत एवम्भूता गीतानां मद्रकादीनामादौ सम्यङ्नृत्तस्याभिनेयपदार्थाभावेनाभिनयशून्यतया नाश(तयाश)ङ्किता नाट्याङ्गस्य शुद्धस्य विभागका

अनुवाद—इसलिए भूतगणों ने प्रतिक्षेप से नृत्त का प्रवर्त्तन किया जो गीत के प्रारम्भ में प्रयुक्त किये जाते है और नृत्त के विभागों का सम्यक् नियोजन करते है ॥ २७२ ॥

विमर्श—भगवान् शङ्कर ने प्रतिक्षेप से ताण्डव नृत्त का प्रारम्भ किया था अतः भूतगणों ने नृत्त का प्रारम्भ प्रतिक्षेप से किया । अग्निपुराण में प्रतिक्षेप का अर्थ 'प्रचुरस्तुति से युक्त गीत विशेष' किया गया है । तदनुसार इसका अर्थ होगा भूतसमुदाय ने प्रचुर स्तुति से युक्त गीतविशेष के साथ नृत्त का प्रारम्भ किया । अभिनवभारती में उद्धृत एक अन्य मत के अनुसार 'गीत के अन्त में अङ्गों के प्रक्षेप से सम्पन्न वैचित्र्य से आश्रित नृत्त' प्रतिक्षेप का अर्थ है । नाट्यशास्त्र में वाद्ययन्त्रों का क्षेप-प्रतिक्षेप के साथ बजाये जाने का निर्देश है तदनुसार इसका अर्थ यह किया जा सकता है—'भूतगणों ने वाद्ययन्त्रों के क्षेप-प्रतिक्षेपपूर्वक वादन के साथ नृत्य का प्रारम्भ किया' । ॥ २७२ ॥

अभिनव—इसलिए नृत्त का प्रवर्त्तन किया अर्थात् प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग में लक्षण को योजित कर दिया । यहाँ पर 'एव' का अर्थ हेतु है, जिस प्रतिक्षेपरूप हेतु से देवताओं के 'ज्झण्टुम' आदि शुष्क अक्षरों के प्रतिक्षेप के कारण भूतसङ्घ दैत्यों ने नृत्त को प्रर्वत्तित किया । जैसा कि—

"वाद्ययन्त्रों के साथ शुष्काक्षरों के प्रयोगसहित निर्गीत को हमलोग ग्रहण करते हैं" (ना. शा. ५।३५) ।

यह आगे कहेंगे ।

---

१. ख. घ. अतश्चैव प्रतिक्षेपाः भूतसङ्घैः प्रकीर्तिताः ।
   ग. अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भुजाक्षेपैः प्रवर्त्तिताः ।

२. ख. सम्यङ्नृत्तविभावकाः ।

विभागप्रापका आदौ प्रयुज्यन्ते। एतदुक्तं भवति—गीतकानां यान्युपोहनानि तत्र तावन्नृत्तं शुद्धमेवं कर्तव्यम्। यद्वक्ष्यति—

"तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः सर्वभाण्डकम्।
क्षेपप्रतिक्षेपकृतं भाण्डोपोहनसंयुतम्"॥ इति (ना. शा. ४-३००)

ततश्च (तद्गतश्च) गीतकाङ्गमध्ये तु प्रवेशाभावोऽसिद्धः[1]। विचारणीयस्य चावापनिष्क्रामादेरगीतकाङ्गत्वमस्त्येव। यद्यपि "महागीतेषु चैवार्थान्" (ना० शा० ४-१५) इत्युक्तं वक्ष्यते च "ततोऽभिनयमाचरेत्" (ना० शा० ४-२९०) इति प्रथमत्वेऽभिनयनेऽस्यापि तथापि तत्र न मुख्यो नाट्यप्रसिद्धोऽभिनयार्थं इत्युक्तम्।

किन्त्वाभिनेयत्वेन नाट्याङ्गत्वदशायामवलोकनात् तथा वाचोयुक्तिः। लौकिककथास्विवाङ्गव्यवहारादावभिमुखीभावमात्रनयनश्चापि स्वार्थो यथा-वाच्यमभिनीतः। नहि तत्र साक्षात्कारकल्पतापादनमभिनयार्थः। किन्तु तल्लया-द्याहारित्वमात्रम्। एवमत्रापि तदर्थानुसारित्वमात्रं परप्रतिपत्तिमात्रं स्यात्।

अतः इस प्रकार मद्रक आदि गीतों के प्रारम्भ में अभिनेय पदार्थ के अभाव होने से जो अभिनयशून्य सम्यक् प्रयोज्य नाट्य के अङ्गभूत शुद्ध नृत्त के विभाजक नृत्त का प्रारम्भ में प्रयोग किया जाता है। यह कहा गया है कि—गीतों के जो उपोहन है उनमें इस प्रकार शुद्ध नृत्त करना चाहिए। जैसाकि आगे कहेंगे—

"गीत के प्रयोग में सर्वप्रथम नर्तकी का प्रवेश होता और क्षेप-प्रतिक्षेप के साथ समस्त वाद्यों का वादन होता है।" (ना० शा० ४।२९८)।

इससे गीत के अङ्गों के बीच में नृत्त के प्रवेश का अभाव सिद्ध नहीं होता। पाठभेद से नृत्त के प्रवेश का अभाव सिद्ध होता है और विचारणीय आवाज, निष्क्रम आदि गीत के अङ्ग नहीं है। यद्यपि "महागीतों में अर्थो को अच्छी तरह अभिनय करोगे" (ना० शा०-४।१५)। यह कहा है और आगे कहेंगे "इसके बाद अभिनय का प्रयोग करे" (ना. शा. ४।२९०)। इस प्रकार अभिनय में नृत्त का प्राथमिकता कहेंगे, तथापि वहाँ पर नाट्यप्रसिद्ध मुख्य अभिनय नहीं है, यह कहा गया है।

और भी अभिनेय होने से नृत्त के नाट्य के अङ्ग होने की दशा में देखे जाने से नृत्त का अभिनयत्व सिद्ध होता है। लौकिक कथा के समान अङ्गों के व्यवहार आदि में अभिमुखीभाव रूप नयन है, यह अर्थ भी अभिधा से प्राप्त होता है। वहाँ पर साक्षात्कारसदृश भाव का प्रतिपादन अभिनय का अर्थ नहीं है। किन्तु अभिनय से अनुस्यूत केवल ताल, लय आदि की आहार्यता है। इस प्रकार यहाँ भो केवल उसके अर्थ का अनुसरण परप्रतिपत्ति अर्थात् उत्तम ज्ञान मात्र है। इस प्रकार उसका अङ्ग

१. क. प्रवेशाभावः सिद्धः।

[1]देवेन चापि सम्प्रोक्तस्तण्डुस्ताण्डवपूर्वकम् ।
गीतप्रयोगमाश्रित्य [2]नृत्तमेतत्प्रवर्त्यताम् ॥ २७३ ॥

प्रचुरस्तुतियदस्थेनैवाङ्गभूतत्वेप्यनुगयिते[3] (गमित) कालात्पृथग्भूत एवादौ प्रयुज्यमानो लोकप्रसिद्धप्रथमगीयमानाक्षिप्तडोम्बिकाप्रायः प्रचुरस्तुतिपदयुक्तो गीतिविशेषप्रतिक्षेप इत्याह । इदं भरतमुनिना न क्वचिल्लक्षितम् ।

अन्ये तु गीतान्ते [4]प्रयोज्याश्छन्दकादय एवं नृत्तवैचित्र्याश्रया यथारुचि प्रतिक्षिप्यमाणाङ्गकाः प्रतिक्षेपाः । आदिशब्दश्च व्यवस्थायामासारितादिसङ्ग्रहार्थः प्रयुक्तः । सतीति चाध्याहार इति । मुनिमतं चात्र तयोरनुग्राहकम् । एवं [5]नाटचाङ्गानां नृत्तवाद्यगीताङ्गाद्युपयोगश्च समर्थितः । ॥ २७२ ॥

अधुनानृत्तप्रधानरागकाव्यादिविषयः काव्यं च नाटचाङ्गमिति दर्शयन्पुराकल्पच्छायया प्रकारान्तरमपि नृत्तस्य समर्थयितुमाह—देवेनेत्यादि ।

भूत होने पर भी अनुगीयमान काल से पृथक् प्रारम्भ में प्रयुज्यमान लोकप्रसिद्ध प्रथम गीयमान गीत से आक्षिप्त डोम्बिका प्रचुर स्तुतिपदों से युक्त गीतविशेष का नाम प्रतिक्षेप है, यह कहा गया है। भरतमुनि ने इसको कहीं भी लक्षित नहीं किया है। अर्थात् भरतमुनि ने प्रतिक्षेप का लक्षण नहीं किया है।

अन्य आचार्य तो कहते हैं कि गीत के अन्त में प्रयुक्त किये जाने वाले छन्दक आदि नृत्त में वैचित्र्य को उत्पन्न करने के लिए यथारुचि प्रतिक्षिप्त किये जाने के कारण अङ्गभूत होने से प्रतिक्षेप कहा जाता है। आदि शब्द व्यवस्था में आसारित आदि के संग्रह के लिए प्रयुक्त है। यहाँ 'सति' का अध्याहार है। मुनि का मत यहाँ इन दोनों का ग्राहक है। इस प्रकार नाट्य के अङ्ग नृत्त और गीत आदि के उपयोग का समर्थन कर दिया गया है ॥ २७२ ॥

अब नृत्तप्रधान रागकाव्यादि विषयक काव्य नाट्य के अङ्ग हैं, यह दिखाते हुए इतिहास के अनुसार प्रकारान्तर से भी नृत्त का समर्थन करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—महादेव शङ्कर ने भी तण्डु से कहा कि ताण्डव के साथ गीत के प्रयोग का आश्रय लेकर इस नृत्त को प्रवर्तित कीजिए अर्थात् इस नृत्त का प्रयोग कीजिये ॥ २७३ ॥

---

१. ख. घ. देवेन वापि सम्प्रोक्तस्ताण्ड्यस्ताण्डवपूर्वकः ।
क-अ. देवेन चापि सम्प्रोक्तस्ताण्डिस्ताण्डवपूर्वकम् ।

२. ख. नृत्यमेतत् प्रनृत्यताम् । क त. नृत्तमेतत् प्रयुज्यताम् । क-ब. नृत्तमेतत्प्रवर्त्तताम् ।

३. क-म. अनुगीयलकान्तलात् ।

४. क. प्रयोज्याश्छन्दाद्याः ।

५. क. पुस्तके नाट्याङ्गानां... गीताङ्गाद्युपयोगश्चेति पाठः ।

चकार एवकारार्थे। देवेनैव महेश्वरेणैव। तण्डुः सन्तोषपूर्वकं प्रकर्षेणादरेणोक्तः। किमित्याह--गीयत इति गीतं काव्यम्। तस्य यः प्रकर्षेण योगस्तदर्थानुप्रवेशलक्षण(स्त)माश्रित्य न छायाम्। आसमन्ताच्छ्रुत्वा। अङ्गविक्षेपिताङ्गत्वं सामरस्यलयसत्त्वादिना नृत्तं तच्छब्दस्वभावमपि यदभूत्ताण्डवप्रभृति नृत्तं तद्गीयमानरूपकगतवर्णालङ्कारलयदार्थवाक्यार्थसम्मिलितं यत्तत्प्रवर्त्यताम्। तदुक्तं कोहलेन—

"सन्ध्यायां नृत्यतः शम्भोर्भक्त्याऽऽर्द्रो नारदः पुरा।
गीतवांस्त्रिपुरोन्माथं तच्चित्तस्त्वथ गीतके॥
चकाराभिनयं प्रीतस्ततस्तण्डुं च सोऽब्रवीत्।
नाट्योक्त्याभिनयेनेदं वत्स योजय ताण्डवम्"॥ इति।

अथशब्दान्न केवलमिदं शुद्धमेव। नापि गानक्रिया। भाण्डवाद्यमात्रसम्बन्धमेव यावदगीत्याधारपदानुसार्यपि। तदर्थानुसरणाच्च तदनुसारणमिति॥ २७३॥

ननु किं तत्ताण्डवप्रवृत्तिनिमित्तमित्याशङ्क्याह--प्रायेणेति।

अभिनव—यहाँ पर 'देवेन चापि' में 'च' का प्रयोग 'एव' के अर्थ में हुआ है। अतः 'देवेन चापि' का अर्थ 'देवेनैव' अर्थात् देव महेश्वर के द्वारा ही अर्थात् महेश्वर ने सन्तोषपूर्वक अर्थात् आदर के साथ तण्डु से कहा। क्या कहा? बताते हैं—जो गाया जाय, उसे गीत कहते हैं अर्थात् काव्य। उसका जो आदर के साथ योग अर्थात् उसके अर्थ का हृदय में अनुप्रवेश है उसका आश्रय लेकर चारों ओर से श्रयण करके। अङ्गविक्षेपात्मक लयादि से युक्त नृत्त है और ताण्डवप्रभृति नृत्त है, जिसमे गीयमान रूपक के वर्ण, अलङ्कार, लय, पदार्थ और वाक्यार्थ से सम्मिलित नृत्त है, उसे प्रवर्त्तित करो। जैसाकि कोहल ने कहा—

"पहिले सन्ध्या के समय नृत्य करते हुए शम्भु के समक्ष भक्ति से आर्द्र होकर नारद ने गान किया और गीत में दत्तचित्त होकर त्रिपुरोन्माथ (त्रिपुरदाह) नामक रूपक का अभिनय किया तो प्रसन्न होकर शम्भु ने तण्डु से कहा कि—हे वत्स! नाट्योक्तिमय अभिनय के द्वारा इस ताण्डव की योजना करो।"

यहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द से सूचित होता है कि यह केवल शुद्ध गान नहीं है और न गान क्रिया है, भाण्डवाद्य आदि का सम्बन्ध मात्र है और गीति के आधारभूत पदों का अनुसरण है और पदों के अर्थ के अनुसार उनका अभिनय है॥ २७३॥

अब प्रश्न उठता है कि उस ताण्डव की प्रवृत्ति-निमित्त क्या है? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

[1]प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत् ।
[2]सुकुमारप्रयोगश्च शृङ्गाररससम्भवः ॥ २७४ ॥

ताण्डवमिति सर्वं नृत्तमुच्यते। लास्यशब्देन सन्निधौ गोबलीवर्दन्यायेन प्रवर्तते। तत्र विधीयतेऽस्मिन्नृत्तमिति विधिः विधीयमानं काव्यं सदैव(यद्देव) स्तुतिं वर्णनीयत्वेन चाश्रयति। तेन धर्मवीरप्रधानं तत्र काव्यम्। ([3]इत्युद्धतरूपतासूचनेनान्यरसपरिग्रहः)। प्रयुज्य इति प्रयोगः काव्यं सुकुमारो मसृणोऽनुसृतो यस्य तं दर्शयति। शृङ्गाररसस्य सम्भवो विद्यमानत्वमस्मिन्। शृङ्गाररसाच्च परिपूर्णात्सम्भवो यस्य कामावस्था मनसोऽस्मिन्नस्तीति। शृङ्गारेण पूर्णापूर्णरूपेण मसृणप्रयोगोपलक्षणम्। यद्यपि च नाट्यान्नान्यत्र रस इति वक्ष्यते तथापि काव्यान्नाट्यं निष्पद्यत एवेत्यस्ति रसानुप्रवेशः। अनेन च [4]रसाङ्गान्नृत्तस्य नाट्यम् (रसाङ्गं नृत्तं नाट्यम्)। प्रायेणेति वचनान्नरपति-

अनुवाद—प्रायः ताण्डव नृत्त का विधान देवताओं की स्तुति के साथ किया जाता है और सुकुमार नृत्य का प्रयोग शृङ्गार रस के सम्बन्ध में होता है ॥ २७३ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि ताण्डवनृत्य देवता की स्तुति प्रसङ्ग में किया जाता है और सुकुमार नृत्य लास्य का प्रयोग शृङ्गार रस के सन्दर्भ में किया जाता है। ऐसा देखा जाता है कि कुछ ऐसे नृत्तात्मक काव्य हैं जो नाट्यात्मक नहीं है। जैसे—डोम्बिका, षिद्गक, प्रस्थान, भाणिका, हल्लीसक, रासक आदि ॥ २७३ ॥

अभिनव—यहाँ पर ताण्डव पद से समस्त नृत्तों का ग्रहण होता है। अतः ताण्डव के सन्निधान में गोबलीबर्दन्याय से लास्य शब्द भी प्रवृत्त होता है। जिसमें विधान किया जाता है वह विधि है अर्थात् विधीयमान काव्य जो सदैव वर्णनीय रूप में स्तुति का आश्रय लेता है। इससे वहां धर्मवीर प्रधान काव्य है। (इस प्रकार उद्धतरूपता की सूचना से अन्य रसों का भी ग्रहण होता है)।[5]

जो प्रयुक्त किया जाय वह प्रयोग काव्य है जो सुकुमार अर्थ का अनुसरण करता है। जिसमें शृङ्गार रस विद्यमान हो अथवा शृङ्गार रस से परिपूर्ण जिसके मन की कामावस्था जिसमें सम्भव हो। यहाँ पर पूर्ण और अपूर्ण रूप शृङ्गार रस का मसृण प्रयोग उपलक्षित है। यद्यपि नाट्य से अन्यत्र रस नहीं होता, यह कहेंगे, तथापि

---

१. क-ख. सर्वोऽपि।
२. ख. ष. सुकुमारप्रयोगस्तु ।
३. 'इत्युद्धतरूपतासूचनेनान्यरसपरिग्रहः' क. पुस्तके इत्यधिकपाठः।
४ क. रसाङ्गं नृत्तस्य नाट्यम्।
५. यह कोष्ठकान्तर्गत अंश कुछ संस्करणों में नहीं मिलता है।

चाटुकाद्यपि सङ्गृहीतम् । चकारान्मसृणमप्युद्धतमिश्रमुद्धतं च मसृणमिश्रमित्यादिकमपि सङ्गृहीतं भविष्यतीति सर्वं लक्ष्यमनेन सूचितम् । तथाहि— डोम्बिकासु नरपतिचाटुकप्राधान्येन प्रवृत्तासु सुकुमारमेव शुद्धं रूपम् । भाणकेषु नृसिंहादिचरितवर्णनमुद्धतमेव । यत्पुनर्मसृणेऽप्युद्धतं प्रविशति तत्तदुचितमेव । ततोऽप्यल्पत्वबहुत्वकृतो भेदः [[1]पूर्वः प्रस्थानप्रबन्धः । उत्तरः षिद्गकभेदः । उद्धते तु मसृणानुप्रवेशाद्भाणिकाभेदः ।] अन्यदपि प्रेरणरामाक्रीडकरासकहल्लीसकादिकमल्पत्वबहुत्ववैचित्र्यकृतमिहैव प्रविष्टं वेदितव्यम् ।

तदुक्तं चिरन्तनैः—

"छन्नानुरागगर्भाभिरुक्तिभिर्यत्र भूपतेः ।
आवर्ज्यते मनः सा तु मसृणा डोम्बिका मता ।।
नृसिंहसूकरादीनां वर्णनां जल्पयेद्यतः ।
नर्तकी तेन भाणः स्यादुद्धताङ्गप्रर्दाततः ।।

काव्य से नाट्य निष्यन्द होता है, अतः काव्य में भी रस का प्रवेश रहता है । इससे रस का अङ्ग होने से नृत्त नाट्य है ।

'प्रायेण' इस कथन से राजा की चापलूसी आदि का भी संग्रह होगया । चकार से मसृण भी उद्धत से मिश्र और उद्धत मसृण से मिश्र होता है, इत्यादि का भी संग्रह हो जायगा । इस प्रकार इससे सभी लक्ष्यों की सूचना हो गई । जैसे, प्रधानरूप से राजाओं की चापलूसी से प्रवृत्त डोम्बिकाओं में शुद्ध सुकुमार रूप है । भाणकों में नृसिंह आदि का चरित्र-वर्णन उद्धत ही है । तो फिर मसृण में जो उद्धत का प्रवेश होता है वह उचित हीं है, किन्तु उसमें भी अल्पत्व और बहुत्व का भेद होता है । जैसे मसृण में मसृणता अधिक और उद्धतता कम होती है उसी प्रकार उद्धत में औद्धत्य अधिक और मसृणता कम होती है ।[[2]इनमें पहिला 'प्रस्थान' नामक प्रबन्ध है दूसरा षिद्गक' भेद है । उद्धत में तो मसृणता के प्रवेश से 'भाणिका' नामक भेद होता है ।] और भी प्रेरण, रामाक्रीड़क, रासक, हल्लीसक आदि में भी अल्पत्व-बहुत्व की विचित्रता से होने वाले भेदों को इन्हीं में प्रविष्ट समझना चाहिए ।

जैसाकि चिरन्तर आचार्यों ने कहा हैं—

"जहाँ पर प्रच्छन्न अनुराग से पूर्ण उक्तियों (कथाओं) के द्वारा राजा के मन का आकर्षण किया जाय वह मसृण प्रबन्ध '**डोम्बिका**' कही जाती है ।"

१ कोष्ठकान्तर्गतोऽशाः क-म. पुस्तके नास्ति ।

२ कोष्ठकान्तर्गत अंश कुछ संस्करणों में प्राप्त नहीं होता ।

गजादीनां गतिं तुल्यां कृत्वा प्रवसनं तथा ।
अल्पाविद्धं सुमसृणं तत्प्रस्थानं प्रचक्षते ॥
सख्याः समक्षं भर्तुर्यदुद्धतं वृत्तमुच्यते ।
मसृणं च क्वचिद्धूर्तचरितं षिद्गकस्तु सः ॥
बालक्रीडानियुद्धादि तथा सूकरसिंहजा ।
ध्वजादिना कृता क्रीडा यत्र सा भाणिका मता ॥
हास्यप्रायं प्रेरणं तु स्यात्प्रहेलिकयाऽन्वितम् ।
ऋतुवर्णनसंयुक्तं रामाक्रीडं तु भाष्यते ॥
मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकस्तत्र तु नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्" ॥ इत्यादि ।

जहाँ पर नर्त्तकी नृसिंह, शूकर (वराह) आदि अवतारों का वर्णन करती है वह उद्धत अङ्गों से प्रवर्त्तित नृत्त **'भाण'** कहलाता है ।"

"जहाँ पर गज की गति के समान नायिका की गति हो और प्रवास-गमन का वर्णन हो तथा उद्धत कम और मसृण (कोमलता) अधिक हो, उसे "**प्रस्थान**' कहते हैं" ।

"जहाँ पर सखी के समक्ष पति के उद्धत वृत्त का कथन किया जाता है । मसृण वर्णन और कहीं धूर्त्त के चरित का वर्णन हो वह **'षिद्गक'** कहा जाता है" ।

"जहाँ पर बालक्रीड़ा, बाहुयुद्ध आदि का वर्णन हो और नृसिंह एव वराहावतार की कथाएँ तथा ध्वज आदि के साथ क्रीड़ा का वर्णन हो, वहां "**भाणिका**' होती है" ।

"जहाँ पर पहेलियों के साथ हास्यप्राय वर्णन हो, उसे '**प्रेरणा**' कहते हैं" ।

"जहाँ पर ऋतुओं का वर्णन किया गया हो उसे '**रामाक्रीड़**' कहा जाता है ।"

"जहाँ पर स्त्रियाँ मण्डलाकार नृत्य करती हैं, उसे '**हल्लीसक**' कहते हैं ।"

"जहाँ पर एक नायक होता है जिस प्रकार गोपिकाओं मे कृष्ण और जा चित्र और लय से युक्त अनेक नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य होता है और चौसठ व्यक्तियों की जोड़ो नृत्य करती है तथा जो मसृण और उद्धत होता है वह **'रासक'** कहा जाता है ।"

[¹एते प्रबन्धा नृत्तात्मका: न नाट्यात्मकनाटकादिविलक्षणा:। राघवविजयमारीचवधादिकं रागकाव्यम्।] एतच्च ग्रन्थविस्तारभीत्या बहुतरं यथासम्भवं न लिखितमनुपयोगाच्च। यत्तूपयोगि तद्यथावसरं वर्णयिष्याम:।

एष तावत्पदगते चोद्यकप्रकार:। तत्र तु परस्परमसङ्गतिदोषोऽयं कैश्चिदुद्भाव्यते। स पूर्वादिनैव प्रतिसमाहित:। एक एव तु प्रकार: कलाविधिना निबध्यमानो राघवविजयमारीचवधादिकं रागकाव्यभेदमुद्भावयतीति। यथोक्तं कोहलेन—

²लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।
नानारसं सुनिर्वाह्यकथं काव्यमिति स्मृतम्॥

लयतश्चास्य गीत्याधारत्वेनाप्राधान्ये गीतेरेव प्राधान्यमिति न काव्यार्थविपर्यासवशेन रागभाषादिविपर्यासो नाट्य इव।

तथा हि राघवविजयस्य हि ठक्करागेणैव विचित्रवर्णनीयत्वेऽपि निर्वाह:। मारीचवधस्य ककुभग्रामरागेणैव। अतएव रागकाव्यानीत्युच्यन्त एतानि। रागो गीत्यात्मकत्वात्स्व(क: स्व)रस्य तदाधारभूतं काव्यमिति। एवमिदं च नृत्तं

[³ ये सभी प्रबन्ध नृत्तात्मक होते हैं। नाटक आदि से विलक्षण नाट्ययात्मक नहीं हैं 'राघवविजय' और 'मारीचवध' ये दो रागकाव्य हैं] ग्रन्थ के विस्तार के भय से तथा प्रकृत में इसका उपयोग न होने से इसके सम्बन्ध में बहुत अधिक नहीं लिखा गया है। जो उपयोगी होगा उसे यथावसर वर्णन करेंगे।]

यह तो पदगत आक्षेप का प्रकार है। यहाँ पर कुछ लोग परस्पर असङ्गति रूप दोष का उद्भावन करते हैं। उसका समाधान पूर्व और उत्तर आदि के द्वारा कर दिया गया है। यहीं एक प्रकार कला की विधि निबध्यमान राघवविजय और मारीचवध आदि रागकाव्य के भेद का उद्भावन करते हैं। जैसाकि कोहल ने कहा है—

"विभिन्न लय के प्रयोग से और रागों के द्वारा विवेचित, नाना रसों से सम्पन्न, सुन्दर कथाओं के ग्रथन से युक्त 'काव्य' होता है।"

अभिनवगुप्त के अनुसार यह 'रागकाव्य' है। यहाँ गीत के आधार पर लय का प्रयोग होने से लय की अप्रधानता और गीति की प्रधानता होती है। जिस प्रकार नाट्य में काव्यार्थ के परिवर्त्तन से राग, भाषा आदि का परिवर्त्तन होता है, उस प्रकार यहाँ काव्यार्थ के विपर्यय से राग, भाषा आदि का परिवर्तन नहीं होता अर्थात् राग, भाषा, ताल, लय आदि अपरिवर्त्तित रहते हैं।

१. कोष्ठकान्तर्गतो भाग: क-म. पुस्तके नास्ति।
२. अयं श्लोकार्द्ध: क.-भ. पुस्तके नास्ति।
३. कोष्ठकान्तर्गत अंश कुछ संस्करणों में नहीं मिलता।

सप्तकृतिप्रकारैर्भगवत एव प्रसृतम्। तथाहि--शुद्धमेव नृत्तं रेचकाङ्गहारात्मकम्। ततो गीतकाद्यभिनयोन्मुखम्। ततोऽपि गानक्रियामात्रानुसारि वाद्यतालानुसारि च। बाहुप्रेङ्खणोरःकम्पपार्श्वनमनोन्नमनचरणसरणस्फुरितकम्पितभ्रूतारापरिस्पन्दकटिच्छेदाङ्गवलनमात्ररूपम्। [1]यत्रोक्तं--

"तण्डुनापि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः।
नृत्तप्रयोगः" ॥ इत्यादि। (ना. शा. ४-२६०)

गीतिर्गानमिति ह्यत्र व्युत्पत्तिरुक्ता। ततोऽप्युद्धतसुकुमारमिश्रात्मकभेदचतुष्टयभिन्नकाव्यार्थानुसारितया चतुर्विधम्। तत्र प्रथमो भेदो लौकिके स्वतन्त्रनृत्ते देवतातोषणादौ वा। द्वितीयः पूर्वरङ्गविधौ परिशिष्टनृत्तलक्ष्यतया वास्य ताण्डवादि विश्वं व्याप्तमितीह पूर्वमुक्तम्--

और भी राघवविजय में वर्णनीय विषय की विचित्रता होने पर भी ठक्कराग के द्वारा उसका निर्वाह होता है और मारीचवध में वर्णन-वैचित्र्य होने पर भी ककुभ राग के द्वारा निर्वाह होता है। भाव यह कि राघवविजय में ठक्क राग का और मारीचवध में ककुभराग का प्रयीग होता है। इसलिए ये रागकाव्य कहे जाते हैं राग गीत्यात्मक होने से स्वरप्रधान है और स्वर का आधारभूत यह काव्य है। इस प्रकार यह नृत्त डोम्बिका आदि सात प्रकारों से भगवान् से ही प्रचालित (प्रसृत) हैं। जैसे--रेचक और अङ्गहार रूप नृत्त शुद्ध है। उसके बाद वह नृत्त गीतकाद्युन्मुख और अभिनयोन्मुख होता है। तत्पश्चात् वह केवल गान-क्रियानुसारी और वाद्य-तालानुसारी होता है, फिर वह अङ्गविक्षेपण रूप अर्थात् भुजोत्क्षेपण, उरःकम्पन, पार्श्व नमनोन्नमन, पाद-सरण, नेत्र-स्फुरण, कम्पन, भौंह, और पुतलियों का परिस्पन्दन, कटिच्छेद (कमर की लचक) तथा अङ्गवलन रूप होता है। जैसाकि कहा गया है—

"इतके बाद तण्डु ने गान और भाण्डवाद्य से समन्वित नृत्त प्रयोग की रचना की"। (ना० शा० ४।२६६)

गीति गान है, यहाँ पर यही व्युत्पत्ति कही गई है। वह भो उद्धत, सुकुमार और मिश्रात्मक चार भेदों से भिन्न काव्यार्थ के अनुसार चार प्रकार का होता है।[2] उनमें पहला भेद लौकिक स्वतन्त्र नृत्त में अथवा देवता के परितोषण आदि में होता है और दूसरा भेद पूर्वरङ्ग के विधान में अथवा परिशिष्ट नृत्त ताण्डव आदि के विधान में निहित है, यह पहिले कहा जा चुका है—

१. क. यच्चोक्तं --

२. यहाँ पर भेदचतुष्टय कहा है किन्तु उद्धत, सुकुमार और मिश्र तीन भेदों का ही उल्लेख है किन्तु यहाँ मिश्रके दो भेद मानकर भेदचतुष्टय कहा गया है। प्रथम दो

तस्य [1]तण्डुप्रयुक्तस्य ताण्डवस्य विधिक्रियाम्[2] ।
वर्धमानकमासाद्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २७५ ॥

"प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै" । इति (ना. शा. ४-१८)

भगवता तत्र तण्डुनाऽङ्गहाराः सप्रयोगाः प्रोक्ताः । तत्रैव भूतास्तावदङ्गहारा मह्यं प्रोक्ता इति रेचकैः पिण्डीबन्धैश्च सहितं मुनिना निरूपिताः । करणान्यपि तदुपयोगित्वेनाशङ्कितचोद्यनिराकरणप्रसक्तानुप्रसक्तं नृत्तस्वरूपं दर्शितम् ॥ २७४ ॥

अधुना तु प्रयोगः कीदृशोऽङ्गहाराणां प्रोक्त इति प्रकृतमेवानुसन्धातुमाह—तस्य तण्डुप्रयुक्तस्येति ।

तत्र पूर्वरङ्गोचितत्वाङ्गहारप्रयोग इत्युक्तम् । तत्र च "ताण्डव यत्र युज्यते ।" (ना. शा. ४-१३) इति वर्धमानकताल एव ताण्डवयोगयोग्य इति पूर्वं वर्धमानं गृह्णाति । तदनन्तरं तु गीतकादिविषयो विधिर्वक्ष्यते । तस्येति व्यवहितानुसन्धानार्थः परामर्शः । तण्डुप्रयुक्तग्रहणं समनन्तरोक्तनृत्तकाव्यादिविषयताण्डवशङ्कां निरस्यति । निधीयतेऽनेनेति विधिः गात्रम् । तत् दृष्ट्वा येयं क्रिया प्रयोगः सैव लक्षणम् । अन्यतो व्यवच्छेदकत्वात् । तत्र क्रियात्मकं लक्षणं वक्ष्यामीति सम्बन्धः ।

"अङ्गहारों का प्रयोग भरत के लिए कहिए ।" (ना० शा० ४।१८)

भगवान् तण्डु ने प्रयोगों के साथ अङ्गहारों का निरूपण किया है इस प्रकार उन अङ्गहारों को मेरे लिए कहा, इस प्रकार रेचक और पिण्डीबन्धों के साथ मुनि ने निरूपण किया है और अङ्गहारों के उपयोगी करणों का भी निरूपण किया है । फिर आशङ्कित प्रश्नों के निराकरण से सम्बद्ध नृत्य के स्वरूप को भी प्रदर्शित किया है ॥ २७४ ॥

अब अङ्गहारों का प्रयोग किस प्रकार कहा, इस प्रकृत का अनुसन्धान करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—अब मैं वर्धमानक के साथ उस तण्डुमुनि के द्वारा प्रयुक्त ताण्डव नृत्त की विधिक्रिया (विधान) और लक्षणों को कहूंगा ॥ २७५ ॥

भेद होते हैं—उद्धत और सुकुमार । फिर उद्धत मसृणमिश्रित और मसृण उद्धतमिश्रित भेद से मिश्र दो प्रकार का होता है । इस प्रकार (१) उद्धत (२) सुकुमार (३) सुकुमारमिश्र उद्धत अर्थात् उद्धत अधिक सुकुमार कम (४) उद्धतमिश्र सुकुमार अर्थात् सुकुमार अधिक उद्धत कम ये चार भेद होते है । इसलिए भेदचतुष्टय कहा है ।

१. ख. ताण्डवप्रयुक्तस्य । क. अ. ताण्डिप्रयुक्तस्य । २. ग. विधिक्रिया ।

ननु सा क्रियोक्ता करणाङ्गहारविषया। सत्यम्। गीततालसंमिश्रा तु नोक्ता। इह तु वर्धमानाख्यं तालमासाद्य साम्यापादनायोपायतां नीत्वा तत्प्रमिति-गीत्याधारत्वाच्च वर्धमानशब्दवाच्यं "देवं देवैः संस्तुतमीशम्।" (ना० शा० ३१-९८) इत्यादिवाक्यसमूहमासाद्याभिनेयतयाश्रित्य तदाक्षिप्तञ्च गीतविशेष-मासाद्याङ्गस्य वलनावर्तनादिगतद्रुततारादिनियमकारित्वेनावलम्ब्य वक्ष्यामीति सम्बन्धः। वर्धमानकगीततालाभिनयसम्बन्धतयोदितं ताण्डवं वक्ष्यतीति यावत्॥ २७५॥

तत्र वर्धमानस्य भविष्यल्लक्षणानुवादेन (ना० शा० अ-३१) ताण्डवयोगा-भिधानायाद्यरूपमाह– कलानामित्यादि।

अभिनव—वहाँ पूर्वरङ्ग में प्रयोग करने के योग्य होने से अर्थात् पूर्वरङ्ग के औचित्य के लिए अङ्गहारों का प्रयोग होता है, यह कहा गया है। 'जहाँ ताण्डव का प्रयोग होता है' (ना. शा. ५।१३) इस प्रकार वर्धमानक ताल ही ताण्डव के प्रयोग के योग्य है, इसलिए पहिले वर्धमानक को ग्रहण करते हैं। इसके बाद गीत आदि के सम्बन्ध में विधि को कहेंगे। 'तस्य' में 'तत्' शब्द व्यवहित कहे हुए अनुसन्धान के लिए परामर्श है। 'तण्डुप्रयुक्त' पद का ग्रहण समनन्तर (तत्काल) कहे हुए नृत्त-काव्य के विषय में उत्पन्न ताण्डव की शङ्का का निराकरण करता है। जिससे विधान किया जाय वह विधि शरीर है. उसे देखकर जो क्रिया (प्रयोग) है वही लक्षण है। अन्य से व्यवच्छेदक होने के कारण उसका क्रियात्मक लक्षण कहूँगा, यह सम्बन्ध है।

अब प्रश्न होता है कि करण और अङ्गहारों से सम्बद्ध जो क्रिया है वह कह दी गई है, यह सत्य है; किन्तु गीत और ताल से मिश्रित क्रिया को नहीं कहा है। यहाँ पर तो वर्धमान नामक ताल को लेकर अर्थात् साम्य सम्पादन के उपाय को प्राप्त कर उससे प्रमिति गीति का आधार होने से वर्धमान शब्द से वाच्य 'देवैः देवं संस्तुतमीशं' इत्यादि वाक्यसमूह का अभिनेयत्वेन आश्रयण करके उससे आक्षिप्त गीतिविशेष को ग्रहण करके (प्राप्त करके) अङ्ग के वलन, आवर्त्तन आदि में रहने वाले द्रुत तार आदि के नियमकारी के रूप में ग्रहण करके कहूँगा, यह सम्बन्ध है। वर्धमानक गीत, ताल, अभिनय से सम्बद्ध रूप में कहे गये ताण्डव को कहूँगा ॥२७५॥

वर्धमानक

अब वर्धमान के भविष्य में अर्थात् आगे कहे जाने वाले लक्षण के अनुवाद के द्वारा ताण्डव से सम्बन्ध बताने के लिए आद्य रूप को कहते हैं—

कलानां [1]वृद्धिमासाद्य [2]ह्यक्षराणां च वर्धनात् ।
[3]लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ॥ २७६ ॥

सप्तदशकलः कनिष्ठासारितकः । स एव द्विगुणलयो लयान्तरः । त्रयस्त्रिंशत्कलो मध्यमः । पञ्चषष्टिकलो ज्येष्ठः । तेन कलानां लयद्वारेण सङ्ख्याद्वारेण च वृद्धिः । तद्वृद्धयै च हीयमानपदवृद्धिराक्षिप्ता (हीयमानपदवृत्तिराक्षिप्ता) । यद्वक्ष्यते—"चत्वारस्तु गणा युग्मे ओजे" इत्यादि (ना० शा० ३१-९७) । इह त्वक्षराणि तेषां वृद्धिः कलानुसारेणैव नर्त्तकीनां च वृद्धिः । एका हि प्रथमासारिते न तत्प्रयोक्त्री । द्वितीये द्वे इत्यादिक्रमेण । अतो वृद्धियोगाद्वर्धमानकम् । ततः संज्ञायां कन् । कण्डिकानां च दशपरिवर्तक्रमो भविष्यति । प्रयोगे यथा यथाक्षरं विनिवृत्तमित्यपि यो भेदो भविष्यति तेनापि क्रमेण कलादीनां वृद्धिः । अतोऽत्राङ्गहारप्रयोगस्य परिपूर्णस्य च पिण्डीबन्धविधेः सम्यङ्निष्पत्तिर्भवतीति तात्पर्यम् ।

वर्धमानक का लक्षण

अनुवाद—जहाँ पर कलाओं की वृद्धि के साथ अक्षरों की वृद्धि होती है और लय की वृद्धि होती है, उसे 'वर्धमानक' कहते हैं ॥ २७६ ॥

अभिनव—वर्धमानक एक प्राचीन गीत है । इसमें कलाओं, अक्षरों और लयों की वृद्धि होती है । वर्धमानक आसारित गीत पर आधारित है । आसारित गीत में लय आदि की वृद्धि कर देने पर 'वर्धमानक' की निष्पत्ति होती है । आसारित गीत के चार प्रकार होते हैं–कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ । इनमें कनिष्ठ आसारित सत्तरह कलाओं का होता है, वही द्विगुणित होकर लयान्तर होता है अर्थात् कनिष्ठ आसारित में जितने अक्षर होते हैं उनसे दुगुना होने पर लयान्तर होता है । मध्यम आसारित तैंतीस कलाओं का होता है और ज्येष्ठ आसारित पैंसठ कलाओं का होता है । इस प्रकार कलाओं की वृद्धि लय और संख्या दोनों के द्वारा होती है । उनकी वृद्धि के लिए हीयमान पदों की वृद्धि का आक्षेप किया जाता है । जैसाकि कहा कायगा—

"समपाद में चार गण और विषमपाद में छः गण होते हैं ।" (ना.शा.३१।१.६)

यहाँ तो अक्षरों की वृद्धि होती है और कलाओं की वृद्धि के अनुसार नर्त्तकियों की वृद्धि होती है । प्रथम आसारितक नृत्त में एक नर्त्तकी, द्वितीय आसारितक नृत्त में दो नर्त्तकियाँ प्रयोग करती हैं, इसी क्रम से आगे भी वृद्धि होती है । इसलिए वृद्धि

---

१. क.अ. वृद्धिमालोक्य ।
२. ख. ब. त्वक्षराणाम् ।
३. ग वर्धनान्नर्तकीनाञ्च वर्धमानकमुच्यते । ख. लक्ष्यस्य बन्धनाच्चापि वधमानकमुच्यते ।

कृत्वा कुतपविन्यासं [1]यथावद्द्विजसत्तमाः ।
[2]आसारितप्रयोगस्तु ततः कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ २७७ ॥

एवं लक्षणानुवादेन ताण्डवोपयोगमभिधाय विधिदृष्टां क्रियां प्रतिज्ञानपूर्वमाह—कृत्वेत्यादि ।

पूर्वरङ्गविधौ वक्ष्यते—

'कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया ।

कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा ॥" इति (ना० शा० ५-२१) । तत्र प्रथमार्धेन शुष्काक्षरैरासारितप्रयोगमाह । तथा च वक्ष्यति—

"एतानि तु बहिर्गीते त्वन्तर्यवनिकागतैः ॥" इति (ना०शा० ५-११) । बहिर्गीतशब्देन द्वितीयार्धेन सार्थकपदयुक्तमासारितप्रयोगमाह । तत्रैव चोच्यते—

के योग से वर्धमानक होता है। कण्डिकाओं के दश परिवर्त्तक्रम होंगे। प्रयोग में जैसे 'यथाक्षरं विनिवृत्तम्" अर्थात् जिसमें अक्षर निवृत्त नहीं होता, यह यथाक्षर नामक जो भेद होगा उसके क्रम से भी कलाओं की वृद्धि होती है। इसलिए यहाँ पर अङ्गहार से परिपूर्ण अर्थात् नृत्ताङ्गहारोपलक्षित पिण्डोबन्ध नृत्त की सम्यक् निष्पत्ति होती है, यह तात्पर्य है ॥ २७६ ॥

आसारित

इस प्रकार लक्षण के अनुवाद के द्वारा ताण्डव नृत्त के प्रयोग का अभिधान करके प्रतिज्ञापूर्वक विधि से दृष्ट क्रिया को कहते हैं—

अनुवाद—हे ब्राह्मणश्रेष्ठों ? कुतुपों अर्थात् वाद्ययन्त्रों की विधिवत् स्थापना करके फिर प्रयोक्ताओं को आसारित का प्रयोग करना चाहिए ॥२७७॥

अभिनव—जैसाकि पूर्वरङ्ग के विधान में आगे कहेंगे—

"कला और पात का विभाग करने के लिए 'आसारित' क्रिया की जाती है। और देवताओं के कीर्त्तन करने से गीत या गीतक विधि का प्रयोग समझना चाहिए।" (ना० शा० ५।२१)।

उसमें पूर्वार्द्ध के द्वारा शुष्काक्षरों से आसारित प्रयोग को कहते है और आगे कहेंगे—

"इन बहिर्गीतों का प्रयोग यवनिका के भीतर सम्पादित करना चाहिए।" (ना० शा० ५।११)

बहिर्गीत शब्द से उत्तरार्द्ध के द्वारा सार्थक पदों से युक्त 'आसारित' प्रयोग को कहते हैं और आगे कहेंगे—

---

१. क. प. यथावदनुपूर्वशः ।

२. ब. आसारितप्रयोगस्तु । क-अ. प्रसारितप्रयोगस्तु ।

"ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघाट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥"

गीतानां मद्रकादीनाम् । (ना० शा० ५-१२) इत्यादि ।

तस्मिन्नवसरेऽयं नृत्तप्रयोग इति तमेवावसरं दर्शयन्ति—कृत्वेत्यर्धेन ।

कुतं शब्दं पातीति चतुर्विधमातोद्यं कुतपं तत्प्रयोक्तृजातञ्च । तस्य विशेषेण व्यवस्थापनम् । तत्र विशेषेण न्यासो यथायोगं स्वरताललयकलादिनिवेशनम् । स एव प्रत्याहारादिरासारितक्रियान्तःपरिपूर्णो विन्यासः । आसारितक्रियाभिघातातोद्ये तत्प्रयोक्तरि च प्रयोक्ष्यमाणासारितगतकलापातप्रस्ताव एवं क्रियत इत्युक्तम् । स च परिपूर्णो विन्यासो यथावच्छब्देन दर्शितः । अनुपूर्वंश इति पाठे प्रत्याहारावतरणाद्यङ्गजातं सूचयति । तेन (एतदुक्तं) तदुक्तं भवति—अन्तर्यवनिकागते शुष्काक्षरप्रयोगप्राणभविष्यदातोद्यप्रस्तावनात्मके दृष्टफलदैत्यादिपरितोषणया तद्विघ्नशामनशास्त्रीयफले च प्रयुक्तेऽङ्गकलापेऽयं प्रयोगविधिः । आसारितप्रयोग इति सार्थकपदं य इत्यर्थः । प्रयोक्तृभिरित्यातोद्यान्तरसाहित्य बहुवचनेनाह ॥ २७६ ॥

"इसके बाद यहाँ यवनिका को हटाकर सभी वाद्ययन्त्रों के साथ नृत्त तथा पाठ्य का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए और मद्रक आदि गीतों में किसी एक गीत की योजना करनी चाहिए।" (ना० शा० ५।१२-१३) ।

उस अवसर पर यह नृत्त प्रयोग होता है, 'कृत्वा' इत्यादि अर्द्धश्लोक द्वारा उसी अवसर को दिखाते हैं—

कुतुपविन्यासमिह—'कुतं शब्दं पाति रक्षति इति कुतुपः' अर्थात् जो शब्द की रक्षा करता है उसे 'कुतुप' कहते हैं। चार प्रकार के वाद्य तथा उनके प्रयोगकर्त्ता 'कुतुप' कहलाते हैं। उनका विशेष रूप से व्यवस्थापन विन्यास है। वहाँ विशेष रूप से न्यास अर्थात् स्वर, ताल, लय, कला आदि का यथायोग सन्निवेश। वहीं प्रत्याहार से लेकर आसारित क्रिया पर्यन्त पूर्णरूप से (परिपूर्ण) विन्यास है। आसारित क्रिया के द्वारा अभिघात (पात) किये गये वाद्य और उनके प्रयोक्ताओं द्वारा किये गये आसारितगत कला एवं पात का प्रस्ताव इस प्रकार किया जाता है, यह कहा गया है। वह परिपूर्ण विन्यास 'यथावत्' शब्द के द्वारा दिखा दिया है। 'अनुपूर्वशः' इस पाठ को स्वीकार करने पर प्रत्याहार, अवतरण आदि अङ्गों की सूचना मिलती है। इससे यह कहा गया है कि–यवनिका के भीतर शुष्काक्षर प्रयोगात्मक आतोद्यो (वाद्यों) के प्रयोग से युक्त प्रस्तावनात्मक दृष्ट फल वाले दैत्यादि (विष्णु) के परितोष से नाट्य-विघ्नों के शमन रूप शास्त्रीय फल वाले पात्रों द्वारा प्रयुक्त यह आङ्गिक अभिनय है। 'आसारित प्रयोग' यह सार्थक पद है। 'प्रयोक्तृभिः' इस बहुवचन से आतोद्यान्तर का कथन है ॥ २७७ ॥

[1]तत्र तूपोहनं कृत्वा [2]तन्त्रीगानसमन्वितम् ।
कार्यः प्रवेशो नर्तक्या भाण्डवाद्यसमन्वितः ।। २७८ ।।
विशुद्धकरणायां तु जात्यां [3]वाद्यं प्रयोजयेत् ।
[4]गत्या वाद्यानुसारिण्या तस्याश्चारीं प्रयोजयेत् ।। २७९ ।।

प्रयोगक्रमं दर्शयति—तत्र त्वित्यादिना ।

उपोहनं शुष्काक्षरं कनिष्ठासारिते पञ्चकलम् । उपोह्यन्ते समासव्यासतः पदकालतालमभिहिताः स्वरा यस्मिन्नङ्गे तत्तथोक्तम् । गानं सुषिरातोद्यं गीयते यतः स्थानस्वरादिति गानम् । तेन घनावनद्धातोद्यद्वयस्यात्र निराशः । उपोहनसमाप्तौ नर्तक्याः प्रवेशः । तत्र भाण्डवाद्यं पुष्करवाद्यं तत्र विशुद्धकरणजातौ[5] । सा च मध्यस्त्रीणां लक्ष्यते । तत एवात्रानुकारसाक्षात्कारशङ्कानिराकरणम् ।

अब प्रयोग के क्रम को दिखाते हैं—

अनुवाद तदनन्तर तन्त्रीवाद्य पर गाने (गायन) के साथ उपोहन करके भाण्डवाद्य के वादन के साथ नर्त्तकी को रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए ।। २७८ ।।

अनुवाद—विशुद्ध करणों तथा जातियों में वाद्ययन्त्रों का प्रयोग करे । और वाद्यानुसारिणी अर्थात् वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से चारी का प्रयोग करे ।। २७९ ।।

अभिनव—अभिनवगुप्त ने कनिष्ठासारित में पाँच कलों के अन्तर्गत शुष्काक्षर के प्रयोग को 'उपोहन' कहा है । जिस अङ्ग में पद, काल, ताल के साथ स्वरों का संक्षेप (समास) एवं विस्तार (व्यास) से उपोहन किया जाता है उसे 'उपोहन' कहते हैं । तत और सुषिर आतोद्य पर जो गाया जाता है उसे गान कहते हैं । इससे घन और अवनद्ध वाद्यों का निरास (निराकरण) हो गया । उपोहन की समाप्ति पर नर्त्तकी का प्रवेश होता है । इसके साथ भाण्डवाद्य (पुष्करवाद्य) का विशुद्ध करण और जाति में प्रयोग होता है । वह जाति मध्यम वर्ग की स्त्रियों में दिखाई देता है । उसी से यहाँ अनुकार (अनुकरण) के साक्षात्कार की शङ्का का निराकरण हो गया ।

---

१. ख. घ. तत्र चोपोहनं । क-अ. तत्रोपवहनम् । क-प. ततस्तूपोहनम् ।
२. ख-घ. तन्त्रीभाण्डसमन्वितम् । ३. क-अ. भाण्डम् ।
४. क ख. गीत्या वाद्यानुसर्पिण्या ततश्चारीं प्रयोजयेत् । घ. गत्या वाद्यानुसर्पिण्या ततश्चारी प्रयोजयेत् । क. गत्या वाद्यानुसर्पिण्या तस्यां चारीं प्रयोजयेत् । अ. गत्यावाद्यानुसर्पिण्या तस्माच्चारी प्रयजयेत् ।
५. क. म. विशुद्धकरणताली

तथा हि—सति परमेश्वरस्य रामादिवत्प्रयोज्यत्वे [1]प्रथमप्रकृत्यादिचित्त-जातिप्रसङ्गः। तत्र—

"एकाक्षरं विशुद्धायां वाद्यं स्यात्सर्वमार्गकम्।"
"द्धं द्धं खो खो णा णादि या विहितवाक्या।
सा शुद्धा विज्ञेया मध्यस्त्रीणां समा जातिः॥" इति।

(ना. शा. ३४।१३६-१३८)

अद्यत्वे अयमेव वर्णस्तत्तत् "रुन्दहि रुन्दहि" इत्यादि। तथाविधवाद्यानुसारिणी या गतिः तदुपलक्षणचारीति सम्बन्धः। 'करणाङ्गहारान्प्रयुञ्जीत' इति भाण्ड-वाद्यस्यानुप्रयोज्यता प्राधान्येनोक्ता। यथोक्तं भवति भट्टतौतेन—"पर्यायशास्त्र-स्यास्य प्रयोगः" इति॥ ३७८-३७९॥

जैसा कि, रामादि के समान आचरण करने के लिए राजा के प्रयोज्य होने पर प्रकृत्यादि से प्राप्त जाति का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

वहाँ—

"विशुद्धा जाति में एकाक्षर की आवृत्ति होती है और रस एवं भावों के औचित्य से सभी मार्गों का अनुसरण करने वाले वाद्य का प्रयोग होता है और वह नित्य करण के योग से अन्वित होती है।"

जैसे--"द्धं द्धं खो खो णा णा" आदि से बने हुए वाक्यों वाली शुद्धा जाति सदा मध्यम श्रेणी की स्त्रियों में रहती है।" (ना० शा० ३४।१५०-१५१)

प्रथम अर्थात् एकाक्षर की आवृत्ति में वही वर्ण (अक्षर) बार-बार आता है। जैसे 'रुन्दहि रुन्दहि' इत्यादि में। इसके बाद वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से उपलक्षित 'चारी' का प्रयोग होता है, यह सम्बन्ध है। "करण और अङ्गहारों का का प्रयोग करे" इस प्रकार भाण्डवाद्यों की अनुप्रयोज्यता प्रधान रूप से कही गई है। जैसा कि भट्टतौत ने कहा है कि--"क्रमशः (क्रम से) इसका प्रयोग होता है।" ॥ २७८-२७९ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ताण्डव नृत्य में वर्धमानक के प्रयोग को आवश्यक बताया गया है क्योंकि वर्धमानक के विना ताण्डव का प्रयोग सम्भव नहीं है। वर्धमानक में कलाओं, अक्षरों और लयों की वृद्धि होती है। आसारित के समुदित रूप को वर्धमानक कहते है। आसारित चार प्रकार का होता है—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। समय के विभाग को कला कहते हैं। सत्तरह कलों का कनिष्ठासारित होता है। तैंतीस कलों का मध्यमापसारित और पैंसठ कलों का ज्येष्ठापसारित होता है। इस प्रकार लय और संख्या दोनों के द्वारा कलाओं की वृद्धि होती है और उसकी वृद्धि के लिए

1. प्रथमप्रकृत्यादविचितजातिप्रसङ्गः।

हीयमान पदों की वृद्धि कर आक्षेप किया जाता हैं। अक्षरों की वृद्धि भी कलाओं के अनुसार होती है। कला तथा अक्षरों की वृद्धि के अनुसार नर्त्तकियों की संख्यावृद्धि होती है। जैसे प्रथम आसारित में एक नर्तकी, द्वितीय आसारित में दो नर्त्तकी और तृतीय आसारित में तीन नर्त्तकियों की वृद्धि होती है। इस प्रकार वृद्धि के योग से वर्धमानक होता है।

आसारित का योग वर्धमानक कहा जाता है। अर्थात् आसारित में ताल, लय, वाद्य, अभिनय आदि की वृद्धि कर देने से वर्धमानक होता है। वर्धमानक चार खण्डों में विभाजित है जिन्हें कण्डिका कहते हैं। देवताओं ने ध्रुवक और कलाओं के आश्रय से कण्डिकाओं का निर्माण किया है। कण्डिकाओं का दश संख्या में परिवर्त्तक्रम होता है। बिस्तार के भय से इनका विस्तृत विवेचन नहीं करते हैं। उनका विस्तार आगे यथावसर किया जायगा।

अक्षरसंख्या के अनुसार आसारित के तीन भेद बताये गये हैं—यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात।

> आसारितानां सर्वेषां त्रयो भेदाः प्रकीर्त्तिताः।
> यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि च ॥ (ना० शा० ३१।११४)

इनमें यथाक्षर अनिवृत्ताक्षर पद होता है अर्थात् यथाक्षर में अक्षरों और पदों की निवृत्ति (आवृत्ति) नहीं होती। अर्थात् यथाक्षर आवृत्तिशून्य होता हैं। यहाँ पर निवृत्ति' का अर्थ आवृत्ति है। (**निवत्तिरावृत्तिरुच्यते**—अभिनव)। अन्य दोनों भेदों में निवृत्ति (आवृत्ति) का विधान है। यह आवृत्ति द्विसंख्यात में दो बार और त्रिसंख्यात में तीन बार होती है।

> अनिवृत्ताक्षरपदं यथाक्षरमिति स्मृतम्।
> निवृत्या यत् समायुक्तं द्विसंख्यातं तदुच्यते।
> निवृत्तिद्वयसंयुक्तं त्रिसंख्यातमपीष्यते ॥
> (ना०शा० ३१।११५-११६)

इसके बाद कुतप विन्यास करके आसारित का प्रयोग करना चाहिए। कला-पात के विभाजन के लिए आसारित क्रिया की जाती है। इसमें शुष्काक्षरों के द्वारा यवनिका के भीतर सभी भाण्डवाद्यों के संयोग से प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त अङ्गों का सम्पादन किया जाता है। इसके बाद यवनिका को हटाकर कुतप-विन्यास करना चाहिए। नाट्यशास्त्र में वादक एवं वाद्यवृन्द के लिए 'कुतप' शब्द का प्रयोग हुआ है। व्युत्पत्ति के अनुसार कुतप शब्द का अर्थ है—'कुं शब्दं पाति रक्षति इति कुतपः' अथवा 'कुं नाट्यभूमिं तपति उज्ज्वलयति इति कुतपः' अर्थात् जो शब्दों की रक्षा करता है अथवा जो नाट्यभूमि को प्रकाशित करता है, उसे 'कुतप' कहते हैं। इस प्रकार

तदनन्तरं प्रयोगमाह—वैशाखस्थानकेनेत्यादि ।

अभिनवगुप्त ने गायक-वादकों के समुदाय को 'कुतप' कहा है तदनुसार रङ्गमञ्च पर पूर्व-रङ्ग विधि के पहिले 'कुतप-विन्यास' करने का विधान बताया गया है। भरत ने कुतप का त्रिविध विभाजन किया है—१-तत कुतप २-अवनद्ध कुतप ३-नाट्य कुतप। ततकुतप में तन्त्री एवं सुषिर वाद्यों का विन्यास किया जाता था और वैपञ्चिक, वैणिक तथा वंशवादक का सन्निवेश किया जाता था। अवनद्ध कुतप में मार्दङ्गिक, पाणविक और दार्दुरिक आदि वादकों का समावेश था। नाट्यकुतप में गायक-वादक तथा नट-नर्त्तकियों के रङ्गमञ्च पर बैठने का विधान बताया गया है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के वाद्यवृन्द एवं गायक, वादक तथा नट-नर्त्तकियों के समूह के लिए 'कुतप' शब्द का प्रयोग होता है। आसारित क्रिया के बाद तन्त्रीगान के साथ उपोहन का सम्पादन किया जाता है। अभिनवगुप्त ने कनिष्ठापसारित में पाँच कलों के अन्तर्गत शुष्काक्षर के प्रयोग को उपोहन माना है। भरत ने उपोहन की परिभाषा निम्न प्रकार दी है—

उपोह्यन्ते स्वरा येन तेन गीतं प्रवर्त्तते।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥
अथवोपोह्यते यस्मात् प्रयोगः सूचनादिभिः।
तस्मादुपोहनं ह्येतद् गानभाण्डसमाश्रयम् ॥
(नाशा० ३१।१३८-१३९)

अर्थात् जिससे स्वर धारण (उपवहन) किये जाते हैं और उससे गीत का प्रवर्त्तन होता है, शुष्काक्षर से समन्वित उसे 'उपोहन' कहते हैं। (ना० शा० ३१-१३८)

अथवा

जिससे नाट्यप्रयोग की सूचना अभिनय के द्वारा अथवा शुष्काक्षर गान एवं भाण्डवाद्य के द्वारा जाती है उसे 'उपोहन' कहते हैं। (ना० शा० ३१।१३९)।

अभिनवगुप्त के अनुसार जिससे अङ्ग में पद, काल, ताल सहित स्वरों का संक्षेप और विस्तार से उपोहन किया जाता है, उसे उपोहन कहते (**उपोह्यन्ते समासव्यासतः पादकालतालमभिहताः स्वरा यस्मिन्नङ्गे तदुपोहनम्**)।

इस प्रकार उपोहन गीत का प्रारम्भिक भाग है जिसमें स्वरों का शुष्काक्षरों द्वारा गायन होता है। उपोहन के समाप्त होने पर नर्त्तकी का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है। यहाँ पर पुष्करवाद्यों (भाण्डवाद्य) पर विशुद्ध करण और जाति का प्रयोग किया है। वह जाति मध्यम श्रेणी की नारियो में होती है। तदनन्तर वाद्यों की अनुसरण करनेवाली गति से चारी का प्रयोग किया जाता है ॥ २७९ ॥

अब इसके बाद प्रयोग को कहते हैं—

[1]वैशाखस्थानकेनेह सर्वरेचकचारिणी ।
पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रङ्गमण्डपम् ॥ २८० ॥
पुष्पाञ्जलिं विसृज्याथ रङ्गपीठं परीत्य च ।
प्रणम्य [2]देवताभ्यश्च ततोऽभिनयमाचरेत ॥ २८१ ॥

वैशाखरेचितकरणमनेन लक्षयति—

"रेचितं हस्तपादं च कटिग्रीवं च रेचितम् ।" इति (ना. शा. ३-९७) पुष्पाञ्जलिधरेति ।

तलपुष्पपुटकरणमनेन लक्ष्यते—विसृज्येति । पुष्पाक्षेपमङ्गप्रक्रमेण प्रदर्श्येत्यर्थः । अन्ये तु सद्य एव पुष्पाञ्जलिं तत्मोक्षं चाहुः—रङ्गपीठे यः परिगमः परिष्वङ्गकरणं मध्य एव देवतानां पूर्वपूजितानां प्रणामाभिनय इत्येककालत्वं चशब्देनोक्तत्वात् द्वयं चाचरेदित्येतदुपेक्ष्यम् । पौर्वकाल्यमाश्रित्य ततोऽभिनयमिति । भक्त्यतिशयेन तदर्थभावनया विशिष्टतां प्रदर्शयितुम् । आसारितवाक्यस्य पदार्थवाक्यार्थविषयोऽभिनयः स्वात्मन्याभिमुख्यनयनात् । न तु सामाजिकान्प्रति । २८१ ॥

अनुवाद इसके वाद वैशाखस्थानक स्थिति में सभी रेचकों को प्रयोग करती हुई नर्त्तकी अञ्जलि में पुष्पों को लेकर रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥२८०॥

अभिनव--यहाँ पर "वैशाखस्थानक" पद से "वैशाखरेचितकरण' के प्रयोग की ओर सङ्केत है—

"इसमें हस्त, पाद, कटि, ग्रीवा रेचित होते हैं ।" (ना० शा० ४।९९)

अनुवाद—इसके बाद नर्त्तकी रङ्गपीठ पर चारों ओर घूमकर तथा पुष्पाञ्जलि को विखेरकर और देवताओं को प्रणाम कर तब अभिनय प्रारम्भ करे ॥ २८१ ॥

अभिनव--'पुष्पाञ्जलि' पद से 'तलपुष्पपुट' करण का प्रयोग लक्षित होता है—'विसृज्य' का अर्थ है--अङ्गों के सञ्चालन के क्रम से पुष्पक्षेपण को दिखाकर । अन्य आचार्य तो तुरन्त ही अञ्जलि में फूलों को लेना और उसे विखेर देना कहते हैं । 'च' पद से रङ्गपीठ पर चारों ओर परिगमन और मध्य में पूर्वपूजित देवताओं को प्रणाम करना दोनों का एक साथ अभिनय करना कहा गया है अर्थात् दोनों का एक साथ आचरण करे, यह उपेक्ष्य है अर्थात् देवताओं को प्रणाम करने के बाद तब अभिनय प्रारम्भ करे । अतिशय भक्ति से तदर्थ भावना से विशिष्टता दिखाने के लिए । आसारित पदार्थ एवं वाक्यार्थो का अभिनय अर्थात् अपने अभिमुख नयन, न कि सामाजिकों के अभिमुख ले जाना ॥ २८१ ॥

---

१. ख. वैशाखस्तालकेन । २. ख. ष. देवताभ्यस्तु ।

[1]यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र [2]वाद्येन योजयेत् ।
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं विधीयते[3] ॥ २८२ ॥

यत्रेति निपातो यतो हेतोरित्यर्थं । तेन यतो गीतमिति गीयमानं वाक्यमभिनेयं स्वात्माभिमुख्यं नेयम् । तच्च गानं स्वरवर्णालङ्कारलक्षणमाभिमुख्यमङ्गसाम्यं नेयम् । ततो हेतोस्तस्यैव प्राधान्यात्तस्मिन्कालेऽवनद्धवाद्यं तदाच्छादनकारि भवतीति स्वातन्त्र्येण न योजयेदतिशयेन नयनं स्यात् । यत्रेति च वीप्सया परिभाषां सार्वत्रिकीमाह ।

अनुवादमुखेन परिशिष्टं प्रयोगमाह अङ्गहारप्रयोगेत्विति । तुशब्द एवकारार्थं । अङ्गहारस्य शुद्धस्यैवाभिनयशून्यस्य प्रयोग नृत्तप्राधान्ये तदनुसारि वाद्यम् । विशेषणान्तरयोगान्तरयोगापेक्षया स विधेयो विधीयते धार्यते । अत एव चानुपादानात् —

"तदेव हि पुनर्वस्तु भूयो नृत्तेन योजयेत् ।" (ना. शा. ४-२८४)

अनुवाद--जहाँ पर गीत अभिनेय हो अर्थात् गीत का अभिनय किया जाय वहाँ वाद्य की योजना नहीं करनी चाहिए, किन्तु अङ्गहार के प्रयोग में भाण्डवाद्यों का प्रयोग किया जाता है ॥ २८२ ॥

अभिनव--यहाँ पर 'यत्र' यह निपात 'जिस कारण से' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इसलिए जिस कारण से गीत अर्थात् गीययान वाक्य अभिनेय अर्थात् अपने अभिमुख लेना है और स्वर, वर्ण, अलङ्कार लक्षण वाले गान (गीत) को आभिमुख्य अर्थात् अङ्गसाम्य करना है। इसलिए गीत की ही प्रधानता होने से उस समय अवनद्ध वाद्य आच्छादन करने वाला होता है। इसलिए स्वतन्त्र रूप से वाद्य का प्रयोग न करे। 'यत्र' इस वीप्सा से परिभाषा को सार्वत्रिकी कहा गया है।

अनुवादमुख से शेष प्रयोग को कहते हैं—अङ्गहार के प्रयोग में तो भाण्डवाद्य का विधान किया जाता है। यहाँ पर 'तु' शब्द 'एव' अर्थ में है। अतः अभिनयशून्य शुद्ध नृत्तप्रधान अङ्गहार के प्रयोग में उसके अनुसारी वाद्य का प्रयोग किया जाता है। इसलिए उपादान न होने से—

"उसी विषयवस्तु को फिर नृत्य के द्वारा दिखाये।" (ना, शा. ४।२८४)।

---

१. ख. यत्राभिनेयगीतं स्यात । क-न. यत्राभिनेयं गेयं स्यात् ।
२. क. वाद्यं न योजयेत् । क-म. वाद्यं प्रयोजयेत् । क-म. ब. वाद्यं नियोजयेत् ।
३. ख. ब. प्रयोजयेत् ।

समं रक्तं विभक्तं च स्फुटं शुद्धप्रहारजम्[1] ।
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्वाद्यं योज्यं तु ताण्डवे ॥ २८३ ॥

इति वक्ष्यमाणस्य नर्तक्या[2] समाकर्षणे पुनरासारितगाने [3]शुद्धनृत्तमिति वाद्यस्य गीयमानसहितस्य गानस्य नृत्तस्य च क्रमेण प्राधान्येन प्रयोगो दर्शितः । भाण्डवाद्यं विधीयत इत्युक्तम् ॥ २८२ ॥

तदीदृशमिति दर्शयति सममिति ।

अक्षराङ्गताललययतिपाणिग्रहन्यासविकृतमष्टविधकालदेशसमतात्मकं साम्यं पुष्कराध्याये च वक्ष्यते । तत्र षोढा तालकृतम् । द्विधा स्वरोच्चारणस्थानवेशकृतम् । तद्योगात् समरक्तभावः शब्दस्य हृद्यस्वरूपता । सा च[4] मायूर्यादिमतित्रिविधमार्जनायोगात् । तेन सम्यङ्मार्जनायोगात् रक्तं विभक्तम् । आहत्यानन्तरं च पीडितयोगेन विच्छेदप्रतिभा समानाक्षरम् । स्फुटमिति कादिवर्णानामनुहारो यत्र स्पष्टो भवति । प्रहारजा वर्णान्ते शुद्धविशुद्धकारणान्ते (करणान्ते) स्थिताः । यदि वा आलिप्तिकादिमार्गादन्यतम एव मार्गे स्थिताः । यत्र नृत्तमङ्गहारात्मकं तदङ्गानीव करणानि । यदि वा गीताङ्गानि मुखादीनि गृह्णाति

इस प्रकार वक्ष्यमाण नर्तकी के समाकर्षण अर्थात् प्रवेश में फिर आसारित गान में शुद्ध नृत्त होता है, इस प्रकार वाद्य का गान का और नृत्त का क्रम से प्रधानतया प्रयोग दिखाया गया है । भाण्डवाद्य का विधान करते हैं, यह कहा गया है ॥२८२॥

भाण्डवाद्य का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए, इस बात की सममित्यादि के द्वारा दिखाते हैं—

अनुवाद—वाद्यविशेषज्ञों द्वारा ताण्डव नृत्त में सम, रक्त, विभक्त, शुद्धप्रहारों से स्फुट, नृत्त के अङ्गों का ग्राही वाद्य की योजना करनी चाहिए ॥ २८३ ॥

अभिनव—अक्षर, अङ्ग, ताल, लय, यति, पाणि, ग्रह और न्यास ये आठ प्रकार सभी प्रकार के वाद्यों में देश और काल की समानता को सूचित करते हैं । इनका निरूपण पुष्कराध्याय में किया जायगा । उनमें तालकृत साम्य छः प्रकार का होता है और स्वरों के उच्चारण में स्थानकृत और प्रयत्नकृत भेद से साम्य दो प्रकार का होता है । उनके योग से उत्पन्न शब्द का हृद्यस्वरूप समरक्त भाव है । यह शब्द की हृद्यता मायूरी आदि त्रिविध मार्जनाओं के योग से होती है । इस प्रकार सम्यक् मार्जना के योग से होने वाली वाद्यगत हृद्यता 'रक्त' कहलाती है । जहाँ पर हस्त-

---

१. क-ब. स्फुटशुद्धप्रहारजं । न. त. स्फुट शुद्धं प्रहारजं ।
२. क-म. ततयुक्त्या ।
३. क-ब. शुद्धनृत्यमिति ।
४. क. मायूर्यादिमतिविधमार्जनायोगात् ।

प्रयुज्य [1]गीतवाद्ये तु निष्क्रामेन्नर्त्तकी ततः ।
अनेनैव विधानेन प्रविशन्त्यपराः पृथक्[2] ॥ १८४ ॥

समया (समतया, स्वीकुरुते । एतच्च सममिति गतार्थम् । तेनायमर्थः—नृत्तकर्मभूतमङ्गकर्तृभूतं यद्वाद्यं ग्राहयति नृत्तं तन्नृत्यतेति यदङ्गानि प्रयुङ्क्त इव स्वयं वैचित्र्यप्रयोगात्सविलासमिव श्रूयमाणमेव यद्बलादङ्गानि नर्तयतीति तत्तथोक्तम् । तद्यथा कर्तृ ककतकणककुन्दन्तरकरहतत्ततहींकटिच्छिदशतहीत इति चञ्चत्पुटे । यदेवंविधं वाद्यं पुष्कराध्याये वक्ष्यते तत्ताण्डवे इहावसरे योज्यम् । पुष्कराध्याये त्वीदृशी एव श्लोको भविष्यति (ना. शा. ३४-१७२) । तत्र विध्यनुवादाविह द्वौ विपर्यसनीयौ । ताण्डवमुक्तं प्राक् । तत्रैवंविधं वाद्यं कार्यमिति ॥ २८३ ॥

एवं प्रथमासारितस्य प्रयोगमुपसंहरत्यर्धेन—प्रयुज्येप्यनेन । एषां च प्रयोगे प्रथमं परिभाषां करोति श्लोकत्रयेण—अनेनैवेत्यादिनाकरणान्वितमित्यन्तेन ।

प्रहार के बाद अक्षर और पाणि तथा लय का स्पष्ट विभाग हो वह 'विभक्त' कहलाता है। जहाँ पर ककार आदि वर्णों का प्रहार स्पष्ट हो उसे 'स्फुट' कहा जाता है। हस्त-प्रहार से उत्पन्न वर्ण शद्ध करण के अन्त में स्थित होते हैं अथवा आलिप्तक आदि मार्गों में से किसी एक मार्ग पर स्थित होते हैं। जहाँ पर अङ्गहार रूप नृत्त होता है वहाँ करण अङ्ग हो जाते हैं अथवा जहाँ पर प्रयोक्ता मुख आदि गीत के अङ्गों को ग्रहण करता है वह 'समम्' इस कथन से गतार्थ हो गया। इससे इसका यह अर्थ है कि जहाँ पर नृत्त कर्मभूत और अङ्ग कर्तृभूत होता है, वही नृत्त की नृत्तता है। जब विचित्र प्रयोग से विलास के समान अङ्ग स्वयं प्रयुक्त होते हैं, जो श्रूयमाण के समान अङ्गों को बलात् नचाता है। इसलिए उसे 'नृत्त' कहा जाता है। वह जैसे—

"ककतकणककुन्दन्तरकरहतत्ततहींकटिच्छिदशतहीत" इस चञ्चत्पुट ताल में।

जो जिस प्रकार के वाद्य को पुष्कराध्याय में कहेंगे उसका यहाँ ताण्डव नृत्त के अवसर पर प्रयोग करना चाहिए। पुष्कराध्याय में इसी प्रकार का श्लोक होगा (ना. शा. ३४।१८६) ताण्डव नृत्त को पहिले बताया जा चुका है, उसमें इस प्रकार वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ॥ २८३ ॥

इस प्रकार प्रथम आसारित के प्रयोग का 'प्रयुज्य०' इत्यादि आधे श्लोक से उपसंहार करते हैं। इनके प्रयोग में सर्वप्रथम 'अनेनैव' इत्यादि से लेकर 'करणान्वितम्' तक तीन श्लोकों में परिभाषा करते हैं—

---

१. ख. घ. गीतमेवं तु । क-न. नृत्तवाद्ये तु । २. ख. ब. पुनः ।

[1]अन्याश्चानुक्रमेणाथ पिण्डीं बध्नन्ति याः [2]स्त्रियः ॥
तावत्पर्यस्तकः[3] कार्यो यावत्पिण्डी न[4] बध्यते ॥ २८५ ॥
[5]पिण्डीं बध्वा ततः सर्वा निष्क्रामेयुः स्त्रियस्तु ताः ।

गानमिति गीयते च गीतम् । गीतवाद्ये प्रधानतयावस्थिते नर्तकी नृत्तेन प्रयुज्य यथा स्वरागतो नृत्तप्राधान्यं तदौचित्याय गीतवाद्यं प्रयुज्य स्वानुसारिणीकृत्य । नर्तकी न तु नाटच इव साक्षाद्रामादिरूपताप्रच्छन्नात्मिका । सा निष्क्रामेदपसरेत् । न तु सर्वथैव निर्गच्छेत् । द्वे द्वितीयमिति (ना. शा. ४-२८६) वक्ष्यमाणत्वात् । अपराः किं युगपत्प्रविशन्ति नेत्याह । पृथक् एकैकक्रमेण प्रविशेदित्यर्थः ॥ २८४ ॥

ननु कियत्यस्ता अपरा या अनेनैव विधिना प्रविशन्तीत्याङ्क्याह—अन्याश्चेति ।

अनुवाद - इसके बाद गीत और वाद्य का प्रयोग करके नर्त्तकी वहाँ से (रङ्गमञ्च से) बाहर निकल जाय और फिर इसी विधान से अन्य नर्त्तकियाँ अलग-अलग प्रवेश करें ॥ २८४ ॥

अभिनव—गान का अर्थ है गीत, जो गाया जाय उसे गीत कहते हैं। नर्त्तकी प्रधान रूप से व्यवस्थित गीत और वाद्य का नृत्त के साथ प्रयोग करके अर्थात् स्वरसतः जिस प्रकार नृत्त की प्रधानता हो, उसी प्रकार औचित्य अर्थात् नृत्त की सफलता के लिए गीत और वाद्य का प्रयोग करके अर्थात् अपने अनुकूल प्रयोग करके चली जाय। नर्त्तकी नाट्य में साक्षात् रामादि का रूप धारण करके अपने स्वरूप को छिपाकर नटी नहीं, अपितु नर्त्तकी रङ्गमञ्च से अपसरण करे, न कि सर्वथा निकल जाय। जैसाकि आगे कहेंगे कि द्वितीय बार दो, तृतीय बार तीन नर्त्तकियों का प्रवेश होता है। अन्य नर्त्तकियाँ क्या एक साथ ही रङ्गमञ्च पर प्रवेश करेंगी ? कहते हैं नहीं। अलग अलग एक एक के क्रम से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करेंगी ॥ २८४ ॥

अब प्रश्न होता है कि 'इस विधान से जो अन्य नर्त्तकियाँ प्रवेश करती हैं वे कितनी होती हैं'। यह आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद - इसके बाद जो अन्य स्त्रियाँ (नर्त्तकियाँ) अनुक्रम से पिण्डीबन्ध की रचना करती हैं जबतक पिण्डी का बन्ध नहीं होता अर्थात् जबतक पिण्डी-

---

१. अन्याश्चानुक्रमेणैव । २. ख. घ. ताः स्त्रियः ।
३. ख. तावत् पर्यस्ततः । क-प. त. तावत्पर्यन्तकः ।
४. ख. प्रयुज्यते । क-न. त. प्रबध्यते । ५. क-च. पिण्डीबद्धास्ततः ।

अनुक्रमेण कनिष्ठादिषु चतुर्ष्वासारितेषु यथासङ्ख्यं वक्ष्यमाणाश्चतुरः पिण्डीबन्धप्रकारान् या अन्याः बध्नन्ति ताः अपरा। तेन चतस्र एवेत्युक्तं भवति। पिण्डीमिति जातावेकवचनम्।

एवं प्रवेशपृथक्त्वं परिभाषान्तरमाह—तावत्पर्यस्तक इति। तावद्यावदिति भिन्नक्रमः। यावत्पर्यस्तकः केवलासारिताभिहितलक्षणः[1] प्रयोगः कार्यः तावन्न पिण्डी बध्यते। तावत्पिण्डीबन्धो न कार्यः। तदनन्तरं तु कर्तव्य इत्यर्थः। पूर्वप्रविष्टया परा परिवर्ज्यते। महावाक्यानुसारादेकधन एव वाहिन्यात्मकोऽङ्गविक्षेपो यत्र प्रयोगे स पर्यस्तको नृत्ताचार्यभाषया पर्यस्तक इति प्रसिद्धः। अभिनयशून्यमाङ्गिकविधिः पर्यस्तकः। स च पिण्डीबन्धे न कार्यः। तदनन्तरं तु कर्तव्य इत्यर्थः। पूर्वप्रविष्टया नर्तक्याः शिक्षार्थमित्याद्यसङ्गतमेव कैश्चिदुक्तं तदुपेक्ष्यमेव। यावच्च पिण्डीबन्धोपयोगि नृत्तं न प्रवर्तते तावत्प्रविष्टनर्तकीनिवर्तनेनैकाकिन्यैवासारिताभिनयः प्रयोक्तव्य इति परिभाष्यते॥ २८५॥

बन्ध का प्रयोग नहीं किया जाता, तबतक उन्हें 'पर्यस्तक' का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद पिण्डबन्ध का प्रयोग करके वे सभी स्त्रियां रङ्गमञ्च के बाहर निकल जाँय॥ २८५-२८६ (१)॥

अभिनव--अभिनवगुप्त के अनुसार 'अनुक्रम से' का यह अभिप्राय है कि—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। इन चार प्रकार के आसारितों में संख्या के अनुसार आगे कही जाने वाली चार पिण्डीबन्ध प्रकारों को अन्य स्त्रियाँ बनाती हैं वे अपरा नर्त्तकियाँ कहलातो हैं। इसलिए चार नर्त्तकियाँ प्रवेश करेंगी, यह कहा गया है। 'पिण्डीम्' में जाति में एकवचन का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार अलग प्रवेश को परिभाषित कर दूसरी परिभाषा को कहते हैं—'तब तक पर्यस्तक का प्रयोग करे' यहाँ पर 'यावत्' और 'तावत्' पद में भिन्नक्रम है। जब तक अपसारित का अनुसरण करते हुए पर्यस्तक का प्रयोग किया जाता है तब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं किया जाता है अर्थात् तब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसके बाद ही पिण्डीबन्ध का प्रयोग करना चाहिए। पूर्व प्रविष्ट नर्त्तकी के द्वारा दूसरी नर्त्तकी का प्रवेश रोक दिया जाता है। महावाक्य के अनुसार एकघन अर्थात् एक वाद्य अथवा मध्यम नृत्त में एक ही नर्त्तकी का जो अङ्गविक्षेप रूप नृत्त होता है वह नृत्याचार की भाषा में 'पर्यस्तक' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार अभिनय शून्य आङ्गिक विधि 'पर्यस्तक' है। उसे पिण्डीबन्ध के प्रयोग के समय नहीं करना चाहिए। उसके बाद ही प्रयोग करना चाहिए। पूर्वप्रविष्ट नर्त्तकी

१. क. केवलासारिताभीतलक्षणः।

[1]पिण्डीबन्धेषु वाद्यं तु कर्तव्यमिह वादकैः ।। २८६ ।।
पर्यस्तकप्रमाणेन चित्रौघकरणान्वितम ।

परिभाषान्तरमाह—पिण्डीं बध्वेति ।

तस्यासारितस्य नृत्तप्रयोगं कृत्वा सर्वास्ता निष्क्रामेयुरपसरेयुः । अत एवैतत्स्थानोपजीविभिरेव श्रीराणकादिकविभिर्डोम्बिकादौ चतुरपसारकः प्रयोगः ।

परिभाषान्तरमाह—पिण्डीबन्धेष्विति ।

यावदेव पर्यस्तक आसारिताभिनयप्रयोगे वाद्ये तावदेव तदन्तरपातिनि[2]पिण्डीबन्धोपयोगिन्यङ्गहारप्रयोगे । किन्तु चित्रं विचित्रं नानाप्रकारं

की शिक्षा के लिए यह है, यह असङ्गत है, ऐसा जो किसी ने कहा है वह उपेक्षणीय है। जबतक पिण्डीबन्ध के उपयोगी नृत्त प्रवर्तित नहीं होता तबतक प्रविष्ट नर्त्तकी के निवर्त्तन से एकाकी ही आसारित अभिनय का प्रयोग करना चाहिए, यह परिभाषा की गई है।

अब दूसरी परिभाषा करते हैं—पिण्डी को बाँधकर अर्थात् आसारित नृत्त का प्रयोग करके वे सभी स्त्रियाँ रङ्गमञ्च से बाहर हट जाँय। इसलिए इस नाट्य के सहारे जीविका चलाने वाले श्री राणक आदि कवियों ने डोम्बिका आदि में चतुरपसारण के प्रयोग का निर्देश दिया है ।।२८५-२८६ (१)।।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने यहाँ पर नर्त्तकियों का क्रमिक प्रवेश बताया है। आसारित के भेदों के अनुसार यहाँ पर चार नर्त्तकियों के प्रवेश का निर्देश है। आसारित में जबतक पर्यस्तक का प्रयोग रहता है तब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं होता। पर्यस्तक के प्रयोग के बाद ही पिण्डीबन्ध का प्रयोग होता है। क्योंकि पर्यस्तक अभिनयशून्य होता है और पिण्डीबन्ध में अभिनय होता है। भाव यह कि अन्य नर्त्तकी रङ्गपीठ पर प्रवेश करने के बाद आसारित का प्रयोग करती हैं और जब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग नहीं होता तब तक पर्यस्तक का प्रयोग करती हैं। इसके बाद पिण्डीबन्ध का प्रयोग सम्पन्न करने के पश्चात् सभी नर्त्तकियों को बाहर चली जानी चाहिए। ।। २८५-२८६ (१) ।।

अब दूसरी परिभाषा को कहते हैं—

अनुवाद—इन पिण्डीबन्धों के प्रयोग के समय वादकों को पर्यस्तक के प्रयोगकाल में अनेक प्रकार के विचित्र ओघों एवं करणों से युक्त वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ।। २८६ २८७ (१) ।।

१. ख. पिण्डीषट्केषु । घ. पिण्डीबन्धे तु ।
२. क. तदन्तरतापिनि ।

[1]तत्रोपवहनं भूयः कार्यं पूर्ववदेव हि ॥ २८७ ॥
ततश्चासारितं भूयो गायनं[2] तु प्रयोजयेत् ।

प्रयोजितमोघे च वाद्यविधौ (ना. शा. अ-३४) वक्ष्यमाणानि यानि करणानि क्रिया याभिर्वेध्या भगवत्याकूपास्ताभिरन्वितम् (?)। द्विमात्रा यत्र कला स चित्रमार्गं ओघशब्दादेव लब्धः। तत्रैव ह्योघो लक्ष्यते ॥ २८६-२८७ ॥ (१)

एवं पृथक्प्रवेश एकाकिन्या अभिनयप्रयोगः सम्भूयाङ्गहारप्रयोगः तदनन्तरमपसारस्तावत्कालता नृत्तस्य वाद्यस्य वैचित्र्यमिति परिभाषाषट्कं कृत्वा द्वितीयस्य लयान्तरस्यासारितप्रयोगमाह - तत्रोपवहनमिति।

तत्रैवं परिभाषयति तावत्। यत्रेति पूर्वं कनिष्ठासारितं प्रयुक्तम्। भूय इति बहुतरं षट्कलमित्यर्थः। भूय इति लयाधिकत्वात्कथं तस्याधिक्यमित्यर्थः।

अभिनव — अभिनव का कथन है कि जब तक आसारित अभिनय के प्रयोग में पर्यस्तक का प्रयोग होता है तब तक पिण्डीबन्ध के उपयोगी अङ्गहार के प्रयोग में वाद्यों का वादन करना चाहिए। ओघ नामक वाद्य के प्रयोग में किन्तु चित्र-विचित्र अर्थात् नाना प्रकार से प्रयोजित आगे कहे जाने वाले जो करण क्रियाएँ हैं उनसे अन्वित वाद्य का वादन करे। जहाँ पर दो मात्राओं वाली कलाएँ हों अर्थात् कला की दो मात्राएँ हों, वहाँ 'चित्रमार्ग' होता है यह अर्थ ओघ शब्द से ही प्राप्त है। वही पर ही ओघ लक्षित होता है ॥२८६-२८७ (१)॥

इस प्रकार अलग-अलग नर्त्तकियों का प्रवेश, एकाकिनी नर्त्तकी के द्वारा अभिनय का प्रयोग, सामूहिक अङ्गहार का प्रयोग, तदनन्तर नर्त्तकियों का अपसरण, जब तक पिण्डीबन्ध का प्रयोग न हो तब तक पर्यस्तक का प्रयोग, नृत्त और वाद्य का वैचित्र्य—इन छः परिभाषाओं को करके आसारित के द्वितीय भेद लयान्तर के प्रयोग को कहते हैं—**तत्रोपवहनमित्यादि**।

अनुवाद—इसके बाद पहिले के समान फिर उपवहन करके फिर पहिले के समान आसारित गायन का प्रयोग करे ॥२८७-२८८ (१)॥

अभिनव – वहाँ इस प्रकार की परिभाषा करते हैं। जहाँ पर पहिले कनिष्ठापसारित का प्रयोग किया गया हो। 'भूयः' का अर्थ 'बहुतर' है अर्थात् छः कलाओं वाला। उत्तरार्द्ध के 'भूयः' पद का अर्थ है कि लय आदि के आधिक्य से गीत का आधिक्य लिया जाता है ॥२८७-२८८ (१)॥

१. ग. तत्रैवोपोहनं। ख. घ. अथोपवहनं।
२. ग. गायनस्तु प्रयोजयेत्। क-न. गायकस्तत्र योजयेत्।

पूर्वेणैव विधानेन प्रविशेच्चापि नर्तकी ॥ २८८ ॥
[1]गीतकार्थं त्वभिनयेद् द्वितीयासारितस्य तु ।
[2]तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्[2] ॥ २८९ ॥
[3]आसारिते समाप्ते तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ।
[4]पूर्ववत्प्रविशत्यन्याः प्रयोगः स्यात्स एव[5] हि ॥ २९० ॥

पूर्वेणवेति । तत्र तूपोहनमित्यादिना । अपिशब्दात् "गत्या वाद्यानुसारिण्या" इत्यादि "प्रणम्य देवतां च" इत्यनन्तरमुद्दिष्टम् । ततः सा द्वितीया नर्तक्यासारितस्य तालविशेषसंबन्धि यद्गीतकं गीयमानं च वाक्यं तस्यार्थमभिनयेत् । पुनस्तदेव लयान्तरासारितलक्षणं वस्तु । सा द्वितीया । चकारात्पूर्वप्रविष्टा च । नृत्तेन च केवलाङ्गहारात्मनाऽभिनयस्तत्साम्येन प्रदर्शयेत् । आसारितप्रयोगानन्तरं तया सह साऽप्यपसरेत् ।

अनुवाद--पहिले के विधान के अनुसार नर्त्तकी प्रवेश करे और फिर द्वितीय आसारित के गायन (गीत) के अर्थ का अभिनय करे। फिर नृत्त के द्वारा उसी वस्तु का पुनः प्रदर्शन करे। इस प्रकार आसारित के समाप्त हो जाने के बाद नर्त्तकी बाहर निकल जाय। इसी प्रकार पहिले के समान अन्य नर्त्तकियाँ भी रङ्गमञ्च पर प्रवेश करें और उसी प्रकार पुनः अभिनय करें ॥ २८८-२९० ॥

अभिनव - यहाँ पर 'पूर्वेणैव' पद से 'पहिले बताये गये उपोहन आदि के प्रयोग के विधान के द्वारा' यह अर्थ निर्दिष्ट है। 'अपि' शब्द से 'वाद्य का अनुसरण करने वाले गति से' इत्यादि और 'प्रणम्य देवतां च' इत्यादि जो कहा है। तदनन्तर वह दूसरी नर्त्तकी द्वितीय आसारित के ताल विशेष से सम्बन्धित जो गीत और गीयमान वाक्य है, उसके अर्थ का अभिनय करे अर्थात् उसके अर्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करे। फिर उसी प्रकार लयान्तर आसारित के वस्तु के अर्थ का अभिनय करे। चकार से पूर्व प्रविष्ट दूसरी नर्त्तकी गृहीत है। केवल अङ्गहार रूप नृत्त से जो अभिनय किया जाता है उसके समान ही प्रदर्शन करे। फिर आसारित प्रयोग के समाप्त हो जाने पर उसके साथ वह दूसरी नर्त्तकी भी चली जाय।

---

१. ख. गीतकार्थप्रयोगश्च । घ. गीतकार्थं प्रयोजयेत् ।
२. ख. घ. तदेव तु पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रयोजयेत् ।
क-ख तदेव च पुनर्वस्तु नाटयेनाभिप्रदर्शयेत् ।
क-म. तदेव च पुनर्वस्तु भूयो नृत्तेन योजयेत् ॥
३. ख आसारितसमाप्तौ च । ४. ख. घ. पूर्ववत्प्रविशेच्चान्या ।
५ ख घ. एव तु । क-त. एव च ।

एवं पदे पदे कार्यो विधिरासारितस्य तु ।
[१]भाण्डवाद्यकृते चैव तथा गानकृतेऽपि[२] च ॥ २९१ ॥
[३]एका तु प्रथमं योज्या द्वे द्वितीयं तथैव च ।
तिस्रो वस्तु तृतीयं तु चतस्रस्तु चतुर्थकम् । २९२ ॥

अथ तृतीयचतुर्थयोरासारितयोरतिदेशेन प्रयोगमाह—पूर्ववदिति । पृथक्त्वेनेत्यर्थः । स एवेति । तत्र तूपोहनं कृत्वेति य उक्तो यश्च परिभाषाषट्केनोक्त इत्यर्थः ॥ २९० ॥

अथ यदैकमेवापसारितं प्रयुज्यते तदायं प्रयोगवैचित्र्यक्रम इत्यतिदेशेन दर्शयति—एवमित्यादिना ।

एकवचनमतन्त्रम् । एकमप्यासारितं यदा प्रयुज्यते तदास्य यानि पदानि छेदाश्चत्वारो मुखप्रतिमुखशरीरसंहरण (ना शा ३१-८०) लक्षणास्तदाश्रयेणायं वर्धमानवच्चतुरपसारप्रयोगो भाण्डवाद्यक्रियायां गीतिक्रियायां च कार्यः । यद्वक्ष्यति "इत्येवं चतुरङ्गानि" इति (ना. शा. ३१-८२) । एतदेव स्पष्टयत्येकं त्वित्यादिना (एका त्वित्यादिना) ।

इसके बाद तृतीय और चतुर्थ आसारित के प्रयोग को कहते हैं—पूर्ववदिति अर्थात् अलग से । वहाँ पर 'उपोहन करके' यह जो कहा गया है और जो छः परिभाषाओं द्वारा कहा गया है ॥ २८८-२९० ॥

इसके बाद जब कभी एक भी अपसारित का प्रयोग होता है तो यह प्रयोग के वैचित्र्य का क्रम होता है, इस बात को अतिदेश के द्वारा दिखाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार प्रत्येक पद पर गायक और भाण्डवाद्यकों के द्वारा आसारित नृत्त की विधि का अनुसरण करना चाहिए, पहिले पाद की वस्तु एक बार, द्वितीय पाद को दो बार, तीसरे पाद को तीन बार और चौथे चरण को चार बार गाया जाता है ॥ २९१-२९२ ॥

अभिनव—यहाँ पर एकवचन अविवक्षित है । एक भी आसारित का प्रयोग जब किया जाय तब उसके जो पद है-मुख, प्रतिमुख, शरीर और संहरण, उनका आश्रय लेकर वर्धमानक के समान भाण्डवाद्य क्रिया में और गान क्रिया से चतुर-

---

१. ख. घ. भाण्डवाद्यकृतश्चैव । ग. भाण्डवाद्ये कृते चैव ।
२. ख घ. गानकृतोऽपि च ।
३. ख. एकां तु प्रथमां कुर्याद् द्वे द्वितीयं तु वस्तुकम् ।
ग. एकं तु प्रथमं युञ्ज्याद् द्वे द्वितीयं तथैव च ।
घ. एकां तु प्रथमं कुर्यात् द्वे द्वितीयं तु वस्तुनः ।

वस्त्वित्यङ्गम् । युञ्ज्यादिति (योज्या इति) नृत्तेनेति शेषः । त्रिमात्रादिकं यदत्र वस्तु केचित् द्विः कुर्वते तदसदेव । अन्ये त्वेवं पदे पद इत्यादि सार्धश्लोकमुपसंहारवाक्यं वर्धमानप्रयोगस्येति वर्णयाञ्चक्रुः । अपरे पुनराहुः—आसारितस्य पदमभिव्यक्तिस्थानं [1]कण्डिकानां दशपरिवर्तितेन प्रयोगः । तथा हि—विशाला सङ्गता सुनन्दा सुमुखीति चतस्रः कण्डिका वक्ष्यन्ते (ना० शा० - अ० ३१-१२०) क्रमेण नवाष्टौ षोडश द्वात्रिंशत्कलाः । तस्य विशालामनु सङ्गता अनुविशालं सुनन्दा सङ्गता विशालामनु सुमुखी सुनन्दा सङ्गता विशालेति दश परिवर्ताः । तत्र विशालादिपरिवर्तत्रये सङ्गताः परिवर्ताः काकाक्षिवदुभयत्र संबन्ध इति सप्तदशकलस्य द्विः प्रयोगे [2]कनिष्ठलयान्तरितयोः स्थानं भवति । ततः सुनन्दादिपरिवर्तत्रये त्रयस्त्रिंशत्कलस्य मध्यमासारितस्य स्थानं भवति । ततः सुमुख्यादिचतुष्टये पञ्चषष्टिकलस्य ज्येष्ठासारितस्य । एवमासारितस्य पदेषु स्थानेषु कण्डिकादिपरिवर्तेषु चतुरपसारको नर्त्तकीप्रयोगः ।

तदाहैकापीति (एका त्विति) । वस्त्वासारितस्थानमित्येवं [3]कण्डिकावर्धमानस्यायं प्रयोगोऽतिदेश इति तृतीयव्याख्यानतात्पर्यम् । द्वितीये तु व्याख्याने न किञ्चिदधिकमुक्तमिति तदुपेक्ष्यमेव ॥ २९१-२९२ ॥

पसारित का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् आसारित का चार बार प्रयोग करना चाहिए । जैसाकि आगे कहेंगे—'इस प्रकार के चार अङ्ग हैं' । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—'एका तु प्रथमा योज्या' इत्यादि ।

यहाँ पर वस्तु का अर्थ अङ्ग है। 'योज्या' का अर्थ है नृत्य के साथ प्रयोग करना चाहिए । कुछ विद्वान् यहाँ त्रिमात्रिक वस्तु का जो दो बार प्रयोग करते हैं, वह ठीक नहीं है । दूसरे लोग तो 'पदे पदे' इत्यादि सार्धश्लोक को वर्धमानक का उपसंहार वाक्य मानते हैं और अन्य लोग तो कहते हैं कि आसारित का जो पद है अर्थात् अभिव्यक्ति का स्थान है उसे कण्डिकाओं के दश परिवर्त्तक्रम से प्रयोग करे । जैसे—विशाला, संगता, सुनन्दा और सुमुखी । इनमें विशाला नौ कलाओं से युक्त होती है, संगता में आठ कलाएँ, सुनन्दा में सोलह कलाएँ और सुमुखी में बत्तीस कलाएँ होती हैं । प्रसङ्गानुसार इन कण्डिकाओं का क्रम परिवर्त्तित किया जा सकता है । कण्डिकाओं का दश परिवर्त्तक्रम में प्रयोग होते हैं । जैसे पहिले विशाला नामक प्रथमा कण्डिका का प्रयोग करे, उसके बाद सङ्गता का प्रयोग करे । फिर विशाला सुनन्दा उसके बाद सङ्गता, फिर विशाला सुमुखी, सुनन्दा उसके बाद सङ्गता विशाला इस प्रकार दस परिवर्त्तक्रम होते हैं । उसमें विशाला आदि परिवर्त्तत्रय में

---

१. क-म भ काण्डिकानां दशपरिवर्त्तितक्रमेण ।

२. क-म. भ. कनिष्ठलयान्तरितयोः ।

३. क-म. भ. कण्डिकावर्तमानस्यायं ।

अर्थात् विशाला, सङ्गता और विशाला इन तीन परिवर्त्तों में सङ्गता परिवर्त्त का कौए के आँख के समान दोनों से सम्बन्ध है इस प्रकार सप्तदश कल का दो बार प्रयोग होने से कनिष्ठ और लयान्तरित आसारितों का स्थान होता है अर्थात् प्रथम परिवर्त्तत्रय में सत्रह कला वाले कनिष्ठासारित का स्थान होता है। इसी प्रकार प्रथम परिवर्त्तत्रय में अर्थात् बिशाला सङ्गता और विशाला का दोबारा प्रयोग होने पर सत्तरह कला वाले कनिष्ठापसारित का स्थान होता है। उसके बाद सुनन्दा आदि परिवर्त्तत्रय में अर्थात् सुनन्दा, सङ्गता और विशाला इन तीन परिवर्त्तनों में तैंतीस कला वाले मध्यमासारित का स्थान होता है। उसके बाद सुमुखी, सुनन्दा, सङ्गता और विशाला इन चार परिवर्त्तों में पैंसठ कला वाले ज्येष्ठासारित का स्थान होता है। इस प्रकार आसारित के स्थानों में (कण्डिका आदि परिवर्त्तों में) नर्त्तकी को अपसारित का चार बार प्रयोग करना जाहिए। इसलिए कहते हैं—**'एका त्विति'**। वस्तु का आसारित स्थान है, इस प्रकार वर्धमानक में कण्डिकाओं का प्रयोग अतिदेश है, यह तृतीय व्याख्यान का तात्पर्य है। द्वितीय व्याख्यान में कुछ अधिक नहीं कहा है, इसलिए यह उपेक्षणीय है ॥ २९१-२९२ ॥

विमर्श— आसारित के चार भेद होते हैं—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। इन चार प्रकारों का गायन मुख, प्रतिमुख, देह और संहरण इन चार अङ्गों से किया जाता है।

मुखं प्रतिमुखं चैव देहं संहरणं तथा।
अङ्गान्येतानि चत्वारि सर्वेष्वासारितेषु च ॥ (ना. शा. ३१।८८)
इत्येवं चतुरङ्गानि ज्ञेयान्यासारितानि तु।
चतुराश्रितैर्बद्धं विज्ञेयं वर्धमानकम् ॥ (ना. शा. ३१।९०)

असारित गीतों को चार खण्डों में विभाजित किया जाता है। इन खण्डों को कण्डिका कहते हैं। कण्डिकाओं के नाम हैं—विशाला, सङ्गता, सुनन्दा और सुमुखी। इनमें विशाला नामक प्रथम खण्ड नौ कला, सङ्गता नामक द्वितीय खण्ड आठ कला, सुनन्दा नामक तृतीय खण्ड सोलह कला और सुमुखी नामक चतुर्थ खण्ड बत्तीस कला का होता है—

आद्या नवकला तु स्यादष्टाभिस्तत्परा स्मृता।
दश षट् च तथा चैव तृतीया कण्डिकेष्यते ॥

चतुर्थी कण्डिका चैव द्वात्रिंशत्तु कला स्मृताः।
कलाभिरेवं निर्दिष्टाः कण्डिका वर्धमानके ॥
(ना. शा. ३१।७८–९०)।

इस प्रकार इन कलाओं से लक्षित कण्डिकाओं से एक, दो, तीन, चार के योग से आसारित चार प्रकार का होता है—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम और ज्येष्ठ। इनमें प्रथम कण्डिका आश्रय से कनिष्ठासारित होता है। कनिष्ठासारित में जितने अक्षर होते हैं उससे दुगुना अक्षर होने पर लयान्तर होता है। तृतीय कण्डिका के आश्रय से सोलह कलों से युक्त मध्यासारित होता है और चतुर्थ कण्डिका के आश्रय से बत्तीस कलों से युक्त ज्येष्ठासारित होता है। जैसाकि नाटचशास्त्र में कहा गया है—

एकद्वित्रिचतुर्योगात्ताभिरासरितानि तु।
वर्धमाने प्रसूयन्ते मार्गतालाङ्गयोगतः॥

प्रथमां कण्डिकां कृत्वा बालतालप्रयोजितम्।
अन्तिमार्धकलाहीनं कुर्यादेवं कनिष्ठकम्॥

द्वितीयां कण्डिकां कृत्वा प्रथमा सकला यदि।
योज्यते पूर्वतालेन तदा तत् स्याल्लयान्तरम्॥

द्विगुणाक्षरसंयोगादन्यमार्गनियोजनात्।
नृत्तकालविशेषाच्च बालादन्यल्लयान्तरम्॥

तृतीया च द्वितीया च प्रथमा चैव तत्कला।
द्विकलं योगमाश्रित्य मध्यमासारितं तु तत्॥

चतुर्थीमादितः कृत्वा चतस्रः कण्डिका यदा।
चतुष्कले नियोज्यन्ते ज्येष्ठमासारितं तु तद्॥

(ना० शा० ३१।८०-८२, ८४-८६)

अब इन कण्डिकाओं के दस परिवर्त्त क्रमों का निरूपण करते हैं—

पूर्वं विशाला कर्त्तव्या सङ्गता तदनन्तरम्।
सङ्गताया ग्रहं कृत्वा विशाला पुनरिष्यते॥

कनिष्ठासारिते तालो यो मया परिकीर्त्तितः।
स एव सर्वः कर्त्तव्यः प्रथमे कण्डिकाद्वये॥

सुनन्दा सङ्गता चैव विशाला च यथोदिता।
सुनन्दाया ग्रहं कृत्वा ततस्यैवं प्रयोजयेत्॥

मध्यमासारिते तालो यो मया परिकीर्त्तितः।
सोऽस्य त्रयस्य कर्त्तव्यः सुनन्दाद्यस्य योक्तृभिः॥

सुमुखी च सुनन्दा च सङ्गता प्रथमा तथा।
सुमुख्यास्तु ग्रहं कृत्वा यथोक्तं सम्प्रयोजयेत्॥

पिण्डीनां विधयश्चैव चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ।
पिण्डी शृङ्खलिका[1] चैव लताबन्धोऽथ भेद्यकः[2] ॥ २९३ ॥

पिण्डीबन्धप्रकारा अनुक्रमेणासारितेषु प्रयोज्या इत्युक्तम् । के त इत्याह—पिण्डीनामित्यादि ।

विषयः प्रकाराः । तत्र विशेषान्तररहृद्यमेकप्रयोज्यं पिण्डीबन्धरूपमित्येक प्रकारो विशेषनामधेयविरहात्सामान्यशब्देनोक्तः । तदाह—पिण्डीबन्धः पिण्डत्वादिति ।

ज्येष्ठासारिते ताले निःशब्दः शब्दवाँस्तथा ।
स सर्व एव कर्त्तव्यो बुधैश्चतसृणामपि ॥
संयोगे कण्डिकानां तु तालोऽयं परिकीर्त्तितः ।
एवमासां समायोगात् वर्धमानकमिष्यते ॥

(ना० शा० ३१।१४८-१५३)

बालं नवकलं ज्ञेयं दशसप्तलयान्तरम् ।
मध्यमं तु त्रयस्त्रिंशत् पञ्चषष्टिस्तयोत्तरम् ॥
कलानां वृद्धिमासाद्य त्वक्षराणां च वर्धनात् ।
लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ॥
आसारितेषु गीतेषु वर्धमानेषु चैव हि ।
द्विगुणस्तालयोगेन कार्यों ह्यक्षरजो विधिः ॥

(ना० शा० ३१।१५५-१५७)

पिण्डीबन्ध प्रकारों को क्रमशः आसारितों में प्रयोग करना चाहिए, यह कहा गया है । वे प्रकार कौन से हैं, इसको कहते हैं—

अनुवाद—पिण्डीबन्धों के प्रयोग की चार विधियाँ कही गई हैं— पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध और भेद्यक ॥ २९३ ॥

अभिनव—विधियाँ अर्थात् प्रकार । उनमें विशेष अन्तर से रहित हृद्य, एक नर्तकी के द्वारा प्रयोज्य पिण्डीबन्ध रूप एक प्रकार है । जिसका विशेष नाम न होने से सामान्य शब्द से कहा गया है ।। २९३ ॥

विमर्श—पिण्डीबन्ध नृत्त के चार भेदों में पहिला भेद पिण्डी है । प्रथम भेद का कोई विशेष नाम नहीं है अतः सामान्य प्रकार होने के कारण उसे केवल 'पिण्डी' नाम से अभिहित किया है । इसे शुद्ध पिण्डीबन्ध कहते हैं ॥ २९३ ॥

---

१. ख. पिण्डीशृङ्खलिता ।
२. क-म. भेद्यतः ।

पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वाद् गुल्मः[1] शृङ्खलिका भवेत् ।
[2]जालोपनद्धा च लता सनृत्तो भेद्यकः स्मृतः ॥ २९४ ॥

नर्तकीयोज्यः परस्परसम्बन्ध एव पिण्डीबन्धद्वयप्रकारः सजातीयो वा [3]एकतालावबद्धकमलयुगलवत् विजातीयो वा हंसवदनपरिगृहीतनालनलिनवत् गुल्मः शृंखलिकाशब्दवाच्यः। नर्तकीत्रयप्रयोज्यस्तु ततोऽपि वैचित्र्यसहिष्णुत्वाज्जालवद्विचित्रतां गच्छत्पूर्ववत्सजातीयविजातीयात्मा लताबन्धः। चतुष्टयप्रयोज्यस्तु [4]गतेऽत्र रूपत्रयमहावाक्ये तावद्भिः प्रकारैर्भेदनीय इति तेभ्य एकसत्त्वयोजनाच्चाज्ञातो भेद्यकः। महावाक्यार्थ इति वंकस्यां योजनायां प्रविष्ट इत्यर्थः। स तूक्तविधैस्त्रिभिः नृत्तैः सह वर्तते ॥ २९४ ॥

अनुवाद—पिण्ड रूप में होने के कारण पिण्डी तथा गुल्म रूप में होने से शृङ्खलिका होती है तथा जाल में गुँथी होने की चेष्टा में लताबन्ध और अलग-अलग नृत्त का प्रयोग भेद्यक कहा जाता है ॥ २९४ ॥

अभिनव—पिण्डरूप होने के कारण प्रथम भेद को पिण्डी कहते हैं। इसमें नर्त्तकियाँ एक साथ मिलकर पिण्डीबन्ध नृत्त करती है। दो नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य परस्पर सम्बन्ध होने से दो पिण्डियों के बन्ध का एक प्रकार है जो एक नाल में बँधे हुए दो कमल पुष्पों के समान सजातीय और हंस के द्वारा गृहीत नाल वाले कमल के समान विजातीय गुल्म हैं जिसे शृङ्खलिका शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार शृङ्खलिका नामक पिण्डोबन्ध में दो नर्त्तकियाँ गुल्म के रूप में एक दूसरे से हाथ मिलाकर नृत्य करती हैं। तोन नर्तकियों के द्वारा प्रयोज्य और उसकी अपेक्षा विचित्रता को सहन करने के कारण जाल के समान विचित्रता को प्राप्त होता हुआ पहिले के समान सजातीय और विजातीय रूप से युक्त लताबन्ध नामक तृतीय पिण्डीबन्ध होता है। इस पिण्डीबन्ध में तीन नर्त्तकियाँ जाल के समान आपस में बाहुओं को फँसाकर नृत्त करती हैं। चार नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य रूपत्रयविशिष्ट अर्थात् पिण्डी, शृङ्खलिका और लतबन्ध इन तीन रूपों से विशिष्ट महावाक्य में उन तीन प्रकारों से भिन्न उन सबका एक स्थिति में योजना करने से अर्थात् उक्त तीनों नृत्तों से परस्पर सम्बन्ध होने के कारण अज्ञात अर्थात् पिण्डी, शृङ्खलिका और लताबन्ध

---

१. ख. घ. गुल्मशृङ्खलिका।
२. ख. तालोपनद्धाश्च लताः सनृत्तो भेदकः स्मृतः।
३. क. एकनालावबद्धकमलयुगलवत्।
४. क गतोऽत्र रूपत्रयो महावाक्ये। क-म. गतोऽत्र रूपत्रयो महावाक्यार्थं इति वै कस्यां योजनायां प्रविष्ट इत्यर्थः। तदाह—स एतैस्त्रिभिः नृत्तैः सह वर्त्तते।

पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु [1]शृङ्खला तु लयान्तरे ॥
मध्यमे च लताबन्धो ज्येष्ठे चैवाथ भेद्यकः[2] ॥ २९५ ॥
[3]पिण्डीनां विविधा योनिर्यन्त्रं भद्रासनं तथा ।
[4]शिक्षायोगस्तथा चैव [5]प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः । २९६ ॥

एकादिप्रयोज्यत्वं स्पष्टयति – पिण्डीबन्धः कनिष्ठे त्वित्यादिना ।

ननु कथमेते पिण्डीबन्धान्निष्पद्यन्त [6]इत्याशङ्क्याधारादिभेदकृतां निष्पत्तिं दर्शयति—पिण्डीनां विविधा योनिरित्यादिना ।

तत्र यत्र पुत्रकादीनां यथा पृथग्भूताङ्गानामनुसन्धिस्तथैव भूमिदेहाकाशाद्याधारखण्डलकानुसन्धानं यन्त्रम् । तस्य भूयसा सम्भवात्पूर्वमभिधानम् । अनेन मिश्रा भेदाः सङ्गृहीताः । भद्रं स्फुटमेवेत्यस्यासनं स्थानं भूम्यादौ स्फुटमेव दर्शनादित्येकभेदसङ्ग्रहः । अनेनाधाराङ्गभेदो दर्शितः । प्रयोक्तृप्रयोगभेदस्तु

रूप प्रकारों में अप्रतीत रूप वाला भेद्यक नामक चतुर्थ भेद होता है। अथवा महावाक्यार्थ एक योजना में प्रविष्ट है, वह उक्त तीन प्रकार के नृत्तों के साथ प्रवृत्त होता है ॥ २९४ ॥

"पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु" इत्यादि के द्वारा एकादि प्रयोज्यता को स्पष्ट करते हैं—

अनुवाद—कनिष्ठ आसारित में पिण्डीबन्ध नृत्त का, लयान्तर में अर्थात् लय के मध्य में शृङ्खला का, मध्यम आसारित में लताबन्ध का और ज्येष्ठ आसारित में भेद्यक का प्रयोग होता है ॥ २९५ ॥

अब प्रश्न यह है कि ये पिण्डीबन्ध कैसे उत्पन्न होते हैं। यह आशङ्का करके आधार, ध्वजा, वाहन आदि के भेद से इनकी निष्पत्ति दिखाते हैं—

अनुवाद—पिण्डीबन्धों की उत्पत्ति के अनेक कारण है। (पाठभेद से दो या तीन आधार निर्दिष्ट हैं)। यन्त्र, भद्रासन और शिक्षा योग से प्रयोक्ताओं को इनका प्रयोग करना चाहिए ॥ २९६ ॥

---

१. क-त. शृङ्खला या लयान्तरे ।
२. क-प. म. भेद्यतः
३. क-ख. पिण्डीनां द्विविधो योनिर्यज्ञं भद्रासनं तथा ।
   ब. पिण्डीनां द्विविधा योनिर्यन्त्रभद्रासनं तथा ।
४. ख घ शिक्षाः कार्यास्तथा चैव प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ।
५. क-ङ प्रयोक्तव्या । क-त. सम्प्रयुक्ता ।
६. क-भ. इत्याशङ्कासारादिभेदकृतां । क-म. इत्याशङ्क्याह —आधारादिभेदकृतां ।

पूर्वमेव दर्शितः इहापि चोक्तः। शिक्षायोग इति। करणाङ्गहारविशेषेष्वङ्गविक्षेपवैचित्र्याभ्यास इति साधकतमभेदो दर्शितः। इत एवोवजीव्यास्माभिर्विततयोक्तं "रेचकैरङ्गहारैश्च" (ना० शा० ४-२४६) इत्यादिव्याख्यानावसरे। विविधग्रहणेन तद्व्यामिश्रणया भेदानन्त्यं सूचयति। तच्चास्माभिः पूर्वमेव दर्शितम्।

ननु सर्वोऽयं पिण्डीबन्धप्रकार इहोपयोगी वा न वेत्याशङ्क्याह—तथा चैव प्रयोक्तव्य इति।

तैः सर्वैरेव प्रकारैः पिण्डीशृङ्खलकादिबन्धो योज्यत इति यावत्। यत्रच्छेद्यकर्म चर्मयन्त्रं काष्ठमयी प्रकृतिर्भद्रासनमिति केचिदत्र व्याख्यां कुर्वन्ति। युक्तायुक्ततां तु सहृदया एव विदुः।

अभिनव—पिण्डियों की अनेक योनियाँ (कारण) हैं। यहाँ वहाँ सब जगह जिस प्रकार अलग-अलग अङ्गों वाली पुत्तलियों का अनुसन्धान होता है उसी प्रकार भूमि, देह, आकाश आदि आधार और खण्डलक आदि का अनुसन्धान (संयोजन) यन्त्र है। इसकी अधिक सम्भावना होने से पहिले कथन किया गया है। इससे भिन्न भेदों का संग्रह हो गया। भद्र, आसन, भूमि आदि का स्पष्ट दर्शन होने से (देखने से) एक भेद का संग्रह हो गया। इससे आधाराङ्ग का भेद दिखाया गया है। प्रयोक्ता और प्रयोग का भेद तो पहिले दिखाया गया है और यहाँ भी कह दिया है।

शिक्षायोग—करण एवं अङ्गहार विशेष में अङ्गविक्षेपरूप नृत्त का विचित्र अभ्यास शिक्षा है, इससे साधकतम का भेद दिखाया गया है। इसी साधकतम भेद का आश्रय लेकर हमने "रेचितैरङ्गहारैश्च" इत्यादि के व्याख्यान के अवसर पर विस्तार से कहा है। 'विविध' पद के ग्रहण से उन भेदों के मिश्रण से अनन्त भेदों की सूचना मिलती है। उसे हमने पहिले ही दिखा दिया है।

अब प्रश्न है कि ये सब पिण्डीबन्धों के प्रकार यहाँ उपयोगी हैं अथवा नहीं, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—उसी प्रकार प्रयोक्ताओं को प्रयोग करना चाहिए।

उन सभी प्रकारों से पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध आदि बन्धों की योजना की जाती है। कुछ लोग इसकी व्याख्या करते हैं कि जहाँ पर छेदन (छेद्य) क्रिया से सम्वलित चर्मयन्त्र (वाद्ययंत्र) है और काष्ठमयी प्रकृति अर्थात् काष्ठ से निर्मित चौकी भद्रासन है। यह व्याख्या उचित है अथवा अनुचित, इसको तो सहृदय लोग ही जानते हैं।

एवं प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः[1] ।
गीतानां [2]छन्दकानां च भूयो वक्ष्याम्यहं विधिम् ॥ २९७ ॥

एवं गीतकाङ्गवाद्यनर्तकीपिण्डीबन्धादिदर्शनादपि नाट्यान्नृत्यमभिन्नमित्यपि सूचितम् । न चायं पिण्डीबन्धप्रकारो लक्ष्ये विच्छिन्नः । [3]केवलमृत्तिकापक्षयोः पतितमहौषधिवदनवस्थितैरभ्युद्धर्तुं न शक्यते सावधानतया तु शक्यत एवेति नात्रालस्यं श्रयितव्यम् । अन्यथा प्रयोगमाहुः । तथा हि—एकं तु प्रथममित्यत्र प्रथमासारितमभिनयति । ततो द्वितीयासारितम् । तत्समकालं तु प्रथमा केवलमङ्गहारं करोतीति । एवं तृतीया तृतीयासारितार्थमभिनयति । तदा द्वेऽङ्गहारं प्रयुञ्जाते । चतुर्थी चतुर्थाभिनयं यदा करोति तिस्रोऽङ्गहारं रञ्जयन्ति । अन्ये त्वभिनयप्रयोगेऽपि सहिततामाहुः । जालशृङ्खलिकादिपिण्डीबन्धजातं चान्योन्यं बाहुबन्धवैचित्र्यरचितमिच्छन्ति ॥ २९६ ॥

अथ वर्धमानकमासाद्येति प्रतिज्ञातमुपसंहरति—एवमित्यादिना ।

इस प्रकार गीत, अङ्ग, वाद्य, नर्त्तकी, पिण्डीबन्ध आदि के दर्शन अर्थात् अनुशीलन से भी यह सूचित होता है कि नृत्य नाट्य से अभिन्न है । यह पिण्डीबन्ध प्रकार लक्ष्य में विच्छिन्न नहीं है । क्योंकि केवल मृत्तिका (मिट्टी) अथवा तृणक (तृण-समूह) में गिरी हुई महौषधि के समान अनवस्थित लोगों के द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता और सावधान व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है, इसलिए इस विषय में आलस्य नहीं करना चाहिए । अन्यथा प्रयोग क्यों कहते ? जैसे—"एकं तु प्रथमं योज्या" यहाँ पर प्रथम आसारित का अभिनय एक नर्त्तकी करती है । उसके बाद दूसरी नर्त्तकी द्वितीय आसारित का प्रयोग करती है । उस समय पहली केवल अङ्गहार का प्रयोग करती है । इसी प्रकार तीसरी नर्त्तकी तृतीय आसारित का अभिनय करती है । उस समय दोनों नर्त्तकियां अङ्गहारों का प्रयोग करती हैं । जब चौथी नर्त्तकी चतुर्थ आसारित (ज्येष्ठासारित) का अभिनय करती है तब तीनों नर्त्तकियाँ अङ्गहारों के प्रयोग से उपरञ्जन करती हैं । अन्य लोग तो अभिनय के प्रयोग में भी साहित्य अर्थात् अभिनय और अङ्गहारों का सहयोग (साथ-प्रयोग) को कहते हैं । लताबन्ध शृङ्खलिका आदि पिण्डीबन्धों को परस्पर अनेक बन्धों के वैचित्र्य से रचित चाहते हैं ॥२९६॥

इसके 'वर्धमानक को प्राप्त करके' इस प्रतिज्ञात अंश का उपसंहार करते हैं—

अनुवाद— हे तपस्वियों ? वर्धमानक में भी इसी प्रकार अर्थात् आसारित में प्रयुक्त विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए । अब मैं गीतों तथा छन्दकों के प्रयोग-विधि को कहूँगा ॥ २९७ ॥

---

१. ख. घ. प्रयोक्तृभिः ॥ २. क-म. छन्दगानां च ।
३. क. केवलमृत्तकपक्षयोः । क. केवलतृणाक इति पाठान्तरमपि ।

एवं प्राधान्याद्वर्धमानप्रयोगमभिधाय "गीतानां मद्रकादीनाम्" (ना० शा० ५-१३) इति यद्वक्ष्यते तन्निर्णयाय प्रतिजानीते – गीतानामित्यादि । चकारः सर्वशेषतां द्योतयति अन्वाचयं च । आसारितादिपर्यन्तप्रयोज्यानां छन्दकादीनां तच्छेषतयैव लक्षणं वक्ष्यते । तथाहि तालाध्याये (ना० शा० अ० ३१) वर्धमानासारितकगीतकपाणिकान्ते [1]च्छन्दकप्रयोगश्चतुष्पदाप्रयोगश्चाभिधास्यते ।

सर्वेषामेव गीतानामन्ते छन्दक इष्यते ।
[2]चतुरङ्गस्ततः त्र्यङ्गो नवाङ्गो युग्म एव च ॥ (ना. शा. ३१-३२६)
चतुष्पदा तथैकाङ्गा त्र्यङ्गा वा परिकीर्त्तिता" । (ना० शा० ३१-३२७)

इत्यादौ । तेन प्रधानतया तावद्गीतकादिविशेषाणां विधिस्तत्प्रयोगे न तु स्वतन्त्राणाम् । गीतकगतवस्त्वङ्गादि यत्र स्वेच्छया समाश्रित्यैकद्वित्याद्यनियमेन प्रयुज्यते तानि च्छन्दकानि । यान्यद्यत्वे नृत्ततालात्मना डोम्बिकानर्तकीलयचरणादिरूपेण प्रसिद्धानि । भूय (इति) । उक्तो हि वर्धमानविधिस्तत्राप्यधिकं[3] वस्तु वक्ष्यते ॥ २९७ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रधान रूप से वर्धमानक के प्रयोग को कहकर 'गीतानां मद्रकादीनां' इत्यादि जो आगे कहेंगे, उनके निर्णय के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'गीतों और छन्दकों के प्रयोग-विधि को कहूँगा' । यहाँ पर चकार सर्वाङ्गता और अन्वाचय अर्थात् प्रधान कार्य के साथ गौड़ कार्य कथन को द्योतित करता है । आसारित आदि से लेकर पणिका पर्यन्त प्रयोज्य छन्दक आदि का आसारित शेष अङ्ग के रूप में लक्षण करेंगे । जैसाकि तालाध्याय में (ना० शा० अ–३१) वर्धमानक, आसारितक, गीतक, पणिका के अन्त में छन्दक प्रयोग एवं चतुष्पदा प्रयोग को कहेंगे ।

"सभी गीतों के अन्त में छन्दक का प्रयोग इष्ट है । वह चतुरङ्ग, त्र्यङ्ग, नवाङ्ग और युग्म होता है और चतुष्पदा एकाङ्गा अथवा त्र्यङ्गा होती है ।" (ना० शा० ३१।३२६–३२७) ।

इसलिए प्रधान रूप से गीतकों एवं छन्दों आदि की विधि को उसके प्रयोग के अवसर पर कहेंगे, स्वतन्त्र रूप से नहीं । गीतक में विद्यमान वस्तु, अङ्ग आदि का जहाँ पर अपनी इच्छा से आश्रय लेकर एक, दो, तीन के नियम को न देखते हुए अर्थात् अनियम से प्रयोग करते हैं तो वे 'छन्दक' कहलाते हैं । जो आजकल नृत्त और ताल के रूप में डोम्बिका नर्त्तकी के नृत्त, ताल, चरण आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं । '**भूयः**' पद का अभिप्राय है—वर्धमानक विधि को कह दिया गया है, उससे अधिक वस्तु को आगे कहेंगे ॥२९७॥

---

१. क-म. भ. छन्दसि प्रयोगश्चतुष्पादप्रयोगश्चाभिधास्यते ।
२. क-म. भ. चतुर्हस्तत्र्यस्रौ । ३. क-भ. तत्राप्यविकलं ।

[1]यानि वस्तुनिबद्धानि यानि चाङ्गकृतानि तु ।
गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं [2]नृत्तवाद्ययोः ॥ २९८ ॥
[3]तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः [4]सार्वभाण्डिकम् ।
[5]क्षेपप्रतिक्षेपकृतं भाण्डोपोहनसंस्कृतम्[6] ॥ २९९ ॥

तत्र गीतकतालाश्रितनृत्तविधानं तावद्दर्शयितुमुपक्रमते—यानीति ।

भूयांसि खण्डलकादिवस्तूनि । स्वल्पानि त्वङ्गानि । तत्र वस्तुनिबन्धनानि त्रीणि गीतकानि—मद्रकः परान्तकं प्रकरी च । अन्यानि चत्वार्यङ्गान्युल्लोप्यकं रोविन्दकमोवेणकमुत्तरं च । तेषां क्रमेणाह—तेषामिति नृत्ते वाद्ये च यो विधिस्तं वक्ष्यामि ।

अब वहाँ पर गीत और ताल में आश्रित नृत्तविधान को दिखाने का उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—जो गीत वस्तु से निबद्ध हैं और जो अङ्गों से निबद्ध हैं उन गीतों के तथा उनके साथ प्रयुक्त नृत्त और वाद्यों के प्रयोग को कहूँगा ॥२९८।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार खण्डलक आदि वस्तु अधिक हैं और अङ्ग स्वल्प है। उनमें वस्तु निबन्धन अर्थात् वस्तु से निबद्ध गीत तीन प्रकार के होते हैं—मद्रक, परान्तक और प्रकरी। अङ्गकृत अर्थात् अङ्ग से निबद्ध गीत चार प्रकार के होते हैं—उल्लोप्यक, रोविन्दक, ओवेणक और उत्तर। अब उन गीतों का नृत्त और वाद्य में जो विधि है उसे कहूँगा।

अनुवाद—क्षेप और प्रतिक्षेप के साथ भाण्डवाद्यों के उपोहन से संस्कृत समस्त वाद्यों के वादन के साथ नर्त्तकी को रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए ॥२९९॥

पाठान्तर से इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

"क्षेप-प्रतिक्षेप से व्यञ्जित तन्त्रीगान से समन्वित समस्त भाण्डवाद्यों के वादन के साथ नर्त्तकी को रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए ॥ २९९ ॥

---

१. ग. यानि वस्तूनि मुनयः सन्ति चाङ्गकृतानि तु ।
ख. घ. यानि वस्तूनि बद्धानि यानि चाङ्गकृतानि च ।
२. क-प. नृत्यवाद्ययोः
३. ख. यत्रावतरणं ।
४. ग. सर्वभाण्डिकम् ।
५. ख. छेदप्रतिक्षेपकृतं । क-त. भेदप्रतिक्षेपकृतं । क-ब. छन्दः प्रतिक्षेपकृतं ।
६. ग-घ. तन्त्रीगानसमन्वितम् ।

[1]प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतके सर्ववस्तुकम् ।
तदेव च पुनर्वस्तु [2]नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ॥ ३०० ॥

तत्र गीतकेषु ये क्षेपाः प्रथमवस्त्वादावुपोहनानि ये च प्रतिक्षेपाः द्वितीयवस्त्वादिषु प्रत्युपोहनानि, मतान्तरे त्वनन्तर्भूतपृथक्कालात्मकगीतशेषरूपाणि तानि तन्त्रीगतानि (गीतन्त्रीगानयुक्तानि) प्रयुज्य नर्तक्या अवतरणं भाण्डवाद्यसहितं पुष्कराध्यायभाविना [3]प्रविरलचलदङ्गुलि (ना० शा० ९-२०) दलाभिहन्यमानाङ्गिकप्राधान्येन कार्यम् ।

एतदुक्तं भवति—प्रथमे वस्तुन्याक्षिप्तिकामुपोहनं च प्रयुज्य नर्तकीप्रवेशः । द्वितीयादौ प्रत्युपोहनम् । पदयोजना तु तन्त्रीगानान्वितं कृत्वा क्षेपप्रतिक्षेपयोः कृतं परिसमाप्तता यत्र । तादृगवतरणा (तादृगवतरणं कार्यं) सर्वभाण्डवाद्याद्याविर्भावम्[4] ॥२९९ ॥

प्रथममित्यादावित्यर्थः । वस्त्वेव वस्तुकम् । तत्सर्वमादावभिनेयं पुनर्नृत्तेन योज्यम् ॥ ३०० ॥

अभिनव--उन गीतों के प्रयोग में जो क्षेप है अर्थात् प्रथम वस्तु से उपोहन तथा जो प्रतिक्षेप अर्थात् द्वितीय वस्तु से प्रत्युपोहन करके प्रतिक्षेप किया जाता है। अन्य मत के अनुसार तो अन्तर्भूत न होने वाले अलग कलात्मक जो गीतशेष रूप हैं उन्हें तन्त्रीगत गान के साथ प्रयोग कर भाण्डवाद्यों के प्रयोग के साथ पुष्कराध्याय में कहे जाने वाले प्रविरल चलती हुई अङ्गुलियों से अभिहन्यमान आङ्गिक अभिनय की प्रधानता से नर्त्तकी का अवतरण कराना चाहिए।

यह कहा गया है कि—प्रथम वस्तु में आक्षेप अर्थात् उपोहन का प्रयोग करके नर्त्तकी का प्रवेश होता है। द्वितीय वस्तु में प्रतिक्षेप अर्थात् प्रत्युपोहन का प्रयोग करके नर्त्तकी को प्रवेश करना चाहिए। पदयोजना इस प्रकार है—तन्त्रीगान से अन्वित (युक्त) करके क्षेप और प्रतिक्षेप की समाप्ति हो जहाँ ऐसे समस्त भाण्डवाद्यों के आविर्भाव (प्रयोग) के साथ उस प्रकार नर्त्तकी का अवतरण कराना चाहिए ॥ २९९ ॥

अनुवाद--सर्वप्रथम अभिनय के योग्य गीत की समस्त वस्तुओं का अभिनय करना चाहिए। उसके बाद उसी वस्तु को पुनः (फिर) नृत्त के माध्यम से प्रदर्शित करे ॥ ३०० ॥

अभिनव—'प्रथम' का अर्थ है पहिले। 'वस्तु' ही वस्तुक है। उन समस्त वस्तुओं का पहिले अभिनय करना चाहिए फिर नृत्त के साथ प्रयोग करना चाहिए ॥ ३०० ॥

---

१ ख-भ. प्रथमं त्वभिनेयं तु गीतके सववस्तु तत् ।
२. क-न. ब. नृत्तेनाभिदर्शयेत् ।
३. क-भ. प्रविचलदङ्गुलि०
४. क-सर्वभाण्डवाद्यान्तर्भावम् ।

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु नृत्ताभिनयवादिते[1] ।
[2]आसारितविधौ स्याद स गीतानां वस्तुकेष्वपि[3] ॥ ३०१ ॥

कथमित्याह—यो विधिरिति। असारितविधौ यः प्रकारः स एवात्र प्रकारः। यथाऽऽसारितेष्वसंख्यानियमो (यथासाऽऽरितेषु सङ्ख्यानियमो) नर्तकी-वृद्धया नृत्तप्रयोगः। पूर्वं चैकाकिन्याऽभिनयः। नृत्ते च भाण्डवाद्यादिप्रयोगः। तथात्रापि। तेन वस्तुसङ्ख्यया(वस्तुसंख्यां) नर्तक्य इहेति मन्तव्यम् ॥ ३०१ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदुपक्रमते—एवं वस्तुनिबन्धानामित्यादि ॥ ३०२ ॥

अनुवाद—नृत्त, अभिनय और वाद्यों के विषय में जो विधि पहले बताई गई है वही विधि आसारित विधि में गीतों की वस्तुओं के सम्बन्ध में भी की जानी चाहिए ॥ ३०१ ॥

द्वितीय अर्थ—आसारित के अन्तर्गत नृत्त, अभिनय और वाद्यों के सम्बन्ध में जो विधि बताई गई है वही विधि यहाँ वस्तु निबन्धना गीत में अर्थात् वस्तुओं से निबद्ध गीतों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए ॥ ३०१ ॥

अभिनव—आसारित के प्रयोग में जो विधान (विधि) बताया गया है वही प्रकार यहाँ भी लागू होगा। जैसे—आसारितों में संख्या का नियम है कि नर्त्तकियों की संख्या में वृद्धि से नृत्तप्रयोग होता है। पहिले एक नर्त्तकी के द्वारा अभिनय होता है और नृत्त में भाण्डवाद्यों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वस्तुसंख्या में अनुसार नर्त्तकियाँ समझनी चाहिए ॥ ३०१ ॥

विमर्श—यहाँ पर यह बताया गया है कि नृत्त, अभिनय एवं वाद्यों के प्रयोग के सम्बन्ध में जो विधि ऊपर बताई गई है आसारित गीतों की वस्तु को अभिव्यञ्जित करने के लिए वही विधि प्रयुक्त करनी चाहिए। अभिनव का कथन है कि ऊपर आसारित के विधान में नृत्त, अभिनय और वाद्यों के वादन के सम्बन्ध में जो प्रयोग-विधि बताई गई उसी का यहाँ गीतों की वस्तु के अभिव्यञ्जन में भी प्रयोग करना चाहिए। आसारितों में जिस प्रकार संख्या के नियम, नर्त्तकियों की संख्या में वृद्धि, नृत्तप्रयोग बताया गया है, तथा पहिले एक नर्त्तकी का अभिनय और अभिनय के समय भाण्डवाद्यों का प्रयोग बताया गया है उसी प्रकार गीत के प्रयोग में भी वस्तु के संख्या के अनुसार नर्त्तकियों की संख्या में वृद्धि और नृत्त प्रयोग होता है ॥ ३०१ ॥

अब इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१. ख. वृत्ताभिनयवादिते। क-प. नृत्ताभिनयवादितैः।
२. क-न. आसारितविधौ सम्यग्गीतानां वास्तुकेष्वपि।
३. ख. वस्तु तेष्वपि।

[1]एवं वस्तुनिबन्धानां [2]गीतकानां विधिः स्मृतः ।
[3]शृणुताङ्गनिबद्धानां गीतानामपि लक्षणम् ।। ३०२ ।।
य एव [4]वस्तुकविधिर्नृत्ताभिनयवादिते ।
[5]तमेवाङ्गनिबद्धेषु च्छन्दकेष्वपि योजयेत् ।। ३०३ ।।
वाद्यं गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरमेव च ।
मुखे सोपोहने[6] कुर्याद्वर्णानां विप्रकर्षतः ।। ३०४ ।।

वादिते च विशुद्धकरणायामित्यादि योजयेत् । तदेवाङ्गनिबन्धेषु योजयेत् । तथा सर्वशेषभूतेषु स्वतन्त्रेषु छन्दकेष्वपि ।। ३०३ ।।

अनुवाद--इस प्रकार वस्तुनिबन्धना अर्थात् वस्तु से निबद्ध गीतकों की विधि बताई गई है और अब अङ्गनिबन्धना अर्थात् अङ्गों से निबद्ध गीतों का लक्षण सुनिये ।। ३०२ ।।

अनुवाद—वस्तु-निबद्ध गीतों नृत्त, अभिनय और वाद्यों के सम्बन्ध में जो विधि बताई गई है वही विधि अङ्गों से निबद्ध गीतों में तथा छन्दकों में प्रयोग करना चाहिए।। ३०३ ।।

अभिनव—यहाँ 'वादिते' से विशुद्ध करण जाति में जो योजना की जाती है, वही यहाँ अङ्ग-निबद्ध गीत में भी करनी चाहिए और छन्दकों में भी वही विधि करे । इस प्रकार छन्दकों के प्रयोग में उसी प्रकार योजना करे ।। ३०३ ।।

अब विशेष उपक्रम को दिखाते हैं—

अनुवाद—मुख और उपोहन (अथवा उपोहन नामक मुख) के प्रयोग में गुरु तथा अल्प अक्षरों से युक्त वाद्य को इस प्रकार बजाये जिससे वर्णो की स्थिति स्पष्ट हो जाय ।।३०४ ।।

विमर्श—इस श्लोक का अर्थ कुछ टेढ़ा है। 'मुख' का अर्थ यहाँ पर 'मुख' नामक नाटचसन्धि अथवा छन्दक का प्रयोगारम्भ लिया जा सकता है। आसारित गीत का एक अङ्ग भी गीत है जिसे उपोहन कहा जाता है। किन्तु यह अर्थ लिया गया नहीं प्रतीत होता । यहाँ 'मुख' शब्द की अभिप्राय है छन्दक के प्रयोग के आरम्भ में किया जाने वाला 'उपोहन'। उपोहन के प्रयोग में स्थायी स्वर के आधार पर आगे के स्वरों की स्थापना करते हैं । यहाँ पर मुख का सम्बन्ध वस्तु से तथा उपोहन का सम्बन्ध गान से प्रतीत होता है। यहाँ पर गुरु से दो मात्रा और अल्पाक्षर से एक मात्रा का ग्रहण होता है किन्तु अभिनवगुप्त ने अल्पाक्षर को अर्धमात्रा काल माना है ।। ३०४ ।।

---

१. ख. घ. एष वस्तुनिबन्धानां । २. ग. गीतानां च ।
३ क-ङ म शृणुताङ्गानि स्वर्धानाम् ।
४. ग. घ. य एव वस्तुषु विधिः । क.म. य एव वास्तुकविधिः ।
५. ख. घ. स सर्व एव कर्त्तव्यश्छन्दकेषु प्रयोक्तृभिः । ६. ख. सापोहने ।

यदा [1]गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते ।
तत्राद्यमभिनेयं स्याच्छेषं नृत्तेन योजयेत् ॥ ३०५ ॥

विशेषं तु दर्शयति—वाद्यमिति । घिंघि ढन् त्रन् इत्यादीनि रूपाणि गुरूण्यपि कदाचित्प्रयत्नशीघ्रतया ताले प्रयुक्तानि बहूनि भवन्ति । यथोत्साह-च्छटादौ त्थीत्थीत्थीत्थन् धृत् दत्थकुदहिं—एषैका कला । अत आह—अल्पाक्षर-मयेऽपि च [2]भवत्यर्धादौ वाद्ययोजनात्कलार्धादेश्च शून्यत्वात् । तथा चञ्चत्पुटे प्रथमकलायां[3] हिविटा ? एव । तत्परिहारार्थमाह—वर्णानां गुरूणां विशेषेणाणु-पर्यन्तं त्रिमात्रचतुर्मात्रतया प्रकृष्टं तद्वाद्यं कर्तव्यम् । मुखनाम्न्युपवहसंज्ञके वाऽङ्गे वस्तुनिबन्धेष्वप्युपोहनेऽङ्गेऽयं वाद्यविधिः । अङ्गाल्पत्वात्तु तत्र नाङ्गनि-बन्धव्यपदेशः ॥ ३०४ ॥

अथ वक्तव्यं सर्वशेषत्वेनाह—यदा गीतिवशादङ्गमित्यादि ।

मुख्याङ्गानि यदा पुनः पुनरावर्तन्ते । कथम् गीतेश्चतुर्विधायाः [4]मागध्या-दिकाया वशात्सामर्थ्यात् । वक्ष्यते हि ध्रुवाध्यायान्ते—

अभिनव—कभी प्रयत्न की शीघ्रता से ताल में 'घि घि ढ़न् त्रन्' इत्यादि रूप में बहुत से गुरु अक्षर प्रयुक्त होते हैं । जैसे—उत्साह की छटा में 'त्थीत्थीत्थीत्थन् धृत् दत्थकुदहिं' इस प्रयोग में एक कला है । इसलिए कहते हैं—'अल्पाक्षरमेव च अर्थात्—गीयमान अर्थ में वाद्य की योजना से कला होती है किन्तु वस्तु के अर्धभाग से शून्य होने से अर्धकला होती है । चञ्चत्पुट ताल में प्रथम कला में 'हि वि टा' ये अल्पा-क्षर हैं । उसका परिहार करने के लिए कहते हैं कि वर्णों के अर्थात् गुरु वर्णों के विशेष से अणुपर्यन्त त्रिमात्रा और चतुर्मात्रा के रूप में वाद्य को प्रकृष्ट करना चाहिए । मुख नामक उपोहन संज्ञक अङ्ग में वस्तुनिबन्धन गीतों में यह वाद्य विधि होती है । किन्तु अल्पाक्षर होने से इसमें अङ्गनिबन्धन का व्यपदेश नहीं होता है ॥ ३०४ ॥

अनुवाद— गीत के कारण जब उसके अङ्गों को बार-बार दुहराया जाता है तो उसके आद्य अर्थात् प्रारम्भिक भाग को अभिनय के द्वारा और शेष भाग को नृत्त के द्वारा प्रदर्शित करे ॥३०५॥

अभिनव—जब गीत के वश से अङ्गों को अर्थात् मुख्य अङ्गों को बार-बार दुहराते हैं । कैसे ? गीति के अर्थात् मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला इन चार प्रकार की गीतियों के सामर्थ्य से (आवृत्ति होती है) । यह ध्रुवा अध्याय के अन्त में कहेंगे—

---

१. ख-ग. घ. गीतवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्त्तते । २. क-म. भवत्यर्धादौ ।
३. क-म. हविटा । क-भ. रहाविटा । ४. क-म. भ. मागध्यादिकार्यवशात् ।

[1]त्रिःनिवृत्त्या पदानां तु मागधी समुदाहृता ।

(ना० शा० ३२-४३८) इत्यादि ।

गीतवशादित्यपि पाठ एवमर्थः । गीतिं वा गीयमानं वा । तत्र विधिमिति । तालाध्याये वक्ष्यते—

"यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि च ॥"

(ना०शा०३१-१०३) इति ।

तत्रेति । निवर्तने । आद्यमिति । आद्य आवर्तः । शेषमित्यादि । आवर्तान्तराणि शुद्धनृत्तप्रयोज्यानि । तेन न केवलं वस्त्वङ्गादिसमाप्तौ नृत्तम् । यावन्मध्येऽपि कदाचित्परिवर्तेषु भवतीति दर्शनम् । यत्तु राहुलकेनोक्तमपौनरुक्त्येनाभिनयनं तदेवंविधमेव मन्तव्यम् ।

यत्तु अहं "जळणिहिचुळुइ माइमा" इत्यत्र, जलनिधिचुलुके मानितेन चोन्मीयत इत्यादि कैश्चिदुत्प्रेक्षितं तन्न सर्वत्र निर्वहतीत्यास्तां तावत् ॥ ३०५ ॥

"जहाँ पर पदों की तीन बार आवृत्ति की जाती है वहाँ मागधी गीति होती है ।" (ना० शा० ३२।४३२) ।

'गीतवशात्' यहाँ पर भी 'गीति' पाठ मानकर इसी प्रकार अर्थ होता है और जब 'गीत' पाठ को मानते हैं तो क्या अर्थ होगा—गोत या गीयमान अर्थ ? वहाँ विधि है । जैसाकि तालाध्याय में कहेंगे—

"यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात ये तीन आसारित गीत के भेद होते हैं ।" (ना० शा० ३१।११४)

'तत्र' अर्थात् निवर्तन (आवृत्ति) में । 'आद्यं' का अर्थ है प्रथम आवर्त्तन । 'शेषं' पद से तात्पर्य है—शुद्ध नृत्त में प्रयोज्य अन्य आवर्त्तन । इससे ज्ञात होता है कि केवल वस्तु और अङ्ग की समाप्ति में ही नृत्त होता है, यह बात नहीं है । किन्तु इनके बीच में कदाचित् दश परिवर्तों में भी होता है, यह दर्शन है । जैसाकि राहुल ने कहा है कि पुनरुक्ति के बिना भी अभिनय होता है, उसे इसी प्रकार मानना चाहिए ।

जैसाकि मैं "जलणिहिचुलुइ माइमा" इत्यादि में जलनिधि समुद्र को चुल्लू में भरकर माप लिया इस प्रकार अनुमान करते हैं कि समुद्र इतना गहरा है, इस प्रकार जो किसी ने उत्प्रेक्षा की है, उसका सब जगह निर्वाह नहीं होता । अतः यहाँ रहने दिया जाय ॥ ३०५ ॥

1 क. अनिवृत्त्या ।

यदा[1] गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते[2]।
त्रिपाणिलयसंयुक्तं तत्र वाद्यं प्रयोजयेत्॥ ३०६॥

तत्र वाद्यविधिमाह। आवर्तमानगीतवशादङ्गं शाखाचारीप्रयोगात्मकं यदाऽऽवर्तते वाद्यप्राधान्येन नृत्तमेव वाद्यस्य यथासम्भवं वैचित्र्यं प्रदर्शनीयम्। पूर्वं हि तद्वैचित्र्यं काव्यार्थेन नियन्त्रितम्। अधुना तु सङ्कोचोऽस्य नास्ति। तथा च लक्ष्ये प्रावेशिक्यां पात्रकृतसङ्कोचाद्यभावं मन्यमाना गीताचार्याः त्रितयप्रयोगमाहुः। एतच्च विचारयिष्यत इत्यास्तां तावत्।

विमर्श—जब गीत के सामर्थ्य से उसके किसी अङ्ग को बार-बार दुहराया जाता है तो प्रथम आवर्त्त को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करे और शेष अर्थात् शुद्ध नृत्त में प्रयोज्य अन्य आवर्त्तन को नृत्त (अङ्गविक्षेप) द्वारा प्रदर्शित करे। ध्रुवाध्याय में गीति के चार भेद बताये गये है और उनमें मागधी को त्रिरावर्त्त तथा अर्धमागधी को द्विरावर्त्त बताया गया है—

मागधी प्रथमा गीतिस्तथा चैवार्धमागधी।
सम्भाविता तृतीया स्यात् पृथुला च तथा परा।
त्रिनिवृत्या पदानां च मागधी समुदाहृता।
चित्रे ऽर्धमागधी चैव द्विनिवृत्तपदाश्रया"। (ना० शा० ३२।४३२)

आसारित गीत के तीन भेद होते हैं। जैसाकि नाट्यशास्त्र के इकतीसवें अध्याय में कहा गया है –

आसारितानां सर्वेषां त्रयो भेदाः प्रदर्शिताः।
द्व्यक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि च॥ (ना० शा० ३१।११४)

अब वाद्यविधि को कहते हैं—

अनुवाद—जब गीत के वश (सामर्थ्य) से बार-बार अङ्गों का निवर्त्तन किया जाता है तो वहाँ तीन प्रकार के पाणियों और लयों से युक्त वाद्यों का प्रयोग करे॥३०६॥

अभिनवभारती—आवर्त्तमान गीत के कारण शाखा एवं चारी के प्रयोग रूप अङ्ग का जब आवृत्ति होती है तो वाद्य की प्रधानता से नृत्त के वैचित्र्य के समान नृत्त की प्रधानता से वाद्य का भी वैचित्र्य दिखाना चाहिए। पहिले तो उनका वैचित्र्य काव्यार्थ के द्वारा नियन्त्रित था, किन्तु अब उसका नियन्त्रण न होने से सङ्कोच भी नहीं है। जिस प्रकार लक्ष्य प्रावेशिकी ध्रुवा में पात्रकृत सङ्कोच का अभाव मानने वाले सङ्गीत के आचार्य तीन प्रकार का प्रयोग कहते हैं। इसका विचार आगे करेंगे यहाँ रहने दिया जाय।

---

१. ख. च. ग. यदा गीतवशावङ्गं। २. ख-च. निवर्त्तयेद्।

[5]समपाणिरुपरिपाणिर्धपाणिश्चेति (ना० शा० ३१-३२९) त्रिधा पाणिः तालः। तदभिव्यङ्ग्यत्वात्। सङ्गीतनृत्ताभ्यां सह या(वा)पूर्वं वेति त्रिधा। छन्दोऽक्षरपदानां साम्यं लयः। कलाकालान्तरकृतो द्रुतादिभेदस्त्रिविधः (ना. शा. ३१-३१६)। एतच्च त्रैविध्यं यतिमार्गादिभेदस्याप्युपलक्षणम्॥ ३०६॥

समपाणि, उपरिपाणि, अर्धपाणि तीन प्रकार के पाणियों को 'ताल' कहा गया है। ताल के अभिव्यङ्ग्य होने से सङ्गीत और नृत्त के साथ प्रयुक्त ताल समपाणि, गीत-वाद्य के पश्चात् प्रयुक्त ताल अवपाणि और गीत, वाद्य आदि के पूर्व में प्रयुक्त ताल उपरिपाणि होता है। छन्द, अक्षर एवं पदों का साम्य लय है। कलाकालान्तरकृत अर्थात् कलाओं एवं कालान्तर भेद से सम्पादित लय द्रुत, मध्य और विलम्बित भेद से तीन प्रकार का होता है। ये तीन प्रकार यति, मार्ग आदि भेद के भी उपलक्षण हैं॥३०६॥

विमर्श—अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि जब आवर्त्तमान गीत के साथ शाखा और चारी रूप अङ्ग को दुहराया जाता है तो जिस वाद्य की प्रधानता से नृत्त का वैचित्र्य स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार नृत्त की प्रधानता से वाद्य का वैचित्र्य भी स्वीकार किया जाना चाहिए। संगीत के आचार्य प्रावेशिकी ध्रुवा गीत में सङ्कोचादि का अभाव मानते हुए तीन प्रकार का प्रयोग मानते हैं। आवर्त्तमान गीत के साथ उसके अङ्गों को दुहराये जाने के साथ तीन प्रकार के पाणियों तथा तीन प्रकार के लयों से समन्वित वाद्यों के बजाये जाने का निर्देश है। ताल में तीन प्रकार के पाणि प्रयुक्त होते हैं—समपाणि, उपरिपाणि और अर्धपाणि। उनमें गीत और वाद्य नृत्त के साथ होने वाला ताल समपाणि, गीत और वाद्य आदि के पूर्व में होने वाला ताल उपरिपाणि और गीत, ताल आदि के पश्चात् प्रारम्भ किया जाने वाला ताल अर्धपाणि (अवपाणि) कहा जाता है—

समपाण्यर्धपाणिस्थं तथैवोपरिपाणिकम्।
गीतवाद्यानुगं वाद्यं ज्ञेयं पाणिसमं तु तत्॥
(ना० शा० ३४।१४७)

समपाणिश्च विज्ञेयो ह्यवपाणिस्तथैव च।
तथैवोपरिपाणिश्च गीतवाद्यसमाश्रयः।
लयेन यत् समं वाद्यं समपाणिः प्रकीर्त्यते।
ध्रुवात् यदवकृष्टं स्यात् सोऽवपाणिः प्रकीर्तितः।
लयस्योपरि यद्वाद्यं पाणिः स उपकीर्त्यते॥
(ना० शा० ३१।३७३–३७५)

छन्द, अक्षर और पदों के साम्य को 'लय' कहा जाता है। कला (गुरु या ताल का भाग) के कालमान के अनुसार लय तीन प्रकार का होता है—द्रुत, मध्य और विलम्बित।

५. क. समपाणिरुपरिपाणिरवपाणिश्चेति। क-म. समपाणिरपरपाणिरर्धपाणिश्चेति।

यथा लयस्तथा वाद्यं कर्तव्यमिह वादकैः[1]।
ततं[2] चानुगतं चापि ओघं च करणान्वितम् ॥ ३०७ ॥
स्थिरे[3] ततं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत्।
[4]भूयश्चौघः प्रयोक्तव्यस्त्वेष वाद्यगतो विधिः ॥ ३०८ ॥

ननु प्रथम आवर्ते कीदृशं वाद्यमित्याशङ्क्याह—यथा लय इति।

छन्दोऽक्षरपदानां हि समत्वं यत्प्रकीर्तितम्।
कालान्तरकृतः सः लयो मानसमन्वितः ॥
(ना० शा० ३१।३७६)

ये तीनों भेद यति, मार्ग आदि के उपलक्षण हैं। लय के प्रयोग के नियम को 'यति' कहते है। यति का प्रयोग ताल के सुन्दर समापन के लिए होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार 'यति' के द्वारा 'लय' का प्रवर्त्तन होता हैं। द्रुत, मध्य और विलम्बित लय के अनुसार यति तीन प्रकार की होती है—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा। आदि, मध्य और अन्त में यति के द्रुतलय होने पर प्रथम प्रकार की 'समा' यति होती है। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में यदि मध्य लय हो तो द्वितीय प्रकार की 'समा' यति होती है। इसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त में विलम्बित लय हीने पर तृतीय प्रकार की 'समा' यति होती है। आदि में विलम्बित लय, मध्य में मध्य लय और अन्त में द्रुत लय होने पर 'स्रोतोवहा' यति होती है। यह विलम्बित मध्य और द्रुत गति के भेद से तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार आदि में द्रुत, मध्य में मध्य और अन्त में विलम्बित लय होने पर 'गोपुच्छा' नामक यति होती है। इस प्रकार यति का सम्बन्ध लय से है। इसलिये ताल और लय से समन्वित वाद्य के प्रयोग का निर्देश दिया गया है ॥३०६॥

प्रथम आवर्त्तन में किस प्रकार के वाद्य का प्रयोग करना चाहिए ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—जैसा लय है वाद्यकों को उसी प्रकार वाद्यों का वादन करना चाहिए। तत्त्व, अनुगत और ओघ ये करणों (बोलों) से अन्वित होते हैं। इनमें तत्त्व का प्रयोग विलम्बित लय में करना चाहिए। अनुगत का मध्य लय में तथा ओघ का द्रुत लय में प्रयोग करना चाहिए, यही वाद्यों की विधि है ॥३०७–३०८॥

---

१. ख. घ. कर्तव्यं त्वङ्गसंश्रयम्।
२. ग. इत आरभ्य सार्द्धश्लोकत्रयं ग. ङ. ब. पुस्तकेषु नास्ति।
ख. ब. तत्त्वं चानुगतं चापि ओघं च करणान्वितम्।
क-न. त. तत्त्वं चानुगतं चैव ओघश्च करणान्वितः।
३. घ. स्थिते। क-त. स्थाने। ४. घ. द्रुते चौघः। क-त. भूते चौघः।

छन्दोगीतकमासाद्य त्वङ्गानि[1] परिवर्तयेत् ।
एष कार्यो [2]विधिर्नित्यं नृत्ताभिनयवादिते ॥ ३०९ ॥

प्रथमे[3] ह्यावर्ते काव्यार्थाभिनयवशादङ्गस्य य उचितो द्रुतादिस्तदनुसार्येव वाद्यकार्यम् । अन्ये तु [4]यथातथाशब्दावविचार्यास्य पूर्वशेषत्वेनैव श्लोका गमयन्ति–यथा वाद्यं त्रिपाणिलयवैचित्र्ययुक्तं तथाङ्गस्य गीतस्य च लयः कार्य इति ॥३०७॥

अभिनव - प्रथम आवर्त्त में काव्यार्थ के अभिनय के अनुसार अङ्गों का जो उचित लय द्रुत, मध्य एवं विलम्बित हैं, उसी के अनुसार ही वाद्यों का प्रयोग करना चाहिए। अन्य लोग तो यथा और तथा शब्द का विचार किये बिना ही उसके पूर्व शेष के रूप में श्लोक के अर्थ की संगति करते हैं। जैसे—वाद्य त्रिपाणि (ताल) और लय के वैचित्र्य से युक्त होता है उसी प्रकार गीत का अङ्ग भी लय से युक्त होना चाहिये॥३०७॥

विमर्श—यहाँ पर लय के आधार पर वाद्यों को विनियोजित करने का विधान बताया गया है। गीत की संगति में वाद्य का विधान तीन प्रकार का बताया गया है—तत्त्व, अनुगत और ओघ अर्थात् गीत में वाद्यों के मेलन प्रकार की विधि को कहते हैं। इनमें स्थिर अर्थात् विलम्बित लय में तत्त्व, मध्य लय में अनुगत और द्रुत लय में ओघ का प्रयोग करना चाहिए। गायकवाड़ संस्करण में 'तत्त्व' के स्थान पर 'तत' पाठ मिलता है। 'तत' से तन्त्री वाद्यों का ग्रहण होता है। तन्त्री वाद्यों में वीणा का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार स्थिर अर्थात् विलम्बित लय में वीणा का वादन किया जाता है। किन्तु अर्थ में विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता। क्योंकि गीत के लय द्रुतादि पर आधारित वीणा की संगति (सम्मेलना) तत्त्व, अनुगत और ओघ पद्धति से की जाती है। यह भरत सम्मत है ॥३०७–३०८॥

अनुवाद––छन्दक गीत का आसादन कर अङ्गों को बार-बार दुहराना चाहिए। नृत्त, अभिनय और वादन में यही विधि नित्य करनी चाहिए ॥३०९॥

विमर्श—छन्दक एक प्रबन्धात्मक गीत है जिसका प्रयोग आसारित और वर्धमान गीतों के अन्त में किया जाता है। **सर्वेषामपि गीतानामन्ते छन्दकमिष्यते।** (ना० शा० ३१।३२६)। इसलिए इस गीत में अङ्गों के बार-बार दुहराये जाने का निर्देश है और साथ ही वाद्यों का प्रयोग भी करना चाहिए। छन्दक गीत के प्रयोग के अवसर पर अङ्गों को जब बार-बार दुहराया जाता है तो उसी समय वाद्य-विधि के अन्तर्गत तत्त्व, अनुगत और ओघ वाद्य-विधियों का भी प्रयोग कतना चाहिए। इस गीत-प्रयोग के साथ नृत्त, अभिनय और वादन की भी योजना होनी चाहिए ॥३०९॥

---

१. क-न. त. त्वङ्गानां परिवर्त्तने ।   २. ख. विधिर्नृत्य नृत्ताभिनयवादिते ।
३. क-भ. म. प्रथमे परावर्त्ते काव्यार्थाभिनयवशादङ्गस्य ।
४. क. भ. यथातथाशब्दौ विचार्यास्य ।

यानि [1]वस्तुनिबद्धानि तेषामन्ते ग्रहो भवेत् ।
अङ्गानां तु परावृत्तावादावेव[2] ग्रहो मतः ॥ ३१० ॥
एवमेष विधिः कार्यो गीतेष्वासारितेष्वपि[3] ।
देवस्तुत्याश्रयं ह्येतत्सुकुमारं निबोधत ॥ ३११ ॥

न चैवं तद्व्यतिक्रमणीयमिति सहेतुकं दर्शयति पादोनेन श्लोकेन—एवमेव इति ।

हि यस्माद्देवस्य भगवतो महादेवस्य स्तुतिनिमित्तं परितोषणप्रयोजनमेतन्नृत्तमतो हेतोर्नियमादृष्टसम्पत्त्यै । एष एव गीतकासारितेषु तच्चेषु (तच्छेषेषु) च छन्दकेषु विधिः । पाणिका तु परिमितशरीरत्वात्स्वयं ताण्डवभाजनं न भवति । सा हि सुकुमारे पूर्वरङ्गे लास्यप्रधानं तत्सत्तावैचित्र्यायोक्ताल्लास्यस्वरूपादेव निश्चीयते । अन्यथा पूर्वरङ्गोपयोगे प्रक्रान्ते तत्राध्याये लास्यस्य कोऽवसरः । वाद्याङ्गमात्रो [4]तदनुपयोगीति चेत् तत्र दशाङ्गस्य चेत्प्रयोज्यता तदतिप्रसङ्गः (तदातिप्रसङ्गः) । स च निषेत्स्यते । तदप्रयोगे [5]कृतानि गेयपदानीति न मिन्मः ।

अनुवाद—जो गीत वस्तु-निबद्ध हैं उनके अन्त में 'ग्रह' का प्रयोग होता है । किन्तु अङ्गों के दुहराये जाने की स्थिति में प्रारम्भ में ही ग्रहों का प्रयोग माना गया है ।।३१०।।

विमर्श—छन्दक गीत के अङ्गों के दुहराये जाने के प्रारम्भ में 'ग्रह' के प्रयोग का निर्देश किया गया है । शार्ङ्गदेव के अनुसार ताल के तीन ग्रह माने गये हैं—सम, अतीत और अनागत । इनका सम्बन्ध क्रमशः मध्य, द्रुत और विलम्बित से जोड़ा गया है ।।३१०।।

किन्तु उसका व्यतिक्रमण नहीं करना चाहिए, इस बात को कारण सहित दिखाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार यह विधि असारित गीतों में भी करनी चाहिए। अब देवताओं की स्तुति पर आश्रित इस सुकुमार नृत्त को भी समझना चाहिए ।।३११।।

अभिनव—क्योंकि यह नृत्त महादेव भगवान् शिव के परितोषण के लिए है इसलिए अदृष्ट फलप्राप्ति के लिए यह विधान है। आसारित गीत और छन्दक गीतों के प्रयोग में भी यही विधि करनी चाहिए। पाणिका गीत तो परिमित शरीर होने के कारण स्वयं ताण्डव के योग्य नहीं है । वह तो लास्यप्रधान सुकुमार पूर्वरङ्ग में उसकी पाणिका की सत्ता की विचित्रता के लिए कहे जाने से लास्य के स्वरूप से ही निश्चित हो जाता है। अन्यथा पूर्वरङ्ग के उपयोग के अवसर पर उस अध्याय में लास्य से प्रतिपादन

१. ख-घ. वस्तूनि बद्धानि ।
२. ख. परावृत्तापदावत्र ग्रहो मतः । घ. परावृत्या वादावेव । ग्रहो भवेद् ।
३. ख-घ. गीतेष्वासारितेषु च ।
४. क-म. तदुपयोगीति ।
५. क-म. तदप्रयोगे तु तानि ।

तालाध्याये चैतद्भविष्यति। गीतकादिशेषत्वे तु छन्दकसङ्गृहीतैवेति नात्रोक्ता। गीतकं च स्वतन्त्रेऽप्यासारिते भवति। ताण्डवप्रयोगस्तु यदा त्वेष पिण्डीबन्धैर्विकल्प्यते प्रत्येकमङ्गविन्यासस्तदा तेषां पृथक्पृथगतिदेशेनासारितेष्वप्येवमेव। मुख्यान्यङ्गचतुष्टयविभागेननर्तकीक्रमप्रवेशादिप्रयोगः। एतदर्थमेव वर्धमानेऽप्युक्ते पुनरासारितसङ्कीर्तनम्। परपूर्वरङ्गे चापिशब्दात्तत्सङ्ग्रहो व्याख्येयः।

"सर्वेषामेव गीतानामन्ते" इत्युपक्रम्य

"चतुष्पदा तथैकाङ्गा...युग्मौ यौ वा प्रमाणतः"।

"तथा शृङ्गारभूयिष्ठा" "त्रिलया वा"॥ (ना शा. ३१-२९३)

इति निरूप्य दशाङ्गं लास्यं तालाध्याये (ना. शा. ३१) निरूपयिष्यते। मुनेश्चतुष्पदान्तर्भूतं लास्यगानमित्यादि भूयो भविष्यत एव। विशाखिलादिप्रणीतं लास्यगानान्तरं मुनिनाऽभिहितचतुष्पद एव सङ्गृहीतत्वात्। सा चतुष्पदा गीतकानामन्ते पाणिकान्ते वा प्रयोज्येति दर्शितम्। तदभिप्रायेणोपक्रममाह—सुकुमारं निबोधतेति। तु शब्द उत्तरतोऽपेक्षणीयः सुकुमारं त्विति। एवमुक्तरञ्जकताविधिं निजयोहापोहधिया कल्पयति। तत्रापि ह्यङ्गवृद्धया नर्तकीवृद्धिरित्यादि सर्वमुन्नेयमित्यर्थः॥ ३११॥

का क्या अवसर है? यदि केवल वाद्य के अङ्ग रूप में उसकी अनुपयोगिता मानते हैं और वहाँ लास्य के दश अङ्गों की प्रयोज्यता मानते हैं तो अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। अतः इसका निषेध करेंगे। उसके प्रयोग के अभाव में गाये गये गेय पदों को हम नहीं मानते। तालाध्याय में इसके विषय में निरूपण किया जायगा। गीतक आदि के अङ्ग के रूप में छन्दक गीत का ग्रहण हो ही जायगा, इसलिए यहाँ कहा गया है और गीत स्वतन्त्र आसारित में भी होता है। ताण्डव का प्रयोग तो जब यह पिण्डीबन्धों के द्वारा विभक्त होता है तो प्रत्येक अङ्गी का विन्यास होता है तो अलग अलग अतिदेश के द्वारा आसारित से भी इसी प्रकार होगा। चार अङ्गों के विभाग से नर्त्तकियों का क्रम से प्रवेश आदि होता है। इसोलिए वर्धमानक के कह देने पर भो फिर आसारित का कथन किया है। अतः पूर्वरङ्ग में भी उसका संग्रह व्याख्येय है।

"सभी गीतों के अन्त में वर्धमानक का प्रयोग इष्ट है" इस प्रकार उपक्रम करके "उनमें चतुष्पदा एकाङ्गा अथवा त्र्यङ्गा होती है, व्यस्त अथवा समस्त अङ्गों के द्वारा प्रमाण से जो युग्म होता है।"

"और शृङ्गार रस प्रधान चतुष्पदा तोन प्रकार की होती है—प्रवृत्ता, द्रुतलया और स्थिता।" (ना० शा० ३१।३२६–३२९)

यह निरूपण करके लास्य के दस अङ्गों का तालाध्याय में निरूपण करेंगे। मुनि के चतुष्पदा गीति के अन्तर्भूत लास्यगान है, इत्यादि बार-बार कहेंगे।

स्त्रीपुंसयोस्तु संलापो यस्तु कामसमुद्भवः।
तज्ज्ञेयं सुकुमारं[1] हि शृङ्गाररससम्भवम् ॥ ३१२ ॥

ननु किं तत्सुकुमारमित्याह—स्त्रीपुंसयोस्त्विति।

एकस्तुशब्दः पूर्वत्र नीतः। द्वितीयः सुकुमारकं विशेषयति। तदेव हि सुकुमारं न तु करुणहास्यादिमयम्। किं तदित्याह। स्त्रीपुंसयोर्यः कामः। स्त्रियाः पुरुषस्य कामना। पुंसो वा स्त्रियाः। तस्मात्कविहृदयस्थिताद्विवक्षाक्रमेणसमुद्भवो यस्य लापस्य काव्यव्युत्पादकवाक्यस्य तत्सुकुमारम्। तत एव परस्परहेतुकत्वं भवति। अत एवाह—शृङ्गाररसस्य परस्परहेतुकत्वे संभवमात्रमयोगव्यवच्छेदनं यत्र। तेन तदवस्थामात्रोपनिबन्धोऽपि डोम्बिकादिकविरुद्वेष्टितादौ चावगन्तव्यो- त्साहादौ शृङ्गाररसस्याव्यापत्तिबन्धः। परमेश्वरे हि तपस्यति(तपस्यन्ती)

विशाखिल के द्वारा प्रणीत लास्यगान मुनि के द्वारा कथित चतुष्पदा में ही सङ्गृहीत हो गया है वह चतुष्पदा गीतक के अन्त में अथवा पणिका के अन्त में प्रयोग करना चाहिए, यह दिखा दिया है। उस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—यहाँ पर 'तु' शब्द अपेक्षित है—सुकुमारन्तु। इस प्रकार उपरञ्जकता के विधान को अपनी बुद्धि से ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करके कल्पित करे हैं। वहाँ भी अङ्ग की वृद्धि के अनुसार नर्त्तकियों की वृद्धि होती है, इत्यादि सभी का उन्नयन करना चाहिए ॥ ३११ ॥

अब प्रश्न होता है कि वह सुकुमार क्या है ? इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर काम-भावना से प्रेरित स्त्री और पुरुष का बार्तालाप होता है। शृङ्गार रस से समुद्भूत उसे सुकुमार नृत्त समझना चाहिए ॥३१२॥

अभिनव—यहाँ पर दो 'तु' का प्रयोग हुआ है। उनमें एक 'तु' पूर्व में ले लिया है। दूसरा सुकुमार को विशिष्ट करता है। वही सुकुमार है, करुण, हास्य आदि रूप सुकुमार है। वह क्या है ? इसी बात को कहते हैं। स्त्री और पुरुष का जो काम भाव है अर्थात् स्त्री के विषय मैं पुरुष का तथा पुरुष के विषय में स्त्रो की जो कामना (रति) है। उस काम से कवि के हृदय में स्थित विवक्षा के क्रम से जिस काव्य रूप वाक्य का उद्भव है वह सुकुमार है। इसी कारण काम परस्पर हेतु होता है। इसलिए कहते हैं कि शृङ्गार रस के परस्पर में हेतु हो सकता है। यहाँ पर एव शब्द अयोग का विसंगति का व्यावर्त्तक है। इसलिए नायक नायिका की केवल अवस्था का उपनिबन्धक डोम्बिका प्रभृति कवि उद्वेष्टित आदि करणों में तथा अव- गन्तव्य उत्साह प्रभृति अवस्था में शृङ्गाररस की अव्याहत बिना किसी रोक-टोक के रचना करता है। परमेश्वर के तपस्या करते समय भगवती परमेश्वर में तन्मय हो

---

१. ब. स्वकृतारम्भि।

यस्यां यस्यामवस्थायां [1]नृत्तं योज्यं प्रयोक्तृभिः ।
[2]तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि तच्च मे शृणुत द्विजाः ।। ३१३ ।।

भगवती तदेकहृदया बभूवेति तावति परस्परार्थानुबन्धात्मकरत्यभावे कामावस्थामात्रकम् । परतस्त्वर्धशरीराक्रमणादौ शृङ्गार इत्येवं परमेश्वरचरिते सुकुमारस्य (द्विशाखत्वेन) विशाखत्वेनाप्रसरात्तस्यैवाद्यापि पक्षे स्थितिः । करुणादिर्भगवति न सम्भवति । नापि तत्तत्र समुचितमिति न तत्सुकुमारम् ।

यत्तु राघवविजयादौ (भीतामूर्च्छा) सीतामूर्च्छादिव्यावर्णनान्तं ताण्डवम् । न च तत्र तादृशे तत्सुकुमाराङ्गहारात्मकनृत्तयोजना । अपि तु गीतकार्थभावनान्यायेन 'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स करुण' इति प्रसक्त्या तत्र तथाविधाभिनययोग इत्यलं बहुना ।। ३१२ ।।

वक्तव्यशेषमाह – यस्यां यस्यामित्यादि ।

सुकुमारं यत्काव्यं तदाश्रितं ज्ञानमपि तथा । अन्तर्लग्नं नृत्तमपि । तत्र यदुक्तं--

---

गई, इस प्रकार परस्पर की अनुबन्धात्मक रति के अभाव में केवल काम की इच्छा ही रहती है । बाद में महेश्वर के आधे शरीर को प्राप्त कर लेने पर कामना शृङ्गार है, इस प्रकार परमेश्वर के चरित सुकुमार का विरुद्ध शाखाओं में प्रसार न होने से उसी के पक्ष में आज भा स्थिति है, करुण आदि भगवान् में सम्भव नहीं है और न वहाँ वह समुचित है, अतः वह सुकुमार नहीं है ।

जो कि राघवविजय आदि में सीता की मूर्च्छा आने से लेकर व्याघूर्णन पर्यन्त जो ताण्डव है, उसमें सुकुमार अङ्गहार रूप नृत्त की योजना नहीं है । अपितु गीत के अर्थ की भावना करके नृत्य करना चाहिए, इस न्याय से 'रौद्र (क्रोध) का जो कार्य है वही करुण है' इस प्रकार प्रसक्ति हो जाने से वहाँ उस प्रकार अभिनय का योग है, अब अधिक कहना व्यर्थ है ।। ३१२ ।।

अब शेष वक्तव्य को कहते है—

अनुवाद– जिस जिस अवस्था में नृत्तप्रयोक्ताओं को नृत्त करना चाहिए उन सबको मैं कहूंगा । हे द्विजों ! आप लोग सुनिये ।।३१३।।

अभिनव—यहाँ पर सुकुमार काव्य के आश्रित गान का भी उसी प्रकार प्रयोग करना चाहिए और उसमें अनुस्यूत नृत्त की भी उसी प्रकार योजना करनी चाहिए । वहाँ जो कहा गया है—

---

१. क-च. नृत्यं योज्यं ।
२. ख-घ. सर्वंगीतकसम्बन्धं तच्च मे शृणुत द्विजाः ।

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु[1] तथा वर्णनिवृत्तिषु ।
तथा चाभ्युदयस्थाने [2]नृत्तं तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।। ३१४ ॥
[3]यत्तु संदृश्यते किञ्चिद्दम्पत्योर्मदनाश्रयम् ।
[4]नृत्तं तत्र प्रयोक्तव्यं [5]प्रहर्षार्थगुणोद्भवम् ॥ ३१५ ।।

'तदेव हि पुनर्वस्तु' (ना. शा. ४.३००) इति तथा "यदा गीतिवशादङ्गम्" (ना. शा. ४.३०५) इति नृत्तयोजनं तु तदनुवादपूर्वकं नियम इति ॥ ३१३ ।

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ त्विति । तुर्भिन्नक्रमोऽवधारणे । वर्णानां स्थाय्यादीनां गीतक्रियाविस्ताररूपाणां निवृत्तिर्यथा परान्तकादौ । प्रतिशाखायां यद्वक्ष्यते— "प्रतिशाखाद्यपि च" इति तेनाङ्गवस्तुवर्णापरावर्तेषु यत्तथाभूतेनैव वाद्यादिवैचित्र्यप्रकारेण नत्तमुक्तं तदद्यायाभ्युदयस्थानभेदभावज्ञो नृत्ताचार्यः प्रयोजयेत् । ॥ ३१४ ॥

तदनु तदुदाहरति--यत्तु संदृश्यत इति ।

"प्रथम गीत की समस्त वस्तु का अभिनय करना चाहिए फिर उसी वस्तु का प्रदर्शन नृत्त के माध्यम से करें।" (ना० शा० ४।३००) । और भी—"जब गीत के अनुसार अङ्गों का बार-बार आवर्तन किया जाता है।" (ना० शा० ४।३०५) । यह नृत्त की योजना तो उसका अनुवाद है ॥ ३१३ ॥

अनुवाद—अङ्ग और वस्तु की समाप्ति पर और वर्ण की निवृत्ति होने पर अथवा अभ्युदय की स्थिति प्राप्त होने पर नृत्तविदों को नृत्त की योजना करनी चाहिए ।। ३१४ ।।

अभिनव—यहाँ पर 'तु' स्थान भिन्न है और उसका अर्थ अवधारण है । गीत क्रिया के विस्तार रूप स्थायी आदि वर्णों की अपरान्तक आदि में जिस प्रकार निवृत्ति (समाप्ति) होती है । जैसाकि प्रतिशाखा में कहेंगे—"प्रतिशाखा आदि ।" उससे अङ्ग, वस्तु, वर्ण, निवृत्ति एवं अपरान्तक आदि में जो इस प्रकार के वाद्य आदि की विचित्रता के प्रकार से नृत्त कहा गया है, अभ्युदय स्थान के भेदभाव को जानने वाला नृत्ताचार्य उसका प्रयोग करे ॥ ३१४ ॥

अब इसका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद— जहाँ पर पति-पत्नी के प्रेमभाव के आधार पर जो कुछ प्रदर्शित किया जाता है अर्थात् दम्पति के प्रेमभाव से सम्बन्धित प्रदर्शन किया जाता है वहाँ पर अतिप्रसन्नता के स्रोत नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ।।३१५।।

१. ख. घ. अङ्गवस्तु निवृत्तौ च । २. क-प. नृत्यं ।
३. ख-घ यत्र संदृश्यते । ४. ख. तत्र नृत्तं प्रयोक्तव्यं । क-च. नृत्यं तत्र प्रयोक्तव्यं ।
५. क-ङ. ब. पुरुषार्थगुणोद्भवम् ।

यत्र सन्निहिते कान्ते [1]ऋतुकालादिदर्शनम् ।
गीतकार्थाभिसम्बद्धं नृत्तं तत्रापि चेष्यते ॥ ३१६ ॥

---

[2]यत्काव्यमखण्डं दम्पत्योः स्त्रीपुंसयोः कामकृतं [3]वाच्यत्वेन श्रूयते, अन्यच्च प्रहर्षप्रयोजनो यो गुणः आस्थाबन्धो वचनं दूतीवचनाकर्णनादिरंशस्तदुद्भवं तदारम्भं तत्र नृत्तं योज्यमिति कामावस्थासु मन्तव्यम् । शृङ्गारेऽप्यनेन[4] वासकसज्जाभिसारिकाविषयनृत्तमुक्तम् ॥ ३१५ ॥

स्वाधीनभर्तृकाविषयमाह--यत्र सन्निहित इति ।

यस्मिन्नङ्गे गीतकस्य गीयमानस्य काव्यस्यार्थत्वेन वाच्यत्वेन सम्बन्धः । कान्तसन्निधाने ऋतोर्वसन्तादेः[5] कालस्य चन्द्रोदयादेरवलोकनं भवति तत्र नृत्तम् ॥ ३१६ ॥

अभिनव—जो काव्य पति-पत्नी के काम सम्बन्धी अर्थ के अनुसार सुनाई देता है और जो प्रहर्ष (प्रसन्नता) रूप प्रयोजन से युक्त गुण अर्थात् आशान्वित करने वाली दूती के बचन को सुनना आदि अंश है उसके आरम्भ में नृत्त का प्रयोग करना चाहिए। कामावस्था में भी नृत्त का प्रयोग मानना चाहिए। शृङ्गार के प्रसङ्ग में वासकसज्जा आदि नायिकाओं के सम्बन्ध में भी नृत्त का प्रयोग कहा गया है ॥ ३१५ ॥

अब स्वाधीनपतिका नायिका के सम्बन्ध में कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर प्रियतम सन्निहित अर्थात् पास में हो और बसन्त ऋतु या अनुरूप समय हो तो उस समय वहाँ पर गीत के अर्थ से सम्बद्ध नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३१६ ॥

अभिनव—जिस अङ्ग में गीत के गीयमान काव्य के अर्थ का वाच्यरूप में सम्बन्ध है। प्रिय के सन्निधान में वसन्त आदि ऋतु तथा चन्द्रोदय आदि का समय (चांदनी) दिखाई देता है वहाँ नृत्त करना चाहिए ॥ ३१६ ॥

विमर्श—जब गीतक के अर्थ में काव्यवस्तु की अभिव्यक्ति सन्निहित रहती है तो तदनुकूल नृत्त का प्रयोग करना चाहिए। भाव यह कि जब वसन्त आदि ऋतुओं का मनोरम समय हो और चारो ओर चाँदनी बिखरी हुई हो, उस समय जब नायिका अपने प्रियतम के समीप प्रदर्शित की जाती है, उस समय नृत्त का प्रदर्शन करना चाहिए॥३१६॥

---

१. ग. ऋतुकालाभिदर्शनात् । क-न. ऋतुमाल्याभिदर्शनात् ।
२. क-म. यत्काव्यखण्डम् । ३. क-म, भ. कामकृतवाच्यत्वेन ।
४. क-म. शृङ्गारोऽप्यनेन न वासकसज्जाभिसारिकाविषयनृत्तमुक्तम् ।
५. क-म. ऋतोर्वासकसज्जादेः ।

खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि वा ।
[1]यस्मिन्नङ्गे तु [2]युवतिर्न नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१७ ॥
[3]सखीप्रवृत्ते संलापे तथाऽसन्निहिते प्रिये ।
नहि नृत्तं प्रयोक्तव्यं यस्या प्रोषितः प्रियः ॥ ३१८ ॥

नियमफलं दर्शयितुमाह—खण्डितेत्यादि—
"व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
सा खण्डिता" (ना. शा. २२-२०६)
"यस्या दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्वा सङ्केतमेव च ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा" ॥ (ना. शा. २२-२१०)
"ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
साऽनुतापवशप्राप्ता कलहान्तरिता" ॥ (ना. शा. २२-२०८)
अङ्ग इति । तदाधारभूते काव्यखण्डे ॥ ३१७ ॥
किमियत्येव न नृत्तमित्याशङ्क्याह—सखी प्रवृत्त इति ।

अब उपर्युक्त नियमों के फल को दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद – जिस अङ्ग में अर्थात् नाटकीय कथावस्तु के जिस अङ्ग (भाग) में खण्डिता, विप्रलब्धा अथवा कलहान्तरिता नायिका हो वहाँ नृत्त की योजना नहीं करनी चाहिए ।।३१७।।

"जिसका प्रियतम किसी अन्य कार्य में व्यासक्त होने के कारण वचन देकर भी जिसके घर ने आये वह 'खण्डिता' नायिका कहलाती है ।" (ना० शा० २२।२१७) ।

"जिसका प्रिय दूती को भेजकर और संकेत देकर भी किसी कारण से वहाँ नहीं पहुँच पाये तो वह नायिका 'विप्रलब्धा' कही जाती है ।" (ना० शा० २२।२१८) ।

"ईर्ष्या और कलह के कारण दूर चला गया जिसका प्रिय लौटकर नहीं आता हो, अनुताप से दुःखिता वह नारी 'कलहान्तरिता' कही जाती है ।"
(ना० शा० २२।२१६) ।

'अङ्ग' इस पद से यहाँ खण्डिता नायिका के प्रसङ्ग को लेकर रचा गया काव्यखण्ड गृहीत है ॥ ३१८ ॥

क्या इतने ही स्थानों पर नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर सखीजनों में वार्त्तालाप हो रहा हो और प्रियतम समीप में न हो अथवा जिसका प्रियतम परदेश चला गया हो वहाँ नृत्त नहीं करना चाहिए ।।३१८।।

---

१. क-ब. यस्मिन् रङ्गे ।
२. ख. युवतिर्नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।
३. ख. संप्रवृत्तेऽथ संलापे तथा सन्निहिते प्रिये ।

[1]दूत्याश्रयं यदा तु स्यादृतुकालादिदर्शनम् ।
[2]औत्सुक्यचिन्तासंबद्धं न नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१९ ॥

तथा असन्निहिते प्रिये [3]यद्विषयकसल्लापतत्समागमोपायपर्यालोचनादिरूप-वृत्तस्तत्रापि (वृत्तान्तस्तत्रापि) । न नृत्तं योज्यम् । अनेन विरहोत्कण्ठिता लक्षिता । वासकसज्जा प्रियानागमने तथोक्ता । खण्डिता ज्ञाततदीयव्यलीकेति विशेषः । यस्या प्रोषितः प्रिय इति । प्रोषितकर्तृकावस्थास्वपि यदा प्रियोऽसन् दुर्लभः खिलो (खलो) वेति [4]हृदयेनिहतो वेति तदा(न)नृत्तम् । तत्र हि कारणानन्तरमेव परिसमाप्तिः । तथा निधेयं (विधेय) यथा क्षरत्वात्तत्र तदेवाश्रयणीयम् । न तु द्विसङ्ख्यातं त्रिसङ्ख्यातं वेत्युक्तं भवति । [5]व्यतिरेकलब्धेऽप्युदाहरणे प्रदर्शितोऽप्यर्थो नृत्तस्येह प्राधान्येनाभीष्टत्वान्न स्वेन कण्ठेनोच्यते ॥ ३१८ ॥

अभिनव--प्रिय के पास में न होने के समय जिसके विषय में वार्त्तालाप हो रहा हो उसके समागम के उपायो के पर्यालोचन रूप वृत्तान्त के अवसर पर भी नृत्त नहीं करना चाहिए। इससे विरहोत्कण्ठिता नायिका लक्षित होती है। वासकसज्जा नायिका प्रिय के न आने पर विरहिणो कही जातो है। जिसने प्रिय के अपराध अथवा चाल (धोखा) को समझ लिया है वह खण्डिता नायिका है। प्रोषितपतिका अर्थात् जिसका पति परदेश चला गया हो वह प्रोषितभर्तृका अवस्था में भी जब प्रिय असन्निहित अथवा दुर्लभ हो अथवा हृदय में निहित हो तो नृत्त नहीं करना चाहिए। वहाँ कारण के बाद ही समाप्ति होती। इसलिए जो विधेय हो उसी का आश्रयण करना चाहिए। द्विसंख्यात तथा त्रिसंख्यात आसारितों का आश्रयण नहीं करना चाहिए। यह कहा गया है। व्यतिरेक से लब्ध उदाहरण में प्रदर्शित अर्थ भी यहाँ नृत्त की प्रधानता अभीष्ट होने के कारण अपने कण्ठ से नहीं कहा जा सकता है ॥ ३१८ ॥

अनुवाद – जहाँ पर दूती के द्वारा ऋतु एवं काल आदि के दर्शन से उत्सुकता और चिन्ता का सम्बन्ध हो वहाँ नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥३२१॥

---

१. अयं श्लोकः क-ब पुस्तके नास्ति ।
२. ख औत्सुक्यचिन्तासम्बद्धं नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।
   क-म. औत्सुक्यचिन्तासम्बन्धान्नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।
३. क भ. सखीविषयक सल्लाप ।
४. क. हृदयनिहते ।
५. क-म. व्यतिरेकबुद्धो व्युदाहरणे ।

यस्मिन्नङ्गे [1]प्रसादं तु गृह्णीयान्नायिका क्रमात् ।
ततःप्रभृति नृत्तं तु [2]शेषेष्वङ्गेषु योजयेत् ।। ३२० ।।

यस्मिन्नङ्ग इति । प्रसादमिति । प्रसन्नहृदयत्वं येन प्रकारेण युवतिर्लभेतेति । तेन (न) खण्डिताविषयमेवैतदपि तु सर्वविषयं मन्तव्यम् । ततःप्रभृति शेष`ष्वङ्गेष्वित्यस्यायं भावः । लब्धास्थाबन्धा यदि (यदा) भवति तर्हीति (यदि) प्रियोऽसन्निहितो भवति तदा नृत्तं योज्यमेव । एतस्मिन्प्रकरणे नाट्यगतानि नाटकोदाहरणानि कैश्चिद्दत्तानि तान्ययुक्तानीति मन्तव्यम् ।

खण्डितादयो नायिका यत्र साक्षात्क्रियन्ते तत्र वलनावर्तनादिरूपनृत्तं न योज्यमिति यदुच्यते तदनवकाशमेव तथाहि—

"चिन्तानिश्वासखेदेन हृद्दाहाभिनयेन च ।
सखीभिः सह संलापैरात्मावस्थावलोकनैः ।।
ग्लानिदैन्याश्रुपातैश्च रोषस्याभिनयेन च ।
निर्भूषणामृजात्वेन दुःखेन रुदितेन च ।।
खण्डिता विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि च ।
तथा प्रोषितनाथा च भावानेतान्प्रयोजयेत् ।।
(ना. शा. २२-२१४-२१६)

इति सामान्याभिनये वक्ष्यते ।

अनुवाद जिस नाट्य के अङ्ग में नायिका क्रमशः प्रसन्नता को प्राप्त करती है वहाँ से लेकर शेष अङ्गों में नृत्त की योजना करनी चाहिए ।।३२१।।

अभिनव—जिस प्रकार से युवती प्रसन्नता को प्राप्त करे, इससे केवल खण्डिता नायिका के विषय में ही नृत्य का निषेध नहीं है, अपितु समस्त नायिकाओं के सम्बन्ध में समझना चाहिए। 'उस समय से लेकर शेष अङ्गों तक नृत्त करना चाहिए ? इस कथन का भाव यह है कि जब नायिका आशा के बन्धन को प्राप्त कर लेती है और यदि प्रिय पास में नहीं रहता तो नृत्य करना चाहिए। इस प्रकरण में कुछ लोगों ने नाट्यगत नाटकों के उदाहरण दिये हैं उन्हें अयुक्त मानना चाहिए।

खण्डिता आदि नायिकाओं का जहाँ पर साक्षात्कार किया जाता है वहाँ पर अङ्गों का वलन, आवर्त्तन आदि रूप नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार जो कहा जाता है वह अप्रयोज्य है अर्थात् उसके लिए कोई स्थान नहीं है। जैसाकि—

"चिन्ता, निःश्वास, खेद और हृदय के जलन के अभिनय द्वारा, सखियों के वार्त्तालाप के द्वारा, अपनी अवस्था के अवलोकन के द्वारा, ग्लानि, दीनता और अश्रुपात के द्वारा, क्रोध के अभिनय के द्वारा, अलङ्कार धारण न करने से, स्नान आदि

१. क-म. प्रयोगम् । २. क-प. शेषेष्वर्थेषु ।

"विषण्णे मूर्च्छिते भीते जुगुप्साशोकपीडिते ।
ग्लाने सुप्ते विहस्ते च निश्चेष्टे तन्द्रिते तथा ॥
मत्ते प्रमत्ते चोन्मत्ते चिन्तायां तपसि स्थिते ।
[1]व्याधिते रुग्ज्वरार्ते च भयार्ते [2]शीतविप्लुते ॥
न हस्ताभिनयः कार्यः कार्यः सत्त्वसमाश्रयः" ।

(ना. शा. ९-१७६-१७८)

इत्याङ्गिकाभिनये वक्ष्यति ।

तदेवं स्थिते हस्ताभिनयस्यैवात्रावकाशो नास्तीति कस्तत्र तत्संमेलनात्मनो-वलनावर्तनादेराशङ्कावकाशो यन्निषेधोऽत्र वचनीयः स्यात् । न चेह नाट्यं प्रकृतमित्यास्ताम् । एकं (एवं) गीतकादेरन्ते च्छन्दकं पाणिकायास्तु लास्यगान-स्वीकारिणी चतुष्पदा प्रयोज्या । इयता गीतकादि पूर्णं प्रयुक्तम् । एतदर्थमेव "वीक्ष्य शङ्करम् । सुकुमारप्रयोगे नृत्यन्तीं चैव पार्वतीम् ।" (ना. शा. ४-२४९) इत्युपक्रगात्प्रभृति (द्विशाखत्वेनैव)विशाखत्वेनैव नृत्तस्वरूपमुपदर्शितम् । (३२०)

शुद्धि न करने से, दुःख और रोदन (रोना) के द्वारा खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्त-रिता और प्रोषितभर्तृका नायिका को इन भावों की योजना (अभिनय) करनी चाहिए। (ना० शा० २४।२२२–२२४)।

सामन्य अभिनय में इनको कहेंगे।

"विषण्ण, मूर्च्छित, भीत तथा घृणा और शोक से पीड़ित, ग्लानि, सोया हुआ, विहस्त, निश्चेष्ट, तन्द्रित, जड़, मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त चिन्तित, तपस्या करते हुए, व्याधि से ग्रस्त, रोग और ज्वर से पीड़ित, भय से पीड़ित, शीत से त्रस्त स्थिति में हस्ताभिनय नहीं करना चाहिए, किन्तु सत्त्व का आश्रयण (संग्रहण) करना चाहिए।" (ना० शा० ९।१७६–१७८)।

यह आङ्गिक अभिनय के अवसर पर कहेंगे।

तब ऐसी स्थिति में यहाँ पर हस्ताभिनय का ही अवसर नहीं है तो वहाँ हस्त सम्मेलन रूप वलन, आवर्त्तन आदि की आशङ्का का अवसर कहाँ है ? जिसके निषेध के लिए यहाँ कहा गया है। यहाँ पर नाट्य प्रकृत भी नहीं है। इस प्रकार गीत के आदि के अन्त में छन्दक का और पाणिका के अन्त में लास्य गान का अनुसरण करने वाली चतुष्पदा का प्रयोग करना चाहिये। इतने से गीतक आदि का पूर्ण प्रयोग हो गया। इसीलिए "नृत्य करते हुए शङ्कर को देखकर ओर सुकुमार प्रयोग से नृत्य करती हुई पार्वती को देखकर" (ना० शा० ४।२४९)। इस उपक्रम से लेकर विभिन्न शाखाओं के रूप में नृत्त के स्वरूप का प्रदर्शित किया है ॥ ३२० ॥

---

१. क. व्याधिग्रस्ते ज्वरार्ते । २. क-म. गीतविप्लव ।

[1]देवस्तुत्याश्रयकृतं यदङ्गं तु भवेदय।
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३२१ ॥
यत्तु शृङ्गारसंबद्धं[3] गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
[4]देवीकृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३२२ ॥

तदत्र द्विविधे नृत्तविभागमाह श्लोकत्रयेण।

देवक्तुत्याश्रयमिति—यदङ्गमिति। छन्दकसम्बन्धि। उद्धतैरिति। विद्युद्भ्रान्तगरुडप्लुतकादिप्रधानैः। अत्र हेतुर्यतस्ते महेश्वरप्रयुक्ताः ॥ ३२१ ॥

यत् द्वितीय-चतुष्पदासंबन्धि। ललितैरिति। तलपुष्पपुटलीननितम्वाद्यारब्धैः। अत्र हेतुः यतस्ते देवीकृताः ॥ ३२३ ॥

एव नृत्तविधिश्चतुष्पदायां सलास्यगानस्वीकारिण्यामुक्तः अधुना भाण्डविधिर्वक्तव्यः। तत्र चतुर्भिः पादैर्ध्रुवा क्रियते। ते च पादाः शुष्काक्षरैर्झण्टुमादिभिः दिग्ल इत्यादिभिर्वा। यत्र वक्ष्यते—

अब यहाँ दो प्रकार के नृत्य विभाग को तीन श्लोकों में कहते हैं—

अनुवाद—यदि रूपक में देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध जिस अङ्ग की योजना की जाती है उसमें महेश्वर द्वारा रचित उद्धत अंगहारों को नृत्त की योजना करनी चाहिए ॥ ३२१ ॥

अभिनव—छन्दक सम्बन्धी अङ्ग। उद्धतैः का अर्थ है-विद्युद्भ्रान्त, गरुड़प्लुत आदि प्रधान नृत्तों से। यहाँ पर हेतु है कि वे अङ्गहार महेश्वर द्वारा प्रयुक्त हैं ॥३२१॥

अनुवाद—जो स्त्री और पुरुषों पर आधारित शृङ्गार सम्बन्धी गान है। उसे पार्वती द्वारा रचित अंगहारों से उस नृत्त का प्रयोग करे ॥३२३॥

अभिनव—'यत्' का अभिप्राय है-द्वितीय चतुष्पदा सम्बन्धी अङ्ग। 'ललितैः' पद से तात्पर्य है-तल पुष्पपुट, लीन, नितम्ब आदि ललित अङ्गहारों से। यहाँ पर हेतु है कि ये अङ्गहार पार्वती द्वारा प्रयुक्त हैं ॥३२३॥

अभिनव—इस प्रकार यह नृत्त विधान लास्य के साथ गान का अनुसरण करने वाली चतुष्पदा में कहा गया है। अब भाण्डविधि को कहते हैं। वहाँ पर चार पदों से ध्रुवा की जाती है और वे पाद हैं शुष्काक्षर अर्थात् 'झण्टुभ्' इत्यादि जो आगे कहेंगे—

"आसनों पर बैठे हुए गायक लोग तन्त्रीवाद्य के साथ जो शुष्कगान करते हैं, उसे गेयपद कहा जाता है।" (ना० शा० २९।१३०)।

---

१. ख-ब. देवस्तुत्याश्रयगत यदङ्गं तु भवेदिह।
३. ख. सम्बन्धं।
४. देवैः कृतैरङ्गहारैः।

चतुष्पदा नर्कुटके[1] खञ्जके परिगीतके[2] ।
विधानं [3]सम्प्रवक्ष्यामि [4]भाण्डवाद्यविधिं प्रति ॥ ३२३ ॥
खञ्जनर्कुटसंयुक्ता[5] भवेद्या तु चतुष्पदा ।
पादान्ते सन्निपाते तु तस्या[6] भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ३२४ ॥

"आसनेषूपविष्टैर्यत्तन्त्रीगानसमन्वितम् ।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद्गेयपदमुच्यते ॥"
(का. मा. ना. शा. १८-१८५)

इति सार्थकपदैर्वा । तत्रापि वर्णवृत्तकृता वा पादा मात्रावृत्तकृता वा । समा अर्धसमा विषमा वा । ते च प्राधान्येन खञ्जनर्कुटकवृत्तैर्योज्यन्ते । यद्वक्ष्यते ध्रुवाध्याये--

"अष्टौ नर्कुटकानां तु विज्ञेया जातयो बुधैः ।
एतास्तिस्रः समाख्याताः खञ्जकानां तु जातयः ॥"
(का. मा ना. शा. ३२-२८०, ३०१)

इत्युपक्रम्य—
"आभ्यो विनिस्सृताश्चान्या युग्मौजा विषमास्तथा ।" इति ।
(ना.शा. ३२-३०८)
एतद्विषयं भाण्डवाद्योपक्रमं करोति ।

अथवा सार्थक पदों से भी ध्रुवा की जाती है । वहाँ पर भी पाद कहीं वर्णवृत्त-कृत वर्णिक छन्दों और कहीं मात्रावृत्तकृत मात्रिक छन्दों से बनते हैं । वे मात्रिक छन्द सम, विषम और अर्धसम होते हैं । वे भी प्रधानतया खञ्ज, नर्कुटक छन्दों से युक्त होते हैं । जैसाकि ध्रुवाध्याय में कहेंगे—

"नर्कुटक छन्द की आठ जातियाँ होती हैं ।" (ना० शा० ३२।२८०) ।

"खञ्जक छन्द की तीन जातियाँ होती हैं ।" (ना० शा० ३२।३०१) ।

इस प्रकार उपक्रम करके कहते हैं—

"इन्हीं से अर्थात् नर्कुटक और खञ्जक छन्दों से अन्य सम, अर्धसम और विषम वृत्त निकले हैं ।" (ना० शा० ३२।३०८) ।

अब इनके विषय में भाण्डवाद्यों का उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—अब मैं चतुष्पदा (चौताल) नर्कुटक, खञ्जक और परिगीतक में प्रयुक्त होने वाले भाण्डवाद्यों के प्रयोग-विधान को कहूँगा ॥ ३२३ ॥

---

१. ख. नकुटके । २. ख. परिधानके । ३. क-अ. संप्रयुञ्जामि ।
४. ख. ग. भाण्डनृत्तविधिं । क-ब. भाण्डनृत्यविधिं । क-अ. नाटचे भाण्डविधिं ।
५. ख. खञ्जनं कुटसंयुक्ता । ६. घ. तस्यां ।

चतुष्पदा नर्कुटक इति । चतुष्पदापि सन्निधानाच्चतुष्पदायां[1] परिगीतमपि ध्रुवाध्याये त्रिवृत्तकं यदि वा शुष्कगीतं तत्रैव । तदेतेषु त्रिषु प्रकारेषु भाण्डवाद्यस्य पुष्करवाद्यस्य विधिं वक्ष्यामि ।

खञ्जकजात्या नर्कुटकजात्या वा या चतुष्पदा ध्रुवा क्रियतेऽस्यां प्रथमपादस्य यावदुपान्त्यकला तावच्च श्रीवंशान्वितं गानम् । अन्ये (अन्या) तु या सन्निपाताख्या हस्तद्वयसमायोगशब्दपरिच्छेद्या कला तद्गानसमये भाण्डवाद्यमारम्भणीयम् । [2]एषोऽर्धसमविषमवृत्तात्मको नर्कुटकखञ्जकजात्यारब्धायां चतुष्पदायां विधिः ॥ ३२३-३२४ ॥

अनुवाद—जो चतुष्पदा खञ्जक और नर्कुटकसे युक्त होती हो तो उसके अन्तिम पाद के अन्त में सन्निपात में अर्थात् दोनों हाथ से ताली बजाकर भाण्डवाद्यों का वादन प्रारम्भ हो जाना चाहिए ॥ ३२४ ॥

अभिनव—नर्कुटक चतुष्पदा होते हुए चतुष्पदा में भी त्रिवृत्तक परिगीत भी रहेगा जो ध्रुवाध्याय में कहा जायगा अथवा शुष्कगीत भी वहीं रहेगा । अब इन तीन प्रकारों में भाण्डवाद्य (पुष्करवाद्य) की विधि को भी कहूँगा ।

खञ्जक जाति की अथवा नर्कुटक जाति की जो चतुष्पदा ध्रुवा करते हैं उसमें प्रथम पाद में जितनी उपान्त्य कलाएँ होती हैं उतने ही गान होते हैं । अन्य लोग तो जो सन्निपात नामक दो हस्तों का योग शब्द से परिच्छेद्य कला है, उसके गान के समय भाण्डवाद्यों का प्रारम्भ करना चाहिए । अर्धसम और विषम वृत्त रूप नर्कुटक और खञ्जक जाति में आरम्भ की गई चतुष्पदा में यह विधि है ॥ ३२३–३२४ ॥

विमर्श—यहाँ पर भाण्डवाद्यों के प्रयोग-विधान का वर्णन किया गया है । इसमें चतुष्पदा ध्रुवा में शुष्क गीत का गायन होता है । आसन पर बैठकर गायकों द्वारा तन्त्रीगान के साथ शुष्कगान गाया जाता है । इसमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों के साथ सम, अर्धसम और विषम छन्दों के प्रयोग के अनुसार नर्कुटक और खञ्जक छन्दों की योजना होती है । इसमें नर्कुटक की आठ जातियाँ और खञ्जक की तीन जातियाँ होती हैं । अन्य सम, अर्धसम और विषम भी इन्हीं से निःसृत हैं । जिस प्रकार ध्रुवा के तीन प्रकार के वृत्त हैं उसी प्रकार तीन शुष्कगीत भी इन्हीं नामों के है । इन तीनों में भाण्डवाद्य का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, उसी का वर्णन यहाँ करते हैं । नर्कुटक और खञ्जक जातियों के चतुष्पदा ध्रुवा में प्रयोग होने पर प्रथम पाद के समाप्त होते ही सन्निपात के प्रयोग के साथ भाण्डवाद्य का वादन प्रारम्भ कर देना चाहिए । यहाँ पर सन्निपात का अर्थ दोनों हाथों से ताली बजाना है । तदनुसार ताली बजाकर निर्देश करते ही भाण्डवाद्यों का प्रारम्भ कर देना चाहिए ॥ ३२४-३२५ ।

१ क-भ. चतुष्पदायाः । २. क. येषामर्धसमविषमो वृत्तात्मकं ।

या ध्रुवा छन्दसा युक्ता समपादा समाक्षरा ।
तस्याः पादावसाने तु प्रदेशिन्या ग्रहो भवेत् ॥ ३२५ ॥

वर्णवृत्तसमवृत्तात्मकतज्जात्यारब्धायां तु विधिमाह—या ध्रुवेति । समपादा चतुष्पादा । तदयमर्थः—या चतुष्पदा । छन्दसा युक्तेति । युक्ता जातिगतवर्णवृत्तयोजिता । समाक्षरेति तज्जातिकसमवृत्तमयी । तस्याः प्रथमे पादे परिसमाप्ते द्वितीयपादे या प्रदेशिनी तर्जनी तदुपलक्षिता या [1]चात्र त्रिकलप्रभृति-भाण्डवाद्यं योज्यम् । तत्र युग्मेन मानेन यदा चतुष्पदा भवति—यद्वक्ष्यते "युग्मौजा वा प्रमाणतः" । (ना. शा. ३१-२९३) इति त्रि कलश्च (द्विकलश्च) मार्गः तदा द्वितीयपादे सप्तमी । या निष्क्रामकला सा तर्जनी-प्रयोज्यत्वात्तर्जनी । चतुष्कलमाने तु त्रयोदशी । आवापकालतर्जनी । यदा तु त्र्यश्रेण मानेन तदा द्विकले पञ्चमी । कनिष्ठा निष्क्रामकला तर्जनी । चतुष्कले तु नवमी । आवापकला तर्जनी ।

एतच्च तालाध्याये वक्ष्यते—"कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्रामः" "तर्जनीकृतो निष्क्रामः" (ना. शा. ३१-४१,४२) इत्यादिना । दत्तिलाचार्येण तु संक्षिप्योक्त-मेतत्—

अब वर्णवृत्त अर्थात् समवृत्त से आरम्भ होने वाली जातियों को कहते हैं—

अनुवाद—जो ध्रुवा छन्दों से युक्त समपादा (चतुष्पादा) और समाक्षरा होती है उसके पाद की समाप्ति पर प्रदेशिनी अंगुली के द्वारा भाण्डवाद्य पर ताल देना चाहिए ॥ ३२६ ॥

अभिनव—समपादा का अर्थ चतुष्पादा है । छन्दों से युक्त अर्थात् जातिगत वर्णवृत्त (वर्णिक) छन्द से युक्त । समाक्षरा का अर्थ है समान अक्षरों की जाति समवृत्त वाली । उसके प्रथम पाद की समाप्ति पर द्वितीय पाद में प्रादेशिकी (तर्जनी) अंगुली के द्वारा भाण्डवाद्य पर ताल दी जातो है । उसमें जब युग्म प्रमाण से चतुष्पदा होती है । जो आगे कहेंगे—"चतुष्पदा प्रमाण के अनुसार युग्म और ओज रूपा होती है" (ना० शा० ३१।३२७) । इस प्रकार जब त्रिकल मार्ग होगा तो द्वितीय पाद में सप्तमी होगी । जो निष्क्राम कला है वह तर्जनो अंगुली से प्रयोज्य होने के कारण 'तर्जनी' नाम वाली हैं । चतुष्कल मान में तो त्रयोदशी कला होगी । अवापकला तर्जनी है । जब त्र्यस्र मान से कलापात हो तो द्विकल में पञ्चमी होगी । कनिष्ठाङ्गुलि निष्क्राम कला होगी । जब चतुष्कल होगी तो नवमी आवापकला तर्जनी होगी ।

इसे तालाध्याय में कहेंगे—'कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्राम' इत्यादि से प्रारम्भ कर 'तर्जनीकृतो निष्क्रामः' इत्यादि से । दतिलाचार्य ने तो संक्षेप में कहा है—

१. क. चातीतकलमप्रभृति ।

"आद्यद्वितीयमध्यान्तात्पादभागाद्विदुः क्रमात् ।
कनिष्ठानामिकायुक्तो मध्यमादेशिनीकृतात् ॥
[1]अयुग्ममध्यहीनः स्यात्" इति ।

एवं तर्जनीप्रयोज्यो योऽसौ द्वितीयपादे कलापातः ततस्तत्र भाण्डग्रहस्तदुपलक्षितश्च नर्तकीप्रवेश इत्युक्तं भवति । अन्ये त्वाकाशग्रहासु निश्शब्दकलातो ग्रहं मन्यमानाः सन्निपातप्रकरणात्सशब्दात्पातादेव ग्रह इहेति वदन्तः प्रदेशिनीशब्देन तदुपलक्षितपादभागगमनं सशब्दमेव पादग्रहावधिकेनाचक्षते । पञ्चपाणिप्रपाता ये पुष्कराध्याये वक्ष्यन्ते तन्मध्यात्प्रदेशिनीपातेन भाण्डग्रह इति व्याख्यानं "सन्निपातोऽनुग्रहः" इति प्रकरणेन तथा ध्रुवाध्याये वक्ष्यमाणेन "चतुर्ग्रहा ध्रुवा" इत्युपक्रम्य—

"सन्निपातग्रहाः काश्चित् काश्चिद्वै तर्जनीग्रहाः ।
तथाकाशग्रहाः काश्चित् ध्रुवागाने भवन्ति हि" ॥
(ना शा. ३२-४१६)

इति विधिना विरुद्धमित्युपेक्षितं लक्ष्यवेदिभिः ॥ ३२५ ॥

"विद्वान् लोग जिसे आद्य, द्वितीय, मध्य और अन्त पादभाग से जानते हैं। मध्यमा और तर्जनी के उपयोग के कारण कनिष्ठिका और अनामिका से युक्त, युग्मरहित और मध्य से हीन होगा',

इस प्रकार द्वितीयपाद में तर्जनी द्वारा प्रयोज्य जो यह कलापात है उसमें भाण्डवाद्य का ग्रहण होता है अर्थात् भाण्डवाद्य का वादन होता है और उससे उपलक्षित नर्त्तकी का प्रवेश होता है, यह कहा गया है। अन्य लोग तो आकाश ग्रहों में निःशब्द कला से ग्रह मानते हुए और सन्निपात प्रकरण से सशब्द पात से ही ग्रह को कहते हुए और प्रदेशिनी शब्द से उससे उपलक्षित पादभाग के गति को सशब्द पादग्रह कहते हैं। जो पञ्चपाणिपात है जिसे पुष्कराध्याय में कहेंगे, उनके बीच में तर्जनी का पात होने से भाण्डग्रह होता है यह व्याख्यान 'सन्निपातोऽनुग्रहः' इस प्रकरण से तथा ध्रुवाध्याय में कहे जाने वाले 'चतुर्ग्रहा ध्रुवा' इससे प्रारम्भ करके—

"कोई ध्रुवा सन्निपातग्रहा होती है और कोई ध्रुवा तर्जनीग्रहा होती है तथा कोई ध्रुवा आकाशग्रहा होती है। इस प्रकार गान में ध्रुवाएँ तीन होती हैं।"
(ना० शा० ३२।४१६),

इस विधान से विरुद्ध होने से प्रयोगवेत्ताओं ने इसकी उपेक्षा कर दी है ॥३२६॥

---

१ क-भ. आयुङ्मध्यहीनः । क-म. अयुग्ममध्यविहीनः ।

कृत्वैकं [1]परिवर्त्तं तु गानस्याभिनयस्य[2] च ।
पुनः पादनिवृत्ति[3] तु भाण्डवाद्येन[4] योजयेत् ॥ ३२६ ॥
[5]अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु वर्णान्तरनिवृत्तिषु ।
तथोपस्थाने[6] चैव भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ॥ ३२७ ॥

नन्वेवं नर्तकी प्रविष्टा ततः प्रभृत्यभिनय तावत्करोति । यस्त्वसावाद्यः पादस्ततोऽधिकोऽपि वा भागस्तत्र नर्तकी नैव प्रविष्टेति का तत्र वार्तेत्याशङ्क्याह—कृत्वैकमिति ।

योऽसौ शुद्धविभागः पूर्वं गीतः स परावर्तनीयो भाण्डवाद्येन सहाभिनेतव्य इति पश्चादसौ प्रयोज्य इत्युक्तं भवति । पादग्रहणमुपलक्षणम् । तेन यावन्भागो भाण्डवाद्येन प्राङ्नियोजितोऽत एव नाभिनीतस्तावतो निवृत्तिः परावर्तनं कार्यमित्युक्तं भवति ॥ ३२६ ॥

अथात्र चतुष्पदायां भाण्डवाद्यविशेषाभिधानव्याजेन नृत्तस्थानं दर्शयति—अङ्गवस्तुनिवृत्तौ त्विति ।

इस प्रकार प्रविष्ट हुई नर्त्तकी उस समय से अभिनय तो कर रही है, उसमें जो आद्य पाद है, उससे भी अधिक भाग गाया जा रहा है तो नर्त्तकी ने प्रवेश नहीं किया यह कैसी बात है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार गान और अभिनय का एक बार आवर्त्तन (आवृत्ति) करके फिर अन्तिम पाद की समाप्ति पर भाण्डवाद्य का प्रयोग करे ॥ ३२६ ॥

अभिनव—जो यह शुद्ध विभाग गीत पहिले गाया गया, उसका परिवर्त्तन आवश्यक है, अतः उसका अभिनय भाण्डवाद्य के साथ करना चाहिए, इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग बाद में करना चाहिए, यह कहा गया है । यहाँ पाद ग्रहण उपलक्षण मात्र है । उससे जितना अंश भाण्डवाद्य के पहिले नियोजित है । अतः जितने अंश का अभिनय नहीं हुआ है उतने अंश का परावर्त्तन करना चाहिए, यह कहा गया है ॥ ३२६ ॥

इसके बाद यहाँ चतुष्पदा में भाण्डवाद्य विशेष के कहने के बहाने नृत्तस्थान को दिखाते हैं—

---

१ क-ङ. ब. त. परिवृत्तम् ।
२. ख-घ. गानस्याभिनये पुनः । क-न. ब. नागस्याभिनयस्य च ।
३. ख-घ. पादनिवृत्तौ तु । क-ञ. त. पादनिवृत्तं तु ।
४. ख-घ. भाण्डवाद्यं नियोजयेत् । ग. भाण्डवाद्यैर्नियोजयेत् ।
५ ख. घ अङ्गवस्तुनिवृत्तेन । ६. ख. ततोऽवस्थापने ।

तुर्भिन्नक्रमोऽवधारणे। अङ्गस्यैव वा वस्तुनो वा सर्वस्य ध्रुवाशरीरस्य स्थाय्यादिविशेषस्य वा प्रतिशाखान्यायेन तत्परावर्तनं [1]यच्चोपस्थापनात्मकं तेषु प्रकर्षेण भाण्डवाद्यं वैचित्र्ययुक्तं योजयेत्। तद्वशाच्च तत्र नृत्ताङ्गहारयोजनां कुर्यादित्यर्थः ॥ ३२७ ॥

अथ शुष्काक्षरायाश्चतुष्पदाया विधिर्वक्तव्यः। सा च पूर्वमेव प्रयुज्यते "आसनेषूपविष्टेषु" इत्युक्तत्वात्। अत एव गेये गातव्ये काव्ये पदमवगमयन्त इति तत्पीठबन्धरूपत्वं तस्याः। तथा चान्यत्वे षिद्गकेषु गातव्यात्पूर्वं तावतीति नान्यावसरे। अत एव गेये ध्रुवागीते गेयं गातव्यमिति ह्येकोऽर्थः। तं विधिमाह—येऽपि चान्तरमार्गा इति।

अनुवाद—जब नाटक या गीत के अङ्ग की तथा वस्तु की समाप्ति हो जाने पर अथवा वर्णान्तर की निवृत्ति (परिसमाप्ति) पर इसकी पुनः उपस्थापना किये जाने पर भाण्डवाद्य का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३२७ ॥

विशेष—अभिनवगुप्त ने यहाँ पर निवृत्ति का अर्थ परावर्त्तन और वर्णान्तर का अर्थ वर्णसमवृत्त लिया है। तदनुसार इसका अर्थ होगा—

नाट्य अथवा गीत के अङ्ग तथा वस्तु के दुहराये जाने पर अथवा वर्णवृत्त के परावर्त्तन के बाद उसके पुनः प्रारम्भ किये जाने पर भाण्डवाद्य का प्रयोग करे ॥३२७॥

अभिनव—यहाँ पर तु का भिन्नक्रम है और उसका अर्थ अवधारण है। किसी एक अङ्ग अथवा वस्तु अथवा समस्त ध्रुवा गीत के शरीरभूत स्थायी आदि वर्णों का प्रतिशाखा के न्याय से जो परावर्त्तन (आवृत्ति) है और जो उपस्थापन है। उनमें प्रकर्ष रूप से विचित्रता के साथ भाण्डवाद्य की योजना करे और उसके अनुसार वहाँ नृत्त के उपयोगी अङ्गहारों की योजना करे ॥ ३२७ ॥

अभिनव—अब शुष्काक्षरा चतुष्पदा की विधि को कहना चाहिए। उसका प्रयोग पहिले ही किया जाता है "आसन पर बैठने के बाद" यह कथन होने के कारण चतुष्पदा का प्रयोग पहिले किया जाता है। इसलिए गेय अर्थात् गाने योग्य काव्य में पद का अवगमन करते हैं, यह कथन उसके पीठबन्धरूपता को प्रकाशित करता है। इसलिए षिद्गक नामक नृत्तात्मक प्रबन्ध में गाने (गेय) के पहिले उसका प्रयोग होता है। इसलिए गेय ध्रुवागीत में 'गाना चाहिए' यह एक अर्थ है। इस विधि को कहते हैं—

१. क यच्चोपस्थानमोहनात्मकं। क-भ. यच्चोपस्थानमोहात्मकं।

येऽपि चान्तरमार्गास्स्युः[1] तन्त्रीवाक्करणैः[2] कृताः ।
तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे ॥ ३२८ ॥

अन्तरं परस्परवैलक्षण्यं [3]मान्यते (मृग्यते) येनोपायेन सोऽन्तरमार्गः । संवाद्यनुवादिन्या[4] स स्वर उपलक्षणात्मकोऽर्थप्राधान्याभावाच्च तेनैव व्यपदेशः । अत एवाह तन्त्रीक्रियया वाक्क्रियया । तदेव निरर्थकतया योजितास्तेषु समग्रहत्वेनैव [5]भाण्डप्रयोगः । नर्तक्या [6]रचनाद्धि लास्याङ्गगतकाव्यार्थानुसारिहस्ताभिनयशून्यः सात्त्विकाङ्गवलनादिमात्रेण सूच्याभिनयः । यद्वक्ष्यति—

"वाक्यार्थो वाक्यवस्त्वङ्गैर्योज्यते यदा पूर्वम्" । पश्चाद्वाचाऽभिनयः इत्ययं त्वङ्ग इहोपलक्ष्यः । एतच्च गातव्यप्रयोगे त्रिप्रकारकृततावन्मात्रतालगानसूच्याऽभिनयमद्यापि दृश्यते ।

अनुवाद—जो तन्त्रीवाद्य, वाक्क्रिया तथा करणों के द्वारा सम्पादित अन्तरमार्ग हैं इनमें भाण्डवाद्य के साथ ताण्डव नृत्त और सूची चारी का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३२८ ॥

अभि०—अन्तर अर्थात् परस्पर विलक्षणता को जिस उपाय से खोजा जाता है उसे अन्तरमार्ग कहते हैं। वह अनुवर्त्ती स्वर है। संवादी और अनुवादिनी वाक्क्रिया के द्वारा वह स्वर उपलक्षण है, उसमें अर्थ की प्रधानता न होने से उसी नाम से उसका अभिधान किया है। इसीलिए कहते हैं कि तन्त्रीक्रिया और वाक्क्रिया के द्वारा निरर्थक शुष्काक्षर की योजना की गई है। उसमें समग्रह के रूप में भाण्डवाद्य का प्रयोग होता है जो नर्त्तकी के द्वारा रचना किये जाने से लास्य के अङ्गभूत काव्य के अर्थ को अनुसरण करने वाले हस्ताभिनय से शून्य है, अत एव सात्त्विक अङ्गों के वलन मात्र से सूची चारी के द्वारा अभिनय किया जाता है। जैसाकि आगे कहेंगे—

"जब पहिले वाक्य वस्तु तथा अङ्गों के साथ वाक्यार्थ की योजना की जाती है। उसने बाद वाणी का अभिनय होता है" इस प्रकार यह अङ्ग से यहाँ पर उपलक्ष्य है। यह गेय के प्रयोग में तीन प्रकार से किया गया ताल एवं ज्ञान के साथ सूची से चारी के द्वारा उतने का ही अभिनय आज भी दिखाई देता है।

---

१. ग मार्गास्तु ।
२. ख. तन्त्र्या वा करणैः कृताः । घ. तन्त्र्या वाक्करणैः कृताः ।
क-अ. तन्त्र्या वाक्चरणैः कृताः ।
३. क-भ. मन्यते ।
४. क-भ. म. सम्पाद्यवादित्या सस्वराः ।
५. क. भावप्रयोगः ।
६. क. रचनाद्धि ।

महेश्वरस्य चरितं य इदं सम्प्रयोजयेत् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ।। ३२९ ।।

एवं वर्धमानकप्रयोगो गीतकप्रयोगो वा छन्दकप्रयोगेन चतुष्पदाप्रयोगेन च सहेतुकः परिपूर्णो भवति । अत एव तालाध्याय [1]इत्युपक्रमानुसारेणैव वर्धमानासारितकगीतकच्छन्दकचतुष्पदा तदन्तर्भूतलास्यगानस्य[2] विधेः क्रमेण निरूपणं भविष्तीयता "गीतानां मद्रकादीनाम्" (ना. शा. ५-१३) इति पूर्वरङ्गाध्याये श्लोको भविष्यति । तस्यार्थः पुरस्तादेव निर्णीतः । तेन तदनुसारेणैतदप्यालोच्योदीरितोऽयमर्थोऽनुष्ठेयः ।। ३२८ ।।

नन्वत्र पूर्वरङ्गगतप्रधानफलेनैव किं फलवत्ता उत फलान्तरमप्यस्तीत्याशङ्क्य पृथक्फलवत्त्वं च दर्शयन् स्वातन्त्र्येण प्रयोज्यमिदमिति दर्शयति—महेश्वरस्येति ।

इस प्रकार वर्धमानक का प्रयोग अथवा गीतक का प्रयोग छन्दक के प्रयोग के साथ तथा चतुष्पदा के प्रयोग के साथ सहेतुक पूर्ण होता है । इसलिए तालाध्याय में इसके उपक्रम के अनुसार ही वर्धमान, आसारित, गीतक, छन्दक और चतुष्पदा तथा उसके अन्तर्भूत लास्य एवं गान की विधियों का क्रम से निरूपण होगा, इतने से ही 'गीतानां मद्रकादीनां (ना० शा० ५।१३) यह श्लोक पूर्वरङ्ग के प्रकरण में कहा जायगा । उसका अर्थ पहिले ही निर्णय कर दिया गया है । इसलिए उसके अनुसार इसका भी आलोचन करके कहे गये इस अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिए ।। ३२८ ।।

अब प्रश्न यह है कि पूर्वरङ्ग में निर्दिष्ट प्रधान फल से ही क्या उसकी फलवत्ता है ? अथवा कोई दूसरा फल भी है ? इस प्रकार आशङ्का करके उसकी पृथक् फलवत्ता को दिखाते हुए 'स्वतन्त्रता से इसका प्रयोग करना चाहिए' इस बात को कहते हैं—

अनुवाद—जो इस महेश्वर के चरित का प्रयोग करता है वह समस्त पापों से शुद्ध होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ।। ३२९ ।।

प्रकारान्तर से—

अनुवाद—जो महेश्वर द्वारा रचे गये इस नृत्त का प्रयोग करता हैं वह समस्त पापों से मुक्त होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ।। ३२९ ।।

---

१. क. एतदुपक्रमानुसारेणैव ।
२. क-भ. म. लास्यगानसविषेः ।

चरितमिति चेष्टितम्। प्रयोजयेदिति स्वार्थे हेतुमति च तन्त्रेण णिचि। तेन [1]प्रयोक्तुः प्रेक्षाप्रवर्तयितुश्चार्थपतेः सामाजिकवर्गस्य च पापविशुद्धिः शिवलोकगतमनन्तफलं नृत्तस्येति [2]नाट्यदृष्टैकप्रयोजनाद्भिन्नप्रयोजनत्व-मुक्तम्। स्वातन्त्र्येण प्रयोगे च छन्दकानां चतुष्पदायाश्च केवलत्वेनापि प्रयोगो ह्यनुज्ञातो भवति। तदङ्गानां च पुनः "पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा" इत्याद्यनुसारेण धारापरिक्रमादेः "यदा गीतवशात्" (ना. शा. ४-३००) इत्यनुसारेण द्विगुणाद्यर्थ-गुणावयवारणकगुञ्जिकादेश्चतुरपसारकादिविधा च डोम्बिकादिषु क्रमेण नर्तकी-वृद्धिराचार्यैराधेया(?)। तालानुसारेण च 'त्रिपाणिलयसंयुक्तम्' (ना०शा०४।३०१) इत्याद्यनुसारेण धारापरिक्रमादेः त्रिपाणिपरिष्वङ्कितलयतालपरिक्रमादेः ॥३२९॥

विमर्श—यह जो नाट्य एवं नृत्त का प्रकरण है वह महेश्वर शिव से सम्बद्ध है, अतः उनके द्वारा रचित नृत्त का प्रयोग जो करेगा वह शिवलोक (सायुज्य) को प्राप्त होगा, क्योंकि नृत्त एक साधना है, इसमें चित्त की एकाग्रता होती है और अगणित आसनों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह एक योग है, साधना है, चित्त की एकाग्रता हैं, समाधि है, अतः इस साधना के द्वारा शिवलोक की प्राप्ति सहज है ॥ ३२९ ॥

अभिनव--यहाँ पर चरित का अर्थ चेष्टित है। 'प्रयोजयेत्' में स्वार्थ और हेतु अर्थ में णिच् प्रत्यय है। उससे नृत्त के प्रयोक्ता, प्रेक्षा के प्रवर्त्तक (संचालक), अर्थपति और सामाजिक वर्ग के पापों की शुद्धि और शिवलोकगत अनन्त फलों की प्राप्ति नृत्त के द्वारा होती है, यह कह दिया गया है और नाट्य में दृष्ट प्रयोजन से इसका भिन्न प्रयोजन कहा गया है। स्वतन्त्र रूप से किये गये प्रयोग में छन्दकों का तथा चतुष्पदा का प्रयोग भी अनुज्ञात होता है। उसके अङ्गों का फिर 'पुण्या-ञ्जलिधरा भूत्वा' इत्यादि के अनुसार वर्णों का लोक में प्रयोग होता है और 'तस्याः पादावसाने' इत्यादि के अनुसार धारा के परिक्रमण आदि एवं 'यदा गीतवशादङ्ग' इत्यादि के अनुसार द्विगुण (दुगुना) आदि अर्थगुणों के अवयव का वारण करने वाले गुञ्जिका आदि तथा चतुरपसारक आदि का विधान तथा डोम्बिका आदि में क्रम से नर्त्तकी आदि की वृद्धि आचार्यों को करनी चाहिए और ताल के अनुसार 'त्रियाणिलयसंयुक्तं' (त्रिपाणि-ताल और लय से युक्त) इत्यादि कथन के अनुसार धारा परिक्रमण आदि अर्थात् ताल के अनुसार लय, परिक्रम आदि का विधान करना चाहिए ॥ ३२९ ॥

१. क. प्रयोक्तुं।
२. क. नान्यदृष्टैकप्रयोजनाद्।

एवमेव विधिः सृष्टस्ताण्डवस्य प्रयोगतः[1] ।
[2]भूयः किं कथ्यतामन्यन्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ ३३० ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे ताण्डवलक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

तदेतत्सर्वमीश्वरपरितोषकार्येवेति तथैतदुपसंहारपूर्वकमध्यायान्तरावकाश करोति—एवमेष इत्यादिना ।

एवं पर्वोक्तेन प्रकारेण । प्रयोगत इति प्रयोगं नाट्यात्मकमपेक्ष्य ततोऽन्यस्तद्विलक्षणो विधिप्रकारो दृष्टः । तथा नाटकादौ सामाजिकवत्प्रयोक्तृतन्मयीभाववशेन नाट्यं संस्कारमपेक्ष्याभिनयादिविविधिर्दृष्टो न तु साक्षात्कारकल्पनाट्यरूपताऽत्रास्ति । चतुर्विधाभिनयोगाभावाद्रसभावाप्राधान्याद्गीतवाद्यनृत्तानां यथेष्टं प्राधान्यं नर्तकीवृद्धेः । काव्ये वस्त्वपेक्षत्वान्नाट्यप्रस्तावनाप्राणप्रतिबिम्बात्मकता त्रिविधत्वान्मदमूर्च्छादौ तत्त्वापत्त्ययोगाद्गीतकादेश्च नियमादृष्टप्रयुक्तत्वाद्गीतादिप्राधान्येनैव प्रयोगात्कुलकाच्छेद्यात्मनः काव्यस्य गीत्याधारतानान्तरीयकत्वमात्रेण [3]गमनात्पिण्डीबन्धप्रकारे वैचित्र्यान्ते नृत्तमात्रविश्रान्तः प्रयोक्तृप्रवर्तयितृमात्रदृष्टफलप्राधान्याच्च तद्विलक्षणं नाट्यं तद्वृत्तिर्भिद्यत इति एवं शब्दस्यार्थ इत्युपाध्यायमतम् ।

अब यह सब ईश्वर को परितुष्ट करने का साधन है। अतः इस रूप में उसका उपसंहार करते हुए अग्रिम अध्याय के लिए अवसर उपस्थित करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार भगवान् शिव ने ताण्डव नृत्त के प्रयोग की यह विधि निर्मित (सर्जित) की है। अब मैं नाट्यवेद की विधि के विषय में और क्या बतलाऊँ? ॥ ३३० ॥

इस प्रकार भरत के नाट्यशास्त्र में ताण्डव-लक्षण नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अभिनव—एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से नाट्यात्मक प्रयोग की अपेक्षा उससे विलक्षण अन्य प्रकार देखा गया है तथा नाटक आदि में सामाजिक की तरह प्रयोक्ता के भी तन्मयीभाव होने के कारण नाट्य संस्कार की अपेक्षा करके अभिनय आदि की विधि देखी गई है। साक्षात्कारकल्प नाट्यरूपता यहाँ नहीं है। इसमें चार प्रकार के अभिनयों का अभाव होने से और रस एवं भाव की अप्रधानता होने से तथा नर्त्तकियों की वृद्धि होने से इसमें गीत, वाद्य एवं नृत्तों की प्रधानता है। काव्य में

---

१. ग. प्रयोक्तृभिः ।
२. ख. घ. भूयः किं कथ्यतां विप्रा नाट्ययोगविधिं प्रति ।
   क-म. भूयः किं कथ्यतां विप्रा नाट्ययोगविधि प्रति ।
३ क. गमनापिण्डीबन्धप्रकारे ।

"रसभावदृष्टिहस्तशिर आद्यं यद्यङ्गं पूर्णं वाऽपूर्णं वा कृत (कुत) एव नाट्यनृत्तयोर्भेदस्तुल्यानुकारत्वे" इति हर्षवार्तिकम्।

"शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाट्याङ्गकृतं नृत्तमभ्यासफलम्।" इति भट्टयन्त्रः।

"समयमात्रमित्यादिमङ्गलवद्विवाहादौ" इति भट्टलोल्लटः।

दशरूपकभेदवल्लास्यताण्डवप्रयोगो नाट्यभेद एव। तत्र पूर्णानुकाररूपत्वात्। तथाहि—प्रवेशेऽश्वत्थाम्नः सूचीविद्धोर्ध्वजान्वादि। पुरूरवसोऽलपल्लवसूची। गरुडप्लुतकम्। रावणस्य पुष्करो वैशाखरेचितकः। वत्सराजस्याग्निसम्भ्रमोऽतिक्रान्तः। जटायुषो गृध्रावलीनकमेलकाक्रीडितं चेति "चित्राभिनयेन वान्ये(बाल्ये) न करणप्रयोग एव। अभिनेयपदादीनां च नाट्येऽपि सक्तेति (सक्तेति)" नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः।

वस्तु की अपेक्षा होने से नाट्य प्रस्तावनाप्राण प्रतिबिम्बरूप त्रिविध होने से मद-मूर्च्छा आदि में तत्त्वापत्ति का अभाव होने से गीतक आदि का नियमतः अदृष्ट प्रयोग होने से और गीत आदि की प्रधानता से प्रयोग होने से कुलकादि रूप काव्य में गीति की आधारता आवश्यक होने से पिण्डीबन्ध भेद में वैचित्र्य के अन्त में नृत्तमात्र का विश्रान्ति होने से प्रयोक्ता एवं प्रवर्त्तयिता में दृष्ट फल की प्रधानता होने से नाट्य उससे विलक्षण है। यह एव शब्द का अर्थ है, यह उपाध्याय का मत है।

हर्षवार्त्तिककार का मत है कि नाट्य और नृत्त में "रस, भाव, दृष्टि, हस्त, शिर आदि अङ्गों का पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप में अनुकरण किया जाता है तो नाट्य और नृत्त में तुल्य अनुकरण होने से नाट्य और नृत्त में भेद कैसे होता है?"

भट्टयन्त्र का कथन है कि "शिक्षा, हर्षं स्वेच्छा से अभिनय किये गये कुछ नाट्य के अङ्गों से सम्पादित नृत्त अभ्यास का फल है।"

भट्टलोल्लट कहते हैं कि "विवाह आदि में किये जाने वाले मङ्गल के समान नृत्त केवल समयाचार है", औपचारिक है।

इस प्रकार दशरूपक के भेदों की तरह लास्य एवं ताण्डव नृत्त का प्रयोग नाट्य का एक भेद है। क्योंकि नाट्य में पूर्ण अनुकरण किया जाता है। जैसे—अश्वत्थामा के प्रवेश करने के समय सूचीविद्ध और ऊर्ध्वंजानु चारी आदि का प्रयोग, पुरूरवा के अभिनय के समय अलपल्लव सूची, गरुड़ के अभिनय में गरुड़प्लुत करण, रावण के अभिनय के समय पुष्कर वाद्य एवं वैशाखरेचित करण, वत्सराज के अग्निसंभ्रम के समय अतिक्रान्त करण, जटायु के युद्ध में गृध्रावलीनक और एलकाक्रीडितक करणों का प्रयोग होता है। "चित्राभिनय के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से करणों का प्रयोग होता है। अभिनेय आदि पदों का प्रयोग तो नाट्य की तरह नृत्त में भी होता है" अतः नृत भी नाट्य ही है। यह कीर्तिधराचार्य का मत है।

एतच्च (एवञ्च) स्वमतानुसारेण एवं शब्दार्थमाहुः। युक्तायुक्ता तत्र परीक्षका एव विदुरित्यलं बहुना।

प्रसङ्गाङ्गतया नृत्ततया(वार्त्तया) प्रसक्तानुसक्तत्वेन नृत्तगतमेवान्यत्किञ्चित्प्रसिद्धिः [1]प्रकृतनाट्यगतानां मा विच्छेदीत्यभिप्रायेणाह—नाट्येति। नाट्यमेव वेदस्तस्य यो विधिः प्रयोगस्तं प्रतीति शिवम् ॥ ३३० ॥

रविशशिहुतभुक्कल्पितनयनत्रयकिरणदलिततिमिरततिः।
अभिनवगुप्तस्ताण्डवविधिमेनं व्यवृणुत स्पष्टम् ॥ ४ ॥

इति माहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायामभिनवभारत्यां नाट्यशास्त्रविवृतौ ताण्डवविधानाध्यायश्चतुर्थः ॥

आचार्य ने इसे अपने मत के अनुसार एव शब्द का अर्थ कहा है। क्या युक्त है क्या अयुक्त ? इसे तो परीक्षक लोग ही जानते हैं, अतः बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है।

प्रसङ्गतः प्राप्त नृत्त की चर्चा से प्रसक्त और अनुप्रसक्त रूप में नृत्त के विषय में कुछ और प्रसिद्धि हो गई, किन्तु प्रकृत नाट्यगत अर्थ विच्छिन्न न हो, इस अभिप्राय से कहते है—'नाट्यवेद' इत्यादि। नाट्य ही वेद अर्थात् नाट्य रूपी वेद की जो विधि (विधान) है उसके प्रति क्या कहूं ? इति शिवम्।

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के रूप में कल्पित तीन नेत्रों की किरणों से नष्ट अज्ञान-रूपी अन्धकार वाले अभिनवगुप्त ने इस ताण्डवविधि की स्पष्ट व्याख्या की है ॥ ४ ॥

इस प्रकार माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा रचित अभिनवभारती में नाट्यशास्त्रविवृत्ति नामक व्याख्या में 'ताण्डविधान' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

विमर्श—यहाँ पर यह बताया गया है कि अभिनवगुप्त ने चतुर्थ अध्याय में ताण्डव नृत्त की विधि का स्पष्ट विवेचन किया है। अभिनवगुप्त के मन में जो अज्ञानरूपी अन्धकार था, वह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूपी शिव के तीन नेत्रों के प्रकाश से नष्ट हो गया। अतः अज्ञानान्धकार के हट जाने से अभिनवगुप्त की बुद्धि निर्मल हो गई और उन्होंने अपनी निर्मल बुद्धि से ताण्डव नृत्त की स्पष्ट विवेचना की ॥ ३३० ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनवभारत्या मनोरमाख्यायां हिन्दीव्याख्यायां ताण्डवनृत्तविवेचनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

---

१. प्रकृतगतता मा विच्छेदी०। प्रकृताविच्छेदीत्यभिप्रायेणाह।

पञ्चमोऽध्यायः

भरतस्य वचः श्रुत्वा नाटचसन्तानकारणम्[1] ।
पुनरेवाब्रुवन्वाक्यमृषयो हृष्टमानसाः ॥ १ ॥

अभिनव-भारती

संसारनाटचनिर्माणे याऽवकाशविधानतः ।
पूर्वरङ्गायते व्योममूर्ति तां शाङ्करीं नुमः ॥ ५ ॥

अध्यायसङ्गतिं कर्त्तुं पुराकल्पेनोपक्रमते—भरतस्येति ।

हिन्दी व्याख्या

पूर्वरङ्ग-विधान

अभिनव—जो मूर्त्ति संसाररूपी नाटय के निर्माण में अवकाश विधान से पूर्वरङ्ग के समान आचरण करती है उस व्योमरूपी शिव की मूर्ति को हम प्रणाम करते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—यहाँ पर अभिनवगुप्त भगवान् शिव की व्योमरूपी मूर्त्ति की वन्दना की है । शिव की आठ मूर्त्तिया प्रसिद्ध हैं—जल, पृथ्वी, अग्नि, भूमि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान । इनमें व्योम अर्थात् आकाशरूप भी एक मूर्त्ति है । यहाँ पर संसार को एक नाटक बताया गया है । नाटक के विधान में (निर्माण) में पहिले पूर्वरङ्ग का विधान होता है । संसाररूपी नाटक के रचयिता भगवान् शिव हैं । अतः इस संसार रूपी नाटक के निर्माण में शिव की आकाशरूपा मूर्त्ति पूर्वरङ्ग के समान आचरण करती है । यहाँ पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग का विवेचन करने जा रहे हैं । इसलिए अभिनवभारतीकार आकाशरूपा शिव की मूर्त्ति की वन्दना करते हैं ॥ ५ ॥

अभिनव—अब पिछले अध्याय के साथ सङ्गति स्थापित करने के लिए इतिहास के द्वारा उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार नाटच के विस्तार-विषयक भरतमुनि के वचन को सुनकर प्रसन्नचित्त ऋषियों ने फिर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

१. क-अ. नाटचसन्तानलक्षणम् ।

नाट्यसन्तानम् । नाट्यस्य सन्तानं [1]नृत्तकथया विच्छेदाशङ्कानिरासेनाविच्छेदः । नाट्ये पृष्टे दैववशात् महाफलं नृत्तमिति तद्विवेकेन ज्ञातम् । तज्ज्ञानाच्च तद्विविक्तं नाट्यमपि सुष्ठु ज्ञातम् । तदनुरक्तं च नाट्यं हृदयावर्जकमिति हृष्टमानसत्वम् । [2]स्वगततत्वग्रहणधारणादिसामर्थ्यात्मकशिष्यसम्पद्दर्शनायां (दर्शनात्) गुरुप्रोत्साहनमित्यभिप्रायेणाहुः ॥ १ ॥

अभिनव—नाट्यसन्तान का अर्थ है नाट्य-विस्तार अर्थात् नृत्त कथा के विच्छेद की आशङ्का के निराकरण के द्वारा यहाँ अविच्छेद दिखाया गया है। नाट्य के विषय में प्रश्न किया गया और उसके विवेचन से महाफल वाले नृत्त का भी ज्ञान करा दिया। उस नृत्त का ज्ञान होने से उससे पृथक् नाट्य का भी अच्छा ज्ञान हो गया और उससे अनुरक्त नाट्य हृदय का आवर्जक (आकर्षक) है, इसलिए हृष्टमानस अर्थात् प्रसन्नचित्त कहा गया है। शिष्य में स्वगत तत्त्व को ग्रहण और धारण करने का सामर्थ्य होने पर गुरु को प्रोत्साहन मिलता है, इस अभिप्राय से 'हृष्टमानस' कहा गया है ॥ १ ॥

विमर्श—चतुर्थ अध्याय में नृत्त के उपयोगी करणों, अङ्गहारों, रेचकों और पिण्डीबन्धों के लक्षण एवं स्वरूप निरूपण करने के साथ-साथ उसके उपयोगी वर्धमान, आसारित आदि गीतों के स्वरूपों का भी विवेचन किया गया है। यहाँ उसकी सङ्गति दिखाते हैं। नाट्य के विस्तार का कारण नृत्त है। यहाँ पर नृत्त की चर्चा का विच्छेद न हो जाय, इस शङ्का का निराकरण करने हेतु 'सन्तानविच्छेदकारण' कहा गया है। मुनियों ने नाट्य के विषय में प्रश्न पूछा था, किन्तु उसके साथ साथ नृत्त का विवेचन कर दिया गया और नृत्त का सम्यग् ज्ञान होने से नाट्य का भी ज्ञान हो गया। नृत्य से अनुरक्त नाट्य हृदय का आवर्जक होता है अर्थात् नाट्य में जब नृत्य का प्रयोग होता है तो नाट्य रञ्जक हो जाता है, इसलिए ऋषियों को प्रसन्नमानस कहा गया है। ऐसा देखा जाता है कि यदि शिष्य में तत्त्वों को या उपदेशों को ग्रहण करने तथा धारण करने की शक्ति होती है तो गुरु का उत्साह बढ़ता है यहाँ ऋषिगण शिष्य हैं और ब्रह्मा गुरु। ऋषियों ने ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट नाट्यविद्या को अच्छी तरह ग्रहण कर लिया। इसीलिए वे प्रसन्नचित्त थे। उन्होंने फिर ब्रह्मा से पूर्वरङ्ग के सम्बन्ध में प्रश्न किया ॥ १ ॥

---

१. क. नृत्तकया।

२. स्वगतत्वग्रहण।

यथा नाटचस्य [1]जन्मेदं जर्जरस्य च सम्भवः ।
विघ्नानां [2]शमनं चैव देवतानां च पूजनम् ॥ २ ॥
[3]तदस्माभिः श्रुतं सर्वं गृहीत्वा चावधारितम् ।
[4]निखिलेन यथातत्त्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ ३ ॥
पूर्वरङ्गं [5]महातेजः सर्वलक्षणसंयुतम् ।
यथा बुद्धयामहे ब्रह्मंस्तथा व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

यथेति । (तथेति) । पूजामध्य एव नृत्तं प्रविष्टमित्यध्यायचतुष्टयतात्पर्यं प्रत्यनुभाषितम् । ऊहापोहविज्ञानादिकमपि दर्शयन्ति—गृहीत्वेति । चकारात् धारयित्वाऽवधारितं निश्चितम् । निखिलेन साकल्येनेति । यथातत्त्वमिति तत्त्वादिनिवेशम् । आहुः पूर्वरङ्गं वेदितुमिच्छाम इति जिज्ञासा दर्शिता । यथा सर्वलक्षणसंयुक्तं बुध्यामहे तथा व्याचक्ष्वेति [6]व्याख्याप्रकारविषयेऽप्याचार्यान्वेषणम् । महत्तेजो ज्ञानात्मकमस्य तत् । आमन्त्रणं गुरुप्रोत्साहनार्थम् ।

अनुवाद—जिस प्रकार नाटच का जन्म हुआ, जिस प्रकार जर्जर की उत्पत्ति हुई और जिस प्रकार विघ्नों का शमन किया गया तथा जिस प्रकार देवताओं का पूजन करना चाहिए, यह सब मैंने सुन लिया है और समझ कर धारण कर लिया है । अब हम लोग समस्त लक्षणों से युक्त सम्पूर्ण पूर्वरङ्ग-विधान को याथातथ्य रूप में जानना चाहते हैं । अतः महातेजस्वी हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार हम समझ सकें, उस प्रकार आप व्याख्या करें ॥ २-४ ॥

अभिनव-यथेति—पूजा के निरूपण के मध्य ही नृत्त का प्रवेश हो गया है, इस प्रकार चार अध्यायों के तात्पर्य को पुनः कह दिया है । अब उहापोह 'तर्क-वितर्क' विज्ञान आदि को दिखाते हैं—'गृहीत्वा' अर्थात् 'ग्रहण करके इत्यादि के द्वारा । चकार से धारण करके निश्चित किया यह अर्थ अभिप्रेत है । 'निखिल' पद का अर्थ हैं सम्पूर्ण रूप से । 'यथातत्त्व' का अर्थ है तत्त्वादिनिवेश । 'आहुः' पद से 'पूर्वरङ्ग के विधान को जानना चाहते हैं' इस प्रकार जिज्ञासा दिखाई गई है । 'जिस प्रकार हम लोग समस्त लक्षणों से युक्त पूर्वरङ्ग को अच्छी तरह समझ जाँय उस प्रकार व्याख्या करिये' इस कथन से यह घोषित होता है कि व्याख्या के प्रकार के विषय में आचार्यों

---

१. ख. घ. यथा नाटचस्य वै जन्म ।
२. क-भ. गमनम् । क-प. शामनम् ।
३. ख. घ. त्वत्तः श्रुतं गृहीतं च । क-अ. तन्नः श्रुतम् ।
४. क-घ. निखिलं तु । ५. क-ज. महातेजाः ।
६. क-म. व्याख्याप्रकारविषयमप्याचार्यान्वेषणम् ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः।
प्रत्युवाच [1]पुनर्वाक्यं पूर्वरङ्गविधिं प्रति ॥ ५ ॥
पूर्वरङ्गं महाभागा [2]गदतो मे निबोधत।
पादभागाः कलाश्चैव [3]परिवर्तास्तथैव च ॥ ६ ॥

"पूर्वरङ्गे कृते पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः ॥" (ना. शा. ४-१०)
इति जिज्ञासादर्शनपूर्वप्रयोज्यतया तथैव जिज्ञासा जाता।
"पूर्वरङ्गविधावस्मिंस्त्वया सम्यक्प्रयुज्यताम् ॥" (ना. शा. ४-१४) इति।
"यस्त्वयं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धः प्रयोजितः।" (४-१५)
इति परमेश्वरादरवचनेन सुष्ठुतरां द्रढीकृता। तथैव तावदवश्योपासनीयेति तात्पर्यम् ॥ २-४ ॥

का अन्वेषण करना चाहिए। जिसका ज्ञानात्मक तेज महान् होता है उसे 'महत्तेजः' कहते हैं। यह आमन्त्रण गुरु के प्रोत्साहन के लिए है।

"हे द्विजश्रेष्ठ! वहाँ पहिले पूर्वरङ्ग का प्रयोग कर लिये जाने पर तब अभिनय प्रारम्भ किया।" (ना० शा० ४।१०)।

"इस पूर्वरङ्ग के विधान में तुम अङ्गहारों का अच्छी तरह प्रयोग करो।" (ना० शा० ४।१४)।

"जो कि यह तुमने शुद्ध पूर्वरङ्ग का प्रयोग बताया है" (ना० शा० ४।१५) इस प्रकार परमेश्वर के आदर सूचक वचन से यह जिज्ञासा दृढ़ हो गई। उसी प्रकार गुरु के विषय में अवश्य जिज्ञासा करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ २-४ ॥

विमर्श—ऋषियों ने नाट्य एवं जर्जर की उत्पत्ति, विघ्नों के शमन, नाट्यमण्डल के निर्माण तथा देवताओं के पूजन आदि का उल्लेख करके गत तीन अध्यायों के वर्ण्य विषय का सङ्केत किया है। चतुर्थ अध्याय का सङ्केत इस अध्याय के प्रारम्भ में कर दिया गया है। उस विषय-विस्तार को ऋषियों ने सुन लिया और तर्क-वितर्क करके उसे अच्छी तरह समझकर ग्रहण कर लिया है। अब पञ्चम अध्याय में समस्त अङ्गों के साथ पूर्वरङ्ग विधान की चर्चा करेंगे ॥ २-४ ॥

अनुवाद—उन मुनियों के वचन को सुनकर भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के विधान के विषय में फिर उत्तर दिया ॥ ५ ॥

अनुवाद—हे महाभाग! मेरे द्वारा कहे जाते हुए पूर्वरङ्ग विधान, पादभाग, कला और परिवर्त्त को सुनिये ॥ ६ ॥

---

१. क-म. ततो वाक्यम्। २. क-म. वदतो।
३. घ. परिवर्तस्तथैव च।

[1]यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं[2] पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
[3]तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

गदत इति शब्दमात्रेण तावन्निरूपयत इत्यर्थः । आश्रवणादिस्वरूपं हि गेयाधिकारे (ना. शा. २९) सम्यक् निर्णेष्यते । अनादरे षष्ठी । [5]निगदन्तमनादृत्य स्वबुद्धया बुद्धयध्वम् । यद्यपि मयाऽत्र क्रमेण [6]नैतदुक्तं गेयाधिकारस्यापि सुदूरत्वात् । तथापि 'यस्य येनार्थसम्बन्ध' इत्यर्थक्रम आदर्तव्यो न शाब्द इति [7]गदनक्रमानादरणं गदितरि सङ्क्रमय्योक्तम् ।

तत्र पूर्वरङ्गशब्दं निरुक्त्या तावद्व्याचष्टे—पदभागः इत्यादिना । इह बहिर्यवनिकाङ्गान्येव पूर्वरङ्गः । तानि च गीतकानीत्युत्थापनानि ध्रुवारूपाणि । तत् द्विकलचञ्चत्पुट-चाचपुटतालेन विशिष्टगतिगतेनेति तदेव पूर्वरङ्ग

अनुवाद—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! क्योंकि यह नाट्यप्रयोग रङ्ग (रङ्गमञ्च) पर सबसे पहिले किया जाता है इसलिए इसे 'पूर्वरङ्ग' कहा जाता है ॥ ७ ॥

अभिनव—'गदतः' का अर्थ है शब्दमात्र से निरूपण करना । आश्रवणा आदि के स्वरूप का निर्णय गेयाधिकार में अच्छी तरह करेंगे । 'गदतः' में अनादर अर्थ में षष्ठी विभक्ति है अर्थात् गेयधिकार में कहे हुए का अनादर करके अपनी बुद्धि से समझो । यद्यपि मैंने यहाँ इसे क्रम से नहीं कहा है और जहाँ गेयाधिकार में निरूपण करेंगे वह बहुत दूर है । फिर भी 'जिसका जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है उसका उसके साथ अन्वय करना चाहिए' इस नियम के अनुसार इस अर्थक्रम का आदर करना चाहिए, शाब्दक्रम का आदर नहीं करना चाहिए । कथनक्रम (कहे हुए क्रम) का अनादर करना चाहिए था किन्तु यहाँ वक्ता में सङ्क्रान्त करके कहा गया है । भाव यह कि मेरे द्वारा कहे हुए क्रम का तिरस्कार (उपेक्षा) करके जिसका जिसके साथ अन्वय ठीक बैठे उसका उसके साथ अन्वय करना चाहिए, किन्तु यहाँ पर इस कथनक्रम का अनादर वक्ता में समाहित कर दिया है अर्थात् वक्ता के कथन का अनादर करके यह अर्थ लिया गया है जो ठीक नहीं है ।

---

१. ख-घ-ग. यस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं । क-ट. यः स्याद्रङ्गप्रयोगोऽयं । क-अ. कस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं ।
२. ख. पूर्वमेव प्रयोज्यते । क-अ. सर्वमेतत्प्रयुज्यते । क-न. पूर्वमेव प्रयोक्तृभिः ।
३. ख. घ. तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयोऽत्र द्विजोत्तमाः ।
क-न. पूर्वरङ्गो ह्ययं तस्माद्विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ।
५. क. गदितमनादृत्य ६. क. क्रमेणैतदुक्तम् ।
७. क. गमनक्रमानादरणम् ।

इति तावत्तात्पर्यम् । तत्र मात्रायाः यः षोडशो भागः तदारब्धा मात्रा । तदारब्धं वस्तु । एवं वस्तुनिबन्धेषु गीयमानं तावत्स्वीकृतम् । भागश्च द्विकलचतुष्कलयोर्मार्गस्य चञ्चत्पुटादीनां सङ्गाद्भवति । यथाऽक्षरेषु तु चञ्चत्पुटादिषु कलाविभागलग्ना इति यथाऽक्षरमार्गः कलाग्रहणेन सङ्गृहीतः । यथाक्षरद्विकलचतुष्कलतया सर्वमेव गीतकवर्धमानादि गानं गीयमानं गेयं (मेयं) रूपं सङ्गृहीतम् । कलाशब्देन च सप्तविधा तालकला निष्क्रामादिरुच्यते । तया समस्तो मानात्मकस्तालमार्गो गृहीतः । भिन्नार्थानामपि च सरूपाणामेकशेषः । पादा इत्यादि । एवं परिवर्तन्त इति परिवर्ताः । द्विसङ्ख्यातत्रिसङ्ख्यातादिषु परिवर्तैः (परिचितैः) सकलेतिकर्तव्यता परिगृहीता । चकारात्केवलं तन्त्र्यादि । एवकारेण केवलप्रयोगः । तथाशब्देनाङ्गाङ्गिभावप्रयोगो यथायोगं दर्शितः ।

अब यहाँ पूर्वरङ्ग शब्द की निरुक्ति के द्वारा व्याख्या करते हैं–'पादभाग इत्यादि'। यहाँ पर यवनिका के बाहर के अङ्गों को पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत माना है और वे गीतक उपस्थापन आदि ध्रुवा रूप हैं। वे द्विकल चञ्चत्पुट और चाचपुट ताल विशिष्ट गीतों में रहते हैं अर्थात् विशिष्ट गीतों में इनका प्रयोग होता है, वही पूर्वरङ्ग है। यह उसका तात्पर्य है। उनमें मात्रा का जो सोलहवाँ भाग है उससे मात्रा बनती है और उससे वस्तु बनती है। इस प्रकार वस्तु के निबन्धन में गीयमान गीत को स्वीकार किया गया है और पादभाग द्विकल एवं चतुष्कल मार्ग के चञ्चत्पुट आदि तालों के संसर्ग से बनता है अर्थात् चञ्चत्पुटादि तालों के द्विकल एवं चतुष्कल के प्रयोग से पाँच भाग माना जाता है। जैसे चञ्चत्पुट आदि तालों में प्रयुक्त अक्षरों में मात्राओं के योग से पादभाग बनता है। इस प्रकार कला के ग्रहण से यथाक्षरमार्ग का ग्रहण हो गया। इस प्रकार यथाक्षर अर्थात् एककल, द्विकल और चतुष्कल से सभी वर्धमान आदि गीतों के गेय रूप का सङ्ग्रह हो गया। कला शब्द से निष्क्राम आदि सात प्रकार की तालकलाएँ कही गई हैं। इससे अर्थात् कला शब्द से समस्त मानात्मक तालमार्गों का ग्रहण हो गया। समान रूप वाले शब्दों का भिन्न अर्थ होने पर भी एकशेष हो जाता है। 'पाद' इत्यादि। इस प्रकार जो परिवर्त्तित होते हैं उन्हें परिवर्त्त कहते हैं। द्विसंख्यात त्रिसंख्यात, आदि परिवर्त्तों से समस्त इतिकर्त्तव्यता का ग्रहण हो गया। 'तथैव च' में चकार से केवल तन्त्री आदि वाद्यों का ग्रहण होता है। एवकार से केवल प्रयोग का ग्रहण होता है और 'तथा' शब्द से यथायोग अङ्गाङ्गिभाव का प्रयोग दिखला दिया है। द्वितीय एवकार के प्रयोग से नाट्य के अङ्गों को सूचित कर दिया गया है। द्वितीय चकार से पाठ्य आदि और नृत्त को

द्वितीयेनैवकारेण नाटचाङ्गता सूचिता। द्वितीयेन चकारेण च पाठचादि नृत्तं च। तेन गीततालवाद्यनृत्तपाठ्यं व्यस्तसमस्ततया प्रयुज्यमानं यन्नाटचाङ्गभूतं स पूर्वरङ्ग इत्युक्तं भवति। यः स्याद्रङ्गे मण्डपे आधारे नाटचे वा रङ्गे बुद्धिस्थे भविष्यति। युज्यत एव च पूर्वम्। प्रत्याहारादिकेन ह्यङ्गेन विना गायनादिसामग्र्यसम्पत्तेः कथं नाटचप्रयोगः। न ह्यहो (ह्येव) किल तन्तुतुरीवेमादेः विना शक्यः पटः कर्त्तुम्। केवलं प्राङ्मुखान्नभोजनवन्नियमप्रयोजनत्वेऽपीति[1] वक्ष्यते। तेन पूर्वो रङ्गे पूर्वरङ्गः। सुप्सुपेति समासः राजदन्तादित्वाद्वा परनिपातः।

श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाटचाङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रङ्ग इति समासममंस्त। यदाह—

"दृष्टा [2]येऽवस्थार्थे नाटचे रङ्गाय [3]पादभागाः स्युः।
पूर्वं त एव तु यस्मिन् शुद्धाः स्युः पूर्वरङ्गोऽसौ ॥" इत्यादि।

सूचित किया गया है। इससे समस्त और व्यस्त रूप से प्रयोग किये जाने वाले गीत, ताल, वाद्य, नृत्त, पाठ्य आदि नाट्य के अङ्गभूत हैं वह पूर्वरङ्ग होता है, यह कहा गया है। जो रङ्ग में अर्थात् आधारभूत मण्डप में अथवा नाट्य में अथवा बुद्धिस्थ रङ्ग में पहिले (पूर्व में) प्रयुक्त होता है, इसलिए उसे पूर्वरङ्ग कहा जाना उचित है। क्योंकि प्रत्याहार आदि अङ्गों के विना गायन आदि सामग्री पूर्ण नहीं होगी तो नाट्य प्रयोग कैसे होगा ? तन्तु, तुरी, वेमा आदि के विना पट का निर्माण नहीं किया जा सकता। केवल पूर्वाभिमुख होकर अन्न का भोजन करना चाहिए इस नियम के समान इसका पहिले प्रयोग किया जाता है इसलिए इसे पूर्वरङ्ग कहते हैं। यहाँ 'सुप्सुपा' सूत्र से समास होता है और 'राजदन्तादिषु परम्' सूत्र से 'रङ्ग' का परनिपात हो जाता है। (पूर्वा रङ्गे यः पूर्वरङ्गः)।

श्रीहर्ष तो रङ्ग शब्द का तौर्यत्रिक अर्थ लेते हुए नाट्यप्रयोग के अङ्गभूत उसी (तौर्यत्रिक) को ही पूर्वरङ्ग मानते हुए 'पूर्वश्चासौ रङ्गः' (रङ्ग का पूर्वभाग जो हो वह पूर्वरङ्ग है) इस प्रकार समास माना है। जैसाकि कहा गया है कि—

"नाट्य में अवस्था विशेष के अर्थ में रङ्ग के लिए जो पादभाग देखे गये हैं वे जहाँ पर पूर्व में शुद्ध (स्पष्ट) प्रयोग किये जाँय, वह पूर्वरङ्ग है।" इत्यादि।

---

१. क. नियमप्रयोजनत्वमपीति।
२. क. येऽवस्त्वर्थे।
३. क-म. भ. पादभङ्गाः।

रङ्गस्य पूर्वो भाग इति त्वसत्। न ह्ययं मण्डपस्यैकदेशः। नापि नाटचस्य। नह्ययं भावानुकीर्तनात्मकव्याख्यानानुकारस्वभावः। अपि तु शिक्षादिवत्पारमार्थिक एव प्रयोगसम्पत्युपकरणभूतो भोजनादितुल्यः प्रत्याहारादिरर्थः। नृत्तमप्यत्र वैचित्र्यकारित्वेन प्रविशत् "नाटचरूपगतं नृतम्" इत्यङ्कुरसूचितनृतन्यायेनानुकारधुरारोहि। अपि तु देवतापरितोषणफलं [1]धूपविलेपनादिदानवत् सत्यमेवेति पूर्वो रङ्ग इत्येष एव समासः॥ ६-७॥

इस प्रकार जो रङ्ग का पूर्व भाग है वह पूर्वरङ्ग है, ऐसा जो कहते हैं वह ठीक नहीं है। क्योंकि यह मण्डप का एकदेश नहीं है और न नाट्य का अङ्ग है और न यह भावानुकीर्त्तन रूप व्याख्यान का अनुकरण रूप है। अपि तु शिक्षा आदि के समान पारमार्थिक है और नाट्यप्रयोग की सम्पत्ति के उपकरणभूत भोजनादि के समान प्रत्याहार आदि अर्थ हैं। नृत्त भी यहाँ पर वैचित्र्यकारी के रूप में प्रविष्ट है "नृत्त नाट्यरूप है' इस प्रकार 'अङ्कुर, शाखा और नृत्त ये अभिनय रूप वस्तु के अङ्ग हैं' इस न्याय से नृत्त अनुकार (अनुकरण) की धुरी अर्थात् अनुकरण रूप नाट्य का अङ्ग है और भी देवता के परितोष रूप फल धूप, नैवेद्य, चन्दन आदि विलेपन आदि के समान सत्य ही है, इसलिए 'पूर्वो रङ्गः' यह समास किया जाता है॥ ६-७॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्वरङ्ग शब्द की व्याख्या करते है। पूर्वरङ्ग के साथ पादभाग, कला तथा परिवर्त्त की भी चर्चा की गई है। मात्राओं के योग से पादभाग बनता हैं। नाटचशास्त्र में तीन प्रकार के मार्ग बताये गये हैं—चित्र, वार्त्तिक और दक्षिण। चित्रमार्ग में दो मात्राओं से, वार्तिक में चार मात्राओं से तथा दक्षिण में आठ मात्राओं से पादभाग बनता है। इसप्रकार चित्रमार्ग में एककल, वार्त्तिकमार्ग में द्विकल तथा दक्षिणमार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग होता है। शार्ङ्गदेव ने भरतोक्त तोन मार्गों के अतिरिक्त ध्रुवनामक एक और मार्ग माना है। ध्रुवमार्ग में एक मात्रा की कला होती है। मतङ्ग ने शून्यमार्ग का भी उल्लेख किया है। शून्यमार्ग में अर्द्धमात्रा (द्रुत) की कला होती है। पाँच निमेष के बराबर समय को कला कहते हैं (**निमेषः पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम् ना० शा०। ४-५**)। अभिनवगुप्त ताल के मात्राकाल को कला कहते हैं। सशब्द और निःशब्द क्रियाएँ कला कहलाती हैं। तालभाग को भी कला कहते हैं। गुरु (ऽ) कला का पर्याय है। कला के तीन रूप हैं—एककल, द्विकल और चतुष्कल। भरत ने एककल को यथाक्षर नाम से अभिहित किया है। शार्ङ्गदेव ने भी यथाक्षर को एककल कहा है। उनके अनुसार प्रत्येक अक्षर पर एक-एक क्रिया होने पर यथाक्षर कहलाता है। यहाँ पर कला शब्द से सप्तविध तालों का ग्रहण होता है। द्विकल त्रिकल, चतुष्कल, षट्कल, द्वादशकल, अष्टचत्वारिंशत्कल और षण्णवतिकल ये सप्तविध ताल कलाएँ कही जाती हैं।

१. क. धूपविलेपनादिवत्।

परिवर्त्त का अर्थ परिवर्त्तन है। पादभागादि से युक्त ताल का दुहराया जाना या या आवृत्ति 'परिवर्त्त' कहलाता हैं। अभिनव ने यवनिका के बाहर के प्रयोगों को पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत माना है। वस्तु के निबन्धन में त्र्यस्र चाचपुट और चतुरस्र चञ्चत्पुट तालों का प्रयोग होता है। चाचपुट ताल में छः अक्षर और छः मात्राएँ होती हैं और चञ्चत्पुट ताल में आठ अक्षर और आठ मात्राएँ होती हैं। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—एककल, द्विकल और चतुष्कल। चाचपुट ताल के कलाभेद के अनुसार त्रिकल, षट्कल, द्वादशकल, चतुर्विंशतिकल अष्टचत्वरिंशत्कल और षण्णवतिकल ये छः प्रकार होते हैं और चञ्चत्पुटताल के कला- प्रस्तार से चतुष्कल, अष्टकल और षोडशकल ये तीन भेद होते हैं। इस प्रकार कला के भेद से दोनों के नौ भेद होते हैं। द्विसंख्यात, त्रिसंख्यात आदि गीतों में परिवर्त्तों से समस्त इतिकर्त्तव्यता का ग्रहण होता है। आसारित गीत के तीन भेद होते हैं—यक्षाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात (**यथाक्षरं द्विसंख्या तंत्रिसंख्यातमथापि च**)। यक्षाक्षर एक कल होता है। इसमें अक्षरों की आवृत्ति नहीं होती। द्विसंख्यात में वर्णों की आवृत्ति दो बार और त्रिसंख्यात में तीन बार होती है। यक्षाक्षर का गान द्विकल एवं चित्रमार्ग में, द्विसंख्यात का गान चतुष्कल वार्तिक मार्ग में और त्रिसंख्यात का गान अष्टकल दक्षिणमार्ग में किया जाता है। इस प्रकार गीत, ताल, वाद्य, नृत्त, पाठ्य का प्रयोग नाट्य के अङ्ग के रूप में जहाँ किया जाता है वह पूर्वरङ्ग हैं।

अभिनवगुप्त ने भरतोदित पूर्वरङ्ग के व्याख्यान के समर्थन में हर्ष और वार्त्तिककार के मतों को उद्धृत किया है। अभिनव पूर्वरङ्ग शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' अर्थात् जो रङ्ग पर पहिले (पूर्व) प्रयुक्त हो वह पूर्वरङ्ग है। यहाँ पर 'सुप्सुपा' सूत्र से समास होकर 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र से 'रङ्ग' पद का परनिपात होता है। हर्ष रङ्ग शब्द का अर्थ तौर्यत्रिक मानते हैं और पूर्वरङ्ग शब्द में 'पूर्वश्चासौ रङ्गः' इस प्रकार कर्मधारय समास मानकर पूर्वरङ्ग शब्द का अर्थ गीतनृत्तवाद्यादि का प्रयोग ही पूर्वरङ्ग है, इस प्रकार करते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त उक्त व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यह मण्डप का कोई एकदेश भाग नहीं है और न नाट्य का अङ्ग है और न अनुकरण रूप है। धूप, चन्दन आदि के लेप से देवतुष्टि के समान लौकिक-अलौकिक फलरूप कार्य होने से यहाँ पर 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' यह व्याख्यान ही युक्तिसंगत है। इस प्रकार नाट्यप्रयोग के पूर्व सम्पन्न होने वाली विधियों को 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं। अभिनव ने पूर्वरङ्ग-विधान की तन्तु और पट से तुलना की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार तन्तु के संयोग से पट की रचना होती है। उसी प्रकार प्रयोक्ता गीतवाद्यादि रूप सूत्र से संयुक्त कर नाट्य का प्रयोग करता है और वह प्रयोग सामाजिकों को आह्लादित करता है॥ ६-७॥

अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥ ८ ॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च ।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥ ९ ॥
सङ्घोटना ततः कार्या [1]मार्गासारितमेव च ।
[2]ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥ १० ॥
एतानि तु[3] बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च[4] ॥११ ॥
[5]ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघट्य[6] वै यवनिकां [7]नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥

ननु प्रत्याहाराद्यङ्गसमूहः पूर्वरङ्गः । तत्कथमुक्तं गीतादिः पूर्वरङ्ग इत्याशङ्क्याह—अस्याङ्गानि त्वित्यादि पूर्वरङ्गे भवन्ति हीत्यन्तेन श्लोकसप्तकेन सार्धेन महाकाव्यं (महावाक्यम्) ।

अब प्रश्न यह है कि जब प्रत्याहार आदि अङ्गों का समूह पूर्वरङ्ग है तो गीतवाद्यादि को पूर्वरङ्ग क्यों कहा गया है ? इस प्रकार शङ्का करके 'अस्याङ्गानि' यहा से लेकर 'पूर्वरङ्गे भवन्ति हि' यहाँ तक साढ़े सात श्लोकों में महाकाव्य को कहते हैं—

अनुवाद—इस पूर्वरङ्ग के अङ्गों (प्रत्याहारादि अङ्गों) को यथावत् क्रम से तन्त्री तथा भाण्डवाद्यों के संयोग से तथा पाठ्य आदि के योग के साथ प्रयोग करना चाहिए ॥ ८ ॥

अनुवाद—पूर्वरङ्ग विधि को कहते हैं कि क्रमशः प्रत्याहार, अवतरण, अश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, सङ्घोटना, मार्गासारित और ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ आसारित इन अङ्गों का यवनिका के भीतर बिना गीतों के अथवा इन बहिर्गीतों का यवनिका के अन्दर तन्त्री और भाण्डवाद्यों के साथ प्रयोक्ताओं को प्रयोग करना चाहिए ॥ ९-११ ॥

---

१. ख मार्गोत्सारितमेव च ।
२. ख. घ. ज्येष्ठमध्यकनिष्ठा च तथैवासारितक्रिया ।
३. ख घ. च ।   ४. ख. घ. तु ।
५. ख. घ. ततश्च सर्वकुतपैर्युक्तान्यन्यानि कारयेत् ।   ६. ख. घ. विघाट्य ।
७. ग. वृत्तपाठ्यकृतानि तु । ख. घ. नृत्यपाठ्यकृतानि च ।

गीतानां [1]मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम् ।
[2]वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते[3] ॥ १३ ॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं [4]परिवर्तनमेव च ।
नान्दी शुष्कावकृष्टा[5] च रङ्गद्वारं तथैव च ॥ १४ ॥
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च ।
[6]त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

तुर्हेतौ । लक्षिष्यमाणानि प्रत्याहारादीन्यासारितान्तानि अन्तर्यवनिकाङ्गानि[7]नव प्रयोज्यानि । यानि च यवनिकाया बहिर्गीतकप्रयोगादीनि प्ररोचनान्तानि दश तानि; [8]सर्वाण्यपि पादभागाद्युपलक्षितादिरूपस्योक्तस्य सम्बन्धित्वेन यस्मात्कार्याणि तस्मात् पादभागादिरेव पूर्वरङ्ग इति पूर्वेण सम्बन्धः । अङ्गानां न्यूनाधिकभावे हि भूयांसः पूर्वरङ्गभेदाः । ते च गेयाधिकारे (ना.शा. २९) दर्शयिष्यन्ते । इह [9]तूद्दिश्यमानास्तन्त्रभावानभिज्ञानामसम्प्रमोहफला एव ।

अनुवाद—इसके बाद यवनिका को हटाकर समस्त वाद्यों के साथ तथा नृत्य और पाठ्य का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए । फिर मद्रक आदि गीतों में से किसी एक गीत का प्रयोग करना चाहिए और जहाँ पर ताण्डव का प्रयोग किया जाय वहाँ वर्धमानक गीत की योजना करे । फिर उसके बाद क्रमशः उत्थापन, परिवर्त्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्ट, रङ्द्वार, चारी तथा महाचारी का प्रयोग करना चाहिए और इसी प्रकार पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत त्रिक और प्ररोचना का भी प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ १२-१५ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द हेतु अर्थ में है। जिनका लक्षण आगे कहा जायगा, ऐसे प्रत्याहारादि से लेकर आसारित पर्यन्त नौ अङ्गों को यवनिका के अन्तर्गत प्रयोग करना चाहिए और जो यवनिका के बाहर गीतक प्रयोग से लेकर प्ररोचना पर्यन्त दश अङ्ग हैं। उन सबका पादभाग, कला आदि से उपलक्षित पूर्वरङ्ग के सम्बन्धी रूप होने से जिस प्रकार प्रयोग किया जाता है उस प्रकार पादभाग आदि ही पूर्वरङ्ग है, इस प्रकार पूर्व से इनका सम्बन्ध है। अङ्गों के न्यूनाधिकभाव होने से पूर्वरङ्ग के बहुत से भेद हो सकते हैं। वे सब गेयाधिकार नामक २९ वें अध्याय में दिखाये जाँयगे। यहाँ पर तो उनका नाममात्र से कथन किया जायगा, इससे तन्त्र (शास्त्र) को न जानने वाले को अज्ञानवश कोई मोह या भ्रम नहीं होगा।

---

१. ख. गीतानां मुद्रकादीना योज्यं तु गीतकम् । २. क-त. वर्धमानं तथापीह ।
३. क-अ. योज्यते । ४. ख. परिवर्तकमेव च ।
५. ख. घ. नान्दी शुष्कापकृष्टा । ६. क-त. न. अ. त्रिगतं प्ररोचना च ।
७. घ म. अन्तर्यवनिकाङ्गान्येव प्रयोज्यानि । ८. क. सर्वाण्यपरभागाद्युपलक्षितादि० ।
९. क-भ. म. इह तु दृश्यमानास्तन्त्रभावानभिज्ञानां सम्प्रमोहफला ।

उक्तं च वार्तिके-"[1]बुद्धाय षट्कं चेदिह रङ्गभेदः । न तु प्रत्याहारावतरणे । आद्ये (आद्यो) रङ्गद्वारादीनि । पाश्चात्यानि च पादभागाद्यारब्धानि" इति । सत्यम् । किन्तु समुदितत्वे नात्र रङ्गता रमणीयभावः सम्बन्धः । अपि तु सद्भावमात्रम् । तच्च सर्वत्रैव विद्यत इति वक्ष्यते । तदाह—यस्मादेतानि पूर्वरङ्गे संभवन्ति तस्मादस्य संबन्धित्वेन कार्याणि ।

तत्र यवनिका रङ्गपीठतच्छिरसोर्मध्ये । तस्या अन्तरागतैः प्रयोक्तृभिर्नटैः प्राधान्यात् यदि वा वैणिकादिभिरेव प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि प्रत्याहारादीनि । [2]गीतकपाठ्यादीनि तु यवनिकायामपसारितायां गीतानामित्यादिना श्लोकेन गीतकवर्धमानान्यतरप्रयोग उक्तः । अन्ये तु अथापि स्थाने (ना० शा० ५।१३) अतोऽपीति पठन्त उभयप्रधानमनुजानते । तच्चान्त्यपदार्थेन विरुद्धम् । निर्देशविधौ चैकमेवाङ्गं भविष्यति । न तु द्वे ।

"कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा ।" (ना शा. ५-२१) इति ।

जैसाकि वार्त्तिक में कहा गया है—

"पूर्वरङ्ग के जो छः भेद हैं, उनका प्रयोग प्रत्याहार, अवतरण से प्रारम्भ करके नहीं अर्थात् पूर्वरङ्ग के उन छः भेदों का प्रयोग प्रत्याहार आदि से क्रमशः प्रारम्भ नहीं किया जाता, अपितु रङ्गद्वार से आरम्भ किया जाता है और बाद में पादभाग आदि से भी आरम्भ किया जाता है" यह ठीक है। किन्तु यहाँ समुदाय में रमणीय भाव सम्बन्ध नहीं रहेगा, अपितु केवल सद्भाव रहेगा। वह तो सभी जगह विद्यमान है, यह आगे कहेंगे। इसलिए कहते हैं कि क्योंकि ये सब पूर्वरङ्ग में होते हैं इसलिए उसके सम्बन्धी के रूप में करना चाहिए।'

वहाँ रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष के मध्य में यवनिका की व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि उसके भीतर प्रयोक्ता नटों के द्वारा अथवा वेणुवादक आदि के द्वारा प्रधान रूप से प्रत्याहार आदि अङ्गों का प्रयोग करना चाहिए। गीत, पाठ्य आदि में तो यवनिका के पर्दे उठ जाने पर 'गीतानाम्' इत्यादि श्लोक में कहे गये गीतक अथवा वर्धमानक में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए। दूसरे लोग तो 'वर्धमानमथापीह' इस अंश के 'अथापि' के स्थान पर 'अतोऽपि' पाठ मानते हुए दोनों की प्रधानता की अनुज्ञा देते हैं अर्थात् दोनों का प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार कहते हैं। किन्तु वह उक्त पद के अर्थ के विरुद्ध है। क्योंकि निर्देशविधि में किसी एक अङ्ग की ही प्रधानता होती है, न कि दो अङ्गों की। अतः दोनों में से किसी एक का ही प्रयोग करना चाहिए। "और देवताओं का कीर्त्तन गीत-विधि प्रयोग से जानना चाहिए" (ना. शा. ५।१३)

---

१. क. बुद्धयाय षट्कचेदिज (?) रङ्गभेद ।
२. क. गीतकपिण्ड्यादीनि ।

एतान्यङ्गानि कार्याणि [1]पूर्वरङ्गविधौ द्विजाः ।
[2]एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ १६ ॥
कुतपस्य तु विन्यासः प्रत्याहार इति [3]स्मृतः ।
तथावतरणं प्रोक्तं [4]गायिकानां निवेशनम् ॥ १७ ॥

उभयात्मकं तावदेवैकमङ्गमस्तीति केचित् । अपिशब्दाद्यानि कानि । उद्देशावसर एव 'ताण्डवं यत्र' इत्यभिधानमस्याङ्गस्य नृत्ते विनियोगं दर्शयति । तेन नाट्याद्यङ्गानि नृत्तशून्यान्यपि भवन्तीति दर्शयतीति तदेव च शुद्धत्व-व्यवहारः । यद्वक्ष्यति—"शुद्धं चित्रमथापि च ।" इति ॥ १२-१५ ॥

एवं पूर्वरङ्गसामान्यलक्षणानि समासेनाभिहितानि एतत्प्रसङ्गात् तेषामयमेवोद्देशो भवतीति दर्शयति—एतानीति ।

क्रमकथनेनैतत्सङ्ख्यान्येव चेत्यर्थः । यथोद्देशं लक्षणं कर्तुमुपक्रमते—एतेषा-मिति ॥ १६ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि दोनों तो एक ही अङ्ग है। 'अपि' शब्द से कोई भी अङ्ग लिया जा सकता है। उद्देश कथन के अवसर पर ही 'ताण्डवं यत्र युज्यते' अर्थात् 'जहाँ पर ताण्डव का प्रयोग हो' यह कथन नृत्त में इस अङ्ग का विनियोग दिखाता है अर्थात् नृत्त में इसका प्रयोग करना चाहिए। इससे यह दिखाया गया है कि नाट्य आदि के अङ्ग नृत्तशून्य भी होते हैं, तभी शुद्धत्व का व्यवहार होता है। जैसा कि आगे कहेंगे-'शुद्ध और चित्र भी भेद होंगे' ॥ १२-१५ ॥

इस प्रकार पूर्वरङ्ग का सामान्य लक्षण समास रूप में कहा गया है।

उनका यही उद्देश है, यह दिखाते हैं—

अनुवाद—हे ब्राह्मणों ! पूर्वरङ्ग के विधान में इन अङ्गों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। अब मैं क्रमशः उनके लक्षणों की व्याख्या करूँगा ॥१६॥

अभिनव—क्रमपूर्वक कहने का अभिप्राय है कि इनकी इतनी ही संख्या है।

अब उद्देश क्रम से उनका विशेष लक्षण करने का उपक्रम करते हैं ॥ १६ ॥

उनके क्रम को कहते हैं—

अनुवाद—कुतुप अर्थात् वाद्ययन्त्रों के विन्यास अर्थात् विधिवत् स्थापन को 'प्रत्याहार' कहते हैं और गायिकाओं अथवा गायकों के निवेश को 'अवतरण' कहा गया है ॥ १७ ॥

---

२. ख. घ. पूर्वरङ्गविधौ तु च । क-अ. पूर्वरङ्गे द्विजोत्तमाः ।
२. क-त. तेषान्तु लक्षणमहं ।
३. क-अ. विधिः स्मृतः । ४. ख. घ. ग. गायकानाम् ।

तत्क्रममाह—कुतपस्य त्विति । नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये पूर्वाभिमुखो मार्दङ्गिकः । तस्य पाणिकौ वामतः । रङ्गपीठस्य दक्षिणतः उत्तराभिमुखो गायनः । अस्याग्रे उत्तरतो दक्षिणाभिमुखस्थिता गायिक्यः । अस्य वामे वैणिकः । अन्यत्र [1]वंशधारकावित्येवं कुतं पाति कुं तपतीति शब्दविशेषपालकस्य नाट्यभूमिकोज्ज्वलताधायिनश्च वर्गस्य यो विचित्रो न्यासः स विप्रकीर्णानामेकत्र ढौकनात्मा प्रत्याहारः ।

यद्यपि कुतपस्य विन्यासमध्य एव च गायकस्याभिमुख्यो रङ्गपीठस्योत्तरतो गायिन्य इति गायिकानां (गायकानां) विन्यासः तथापि त्ववतरणं नाम [2]पृथगुक्त-मङ्गनागीतस्यावश्यंभावित्वं रञ्जकवर्गे ख्यापयितुम् । यद्वक्ष्यते—

"यद्यपि पुरुषो गायति गीतविधानं तु लक्षणोपेतम् ।
स्त्रीविरहितः प्रयोगस्तथापि न सुखावहो भवति ॥"[3]
(ना. शा. ३३।५-७) इति ।

अभिनव—नेपथ्यगृह के द्वार के मध्य में पूर्व की ओर मुख करके मार्दङ्गिक (मृदङ्ग बजाने वाला) बैठे और उसकी बायीं ओर ढोल बजाने वाले बैठें और रङ्ग-पीठ के दाहिनी ओर उत्तर की ओर मुख करके गायक बैठें और उसके आगे उत्तर की ओर दक्षिण मुख करके गायिकाओं के बैठने की व्यवस्था हो तथा उसके बायीं ओर वीणावादक को बैठना चाहिए। अन्यत्र अर्थात् इससे भिन्न स्थानों पर वंशधारक अर्थात् बांसुरी वादन करने वाले बैठें। इस प्रकार 'कुतं शब्दं पाति रक्षति' अर्थात् शब्दों के विशेष पालक अथवा 'कु' भूमिं तापयति' अर्थात् भूमि नाट्यभूमि को प्रकाशित करने वाले वर्ग का जो विचित्र-न्यास अर्थात् विखरे हुए का एक जगह स्थापन प्रत्याहार कहा जाता है।

यद्यपि कुतुप (वाद्य-गायकों के समूह) के विन्यास के मध्य में ही गायकों के अभिमुख रङ्गपीठ के उत्तर की ओर गायिकाएँ बैठें, इस प्रकार का गायिकाओं के बैठने का स्थान बता दिया गया है। फिर भी अवतरण नामक अङ्ग का पृथक् कथन किया गया है अर्थात् रञ्जक वर्ग में अङ्गनाओं के गीत के स्थापन के लिए अवतरण नामक अङ्ग का अलग कथन किया गया है। जैसा कि आगे कहेंगे—

"यद्यपि पुरुष लक्षणों से युक्त गीत-विधान का गायन करता है, फिर भी स्त्रियों के गीत से रहित प्रयोग (अभिनय) सुखद अर्थात् मनोरञ्जक नहीं होता।"
(ना० शा०)

१ क वंशद्वा कावित्येवं ।

२ क. पृथगुक्तमङ्गानां गीतस्यावश्यंभावित्वं ।

३. यह श्लोक नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। काशिसंस्करण में पाठान्तर के साथ एक श्लोक मिलता है।

यस्त्वाह—"नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः" (ना. शा. ५-३२) इति भाविश्लोके केवल-पुरुषाणां गातृत्वं [1]वक्ष्यमाणमिहाशङ्क्येति पृथगवतरणमुक्तमिति। तस्यैतदनवकाशम्। गन्धर्व्यश्च गन्धर्वश्चेत्येकशेषेण स्त्रीगीतस्याप्यत्र संभावनात्। एवमवतरणान्तं वस्तुत एकमेवाङ्गम्। अत एव प्रयोग एक उभयत्र कृतो भवति। यद्वक्ष्यति पुष्कराध्याये (ना. शा. ३४-१९८) "अनुपविष्टेषु मार्दङ्गिकादिषु" इत्युपक्रम्य प्रथमं त्रिसाम।

"त्रिप्रकारं त्रिगुणितं तथा चैवाड्डिताश्रयम्।
त्रिकलं षट्कलं चैव त्रिसाम परिकीर्त्तितम्॥
(ना. शा. ३३-२२०)

त्रिसामान्वितः।

[2]त्रिसामाक्षरपिण्डस्तु गुरुलघ्वक्षरान्वितः।
यकारश्च मकारश्च त्रिकैस्त्रिगुणितो भवेत्॥
(ना. शा. ३३-२२१)

और जो कहा गया है कि–'नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः' अर्थात् 'नारद आदि गन्धर्वों के द्वारा' आगे कहे जाने वाले इस श्लोक में केवल पुरुषों के गायन को कहा जायया, इस आशङ्का से यहाँ अवतरण नामक अङ्ग का पृथक् कथन किया गया है। इसका यहाँ कोई अवसर नहीं है। यहाँ पर "गन्धर्वाश्च गन्धर्व्यश्च इति गन्धर्वाः" इस प्रकार एकशेष द्वन्द्व समास करने से गीत पद से स्त्रीगीत भी संभव है। इस प्रकार अवतरण के अन्त तक वस्तुतः एक ही अङ्ग है, इसीलिए दोनों जगह एक प्रयोग किया गया है। भाव यह कि यहाँ पर प्रत्याहार और अवतरण दो अङ्ग नहीं है अपितु अवतरण पर्यन्त कथन एक ही अङ्ग है। जैसा कि आगे पुष्काराध्याय (ना० शा० ३४।१९८) में कहेंगे—"मार्दङ्गिक, दर्दरिक आदि के बैठ जाने पर" इस प्रकार उपक्रम करके पहले त्रिसाम का प्रयोग करना चाहिए। त्रिसाम का लक्षण निम्न प्रकार है—

"गुरु, लघु एवं प्लुत तथा द्रुत, मध्य, विलम्बित तीन प्रकारों से त्रिगुणित अर्थात् तीन बार आवृत्त, अड्डिता मार्ग के आश्रित त्रिकल और षट्कल से युक्त 'त्रिसाम' कहा गया है।" (ना० शा० ३४।२२०)।

त्रिसाम से युक्त।

"त्रिसाम के अक्षरों का पिण्ड गुरु, लघु अक्षरों से युक्त होता है और यगण (ISS) तथा मगण (SSS) के त्रिकों से त्रिगुणित होता है।" (ना० शा० ३४।२२१)।

१. क. वक्ष्यमाणमिहशङ्केति।

२. क. भ. म. त्रिसामाक्षरान्वितः।

[१]यस्त्रिसामा स प्रत्याहारो [२]यावदवतीर्णकोटीनि । अवतरणकोटौ छन्दसोऽक्षरसमं वामबहिर्गीतानुवर्ति वाद्यं स्त्रोबालमूर्खादिकुतूहलादिजननं प्रयोज्यम् ।
अन्ये मन्यन्ते निवेशनं स्थानस्वरादौ । न तूपवेशनमत्र । तथा च [३]सप्तस्वरपरिग्रहोऽवतरणमितिजात्यादिरूपाङ्गसप्तकेन शुद्धसप्तकेन शुद्धसप्तकगीतिज्ञ-प्रयोज्यमिति । एतद्घनतालविधौ (ना. शा. ३१) वितत्य विचारयिष्यते ।। १७ ।।

जो त्रिसाम है वह अवतरण कोटि पर्यन्त प्रत्याहार है। अवतरण कोटि में छन्दःसम और अक्षरसम बहिर्गीत के अनुवर्त्ती वाद्य अर्थात् छन्दसम अथवा अक्षरसम के समन्वित वाद्य के साथ बहिर्गीत के विधान का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री, बालक, मूर्ख आदि को कुतूहल पैदा करने वाले वाद्य का प्रयोग करना चाहिए।

कुछ आचार्य यहाँ पर उपवेशन का अर्थ बैठना न मानकर स्थान और स्वरों का परिग्रह मानते हैं। इस प्रकार सातों स्वरों का परिग्रह अवतरण है। अतः जाति आदि सात अङ्गों वाले शुद्ध सप्तक से शुद्ध स्वरों का गान करना चाहिए। यह सब घनवाद्य ताल के विधान के अवसर ३१वें अध्याय में विस्तार से कहेंगे ॥ १७ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र के अनुसार वाद्ययन्त्रों का उचित स्थान पर स्थापन 'प्रत्याहार' कहा जाता है। अभिनवगुप्त वाद्ययन्त्रों के साथ गायक-वादकों का समुचित स्थान पर सन्निवेश को 'प्रत्याहार' कहते हैं। नाट्यशास्त्र में ३४वें अध्याय में कुतुप-विन्यास की योजना बताई गई है। तदनुसार सामाजिकों के पूर्वाभिमुख बैठ जाने पर कुतुप का इस प्रकार विन्यास करना चाहिए। तदनुसार नेपथ्य और द्वार के बीच में कुतुप-विन्यास करे। पूर्वाभिमुख मृदङ्गवादक बायीं ओर पणव (ढोल) और दर्दुर वादक, उत्तराभिमुख गायक, गायक के बायीं ओर वीणावादक, वीणावादक के दाहिनी ओर वंशीवादक और गाने वाले के सामने गायिका को बैठाना चाहिए। यह कुतुपन्यास की विधि है। इसी को प्रत्याहार कहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब प्रत्याहार के अन्तर्गत गायक-गायिकाओं के बैठने की व्यवस्था का वर्णन कर दिया गया है तो 'अवतरण' नामक अङ्ग की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए कहते है कि कुतुप के अन्तर्गत गायकों के बैठने का निर्देश है, गायिकाओं के लिए नहीं है। अतः गायिकाओं के निवेशन के लिए अवतरण का निर्देश है। क्योंकि स्त्रियों के गायन के विना प्रयोग रञ्जक नहीं होता। इसलिए स्त्री, बालक, वृद्ध, मूर्ख आदि के मनोरञ्जन के लिए वाद्यों का वादन किया जाता है। कुछ आचार्य यहाँ उपवेशन का अर्थ स्थान, स्वरादि का यथास्थान विन्यास मानते है। तदनुसार जात्यादि सात अङ्गों से युक्त सप्ताङ्ग गीत के साथ शुद्ध सप्तक स्वरों का गान किया जाता है ॥ १७ ॥

१. क-भ. म. यस्त्रिसाम ।　　२. क-भ. म. यावदनिर्णयकोटीनि ।
३. क. सप्तस्वरपरिग्रहोऽवतरणादाशुगत्यादिरूपाऽङ्गसप्तकेन ।

परिगीतक्रियारम्भ आरम्भ इति कीर्तितः ।
आतोद्यरञ्जनार्थं तु भवेदाश्रावणाविधिः ॥ १८ ॥

ननु च यावत् परिगीतक्रियाद्यारम्भो न कृतस्तावत् त्रिसामप्रयोगोऽपि कथम् । सत्यम् । [1]किमर्थमयं प्रयोगक्रम इत्यवधार्यताम् । इह दृष्टार्थान्येव तावदेतान्यङ्गानि । तथा हि–पूर्वं रञ्जकवर्गढौकनं तत एव तद्गीतस्योपरञ्जकस्य प्राधान्यम् । तस्य च बिम्बभूतं शारीरं शारीरस्वराणां मूलत्वात् । तदनुसन्धानायालापाख्यं आरम्भः ।

ततोऽपि मानरूपतालप्रधानसर्वातोद्यगर्भमनुसन्धानमासमन्ताच्छ्रावयतीत्याश्रवणा ॥ १८ ॥

अनुवाद—परिगीत क्रिया अर्थात् आलाप का प्रारम्भ करना 'आरम्भ' कहा जाता है और वादन के पूर्व वाद्ययन्त्रों में एकरूपता लाना 'आश्रवणा' कहा जाता है ॥ १८ ॥

अभिनव—अब यह प्रश्न यह उठता है कि जब तक परिगीत क्रिया का आरम्भ नहीं किया जाता तब तक त्रिसाम का प्रयोग कैसे होगा ? यह बात सत्य है किन्तु यह विचार करिये कि यह प्रयोगक्रम किसलिए है ? यहाँ पर तो ये अङ्ग दृष्ट प्रयोजन के लिए हैं अथवा दृष्टान्त के लिए हैं । जैसे गीतों में पहिले यहाँ रञ्जक वर्ग का उपस्थापन होता है अर्थात् पहले रञ्जक वर्गं को प्रस्तुत किया जाता है फिर उपरञ्जक गीत की प्रधानता होती है । शारीर स्वरों का मूल होने से शारीर स्वर उसका बिम्बरूप होते हैं । उसके अनुसन्धान के लिए आलाप नामक 'आरम्भ' का प्रयोग होता है । आलाप के द्वारा स्वरों का निर्धारण होता है । आलाप ही आरम्भ है अर्थात् शारीर स्वरों का निश्चित क्रम में आलाप 'आरम्भ' है । अभिनव ने सामान्याभिनय के अन्तर्गत शारीर अभिनय को माना है । शारीर अभिनय के आलाप आदि बारह भेद होते हैं । उनमें आलाप प्रमुख है ।

आलाप के साथ वाद्ययन्त्रों के स्वरों की एकरूपता स्थापित करने की क्रिया को 'आश्रवणा' कहते हैं । अभिनवगुप्त ने मानरूप तालप्रधान समस्त वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों में मान कालमान की दृष्टि से अनुसन्धान अर्थात् सामञ्जस्य खोजने का प्रयत्न करना आश्रवणा है । इस प्रकार सभी वाद्ययन्त्रों के स्वरों का सामञ्जस्य स्थापित करना आश्रवणा है अर्थात् इसमें कण्ठ स्वरों के साथ वाद्ययन्त्रों के स्वरों का सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है ॥ १८ ॥

१. क. किञ्चिदर्थममयं ।

वाद्यवृत्तिविभागार्थं वक्त्रपाणिर्विधीयते ।
[1]तन्त्र्योजःकरणार्थं तु भवेच्च [2]परिघट्टना ॥ १९ ॥
तथा [3]पाणिविभागार्थं भवेत्संघोटनाविधिः[4] ।
[5]तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गासारितमिष्यते[6] ॥ २० ॥
[7]कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया ।

ततोऽपि प्रतिबिम्बभूतवैणवस्वरस्वरूपानुसन्धानाय दक्षिणादिवृत्तिभागानुसन्धानात्मना वक्त्रपाणिः । वक्त्रे प्रारम्भे हस्ताङ्गुलिव्यापारः । ततस्तु वृत्तिविभागगतशुष्कप्रयोगानुसन्धानात् ज्यापरिघट्टना । घट्ट चलन इति पाठात् ॥ १९ ॥

अनुवाद—वाद्यों की विभिन्न वृत्तियों के विभाग के लिए 'वक्त्रपाणि' का विधान किया जाता है और वीणा आदि तन्त्रीवाद्यों का ओजपूर्ण करने के लिए 'परिघट्टना' का विधान किया जाता है ॥ १९ ॥

अभिनव—प्रतिबिम्बभूत वीणा अथवा वेणु के स्वरों के स्वरूप के सन्धान के लिए अर्थात् वीणा अथवा वेणु (बांसुरी) के स्वरों का अन्य वाद्य स्वरों के साथ मिलान करते हुए उनके स्वरूप का अनुसन्धान कर दक्षिण आदि वृत्तियों का अर्थात् दक्षिण, चित्र और वार्त्तिक वृत्तियों के विभाग का अन्वेषण (सारणा) करना 'वक्त्रपाणि' है। इस प्रकार वक्त्र में अर्थात् प्रारम्भ में हाथ की अङ्गुलियों का संचालन करना 'वक्त्रपाणि' है। इसमें प्रारम्भ में हाथ की अङ्गुलियाँ तन्त्रीवाद्यों पर संचालित होती हैं और स्वरों का वृत्तियों के अनुसार अन्वेषण किया जाता है।

इसके बाद तन्त्रीवाद्यों की ज्या के घट्टन अर्थात् घर्षण से दक्षिणादि वृत्तियों के विभागों में शुष्काक्षर प्रयोग (धुन) का अन्वेषण (सारणा) करना 'परिघट्टना' है। जहाँ पर अक्षरों का प्रयोग अर्थहीन अथवा शुद्ध स्वरमूलक होता है उसे शुष्काक्षर कहते हैं। इसमें तन्त्री स्वरों के वादन के लिए अङ्गुलियों का घर्षण आवश्यक होता है और तन्त्री का घर्षण तीव्र गति से होता है ॥ १९ ॥

१. ख. तन्त्र्येजस्तरणार्थम् । क-अ. तद्योज्यकरणार्थं च । क-म. तन्त्रोजस्तरणार्थम् ।
क-न. तन्त्रेजस्करणार्थंम् । २. क-अ. भवेत्तु परिघट्टनम् ।
३. क-त. पाणिविधानार्थं ।
४. क-अ. ब. भवेत्सङ्खोटनाविधिः ।
५. क-त. तन्त्रीभाण्डसमायोगो ।
६. ख-घ. मार्गोत्सारितमिष्यते ।
७. ख. कालपातविभागार्थं । क-त. कलापादविभागार्थं । क-म. कलाभागविभागार्थं ।

पश्चाद्वीणावाद्योपजीवकत्वादवनद्धस्यानुसन्धानसंवाद्यादिना प्रहरपञ्चक-योगेन क्रियत इति सङ्घोटना। घुट परिवर्तने। यतः पुष्कराध्यायेऽभिवक्ष्यते—

पूर्वं शरीरादुद्भूता ततो गच्छति दारवीम्।

ततः पुष्करजं चैवमनुयान्ति घनं पुनः।' (ना. शा. ३४-३१) इति।

ततोऽपि प्रकृतिमेव यन्मानानुहार्यानुहर्तृरूपस्य वैणवपौष्करशब्दस्य परस्परसंमेलनं कार्यमिति मार्गासारितम्। मार्गे प्रकृत्यादिलक्षणादिगोचरे विकाररूपस्य (?) पुष्करवाद्यस्यासमन्तात्सारणं गमनं यत्रेति ॥ २० ॥

पश्चान्मेयमानस्वरूपे तु संहिते गेयवस्तुहततालस्वरूपोपक्षेपः। कलाना-मावापाद्यानां पातानां शम्यादीनां चानुसन्धितेत्यासारितविधिः। एवं तावदन्तर्यवनिकाङ्गानां दृष्टार्थ एव प्रयोगः। [3]तान्यन्तरेण प्रयोग स्यैवासम्पत्तेः। तथा च [4]हेज्जलनाम्ना कविना निजपद्ये उक्तम्—

अनुवाद—हाथ के विभागों का प्रयोग करना अर्थात् हाथ से वाद्यों पर प्रहार करना अथवा हस्तप्रहार के द्वारा वाद्यों पर संगत करना 'संघोटना' है और तन्त्री तथा भाण्डवाद्यों का समवेत प्रयोग करना 'मार्गासारित' होता है। कला और पात के विभाग के लिए 'आसारित' क्रिया की जाती है ॥ २०-२१(१) ॥

अभिनव—इसके बाद वीणा वाद्य के उपजीवक होने से अर्थात् अन्य वाद्यों पर निर्भर रहने के कारण वीणा वाद्य में संवादी स्वरों के साथ पाँचों अङ्गुलियों के प्रहारों के योग से अवनद्ध वाद्य का अनुसन्धान करना 'संघोटना' है। इसमें तन्त्रीवाद्य और भाण्डवाद्यों का साथ-साथ प्रयोग होता है। घुट धातु का परिवर्त्तन अर्थ है। जैसाकि पुष्कराध्याय में कहेंगे—

"स्वर पहिले शारीर वीणा से उत्पन्न होकर फिर दारवी वीणा में जाता है, उसके बाद पुष्कर वाद्य का अनुवर्त्तन करता है।" (ना० शा० ३४।३१)।

उसके बाद अनुहार्य एवं अनुहर्त्तृ रूप में वैणव तथा पुष्कर वाद्यों के शब्दों का परस्पर सम्मेलन (मिलान) करना 'मार्गासारित' है। इसमें वैणव वाद्य स्वरों का वीणा के स्वरों के समान पुष्कर-वाद्यों से उसका अनुकरण किया जाता है। अभिनवगुप्त व्युत्पत्ति के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं—'प्रकृत्यादि लक्षण के विषयरूप मार्ग में अर्थात् प्रकृत मार्ग में विकार रूप पुष्कर वाद्य का चारों ओर से सारण (गमन) जहाँ पर होता है उसे 'मार्गासारित' कहते हैं ॥ २० ॥

---

३. क-म. भ. नात्यन्तरेण। जात्यन्तरेण। ४. क. भेज्जल।

"मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधौ" इत्यादि ।

एवं दृष्टार्थे प्रयोगे पूर्वं कृते पश्चात् दृष्टार्थाङ्गानुसारेणैव बहिर्गीतविधिः । तदनुसारेण च [1]तन्निवेशगीतवाद्यविधिः । तत्र प्रत्याहारावतरणयोस्त्रिसाम्ना प्रयोगः । रङ्गपीठस्य [2]तिसृषु दिक्षु कुतपविन्यासात् ।

तालस्त्रिकलस्त्वादौ शम्यैककला कलाद्वये तालः ।
द्विकला च पुनः शम्या तालो द्विकलस्तु कर्तव्यः ॥ (ना. शा. २९।९१)
[3]द्विकलश्च सन्निपातः पुनः पिता पुत्रकश्च षट्पूर्वः ।
चञ्चत्पुटस्तथा चेदारम्भे तालयोगस्तु । (ना. शा. २९।९२)

इसके बाद मेय और मान के स्वरूप का अनुसन्धान कर लेने पर गेय वस्तु में ताल के स्वरूप का उपक्षेप तथा आवाप आदि कलाओं एवं शम्या आदि पातों का अनुसन्धान करना 'आसारित' विधि है। इस प्रकार शम्या आदि पात क्रिया के द्वारा आवाप आदि कलाओं के पतन काल की गिनती करना 'आसारित' क्रिया कहीं जाती है।

इस प्रकार अन्तर्यवनिका अर्थात् यवनिका के अन्दर अङ्गों का प्रयोग अर्थात् प्रत्याहार से लेकर आसारित क्रिया तक अङ्गों की योजना यवनिका के भीतर दृष्टफल के लिए होती है। उसके बिना प्रयोग सम्पन्न नहीं हो सकता। जैसाकि हेज्जल नामक कवि ने कहा है कि—

"नगाड़े की ध्वनि को मेघ की ध्वनि समझकर मोर नाच रहा है, मानों मोरों को ताण्डव नृत्त की शिक्षा में आचार्यत्व प्राप्त है……" इत्यादि स्थल पर वाद्यों तथा गीतों का परस्पर मिलान हो रहा है।

इस प्रकार दृष्टार्थ का प्रयोग पहिले किये जाने पर बाद में दृष्टार्थ अङ्गों के अनुसार ही बहिर्गीत की विधि की जाती है। उसके अनुसार ही उनके निवेश, गीत और वाद्य की विधि की जाती है। वहाँ प्रत्याहार और अवतरण में त्रिसाम के द्वारा प्रयोग होता है। क्योंकि वहाँ रङ्गपीठ पर तीनों दिशाओं में कुतुप का विन्यास है। पाठभेद के अनुसार चारों दिशाओं में कुतुप का विन्यास है।

"आरम्भ में पहिले त्रिकल ताल फिर एककल शम्या, फिर द्विकल ताल, फिर द्विकल शम्या फिर द्विकल ताल का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद द्विकल सन्निपात क्रिया फिर षट्पितापुत्रताल फिर चच्चत्पुटताल का प्रयोग होना चाहिए।" (ना० शा० २९।९१-९२)।

---

१. क. तानि विशेषधातुवाद्ये विधिः । क-म. भ. तानि वाद्ये विधिः ।
२. क-म. भ. रङ्गपीठस्येति चतसृषु । ३. क. त्रिकलश्च ।

त्रिःशम्योपरिपाणौ तालावित्येवमेककलः ।
समपाणौ द्वे शम्ये तालावप्येवमेवाथ ।। (ना. शा. २९।८७)
भूयश्शम्या तालाववपाणावुत्तरस्तथा चैव ।
चञ्चत्पुटस्तथा स्यादेवं ह्याश्रावणातालः ।। (ना. शा. २९।८८)
शङ्कुकस्तु पठति "उत्तरस्तथा चैव" इति स्थाने "उत्तरस्तथा द्विकलः" इति, "एककल" इत्यत्र च स्थाने "निर्दिष्ट" इति ।

केचिच्चाष्टाविंशेऽध्याये (२९-८६) आश्रावणायाः पूर्वमभिमानादिह चारम्भस्य पूर्वपाठाद् ज्ञापकाद्विकल्पमिच्छन्ति । अतः सर्वातोद्यस्वरूपानुसन्धिनिर्गीतालापक्रिया चेति (निर्गीततालप्रक्रिया चेति ?) ।

"द्विकले मद्रके यत्तु शम्यातालादियोजनम् ।
तत्सर्वं वक्त्रपाणौ तु कार्यमष्टकले मुखे ।। (ना. शा. २९-९८)
तस्याधस्तात्पुनः कार्यं पञ्चपाणिचतुष्टयम् ।
वक्त्रपाणेरयं तालो मुखप्रतिमुखाश्रयः ।।" (ना. शा. २९-९९)

"आश्रवणा में पहिले उपरपाणि में तीन बार शम्याक्रिया फिर एक-एक करके दो ताल अथवा एककल दो तालों का प्रयोग होता है इसके बाद समपाणि में दो शम्या क्रिया, फिर उसी प्रकार दो ताल तथा अवपाणि में शम्याक्रिया फिर दो ताल अर्थात् पहिले गीत फिर वाद्य षट्कल पञ्चपाणि तथा चञ्चत्पुट ताल का प्रयोग होता है। इस प्रकार आश्रवणा की निष्पत्ति होती है।" (ना० शा० २९।८७-८८) ।

आचार्य शङ्कुक 'उत्तरस्तथा चैव' के स्थान पर 'उत्तरस्तथा द्विकलः' पाठ मानते हैं। इसी प्रकार 'एककल' के स्थान पर 'निर्दिष्ट' पाठ मानते हैं। इस प्रकार आश्रवणा अष्टविंशतिकला की होती है। चञ्चत्पुटताल में भी द्विकल पाठ मानकर आश्रवणा को द्वात्रिंशत्कल मानते हैं।

कुछ आचार्य २८वें अध्याय में 'आश्रवणा' के प्रथम कथन होने से और यहाँ पर 'आरम्भ' का प्रथम कथन होने के कारण ज्ञापन से यह विकल्प चाहते हैं अर्थात् उनका कहना है कि २८वें अध्याय में आश्रवणा का प्रथम कथन किया गया है और यहाँ पर आरम्भ का प्रथम कथन है, इस प्रकार ज्ञापन होने से विकल्प की कामना करते है अर्थात् विकल्प मानते है। इसलिए समस्त वाद्यों के स्वरूप की अनुसन्धि निर्गीत आलाप क्रिया यहाँ होती है।

"जो कि द्विकल मद्रक गीत में शम्या और ताल आदि की योजना होती है उन सबकी वक्त्रपाणि में आठ कलाओं से युक्त करनी चाहिए। फिर उसके बाद अर्थात् अष्टकल वक्त्रपाणि के प्रयोग के बाद चार पञ्चपाणि ताल का प्रयोग करे। इस प्रकार वक्त्रपाणि नामक यह ताल मुख (अष्टकल) और प्रतिमुख (चतुर्विशकल) पर आश्रित होता है।" (ना० शा० २९।९८-९९) ।।

केचित्तु [1]वक्त्रपाण्यर्धगतमिच्छन्ति तैर्वस्तुक्रमो वृत्तिशब्दश्च न चर्चितः। संपिष्टकवच्चास्यास्ताल (ना. शा. २९-११२) इति परिघट्टनातालः।
तत्र—सप्ताङ्गे द्वादशकलं द्वादशाङ्गे दशैव तु।
निष्क्राममादितः कृत्वा शम्यास्तिस्रः प्रयोजयेत्॥ (ना० शा० ३१।२८८)
तालत्रयं ततश्चैव शम्यातालौ ततः परम्।
[2]शम्यातालौ ततः कार्यौ सन्निपातोऽन्त्य एव च॥ (ना०शा० ३१।२८९)
ओवेणके तु सप्ताङ्गे सम्पिष्टकमिदं मतम्।
द्विशम्यातालयोगेन द्वादशाङ्गे कला दश॥" (ना० शा० ३१।२९०)
शङ्कुकस्तु—"[3]सम्पक्वेष्टकवदस्यास्ताल" (ना० शा० २९।१०८) इति पठति।
"तालादिस्त्र्यश्रभेदोऽन्यो ज्ञेयः पक्वेष्टको बुधैः।
[4]गुरुपञ्चाक्षराद्यन्तप्लुतमात्रासमन्वितः॥" (ना० शा० ३१।२१) इति,

कुछ लोग तो वक्त्रपाणि के अर्धभाग में उक्त ताल को मानते हैं। उन्होंने वस्तुक्रम और वृत्ति शब्द की चर्चा नहीं की है। इस परिघट्टना का ताल संपिष्टक के समान होता है। संपिष्टक का लक्षण इस प्रकार है—

"यहाँ पर सप्ताङ्ग में द्वादशकल ताल का और द्वादशाङ्ग में दशकल ताल का प्रयोग करना चाहिए। इसमें सर्वप्रथम निष्क्राम क्रिया करके फिर तीन शम्या क्रिया की योजना करे, फिर तीन ताल, फिर शम्या और ताल, फिर उसके बाद शम्या और ताल का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद अन्त में सन्निपात क्रिया का प्रयोग करे। इस प्रकार सप्ताङ्ग ओणवेक गीत में सम्पक्वेष्टक माना गया है। कुछ लोग दो बार शम्या और ताल (क्रिया) के योग से द्वादशाङ्ग में दश कलाएँ मानते हैं।" (ना० शा० ३१।२८८-२९१)।

शङ्कुक तो 'इस परिघट्टना का ताल संपक्वेष्टक ताल के समान होता है', इस प्रकार पाठ मानते हैं।

"त्र्यस्र ताल का एक भेद संपक्वेष्ट नामक है जिसमें पाँच गुरु अक्षर और आदि तथा अन्त में प्लुत होता है" अर्थात् संपक्वेष्टकताल में आदि और अन्त में प्लुत तथा मध्य में तीन गुरु होते हैं (ऽ̇ S S S ऽ̇)। (ना० शा० ३१।२१)।

१. क. वक्त्रवार्धगतमिच्छन्ति।
२. क-म. भ. शम्यातालौ सन्निपातः सम्पिष्टकमिदं मतम्।
विशम्यतालयोगा तु द्वदशाङ्गे कला दश॥
३. संपिष्टकवच्चास्याः तालः। क-म. भ. सम्पन्नेषु यस्यास्ताल इति।
४. क. गुरुपञ्चाक्षराभ्यान्तु।

अन्ये तु पठन्ति—

"[1]गुरुपञ्चाक्षरेऽन्ते च प्लुतमात्राद्वयान्वितः ।" इति ।।

पक्वेष्टकस्य तथैव [2]प्लुतद्वयेत्यर्थो न सङ्गतः ।

तथा द्वौ [3]सम्पिष्टशब्दे तु वत्करणवाचकं शीर्षकवदितिवत् । नहि तस्य च तदानीमङ्गता । केवलप्रयोगात्प्रकरणं चात्र साक्षी । [4]शीर्षकवद्बालासारितवदिति चानयोर्मध्ये पठितमेतत् ।

सङ्घोटनायां तालस्तु शीर्षवत्पञ्चपाणिना । (ना० शा० २९।१०४) अनयोरप्यङ्गयोः पूर्ववत्केचित्क्रमविकल्पमिच्छन्ति ।

"बालासारितवच्चैव तालोऽस्य परिकीर्तितः ।" (ना० शा० २९।११०) इति मार्गासारितस्य तालः । अभिसृतपरिसृतान्यप्यत्र मार्गासारितमध्य एव तत्स्थाने वा विकल्पेन प्रयोक्तव्यानि । लीलाकृतं नाम [5]यत्ततातोद्यविधौ (ना० शा० २९।११) वक्ष्यते तदिह न सङ्गृहीतम् । आसारितायां च त्रयाणां स्वत एकस्तालाध्याये (ना. शा. ३१-१५६-१८९) वितत्य वक्ष्यत इत्येवं प्रयोगक्रमः ।

अन्य आचार्य कहते है कि—

"दो प्लुत मात्राओं से युक्त पाँच गुरु अक्षरों का सम्पक्वेष्टक ताल होता है ।" किन्तु संपक्वेष्टक ताल में पाँच गुरु तथा अन्त में प्लुतद्वय यह पाठ सङ्गत नहीं है ।

संपिष्टक शब्द में तो शीर्षक के समान 'वत्' करण वाचक है । उस समय उसकी अङ्गता नहीं होती और यहाँ केवल प्रयोग से प्रकरण साक्षी है । शीर्षकवत् तथा बालासारितवत् के मध्य में इसका पाठ है ।

सङ्घोटना का लक्षण—

"सङ्घोटना में शीर्ष की तरह पञ्चपाणि ताल होता है ।" (२९।१४२) ।

इन दोनों अङ्गों में कुछ आचार्य क्रम में विकल्प मानते है ।

"इस संघोटना का ताल बालासारित अर्थात् कनिष्ठासारित की तरह होता है ।" (ना० शा० २९।११०) ।

इस प्रकार यहाँ पर मार्गासारित ताल होता है । अभिसृत और परिसृत आसारित के भेदों का भी यहाँ मार्गासारित के मध्य में अथवा उसके स्थान पर विकल्प से प्रयोग करना चाहिए । "आतोद्य-विधान में लीलाकृत का प्रयोग करना चाहिए"

---

१. क-म. भ. गुरुपश्चाक्षरे ते च ।

२. क. तालाद्यद्वयेत्यर्थो । क-म. भ. तालाद्यवत्यर्थो ।

३. क. सम्पिष्टशब्दवत्कारणवाचकम् ।

४. क-म.भ. शीर्षकवज्जबालासरितवदिति ।

५. क. यत्तदातोद्यविधौ ।

अत एव पूर्वरङ्गे सद्भावमात्रेण [1]सप्रत्याहारादावपि सामान्यलक्षणमनुगतमेव। अत्र च शुष्काक्षरधातुवाद्यविधिरष्टाविंशेऽध्याये ततातोद्यविधौ भविष्यति 'त्रिसाम्नि' पुष्कराध्याये (ना. शा. ३४) तत एवावधार्यमिति। विस्तरभयात्तु न लिखितम्।

अत्र च वैचित्र्यार्थं समुचितमात्रमित्यादिप्रवृत्तिमपि भाविरूपकोचितं काव्यमपि पठ्यमानं केचिदिच्छन्ति। तथा हि सति "पाठ्ययोगकृतैस्तथा" (ना० शा० ५-८) इति न सङ्कोचितं भविष्यति। युक्तं चैतत्। यथा हि रमणीयाद्युपकरणभूतशयनविरचनादौ प्रतिपादुकस्तम्भधूपवस्त्रादिष्वपि तदुचितनायकयुगलादिप्रायविचित्राकृतियोगो युद्धोचितसन्नाहकङ्कटादौ च कातरजनभयभावनं नृसिंहगरुडादिरचनाकृतियोगस्तथैव ह्यतिरमणीये नाट्ये भविष्यन्ति (भविष्यति) यदुपरञ्जकवर्गढौकनादौ—[2]एतदपि सुकुमारतदुक्तगीतपाठ्याभिनययोगेनैव

यह आगे कहेंगे—इसलिए उसका यहाँ संग्रह नहीं किया है।[3] ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ तीन प्रकार के आसारितों को आगे तालाध्याय में विस्तार से कहेंगे, इस प्रकार यह प्रयोग का क्रम है। इसलिए पूर्वरङ्ग में सद्भाव मात्र से प्रत्याहार आदि अङ्गों में भी सामान्य लक्षण का अनुगमन हो गया है। यहाँ शुष्काक्षर और धातु वाद्यों की विधि २८वें अध्याय में 'तत' नामक आतोद्य (वाद्य) अर्थात् तन्त्रीवाद्य के विधान में कहेंगे और पुष्कराध्याय में 'त्रिसाम्नि' इस रूप में कहा जायगा। वहीं पर समझना चाहिए। विस्तार के भय से उसका यहाँ निरूपण नहीं कर रहे हैं।

---

१. क. सप्रत्याहारकावपि। २. क-म. भ. एकदापि।

३. नाट्यशास्त्र के २९वें अध्याय में पूर्वरङ्ग में लीलाकृत के प्रयोग का विधान बताया गया है किन्तु यहाँ पूर्वरङ्ग के विधान में उक्त नाम भी कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यहाँ पर मार्गासारित और लीलाकृत में वैकल्पिक प्रयोग का विधान है अर्थात् चाहे मार्गासारित का प्रयोग किया जाय अथवा चाहे लीलाकृत का। आसारित के मध्य में ही इसका संग्रह है, ऐसा कहा जाता है। जैसाकि २९वें अध्याय में कहेंगे-

श्रवणमधुराणि लीलाकृतान्यभिसृतपरिसृतान्तरकृतानि।
तान्यप्यर्थवशादिह कर्त्तव्यानि प्रयोगविधौ॥
(ना० शा० २९।१११)।

यहाँ पर अभिसृत और परिसृत को आसारित का भेद कहा गया है। आसारित के तीन भेद हैं—ज्येष्ठासारित, मध्यमासारित और कनिष्ठासारित। इसमें कनिष्ठासारित को बालासारित कहते हैं। अभिसृत और परिसृत भी आसारित के भेद हैं। बालासारित अर्थात् अपसृत अथवा परिसृत ताल के योग के द्वारा सुकुमार एवं मधुर रूप से प्रयुक्त गीयमान पद और वाद्यों की योजना करनी चाहिए।

कार्यम्। तच्चापसारितायामेव यवनिकायानुत्थापनाङ्गमध्ये ह्यस्यैककलः पाठ्यसहितः प्रयोगः। तथा हि वक्ष्यति "यस्मादुत्थापयन्ति" इत्यादि। रङ्गे यः पूर्वं प्रयोगः कृतः प्रत्याहारादिस्तं यस्मादुत्थापयन्ति फलस्वरूपनिरूपकपाठ्यतदभिनयादिना स्फुटीकुर्वन्ति तस्मादित्यर्थः। पाठ्यावकाशदानार्थमेव चात्रेदं देवतास्तुतिगीतिफलविशेषाभिधानम्। अन्यथा देवतापरितोषायैतत्प्रयोज्यमिति सामान्येन वक्तव्यं स्यात्। विशेषोपदेशस्य प्रयोगे विफलत्वात्।

अन्ये तु प्रत्यङ्गं पश्चात्तत्प्रयोगमाहुः तैस्तु प्रयोक्ता कस्तदेति निरूप्यम्। अत्र त्विदमित्यर्थः। कृतमित्युक्तिभङ्ग्या पाठ्यं तद्गीतप्रयोगः पदयुक्तोऽपि केवलमन्तर्यवनिकागतप्रत्याहारादिविषयत्वात्पाठ्ययोगादीनामप्यन्तर्यवनिकार्थमुच्यते। एवं नवाङ्गान्युक्तानि।

यहाँ पर कुछ लोग वैचित्र्य के लिए केवल समुचित है, इत्यादि प्रवृत्ति को भी भावी रूपक के योग्य पढ़े जाने वाले काव्य की इच्छा करते हैं अर्थात् पूर्वरङ्ग केवल वैचित्र्य मात्र के लिए है, इसलिए उसमें प्रवृत्ति तथा भावी रूपक (नाटकोचित) काव्य को चाहते हैं। वैसा होने पर "पाठ्ययोगकृतैस्तथा" यह नियम समुचित नहीं होगा। यह ठीक है, जैसे कि रमणीय उपकरण रूप शयन, विरचन आदि में प्रतिपादुक, स्तम्भ, धूप, वस्त्र आदि में भी तथा उसके योग्य नायक-नायिका आदि के विचित्र आकृतियों के योग और युद्ध के योग्य कवच, अङ्कुश आदि में कायर लोगों में भय उत्पन्न करने वाले नृसिंह, गरुड़ आदि की आकृतियों के निर्माण का योग, उसी प्रकार अत्यन्त रमणीय नाट्य में उसके उपरञ्जक वस्तुओं के उपस्थापन आदि में यह सब भी यवनिका से पर्दे हटा दिये जाने पर उत्थापना नामक अङ्ग के बीच में एककल का पाठ्य (संवाद) के साथ प्रयोग करना चाहिए। जैसाकि आगे 'यस्मादुत्थापयन्ति' इत्यादि में कहेंगे। रङ्ग पर प्रत्याहार आदि का जो प्रयोग किया गया है उसे जिससे उत्थापन करते हैं उससे फल के स्वरूप-निरूपक पाठ्य और उसके अभिनय आदि के द्वारा स्फुट करेंगे। पाठ्य में अवकाश (अवसर) प्रदान करने के लिए यहाँ पर देवताओं की स्तुति, गीत तथा उसके फल विशेष का अभिधान करेंगे। अन्यथा देवता के परितोष के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए, यह सामान्य रूप से कहना चाहिए। क्योंकि विशेष रूप से कथन निष्फल है।

अन्य लोग तो प्रत्येक अङ्ग के बाद उसका प्रयोग कहते हैं। उनके मत में कौन प्रयोक्ता है यह निरूपण करना है। 'कृतम्' इस कथन की शैली पाठ्य, उसको गीत में प्रयोग पद युक्त होने पर भी केवल यवनिका के भीतर प्रत्याहारादि विषयक पाठ्य आदि का भी यवनिका के भीतर प्रयोग के लिए कहा जाता है। इस प्रकार ये प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त नौ अङ्ग कहे गये हैं।

कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो [1]गीतविधिस्तथा ॥ २१ ॥
[[2]अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।]
यस्मादुत्थापयन्त्यत्र[3] प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥

अथ "विघाट्य वै यवनिकाम्" (ना शा. ५-१२) इत्यादिना यद्गीतकविध्याद्यङ्गदशकं दर्शितं तत्क्रमेण लक्षयति—कीर्त्तनादित्यादि ।

कीर्तनं स्तुतिः । तस्मात्पाठ्याद्धेतोः । ततः पर शुष्काक्षरनिर्वृत्तशब्देन निर्गीतकानामन्यतमं वर्धमानं वा । तत्र च तालस्तालाध्याये एकत्रिंशे वक्ष्यते ॥२१॥

यस्मादिति । तत्र प्रत्याहारादीनि चेत् अत्र प्रयोज्यानि तत्पूर्वरङ्ग इत्यनुवादोऽयं स्यात् । क्रमस्य सिद्धत्वात् । नान्दिपाठका इति । तदुपलक्षितपूर्वक्रमद्वारेणैव[4] पुराणकवयो लिखन्ति स्म "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इति ॥ २२ ॥

इसके बाद यवनिका को हटाकर (ना० शा० ५।१२) इत्यादि के द्वारा जो गीतकविधि आदि दश अङ्गों को दिखाया गया है, उनका क्रम से लक्षण लिखते हैं—

अनुवाद– देवताओं के कीर्त्तन के लिए गीतक विधि का प्रयोग किया जाता हैं ॥ २१ ॥

अभिनव--कीर्त्तन का अर्थ स्तुति है। कीर्त्तन में हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। इसके बाद शुष्काक्षर शब्द से निर्गीतकों में से किसी एक का अथवा वर्धमान गीत का प्रयोग करना चाहिए। इसके उपयोगी तालों का निरूपण ३१वें अध्याय में करेंगे ॥ २१ ॥

अनुवाद—क्योंकि नान्दी पाठ करने वाले इस रंगमञ्च पर सबसे पहिले प्रयोग (अभिनय) का उत्त्थापन करते हैं। इसलिए इसे उत्त्थापन कहते हैं ॥२२॥

अभिनव—वहाँ (रङ्ग पर) यदि प्रत्याहार आदि अङ्गों का प्रयोग करना है तो उसे पूर्वरङ्ग विधान में करना चाहिए। क्योंकि क्रम तो सिद्ध है। नान्दी का पाठ करने वाले से तात्पर्य है कि उससे उपलक्षित पूर्वरङ्ग के क्रम के द्वारा ही नान्दी पाठ करना चाहिए। इसलिए प्राचीन कवियों ने लिखा है कि "नान्दी के अन्त में सूत्रधार प्रवेश करता है" ॥ २२ ॥

१. क-त. गेयविधिस्तथा ।

२. [अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।] यह आधा श्लोक कुछ संस्करणों में नहीं मिलता है और इसकी व्याख्या भी नहीं की गई है और इसकी उपयोगिता भी नहीं दिखाई देती। क्योंकि इसके पूर्व गीतक का लक्षण दिया गया है जो यवनिका के बाहर रङ्ग पर किये जाने वाले दश अङ्गों में से एक अङ्ग है उसका द्वितीय अङ्ग उत्थापन है। अतः गीतक के लक्षण कहने के बाद उत्त्थापन का लक्षण कहना चाहिए।

३. ख. ग. घ. आदौ यस्मादुत्थापयन्त्यादौ । ४. क-भ. तदुपलक्षितपूर्वद्वारेणैव ।

यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य[1] चतुर्दिशम् ।
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च[2] परिवर्तनम् ॥ २३ ॥
आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते[3] ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता[4] ॥ २४ ॥

अहरहश्चैषां प्रयोगे प्रयोज्या । एवं च नित्यमेवंरूपमेव । अन्यपाठ्यानामुत्थापनादीनां प्रयोगवशादन्यथात्वोपपत्तिर्दृश्यते । न तु नान्दीपाठस्येति नित्यशब्दस्याभिप्रायः । आदिग्रहणात्प्रेक्षापतिप्रभृतयः । एषैव च नान्दी भारत्यङ्गनिरूपणे प्ररोचनेति निर्देक्ष्यते–"जयाभ्युदयिनी चैव मङ्गल्या" (ना. शा. २०-२७) इत्यादिना ।

अनुवाद—क्योंकि सूत्रधार चारों ओर घूमकर इन्द्रादि लोकपालों की बन्दना करता है । इसलिए उसे 'परिवर्त्तन' कहते हैं ॥ २३ ॥

अनुवाद—क्योंकि जहाँ पर देवता, द्विज, राजा आदि के आशीर्वचनों से युक्त नित्य स्तुति की जाती है इसलिए उसे 'नान्दी' कहते हैं ॥ २४ ॥

अभिनव—श्लोक में पठित नित्य शब्द का अभिप्राय है कि प्रतिदिन अभिनय के प्रयोग में नान्दी का पाठ करना चाहिए । इस प्रकार नित्य उसी प्रकार उसी रूप में पाठ करना चाहिए । उत्थापन आदि अन्य पाठों की तो प्रयोगवश अन्यथा उपपत्ति भी देखी जाती है अर्थात् पूर्वरङ्ग के उत्थापन आदि अन्य अङ्गों का तो कभी-कभी प्रयोग नहीं भी होता है । किन्तु नान्दी पाठ की यह स्थिति नहीं है । नान्दी का तो नित्य प्रयोग करना चाहिए । यह नित्य शब्द का अभिप्राय है । 'देवद्विजनृपादीनां' में आदि शब्द से प्रेक्षापति प्रभृति का ग्रहण होता है । यही नान्दी भारती वृत्ति के अङ्गों के निरूपण में प्ररोचना नाम से निर्दिष्ट किया जायगा अर्थात् भारती वृत्ति के अङ्गों के निरूपण में नान्दी का प्ररोचना नाम से निर्देश करेंगे—

"पूर्वरङ्ग में प्रयोग की जाने वाली प्ररोचना जय, अभ्युदय, मङ्गल और विजय को देने वाली तथा समस्त पापों को नष्ट करने वाली है ।" (ना० शा० २८।१२) ।

---

१. क-अ. परिवर्त्य । २. ख. घ. तस्मात्तु । क-अ. त. तस्माद्धि ।

३. ख. घ. प्रवर्तते । क-ब. प्रपूज्यते ।

४. इतः परं ग. पुस्तके–"नान्दीपदानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं प्रयोज्यं प्रागुक्तलक्षणम् । अन्ये तु—गीतप्रयोगादनन्तरं शुद्धे चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानप्रयोगमिच्छन्ति" । इत्यधिकं दृश्यते ।

अत्र[1] शुष्काक्षरैरेव ह्यवकृष्टा[2] ध्रुवा यतः ।
तस्माच्छुष्कावकृष्टेयं[3] जर्जरश्लोकदर्शिका[4] ॥ २५ ॥

इह तु या प्ररोचना सा तत्र भविष्यति। अत्र नान्दीपदानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं यत्प्रयोज्यं तत्पञ्चममङ्गं गणयति।

नन्वेवं गीतकविधिः प्रथमाङ्गानन्तरमन्याङ्गमध्येऽपि च वर्धमानप्रयोगस्य चित्रेऽपि भावात्सङ्ख्याया अनवस्थानं न पदेऽपतदिति न पुनर्गणनार्हमिति न दोषः इति केचिदाहुः ॥ २४ ॥

यहाँ पर तो वह नान्दी है। वहाँ पर वही प्ररोचना माना गया है। यहाँ पर नान्दी पदों के बाद चित्रपूर्वरङ्ग विधि में जो वर्धमान का प्रयोग किया जाता है उसे पाँचवा अङ्ग गिना जाता है।

विशेष—यहाँ पर कुछ संस्करणों में निम्नलिखित पाठ अधिक मिलता है—

"नान्दीपदानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं प्रयोज्यं प्रागुक्तलक्षणम्। अन्येतु—गीतकप्रयोगादनन्तरं चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानप्रयोगमिच्छन्ति।"

अर्थात् नान्दी पाठ के अवसर पर नान्दी के पदों के मध्य में चित्र नाम के पूर्वरङ्ग में वर्धमानक का प्रयोग करना चाहिए जिसका लक्षण पहिले कहा जा चुका है। भरत के समकालीन अन्य आचार्यों ने गीतक के प्रयोग के अनन्तर शुद्ध और चित्र दोनों प्रकार के पूर्वरङ्ग में वर्धमानक का प्रयोग माना है।

अभिनव - अब प्रश्न यह उठता है कि जब शुद्ध और चित्र दोनों प्रकार के पूर्वरङ्गों में वर्धमानक का प्रयोग होगा तो संख्या में अनवस्था दोष हो जायगा, इस पर कहते हैं कि वर्धमान गीतक विधि का प्रथम अङ्ग प्रत्याहार के बाद अथवा किसी अन्य अङ्गों के मध्य में और चित्र पूर्वरङ्ग में भी वर्धमानक गीत का प्रयोग होने से संख्या का अनवस्थान नहीं होगा, इसलिए फिर गणना करने की आवश्यकता नहीं है, अतः यहाँ कोई दोष नहीं है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं ॥ २४ ॥

अनुवाद—यहाँ पर अवकृष्टा ध्रुवा शुष्काक्षरों से संयोजित की जाती है इसलिए इसे शुष्कावकृष्टा ध्रुवा कहते हैं। यह ध्रुवा जर्जर श्लोक की दर्शिका है ॥ २५ ॥

---

१. ख. यत्र। क-अ. अयं श्लोको नास्ति। २. ख. घ. ह्यपकृष्टा।

३. ख. अवकृष्टेव। घ. अपकृष्टेव।

४. ख. घ. दर्शिता। इतः परं क-थ. त. पुस्तके—"न च गुर्वक्षराणीह षड्लघूनि द्वयं गुरोः। शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला त्वष्टौ प्रमाणतः॥ यथा—दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जंबुक जगतिकझष्टुम्" इत्यधिकं दृश्यते।

([1]शुष्कावकृष्टैवादिष्टा। असावेव च लक्षिता। अवकृष्टायास्त्वनुवादद्वारेण लक्षणं मन्तव्यम्। अन्यथा वक्ष्यमाणं)

"युक्तायामपकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि।
तथा शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत्॥" (ना० शा० ५-५०)

इति तन्निर्विषयं स्यात्। तत्रावकृष्टाया लक्षणम्—
"मुखप्रतिमुखोपेता [2]ह्यवकृष्टा विधीयते॥" (ना० शा० ३२-१२)
इति तालविधिः।

[3]अन्यभावेषु कृष्टश्च द्रव्यहेतुषु पठ्यते।
यस्मात्कारुण्यसंयुक्ता [4]ह्यवकृष्टा भवेत्ततः" (ना० शा० ३२-३३५)

इति वाक्यार्थगानेतिकर्तव्यताविधिवृत्तस्वरूपं शम्यादेर्योजनं चाग्रेऽस्या वक्ष्यते। तदेतस्यां प्रयुक्तायां तदनन्तरं नाट्यम्। ईदृश्येव शुष्काक्षरैः प्रयोज्या। तत्रावकृष्टात्वसामान्यात् [5]पृथगवगते क्रमपातैर्जर्जरश्लोकदर्शिका [6]यत्त-

अभिनव—यहाँ शुष्कावकृष्टा का ही आदेश दिया है और इसी का लक्षण किया गया है। अवकृष्टा के अनुवाद के द्वारा शुष्कावकृष्टा का लक्षण जानना चाहिए। अन्यथा आगे कहा जाने वाला—

"अवकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग से नाग प्रसन्न होते हैं और शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग से पितरगण प्रसन्न होते हैं।" (ना० शा० ५।५०)

यह कथन निर्विषय हो जाएगा। अब अवकृष्टा ध्रुवा का लक्षण कहते हैं—

"मुख और प्रतिमुख से युक्त अवकृष्टा ध्रुवा होती है।" (ना० शा० ३२।२१)
और भी—

"कारुण्य भाव में और अन्य भावों अर्थात् चित्तवृत्तियों के अवसाद रूप भावों में, विप्रलम्भ, भयानक आदि भावों में, निर्वेद, ग्लानि, शम, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों में जो उत्कृष्ट करके गाया जाता है, उसे अवकृष्टा ध्रुवा कहते हैं।" (ना० शा० ३२।३३५)।

---

१. क-म. भ. शुष्कानुकारेणादिष्टा। इह चासावेव लक्षिता। अन्या त्वनुवादद्वारेण। अन्यावान्तरकालं यद्वक्ष्यते॥
२. क. ह्यपकृष्टा।
३. क. म-भ अन्यभावेषु कृष्टश्च कृष्टहेतुषु गीयते।
४. क-म. भ. हृयपकृष्टास्तु पातत:। ५. क. पृथक्गवाते।
६. क. यतस्तदनन्तरम्।

यस्मादभिनयस्त्वत्र[1] प्रथमं ह्यवतार्यते[2] ।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥ २६ ॥

दनन्तरम् । शुष्कावकृष्टेयमिति । असाववकृष्टा ध्रुवा । सा तस्माच्छुष्काव-कृष्टा । आह । हि यस्मात् । अत्रेति अस्याङ्गतायाम् । अवकृष्टस्य (अवकृष्टा) समस्ततल्लक्षणणोपेता केवलं शुष्कैरक्षरैरनर्थकैः झण्टुमाद्यैः ।

अन्ये त्वेकस्यामेव ध्रुवायां शुष्कावकृष्टत्वधर्मद्वयविषयोऽयं "युक्तायामप-कृष्टायाम्" इति श्लोको भविष्यतीति मन्यन्ते । उपाध्यायास्तु शुष्कायामव-कृष्टायामेवान्तर्भूतं फलं वक्ष्यते । अत्र तु शुष्कैव लक्ष्यते । अनेन च लक्षणेनाव-कृष्टापि सूचिताऽत्रेति इयमिति च पदाभ्याम् ॥ २५ ॥

अभिनीयत इत्यभिनयो रूपकविशेषः । सोऽवतार्यते संक्षेपेण तस्यार्थ-प्रयोजनादिनिरूपणपाठद्वारेण तथैव चाभिनयः क्रियते यत्र तद्रङ्गस्य भाविनो रूपकस्य द्वारमिव [3]रङ्गद्वारमुत्थापनाङ्गे सामान्येन नाट्यमुत्थापितम् । इह तु रूपकविशेषेण भेदः ॥ २६ ॥

इस प्रकार वाक्यार्थगान, इतिकर्त्तव्यताविधि, वृत्तस्वरूप और शम्या आदि की योजना इसके आगे कहेंगे। इस अवकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग होने के बाद नाट्य का प्रयोग होता है। इस प्रकार की अवकृष्टा ध्रुवा शुष्काक्षरों से प्रयोज्य है। क्योंकि वहाँ अवकृष्टात्व में समानता है। अवकृष्टा ध्रुवा में जर्जर सम्बन्धी श्लोक का निर्देश है। इस ध्रुवा में शुष्काक्षरों का प्रयोग होता है, इसलिए इसे शुष्कावकृष्टा कहते हैं। यहाँ पर अर्थात् शुष्कावकृष्टा अवकृष्टा के समस्त लक्षणों से युक्त है, केवल 'झण्टुम्' आदि शुष्क अर्थात् अनर्थक अक्षरों का प्रयोग होने से शुष्कावकृष्टा कहलाती है।

अन्य आचार्य तो मानते हैं कि एक ही ध्रुवा गीत में शुष्कत्व और अवकृष्टत्व धर्मों के एक साथ प्रयोग होने से 'युक्तायामवकृष्टायाम्' यह श्लोक होगा। उपाध्याय जी का शुष्कावकृष्टा में ही दोनों धर्मों का फल अन्तर्भूत मानते हैं। यहाँ पर शुष्क का लक्षण कहते हैं। इस लक्षण से अवकृष्टा का भी लक्षण सूचित होता है अर्थात् यहाँ पर 'अत्र' और 'इयम्' पद से शुष्का और अवकृष्टा दोनों के लक्षण का निर्देश है ॥ २५ ॥

अनुवाद—क्योंकि यहीं से सर्वप्रथम वाचिक और आङ्गिक अभिनय का अवतरण (आरम्भ) किया जाता है। इसलिए इसे रङ्गद्वार कहते हैं ॥ २६ ॥

---

१. क-न. यस्मादभिनयो ह्यत्र। क-अ. द. म. यस्मादभिनयस्तत्र ।

२. क-अ. द ह्यवधार्यते ।

३. क. रङ्गद्वारादुत्थापनाङ्गे ।

शृङ्गारस्य प्रचरणाच्चारी सम्परिकीर्तिता ।
[1]रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचारीति कीर्तिता[2] ॥ २७ ॥
विदूषकः सूत्राधारस्तथा वै पारिपार्श्वकः ।
यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं [3]तच्चापि त्रिगतं मतम्[4] ॥ २८ ॥

शृङ्गारस्येति शृङ्गारप्रधानं भगवतो महादेव्या सह चरितं वर्ण्यते काव्ये च तत्स्तुतिप्रधाने तदेव यत्राङ्गहारचार्यादिना प्रदर्श्यते सा चारी । [5]भगवतस्त्रिपुरमर्दनादीव गीतं रौद्ररसभूयिष्ठं यत्र काव्ये वर्ण्यते स्तुतिरूपेण तद्यत्र तदुचितैरेवोद्धतैर्मण्डलाङ्गहारैः च युज्यते सा महाचारी ॥ २७ ॥

अभिनव—अभिनय किया जाता है इसलिए अभिनय रूपक विशेष कहा जाता है। उसका अवतरण किया जाता है अर्थात् संक्षेप में रूपक के अर्थ तथा प्रयोजन आदि का पाठ्य के द्वारा उसी प्रकार जहाँ अभिनय किया जाता है। इस प्रकार रङ्ग के द्वार के समान भावी रूपक का द्वार होने से रङ्गद्वार है। उत्थापन रूप अङ्ग में सामान्य रूप से नाट्य का उत्थापन होता है अर्थात् रूपक की वस्तु का उत्थापन किया जाता है और यहाँ तो रूपकविशेष के साथ। यही दोनों में भेद है ॥ २६ ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस का प्रचरण (प्रसार) होने के कारण चारी कहा जाता है और रौद्र रस का प्रचरण होने के कारण महाचारी कहा जाता है ॥ २७ ॥

अभिनव—जहाँ पर भगवान् शङ्कर एवं देवी पार्वती का शृङ्गार-प्रधान चरित का स्तुति रूप में वर्णन किया जाता है और उसीका जहाँ पर अङ्गहार, चारी आदि के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसे चारी कहते हैं। इस प्रकार शङ्कर के त्रिपुरमर्दन से सम्बद्ध रौद्र-रस-प्रधान चरित्र का जिस काव्य में स्तुति के रूप में वर्णन किया जाता है और उसका जब उद्धत अङ्गहारों के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है तो उसे 'महाचारी' कहते हैं। इसमें रौद्र रस का प्रसारण होता है इसलिए इसे 'महाचारी' कहते हैं। इसी प्रकार जिस नृत्त अङ्गहारों के प्रयोग में शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति होती है उसे चारी कहते हैं ॥ २७ ॥

---

१. ग. रौद्रप्रचारणाच्चापि । २. क-न. संज्ञिता ।
३. ख-घ. तत्रापि । ४. ख-घ. स्मृतम् ।
५. क-म. भ. रुद्रस्य त्रिपुरान्तकप्रभृतिपूजाकर्ण्यवक्तृन् रोचयते यत्कर्म तत्प्रध्वंसनादि तदभिधायकं काव्यं यत्र ।

उपक्षेपेण [1]काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया[2] ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २९ ॥

विदूषक इति । पारिपार्श्विकयोरन्यतरो विदूषकवेषभाषाचारो विदूषकः । सञ्जल्पो भविष्यन्नाटकादिविशेषो यद्यप्युक्तः तथापि तद्विशेषो नागानन्दादिभिः विवक्षित इत्यपौनरुक्त्यम् । स एव काव्योपक्षेपस्त्रिषु समायत्तत्वात्त्रिगत-शब्देनोक्तः ॥ २८ ॥

तेन काव्योपक्षेपेण हेतुभूतेन तद्विषये सामाजिकानां या आमन्त्रणा निमन्त्रणं सिद्धेन सिद्धचोपलक्षितमित्यर्थः । यस्मात्खल्वतः प्रीत्युत्पत्तिर्भविष्यति तस्मादवलोक्यतामेतदिति सा प्ररोचना प्रकृष्टरुचिहेतुभूतत्वात् । न तद्वचना-त्प्रवृत्तिर्भवतीत्याह—हेतुयुक्तीति । हेतोर्या युक्तिर्योजना संक्षेपेणाभिधानं तन्नि-मित्तमस्या इति ।

अनुवाद—जहाँ पर सूत्रधार, विदूषक और पारिपार्श्विक परस्पर संलाप करते हैं उसे 'त्रिगत' कहते हैं ॥ २८ ॥

अभिनव—दो पारिपार्श्विकों में से एक पारिपार्श्विक विदूषक के समान वेश-भूषा को धारण करता है, उसी प्रकार भाषा का व्यवहार करता है और उसी के समान आचरण करता है वह विदूषक कहलाता है। भविष्य में खेले जाने वाले नाटक विशेष के सम्बन्ध में बतलाना 'संजल्प' कहा जाता है। यद्यपि यह पहिले कहा जा चुका है तथापि वह विशेष 'नागानन्द' आदि के द्वारा विवक्षित है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है। वही काव्य का उपक्षेप तीनों सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक के अधीन होने से 'त्रिगत' शब्द से कहा गया है ॥ २८ ॥

अनुवाद—जहाँ पर सूत्रधार हेतु (कारण) और युक्तिपूर्वक नाट्य-वस्तु के उपक्षेपण (प्रारम्भ) के द्वारा सिद्धि से उपलक्षित कथन से आमन्त्रण किया जाता है उसे 'प्ररोचना' कहते हैं ॥ २९ ॥

अभिनव—हेतुभूत अर्थात् प्रयोजन तथा उद्देश्य के साथ नाट्यवस्तु के उपक्षेप से नाटक के विषय में सिद्धि से उपलक्षित सामाजिकों को आमन्त्रित करना (प्ररोचना है)। यहाँ पर 'सिद्धेन' पद का अर्थ सिद्धि से उपलक्षित है। क्योंकि उससे आप लोगों को प्रसन्नता होगी, इसलिए इस नाटक को देखिए। सामाजिकों में प्रकृष्ट रुचि का कारण होने से इसे 'प्ररोचना' कहते हैं। उसके कथन से प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए कहते हैं कि हेतु की जो युक्ति अर्थात् योजना का संक्षेप कथन ही प्रकृष्ट रुचि के उत्पादन का कारण है।

---

१. क-म कार्यस्य । २. क-त. हेतुयुक्तिव्यपाश्रया ।

एवमेतानि बहिर्यवनिकाङ्गान्यपि दश दृष्टफलान्येव । तथा हि गीतक-वर्धमानान्युपजीव्य ध्रुवागानं नाटचमिति प्रकृतेरुपजीव्यत्वादवश्यं प्रथमं बुद्धौ [1]कर्तव्यम् । ततोऽपि यदारम्यते तदा बुद्धौ निवेश्यं तावत् सामान्ये । ततः सदाचारपालनाय देवतावन्दनम् । ततः परमाशीर्वादनमभिमुखीकरणार्थम् । ततोऽपि शङ्कयमानविघ्नशान्त्युपकरणीभूतस्योत्तेजनम् । ततोऽपि विशेषेण प्रयोक्तव्यानुसन्धानम् । ततोऽपि शृङ्गारवीरयोः सर्वत्र रञ्जकपरमपुमर्थताप्रकर्षादुपक्षेपः । तदपि नाटचविनेयसुकुमारजने [2]स्वच्छन्दताकरसर्वरञ्जकहास्यप्राधान्येन काव्यविशेषे भवदभिधेयानुसन्धानम् । तस्यापि प्रयोजननिरूपणम् ।

एवं यथा शास्त्रं कुर्वतामादिवाक्यपरिग्रहो लौकिकस्य वा कर्तव्यविषयमनुसन्धानं तथैव नाटचारम्भे गीतकपिण्डयादिप्ररोचनान्तं लौकिकानुसार्येव । नात्र कस्यचिदङ्गस्य सामर्थ्यलक्ष्यत्वादि चोदनीयम् । सुकुमारजनविषयत्वादस्य प्रयोगस्य । तस्मान्नालौकिकं किञ्चिदेतत् । केवलं नाटचस्य रचनाप्राधान्याद्वैचित्र्येण योजनीयमदृष्टसम्पत्तये चेति मन्तव्यमित्यलं बहुना ॥ २९ ॥

इस प्रकार बहिर्यवनिका के अर्थात् यवनिका के बहिर्भूत गीतक आदि दश अङ्ग दृष्ट फल वाले हैं और भी गीतक, वर्धमानक के उपजीव्य ध्रुवागान नाट्य है, इस प्रकार प्रकृति का उपजीव्य होने के कारण पहिले बुद्धि में रखना चाहिए। उसके बाद भी जब नाटक आरम्भ किया जाता है उस समय उसे सामान्य रूप से बुद्धि में रख लेना चाहिए अर्थात् बुद्धि से सोच लेना चाहिए कि इस प्रकार का अभिनय करना है। इसके बाद सदाचार-पालन के लिए देवता की वन्दना करनी चाहिए, फिर अभीमुखीकरण के लिए शुभाशीर्वचन का कथन; फिर उसके बाद भी आशङ्कित विघ्नों की शान्ति के उपकरणों के लिए उत्तेजित तैयार हो जाना, उसके बाद भी अभिनेय वस्तु का विशेष रूप से अनुसन्धान करना, फिर भी सभी जगह रञ्जक एवं परमपुरुषार्थ के प्रकर्ष शृङ्गार और वीर रस का उपक्षेप करना, फिर नाट्य के विनेय (शिक्षा के योग्य) सुकुमार जनों तथा स्वतन्त्रतापूर्वक सभी लोगों के अनुसन्धान करना और उसके प्रयोजन का निरूपण करना।

इस प्रकार जैसे शास्त्र के अनुसार कार्य करने वालों के आदि (वाक्य आदि कथन) का परिग्रह अथवा लौकिक जनों के कर्त्तव्य विषयक (कर्तव्य के सम्बन्ध में) अनुसन्धान किया जाता है उसी प्रकार नाट्य के आरम्भ में गीतक, पिण्डी आदि से लेकर प्ररोचना पर्यन्त सभी कार्य लौकिक विधि के अनुसार ही होते हैं। यहाँ पर किसी

---

१. कृति.... ।   २. स्वच्छन्दतासर्वरञ्जक हास्यप्रधानेन ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि[1] ह्याश्रावणविधिक्रियाम् ।
बहिर्गीतविधौ सम्यगुत्पत्ति[2] कारणं तथा ॥ ३० ॥
[3]चित्रदक्षिणवृत्तौ तु सप्तरूपे प्रवर्तिते[4] ।
सोपोहने सनिर्गीते देवस्तुत्यभिनन्दिते ॥ ३१ ॥
[5]नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः ।
[6]निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

ननु भवत्वेवम् । किञ्चारम्भाश्रावणादौ बहिर्गीतशब्दस्वरूपम् । [पदार्थः] (तदर्थः) कोऽत्र पदार्थः । तदयमर्थः—तेषामाश्रावणादीनां विधौ क्रियां प्रयोगरक्षात्मिकां बहिर्गीतशब्दस्य च वाचकत्वेन विधाने उत्पत्ति बहिर्गीतस्य च विधौ प्रयोगे प्रयोजनरूपं कारणं वक्ष्यामि ॥ ३० ॥

तत्पुराकल्पद्वारेणाह—चित्रेत्यादिना श्लोकैकादशकेन "बहिर्गीतमिति स्मृतम् ।" इत्यन्तेन (५।४१) ।

अङ्ग का शास्त्रीय सामर्थ्य एवं लक्ष्य आदि नहीं कहना है। सुकुमार मति लोगों से सम्बन्धित होने से इसका प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार इसमें कुछ भी अलौकिक नहीं है। केवल नाट्य के रचना-प्रधान होने से विचित्रता के साथ उसका प्रयोग करना चाहिए और अदृष्ट फल प्राप्ति के लिए विचित्रता के साथ उसका प्रयोग करना चाहिए, ऐसा मानना चाहिए और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

अनुवाद—इसके बाद बहिर्गीत विधान के अन्तर्गत आश्रवणा विधि की क्रिया, उसकी उत्पत्ति और कारणों को कहूँगा ॥ ३० ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि ऐसा ही हो किन्तु आश्रवणा गीतक आदि में जो बहिर्गीत शब्द स्वरूप है उसका पदार्थ क्या है? अत पदार्थ अर्थात् उसका अर्थ बताते हैं—उन आश्रावणा आदि के विधान में प्रयोगरक्षात्मिका अर्थात् प्रयोग (अभिनय) की रक्षा रूप क्रिया और बहिर्गीत में शब्द के वाचक रूप से विधान तथा उसको उत्पत्ति और बहिर्गीत के विधान में प्रयोजन रूप कारण को भी कहूंगा ॥ ३० ॥

इसके बाद इतिहास के द्वारा 'चित्र' इत्यादि से लेकर 'बहिगीतमिति स्मृतम्' यहाँ तक ग्यारह श्लोकों में बहिगीत की चर्चा करते हैं—

---

१. क-अ. आसारितविधिक्रियाम् । २. ख. कारणं ।
३. ख चित्तदक्षिणवृत्तौ । ग. चित्रदक्षिणवृत्ते । ४. ग. प्रकीर्तिता ।
५. ख. घ. नारदाद्यैश्च । क-त. नारदाद्यैः सगन्धर्वैः ।
६. ख. निर्गीतं श्राविता ग. निगीतं श्राविताः । क-अ. ब. उद्गीतं श्राविताः ।

तच्छ्रुत्वा तु सुखं[1] गानं देवस्तुत्यभिनन्दितम् ।
अभवन्क्षुभिताः सर्वे मात्सर्याद्दैत्यराक्षसाः ॥ ३३ ॥

गीतवाद्यगीतोभयप्रधानाः क्रमेण चित्रादयो वृत्तिमार्गाः । चित्रदक्षिण-सहिता वृत्तिरिति मध्यमपदलोपी समासः । तद्विषयं यद्गीतकं सहोपोहनप्रत्यु-पोहनैः वर्धमाननिर्गीतेन च "आश्रावणा तथारम्भः" इत्यादिना अष्टाविंशेऽध्याये (ना. शा. २९-८२) (एकोनत्रिंशेऽध्याये) वक्ष्यमाणेन सहितं देवस्तुत्या च वाच्यभूतयाऽभितो नन्दितं समृद्धं युद्धम् । तस्मिन्प्रवर्तिते प्रयुक्ते सति तद्गानं गीयमानं सुखजनकमपि श्रुत्वा दैत्याः क्षुभिताः । कुतः ? (मात्सर्यात् । तदपि कुतः ।) आह—देवैरहो रम्यं साधु साध्वित्यादिभिः स्तुतिभिरभिनन्द्यमानं यतः । तुरप्यर्थः । केन वा प्रवर्तितं तदित्याह—नारदाद्यैरिति तदधिष्ठितै-रित्यर्थः । तदिति सप्तरूपम् (ना. शा. ३१. का. मा. यु. ५२१) । लयो द्रुतादिः । तालाः शम्यादिविशिष्टाः त्र्यश्रश्चतुरश्रो मिश्रश्च ॥ ३१-३२ ॥

अनुवाद—इसके बाद चित्र, दक्षिण और वार्त्तिक मार्ग में उपोहन और निर्गीत के साथ देवताओं की स्तुतियों से अभिनन्दित मद्रक आदि सात प्रकार के गीतों के प्रवृत्त होने पर नारद आदि गन्धर्वों ने सभा में देवता और दानवों को ताल और लय से समन्वित निर्गीत (बहिर्गीत) को सुनाया ॥ ३१-३२॥

अनुवाद—देवताओं की स्तुतियों से अभिनन्दित सुखद गीत को सुनकर सभी दैत्य और राक्षस ईर्ष्या से क्षुब्ध होगये ॥ ३३ ॥

अभिनव—गीतप्रधान, वाद्यप्रधान और कभी उभयप्रधान क्रमशः चित्र, दक्षिण और वार्त्तिक तीन मार्ग हैं। यहाँ पर 'चित्रदक्षिणसहिता वृत्तिः' अर्थात् चित्र एवं दक्षिण से सहित वृत्ति मार्ग, इस प्रकार मध्यमपद लोपी समास है। यद्विषयक अर्थात् जो मार्ग विषयक गीत है। उपोहन और प्रत्युपोहन के साथ और उनतीसवें अध्याय (ना० शा० २९।८०-८२) में कहे जाने वाले वर्धमान निर्गीत के साथ और वाच्यभूत देवस्तुति से सर्वतः समृद्ध गीत के प्रवृत्त होने पर सुखजनक उस गीत को सुनकर दैत्य लोग क्षुब्ध हो गये। क्यों क्षुब्ध हुए ? कहते हैं कि देवताओं के द्वारा 'सुन्दर, बहुत अच्छा' इस प्रकार प्रशंसा किये जाने वाले गीत को सुनकार ईर्ष्या से दैत्य क्षुब्ध हो गये। यहाँ 'तु' शब्द 'अपि' के अर्थ में है। उस गीत को किसने प्रवर्त्तित (प्रयोजित) किया ? इस पर कहते हैं कि नारद आदि गन्धर्वों ने प्रवर्त्तित किया। 'तत्' अर्थात् सप्तरूप गीत विधान। लय का अभिप्राय द्रुत, मध्य, विलम्बित है और ताल से तात्पर्य शम्या आदि से विशिष्ट त्र्यस्र, चतुरस्र और मिश्र से है ॥ ३१-३२ ॥

---

१. ख. समं गानं । ष शुभं गानं । क-अ. ततश्चानुगतं ।

सम्प्रधार्य च तेऽन्योन्यमित्यवोचन्नवस्थिताः ।
[1]निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम् ॥ ३४ ॥
[2]सप्तरूपेण सन्तुष्टा देवाः कर्मानुकीर्तनात् ।
[3]वयं गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽत्रैव सर्वदा[4] ॥ ३५ ॥

सम्प्रधार्येत्यनेन परितोष्टव्यमन्यैस्त्वत्रेति । स्थितिं कृत्वावस्थिताः । इति शब्दसूचितमुच्यमानं निर्दिशति—त्वमिति । (निर्गीतमिति) वादित्रं तद्गतं शुष्काख्यं वीणावाद्यम् । ननु किं तस्य ग्रहणे निमित्तमित्याह—तुष्याम इति । स्तुतिकीर्तनाभावेऽप्याभिमानिकेन परितोषेणेत्यर्थः । दृष्टो ह्यभिमानकृतः प्रीतौ विशेषो यथा राजाकर्णनेऽपि ॥ ३४-३५ ॥

विमर्श—भारत ने तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—चित्रा, वृत्ति (वार्त्तिक) और दक्षिणा । इनमें चित्रा वृत्ति वाद्यप्रधान, दक्षिणा वृत्ति गीतप्रधान और वार्त्तिक वृत्ति उभयप्रधान होती है । जैसाकि दत्तिल ने कहा है—

दक्षिणावृत्तिचित्राश्च वृत्तयस्तास्त्वयं विधिः ।
प्रधानं गीतमुभयं वाद्यं चेति यथाक्रमम् ॥ (दत्तिलम्)

इनमें से चित्रा में दो, वार्त्तिक में चार और दक्षिणा में आठ मात्राओं का कला (पादभाग) माना-जाता है । अर्थात् चित्रा एककल, वार्त्तिक द्विकल और दक्षिणा चतुष्कल माना-जाता है । इनका विधान मद्रक आदि सप्तरूप गीतों में किया जाता है । नारद आदि गन्धर्वों ने सभा में ताल और लय पर आश्रित निर्गीत को देवता और दैत्यों को सुनाया । निर्गीत को बहिर्गीत कहते हैं । इसमें ताल और लय पर आश्रित निरर्थक शुष्काक्षरों का प्रयोग होता है निर्गीत एक प्रकार का शुद्ध गीत माना जाता है । 'उपोहन' गीत के आरम्भ में शुष्काक्षर गान को कहते हैं (**तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम्**) । इस गान में देवताओं की स्तुति तथा प्रशंसा की गई थी । इस प्रकार देवताओं की स्तुति एवं प्रशंसा भरे गीत को सुनकर ईर्ष्या से दैत्य लोग क्षुब्ध होगये ॥ ३१-३३ ॥

अनुवाद—इसके बाद दैत्य और राक्षसों ने परस्पर विचार करके एक दूसरे से बोले । हम लोग वाद्यों से समन्वित इस निर्गीत को ग्रहण करते हैं और देवता लोग अपने कर्मों (कार्यों) की प्रशंसा के कारण सप्तरूप गीत से सन्तुष्ट हैं । हम लोग निर्गीत को ग्रहण करते हैं और इसी में हमेशा रहेंगे ॥ ३४-३५ ॥

---

१. ग. निर्गीतं । क-अ. निर्जितं । २. क-त. सप्तरूपे तु ।
३. ख. थ. एवं गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽत्रैव वै वयम् ।
क-त. प. ब. वयं गृह्णीम निर्गीतमत्र तुष्यामहेतराम् ।
क-अ. द. म. वयं गृह्णीम निर्जित्य तुष्योऽत्रैव वै वयम् ।

ते तत्र तुष्टा दैत्यास्तु साधयन्ति पुनः पुनः ।
[1]रुष्टाश्चापि ततो देवाः प्रत्यभाषन्त नारदम् ॥ ३६ ॥
एते तुष्यन्ति निर्गीते दानवाः सह राक्षसैः ।
[2]प्रणश्यतु प्रयोगोऽयं कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३७ ॥
देवानां वचनं श्रुत्वा नारदो वाक्यमब्रवीत् ।
धातुवाद्याश्रयकृतं निर्गीतं[3] मा प्रणश्यतु ॥ ३८ ॥
किन्तूपोहनसंयुक्तं [4]धातुवाद्यविभूषितम् ।
भविष्यतीदं निर्गीतं [5]सप्तरूपविधानतः ॥ ३९ ॥
[6]निर्गीतिनावबद्धाश्च दैत्यदानवराक्षसाः ।
न क्षोभं न विघातं च करिष्यन्तीह तोषिताः ॥ ४० ॥

अभिनव—'सम्प्रधार्य' का अभिप्राय है कि 'इस विषय में अन्यों को सन्तुष्ट करना चाहिए'। 'अवस्थिताः' का अर्थ है, स्थिति करके अवस्थित होना। **'इति' शब्द** सूचित अर्थात् उच्यमान का निर्देश करता है। 'निर्गीतम्' से तात्पर्य है वादित्र अर्थात् शुष्कवीणावाद्य। अब प्रश्न यह है कि उसके ग्रहण करने में क्या हेतु है? कहते हैं कि इससे हम लोग सन्तुष्ट रहेंगे। स्तुति (प्रशंसा) के कथन के अभाव में भी आभिमानिक परितोष होने से। अभिमान से उत्पन्न प्रीति में विशेषता देखी गई है। जैसे राजा के चुनने पर प्रीति होती है ॥ ३४-३५ ॥

विमर्श—दैत्यों ने जब गीत को सुना तो उन्होंने आपस में विचार करके निश्चय किया कि हम लोग वीणावाद्य से समन्वित निर्गीत को ग्रहण करते हैं। सप्तरूप गीत में देवताओं की प्रशंसा है अतः उसे वे लोग ग्रहण करें ॥ ३४-३५ ॥

अनुवाद—वे दैत्यगण उसी निर्गीत से ही सन्तुष्ट होकर बार-बार उसी की मांग करने लगे। इससे रुष्ट होकर देवताओं ने नारद से कहा—हे भगवन्! राक्षसों के साथ ये दानव निर्गीत से सन्तुष्ट हैं तो यह प्रयोग नष्ट हो जायगा, इस विषय में आप क्या मानते हैं? ॥ ३६-३७ ॥

---

१. क-म. तुष्टाश्चापि। २. क-अ. द. म, प्रणश्यताम्।
३. ग निगीतं। ४. ग-ख. धातुवाक्यविभूषितम्।
५ ग. सप्तरूपे विधानतः।
६. ग. निर्गीतिनावनद्धाश्च। ख. घ. निर्गीतिनावबद्धास्तु।

[1]एवं निर्गीतमेतत्तु दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः ।
देवानां बहुमानेन बहिर्गीतमिति[2] स्मृतम् ॥ ४१ ॥

तत्रेति निर्गीते । साधयन्ति । साधनं सिद्धं ब्रुवते ॥ ३६-३७ ॥

(धातुवाद्यश्रयकृतमिति) धातवस्तन्त्रीविशेषाङ्गुलिविशेषसंयोगजा वैणवस्वराः । रञ्जनया अदृष्टविशेषस्य (दृष्टविशेषस्य) क्रमेण चतुष्टयपृथक्कृता विस्तारव्यञ्जनाविद्धकरणसंज्ञा । धातुवाद्यं सप्तभेदलक्षणम् । तस्य यदाश्रयणं तेन हेतुना कृतमिति चित्रम् । तत्तादृशेनादृष्टेन को गुणो न त्वदृष्टे स्तुतिनिरूपणेषु यद्विधानं तेन हि पूर्वमध्यान्तेषु प्रयुज्यमानेन वीणावाद्यवैचित्र्यावकाशदायिना ॥ ३८-३९ ॥

एवमविनाशकारणं प्रतिपाद्य संज्ञानिर्वचनं रूपयति—एवमिति ।

अभिनव—'तत्र' का अर्थ है निर्गीत में। 'साधयन्ति' का अर्थ है सिद्ध करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

अनुवाद—तब देवताओं के वचन को सुनकर नारद ने कहा—धातु वाद्यों पर आश्रित यह निर्गीत नष्ट न हो, किन्तु यह गीत आगे उपोहन से युक्त और धातुवाद्यों से विभूषित सप्तरूप विधान के अनुसार होगा। तब इस निर्गीत से आबद्ध (आकर्षित) होने के कारण ये दैत्य, दानव तथा राक्षस सन्तुष्ट होकर न तो क्षोभ करेंगे और न (नाट्य का विध्वंस) विनाश करेंगे ॥ ३८-४० ॥

अभिनव—'धातुवाद्याश्रयकृतम्' का अर्थ है—'धातुवाद्यों पर आश्रित'। धातु का अभिप्राय है तन्त्री विशेष पर अङ्गुलिविशेष के संयोग से उत्पन्न वीणा का स्वर। दृष्ट विशेष रञ्जन के क्रम से विस्तार, व्यञ्जन, आविद्ध और करण नामक चार करण पृथक् पृथक् निर्दिष्ट हैं। (धातुओं का निर्माण करणों से होता है। करणों को आधुनिक भाषा में 'बोल' कहते हैं)। धातुवाद्य के सात भेद हैं अर्थात् धातुवाद्य सप्तरूप होता है। उसका जो आश्रय, उस हेतु से रचित अर्थात् सप्तरुप धातुवाद्य के आश्रय से रचित गीत (निर्गीत)। इस प्रकार के दृष्ट अथवा अदृष्ट फल वाले इस धातुवाद्य से क्या लाभ है ? अथवा क्या हानि है ? क्योंकि स्तुति के निरूपण में जो विधान है उसके पूर्व, मध्य एवं अन्त्य में प्रयोग होने से वीणावादन में विचित्रता को अवकाश देने के कारण यह धातुवाद्य है ॥ ३८-३९ ॥

इस प्रकार अविनाश अर्थात् विध्वंस न होने का कारण कहकर अब संज्ञा का निर्वचन निरूपित करते हैं—

अनुवाद—हे द्विजों ! इस प्रकार दैत्यों की स्पर्द्धा के कारण यह गीत (निर्गीत) देवताओं के बहुमान होने से 'बहिर्गीत कहा गया है ॥ ४१ ॥

---

१. ख. घ. एतन्निर्गीतमेवं तु । २. ख. बहु गीतमिदं । घ. बहिर्गीतमिदं ।

धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलध्वक्षरान्वितम् ।
वर्णालङ्कारसंयुक्तं प्रयोक्तव्यं बुधैरथ ॥ ४२ ॥

निर्गीतमिति तावदाद्यं नाम । निरर्थकं गीतमिति । तत्तु गन्धर्वैर्बहिर्गीतमिति स्मृतम् । कुतो दैत्यानां स्पर्धयेति । तत्कृतोऽयं स्वीकारः । ततो हेतोः ।

ननु यदि स्वीकृतं ततः किमित्येषा संज्ञा कृता । अत आह -देवानामिति । देवकर्मकं यद्बहुतयोत्कृष्टतया मननं तेन प्रयोजनभूतेन । वयं देवान्दानवेभ्यो बहुत्वेन मन्यामहे । तथा चेदं नाभ्यन्तरं बाह्यं गीतमस्माभिर्गीयत इति तैरेव वेदितव्यमित्यर्थः ॥४१॥

ननु सप्तरूप एव किमिदं प्रयोज्यम् । नेत्याह—धातुभिरिति ।

चित्रा नाटचोपरञ्जनार्था या वीणा तस्यामप्येतद्धातुभिरुक्तस्वरूपैः (करतलनिष्कोटितादिभिः) उपलक्षितं प्रयोज्यम् । कथम् । भाण्डवाद्ये गत्यर्थे यानि गुरूणि "घृत् वृङ" इत्यादिकानि लघूनि "मट कट" इत्यादिकानि । तत्रान्वितं कृत्वा । अनेन भाण्डवाद्योपरञ्जकत्वमुक्तम् । तथा ध्रुवागाने ये स्थाय्यादयो वर्णा ये च प्रसन्नादिप्रभृतयोऽलङ्कारास्तत्र सम्यग्युक्तं संबद्धं कृत्वा । अनेन गानोपरञ्जकत्वं दर्शितम् । अथ शब्दोऽप्यर्थे । योजितः पूर्वैरिति (बुधैरिति) योजनाकुशलैः ॥ ४२ ॥

अभिनव—'निर्गीत' यह प्रथम नाम है। निर्गीत का अर्थ है निरर्थक गीत। उसे गन्धर्वों ने बहिर्गीत कहा है। ऐसा क्यों ? दैत्यों के स्पर्द्धा के कारण इस गीत को निर्गीत कहा गया है और देवताओं के सम्मान के रूप में उसे 'बहिर्गीत' स्वीकार किया गया है।

अब प्रश्न यह है कि जब उन्होंने (देवताओं ने) इसे स्वीकार कर लिया तो 'बहिर्गीत' नाम क्यों रखा ? इस पर कहते हैं'—देवानामित्यादि। देवविषयक जो अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से मनन है, इस कारण अर्थात् हम लोग देवताओं को दानवों की अपेक्षा अधिक मानते हैं। इसलिए देवताओं के सम्मान के लिए ऐसा किया है और इस आभ्यन्तर गीत को नहीं, अपितु बहिर्गीत का हमलोग गान करते हैं, इस प्रकार उन्हें समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

अब पुनः प्रश्न होता है कि क्या सप्तरूप में ही इसका प्रयोग करना चाहिए। नहीं, इसपर कहते है—

अनुवाद—विद्वानों अर्थात् संगीतज्ञों के द्वारा 'चित्र' नामक वीणा पर धातुओं से गुरु और लधु अक्षरों से समन्वित तथा वर्ण और अलङ्कारों से संयुक्त इस गीत का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२ ॥

[1]निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात् ।
असूयया च देवानां [2]बहिर्गीतमिदं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

ननु निर्गीतसंज्ञाऽस्य या पुराणी तत्र किन्निमित्तमित्याशङ्क्याह – निर्गीतमिति ।

पदमित्यर्थप्रत्यायकमित्यर्थः । वर्णा झण्टुमादयः स्थाय्यादयश्च । ननु लक्षणाभ्यन्तर एव तदिति कथं बाह्यमित्याशङ्क्याह - असूयया चेति । तैर्यतोऽसूयित बलादेवाविष्कृतबहुमानैः अतस्तदीयहृदयग्रहणायैवं व्याहृतम् । न च सर्वथा निर्निबन्धनमेवेदमिति दर्शयितुं चकारेणान्वर्थताप्यस्तीति सूचयति । गीयमानेभ्यः पदेभ्यः सार्थकेभ्यो पदेभ्यो बहिर्गीतमिति ॥ ४३ ॥

अभिनव—नाट्य के उपरञ्जन के लिए जो चित्रा वीणा है। उस पर उपर्युक्त अर्थात् ऊपर बताये गये धातुओं से उपलक्षित इसका प्रयोग करना चाहिए। कैसे प्रयोग करना चाहिए? इस पर कहते हैं कि भाण्डवाद्य में गति के लिए जो गुरु अक्षर 'धृत् दृङ्' इत्यादि और लघु अक्षर 'कट मट' आदि हैं, उन्हीं का तन्त्रीवाद्यों में अन्वित करके प्रयोग करना चाहिए। इससे भाण्डवाद्य की रञ्जकता होती है और ध्रुवागान में जो स्थायी आदि वर्ण और प्रसन्नादि प्रभृति जो अलङ्कार है, उन्हें अच्छी तरह से युक्त (सम्बद्ध) करके प्रयोग करना चाहिए। इससे गान अधिक रञ्जक (आकर्षक) हो जाता है, यह दिखाया गया है। यहाँ 'अथ' शब्द 'अपि' (भी) अर्थ में है। 'योजित' का अर्थ है योजना में कुशल विद्वानों द्वारा प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अनुवाद—क्योंकि यह पदहीन अर्थात् निरर्थक वर्णों की योजना से गाये जाने के कारण इसे 'निर्गीत' कहा जाता है और देवताओं को ईर्ष्या के कारण इसे 'बहिर्गीत' कहा जाता है ॥ ४३ ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि इसकी जो पुरानी 'निर्गीत' संज्ञा (नाम) है, उसका निमित्त क्या था? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—'निर्गीतम्' इत्यादि।

अभिनव—'पदम्' इस पद अर्थ का प्रत्यायक है। वर्ण से स्थायी आदि तथा झण्टुम् आदि वर्ण अभिप्रेत है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह तो लक्षण के भीतर ही है तो उसको 'बाह्य' कैसे कहते हैं? इस पर कहते हैं कि–असूया से अर्थात् उन लोगों ने ईर्ष्या की थी अर्थात् बलात् अभिमान से ईर्ष्या की थी। अतः उनके हृदय को आवर्जित (ग्रहण) करने के लिए ऐसा कहा है। किन्तु यह सर्वथा निर्निबन्धन (निरर्थक) नहीं है, यह दिखाने के लिए चकार से इसकी अन्वर्थता भी है यह सूचित होता है। ४३ ॥

१. क-अ. निर्गीयतेऽतो निर्गीतमपदं वल्गु योजयेत् ।
२. ग. बहिर्गीतमिति स्मृतम् ।

निर्गीतं यन्मया प्रोक्तं सप्तरूपसमन्वितम् ।
उत्थापनादिकं यच्च तस्य कारणमुच्यते ।। ४४ ।।
[[1]प्रत्याहारे यातुधानाः प्रीयन्ते सह पन्नगैः]
[तुष्यन्त्यप्सरसस्तत्र कृतेऽवतरणे द्विजाः ।
आश्रावणायां युक्तायां दैत्यास्तुष्यन्ति[2] नित्यशः[3]] ।
[4]वक्त्रपाणौ कृते चैव नित्यं तुष्यन्ति दानवाः ।। ४५ ।।

एवमविनाशकारणं संज्ञानियोजननिमित्तं च तेनैव क्रमेणाभिधाय प्रतिजानीते—निर्गीतमित्यादिना ।

आश्रवणादि निर्गीतं सप्तरूपसमन्वितम् । इति गीतकविधिः । उत्थापनादिकमित्यवशिष्टं बहिर्यवनिकाङ्गम् । तस्य कारणं प्रयोजनम् ।। ४४ ।।

तद्दर्शयति—आश्रावणायामित्यादिना भूतगणो भवेदित्यन्तेन श्लोकाष्टकेन ।

इस प्रकार प्रयाग के विनाश न होने के कारण और संज्ञा नियोजन अर्थात् निर्गीत इस नामकरण के निमित्त को क्रम से कह कर प्रतिज्ञा करते है—

अनुवाद—मैंने सप्तरूप से समन्वित जिस निर्गीत को कहा है और उत्थापन आदि का जो अभिधान किया है अब उसके कारण को कहता हूँ ।।४४।।

अभिनव—आश्रावणा आदि निर्गीत सप्तरूप से समन्वित है । यह गीतक विधि है । बहिर्यवनिका के उत्त्थापन आदि अङ्ग अवशिष्ट हैं । अब उनके कारणों को कहता हूँ ।। ४४ ।।

[अनुवाद—प्रत्याहार के प्रयोग किये जाने पर पन्नगों के साथ यातुधान (राक्षस) प्रसन्न होते हैं । 'अवतरण' नामक अङ्ग का प्रयोग नोने पर अप्सराएँ प्रसन्न होती हैं तथा 'आरम्भ' अङ्ग के प्रयोग किये जाने पर गन्धर्व प्रसन्न होते हैं ।]

अब 'आश्रवणायाम्' से लेकर 'भूतगणो भवेत्' यहाँ तक आठ श्लोकों के द्वारा उसके कारणों को दिखाते हैं—

अनुवाद—आश्रावणा का प्रयोग किये जाने पर दैत्यगण सदैव प्रसन्न होते हैं और वक्त्रपाणि का प्रयोग करने पर दानव हमेशा सन्तुष्ट होते हैं ।। ४५ ।।

---

१. क.ग. पुस्तकयोरयं सार्धश्लोको न दृश्यते ।
२. क-अ. मृष्यन्ति । ३. क-म. सर्वशः । ४. क-म. वज्रपाणौ ।

प्रत्याहाराद्याश्रावणायामेवान्तर्भूतम् । अवधित्वादस्याः । ([1]कस्मि-
श्चित्पुस्तके—

"प्रत्याहारे यातुधानाः प्रीयन्ते सह पन्नगैः ।
तुष्यन्त्यप्सरसस्तत्र कृतेऽवरणे द्विजाः ॥
तुष्यन्त्यपि च गन्धर्वा आरम्भे सम्प्रयोजिते ।"

इति सार्धश्लोको दृश्यते) यादृच्छिकसम्प्रधारितपरिग्रहबहुमानकृतः परितोषो विशिष्टविषयो मन्तव्यः) ॥ ४५ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रत्याहारादि तीन अङ्गों का आश्रावणा में अन्तर्भाव है। क्योंकि आश्रावणा अवधि है। [कुछ पुस्तकों में—'प्रत्याहार का प्रयोग होने पर पन्नगों के साथ राक्षस प्रसन्न होते हैं, अवतरण के प्रयोग से अप्सराएँ सन्तुष्ट होती हैं और 'आरम्भ' के प्रयोग करने पर गन्धर्व प्रसन्न होते हैं।' ये डेढ़ श्लोक अधिक दिखाई देते हैं और इस पर अभिनवगुप्त की व्याख्या भी नहीं है।] इस प्रकार स्वेच्छा से निश्चित (निश्चय करके) अथवा (शङ्का करके) सम्मान से उत्पन्न परितोष को विशिष्ट विषय मानना चाहिए ॥ ४५ ॥

विशेश—काशी संस्करण में उपर्युक्त डेढ़ श्लोक मिलता है और गायकवाड़ संस्करण में उक्त श्लोक नहीं पाया जाता, किन्तु यहाँ पर उपर्युक्त डेढ़ श्लोक को स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि पूर्वरङ्ग विधान में यवानिकान्तर्गत पूर्वरङ्ग के प्रत्याहार आसारित पर्यन्त नौ अङ्ग माने गये हैं। उनमें कुतुप-विन्यास को 'प्रत्याहार' कहा गया हैं। वंशीवादक के साथ गायकों का स्थान ग्रहण करना 'अवतरण' है। आलाप को 'आरम्भ' कहा जाता है और वाद्ययन्त्रों का सन्तुलन 'आश्रावणा' है। पन्नगों और यातुधानों का सम्बन्ध कुतुप-विन्यास से माना जाता है। इसीलिए प्रत्याहार के प्रयोग से पन्नगों और यातुधानों के प्रसन्न होने की बात कही गई है। इसी प्रकार अप्सराओं का सम्बन्ध गायन से होने के कारण अवतरण के प्रयोग होने पर अप्सराएँ प्रसन्न होती हैं और गन्धर्वों का सम्बन्ध आलाप से होने के कारण आरम्भ के प्रयोग से गन्धर्वों के सन्तुष्टि की बात कही गई है। इससे आश्रावणा के प्रयोग से दैत्यों और वक्त्रपाणि के प्रयोग होने पर दानवों का सन्तुष्ट होना बताया गया है। इस प्रकार प्रत्याहार, अवतरण और आरम्भ के निरूपण करने के बाद आश्रवणा का प्रयोग करने पर पूर्णता होती है और क्रम भी बना रहता है। अतः पाठ की पूर्णता की दृष्टि से यहाँ डेढ़ श्लोक का होना आवश्यक है ॥ ४५ ॥

१. क. भ. म. अयं कोष्ठकान्तर्गतो भागो न दृश्यते ।

[1]परिघट्टनया तुष्टा युक्तायां रक्षसां गणः ।
[2]सङ्घोटनाक्रियायां च तुष्यन्त्यपि च गुह्यकाः[3] ॥ ४६ ॥
मार्गासारितमासाद्य तुष्टा[4] यक्षा भवन्ति हि ।
गीतकेषु प्रयुक्तेषु [5]देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥ ४७ ॥
वर्धमाने प्रयुक्ते तु रुद्रस्तुष्यति सानुगः ।
तथा चोत्थापने युक्तो ब्रह्मा तुष्टो भवेदिह ॥ ४८ ॥

मार्गासारितशब्देनैकदेशेन सर्वमङ्गं लक्षितम् । आसारितशब्देनासारित-विधिरिति समाहारद्वन्द्वेन द्वयोरङ्गयोः फलमेतन्निरूपितम् । देवाः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—परिघट्टना अर्थात् तन्त्रीवाद्यों के स्वरसन्धान होने पर राक्षस प्रसन्न होते हैं और सङ्घोटना क्रिया के प्रयोग होने पर गुह्य सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४६ ॥

अनुवाद—मार्गासारित को प्राप्त करके यक्ष परितुष्ट होते हैं और गीतक क प्रयोग होने पर देवगण सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ४७ ॥

अभिनव—एकदेशवाची मार्गासारित शब्द से समस्त अङ्ग का लक्षण होगया । आसारित शब्द से आसारित विधि का ग्रहण है, इस प्रकार समाहारद्वन्द्व होने से दोनों अङ्गों का फल निरूपण हो गया । इसी प्रकार गीतक के प्रयोग से गीतक और वर्धमानक दोनों में किसी एक के प्रयोग में दोनों का फल होगया ॥ ४७ ॥

अनुवाद—वर्धमान के प्रयोग होने पर अनुचरों के साथ रुद्र प्रसन्न होते हैं और उत्थापन के प्रयोग होने पर ब्रह्मा सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४८ ॥

अभिनव—'रुद्र' अर्थात् उनके (रुद्र के) कर्म की प्रशंसा से रुद्र प्रसन्न होते हैं । गीतक में भी देवताओं की स्तुति होती है । इसलिए गीतक और वर्धमानक में से एक के प्रयोग होने पर वैकल्पिक रूप से दो फल कहा गया है । ब्रह्मा पद से प्रथम सृष्टि का व्यापार कहा गया है और वह नाट्यविषय है । उसकी यहाँ पुष्पाञ्जलि से पूजा की जाती है ॥ ४८ ॥

---

१. ख. ग. परिघट्टनायां तुष्टाः स्युर्युक्तायां रक्षसां गणाः ।
   घ. परिघट्टनायां तुष्टा युक्तायां रक्षसां गणाः ।
२. ख-ग. घ. सङ्घोटनक्रियायां तु ।
३. क. अ. तुष्यन्तीह सगुह्यकाः ।   ४. ग. प्रीताः ।
५. क-अ. तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः । क-म. गीतास्तुष्यन्ति नित्यशः ।

तुष्यन्ति लोकपालाश्च प्रयुक्ते परिवर्तने ।
[1]नान्दीप्रयोगेऽथ कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः ॥ ४९ ॥
[2]युक्तायामवकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि ।
[3]तथा[4]शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत् ॥ ५० ॥
रङ्गद्वारे प्रयुक्ते तु विष्णुः प्रीतो भवेदिह ।
जर्जरस्य प्रयोगे तु तुष्टा विघ्नविनायकाः ॥ ५१ ॥

रुद्र इति । तदियकर्मस्तुतेः । एतच्च गीतकवर्धमानयोरन्यतरप्रयोगे वैकल्पिकं फलद्वयम् । ब्रह्मेति । प्रथमसृष्टिव्यापारः तत्र नाट्यविषयः । स चात्र पुष्पाञ्जलिना पूज्यते (सूच्यते) ।।४८।।

चन्द्रमा इति । "जितं सोमेन" इति (ना. शा. ५-११०) नान्द्यां पाठात् ॥ ४९ ॥

नागा इत्यवकृष्टगतिः ॥ ५० ॥

अनुवाद—परिवर्त्तन के प्रयोग से लोकपाल सन्तुष्ट होते हैं और नान्दी के प्रयोग से चन्द्रमा प्रसन्न होते हैं ॥ ४९ ॥

अभिनव—परिवर्त्तन के प्रयोग में नाट्यप्रयोक्ता चारों ओर घूमकर देवताओं की वन्दना करता है । अतः उसका सम्बन्ध लोकपालों से माना जाता है । नान्दी का सम्बन्ध चन्द्रमा से हैं । जैसाकि आगे कहेंगे—'राजा सोम ने विजय प्राप्त किया' इस प्रकार नान्दी का पाठ होने से ॥ ४९ ॥

अनुवाद—अवकृष्टा (ध्रुवा) के प्रयोग से नाग सन्तुष्ट होते हैं और शुष्कावकृष्टा के प्रयोग से पितृगण प्रसन्न होते हैं ॥ ५० ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि अवकृष्ट अर्थात् वक्रगति होने के कारण इसका सम्बन्ध नाग से माना गया शै ॥ ५० ॥

अनुवाद—'रङ्गद्वार' का नामक अङ्ग का प्रयोग होने पर विष्णु देवता प्रसन्न होते हैं और जर्जर के प्रयोग से विघ्नविनायक (गणेश) प्रसन्न होते हैं । ॥ ५१ ॥

---

१. क-अ. न. नान्दीप्रयोगे च । क-त. नान्दीप्रयोगे तु ।
२ ख. घ. युक्तयामपकृष्टायां ।
३. घ पुस्तके इतः सार्द्धश्लोकद्वयं नास्ति ।
४. घ शुष्कापकृष्टायां ।

तथा चार्यां प्रयुक्तायामुमा तुष्टा भवेदिह ।
[1]महाचार्यां प्रयुक्तायां तुष्टो भूतगणो भवेत् ॥ ५२ ॥
[2]आश्रावणादिचार्यन्तमेतद्दैवतपूजनम् ।
पूर्वरङ्गे [3]मया ख्यातं तथा चाङ्गविकल्पनम् ॥ ५३ ॥

जर्जरस्येति । शुष्कावकृष्टालक्षणस्यैवाङ्गस्य शेषभूतो जर्जरस्तुतिप्रदर्शकः श्लोको वक्ष्यते "ततः श्लोकं पठेदेकम्" (ना. शा. ५-११८) इति । तस्येदं प्रयोजनं—विघ्नानां यो विनायको निवारयिता स तुष्टो भवति । तन्निवारणोपकरणसमुत्तेजनाद्विघ्नविनायका विरूपाक्षादयः । ते विघातं न कुर्वन्तीति । सव फलसाम्यात्तुष्टिरेषामिति केचित् ॥ ५१ ॥

उमेति । तस्या एव स्वरूपकीर्तनात् ॥ ५२ ॥

एतत्सर्वमुपसंहर्तुमाह—आश्रावणादीत्यादि कृतानि त्वित्यन्तं श्लोकचतुष्टयम् ।

अभिनव—शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के अङ्गभूत जर्जर की स्तुति का प्रदर्शक श्लोक आगे कहेंगे—'तदनन्तर एक श्लोक का पाठ करे (ना. शा. ५-११८) ॥ इसका प्रयोजन यह है कि—विघ्नों के जो विनायक निवारयिता हैं वह इससे सन्तुष्ट होते हैं। उसके और विघ्नों के निवारण के उपकरण के समुत्तेजन के कारण विरूपाक्ष आदि जो विघ्नविनायक हैं वे विनाश नहीं करते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि फलों की समानता होने से इनकी तुष्टि है ॥ ५१ ॥

अनुवाद—चारी के प्रयोग होने पर उमा देवी प्रसन्न होती हैं और महाचारी के प्रयोग से भूतगण प्रसन्न होते हैं ॥ ५२ ॥

अभिनव—उमा के स्वरूप का कीर्त्तन (स्तुति) होने से उमा प्रसन्न होती हैं ॥ ५२ ॥

अभिनव—उन सबका उपसंहार करने के लिए 'आश्रावणा' से लेकर 'कृतानि तु' पर्यन्त चार श्लोकों में कहते हैं—

अनुवाद—आश्रवणा से लेकर चारी पर्यन्त पूर्वरङ्ग में देवताओं के इस प्रकार का पूजन और उनके सभी अङ्गों का विकल्पन मैंने कहा है ॥ ५३ ॥

---

१. ख. रङ्गप्रयोगमाचार्यं (चर्यं) तुष्टो भूतगणै (णो) भवेत् ।
२. ख. घ. प्रत्याहारादिचार्यन्तमेतद्दैवतपूजनम् ।
३. क-न. पूर्वरङ्गे समाख्यातं तथा चाङ्गविकल्पनम् ।
क-त. पूर्वरङ्गे ययाख्याते तथा आङ्गविकल्पने ।

[1]देवस्तुष्यति यो तेन यस्य यन्मनसः प्रियम् ।
तत्तथा पूर्वरङ्गे तु मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ५४ ॥
[2]सर्वदैवतपूजार्हं सर्वदैवतपूजनम् ।
[3]धर्म्यं यशस्यमायुष्यं पूर्वरङ्गप्रवर्तनम् ॥ ५५ ॥

प्रत्याहारादीनामाश्रावणायामन्तर्भावः । चारीशब्देनेह महाचारी। त्रिगतप्ररोचनयोर्दृष्टैकं प्रयोजनमिति तात्पर्यम् । पूर्वरङ्ग इति । तदुपश्लिष्टमित्यर्थः । ख्यातमित्युद्देशेन । अङ्गानां चैषां विकल्पनं लक्षणमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

देवस्तुष्यतीत्यादिना प्रयोजनोपसंहारः । मनसः प्रियमित्यभिमानपरिग्रहबलादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अभिनव—प्रत्याहार आदि का आश्रावणा में अन्तर्भाव है ।चारी शब्द से यहाँ महाचारी का ग्रहण होता है। त्रिगत और प्ररोचना दोनों का दृष्ट एक प्रयोजन है। पूर्वरङ्ग अर्थात् उससे सम्बद्ध। 'ख्यातम्' यह उद्देश के अनुसार कहा गया है। इनके अङ्गों का विकल्पन अर्थात् लक्षण है ॥ ५३ ॥

कुछ आचार्य 'आश्रवणा' के स्थान पर 'प्रत्याहारादि' पाठ मानते हैं तदनुसार इसका अर्थ होगा—

अनुवाद—प्रत्याहारादि से लेकर महाचारी पर्यन्त पूर्वरङ्ग के विधान में पूर्वरङ्ग के विविध अङ्ग और देवताओं के पूजन का विधान मैंने बताया है। ॥ ५३ ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! जो देवता जिससे तुष्ट होता है और जिस देवता के मन को जो प्रिय है उन सब का उसी रूप में पूर्वरङ्ग के प्रकरण कहा है ॥ ५४ ॥

अभिनव—'देवस्तुष्यति' इस कथन के द्वारा प्रयोजन का उपसंहार कह दिया है। 'मनसः प्रियम्' (मन को प्रिय) पद का अभिप्राय है अभिमान के परिग्रह के बल से ॥ ५४ ॥

अनुवाद—समस्त देवताओं की पूजा के योग्य अर्थात् समस्त देवताओं से प्रशंसित तथा जिससे समस्त देवताओं की पूजा की जाती है पूर्वरङ्ग का वह विधान धर्म, यश और आयुष्य प्रदान करने वाला है ॥ ५५ ॥

---

१. ग. तेन तुष्यति यो देवो यस्य यन्मनसः प्रियम् ।
२. क-त. सर्वदैवतपूजार्थम् ।
३. क. धन्यं यशस्यायुष्यं ।

दैत्यदानवतुष्टचर्थं सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
निर्गीतानि सगीतानि पूर्वरङ्गकृतानि तु ॥ ५६ ॥
या विद्या यानि शिल्पानि या गतिर्यच्च चेष्टितम् ।
लोकालोकस्य[३] जगतस्तदस्मिन्नाटकाश्रये ॥ ५७ ॥

प्रशंसामस्य दर्शयति—सर्वैर्दैवतैः पूजार्हं प्रशंसनीयम् । अत्र हेतुः—यतो दैवतान्यनेन पूज्यन्ते । अत एव प्रेक्षापतिप्रयोक्तृप्रभृतीनामेव तत् । धनेषु यशस्यायुषि तत्साधु । तत्कारित्वात् । नह्यत्र कश्चिदपि (कस्यचिदपि) विरक्तिरिति ॥ ५५ ॥

दैत्येति—निर्गीतं दैत्यादिकस्य तुष्टिकृत् । गीतकादि च देवानाम् ॥ ५६ ॥

अभिनव—इसकी प्रशंसा को दिखाते हैं--समस्त देवताओं के पूजा के योग्य अर्थात् समस्त देवताओं के द्वारा प्रशंसनीय है। यहाँ पर हेतु यह है कि क्योंकि देवता इससे पूजे जाते हैं अर्थात् इससे देवताओं की पूजा की जाती है। इसलिए प्रेक्षापति तथा नाट्यप्रयोक्ता आदि के लिए ही वह है। धन में, यश में और आयु में अर्थात् धन, यश, आयु के विषय में वह साधु है; क्योंकि वह धन, यश और आयु की प्रदान करने वाला है। इस विषय में किसी की भी विरक्ति नहीं है ॥ ५५ ॥

अनुवाद—समस्त दैत्य, दानव तथा समस्त देवताओं की तुष्टि के लिए पूर्वरङ्ग में निर्गीत और सगीत का विधान किया गया है। भाव यह कि पूर्वरङ्ग के विधान में निर्गीत अथवा सगीत दोनों का प्रयोग दैत्य, दानव और देवताओं की तुष्टि के लिए किया जाता है ॥ ५६ ॥

अभिनव--निर्गीत दैत्यों एवं राक्षसों की तुष्टि के लिए और सगीत अर्थात् गीत देवताओं कौ तुष्टि के लिए है ॥ ५६ ॥

अनुवाद—इस चर और अचर, दृश्य और अदृश्य जगत् की जो विधाएँ हैं, जो शिल्प हैं, जो गतियाँ और जो चेष्टाएँ है वे सब इस नाटक में हैं ॥५७॥

विमर्श—कुछ संस्करणों में यह श्लोक नहीं पाया जाता। गायकवाड़ संस्करण में यह कोष्ठक में दिया गया है। किन्तु इस पर अभिनवगुप्त की टीका नहीं है। इसी से मिलता जुलता एक श्लोक नाटचशास्त्र के प्रथम अध्याय में किया गया है (न तच्छिल्पं न तच्छास्त्रं न सा विद्या न सा कला इत्यादि)। उसीका पुनरावर्त्तन यह प्रतीत होता है ॥ ५७ ॥

---

३. ख. लोकालोकस्य ।

निर्गीतानां सगीतानां वर्धमानस्य चैव हि ।
ध्रुवं विधाने वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चैव हि ॥ ५८ ॥

नन्वस्य लक्षणं कुतो ज्ञेयम् । यत इह तावन्नोक्तम् । चाङ्गप्रसङ्गतः लक्षणमस्य पश्यामो वयम् । इत्याशङ्क्य [1]प्रसङ्गादन्यत्र लक्षणं वक्ष्यामीति प्रसङ्गावकाशं दर्शयितुमाह—निर्गीतानामिति ।

तेषां लक्षणं "तथा रुन्द्रे" ति (यथा ऋ दुम् इति) लक्ष्यमुदाहरणं वक्ष्यामि । ध्रुवाणां विधाने (ना. शा. ३१-१२२) कर्तव्ये सतीत्यर्थः । न तु ध्रुवाध्याये । एतदुक्तं भवति—ध्रुवागानस्येहोपरञ्जकज्येष्ठतया तस्य वक्तव्यप्रकृतिभूतं गान्धर्वं ज्ञातुं यत्तल्लक्षणं वक्ष्यते तत्रैतत्ततातोद्यविधाने तालाध्याये च वक्ष्यामि इति । [2]एतदविदित्वा यद्ध्रुवाशब्दोऽत्र छन्दोनिबद्धनिमित्तनिर्गीतत्वे वर्तत इत्याहुः तदसत् । अनुक्तसमत्वादस्य । तद्विधाने तल्लक्षणं वक्ष्यामीति न किञ्चित् । अनार्षोऽयं श्लोक इति तु महत्साहसम् ॥ ५८ ॥

अथोत्थापनादीनां लक्षणशेषः पूरयितव्यः । तत्रोत्थापनस्यानुवादपूर्वकं ध्रुवालक्षणं तत्प्रयोगद्वारेण पूर्णं कर्तुमाह—प्रयुज्येत्यादि योजयेदित्यन्तं श्लोकचतुष्टयम् ।

अब प्रश्न यह है कि इसका लक्षण कैसे जाना जाय ? क्योंकि यहाँ पर उसका कथन नहीं किया गया है । यहाँ पर अङ्गों (पूर्वरङ्ग के अङ्गों) के प्रसङ्ग में उसका लक्षण हम नहीं देखते । इस प्रकार आशङ्का करके प्रसङ्गवश यहाँ लक्षण कहूँगा, इस प्रकार प्रसङ्ग का अवसर दिखाने के लिए कहते—

अनुवाद-अब मैं ध्रुवाविधान के अवसर पर निर्गीत. सगीत और वर्धमानक के लक्षण और विधान का कथन करूँगा ॥ ५८ ॥

अभिनव—उनके लक्षण तथा 'रुन्द्रे' इत्यादि उदाहरण को आगे ध्रुवाओं के विधान में कहूँगा' ध्रुवाध्याय में नहीं। इससे यह कहा गया है कि ध्रुवागान का रञ्जक तत्त्वों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण उसके वक्तव्य के प्रकृतिभूत गान्धर्व को जानने के लिए जो लक्षण कहेंगे उसे वहाँ तत आतोद्य-विधान और तालाध्याय मैं कहूँगा । इसको न जानकर ध्रुवा शब्द का जो प्रयोग यहाँ छन्दोनिबद्ध निर्गीत के सम्बन्ध में किया गया है ऐसा जो कहते हैं वह असत् है । क्योंकि उसमें समता का निर्देश नहीं है । 'उसके विधान में उसका लक्षण कहूँगा' इसका तो कोई अर्थ नहीं है। यह श्लोक अनार्ष है, यह कहना तो महान् साहस है ॥ ५८ ॥

---

१. क. प्रसङ्गादत्र ।
२. क. एतदविदितत्त्वद्ध्रुवाशब्दोऽत्र छन्दोनिबद्धनिमित्ता ।

प्रयुज्य गीतकविधिं वर्धमानमथापि[1] च ।
गीतकान्ते ततश्चापि कार्या ह्युत्थापनी ध्रुवा ।। ५९ ।।
आदौ द्वे च चतुर्थं चाप्यष्टमैकादशे तथा ।
गुर्वक्षराणि जानीयात्पादे ह्येकादशाक्षरे ।। ६० ।।
चतुष्पदा भवेत्सा तु चतुरश्रा[2] तथैव च ।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च त्रिलया त्रियतिस्तथा ।। ६१ ।।
परिवर्तांश्च[3] चत्वारः पाणयस्त्रय एव च ।
जात्या[4] चैव हि विश्लोका[5]तां च तालेन योजयेत् ।।६२।।

तत्र प्रथमः श्लोकोऽनुवादकः । गीतकवर्धमानयोरन्यतरत्प्रयुज्यते । गीतकान्ते । ततो वा । वर्धमानादनन्तरम् । उत्थापनी ध्रुवा कार्येत्यनुवादः । चो भिन्नक्रमो वार्थे । अन्ये तु समुच्चये । निपातसमुदायं युगपद्गीतकवर्धमानप्रयोगाशयेनाहुः ।। ५९ ।।

इसके बाद उत्त्थापन आदि अङ्गों के अवशिष्ट लक्षणों को कहूँगा । वहाँ 'प्रयुज्य' यहाँ से लेकर 'योजयेत्' इस श्लोक पर्यन्त चार श्लोको में उत्त्थापन का अनुवाद पूर्वक ध्रुवा के लक्षण को उसके प्रयोग के द्वारा पूरा करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—पहिले गीतक विधि फिर वर्धमानक के प्रयोग करने के पश्चात् गीतक के अन्त में उत्त्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए ।। ५९ ।।

अभिनव - वहाँ अर्थात् उनमें पहला श्लोक अनुवादक है। गीतक और वर्धमानक में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है । गीतक के अन्त में अथवा उसके बाद अर्थात् वर्धमानक के प्रयोग के बाद उत्त्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए, यह अनुवाद है। यहाँ 'च' पद भिन्नक्रम 'वा' के अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरे आचार्य समुच्चय के अर्थ में 'वा' का प्रयोग मानते हैं। इस प्रकार निपातसमुदाय का आशय है कि गीतक और वर्धमानक का प्रयोग एक साथ करना चाहिए ।। ५९ ।।

अब ध्रुवा के लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद--ध्रुवा के पाद में आदि के दो अक्षर अर्थात् प्रथम और द्वितीय तथा चतुर्थ, अष्टम तथा एकादश अक्षर गुरु होते हैं । इसमें एक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं । इसके चार पाद होते हैं । इसमें चतुरस्र ताल होता है और चार सन्निपात, तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त्त, तीन पाणि होते हैं । इसमें विश्लोक नामक जातिवृत्त (छन्द) होता है और उसी प्रकार का ताल प्रयुक्त किया जाता है ।। ६१-६२ ।।

---

१. ख घ. वर्धमानं तथैव च । २. ख. चतुरश्रे । ३. ख. घ. परिवर्त्तास्तु ।
४. ख. जात्यां । ५. ख. भ. घ. विश्लोकास्तांश्च ।

ध्रुवाया लक्षणम्—आदौ द्वे चेति । शेषाणि तु लघूनि । एवम्भूताश्चत्वारोऽस्याः पादाः । तालश्चास्याश्चञ्चत्पुटः द्विकलः । भाविविधिना तल्लाभेऽपि चतुरश्रग्रहणाद् द्विकलचञ्चत्पुटपादभागविषयो वक्ष्यमाणाङ्गुलिनियमोपजीवनार्थः । सर्वपादान्ते यतोऽस्याः सन्निपातस्तेन चतुस्सन्निपाता । द्रुतादयो लयाः । स्रोतोगतादयो यतयः । परिवर्ता गानक्रियाभ्यावृत्तयः ते चत्वारः । [1]समपाणिरवपाणिरुपरिपाणिश्चेति त्रयः पाणयोऽस्यां कार्या इति शेषः । किमियं ध्रुवा वृत्तजातिमध्ये न गणितेत्याशङ्क्याह—विश्लोकाऽख्यवृत्तजातिरियम्—

"[2]आद्ये चतुर्थमपि चाष्टमकं सैकादशं यदि भवेच्च गुरुः ।
सा त्रैष्टुभे भवति पादविधौ विश्लोकजातिरवकृष्टकृता ॥

(ना. शा. ३२-१४९)

अभिनव- अब ध्रुवा का लक्षण कहते हैं—ध्रुवा के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। इसमें पाद के प्रथम दो अक्षर तथा चौथा, आठवाँ, ग्यारहवां अक्षर गुरु होते हैं और शेष अक्षर लघु होते हैं। (इसका स्वरूप इस प्रकार है—ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ) । इस प्रकार इसके चार पाद होते हैं। इसका ताल द्विकल चञ्चत्पुट होता है। भावी विधान के अनुसार उसका लाभ हो जाने पर भी चतुरस्र के ग्रहण से द्विकल चञ्चत्पुट पादभाग का विषय वक्ष्यमाण अर्थात् आगे कहे जाने वाले अङ्गुलि-योजना नियम के उपजीवन के लिए है। यतश्च समस्त पादों के अन्त में इसका सन्निपात होता है अतः इसे चार सन्निपातों से युक्त होता है। सन्निपात सशब्दा क्रिया का एक भेद है जिसमें दोनो हाथों में ताली बजाई जाती है। इसमें द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन लयों का प्रयोग होता है। तालक्रिया के अन्तराल में किया जाने वाला विश्राम लय है। इसमें समा, स्रोतोवहा तथा गोपुच्छा नामक तीन यतियों का प्रयोग होता है। लय के प्रयोग के नियम को यति कहते हैं। इसमें चार परिवर्त्त का प्रयोग होता है। गानक्रिया की आवृत्ति को परिवर्त्त कहते हैं। मनमोहन घोष ने परिवर्त्त को पूर्वरङ्ग का परिवर्त्तन समझ लिया है। अभिनवगुप्त ने इसे ज्ञानक्रिया की आवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। ताल के साथ तीन पाणि का प्रयोग होता है। समपाणि, उपरिपाणि और अवपाणि इन तीन पाणियों का इसमें प्रयोग करना चाहिए। यह ध्रुवा वृत्त जाति के मध्य में क्यों नहीं गिना गया ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि यह विश्लोका नामक वृत्त जाति है। जिसका लक्षण है—जहाँ एकादशाक्षर पादवाले त्रिष्टुप् छन्द में आदि के दो अक्षर, चौथा, आठवां तथा ग्यारहवां अक्षर यदि गुरु हों तो वहाँ विश्लोका जाति वृत्त होता है।" (ना० शा० ३२।१४८) ॥

१. क. समपाणिरपरपाणिरुपरिपाणिश्चेति । २. क. आद्यां ।

शम्या तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च।
पुनश्चैकला शम्या सन्निपातः [1]कलात्रयम् ॥ ६३ ॥

चतुरश्रेति तालेन योजयेदिति च यदुक्तं तत्स्पष्टयति—शम्या त्वित्यादि। द्विकलचञ्चत्पुटस्य शम्यादेः स्वरूपमनेन दर्शितम्। सापि सशब्दपातगत-हस्तनिर्वर्त्यैव। पूर्वादिशब्दात् द्विकलेति दर्शयति--द्विकलेत्यादिना। 'तेन निष्काम-शम्ये दक्षिणेन। पुनः निष्क्रामतालौ वामेन। ततो दक्षिणेन शम्या। ततो द्वाभ्यां प्रवेशनिष्क्रामसन्निपाताः। तत्र--

'आवापसंज्ञकं ज्ञेयमुत्तानाङ्गुलिकुञ्चनम्।
अधस्तलेन हस्तेन निष्क्रामोऽन्त्यप्रसारणम् ॥
भूयश्चाकुञ्चनं ज्ञेयं प्रवेशाख्यमधस्तलम्। (ना. शा. ३१,३३-३४)
शम्या दक्षिणपातस्तु तालो वामेन कीर्तितः।
उभयोः सन्निपातः स सन्निपात इति स्मृतः ॥

चतुरस्र ताल के साथ प्रयोग करना चाहिए, यह जो कहा गया है उसे स्पष्ट कहते—

अनुवाद—इसमें प्रथम दो कलाओं की शम्या, फिर दो कला का ताल, फिर एक कला की शम्या और अन्त में तीन कलाओं का सन्निपात प्रयुक्त होता है ॥ ६३ ॥

अभिनव—यहाँ पर द्विकल चञ्चत्पुट ताल तथा शम्या आदि का स्वरूप दिखा दिया गया है। वह भी शब्दक्रिया के साथ हाथ से निवर्त्य अर्थात् सम्पाद्य है। पूर्वादि शब्दों में द्विकला को दिखाते हैं। इसमें निष्क्राम और शय्या क्रिया दाहिने हाथ से फिर निष्क्राम और ताल क्रिया बायें हाथ से, फिर शम्या क्रिया दाहिने हाथ से फिर उसके बाद दोनों हाथों से प्रवेश, निष्क्राम और सान्निपात क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। वहाँ—

"हाथ को उत्तान करके अङ्गुलियों का आकुञ्चन करना 'आवाप' संज्ञक क्रिया होती है और हाथ को अधोमुख करके नीचे की ओर अङ्गुलियों को फैलाना 'निष्क्राम' क्रिया है। हाथ की अङ्गुलियों को नीचे की ओर ले जाकर फिर आकुञ्चन करना 'प्रवेश' क्रिया कही जाती है।" (ना० शा० ३१।३२-३३)।

"शम्या क्रिया में दक्षिण हाथ का पात होता है और ताल क्रिया में केवल बायें हाथ का पात होता है और जब दोनों हाथ का पात होता है तो 'सन्निपात' क्रिया कही जाती है।" (ना० शा० ३१।३६-३७)।

---

५. क-भ. म. कलात्रये। क-त-कलाश्रयम्।

एवमष्टकलः कार्यः सन्निपातो विचक्षणैः।
चत्वारः सन्निपाताश्च[1] परिवर्तः[2] स उच्यते ॥ ६४ ॥
पूर्वं स्थितलयः[3] कार्यः परिवर्तो विचक्षणैः।
तृतीये सन्निपाते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ६५ ॥
एकस्मिन्परिवर्ते तु गते प्राप्ते द्वितीयके।
कार्यं मध्यलये[4] तज्ज्ञैः सूत्रधारप्रवेशनम् ॥ ६६ ॥

चत्वारः सन्निपाता इति पादचतुष्टयस्यापि परिवर्तनमाह—स्थितलयो विलम्बितलय उक्तः। तृतीय इत्यन्त्यकलावर्जितपादत्रयं तन्त्रीगानसमन्वितं प्रयुज्य तृतीयपादान्त्यकला। ततः प्रभृति पुष्करवाद्यप्रयोगो यावत्तुर्यपादसमाप्तिः। पुनर्मध्यलयेन गानम्। तत्समये सूत्रधारप्रवेशः। तस्येति—प्रथमपरिवर्तस्य। प्रथममपि च गानमन्यद्वितीयादिसाहचर्यात्परिवर्तशब्देनोच्यते। अन्यत् द्विः पचतीति त्रयः[5] पाकाः स्युः। सकृत्पचतीति द्वौ स्याताम् ॥ ६४-६५ ॥

सूत्रधारशब्देन तत्साहचर्यात्पारिपार्श्विकावपि ॥ ६६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार विद्वानों को अष्टकल सन्निपात का प्रयोग करना चाहिए और चार सन्निपातों के प्रयोग से एक परिवर्त्तन है ॥ ६४ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को सर्वप्रथम बिलम्बित लय में परिवर्त्त का प्रयोग करना चाहिए। फिर तीसरे सन्निपात में भाण्डवाद्यों का प्रयोग करे ॥ ६५ ॥

अभिनव—चार सन्निपात होते हैं, उससे चारों पादों के परिवर्त्तन को कहा गया है। स्थितिलय को विलम्बित लय कहा गया है। 'तृतीय' कहने का तात्पर्य है अन्त्य कला से रहित तीन पादों को तन्त्रीगान से समन्वित प्रयोग करके तृतीय पाद की अन्तिम कला। उससे आरम्भ करके चौथे पाद की समाप्ति पर्यन्त पुष्करवाद्य का प्रयोग करना चाहिए। फिर मध्य लय से गाना चाहिए, उस समय सूत्रधार का प्रवेश होना चाहिए। उस प्रथम परिवर्त्त का पहला गाना भी अन्य द्वितीय आदि के साहचर्य से परिवर्त्त शब्द से कहा जाता है। जैसे दो बार पकाता है, इस कथन से तीन पाक समझा जाता है और एक बार पकाता है, ऐसा कहने से दो पाक होते हैं ॥ ६५ ॥

अनुवाद—नाट्यवेताओं को एक परिवर्त्त के समाप्त हो जाने के बाद द्वितीय परिवर्त्त के प्रारम्भ में मध्यलय का प्रयोग करना चाहिए और उसी समय सूत्रधार का प्रवेश कराना चाहिए ॥ ६६ ॥

अभिनव—यहाँ सूत्रधार शब्द से अर्थात् सूत्रधार के साहचर्य से दोनों परिपार्श्वकों का भी ग्रहण होता है ॥ ६६ ॥

---

१. ख. घ. सन्निपातास्तु। २. ख. घ. परिवर्तस्य उच्यते।
३. ख. पूर्वस्थितिलयः। घ. पूर्वः स्थितलयः। ४. ख, मध्यलयं। ५. क-म. भूयः।

पुष्पाञ्जलिं[1] समादाय रक्षामङ्गलसंस्कृताः[2] ।
शुद्धवस्त्राः[3] सुमनसस्तथा चाद्भुतदृष्टयः ॥ ६७ ॥
स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
दीक्षिताः शुचयश्चैव प्रविशेयुः समं त्रयः ॥ ६८ ॥

तेषां प्रवेशे [4]इतिकर्तव्यतामाह–पुष्पाञ्जलिमित्यादिना ।

पूर्वं पुष्पाञ्जलिः सूत्रधारस्यैव । इतरयोर्भृङ्गारजर्जरधरत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । शुद्धं शुक्लम् । शोभनं मनः सविस्मयं दृष्टिः येषाम् । विस्मयश्च ये श्रुत्याविभिः दुर्विनेयास्तेऽस्माभिः सुखेन विनीयन्त इति ।

"या चाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योद्वृत्ततारका ।
सौम्या विकसितान्ता च साद्भुता दृष्टिरद्भुते ॥" (ना. शा. ८-५१)

अभिनव—उनके अर्थात् सूत्रधार और पारिपार्श्वकों के प्रवेश में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

अनुवाद—अञ्जलि में पुष्पों को लेकर रक्षा और मङ्गल सूत्रों से सुसंस्कृत शुद्ध (श्वेत) वस्त्रों को धारण किये हुए, प्रसन्नचित्त और अद्भुत दृष्टि वाले, अङ्गों को सौष्ठव स्थिति में रखते हुए वैष्णव स्थानक की चेष्टा में स्थित, दीक्षित और पवित्र तीनों व्यक्ति एक साथ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करें ॥ ६७-६८ ॥

अभिनव–प्रथम पुष्पाञ्जलि सूत्रधार की होनी चाहिए । अन्य दोनों के विषय में आगे कहे जाने वाले भृङ्गार और जर्जर में से एक भृङ्गार को और दूसरा जर्जर को धारण करेगा । शुद्ध का अर्थ है श्वेत । शोभन (सुन्दर) है मन जिसका वह 'समुनसः' है और विस्मययुक्त दृष्टि है जिसकी उसे साद्भुतादृष्टि कहते हैं और विस्मय यह हे कि जो श्रुत्यादि के द्वारा विनेय नहीं हैं अर्थात् जिनको शास्त्रों के द्वारा शिक्षित नहीं किया जा सकता है उन्हें हम सुखपूर्वक सरलता से शिक्षित करते हैं ।

"जहाँ पर बरौनी का अग्रभाग आकुञ्चित हो और आँखों की पुतलियाँ आश्चर्य से उद्वृत्त हों और नेत्रप्रान्त सौम्य एवं विकसित हो वहाँ अद्भुता दृष्टि होती है । यह अद्भुत कार्यों में प्रयुक्त होती है ।" (ना० शा० ८-५१) ।

---

१. ख. पुष्पाञ्जली ।
२. ग. रक्षामङ्गलसत्कृताः । क-म. रक्षामङ्गलसंस्तुता। ।
क-त. रक्षामण्डलसत्कृताः । क-न. रक्षां मङ्गलसंस्कृताम् ।
३ ख. शुद्धवर्णा। ।
४ क. तेषां प्रयोग इतिवक्तव्यतामाह ।

भृङ्गारजर्जरधरौ भवेतां पारिपार्श्विकौ[1] ।
मध्ये तु [2]सूत्रभृत्ताभ्यां [3]वृत्तः पञ्चपदीं व्रजेत् ॥ ६९ ॥

सौष्ठवेत्यादिना लक्षणैकदेशेन वैष्णवमेव स्फुटयति । अन्यथा विष्णुत्वादावपि कस्यचित्सम्भावना भवेदन्वर्थतया ।

"द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
तयोः समस्थितश्चैकः त्र्यश्रः पक्षगतोऽपरः ॥ (ना. शा. १०-५२)
किञ्चिदञ्चितजङ्घं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ।" (ना. शा. १०-५३)

दीक्षिता इति कृतोपवासाः ॥ ॥६७-६८ ॥

भृङ्गारः शौचाय । जर्जरो विघ्नशान्त्यै । परिपार्श्वभवौ पारिपार्श्विकौ । अत एव सूत्रधारो मध्ये द्वाभ्यां वृत्तस्सन्निति त्रयोऽपि पञ्चपदीं व्रजेयुरित्यर्थः ॥ ५९ ॥

'सौष्ठव' इत्यादि के द्वारा लक्षणैकदेश न्याय से वैष्णव स्थानक को ही स्पष्ट करता है। अन्यथा विष्णुत्वादि में भी अन्वर्थ रूप से किसी की सम्भावना हो सकती है।

"इसमें दोनों पैरों का अन्तर २½ ताल का होता है। उनमें एक पैर सम स्थिति में तथा दूसरा पैर पार्श्व में तिरछा होना चाहिए और जङ्घा कुछ झुका हुआ अञ्चित चेष्टा में होना चाहिए तथा अङ्ग सौष्ठव से पुरष्कृत हों तो उसे 'वैष्णव-स्थान' कहते है।" (ना० शा० १०-५२-५२)।

'दीक्षित' का अर्थ है जिसने उपवास किया है ॥ ६७-६८ ॥

अनुवाद – वे दोनो पारिपार्श्विक क्रमशः भृङ्गार (झारी) और जर्जर को धारण किये हुए हो और उनके बीच में स्थित सूत्रधार पांच पग चले ॥६९॥

अभिनव – भृङ्गार शुद्धि के लिए जल से भरा हुआ पात्र है। 'जर्जर" विघ्न की शान्ति के लिए बांस का खण्ड होता है। दोनो पार्श्वों में रहने वाले को पारिपार्श्विक कहते हैं। इसलिए सूत्रधार उन दोंनो के बीच स्थित होकर तीनों ही पाँच पग (कदम) आगे चलें ॥ ६९ ॥

---

१ ख. ग. घ. पारिपार्श्वकौ ।
२. ख. घ. मध्ये च सूत्रधृक् ताभ्यां ।
३ ख. ग. घ. वृतः ।

[1]पदानि पञ्च गच्छेयुर्ब्रह्मणो यजनेच्छया ।
[2]पदानाञ्चापि विक्षेपं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः[3] ॥ ७० ॥
[4]त्रितालान्तरविष्कम्भमुत्क्षिपेच्चरणं शनैः ।
[5]पार्श्वोत्थानोत्थितं चैव तन्मध्ये पातयेत्पुनः ॥ ७१ ॥

तत्प्रयोजनमाह—पदानीति । त्रयस्ताला अन्तरं मानं यस्य तादृशो विष्कम्भः ऊर्ध्वगमने परिमाणं यस्य चरणस्य तं [6]पार्श्वोत्थानेन न तु स्पष्टतरोर्ध्वतयोत्थितं चरणं मध्ये द्वयोः पातयेत् । गमनस्य प्रक्रान्तत्वात् । किञ्चित्पुरत इत्थमेवान्यानि चत्वारि पदानि ॥ ७०-७१ ॥

अब उसके प्रयोजन को कहते हैं—

अनुवाद—ब्रह्मा की पूजा के लिए वे तीनों पांच पग आगे चलें। अब क्रमशः पदों के विक्षेप की व्याख्या करूँगा ॥ ७० ॥

अनुवाद—तीन ताल के अन्तर पर पैर को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाये। फिर पार्श्व में उठाने से उठे हुए पैर को उसके मध्य में गिरावे ॥ ७१ ॥

अभिनव—अब पाँच पदों के चलने का प्रयोजन बतलाते हैं। तीन ताल अन्तर (मान, प्रमाण) है जिसका, ऐसा विष्कम्भ ऊर्ध्वगमन (ऊपर उठाने में) में परिमाण है जिस चरण का, उसे बगल से उठाकर (पार्श्वोत्थान विधि से उठे हुए चरणको) बीच में गिराये, न कि स्पष्ट रूप से ऊपर उठे हुए पैर को दोनों के बीच में गिराये। गमन के प्रकान्त होने के कारण पैर को थोड़ा आगे रखे। इसी प्रकार अन्य चारों पगों को भी रखे ॥ ७०-७१ ॥

विमर्श—अभिनव ने एक बालिश्त को हस्तताल माना है। सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार अंगूठा और बीच की अंगुली के फैलाने से जो अवकाश या माप होता है उसे ताल कहा जाता हैं। विष्कम्भ का सामान्य अर्थ है वृत्त का व्यास, अन्तराल अथवा विस्तार। अभिनव ने तीन ताल के अन्तराल को विष्कम्भ कहा है। पैरों को पार्श्वोत्थान विधि से उठाकर अर्थात् पहिले दोनों पार्श्वों में क्रमशः उठाए और फिर उसी क्रम से भूमि पर रखे।' ७ -७१ ॥

---

१. क- त. सलिलं तु पुरस्कृत्य ।
२. ख. ष. पादानाञ्चास्य ।
३. ख. ष. व्याख्यास्यामि यथाक्रमम् ।
४. ख. त्रिकालान्तरविष्कम्भम् । 'ख' पुस्तके इदं पद्यं नास्ति ।
५. ख. ष. पार्श्वेनोत्थानोत्थितश्चैव ।
६ क. पार्श्वोत्थापनेन ।

[1]एवं पञ्चपदीं गत्वा सूत्रधारः सहेतरः[2] ।
सूचीं वामपदे[3] दद्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च[4] ॥ ७२ ॥
पुष्पाञ्जल्यपवर्गश्च कार्यो ब्राह्मेऽथ मण्डले ।
रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७३ ॥
ततः सललितैर्हस्तैरभिवन्द्य पितामहम्[5] ।
[6]अभिवादानि कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ७४ ॥

अथ यदर्थं पञ्चपदविक्षेपः कृतस्तं पुष्पाञ्जलिविमोक्षं सेतिकर्तव्यताकमाह—सूचीमित्यादि ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥" (ना. शा. १०-३४)

पृष्ठदेश इति शेषः । तस्य पादस्य बहिः क्षेपः मण्डलं स्थानम् । किन्तत् । ब्राह्ममित्याह । रङ्गपीठस्येति ।

अनुवाद—इस प्रकार सूत्रधार दोनो पारिपार्श्वकों के साथ पाँच पग चलकर बायें पर को सूची चारी का सम्पादन करे और दाहिने पैर को विक्षेप प्रक्रिया में रखे ॥ ७२ ॥

अभिनव—इसके बाद जिसके लिए पांच पग (पाद) का विक्षेप किया था, उसे पुष्पाञ्जलि विमोक्ष को इतिकर्त्तव्यता के साथ कहते हैं—

अभिनव—यदि कुञ्चित बायें पैर को ऊपर की ओर उठाकर जानु के ऊपर फैलाये, फिर आगे की ओर करके पृष्ठभाग में गिरा दे तो वह 'सूची' कही जाती है।" (ना० शा० १०-३४)

उस पैर का बाहर की ओर क्षेपण किया जाता है अर्थात् मण्डल के बाहर प्रक्षेपण करते है। मण्डल स्थान को कहते हैं। वह किसका स्थान है ? कहते हैं ब्रह्मा का। इसी बात को कहते हैं—

अनुवाद—इसके बाद ब्रह्मा के मण्डल में पुष्पाञ्जलि का अर्पण करना चाहिए। क्योंकि रङ्गपीठ के मध्य में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं ॥ ७३ ॥

अनुवाद—इसके बाद ललित हस्तचेष्टा के साथ ब्रह्माजी का अभिवादन करके पृथ्वीतल पर हाथ से स्पर्श करते हुए तीन बार अभिवादन करना चाहिए ॥ ७४ ॥

---

१. ग. एवं विष्णुपदीं कृत्वा । २. ख. घ. सहेतरैः ।
३. ख. घ. सूचीं वामपदं दद्यात् । ग. सूचीवामपदं दद्यात् । ४. ख. तु ।
५. ग. ख. अभिवन्द्य पितामहः । ६. ग ख. घ. अभिवादनानि ।

कालप्रकर्षहेतोश्च पादानां प्रविभागतः ।
सूत्रधारप्रवेशाद्यो वन्दनाभिनयान्तकः[1] ॥ ७५ ॥
द्वितीयः परिवर्तस्तु कार्यो मध्यलयाश्रितः[2] ।

अभिवादनानीत्यर्थः । त्रीणीति । प्रत्येकं कथं वन्दनं कार्यमित्याह । कालस्य यः प्रकर्षो बहुतरत्वं तत्र । चो हेतौ । नृत्तहस्तकरणप्रयोगात्मकमवलम्ब्य । ननु किलासौ (कियानसौ) कालप्रकर्षः । आह—पादानामिति । तदुपलक्षितानां कलानां यः प्रविभागः कालपरिमाणान्तरमाश्रित्य । ननु तासामपि को विधिरित्याशङ्क्याह—सूत्रधारप्रवेशाद्य इति ।

एतदुक्तं भवति—द्वात्रिंशत्कलानां मध्ये प्रवेशः पञ्चपदीगमनं पुष्पत्यागोऽभिवादनत्रयं चेति निर्वर्तनीयम् । तत्र यावतीषु कलासु पञ्चपदीगमनान्तं कर्म सम्पन्नं ततो या अवशिष्यन्ते कलास्तदभिवादनयोग्यं व्यावर्तितपरिवर्तिताविकरणमुद्वृत्तनलिनीपद्मकोशाविनृत्तहस्तजातं वाऽवलम्ब्य सललितमभिवादनत्रयं कार्यम् ।

अनुवाद—काल के प्रकर्ष के हेतु पादों को विभाजित करके रखे और सूत्रधार के प्रवेश से आरम्भ करके वन्दना अर्थात् अभिवादन के अभिनय पर्यन्त मध्य लय पर आश्रित करके द्वितीय परिवर्त्त को सम्पादित करना चाहिए ॥७५-७६ (१)॥

अभिनव—तीन अभिवादन करना चाहिए। प्रत्येक अभिवादन कैसे करना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि काल का जो प्रकर्ष (बाहुल्य) है उसमें। यहाँ पर 'च' हेतु अर्थ में है। नृत्तहस्त करण के प्रयोग का अवलम्बन करके। प्रश्न होता है कि कितने काल का प्रकर्ष यहाँ अपेक्षित है। इस पर कहते हैं—पाद से उपलक्षित कलाओं का जो प्रविभाग है। काल परिमाणान्तर का अवलम्बन करके। अब प्रश्न यह है कि उन कलाओं की क्या विधि है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—सूत्रधार के प्रवेश से लेकर ब्रह्मा के वन्दना पर्यन्त मध्य लय पर तृतीय परिवर्त्त करना चाहिए।

यह कहा जाता है कि—बत्तीस कलाओं के मध्य में पांच पग (पाद) गमन, पुष्प-विमोक्षण तथा तीन अभिवादन कार्य को करना चाहिए। उनमें जितनी कलाओं में पञ्चपदी-गमन-पर्यन्त कर्म सम्पन्न होता है उससे अवशिष्ट जो कलाएँ हैं उनमें अभिवादन के योग्य व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित आदि करणों तथा उद्वृत्त, नलिनी, पद्मकोश आदि नृत्तहस्तों का आश्रय लेकर ललित हस्तचेष्टा के साथ तीन अभिवादन करना चाहिए ॥ ७२-७६ (१) ॥

---

१. ख. ग. वन्दनाभिनयानुगः । २. ख. घ. मध्यलयाश्रयः ।

[1]ततः परं तृतीये तु मण्डलस्य प्रदक्षिणम् ॥ ७६ ॥
भवेदाचमनं चैव जर्जरग्रहणं तथा।
उत्थाय मण्डलात्तूर्णं दक्षिणं [2]पादमुद्धरेत् ॥ ७७ ॥
[3]वेधं तेनैव कुर्वीत विक्षेपं वामकेन च।
पुनश्च दक्षिणं पादं पार्श्वसंस्थं समुद्धरेत् ॥ ७८ ॥
[4]ततश्च वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च।

एवं द्वितीये परिवर्ते कर्मत्रयं प्रदर्श्य तृतीयपरिवर्ते द्रुतलये कर्मकलापमुपदिशति—ततःपरमिति।

मण्डलस्येति। ब्रह्मस्थानस्य। तत्कर्मत्रयं लक्षयन्प्रथमस्य लक्षणमाह—उत्थायेति। अभिवादने हि जानुशिरोविनमितभूश्लेषपर्यन्तं कृतम्। उद्धरेदिति। "कुञ्चितं पादम्" (ना० शा० १०-३४) इत्यादिसूचीं सूचयति। वेधमिति द्वितीयपादपार्ष्णिपृष्ठे पातनम्। पार्श्वसंस्थमिति पार्श्वक्रान्तां (ना० शा० १०-३२) चारीमाह ॥७६-७६ (१) ॥

इस प्रकार द्वितीय परिवर्त्त में तीन कर्मो को दिखाकर तृतीय परिवर्त्त में द्रुत लय में किये जाने वाले क्रियाकलाप का उपदेश करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद तृतीय परिवर्त्त में ब्रह्ममण्डल की प्रदक्षिणा करे, फिर आचमन करके जर्जर को ग्रहण करे, फिर ब्रह्मा के मण्डल से शीघ्रता से उठकर दाहिने पैर को ऊपर उठाये, फिर उसी पैर से वेध करे और बायें पैर से विक्षेप करे, फिर पार्श्व में स्थित दाहिने पैर को ऊपर उठाये, तदनन्तर बायें पैर से वेध और दाहिने पैर का विक्षेप करे ॥ ७६-७८ (१) ॥

अभिनव—मण्डल अर्थात् ब्रह्मस्थान का क्रमशः उनके तीन कर्मो का लक्षण करते हुए पहिले का लक्षण करते हैं—उठकर इत्यादि। क्योंकि अभिवादन में पृथ्वी के स्पर्श पर्यन्त जानु और शिर का विनमन किया जाता है। 'उद्धरेत्' पद से कुञ्चित पैर को उठाकर' (ना० शा० १०-३४) इत्यादि नाट्यशास्त्रोक्त सूची चारी सूचित होती है। 'वेध' का अर्थ है दूसरे पैर की एड़ी के पीछे गिराया जाना। 'पार्श्वस्थं' पद से पार्श्वक्रान्ता चारी का निर्देश है ॥ ७६-७८ (१) ॥

---

१. ख अतः परं तृतीयस्तु मण्डरस्य प्रदक्षिणम्।
घ. अतः परं तृतीये तु मण्डलस्य प्रदक्षिणम्।
२. ग. पदमुद्धरेत्।
३. ख. घ. तेनैव वेधं कुर्वीत। क-त एवं तेनैव कुर्वीत।
४. क-त. म. भूयश्च।

इत्यनेन विधानेन सम्यक्कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ७९ ॥
[1]भृङ्गारभृतमाहूय शौचं चापि समाचरेत् ।
यथान्यायं तु कर्तव्या तेन ह्याचमनक्रिया ॥ ८० ॥
आत्मप्रोक्षणमेवाद्भिः कर्तव्यं तु यथाक्रमम् ।

एतत्कर्मोपसंहरन्द्वितीयं शौचाख्यं लक्षयति—इत्यनेनेति ।

आहूयेति वचनाद्भृङ्गारधारिणः प्रदक्षिणभ्रमणे तूष्णींभावेन स्थितिरिति लक्ष्यते । शौचप्रयोजनं वक्ष्यते । यतोऽभिवादने श्लिष्टं शिर इत्यादिन्याय-स्मृत्यादिः प्राङ्मुख उपविश्याबहिर्जानुरित्यादिक्रमः ॥ ७९-८१ (१) ॥

विमर्श—यहाँ पर ब्रह्ममण्डल में दाहिने पैर को ऊपर उठाकर बायें पैर के विक्षेप के साथ वेध करने की जिस प्रक्रिया का निर्देश है उससे सूची चारी सूचित होती है, क्योंकि सूची चारी में कुञ्चित पैर को उठाकर जानु के ऊपर प्रसारित कर पुनः अग्रभाग में गिराया जाता है। (ना० शा० १०-३४)। अभिनव वेध का अर्थ दूसरे पैर की एड़ी के पिछे गिराया जाना लेते हैं। सूची चारी के बाद यहाँ फिर दाहिने पैर के पार्श्वक्रान्ता चारी में उठाये जाने का निर्देश है। उसके बाद बायें पैर से वेध अर्थात् बायें पैर को सूची चारी में रखकर दाहिने पैर से विक्षेप किया जाता है ॥ ७६-७९ (१) ॥

अब इन कर्मों का उपसंहार करते हुए शौच नामक द्वितीय कर्म का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार इस विधान से अच्छी तरह प्रदक्षिणा करके भृङ्गार (झारी) को धारण करने वाले को बुलाकर शौचक्रिया अर्थात् हस्तपादादि का प्रक्षालन करे, फिर उसी से शास्त्रविधान के अनुसार आचमन करे, तदनन्तर जल से क्रमशः अपना प्रोक्षण करना चाहिए ॥ ७९-८१ (१) ॥

अभिनव—'आहूय' अर्थात् 'बुलाकर' इस कथन से भृङ्गारधारी के प्रदक्षिण अर्थात् भ्रमण के अवसर पर चुपचाप शान्त रहना लक्षित होता है। भाव यह कि प्रदक्षिणा के समय भृङ्गारधारी चुपचाप शान्त रहता है। शौच (शुद्धीकरण) के प्रयोजन को आगे कहेंगे। क्योंकि अभिवादन में शिर भूमि से श्लिष्ट होता है, इत्यादि न्याय अर्थात् स्मृति आदि में निर्दिष्ट विधि से पूर्वाभिमुख बैठकर जानु के भीतर हाथ रखकर समस्त शौच क्रिया करनी चाहिए, यही क्रम है ॥ ७९-८१ (१) ॥

---

१. ग. प्रकारेण ।
२. ख. घ. भृङ्गाधारम् ।

प्रयत्नकृतशौचेन सूत्रधारेण यत्नतः ॥ ८१ ॥
[1]सन्निपातसमं ग्राह्यो जर्जरो विघ्नजर्जरः ।
प्रदक्षिणाद्यो विज्ञेयो जर्जरग्रहणान्तकः[2] ॥ ८२ ॥
तृतीयः परिवर्तस्तु विज्ञेयो वै द्रुते लये ।
गृहीत्वा जर्जरं [3]त्वष्टौ कला जप्यं[4] प्रयोजयेत् ॥ ८३ ॥

तृतीयं कर्म दर्शयति—प्रयत्नेति। कस्मिन् सन्निपाते तद्ग्रहणमित्याशङ्कामपाकर्तुमाह—प्रदक्षिणाद्य इति। तेन तृतीयपरिवर्तान्त्यसन्निपातकाले तद्ग्रहणमित्युक्तं भवति ॥ ८१-८२ ॥

अथ द्रुतलय एव चतुर्थे परिवर्ते कर्मद्वयं—गृहीत्वेति। ग्रहणं धारणम्। इहाष्टौ कला इति। प्रथमपादगतपर्यन्तमित्यर्थः। जप्यं जपनीयं तृतीयाध्यायोक्तम्। "अत्र विघ्नविनाशार्थम्। (ना० शा० ३ ७८) इत्यादिश्लोकचतुष्टयं प्रतिकलमर्धश्लोक इत्यनेनावसानप्रकर्षेण योजयेदुच्चारयेदिति यावत्। ॥ ८३ ॥

अब तीसरे कर्म को दिखाते हैं—

अनुवाद—प्रयत्न से शौचक्रिया करने के बाद सूत्रधार को बलपूर्वक सन्निपात के साथ विघ्नों को नष्ट करने वाले जर्जर को ग्रहण करना चाहिए। यह विधि प्रदक्षिणा से प्रारम्भ करके जर्जर ग्रहण पर्यन्त करनी चाहिए ॥ ८१-८२ ॥

अभिनव—किस सन्निपात में जर्जर का ग्रहण होता है, इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि प्रदक्षिणा से जर्जर ग्रहण पर्यन्त यह विधि करनी चाहिए। इससे तृतीय परिवर्त्त के अन्तिम सन्निपात के काल में जर्जर का ग्रहण होता है, यह कहा गया है ॥ ८१-८२ ॥

अनुवाद—तृतीय परिवर्त्त को द्रुत लय में समझना चाहिए। सूत्रधार जर्जर को ग्रहण करके आठ कला तक जप करें ॥ ८३ ॥

अभिनव—इसके बाद द्रुत लय से ही चतुर्थ परिवर्त्त में दो क्रियाएँ करनी चाहिए। गृहीत्वा का अर्थ है ग्रहण करके। यहाँ 'अष्टौ कला' का अर्थ है प्रथम पाद की गति पर्यन्त। 'जप्यं' से तात्पर्य है तृतीय अध्याय में कहे गये 'अत्र विघ्नविनाशार्थं' इत्यादि चार श्लोकों का यहाँ जप करना चाहिए अर्थात् प्रतिकल में आधे श्लोक की समाप्ति हो जाय, इस प्रकार योजना करे अर्थात् उच्चारण करे ॥ ८३ ॥

---

१. ख. सन्निपातसमग्राह्यो। ग. सन्निपाते समं ग्राह्य।।
२. क-म. जर्जरग्रहणं तत।। ३. ख. घ. जर्जरं चाष्टौ। ४. ख. ब. जाप्यं।

[1]वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणस्य च ।
ततः पञ्चपदीं चैव गच्छेत्तु कुतपोन्मुखः ॥ ८४ ॥

वामवेधस्तु तत्रापि [2]विक्षेपो दक्षिणस्य तु ।
जर्जरग्रहणाद्योऽयं कुतपाभिमुखान्तकः[3] ॥ ८५ ॥

चतुर्थः परिवर्तस्तु [4]कार्यो द्रुतलये पुनः ।
[5]करपादनिपातास्तु भवन्त्यत्र तु षोडश ॥ ८६ ॥

ननु पञ्चपद्यां कियान् कालविक्षप इत्याशंक्याह—जर्जरग्रहणाद्य इति । इहापि ग्रहणं धारणम् । चतुर्विंशत्या कलानां कुतपगमने कुर्यादिति तात्पर्यम् ॥८५॥

षोडशेति । कलाद्वयेनैकं पतनमिति यावत् ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इसके बाद बायें पर से वेध करे अर्थात् सूची चारी का प्रयोग करें और दाहिने पैर से विक्षेप प्रदर्शित करे। उसके बाद कुतुप वाद्ययन्त्रों की ओर पाँच पग तक चले ॥ ८४ ॥

अनुवाद—उसके बाद वहाँ भी बायें पैर से बेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग करके दाहिने पैर से विक्षेप क्रिया करें। यह विधान जर्जर धारण करने से लेकर कुतुप (वाद्ययन्त्रों) की ओर गमन पर्यन्त करना चाहिए ॥ ८५ ॥

अनुवाद—चतुर्थ परिवर्त्त द्रुत लय में करना चाहिए। इसमें हाथ और पैरों का निपात सोलह बार होता है ॥ ८६ ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि पञ्चमी अर्थात् पाँच पग चलने में कितने काल का विक्षेप होता है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि जर्जर ग्रहण से लेकर कुतुपाभिमुख गमन पर्यन्त। ग्रहण का अर्थ है धारण करना। इससे चौबीस कलाओं के मध्य में कुतुप पर्यन्त गमन करे, यह तात्पर्य निकलता है ॥ ८५ ॥

अभिनव—षोडश पद से तात्पर्य है दो कलाओं के काल के हिसाब से एक पात ॥ ८६ ॥

---

१. ख. घ. वामवेधस्ततः कार्यो विक्षेपो दक्षिणेन तु ।
२. क-अ. विज्ञेयो दक्षिणस्य तु । क-न. विक्षेपोत्सर्पणान्तिकम् ।
३. ख. घ. कुतपाभिमुखान्तगः । ग. कुतपो निगमान्तकः । क-अ. सर्वनिष्क्रान्तकस्तथा ।
४. ख. घ विज्ञेयो वै द्रुते लये ।
५. ख. ग. करपातनिपातास्तु ।

[1]त्र्यश्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः ।
वन्दनान्यथ कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ८७ ॥
आत्मप्रोक्षणमद्भिश्च त्र्यश्रे[2] नैव विधीयते ।
एवमुत्थापनं कार्यं ततश्च[3] परिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

त्र्यश्र इति । प्रसङ्गादेतदुक्तम् । न चैतावत्प्रयोगात्मकमेतदङ्गमिति दर्शयितुमाह--एवमित्यादि । एवम्भूतायामिहेतिकर्तव्यतायां

"यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिन् तस्मादुत्थापनं स्मृतम्" ॥ (ना० शा० ५-२२)

इति श्लोकलक्षितं प्रत्याहारादीनां गीतकविध्यन्तानां प्रयोगस्य च नाटयस्योत्थापनं व्याख्यातरूपं कार्यम् । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे । ततस्तु परिवर्तनम् । न तु ध्रुवाप्रयोगानन्तरमेव ।

अनुवाद—त्र्यस्र ताल में तो हाथ और पैरों के बारह पात होते हैं । इसके बाद हाथ से भूमि का स्पर्श करते हुए तीन बार वन्दना करनी चाहिए ॥ ८७ ॥

अनुवाद—त्र्यस्रताल में जल से आत्मप्रोक्षण नहीं किया जाता है । इस प्रकार पहिले उत्थापन करना चाहिए, फिर इसके बाद परिवर्त्तन का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८८ ॥

अभिनव—'त्र्यस्र' को यहाँ प्रसङ्गवश कहा गया है । यह इतने प्रयोग का अङ्ग नहीं है, यह बात बताने के लिए कहते हैं कि इस प्रकार उत्थापन के बाद परिवर्त्तन करना चाहिए । एवम्भूत का अर्थ है यहाँ इतिकर्त्तव्यता करने के बाद—

"नान्दी पाठ करने वाले इसी से यहाँ रङ्ग में पहिले प्रयोग (अभिनय) का उत्थापन करते हैं, इसीलिए इसे उत्थापन कहते हैं ।" (ना० शा० ५-२२) ।

इस श्लोक से लक्षित प्रत्याहार आदि से लेकर गीतक विधि पर्यन्त प्रयोग रूप नाट्य का उत्थापन करना चाहिए । यहाँ पर 'च' शब्द 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त है । 'ततश्च परिवर्त्तनम्' अर्थात् उत्थापन के बाद परिवर्तन करना चाहिए । ध्रुवा के प्रयोग के बाद परिवर्त्तन नहीं करना चाहिए ।

---

१. ख. त्र्यस्रे तु द्वादशपदा भवन्ति करपादजाः ।
   घ. त्र्यस्रे पाता हि द्वादश भवन्ति करपादजाः ।
   ग. त्र्यस्रे तु द्वादशपदा भवन्ति करपादयोः ।
२. ख. ग. त्र्यस्रेनैव । क-ब. त्र्यस्रेणैव । क-त. त्र्यस्रेण तु ।
३. क. ततस्तु ।

ये तूपसंहारग्रन्थत्वेनैतद व्याचक्षते "तस्मादुत्थापयन्ति" इति न तैः किञ्चिदनुस्मृतं[1] स्यात्। न हि ब्रह्माभिवादनजर्जराभिमन्त्रणमात्रेण किञ्चिद-प्युत्थापितं भवति। विघ्नशमनोपयोगित्वेनोत्थापकत्वं परिवर्तनादावपि स्यात्। उत्थापनीत्यन्वर्थत्वात्। नाटचायितेन च प्रयोगोत्थापनान्तस्य च ध्रुवाभिनय-रूपतयोचितार्थाक्षेपात्।

"यत्तु काव्येनं नोक्तं स्याद्गीतेन" इति।

तथा "गीतं प्राणाः प्रयोगस्य" इति।

"परिक्रमेण रङ्गस्य तथैवार्थवशेन च।
परिवर्तास्तु"

इति वचनेन गान्धर्व इव ध्रुवागाने परिवर्तानामदृष्टार्थे तिकर्तव्यतारूपाभावात्[2]। स्फुटश्चैषामुपाये निर्दिष्टेनोचितेनार्थचतुष्टयेन युक्तेयं सुकविना ध्रुवा कार्येति वृद्धाः॥ ८८॥

जो लोग उपसंहार ग्रन्थ के रूप में 'इससे उत्थापन करते हैं' इस प्रकार जो व्याख्या करते हैं, उन्हें कुछ भी स्मरण नहीं है। केवल ब्रह्मा के अभिवादन और जर्जर के अभिमन्त्रण मात्र से कुछ भी उत्थापित नहीं होता। विघ्नों के शमन (शान्ति) के उपयोगी होने से प्रयोग का उत्थापन परिवर्त्तन आदि में भी हो सकता है। क्योंकि 'उत्थापन' यह शब्द अन्वर्थसंज्ञक है और नाट्य के अभिनय के प्रयोग के उत्थापन पर्यन्त ध्रुवा के अभिनय रूप होने से उचित अर्थ में आक्षेप होता है।

"जो काव्य के द्वारा नहीं कहा गया है उसे गीत से सिद्ध करना चाहिए क्योंकि गीत-प्रयोग (अभिनय) के प्राण हैं।"

"रङ्ग के परिक्रमण से तथा उसी प्रकार प्रयोजनवश परिवर्त्तन का प्रयोग करना चाहिए।"

इस कथन से गन्धर्व के समान ध्रुवागान में परिवर्त्तों के अदृष्ट फल रूप इति-कर्त्तव्यता का अभाव होता है। स्पष्ट है कि इनके उपाय में निर्दिष्ट अर्थ चतुष्टय से युक्त ध्रुवा का प्रयोग कवियों को करना चाहिए, ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं॥ ८८॥

विशेष—यहाँ तक उत्थापनविधि का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इसमें नान्दीपाठक पहिले प्रयोग का उत्थापन करता है, इसीलिए उसे 'उत्थापन' कहते हैं। उत्थापन के बाद परिवर्त्तन अर्थात् परिवर्त्तिनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा वृद्धों का कथन है॥ ८८॥

---

१. क. किञ्चिदनुसृतं स्यात्।
२. क. इतिकर्त्तव्यतारूपत्वाभावात्। क-ख. भ. इतिकर्त्तव्यतारूपाभावत्वात्।

चतुरश्रं[1] लये मध्ये सन्निपातैरथाष्टभिः ।
[2]यस्या लघूनि सर्वाणि केवलं नैधनं[3] गुरु ॥ ८९ ॥
भवेदतिजगत्यान्तु सा ध्रुवा परिवर्तनी[4] ।
वार्तिकेन[5] तु मार्गेण वाद्येनानुगतेन च ॥ ९० ॥
ललितैः [6]पादविन्यासैर्वन्द्या [7]देवा यथादिशम् ।

ततश्चेति चतुरश्रतालयुक्तध्रुवायोगात्परिवर्तनं चतुरश्रम् । पादैर्गीयत इति सन्निपाताच्च(सन्निपाताश्च) पादचतुष्टययोगात् । सन्निपाताष्टकमत्र लक्षयति—यस्या इति । अतिजगती त्रयोदशाक्षरा । तेन परिवर्तनचतुष्टयम् ॥८९-९०(१)॥

गुरुः वार्तिकमार्गो यत्र [8]चतुर्मात्रा कला । गीतं यदनुगच्छत्यनुगतमेतद्भ-वेद्वाद्यम् ॥ ९०-९१ (१)

परिवर्त्तिनी ध्रुवा का लक्षण

अनुवाद—परिवर्त्तिनी ध्रुवा चतुरस्र ताल में मध्य लय में आठ सन्निपातों से युक्त होती है। जिसमें अतिजगती छन्द का प्रयोग होता है जिसमें तेरह अक्षर होते हैं। जिसके सभी अक्षर लघु होते हैं केवल अन्तिम अक्षर गुरु होता है वह परिवर्त्तिनी ध्रुवा कही जाती है ॥ ८९-९० (१) ॥

अभिनव—चतुरस्र ताल से युक्त ध्रुवा के योग से परिवर्त्त चतुरस्र होता है। पादों से गाया जाता है, इसलिए सन्निपात से पादचतुष्टय के योग से चतुरस्र होता है। अब आठ सन्निपातों का लक्षण करते हैं—जिसके सभी अक्षर लघु और अन्तिम गुरु होता है और तेरह अक्षर वाला अतिजगती छन्द का प्रयोग होता है, इसलिए परिवर्त्तन चतुष्टय कहा है ॥ ८९-९० (१) ॥

अनुवाद—सूत्रधार वार्त्तिक मार्ग से वाद्यों में अनुगत किये जाते हुए ललित पदविन्यास के द्वारा दिशाओं के अनुसार देवताओं की वन्दना करनी चाहिए ॥ ९१-९२ (१) ॥

अभिनव—वार्त्तिकमार्ग जिसमें चार मात्राओं की कला होती है। गीत का जो अनुगमन करता है वह अनुगत वाद्य होता है ॥ ९०-९१ (१) ॥

१. ख. घ. चतुरस्रे लये मध्ये सन्निपातस्तथाष्टभिः ।
२. ख. ग. घ. यस्यां । ३. ख. घ. निधनं ।
४. ख ग. परिवर्तिनी । ५. ख. घ वामकेन ।
६. ग. पदविन्यासैः ।
७. ग. घ. वन्द्याद् देवान् यथादिशम् । क-अ. वन्द्याश्चैव दिशो दश । क-द. न. ब. वन्दे देवान् यथादिशम् । ८. क-म. भ. चतुर्मार्गा ।

द्विकलं पादपतनं पादचार्यां[1] गतं भवेत् ॥ ९१ ॥
[2]वामपादेन वेधस्तु कर्तव्यो नृत्तयोक्तृभिः ।
[3]द्वितालान्तरविष्कम्भो विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ ९२ ॥
ततः पञ्चपदीं गच्छेदतिक्रान्तैः पदैरथ ।
ततोऽभिवादनं कुर्याद्देवतानां यथादिशम् ॥ ९३ ॥
वन्देत प्रथमं पूर्वां दिशं शक्राधिदैवताम्[4] ।
द्वितीयां दक्षिणामाशां वन्देत [5]यमदैवताम् ॥ ९४ ॥

पादचार्यां भौम्यामाकाशिक्यां वा कर्तव्यायां पादपतनं द्वे कले व्याप्नोति । एकस्यामुत्क्षेपोऽन्यस्यां पतनमिति यावत् । अन्ये तु शोभार्थं कलायां द्वौ पादपातौ वार्तिकमार्गे वर्णयन्त इत्थं व्याचक्षते—द्वित्वं वर्तयत्येको योऽन्योभिवर्तते । न विद्यते कले यस्य पादपतनस्य तद्विकलमिति ॥ ९१-९२ ॥

अनुवाद—इसमें पादचारी के प्रयोग में पाद का पतन अर्थात् पैरों के गिरने का अन्तराल दो कलाओं का होता है । नाट्यप्रवोक्ताओं को इसमें बायें पैर से वेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग करना चाहिए और दो ताल के अन्तर पर दाहिने पैर का विक्षेप किया जाता है ॥ ९१-९२ ॥

अभिनव—पादचारी अर्थात् भौमो अथवा आकाशिकी पाद चारी के प्रयोग में पादपतन अर्थात् पैरों का गिरना दो कलाओं का होता है अर्थात् एक कला में पाद का उत्क्षेप और दूसरी कला में पाद का पतन होता है । दूसरे लोग तो शोभा के लिए कला में दो पातों को वार्त्तिक मार्ग में वर्णन करते हुए इस प्रकार व्याख्या करते हैं—एक द्वित्व का वर्त्तन करता है और दूसरा उसका अभिवर्द्धन (अनुवर्त्तन) करता है । जिसमें पादपतन की कलाएँ नहीं होतो, उसे विकल कहते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अनुवाद—इसके बाद अतिक्रान्त चारी पाद (पैरों) से पाँच पग चलना चाहिए, फिर दिशाओं के अनुसार देवताओं का अभिवादन करे ॥ ९३ ॥

अनुवाद—पहिले इन्द्र देवता से अधिष्ठित पूर्व दिशा की वन्दना करे । उसके बाद यम देवता से अधिष्ठित दक्षिण दिशा की वन्दना करे ॥ ९४ ॥

---

१. ख. घ. पादचर्यां विधीयते । क-अ. पादचार्यंभिधीयते । क-त. पादचार्या विधीयते ।
२. ख. घ. पुस्तकयोः इतः पूर्वं 'एकैकस्यां दिशि तथा सन्निपातद्वयं भवेत्' इत्यधिकः पाठः ।
३. ख द्वितालान्तरविष्टम्भो विक्षेपो दक्षिणस्य तु ।
४. ख. घ. शक्राधिदेवताम् ।
५. ख. यमदेवताम् ।

वन्देत पश्चिमामाशां ततो [1]वरुणदैवताम् ।
चतुर्थीमुत्तरामाशां वन्देत धनदाश्रयाम् ॥ ९५ ॥
दिशां तु वन्दनं कृत्वा वामवेधं प्रयोजयेत् ।
दक्षिणेन च कर्तव्यं विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ ९६ ॥
प्राङ्मुखस्तु ततः कुर्यात्पुरुषस्त्रीनपुंसकैः ।
[2]त्रिपद्या सूत्रभृद्रुद्रब्रह्मोपेन्द्राभिवादनम् ॥ ९७ ॥

शक्रोऽधिष्ठात्री देवता अस्या इति तां पूर्वां यजेतेति (वन्देतेति)। विशेष्येण वा [3]विशेषेण वेदं (बध्नातीति विशेषणेन वा संबध्नातीति) सविशेषं वन्द्यमानत्वं शक्रस्य गम्यते ॥ ९४ ॥

विक्षेपपूर्वकं परिवर्तनम् । येनोत्तराभिमुखं स्थितः परिवृत्य पूर्वाभिमुखो भवति ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इसके बाद वरुण देवता से अधिष्ठित पश्चिम दिशा की वन्दना करे, फिर कुबेर के द्वारा आश्रित उत्तर दिशा की वन्दना करें ॥ ९५ ॥

अभिनव—इन्द्र हैं अधिष्ठातृ देवता जिसके, उस पूर्व दिशा की पहिले वन्दना करे। इस प्रकार विशेषण के द्वारा विशेष्य के साथ सम्बन्ध (अन्वय) होता है अतः सविशेष इन्द्र वन्दनीय है, यह लक्षित होता है अर्थात् पूर्व दिशा की वन्दना करने का अभिप्राय है पूर्व दिशा के अधिष्ठातृ देव इन्द्र की वन्दना करनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य दिशाओं के अधिष्ठातृदेवों की भी वन्दना करे ॥ ९४-९५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार दिशाओं की वन्दना करके बायें पैर से वेध करे अर्थात् सूची चारी का सम्पादन करे, फिर दाहिने पैर के विक्षेपपूर्वक परिवर्त्तन करे ॥ ९६ ॥

अभिनव—'विक्षेपपरिवर्त्तन' का अर्थ हैं विक्षेपपूर्वक परिवर्त्तन करना। जिससे उत्तर दिशा की ओर स्थित व्यक्ति घूमकर पूर्वाभिमुख हो जाता है ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इसके बाद पूर्वाभिमुख होकर सूत्रधार पुरुष, स्त्री और नपुंसक लक्षण वाले त्रिपदी अर्थात् तीन पैरों के न्यास से रुद्र, ब्रह्मा और उपेन्द्र (विष्णु) का अभिवादन करे ॥ ९७ ॥

---

१. ख. वरुणदेवताम् ।
२. ग. त्रिपदीं सूत्रभृद् । घ. त्रिपदैः सूत्रधृक् ।
ख. त्रिपाद्या सूत्रधृक्रुद्रब्रह्मोपेन्द्राभिवन्दनम् ।
३. क-म. भ. विशेष्येति क्रियाविशेषेणैव बध्नाति सद्विशेषणम् ।

दक्षिणं तु पदं पुंसो वामं स्त्रीणां प्रकीर्तितम्[1] ।
[2]पुनर्दक्षिणमेव स्यान्नात्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ॥ ९८ ॥
वन्देत पौरुषेणेशं स्त्रीपदेन जनार्दनम् ।
नपुंसकपदेनापि तथैवाम्बुजसम्भवम्[3] ॥ ९९ ॥
परिवर्तनमेवं स्यात्तस्यान्ते प्रविशेत्ततः ।
चतुर्थकारः[4] पुष्पाणि प्रगृह्य विधिपूर्वकम् ॥ १०० ॥

तत्र किं कुर्यादित्याह—प्राङ्मुखस्त्विति । त्रिपदीं दर्शयति—दक्षिणन्त्विति तया त्रिपद्या । अभिवादनं दर्शयति - वन्देतेति । एवं दिग्देवतावन्दनं परिवर्तिन्या ध्रुवया विध्युद्गीयमानपदया कार्यम् । तस्यान्त इत्यादि । तस्येति परिवर्तस्य । सूत्रधारस्य पारिपार्श्विकयोश्च तिस्रः क्रियाः । तद्व्यतिरिक्तश्चतुर्थं कर्म करोतीति चतुर्थकारः[5] । विधिः "स्थानन्तु वैष्णवम्" इत्यादि (ना. शा ५ ६७) सूत्रधारोक्तः ॥ ६७-१०० ॥

अनुवाद—दाहिना पैर पुरुष और बायाँ पैर स्त्रीपाद कहा गया है और फिर अधिक न उठा हुआ दाहिना पैर नपुंसक पाद कहा गया है ॥ ९८ ॥

अनुवाद—पुरुष पाद से स्थित होकर ईश्वर (शिव) की वन्दना करे। स्त्रीपाद से विष्णु की और उसी प्रकार नपुंसक पाद से स्थित होकर ब्रह्मा की वन्दना करे ॥ ९९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार परिवर्त्तन की क्रिया सम्पन्न होती है। फिर उसके अन्त में चतुर्थकार अर्थात् चतुर्थपरिवर्त्त करने वाला विधिपूर्वक पुष्पों को लेकर मञ्च पर प्रवेश करे ॥ १०० ॥

अभिनव—इसके बाद वहाँ क्या करे ? कहते हैं कि पूर्वाभिमुख होकर त्रिपदी के द्वारा वन्दना करे। अब त्रिपदी को दिखाते हैं—दक्षिण पाद को अर्थात् दक्षिण आदि पुंस्त्रीक्लीब पाद त्रिपदी है। त्रिपदी के द्वारा वन्दना करे। इस प्रकार विधि-पूर्वक गीयमान पदों वाली परिर्वात्तनी ध्रुवा के द्वारा दिशाओं के अधिष्ठातृ देवों की वन्दना करे परिवर्त्त के अन्त में सूत्रधार और दोनो पारिपार्श्वकों की तीन क्रियाएँ हैं। उनके अतिरिक्त चौथी क्रिया को जो करता है वह चतुर्थकार है। 'विधि' से तात्पर्य है जो 'स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा' के द्वारा सूत्रधार के लिए कही गई है ॥९७-१००॥

---

१. ग. वामं स्त्रीपदमुच्यते ।

२. ख. घ. दक्षिणं तु पदं ज्ञेयं नाभ्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ।
ग. पुनर्दक्षिणमेव स्यान्नाभ्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ।

३. क-अ. ब्रह्माणं पद्मसम्भवम् ४. ख. चतुष्प्रकारपुष्पाणि ५. क-म, भ. चतुष्प्रकारः ।

यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु ।
[1]कुतपस्य च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि ॥ १०१ ॥
तस्य [2]भाण्डसमः कार्यस्तज्ज्ञैर्गतिपरिक्रमः ।
न तत्र गानं[3]कर्तव्यं तत्र स्तोभक्रिया भवेत् ॥ १०२ ॥
[4]चतुर्थंकारः पूजां तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत् ।
ततो गेयावकृष्टा[5] तु चतुरस्रा स्थिता ध्रुवा[6] ॥ १०३ ॥

पुष्पाणां प्रयोजनमाह—यथावदिति । तृतीयेऽध्याये पुष्कराध्याये (३४) च निरूपि तद्देवतापूजाक्रमेण ॥ १०१ ॥

भाण्डेनैव सम इति । पुष्करवाद्यमेवास्य गत्यर्थे परितः क्रमेण कार्यम् । गीयत इति गानमर्थवद्वाक्यम् । स्तोभानां शुष्काक्षराणाम् । क्रिया गानमित्यर्थः ॥ १०२ ॥

अनुवाद—इसके बाद उसके द्वारा विधिपूर्वक जर्जर की और समस्त कुतुप (वाद्ययन्त्र) तथा सूत्रधार का पूजन करना चाहिए ॥ १०१ ॥

अभिनव—पुष्पों के प्रयोजन को कहते हैं—'यथावत् अर्थात् विधिपूर्वक । तृतीय अध्याय में और चौंतीसवें पुष्कराध्याय में निरूपित (बताये गये) देवताओं के पूजा के क्रम से ॥ १०१ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को उस चतुर्थंकार की गति का परिक्रमण भाण्ड-वाद्यों के साथ करनी चाहिए । उस समय गान नहीं करना चाहिए, केवल स्तोभक्रिया अर्थात् केवल अर्थहीन अक्षरों का आलाप होना चाहिए ॥ १०२ ॥

अभिनव—भाण्ड वाद्यों के साथ अर्थात् इस चतुर्थकार की गति के अर्थ में चारों ओर क्रम से पुष्करवाद्य का ही प्रयोग करना चाहिए । जो गाया जाय वह गान है अर्थवान् वाक्य है । स्तोभ का अर्थ है शुष्काक्षरों का गान (आलाप) । यहाँ क्रिया का अर्थ गान है ॥ १०२ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा

अनुवाद—इस प्रकार पूजा सम्पन्न करके वह चतुर्थंकार अन्तर्हित हो जाता है । उसके बाद चतुरस्र ताल तथा विलम्बित लय से युक्त अवकृष्टा ध्रुवा का गान करना चाहिए ॥ १०३ ॥

१. ख. भाण्डस्यैव च ।
२. ख. घ. तस्य भाण्डगतः कार्यस्तज्ज्ञैर्गीतपरिक्रमः । ३. क-अ. श्लोकं क्रिया ।
४. चतुष्प्रकारपूजां तु निष्क्रामेत् सम्प्रयुज्य हि । चतुर्थंकारः पूजां तु निष्क्रामेत् सम्प्रयुज्य हि । ग. चतुर्थकारपूजां तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत् । ५. ग. गेहावकृष्टा । घ. गेयापकृष्टा ।
६. ख. घ. स्थिरा ध्रुवा । क-अ. ध्रुवा स्थितलयाश्रिता ।

गुरुप्राया तु सा कार्या तथा चैवावपाणिका[1] ।
स्थायिवर्णाश्रयोपेता[2] कलाष्टकविनिर्मिता ॥ १०४ ॥
[3]चतुर्थं पञ्चमं चैव सप्तमं चाष्टमं तथा ।
लघूनि पादे पङ्क्त्यान्तु सावकृष्टा ध्रुवा स्मृता ॥ १०५ ॥

स्थितेति । विलम्बितलया ॥ १०३ ॥

गुरुप्रायेति । "नव गुर्वक्षराण्यादौ" इति (ना. शा. ५-१११) यच्छुष्काव-कृष्टाया लक्षणं भविष्यति तदेवास्यामिति यावत् । "स्थिताः स्वराः समा यत्र स्थायी वर्णः सः" (ना. शा. २९-१९) तमाश्रिता येऽलङ्कारा वक्ष्यन्ते तैरुपेताः । कलाष्टकं द्विकलचञ्चत्पुट उक्तपूर्वः (५-६२) ॥ १०४ ॥

एवं [4]पूर्वामितिकर्तव्यतामभिधाय नान्दीमाह—सूत्रधार इति ।

अभिनव—'स्थिता का अर्थ है विलम्बित लय ॥ १०३ ॥

अनुवाद—वह अवकृष्टा ध्रुवा प्रायः गुरु अक्षरों वाली, अवपाणिका ताल से युक्त, स्थायी वर्णों के आश्रय से युक्त और आठ कलाओं से निर्मित होती है ॥ १०४ ॥

अभिनव—'गुरुप्राय' अर्थात् इसमें प्रायः गुरु अक्षर होते हैं। "प्रारम्भ में नौ गुरु अक्षर" ऐसा जो शुष्कावकृष्टा का लक्षण आगे कहेंगे वही इसका लक्षण भी होगा। 'जहाँ पर स्वर स्थित (सम) हों, वही स्थायी वर्ण होता है।" उसके आश्रित जो अलङ्कार कहें जायेंगे उनसे युक्त। 'कलाष्टक' पद से पहिले कहे हुए द्विकल चञ्चत्पुट समझना चाहिए ॥ १०४ ॥

अनुवाद—जहाँ पर पङ्क्ति छन्द के प्रत्येक चरण में चौथा, पाँचवा, सातवाँ तथा आठवाँ अक्षर लघु हों वह अवकृष्टा ध्रुवा कहलाती है ॥ १०५ ॥

विमर्श—यहाँ अवकृष्टा ध्रुवा का लक्षण बताया गया है। अवकृष्टा ध्रुवा में प्रायः गुरु अक्षर होते हैं और इसमें अवपाणि ताल का प्रयोग होता है। गीत, वाद्य, नृत्य के बाद प्रयुक्त ताल का आरम्भ अवपाणि ताल कहा गया है। यह स्थायी वर्णों के आश्रित होता है और आठ कलाओं से निर्मित माना गया है। जिसके चतुर्थ, पञ्चम, सप्तम और अष्टम वर्ण लघु होते हैं उसे अवकृष्टा ध्रुवा कहते हैं ।। १०४-१०५ ।।

अभिनव—इस प्रकार पहिले इति कर्त्तव्यता को कहकर फिर नान्दी को कहते हैं—

---

७. ग. चैवार्धपाणिका । ८. ख. घ. स्थायिवर्णाश्रयोपेतां कलाष्टकविनिर्मिताम् ।

९. इदं पद्यं ख. पुस्तके नास्ति ।

११. क-म. भ. ध्रुवामितिकर्तव्यतामभिधाय ।

सूत्रधारः पठेत्तत्र[1] मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं[2] पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाऽप्यलङ्कृताम् ॥ १०६ ॥
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो [3]द्विजातिभ्यः शुभं तथा ।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च[4] ॥ १०७ ॥

तत्रेत्यवकृष्टायां गीतायामित्यर्थः । तद्ध्रुवागानगतेन मध्यमस्वरेण पाठ इत्यतस्तस्या ध्रुवाया मध्यमांशको [5]जात्यंशको गृहीत इत्युक्तं भवति । एतदुपजीवनेनोक्तं कश्यपाचार्येण "पूर्वरङ्गे तु षाडबः" इति । वाग्रहणादपिशब्दाच्चतुष्षोडशपदत्वं चतुरश्रे पूर्वरङ्गे । त्र्यश्रे तु (त्रिषट्पदत्वमपि)लभ्यते । एतच्च प्रथमाध्याय एवास्माभिरुक्तम् (२५-२६) ॥ १०५ ॥

नान्दी

अनुवाद—इसके बाद सूत्रधार मध्यम स्वर का आश्रय लेकर बारह अथवा आठ पदों से अलङ्कृत नान्दी का पाठ करे ॥ १०६ ॥

अभिनव—'तत्र' से अभिप्राय है अवकृष्टा ध्रुवा का गान होने पर । उस ध्रुवा के गान के अन्तर्गत मध्यम स्वर से पाठ होता है, इसलिए उस ध्रुवा का मध्यम अंश जाति अंश को लिया गया है, यह कहा गया है । इसको उपजीवन करके कश्यपाचार्य ने कहा है कि "पूर्वरङ्ग में षाडब स्वर का प्रयोग करना चाहिए" । यहाँ पर 'वा' शब्द और अपि शब्द के ग्रहण से चतुरस्र पूर्वरङ्ग में त्रिपदा एवं षट्पदा नान्दी का ग्रहण होता है । यह बात प्रथम अध्याय में ही हम लोगों ने कह दिया हैं ॥ १०७ ॥

विमर्श—इस श्लोक में 'पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाऽप्यलङ्कृताम्' में 'वा' और 'अपि' शब्द आया है । उससे यह सङ्केत मिलता है कि चतुरस्र रङ्ग में चतुष्पदा और षोडशपदा नान्दी भी होती है । इसी प्रकार त्र्यस्र मण्डप में त्रिपदा और षट्पदा नान्दी का भी ग्रहण होता है । यहाँ पर पद अवान्तर वाक्य का बोधक है । तदनुसार चार, छः, आठ, बारह, सोलह आदि अवान्तर वाक्य होने से चतुष्पदा, षट्पदा, अष्टपदा, द्वादशपदा, षोड़शपदा आदि नान्दी के कई प्रकार होते हैं ॥ १०६ ॥

अनुवाद - समस्त देवताओं के लिए नमस्कार हो तथा समस्त द्विजातियों का कल्याण हो, राजा चन्द्रमा की जय हो, गो और ब्राह्मण का मङ्गल हो ॥ १०७ ॥

१. ख. घ. पठेन्नान्दीं । २. ख. घ. ततः ।
३. क-अ. म. द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।
४. ख. आरोग्यं भोग एव च । घ. आरोग्यं गोभ्य एव च । क-अ. शिवं गोब्राह्मणस्य वा ।
५. क-म. भ जात्यङ्गको ।

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
[1]प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥ १०८ ॥
[2]राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव [3]रङ्गस्याशा समृद्धयतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः[4] ॥ १०९ ॥
[5]काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता[6] इति ॥ ११० ॥
नान्दीपदान्तरेष्वेव ह्येवमार्येति[7] नित्यशः ।
[8]वन्देतां सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ[9] पारिपार्श्विकौ[10] ॥ १११ ॥

नान्दीं पठति—नमोऽस्त्वित्यादि देवता इत्यन्तम् । रङ्गस्येति । नटकुशीलववर्गस्य । धर्म इति । "य इमं पूर्वरङ्गम्" इति (ना. शा. ५-१७०) वक्ष्यमाणः ॥ १०७-११० ॥

अनुवाद—उसी प्रकार ब्राह्मणों का उत्कर्ष हो और ब्रह्मद्रोही नष्ट हो जाँय, महाराज समुद्र के साथ इस पृथ्वी पर शासन करें । १०८ ॥

अनुवाद—राष्ट्र की समृद्धि हो, रङ्ग की आशाएँ समृद्ध हों तथा प्रेक्षा-निर्माता नाट्याचार्य से वेदों में कथित महान् धर्म का लाभ हो ॥ १०९ ॥

अनुवाद—काव्य-निर्माता (नाटककार) को यश की प्राप्ति हो और धर्म की वृद्धि हो और इस प्रकार इस यजन से अर्थात् काव्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से देवता सदा प्रसन्न हों ॥ ११० ॥

अभिनव—'नमोऽस्तु' से लेकर 'देवता इति' यहाँ तक नान्दी का पाठ करते हैं । रङ्ग का अर्थात् नटकुशीलव वर्ग का । 'धर्म' पद से "जो इस पूर्वरङ्ग का विधि-पूर्वक प्रयोग करता हैं" इत्यादि वक्ष्यमाण वाक्य अभिप्रेत है ॥ १०८-११० ॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रत्येक नान्दी पद के पाठ के अन्त में वे दोनों पारिपार्श्विक अच्छी तरह से उक्त स्पष्ट वाणी से "हे आर्य ! ऐसा ही हो" इस प्रकार कहें ॥ १११ ॥

---

१. ग. प्रशास्त्वेमां । २. ख. घ. राज्यं ।
३. ख. घ. रङ्गश्चायं समृध्यताम् । क-अ. रङ्गमस्यां समृद्धयताम् ।
४. ख. घ. ग. ब्रह्मभावितः ।
५. क-म. काव्यकर्त्तुर्यशश्चात्र नित्यमेव प्रवर्धताम् ।
६. क-प. म. दानवा इति । क-अ. सर्वदेवताः ।
७. ख. ग. घ. ह्येवमस्त्विति । ८. ख. घ. ग. वन्देताम् ।
९. ग. वाग्मिनौ । ख. घ. गीर्भिस्तौ । १०. ख. ग. घ. पारिपार्श्वकौ ।

पदमत्रावान्तरवाक्यम्। तदन्तेष्वेवमार्येति। अन्तरशब्दो विशेषे। नान्दीपदविशेष उक्त इत्यर्थः। [1]मध्यवाचिनीत्यन्तरशब्दोऽन्त्यं पदं न स्वीकृतम्। एवमिति [2]चतुर्थकारप्रवेशादितिकर्तव्यतेयमित्यर्थः।

अभिनव—यहाँ पर 'पद' से अवान्तर वाक्य अभिप्रेत है। उसके अन्त में 'हे आर्य! ऐसा ही हो' इस प्रकार कहना चाहिए। यहाँ पर अन्तर शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् नान्दीपद विशेष कहा गया है। मध्यवाची अन्तर शब्द से अन्तिम पद को स्वीकार नहीं किया गया है॥ १११॥

विमर्श—यहाँ पर अभिनवभारती में इस अनुच्छेद का पाठ अत्यन्त अस्त-व्यस्त एवं क्रमहीन छपा हुआ है और कुछ अंश अस्थान-पतित भी है। इस अनुच्छेद का पाठ संशोधित कर निम्नप्रकार कर देने से क्रमबद्ध हो जाता है और यथास्थान नियोजित कर देने से अस्थान-पाठ दोष का निराकरण हो जाता है—

"वाशब्दग्रहणादपि शब्दाच्चचतुष्षोडशपदत्वं चतुरस्रे पूर्वरङ्गे। त्र्यस्रे तु त्रिषट्पदत्वमपि लभ्यते। एतच्च प्रथमाध्याय एवास्माभिरुक्तम् (२५-२६)

"नान्दीं पठति—**नमोस्त्वि**त्यादि **देवता** इत्यन्तम्। **रङ्गस्येति**। नटकुशीलववर्गस्य। **धर्म** इति। "य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत्।" इति (वा. शा. ५।१७४) वक्ष्यमाणः॥

"**पद**मत्रावान्तरवाक्यम्। तदन्तेष्वेवमार्येति। अन्तरशब्दो विशेषे। नान्दीपदविशेष उक्त इत्यर्थः। मध्यवाचिनीत्यन्तरशब्दोऽन्त्यं पदं न स्वीकृतम्।"

इस पाठ का प्रथम अंश ('वा' से लेकर 'उक्तम् तक) १०६वें श्लोक की अभिनवभारती के साथ सम्बद्ध है। उक्त श्लोक में 'वा' और 'अपि' शब्द आया है। उनकी व्याख्या इस अंश में की गई है कि चतुरस्रपूर्वरङ्ग में त्रिपदा और षट्पदा नान्दी का प्रयोग होता है।

द्वितीय अंश का पाठ १०७वें श्लोक 'नमोऽस्तु' से लेकर 'देवता इति' ११० वें श्लोक तक चार श्लोकों से सम्बद्ध अभिनवभारती की व्याख्या है। जिसमें राष्ट्र की समृद्धि, धर्म और यश की अभिवृद्धि तथा समस्त देवताओं के प्रसन्न होने की कामना की गई है।

तृतीय अंश १११वें श्लोक से सम्बद्ध है। इस श्लोक में नान्दी पाठ की एक विशेषता है। सूत्रधार प्रत्येक पद का सस्वर पाठ करता है और दोनों पारिपार्श्विक उसके पाठ को 'हे आर्य! एवमस्तु' कहकर स्वीकृति देते चलते हैं।

अभिनव—'एवम्' पद से चतुर्थकार के प्रवेश से यह इतिकर्त्तव्यता है सूचित होती है।

---

१. क. मध्यवाचिन्यन्तरशब्देऽन्त्यं पदं न स्वीकृतम्।
२. क-क. भ. चतुष्प्रकारप्रवेशादिति।

एवं नान्दी विधातव्या [1]यथावल्लक्षणान्विता: ।
[2]ततश्शुष्कावकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोकदर्शिका ।। ११२ ।।
[3]नवगुर्वक्षराण्यादौ षड्लघूनि गुरुत्रयम् ।
[4]शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ।। ११३ ।।
यथा—
[5]दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जम्बुकपलितकते तेचाम् ।

एवं नान्दीं लक्षणतः पूरयित्वा शुष्कावकृष्टाख्यमङ्गं पूरयति—ततश्शुष्कावकृष्टेत्यादिना । (ततः) एतत्प्रयोगानन्तरम् । जर्जरस्तुतिश्लोको यतः सूत्रधारेण पठ्यतेऽतो जयतेर्दर्शिका तत्पुरस्सरीत्यर्थः ।। ११३ ।।

अनुवाद—इस प्रकार लक्षणों से युक्त नान्दी का विधिवत् प्रयोग करना चाहिए । उसके बाद जर्जर के यश को प्रदर्शित करने वाली शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का गान करना चाहिए ।। ११२ ।।

अभिनव—इस प्रकार नान्दी के लक्षण को पूरित करके अब शुष्कावकृष्टा नामक अङ्ग को पूरित करते हैं—उसके बाद अर्थात् नान्दी के बाद शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग करे । 'ततः' पद का अर्थ है इसके प्रयोग के बाद । क्योंकि जर्जर की स्तुति-दर्शक श्लोक को सूत्रधार पढ़ता है इसलिए 'जय' को प्रदर्शित करने वाली नान्दी का पाठ किया जाता है । ।। ११२।।

शुष्कावकृष्टा ध्रुवा

अनुवाद--शुष्कावकृष्टा ध्रुवा में आदि के नौ अक्षर गुरु होते हैं । फिर छः अक्षर लघु और अन्तिम तीन अक्षर गुरु होते हैं तथा आठ कला का परिमाण होता है ।। ११३ ।।

उदाहरण जैसे--

S SS SSSS SS|||| ||SSS
"दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जम्बुकपलितकते तेचाम्"

---

१. ख. घ. यथोक्ता लक्षणैर्मया ।
२. ख. घ. ततः शुष्कापकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोकदर्शिता ।।
३. क-त. न च गुर्वक्षराण्यादौ । क-अ. नवगुर्वक्षराणीह ।
४. ख. घ. कलाश्चाष्टौ प्रमाणेन पादैश्चैष्टादशाक्षरैः ।
५. ख. झण्डे झण्डे दिल्लग् दिग्ले । जम्बुक वलितक तेत्तेन्नाम् ।
ग. दिग्ले दिग्ले झण्डु झण्डु जम्बुकवलितक ते तेन्नाम् ।
क-अ. दिल्हे दिल्हे दिल्हे दिल्हे जम्बूकवलितक ते ते च ।

कृत्वा शुष्कावकृष्टां[1] तु यथावद्द्विजसत्तमाः ॥ ११४ ॥
ततः श्लोकं पठेदेकं गम्भीरस्वरसंयुतम् ।
देवस्तोत्रं पुरस्कृत्य यस्य पूजा प्रवर्तते ॥ ११५ ॥
[2]राज्ञो वा यत्र भक्तिः स्यादथ वा ब्रह्मणस्तवम् ।
[3]गदित्वा जर्जरश्लोकं रङ्गद्वारे च यत्स्मृतम[4] ॥ ११६ ॥
पठेदन्यं पुनः श्लोकं जर्जरस्य प्रकाशनम्[5] ।

शुष्कावकृष्टामाना: (नवगुर्वक्षराणीति)। उदाहरणं पठतीदं दिग्ले इत्यादि । यथावदित्यनेन तदनन्तरं जर्जरश्लोकपाठं सूचयति । तद्दर्शनेन तस्या उक्तत्वात् ॥ ११३ ॥

इसमें प्रारम्भ के ९ अक्षर गुरु हैं, उसके बाद के सात अक्षर लघु हैं, फिर उसके बाद के अन्तिम तीन अक्षर गुरु हैं। इसलिए यह शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का उदाहरण है ॥११३॥

अभिनव--शुष्कावकृष्टा ध्रुवा में ९ गुरु अक्षर होते हैं। 'दिग्ले दिग्ले' इत्यादि उदाहरण को पढ़ते हैं। 'यथावत्' पद से शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के अनन्तर जर्जर श्लोक के पाठ की सूचना मिलती है। क्योंकि जर्जर श्लोक को देखकर नान्दीपाठ कहा गया है ॥ ११३ ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ! विधिपूर्वक शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का गान करके सूत्रधार गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करे। जिसमें जिस देवता की पूजा में प्रवत्त हो उस देवता की स्तुति को लक्ष्य करके गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करे ॥ ११४-११५ ॥

अनुवाद - जिसमें राजा की भक्ति हो अथवा ब्राह्मण की स्तुति हो और रङ्ग के द्वार में जिसका स्मरण किया गया हो, इस प्रकार जर्जर श्लोक का पाठ करके फिर जर्जर के यश को प्रकाशित करने वाले दूसरे श्लोक का पाठ करे ॥ ११६-११७ (१) ॥

---

१. घ. शुष्कापकृष्टां तु ।
२. ख. घ. राज्ञो भक्तिश्च यत्र स्यादथवा ब्रह्मणस्तवः ।
३. ख. नन्दित्वा ।
४. ख. ग. रङ्गद्वारे च यः स्मृतः । क-म. रङ्गद्वारमिति स्मृतम् ।
५. घ. विनामनम् । क. ग. विनाशनम् ।

ततः श्लोकमित्यनेन रङ्गद्वारमङ्गं निरूपयति। देवस्य विष्णोः स्तोत्रं पूर्वं कृत्वा यां देवतामुद्दिश्योत्सवादौ नाट्यं कृतं सा तत्र स्तोतव्या। अथवैवमेव(येन) नाट्यं प्रवर्तितं तत्प्रेक्षापतेराराध्यदेवता। स चेदुदासीनस्तर्हि ब्रह्मणः अयमसौ।

रङ्गद्वारमुपसंहरंश्चार्याख्यमङ्गं पूरयितुं तत्र पूर्वेतिकर्तव्यतामाह— गदित्वेति।

जर्जरश्लोकं गदित्वा यो रङ्गद्वारे श्लोकस्तं च गदित्वा जर्जरोऽपि नाम्यते। वक्ष्यमाणतुलाधृतरूपतया येन श्लोकेन संपाद्यते तादृशमन्यं श्लोकं पठेत्। "अत्र विघ्नविनाशार्थम्" (ना. शा. ३-७८) [1]इत्युक्तश्लोकाव्यतिरिक्त-नाम्नाऽर्थाभिधायिनं श्लोकं चार्यङ्गभूतं पठेदिति यावत्।

अन्ये तु शुष्कावकृष्टानन्तरं देवतास्तोत्रमिति श्लोकः। ततो जर्जर-श्लोकः। ततो विष्णुस्तुतिकृद्रङ्गद्वारश्लोकः। ततो जर्जरश्लोक इत्याहुः ॥ ११५-११७ (१)॥

अभिनव- इसके बाद 'श्लोक' इस पद से रङ्गद्वार नामक अङ्ग का निरूपण करते हैं। पहिले ये विष्णु देवता की स्तुति करके जिस देवता के उद्देश्य से उत्सव आदि में नाट्य (अभिनय) किया गया है उसी देवता की स्तुति करनी चाहिए अथवा जिसके द्वारा नाट्य प्रवृत्त होता है उस प्रेक्षापति का जो आराध्य देवता है उसकी स्तुति करनी चाहिए। यदि वह उदासीन है तो ब्रह्मा की स्तुति करनी चाहिए।

अभिनव—इस प्रकार रङ्गद्वार का उपसंहार करते हुए चारी नामक अङ्ग को पूरित करने के लिए वहाँ पहिले इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—गदित्वा (कहकर)।

जर्जर श्लोक का पाठ करके और रङ्गद्वार से सम्बद्ध जो श्लोक है उसका पाठ करके जर्जर को नमित किया जाता है अर्थात् झुकाया जाता है। आगे कहे जाने वाले जिस श्लोक से सन्तुलित रूप में जर्जर को नाभिप्रदेश में धारण किया है उसी प्रकार किसी अन्य श्लोक का पाठ करे। इसके बाद विघ्नों के विनाश के लिए उक्त श्लोक के अतिरिक्त अर्थ को कहने वाले चारी के अङ्गभूत श्लोक का पाठ करे॥

अन्य लोग तो कहते हैं कि शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के प्रयोग के बाद देवता के स्तोत्र-विषयक श्लोक का पाठ फिर उसके बाद जर्जरश्लोक का पाठ, फिर विष्णु की स्तुति करने वाला रङ्गद्वार के श्लोक, उसके बाद फिर जर्जर श्लोक का पाठ करना चाहिए ॥ ११५-११७ (१) ॥

१. क-म इत्युक्तश्लोकव्यतिरिक्त।

जर्जरं नमयित्वा[1] तु ततश्चारीं प्रयोजयेत् ॥ ११७ ॥
पारिपार्श्विकयोश्च स्यात्पश्चिमेनापसर्पणम्[2] ।
[3]अड्डिता चात्र[4] कर्तव्या ध्रुवा मध्यलयान्विता[5] ॥ ११८ ॥
चतुर्भिः [6]सन्निपातैश्च चतुरश्रा प्रमाणतः ।
[7]आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु ॥ ११९ ॥
[8]यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।

पश्चिमेनेति । प्राङ्मुखावेव पृष्ठनिवृत्तिभिः पदैः पारिपार्श्विकावपसर्पेतामित्यनेन केवलसूत्रधारप्रयोज्यमानाश्चारीमहाचार्यः सूचिताः ।

अनुवाद—इसके बाद जर्जर को प्रणाम करके चारी का प्रयोग करे और उसी समय पश्चिम की ओर अर्थात् पीछे की ओर से दोनो पारिपार्श्विकों को चला जाना चाहिए ॥ ११७-११८ (१) ॥

अभिनव—'पूर्वाभिमुख होकर पीछे की ओर लौटने वाले पैरों से दोनों पारिपार्श्विकों को अपसर्पण करना चाहिए' इस कथन से केवल सूत्रधार के द्वारा प्रयोज्य चारी और महाचारी सूचित होती है ॥ ११७-११८ (१)"

अड्डिता ध्रुवा

अब इसके बाद अड्डिता ध्रुवा का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद मध्य लय से युक्त अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। जो चार सन्निपातों से युक्त तथा प्रमाण में चतुरस्र हो और जिसमें पहला, अन्तिम, चौथा, पाँचवाँ अक्षर गुरु हो और शेष अक्षर लघु हों, विद्वानों को उसे अड्डिता ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ११८-१२० (१) ॥

---

१. ख. बानयित्वा । २. क-च. पश्चिमेनापि सर्पणम् ।
३. क-अ. च. आहृता ।
४. ख. अड्डिता चानुकर्तव्या ।
५. क-अ. प. मध्यलयाश्रिता ।
६. ख. चतुर्भिः सन्निपातैस्तु चतुरस्रं प्रमाणतः ।
७. क-म. आद्यं मध्यं ।
८. ख. घ. यस्यां तु जायते पादे सा भवेदड्डिता ध्रुवा ।
क-न. पङ्क्त्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।
क-त. पङ्क्तौ ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।
क-अ. यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वाहृता ध्रुवा ।

[1]अस्याः प्रयोगं वक्ष्यामि यथा पूर्वं महेश्वरः ॥ १२० ॥
सहोमया क्रीडितवान्नानाभावविचेष्टितैः ।

ध्रुवामाह—अड्डिता चात्रेति । रङ्गद्वारे चार्यां चेति केचित् । अन्ये तु सन्निधानाद्रङ्गद्वारेऽवकृष्टैवेत्याहुः । अध्रुवमेव रङ्गद्वारमित्येके ।

चतुरश्रा इति । प्रस्ताराञ्चित एव चञ्चत्पुटे स्यात् (ना. शा. ३१-पु. ५२२. का. मा.) इह छन्दो विशेषाभिधानेऽपि नियमो वक्ष्यते 'उष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिश्चेति ।' (ना शा. ३२-३६) अड्डिता जातिरिति ।

अन्ये तु पठन्ति —

[2]आद्यं चतुर्थं दशममष्टमैकादशे तथा ।
गुरूणि दोधके या स्यादड्डिता नाम सा स्मृता ॥ इति ।
"आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु ।" इत्यन्ये ॥

अभिनव—यहाँ अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिये। कुछ विद्वान् रङ्गद्वार और चारी में अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग मानते हैं। दूसरे लोग तो रङ्गद्वार के सान्निध्य के कारण रङ्गद्वार में अवकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग मानते हैं और अन्य विद्वान् तो रङ्गद्वार में ध्रुवा का प्रयोग ही स्वीकार नहीं करते हैं।

इस ध्रुवा में चार सन्निपात प्रयुक्त होते हैं। शास्त्रप्रमाण के आधार पर इसे चतुरस्र कहा गया है। चतुरस्र ध्रुवा प्रस्तार से अञ्चित चञ्चत्पुट ताल में होती है। यहाँ छन्दोविशेष के अभिधान में भी नियम को कहेंगे कि सात अक्षरों वाला उष्णिक् छन्द, आठ अक्षरों वाला अनुष्टुप्, नौ अक्षरों वाला बृहती और दश अक्षरों वाला पङ्क्ति छन्द होता है। भरत ने इसे जाति कहा है। उनके अनुसार अड्डिता एक जाति छन्द है।

अभिनव ने एक अन्य मत के अनुसार अड्डिता का लक्षण उद्धृत किया है—

"दोधक छन्द के पाद (चरण) में जब पहला, चौथा, आठवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ अक्षर गुरु होता है तो उसे अड्डिता ध्रुवा कहते हैं।"

अन्य आचार्य तो कहते हैं कि जहाँ पर पहिला, अन्तिम, चौथा और पाँचवा अक्षर गुरु होता है वहाँ अड्डिता ध्रुवा होती है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त अड्डिता के सम्बन्ध में दो मत स्वीकार करते हैं अथवा अभिनवगुप्त के समय तक दो मत प्रचलित हो चुके थे ॥ ११८-१२० (१) ॥

---

१. क-अ. न. म. तस्याः । क-ङ. यस्याः ।
२. क-भ. म. आद्यं चतुर्थमष्टमैकादशे तथा ।

[1]कृत्वाऽवहित्थं स्थानं तु वामं चाधोमुखं भुजम् ॥ १२१ ॥
[2]चतुरश्रमुरः कार्यमञ्चितश्चापि मस्तकः ।

अस्या इति । चार्याः । सहोमयेति । 'शृङ्गारस्य प्रचरणात् ।' (ना. शा. ५-२७) 'उमा तुष्टा' (ना. शा. ५-५२) इति चोक्तत्वादिति भावः । क्रीडितवानिति । स्त्रीचेष्टितेनेति भावः ॥ १२०-१२१ (१) ॥

कृत्वावहित्थं स्थानन्त्विति । अवहित्थं स्त्रीणां स्थानकम्—
"पूर्वो विरचितस्त्यश्रस्तदन्योऽपसृतः समः ।
पादस्तालान्तरन्यस्तस्त्रिकमीषत्समुन्नतम् ॥ (ना. शा. १२-१६८)
पाणिर्लताख्यो यत्रैकस्तदन्यस्तु नितम्बगः ।
अवहित्थं समाख्यातं स्थानमागमभूषणैः ।" (ना. शा. १२-१६९)

अनुवाद—अब मैं इस चारी के प्रयोग का वर्णन करूँगा, जैसाकि पहिले महेश्वर शिव ने उमा के साथ नाना प्रकार के पादों और चेष्टाओं में इसका अभिनय किया था ॥ १२०-१२१ (१) ॥

अभिनव—'अस्याः' का अर्थ है इस चारी का । 'सहोमया' अर्थात् उमा के साथ शिव ने क्रीड़ा की थी । जैसा कि इसी अध्याय में कहा जा चुका है कि **'शृङ्गार** रस के प्रचरण के कारण इसे चारी कहा गया है ।' (ना० शा० ५।५२) । भाव यह कि शृङ्गाररसपरक चारी के प्रयोग से उमा तुष्ट होती हैं । क्योंकि उमा और शिव के नानाविध भावों और चेष्टाओं से चारी का प्रयोग माना गया है । **'क्रीडित-वान्'** अर्थात् क्रीड़ा शब्द से शृङ्गारपरक स्त्रीचेष्टाओं का द्योतन होता है ॥ १२०-१२१ (१) ॥

अनुवाद—सूत्रधार पहिले अवहित्थ नामक स्थानक में खड़ा होकर, बायें हाथ को नीचे की ओर झुकाकर (अधोमुख कर) उर (वक्षःस्थल) को चतुरस्र तथा मस्तक को अञ्चित चेष्टा में विन्यस्त करे ॥ १२१-१२२ (१) ॥

अभिनव—यहाँ पर अवहित्थ नामक स्थानक के प्रयोग का निर्देश अवहित्थ स्त्रियों का स्थानक माना गया है । इसमें स्त्रियों की गतिचेष्टाएँ होती हैं । अवहित्थ का लक्षण है—

"जिसमें सर्वप्रथम एक पैर को त्र्यस्र चेष्टा में रखा जाता है, फिर दूसरा पैर सम और अपसृत होता है । पैर एक ताल के अन्तर पर न्यस्त होता है और त्रिक किञ्चित् उठा हुआ होता है । एक हाथ लता चेष्टा में और दूसरा हाथ नितम्ब पर स्थित होता है । उसे 'अवहित्थ' कहा जाता है ।" (ना० शा० १२।१६८-१६९) ॥

१. क-न. कृत्वा बहिःस्थम् ।
२. इदमर्धं ख. ग. घ. पुस्तकेषु न दृश्यते ।

नाभिप्रवेशे विन्यस्य जर्जरं च तुलाधृतम् ॥ १२२ ॥
वामपल्लवहस्तेन पादैस्तालान्तरोत्थितैः[1] ।
गच्छेत्पञ्चपदीं चैव सविलासाङ्गचेष्टितैः[2] ॥ १२३ ॥
वामवेधस्तु कर्तव्यो विक्षेपो दक्षिणस्य च[3] ।
[4]शृङ्गाररससंयुक्तां पठेदार्यां विचक्षणः ॥ १२४ ॥

जर्जरमिति । खटकामुखमध्ये स्त्रीगतौ हि वक्ष्यते—
"नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यं च खटकामुखम् ।" इति (ना. शा. १२-१७९) ।
वामपल्लवः—
"मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ" इति (ना. शा. ९-१९६) ।
पञ्चपदीं पूर्वोक्तामेव स्मारयति ॥ १२३ ॥

अनुवाद—इसके बाद संतुलित रूप में धारण किये हुए जर्जर को नाभि-प्रदेश में रखकर 'पल्लवमुद्रा' में न्यस्त बायें हाथ और एक-एक ताल के अन्तर से उठाये हुए पैरों से विलासपूर्ण आङ्गिक चेष्टाओं के साथ पाँच पग (कदम) चले ॥ १२२-१२३ ॥

जर्जरमिति—जर्जर को बायें हाथ से नाभिप्रदेश पर सन्तुलित रखा जाता है । अभिनव खटकामुख हस्त चेष्टा में जर्जर को धारण करना स्वीकार करते हैं । जैसाकि स्त्रियों की गति निरूपण के अवसर पर कहेंगे—

"पहिले अवहित्थ स्थानक को करके फिर वामभुजा को अधोमुख करे, उसी बाये हाथ को खटकामुख चेष्टा में नाभिप्रदेश पर रखे ।" (ना० शा० १२।१७९) । अब वामपल्लव का लक्षण बताते हैं—

"मणिबन्ध (कलाई) से युक्त दो पताक हस्तों को पल्लव कहते हैं ।" (ना० शा० ९।१९७) ॥

पञ्चपदी पद पूर्व कथन को स्मरण दिलाता है ॥ १२३ ॥

अनुवाद—उसके बाद बायें पैर से बेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग तथा दाहिने पैर से विक्षेप करना चाहिए । फिर विद्वान् सूत्रधार श्रृङ्गार रस से संयुक्त आर्या का पाठ करे ॥ १२४ ॥

---

१. ख. ग. घ. पादैस्तालान्तरस्थितैः ।
२. क-अ- प. विलासाङ्गविचेष्टितैः । क-त. लक्षितैरङ्गचेष्टितैः ।
३. ख. घ. दक्षिणेन तु ।
४. ख. घ. ततः श्रृङ्गारसंयुक्तं पठेच्छ्लोकं विचक्षणः ।

चारीश्लोकं गदित्वा[1] तु कृत्वा च परिवर्तनम् ।
तैरेव च पदैः कार्यं पश्चिमेनापसर्पणम्[2] ॥ १२५ ॥
[3]पारिपार्श्विकहस्ते तु न्यस्य जर्जरमुत्तमम्[4] ।
महाचारीं ततश्चैव प्रयुञ्जीत यथाविधि ॥ १२६ ॥
चतुरश्रा ध्रुवा तत्र[5] तथा द्रुतलयान्विता[6] ।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ[7] प्रमाणतः ॥ १२७ ॥

वामवेधस्त्विति । आर्यामिति । यत्र देव्या सह भगवतः पार्वतीप्रियस्य प्रणयकोपादि वर्ण्यतेऽनेनेति । श्लोक आर्यैवात्र ॥ १२४ ॥

अथ महाचारीप्रयोगमवतारयति—पारिपार्श्विकहस्ते त्विति ॥ १२६ ॥
तत्र ध्रुवामाह—चतुरश्रेति । द्विकलेनोक्तेन चञ्चत्पुटेन ॥ १२७ ॥

अभिनव—जहाँ पर देवी के साथ भगवान् पार्वतीवल्लभ शिव के प्रणय, कोप आदि का वर्णन किया जाय वह श्लोक आर्या ही है ॥ १२४ ॥

अनुवाद—इसके बाद चारी श्लोक का पाठ करके फिर परिवर्त्तन करके उसी प्रकार (पूर्वोक्त से) विधि उन्हीं पैरों से उलटे पश्चिम अर्थात् पीछे की ओर से अपसर्पण करना चाहिए अर्थात् उसी प्रकार पीछे की ओर से उलटे पाँव लौट जाय ॥ १२५ ॥

इसके बाद महाचारी के प्रयोग का अवतरण करते हैं—

अनुवाद—इसके बाद पारिपार्श्विक के हाथ में उत्तम जर्जर को रखकर फिर विधिपूर्वक महाचारी का प्रयोग करे और उसमें द्रुत लय से समन्वित चतुरस्र ध्रुवा का प्रयोग करे जो प्रमाणतः चार सन्निपातों तथा आठ कलाओं से युक्त होता है ॥ १२६-१२७ ॥

अभिनव—महाचारी के प्रयोग का अवतरण करते हैं कि पारिपार्श्विक के हाथ में जर्जर को रखकर महाचारी का प्रयोग करे। उसमें ध्रुवा को कहते हैं—चतुरस्र ध्रुवा का प्रयोग करे। पूर्वोक्त द्विकल चञ्चत्पुट ताल से युक्त हो। 'आद्यं चतुर्थम्' इत्यादि ध्रुवा का लक्षण है ॥ १२६-१२७ ॥

---

१. ख. विदित्वा । क-अ. पठित्वा ।
२. ख घ. प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ।
३. ख. घ. पारिपार्श्वकयोर्हस्ते ।
४. क-त. जर्जरमुन्नतम । ५. ख. घ. यत्र ।
६. ख. घ. द्रुतलयाश्रया । ७. ख. घ. ग. कलास्त्वष्टौ ।

[1]आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु।
[2]लघु शेषं ध्रुवापादे त्रैष्टुभे चरणे भवेत् ॥ १२८ ॥
(यथा-)
[3]पादतलाहति पातितशैलं क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम्।
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते पातु[4] जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२९ ॥

आद्यं चतुर्थमिति ध्रुवालक्षणम् ॥ १२८ ॥

अनुवाद--इस ध्रुवा के त्रिष्टुप् जाति के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम और अन्तिम अक्षर गुरु होता है और शेष अक्षर लघु होते हैं ॥ १२८ ॥

अनुवाद—उदाहरण जैसे—

S I I S I I S I I S S
पादतलाहति पातितशैलं
S I I S I I S I I S S
क्षोभितभूत समग्रसमुद्रम्।
S I I S I I S I I S S
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते
S I I S I I S I I S I
पातु जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२७ ॥

अर्थात् "प्रलय के समय जिसके पैरों के आघात से पहाड़ टूट कर गिर गये हैं और समुद्र एवं समस्त प्राणिवर्ग क्षुब्ध हो गये हैं, ऐसे जगत् को सुख देने वाले भगवान् शिव का यह ताण्डव नृत्त सब की रक्षा करे।"

इस आर्या में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम एवं एकादश अक्षर गुरु है और शेष लघु हैं अतः यह चतुरस्र ध्रुवा का उदाहरण है ॥ १२९ ॥

अभिनव—जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, द्वादश और अन्तिम अक्षर गुरु हों और शेष अक्षर लघु हों, उसे ध्रुवा कहते हैं।

---

१. क-न. त. आद्यमन्त्यचतुर्थं च। क-म. आद्यं चतुर्थमाद्यं च।
२. क. ग. लघु शेषं ध्रुवापादे चतुर्विंशतिके भवेत्।
ख. लघुशेषं ध्रुवायोगे त्रैष्टुभं चरणे यथा।
घ. लघुशेषं ध्रुवापादे त्रैष्टुभे चरणे यथा।
क-म. लघुशेषं द्रुतापादे स्याच्चतुर्विंशके द्विजाः।
३. ख. ग. घ. पादतलाहतपातितशैलं। ४. ख. घ. पातु हरस्य सदा सुखदायि।

भाण्डोन्मुखेन कर्तव्यं पादविक्षेपणं ततः ।
[1]सूचीं कृत्वा पुनः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ १३० ॥
अतिक्रान्तैः सललितैः [2]पादैर्द्रुतलयान्वितैः ।
[3]त्रितालान्तरमुत्क्षेपैर्गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १३१ ॥
तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।
[4]तैरेव च पदैः कार्यं प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ॥ १३२ ॥
पुनः पदानि त्रीण्येव गच्छेत्प्राङ्मुख एव तु ।
ततश्च वामवेधः स्याद्विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ १३३ ॥

अस्याः प्रयोगमाह—भाण्डोन्मुखेनेति । पश्चिमाभिमुखेन । महेश्वरत्वं यस्य न्यस्यात्मनि तस्यात्मनीच्छता ऊनचतुस्तालता तच्चेष्टितानुसरणाच्च मध्यत्वेऽपि तद्द्वितालतेत्यौचित्यात्तालान्तरत्वमुक्तम् । ॥ १३० ॥

अनुवाद—इसके बाद भाण्डवाद्यों की ओर उन्मुख होकर पाद का विक्षेप करना चाहिए, फिर सूची चारी का प्रयोग करके विक्षेप के साथ परिवर्त्तन (परिक्रमण) करे ॥ १३० ॥

अभिनव—अब इसके प्रयोग को कहते हैं—भाण्डवाद्यों की ओर उन्मुख होकर अर्थात् पश्चिमाभिमुख होकर पाद विक्षेप करना चाहिए । जिसकी आत्मा में महेश्वरत्व का न्यास किया गया है उसकी आत्मा में चार से कम ताल होता है और उसकी चेष्टा का अनुकरण होने से मध्य में भी दो ताल होना चाहिए, इस औचित्य के कारण तीन ताल का अन्तर कहा गया है ॥ १३० ॥

अनुवाद—इसके बाद अतिक्रान्त चारी से युक्त सुन्दर आङ्गिक चेष्टाओं के साथ द्रुत लय से अन्वित तीन ताल के अन्तर पर उठाये गये पैरों से पाँच पग चलना चाहिए ॥ १३१ ॥

अनुवाद—उसमें भी बायें पैर से वेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग और दाहिने पैर का विक्षेप करे, फिर उन्हीं पगों (कदमों) से पूर्वाभिमुख अपसर्पण करना चाहिए ॥ १३२ ॥

अनुवाद—फिर पूर्वाभिमुख ही (सन्मुख मुख किये हुए ही) तीन पग आगे चले । उसके बायें पैर से वेध अर्थात् सूची चारी का प्रयोग तथा दाहिने पैर का विक्षेप करना चाहिए ॥ १३३ ॥

१. ख. सूची दत्त्वा ततः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्त्तनम् ।
२. ख. पदैः द्रुतलयाश्रितैः । घ. पदैः द्रुतलयान्वितैः ।
३. ख त्रितालान्तरमुत्क्षिप्तैः । क-म. त्रिकालान्तरमुक्षिप्तैः । ४. ग. तत्रैव च ।

ततो रौद्ररसं[1] श्लोकं [2]पादसंहरणं पठेत् ।
तस्यान्ते तु त्रिपद्याऽथ व्याहरेत्पारिपार्श्विकौ[3] ॥ १३४ ॥
[4]तयोरागमने कार्यं गानं नर्कुटके बुधैः[5] ।
तथा च भारतीभेदे [6]त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥ १३५ ॥

अथ महाचारीं सूचयति—ततो रौद्ररसमिति । रुद्रस्यायं रौद्रप्रायः सः रसः । यत्र पादानां च संहरणं समासयोजनयैक्यं यत्रेत्योजःप्रधानत्वं दर्शितम् । तस्येति । पाठस्यान्ते । त्रिपद्येति । पारिपार्श्विकावामुखरूपया[7] । अत्र च ध्रुवाया अनुक्तत्वात्पूर्वोक्तैवाड्डिता संश्रयणीया ॥ १३४ ॥

अनुवाद—उसके बाद पैरों का संहरण अर्थात् समास रूप में एक साथ लाये जाने के समानान्तर रौद्र रस से युक्त श्लोक का पाठ करे, उसके अन्त में तीन पग चलकर दोनो पारिपार्श्वकों को बुलाये ॥ १३४ ॥

अभिनव—इसके बाद महाचारी को सूचित करते हैं—उसके बाद रौद्ररस श्लोक का पाठ करे । रुद्र का यह रस अर्थात् रौद्रप्राय यह रस । जहाँ पर पैरों का संहरण अर्थात् समास की योजना से एक साथ जहाँ रहे' इससे ओज की प्रधानता दिखा दी गई है । 'तस्य' अर्थात् उस पाठ के अन्त में । 'त्रिपद्या' अर्थात् तीन पग से । दोनो पारिपार्श्विकों को अर्थात् आमुख रूप त्रिपदी से (तीन पग चलकर) दोनों पारिपार्श्विकों को बुलाये । यहाँ पर किसी ध्रुवा का कथन नहीं है अतः पूर्वोक्त (पूर्व में कही हुई) अड्डिता ध्रुवा का ही आश्रयण (ग्रहण) करना चाहिए ॥१३४॥

अनुवाद—उन दोनों के आगमन पर नाट्यविज्ञों को नर्कुटक ध्रुवा का गान करना चाहिए और भारती वृत्ति के त्रिगत भेद का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् तीन पात्रों के संलाप की योजना करे ॥ १३५ ॥

---

१. ख. ग. घ रौद्ररसश्लोकं । क-अ. महारसं श्लोकं । क-म. रौद्रपदं श्लोकं ।

२. ख. घ. पदसंहरणं ।

३. पारिपार्श्वकः ।

४. ख. ग. तयोरागमनं गानं नकुटके बुधैः ।
क-त. तयोरागमने कार्यं गेयं नकुंटकं बुधैः ।

५. ख. घ. इतः परं 'तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च' इत्यधिकं दृश्यते ।

६. क-अ. त्रिपदीम् ।

७. क-घ. पारिपार्श्वकमुखरूपाया । क-म. पार्श्वकामुखस्वरूपायाः ।

विदूषकस्त्वेकपदां[1] सूत्रधारस्मितावहाम् ।
असम्बद्धकथाप्रायां कुर्यात्कथनिकां[2] ततः ॥ १३६ ॥
[3]वितण्डां [4]गण्डसंयुक्तां तालिकाञ्च प्रयोजयेत् ।
कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्यप्ररूपिणीम् ॥ १३७ ॥
पारिपार्श्विकसञ्जल्पो विदूषकविरूपितः[5] ।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं सम्प्रयुज्यते ॥ १३८ ॥

अथ त्रिगतमङ्गं दर्शयति—तयोरित्यादिना। तयोः पारिपार्श्विकयोः। नर्कुटकध्रुवा वक्ष्यते।

"अष्टौ नर्कुटकानां तु विज्ञेया मूलजातयः।
रथोत्तरं बुद्बुदकमुद्गतं वंशपत्रकम्।"
इत्यादि (ना. शा. ३२-२७३-२७४)

तदन्यतमध्रुवोपलक्षितं गानं नर्कुटकम्। ॥ १३५ ॥

अभिनव—इसके बाद त्रिगत अङ्ग को दिखाते हैं—तयोरित्यादि। 'तयोः' अर्थात् दोनों पारिपार्श्वकों के (आगमन पर)। नर्कुटक ध्रुवा को आगे कहेंगे—

"नर्कुटकों की आठ मूल जातियाँ समझनी चाहिए। रथोत्तर, बुद्बुदक, उद्गत और वंशपत्र।" (ना० शा० ३२।२७३-२७४)।

उनमें से किसी एक ध्रुवा से उपलक्षित गान नर्कुटक है ॥ १३५ ॥

अनुवाद—इसके बाद विदूषक एक पद वाली तथा सूत्रधार को हंसाने वाली तथा प्रायः असम्बद्ध कथा वाली कहानी कहे अथवा संभाषण करे ॥१३६॥

अनुवाद—इसमें "कौन ठहरता है ?" "किसने जीता है" ? इत्यादि प्रश्न रूप काव्य का निरूपण करने वाली गण्ड (निरर्थक शब्द) से युक्त वितण्डा (असत्प्रलाप) तथा नालिका अर्थात् हास्य-परिहास युक्त प्रहेलिका (कूटपूर्ण वचनावली) का प्रयोग करे ॥ १३७ ॥

अनुवाद--इसके बाद पारिपार्श्विकों का वार्त्तालाप उसे विदूषक द्वारा विरूपित अर्थात् उक्त वार्त्तालाप को विरूपित कर हास्यमय बनाना फिर सूत्र-धार द्वारा उसे स्थापित करना इस प्रकार त्रिगत का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३८ ॥

---

१. ब. विदूषकस्त्वेकपदे। क-त. विदूषकश्चैकपदाम्।
२. ख. घ. कुर्यात्कथनिकां तथा। क-भ. कुर्यात्कथितिकाम् ततः।
३. इतः आरभ्य श्लोकद्वयमन्यसंस्करणे नोपलभ्यते। ४. क-त. वण्डसंयुक्तम्।
५. ग. नालीकं च. ख. नामिकां च। ब. नालिकां च। ६. ग. ष. बिदूषितः।

[1]प्ररोचना च कर्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणम् ।
[2]रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यं काव्यवस्तुनिरूपणम् ॥ १३९ ॥
[3]सर्वमेव विधिं कृत्वा सूचीवेधकृतैरथ ।
पादैरनाविद्धगतैर्निष्क्रामेयुः समं त्रयः ॥ १४० ॥
[4]एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ।
चतुरश्रो द्विजश्रेष्ठास्त्र्यश्रं चापि निबोधत ॥ १४१ ॥
अयमेव प्रयोगः स्यादङ्गान्येतानि चैव हि ।
[5]तालप्रमाणं सङ्क्षिप्तं केवलं तु विशेषकृत् ॥ १४२ ॥
[6]शम्या तु द्विकला कार्या तालो ह्येककलस्तथा ।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलाद्वयम् ॥ १४३ ॥

प्ररोचना

अनुवाद—इसके बाद सूत्रधार के द्वारा सामाजिकों को आमन्त्रित करते हुए प्ररोचना का प्रयोग करना चाहिए । फिर अङ्ग अर्थात् प्रयोग की सफलता के लिए नाट्यवस्तु का निरूपण करना चाहिए ॥ १३९ ॥

अनुवाद—इन सभी विधियों को करके सूची चारी के प्रयोग के साथ आविद्ध चारी के अतिरिक्त किसी भी चारी युक्त पैरों से तीनों पात्र साथ ही निकल जाँय ॥ १४० ॥

अनुवाद--हे श्रेष्ठ द्विजों ? इस प्रकार चतुरस्र पूर्वरङ्ग का विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए । अब त्र्यस्र पूर्वरङ्ग की विधि को सुनिये ॥ १४१ ॥

त्र्यस्र पूर्वरङ्ग

अनुवाद - इस त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में इसी प्रकार (चतुरस्र के समान) प्रयोग होता है, इतने ही अङ्ग होते हैं । केवल ताल प्रमाण का संक्षिप्त रहना चतुरस्र से इसकी विशेषता है ॥ १४२ ॥

अनुवाद—इसमें शम्या दो कला की तथा ताल एक कला की फिर शम्या एक कला की और सन्निपात दो कलाओं का होना चाहिए ॥ १४३ ॥

---

१. ख. घ. प्ररोचनाथ कर्त्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणा । २. क-अ. रङ्गसिद्धया ।
३. ख. घ. सर्वमेवं । ४. ख. घ. एवमेव ।
५. ग. तालप्रमाणं विक्षिप्तं । ख. तालप्रमाणसंक्षिप्तं ।
६. ख. शम्याकृद् द्विकला कार्यस्ताल एककलस्तथा ।

अनेन हि प्रमाणेन कलातालल्यान्वितः[1] ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु त्र्यश्रोऽप्युत्थापनादिकः[2] ॥ १४४ ॥

आद्यं चतुर्थं दशममष्टमं नैधनं[3] गुरु ।
यस्यास्तु जागते[4] पादे सा त्र्यश्रोत्थापिनी ध्रुवा ॥ १४५ ॥

वाद्यं [5]गतिप्रचारश्च ध्रुवा तालस्तथैव च ।
[6]संक्षिप्तान्येव कार्याणि त्र्यश्रे नृत्तप्रवेदिभिः ॥ १४६ ॥

वाद्यगीतप्रमाणेन [7]कुर्यादङ्गविचेष्टितम् ।
[8]विस्तीर्णमथ सङ्क्षिप्तं द्विप्रमाणविनिर्मितम्[9] ॥ १४७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार के प्रमाण से कला, ताल और लय से अन्वित त्र्यस्त्र पूर्वरङ्ग का विधान करना चाहिए जिसमें उत्थापनादि अङ्ग वैसे ही रहते हैं ॥ १४४ ॥

अनुवाद—जिसके जगती छन्द के चरण में प्रथम, चतुर्थ, दशम, अष्टम और अन्तिम (द्वादश) अक्षर गुरु होते हैं, उसे त्र्यस्त्र पूर्वरङ्ग में उत्थापनी ध्रुवा कहते हैं ॥ १४५ ॥

अनुवाद—नृत्तवेत्ताओं को त्र्यस्त्र पूर्वरङ्ग में वाद्यों का प्रयोग, गचिप्रचार अर्थात् नृत्त की आङ्गिक चेष्टाएँ, ध्रुवा तथा ताल आदि का प्रयोग संक्षेप में ही करना चाहिए ॥ १४६ ॥

अनुवाद—वाद्य और गीत के प्रमाण के अनुसार अङ्गों की चेष्टाएं अर्थात् आङ्गिक-अभिनय करना चाहिए जो विस्तीर्ण और संक्षिप्त दो प्रमाणों से विनर्मित हो ॥ १४७ ॥

---

१. क-म. कलातालद्वयान्वितः ।
२. ख. ग. त्र्यस्त्रोऽभ्युत्थापनादिकः । क-त. म. त्र्यस्त्र उत्थापनादिकः ।
३. क-न. नवमम् ।
४. ख. जायते ।
५. क-न. गीतप्रकारश्च ।
६. ग. संक्षिप्तान्यत्र कार्याणित्र्य स्त्रनृत्तप्रवेदिभिः ।
७. ख कुर्यात् कृतिविचेष्टितम् । घ. कुर्यादगतिविचेष्टितम् ।
८. क-अ. त. न. विस्तीर्णमथवाक्षिप्तं ।
९. प्रमाणं च विनिर्मितम् ।

हस्तपादप्रचारस्तु द्विकलः परिकीर्तितः ।
चतुरश्रे [1]परिवर्त्ते पाताः[2] स्युः षोडशैव तु ॥ १४८ ॥
[3]त्र्यश्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः ।
एतत्प्रमाणं विज्ञेयमुभयोः[4] पूर्वरङ्गयोः ॥ १४९ ॥
केवलं परिवर्ते तु [5]गमने त्रिपदी भवेत् ।
दिग्वन्दने पञ्चपदी चतुरश्रे विधीयते ॥ १५० ॥
आचार्यबुद्ध्या कर्तव्यस्त्र्यश्रस्तालप्रमाणतः[6] ।
[7]तस्मान्न लक्षणं प्रोक्तं पुनरुक्तं भवेद्यतः ॥ १५१ ॥
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो द्विजोत्तमाः ।
[8]त्र्यश्रश्च चतुरश्रश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः ॥ १५२ ॥

अनुवाद—चतुरस्र पूर्वरङ्ग में हाथ और पैरों का संचालन दो कलाओं का होता है और इसके परिवर्त्त में सोलह सोलह पात होते हैं ॥ १४८ ॥

अनुवाद—त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में हाथ और पैरों के बारह पात होते हैं। इस प्रकार का प्रमाण दोनो 'पूर्वरङ्गों मैं समझना चाहिए ॥ १४९ ॥

अनुवाद—(त्र्यस्र पूर्वरङ्ग में) केवल परिवर्त्त के गमन में त्रिपदी का प्रयोग होता है और चतुरस्र पूर्वरङ्ग में दिग्वन्दन में पञ्चपदी का प्रयोग किया जाता है ॥ १५० ॥

अनुवाद—नाट्याचार्य की बुद्धि से ताल के प्रमाण के अनुसार त्र्यस्र पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए इसका लक्षण नहीं कहा गया है, क्योंकि ऐसा करने पर पुनरुक्ति होती ॥ १५१ ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ! इसी प्रकार भारती वृत्ति के आश्रित त्र्यस्र और चतुरस्र के शुद्ध पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५२ ॥

---

१. क. परिक्रान्ते । ग. परावर्त्ते । क-त. पूर्वरङ्गे । क-प. परिभ्रान्ते ।
२. ख. पादाः ।
३. ख. घ. त्र्यस्रे तु द्वादशपदा भवन्ति करपादजाः ।
४. ख. च. निर्दिष्टमुभयोः ।   ५. ख. गगने ।
६. ख. त्र्यस्रतालप्रमाणतः । ग. त्र्यस्रस्तज्ज्ञैः प्रमाणतः ।
७. क-च. तस्मात्तल्लक्षणं । क-अ. कस्यात्तल्लक्षणं । क-त. कस्यान्न लक्षणं ।
८. क-म. त्र्यस्रे च चतुरस्रे च । क-त. त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च ।

एवं तावदयं शुद्धः पूर्वरङ्गो मयोदितः ।
चित्रत्वमस्य वक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १५३ ॥
[1]वृत्ते ह्युत्थापने विप्राः कृते च परिवर्तने ।
[2]चतुर्थकारदत्ताभिः [3]सुमनोभिरलङ्कृते ॥ १५४ ॥
उदात्तगानैर्गन्धर्वैः परिगीते[4] प्रमाणतः ।
देवदुन्दुभयश्चैव निनदेयुर्भृशं ततः ॥ १५५ ॥
[5]सिद्धा कुसुममालाभिर्विकिरेयुः समन्ततः ।
[6]अङ्गहारैश्च देव्यस्ता उपनृत्येयुरग्रतः ॥ १५६ ॥

[[7]भारतीभेद इति । भारतीयवृत्त्यङ्गमुपसंहरत्येवमेष इति । चतुरश्रस्त्र्यश्रशुद्धश्चित्र इति चतुर्धा पूर्वरङ्गः यद्वक्ष्यति—

"त्र्यश्रं वा चतुरश्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ।" इति चित्र एव विशेषान्वितो भवति] ॥ १५२ ॥

अभिनव—भारती वृत्ति के अङ्ग का उपसंहार करते है--'इस प्रकार' इत्यादि । चतुरस्र, त्र्यस्र, शुद्ध और चित्र भेद से पूर्वरङ्ग चार प्रकार का होता है। जैसा कि आगे कहेंगे--

"त्र्यस्र अथवा चतुरस्र अथवा शुद्ध अथवा चित्र पूर्वरङ्ग" इस प्रकार चित्र पूर्वरङ्ग ही विशेष अन्वित होता है ॥ १४१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैने यहाँ तक शुद्ध पूर्वरङ्ग का विधान बतलाया है अब प्रयोक्ताओं द्वारा चित्र पूर्वरङ्ग का जैसे प्रयोग करना चाहिए, उसका कथन करूँगा ॥ १५३ ॥

चित्रपूर्वरङ्गविधि

अनुवाद—हे विप्रों ! उत्त्थापन के सम्पन्न हो जाने पर और परिवर्त्तन के कर देने पर चतुर्थकार के द्वारा दिये गये पुष्पों से अलङ्कृत कर दिये जाने पर और गन्धर्वों के द्वारा प्रमाण के अनुसार उदात्त गीत के गाये जाने पर देव-दुन्दुभियों को बार-बार बजाना चाहिए ॥ १५४-१५५ ॥

---

१. क-म नृत्ये । २. ख चतुष्प्रकारदत्ताभिः ।
३. क-प. सुमनोभिरलङ्कृताः ।
४. क-अ. प्रमाणे परिकीर्तितैः । ख. परिगीतैः प्रमाणतः घ. परिगतैः प्रमाणतः ।
५. ख. ब. घ. शुद्धाः ।
६. ख. अङ्गहारैश्च देव्यश्च व्यासापन्यासंयुताः । क-त. अङ्गहारश्च विन्यास्ताः ।
७. क-म. भ. एतत्कोष्ठकान्तर्गतभागो न दृश्यते ।

यस्ताण्डवविधिः प्रोक्तो नृत्ते पिण्डीसमन्वितः[1] ।
रेचकैरङ्गहारैश्च न्यासोपन्याससंयुतः ॥ १५७ ॥
नान्दीपदानां मध्ये तु एकैकस्मिन्पृथक्पृथक् ।
[2]प्रयोक्तव्यो बुधैः सम्यक्चित्रभावमभीप्सुभिः ॥ १५८ ॥
एवं कृत्वा यथान्यायं [3]शुद्धं चित्रं प्रयत्नतः ।
ततः परं प्रयुञ्जीत नाटकं लक्षणान्वितम् ॥ १५९ ॥
[4]ततस्त्वन्तर्हिताः सर्वा भवेयुर्दिव्ययोषितः ।
निष्क्रान्तासु च सर्वासु नर्तकीषु ततः परम् ॥ १६० ॥
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यमङ्गजातमतः परम्[5] ।
एवं शुद्धो भवेच्चित्रः[6] पूर्वरङ्गो विधानतः[7] ॥ १६१ ॥

अनुवाद—सिद्धगण चारों ओर पुष्पमालाओं का विकरण करें अर्थात् चारों ओर पुष्पमालाएँ बिखेरें और दिव्याङ्गनाएँ सामने अङ्गहारों के साथ नृत्य करें ॥ १५६ ॥

अनुवाद—नृत्त के प्रकरण में पिण्डबन्धों से युक्त रेचक और अङ्गहारों के द्वारा न्यास एवं अपन्यास के प्रयोग के साथ जो ताण्डव नृत्त की विधि कही गयी है, उसका चित्र पूर्वरङ्ग के रूप में विधान करने के इच्छुक कुशल नाट्याचार्यों द्वारा नान्दी-पदों के प्रयोग के मध्य में एक-एक में अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए ॥ १५७-१५८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाट्यविधि के अनुसार प्रयत्नपूर्वक शुद्ध और चित्र पूर्वरङ्ग का विधान करके उसके बाद लक्षणों से युक्त नाटक का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५९ ॥

अनुवाद—इसके बाद सभी दिव्याङ्गनाओं को अन्तर्हित हो जाना चाहिए अर्थात् सभी दिव्याङ्गनाएँ रङ्गमञ्च से निकल जाँय। उसके बाद समस्त नर्त्तकियों के निकल जाने के बाद पूर्वरङ्ग में अन्य रङ्गों का प्रयोग करना काहिए। इस प्रकार विधान के अनुसार शुद्ध पूर्वरङ्ग चित्रपूर्वरङ्ग हो जाता है ॥ १६०-१६१ ॥

---

१. घ. नृत्तं पिण्डो समन्वितः । ग. नृत्ते पिण्डो समन्ततः ।
२. ख. प्रयोक्तव्यो विधिः सम्यक् चित्रो लक्षणसंयुतः ।
३. क-प शुद्धो लक्षणसंयुतः । ४. ख. घ. इदमर्धं नास्ति ।
५. ग. प्रस्तावनां कृतः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम् ।
६. ख. चित्रं । ७. ख. घ. पूर्वरङ्गविधानतः ।

कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र नृत्तगीतविधिं[1] प्रति ।
गीते [2]वाद्ये च नृत्ते च [3]प्रवृत्तेऽतिप्रसङ्गतः ॥ १६२ ॥
खेदो भवेत्प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च ।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते[4] ॥ १६३ ॥
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत् ।

ततोऽनन्तरम् । निष्क्रान्तासु नर्तकीषु ततः परं शुष्कावकृष्टादि यदङ्गजातं प्ररोचनान्तं तैरेव सूत्रधरादिभिस्तदपरं (ततः परं) कृत्वा ततः शुद्धादुत्कृष्टं चित्रं कृत्वाऽङ्गहारव्यामिश्रेण प्रयोक्तव्यम् ।

अन्ये च "नास्ति पुरुषस्य नृत्तम्" इत्याशयेन सर्वास्वित्यत्र नान्दीपदवैचित्र्याय याः प्रविष्टास्तासामेव निष्क्रामणमत्र पूर्वासां चतसृणाम् । तेन तत्कृतमेव गानं तेषु चित्रत्वमिति मन्यते ॥ १६०-१६१ ॥

अभिनव—'ततः' उसके बाद अर्थात् समस्त नर्त्तकियों के निकल जाने के बाद शुष्कावकृष्टा से लेकर प्ररोचना पर्यन्त जो अङ्ग समुदाय हैं उन्हें सूत्रधारों द्वारा कराकर फिर शुद्ध से उत्कृष्ट चित्र को मानकर अङ्गहारों से मिश्रित चित्र पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ।

अन्य लोग तो "पुरुष का नृत्त नहीं होता है" इस आशय से 'सर्वासु' यहाँ पर नान्दी पद की विचित्रता के लिए जो नर्त्तकियाँ प्रविष्ट हुई थीं, उन्हीं चार नर्त्तकियों का निष्क्रमण यहाँ पर अभीष्ट है। इससे उनके द्वारा किया गया हो गान चित्र है, ऐसा माना जाता है ॥ १६०-१६१ ॥

अनुवाद—यहाँ पूर्वरङ्ग में नृत्त और गीत के प्रयोग में अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नृत्त, गीत और वाद्य के प्रयोग में अतिशय प्रवृत्ति अर्थात् असन्तुलित प्रयोग होने पर प्रयोक्ताज्ञों को अत्यन्त खेद होता है और उसी प्रकार प्रेक्षकों (दर्शकों) को भी खिन्नता होगी और खिन्न व्यक्तियों को रस और भावों की अधिक स्पष्टता नहीं हो पाती अर्थात् रस एवं भावों का सम्यक् साक्षात्कार नहीं हो पाता और इसके बाद शेष प्रयोग रागजनक नहीं होगा ॥ १६२-१६४ (१) ॥

---

१. गीतनृत्यविधिं । ब. गीतनृत्तविधिं ।
२. ग. गीतवाद्ये ।
३. क. प्रबुद्धेऽतिप्रसङ्गतः । क-त. न. अ. विवृद्धेऽतिप्रसङ्गतः ।
४. क. नैव जायते ।

नातिप्रसङ्ग इति। तत्रैकाङ्गहारप्रयोग एव कार्य इत्यर्थः। अत एवाङ्गान्तरगणनया षोडशैवाङ्गहाराः। तथा चोत्थापनं परिवर्तनमवकृष्टागानं नान्दीपाठः शुष्कावकृष्टजर्जरश्लोकाः ध्रुवा रङ्गद्वारमड्डिता आर्यापाठो ध्रुवा रौद्रश्लोकपाठा नर्कुटकं त्रिगतं प्ररोचना चेत्येते। अङ्गहारषोडशकमेव त्र्यश्रेऽपीति। नान्दीपाठान्तरेषु बहुतरं नृत्तम्।

अन्ये तु तत्रैव नृत्तमिच्छन्ति [1]नाङ्गान्तरेषु। तच्चासङ्गतम्। एवं च सति 'वृत्ते ह्युत्थापन' इत्यादि तथा 'निष्क्रान्तासु च सर्वासु' इत्यादि चानुपात्तसममेव स्यात्। न [2]चैकाङ्गाविचित्रत्वाद्विमिश्रचित्रव्यपदेशे दृष्टान्तो ह्येकस्य तन्तोर्वर्णस्य वैचित्र्यं पटेऽपि वा तथा व्यपदेशः। 'एतद्विमिश्र' इति चोक्तं प्राक् (ना शा. ४-१६)। तदलमनेन।

प्रेक्षकाणामित्यनेन सामाजिकानां पूर्वरङ्गे स्फुटैव नटवृत्तिर्भवतीति दर्शयति। तत्संस्कारसंस्कृतत्वात्तत्त्वधीः। भ्रान्त्यादिबुद्धिश्च नाट्यधीर्भवतीति सूचयति। यदि हि तेषु नाट्यबुद्धिरेवोत्पादनीया स्यात्प्रत्युत प्रयत्नेन

अभिनव—'नातिप्रसङ्ग' का अर्थ है कि नृत्त, गीत, वाद्य में अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए। वहाँ पर एक ही अङ्गहार का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए अन्य अङ्गों की गणना से सोलह ही अङ्गहार हैं और वे उत्थापन, परिवर्त्तन, अवकृष्टा गान, नान्दी पाठ, शुष्कावकृष्टा, जर्जरश्लोक, ध्रुवा, रङ्गद्वार, अड्डिता, आर्यापाठ, ध्रुवा, रौद्रश्लोकपाठ, नर्कुटक, त्रिगत और प्ररोचना ये सोलह अङ्ग हैं। ये सब चतुरस्र पूर्वरङ्ग के अङ्ग हैं। त्र्यस्रपूर्वरङ्ग में भी ये सोलह अङ्ग माने गये हैं। नान्दीपाठ के अन्तर्गत और भी बहुत से नृत्त किये जाते हैं।

अन्य आचार्य तो पूर्वरङ्ग में ही नृत्त को चाहते हैं, अन्य अङ्गों में नहीं। वह सब असङ्गत है अर्थात् ठीक नहीं है। इस प्रकार मानने पर "उत्थापन के सम्पन्न हो जाने पर" इत्यादि और 'सभी नर्त्तकियों के निकल जाने पर' इत्यादि अनुपात्त (अप्राप्त) के समान ही होगा। एक अङ्ग में विचित्रता न होने से मिश्रित चित्र पूर्वरङ्ग के व्यपदेश (नाम) में कोई दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि एक तन्तु के वर्ण में वैचित्र्य होने पर पट में भी वैचित्र्य का व्यपदेश होता है। यह बात 'एभिर्विमिश्रितश्चायं' (ना० शा० ४।१६) इत्यादि श्लोक में पहिले कहा जा चुका है। इसलिए अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है॥ १६२॥

---

१. क. मार्गान्तरेषु।
२. क. न. चैकाङ्गहारविचित्रत्वाद्विमिश्रचित्रव्यपदेशे।

[1]लक्षणेन विना बाह्यालक्षणाद्विस्तृतं भवेत् ॥ १६४ ॥
लोकशास्त्रानुसारेण तस्मान्नाटचं प्रवर्तते ।
त्र्यश्रं वा चतुरश्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ॥ १६५ ॥
प्रयुज्य रङ्गान्निष्क्रामेत्सूत्रधारः सहानुगः ।

नटबुद्धिसम्पादकं पूर्वरङ्गप्रस्तावनादि तान्प्रति गोपनीयं स्यात् । दर्शितं चैतदस्माभिः प्रथमाध्याये । प्रयोक्तारः करणादेः प्रयोगे यत्र खिन्नाः प्रेक्षकाश्चादौ ततः शेषः प्रयोगः प्रीतिं न कुर्यात् । तत्प्रधानं चेदं नाटचं व्युत्पत्तिप्रदमित्युक्तम् ॥ १६२-१६४ (१) ॥

शुद्धमिति । यत्र गीतकवर्धमानविधावेव नृत्तं न तु सर्वथा शुद्धमधुना प्रयोगार्हम् ॥ १६५ ॥

'प्रेक्षकाणाम्' (प्रेक्षकों के) इस कथन से सामाजिकों की पूर्वरङ्ग में स्पष्ट नट की वृत्ति होती है यह दिखाया गया है। भाव यह कि पूर्वरङ्ग में सामाजिकों को नटबुद्धि होती है अर्थात् उसके संस्कार से संस्कृत होने से तत्त्वधी अर्थात् तत्त्व ज्ञान होता है और भ्रान्त्यादि ज्ञान से ताटस्थ्यबुद्धि होती है, यह सूचित होता है। यदि उसमें नाट्यबुद्धि ही उत्पन्न करनी है तो प्रयत्न के साथ नटबुद्धि के सम्पादक पूर्वरङ्ग, प्रस्तावना आदि उन सामाजिकों से छिपाना चाहिए। यह विषय प्रथम अध्याय में हमने दिखा दिया है। नाट्यप्रयोक्ता जहाँ पुष्पपुटादि करणों के प्रयोग में खिन्न हो जाय और प्रेक्षक भी खिन्न हो जांय तो शेष प्रयोग रुचिकर नहीं होगा। मुख्य रूप से यह नाट्य उन्हीं के लिए व्युत्पत्तिप्रद है, यह कहा जा चुका है ॥ १६२-१६४ (१) ॥

अनुवाद—लक्षण से हीन अथवा लक्षण से बाह्य विषय से नाटक विस्तृत हो जाता है, इसलिए लोक और शास्त्र के अनुसार नाटच का प्रवर्त्तन करना चाहिए ॥ १६४-१६५ (१) ॥

अनुवाद—त्र्यस्र हो अथवा चतुरस्र हो तथा शुद्ध हो अथवा चित्र को पूर्वरङ्ग का विधान करके सूत्रधार अपने अनुयायियों के साथ रङ्गमञ्च से निकल जाना चाहिए ॥ १६५-१६६ (१) ॥

अभिनव—शुद्धमिति—जहाँ पर गीतक, वर्धमानक विधि में ही नृत्त का प्रयोग होता है वहाँ सर्वथा शुद्ध पूर्वरङ्ग का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

---

१. ख घ. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।

[1]देवपार्थिवरङ्गानामाशीर्वचनसंयुताम् ॥ १६६ ॥
कवेर्नामगुणोपेतां वस्तूपक्षेपरूपिकाम् ।
लघुवर्णपदोपेतां वृत्तैश्चित्रैरलङ्कृताम् ॥ १६७ ॥
अन्तर्यवनिकासंस्थः कुर्यादाश्रावणां ततः ।
आश्रावणावसाने च नान्दीं कृत्वा स सूत्रधृत् ॥ १६८ ॥
पुनः प्रविश्य रङ्गं तु कुर्यात्प्रस्तावनां ततः ।

एवं प्ररोचनान्तमङ्गजातमुक्त्वा यत्पूर्वमुक्तं—
"रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यं काव्यवस्तुनिरूपणम् ।" इति (ना. शा. ५-१३५)
तद्वितत्य निरूपयति—प्रयुज्येति ॥ १६६-१६७ (१) ॥

अनुवाद—इसके बाद सूत्रधार देवता, राजा तथा रङ्ग के आशीर्वचनों से युक्त, कवि के नाम एवं गुणों से युक्त, नाट्य के कथावस्तु की विस्ताररूपिणी, लघु वर्णों एवं पदों से युक्त, अनेकविध सुन्दर वृत्तों से अलङ्कृत आश्रावणा का यवनिका के अन्दर स्थित होकर प्रयोग करे ॥ १६६-१६७ (१) ॥

अनुवाद—इसके बाद आश्रावणा विधि के समाप्त हो जाने पर वह सूत्रधार नान्दी का पाठ करके पुनः रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके प्रस्तावना करे ॥ १६८-१६९ (१) ॥

विमर्श—'देवपार्थिवरङ्गानाम्' यहाँ से लेकर तीन श्लोक अन्य संस्करणों में नहीं पाये जाते। गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज में इन्हें कोष्ठक में रखा है और मनमोहन घोष ने इन्हें स्वीकार नहीं किया है। इन पर अभिनवगुप्त की टीका भी नहीं है। अतः विद्वानों ने इन्हें प्रक्षिप्त माना है। विषयवस्तु की दृष्टि से सूत्रधार के निष्क्रमण करने के के पश्चात् तुरन्त स्थापक का प्रवेश होना चाहिए, किन्तु इस प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार सूत्रधार ही प्रस्तावना का प्रयोग करने के लिए पुनः रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। आगे कहे जाने वाले 'प्रयुज्य' के प्रयोग से भी यही प्रतीत होता है। कि सूत्रधार हीं स्थापक के रूप में पुनः प्रवेश करता है ॥ १६८-१६९ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्ररोचना के अङ्गों को कहकर जैसाकि पहिले कहा गया हैं-
"रङ्ग की सिद्धि हेतु नाट्यवस्तु का निरूपण करना चाहिए ॥
(ना० शा० ५।१३७) ॥

उसका विस्तार से निरूपण करते हैं—प्रयुज्येति अर्थात् प्रयोग करके सूत्रधार रङ्ग से निकल जाय।

---

१. ख. ब. पुस्तकयोरितः श्लोकत्रयं नास्ति ।
२. ग. पुस्तके इदमर्धं नास्ति ।

प्रयुज्य विधिनैवं तु पूर्वरङ्गं प्रयोगतः ॥ १६९ ॥
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ।
स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ॥ १७० ॥
प्रविश्य रङ्गं तैरेव [1]सूत्रधारपदैर्व्रजेत् ।
स्थापकस्य [2]प्रवेशे तु कर्तव्याऽर्थानुगा[3] ध्रुवा ॥ १७१ ॥
[4]त्र्यश्रा वा चतुरश्रा वा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता ।

योगेण प्रयोगतः स्थापयति समस्तं रूपकवृत्तमिति स्थापकः । सूत्रधारस्य गुणः सौमनस्यविस्मययोगाद्भुतदृष्टित्वरक्षादिभिराकृतिश्च वैष्णवादिरित्येतत्स्थापकभूयिष्ठं गतस्यापि भवति । तदेव स्पष्टयति – स्थानन्त्वित्यादिना । सूत्रधार एव स्थापक इति सूत्रधारः पूर्वरङ्गं प्रयुज्य स्थापकः सन् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृकता ।

अनुवाद—इस प्रकार विधिपूर्वक पूर्वरङ्ग का प्रयोग करके सूत्रधार के समान गुण और आकृति वाला स्थापक वहाँ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥ १६९-१७० (१) ॥

अनुवाद—वह सौष्ठवाङ्ग से पुरस्कृत वैष्णव स्थानक में स्थित होकर रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके उसी सूत्रधार के समान गति से चले। ॥ १७०-१७१ (१) ॥

अभिनव—रूपक के समस्त वृत्तों (अङ्गों) का स्थापन करता है इसलिए वह स्थापक है। सौमनस्य, विस्मय का योग, अद्‌भुतदृष्टि, रक्षा आदि तथा वैष्णव आदि आकृति ये सब स्थापक में अधिक पाये जाने वाले सूत्रधार के गुण हैं। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'स्थानं तु' इत्यादि अर्थात् वैष्णव स्थानक करके। सूत्रधार ही स्थापक होता है, इसलिए सूत्रधार ही पूर्वरङ्ग का प्रयोग करके वही फिर स्थापक बनकर (स्थापक के रूप में) प्रवेश करता है अतः भिन्नकर्तृता नहीं है अर्थात् स्थापक और सूत्रधार दोनों भिन्नकर्तृक नहीं है।

अनुवाद—स्थापक के प्रवेश के समय अर्थानुगामिनी (अवसर के अनुकूल) ध्रुवा का गान करना चाहिए। वह ध्रुवा त्र्यस्र अथवा चतुरस्र ताल में मध्य लय से अन्वित होनी चाहिए ॥ १७१-१७२ (१) ॥

---

१. ख. सूत्रधारपदं व्रजेत् ।
२. क-च. प्रयोगे तु ।
३. क-प. कर्त्तव्या स्थानगा ध्रुवा ।
४. ख घ. चतुरस्राथवा त्र्यस्रा तत्र मध्यलयाश्रिता ।

[1]कुर्यादनन्तरं चारीं देवब्राह्मणशंसिनीम् ॥ १७२ ॥
सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः[2] ।
प्रसाद्य रङ्गं विधिवत्कवेर्नाम च कीर्तयेत्[3] ॥ १७३ ॥

अर्थानुगेति । सारसचक्राह्वाद्युपमानक्रमेण तत्र प्रावेशिकी । तदर्थमप्येव-मुत्थापन्यादिवत्कार्या । मध्यलयान्विता इत्यद्यतनानामिष्टत्वात् । शोकाद्याविष्टे हि विलम्बितलया । रोषाद्याविष्टे च [4]द्रुतचक्रलया प्रावेशिकी । ततः प्रभृति हि सामाजिकानां हृदयं समुचितास्वादनयोग्यम् । यैः[5] संस्कर्तव्यमिति त्रिभिर्लयैर्न्याय्यम् । अन्यत्वे सर्वं प्रावेशिकीगानं स्यातन्त्र्याभिप्रायेण इति तदविचारितभाण-प्रसिद्धिमात्रमिति मन्तव्यम् ।

अभिनव—'अर्थानुगा' से अभिप्रेत है कि स्थापना के प्रवेश के समय अर्थ के अनुसार ध्रुवा का गान करे। सारस, चक्रवाक आदि उपमान के क्रम से वहाँ प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग करे और इसी प्रकार उत्थापनी आदि ध्रुवा के समान उसके अर्थ को भी करना चाहिए। भाव यह कि उत्थापनी आदि ध्रुवा के समान अर्थ का अनुसरण करते हुए प्रावेशिकी ध्रुवा का गान करे। वह प्रावेशिकी ध्रुवा मध्य लय से अन्वित होनी चाहिए अर्थात् मध्यलय से गाना चाहिए। यह आधुनिकों को इष्ट है। शोक आदि के विषय में विलम्बित लय और रोष आदि के विषय में द्रुत लय में प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। उसी से सामाजिकों का हृदय समुचित आस्वादन के योग्य होता है। जिन्हें तीनों लयों से संस्कृत करना अर्थात् सामाजिकों के हृदय को आस्वादन के योग्य बनाना न्याय्य है, उचित है। अन्य अवस्था में सभी प्रावेशिकी ध्रुवाओं का गान स्वतन्त्र रूप से अभिप्रेत है, यह बिना विचारे भाण के कथन के समान है।

अनुवाद—इसके बाद देवता एवं ब्राह्मणों की प्रशंसा से युक्त चारी का प्रयोग करे। फिर नाना प्रकार के रसों और भावों से समन्वित, सुन्दर वाक्यों वाले मधुर श्लोकों से रङ्ग अर्थात् रङ्गस्थ सामाजिकों को अच्छी तरह प्रसन्न करके कवि के नाम और गुण का कीर्त्तन करे ॥१७२-१७३ ॥

---

१. ख. घ. कुर्यादन्तरचारीं च । क-न. कुर्यादनन्तरं स्तोत्रं देवब्राह्मणसंश्रयम् ।
२. ग. नानाताललयान्वितैः ।
३. ख. घ. कवेर्नामानुकीर्तयेत् ।
४. क-भ. म. भूतचक्रलतया ।
५. क. यैस्तु कर्त्तव्यमिति ।

प्रस्तावनां ततः कुर्यात्काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्[1] ।
उद्घात्यकादि[2] कर्तव्यं काव्योपक्षेपणाश्रयम् ॥ १७४ ॥
[3]दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः ।
दिव्यमानुषसंयोगे[4] दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥ १७५ ॥

कुर्यादनन्तरं चारीमिति । महाचारीगतौ श्लोकौ वक्ष्येते । तेन शृंगार-रसप्रधानं वीरादिरसप्रधानं देवद्विजस्तोत्रोद्देशश्लोकं पठेदित्यर्थः ।

अन्तरचारीमित्यन्ये पठन्ति । व्याचक्षते—स्वस्थानादन्यचारी, अनन्तर-प्रतिहारासनिकादिवत् । तत्र पुनः प्ररोचनया जयाशीर्वादादिक्रमेण रङ्गस्थ-सामाजिकवर्गप्रसादनं देवद्विजस्तोत्रोद्देशेन श्लोकं पठेत् (इति) । हृदयनिर्मली-करणं रसास्वादोचितसंस्कारात् ग्रहणयोग्यताधानार्थं कुर्यात् । ततः कविनाम कीर्तयेत् । चशब्दात्तद्गुणादिकम् । येन प्रसिद्धादरणीयत्वं भवति ॥ १७१-१७२ ॥

इसके बाद चारी का प्रयोग करे । महाचारी के सम्बन्ध में दो श्लोकों को आगे कहेंगे । इसलिए शृङ्गारस प्रधान अथवा वीरादि रस प्रधान देवता एवं ब्राह्मणों की स्तुति (प्रशंसा) के उद्देश से श्लोक को पढ़े ।

अन्य लोग यहाँ अन्तरचारी पाठ मानते हैं और व्याख्या करते हैं—अपने स्थान से अन्य चारी का प्रयोग करे । यहाँ पर फिर प्ररोचना के द्वारा जय एवं आशीर्वाद आदि के क्रम से रङ्ग में स्थित सामाजिकों को प्रसन्न करने वाले श्लोक को देवता और ब्राह्मणों के उद्देश्य से पाठ करे । रस के आस्वादन योग्य संस्कार से ग्रहण करने की योग्यता धारण करने के लिए हृदय को निर्मल करे । उसके बाद कवि के नाम का कीर्त्तन करे । 'च' शब्द से उसके गुण आदि का ग्रहण होता है अर्थात् कवि के नाम और गुण आदि का कीर्त्तन करे । जिससे कवियों की प्रसिद्धि एवं आदरणीयता होती है ॥ १७२-१७३ ॥

अनुवाद—इसके बाद काव्य (नाट्य) वस्तु के प्रख्यापन के आधारभूत प्रस्तावना को प्रारम्भ करे और काव्य के उपक्षेप के आश्रयभूत उद्घातक का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७४ ॥

अनुवाद—दिव्य अर्थात् देव चरित से सम्बन्धित रूपक में देवताओं का का आश्रय और मानव-चरित सम्बन्धी रूपक में मनुष्य का आश्रय तथा दिव्य-मानव सम्बन्धी रूपक में देवता और मनुष्य दोनों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये ॥ १७५ ॥

---

१. क-त. ब. काव्यप्रस्तावनाश्रयाम् । २. ग. उद्घातकादि ।
३. ख. घ. दिव्यो दिव्याश्रयैर्भूत्वा मानुषी मानुषाश्रयैः । क-त. दिव्यैर्दिव्याश्रयोपेतम् ।
४. ख. घ दिव्यमानुषसंयोगः ।

मुखबीजानुसदृशं[1] नानामार्गसमाश्रयम्[2] ।
नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥ १७६ ॥
प्रस्ताव्यैवं तु निष्क्रामेत्काव्यप्रस्तावकस्ततः[3] ।
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ॥ १७७ ॥

ततो रूपकविशेषप्रख्यापनमाश्रित्येति । तत्प्रख्यापनव्याजेन भाविरूपकार्थस्य प्रस्तावनामुपक्रमोपक्षेपपर्यायां कुर्यात्, येन प्रथमत एतत्प्रभृति सामाजिकाः संक्षेपेण संस्कारवन्तो भवन्ति । साधारणलोकवृत्ताभिमानसंस्कारवन्तश्च । तथा हि दिव्ये काव्यार्थे डिमादौ तत्सदृशवस्तूपक्षेपः । दिव्यमानुषो रामादिः । वाग्रहणं समुच्चये ।

ननूपक्षेपात्मा प्रस्तावना मुखसन्ध्यङ्गादुपक्षेपाद्बीजलक्षणाया अर्थप्रकृतेश्च कथं भिद्यत इत्याशङ्क्याह—मुखबीजानुसदृशमिति ।

अभिनव—इसके बाद रूपक विशेष के प्रख्यापन का आश्रय लेकर उसके प्रख्यापन के व्याज से भावी अर्थात् भविष्य में खेले जाने वाले रूपक के अर्थ के उपक्रम और उपक्षेप के पर्याय रूप प्रस्तावना को प्रस्तुत करे । जिससे पहिले से ही सामाजिक संक्षेप से संस्कारयुक्त हो जाते हैं और साधारण लोकवृत्त के अभिमान से संस्कार युक्त हो जाते है और जैसे दिव्य डिम आदि रूपक में उसके समान ही वस्तु (कथा-वस्तु) का उपक्षेप (उपक्रम) होता है राजा आदि दिव्य और मानुष दोनो रूप वाले हैं। यहाँ पर 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में है ॥ १७४-१७५ ॥

अभिनव—अब प्रश्न उठता है कि उपक्षेप रूप प्रस्तावना मुखसन्धि के अङ्ग उपक्षेप से और बीजलक्षणा अर्थप्रकृति से भिन्न कैसे हो सकता है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—मुख तथा बीज के सदृश, अनेक मार्गों का आश्रय लेने वाले अनेक प्रकार के उपक्षेपों (सन्दर्भों) द्वारा काव्य का उपक्षेपण करे अर्थात् काव्यवस्तु सङ्केत करना चाहिए ॥१७६॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रस्तावना करके काव्य का प्रस्तावक (स्थापक) रङ्गमञ्च से निकल जाय। इस प्रकार विधिपूर्वक पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥१७७॥

---

१. ख. मुखं बीजानुसदृशं ।

२. क-त. नानामार्गरसाश्रयाम् ।

३. ख. काव्यप्रस्थापको द्विजाः । क-त, काव्यं प्रस्तावेत्ततः ।

मुखाङ्गे ह्युपक्षेपे तदेवोपक्षिप्यते। बीजे च तदेव स्वल्पमात्रम्। इह तु तत्समम्। तथा हि नटीविदूषकपारिपार्श्विकैः [1]समन्तादिति विचित्रभेदेन स्वकार्यनिरूपणव्याजेन ये नानाविधा उपक्षेपाः उपांशु छन्नत्वेन रूपकार्थ-बीजस्य सामाजिकहृदयभूमौ क्षेपास्तैः काव्यं प्रस्ताव्य प्रस्तावकस्थापकौ निष्क्रामेताम्।

नन्विह पूर्वरङ्गशेषभूता चेत्प्रस्तावना तर्हि भारत्यङ्गभूतत्वेन पुनः किमित्यामुखं प्ररोचना चाभिधास्यते (ना. शा २०-२७)। उच्यते। द्विविधा प्रस्तावना भवति—पूर्वरङ्गस्याङ्गभूताऽन्यस्य वा। तत्र [2]पूर्वरङ्गाङ्गेऽस्याः कविरुदासीनः। स्थापक एव स्वतन्त्रो निर्माता त्वन्यो वा कविर्ध्रुवागानादावपि।

यदाह श्रीहर्षः-अत एव भासनामा कविः कस्मिंश्चन्नाटके "दिवं यातश्चित्त-ज्वरेणोत्कलित एवाभिवर्तते। अशक्यमस्य पुरतोऽवस्थातुम्" इत्यादि। सा द्वितीया या वृत्तिभेदमध्ये पठिता। एवं प्ररोचनादावपि मन्तव्यम्। यदाह—"तत्र काचित्काव्याभिमुखं नीयते पूर्वरङ्गविधिः तदभिमुखं वा काव्यारम्भस्तद्भवति सा द्विविधा" इत्यादि। एतच्च वृत्त्यध्याये व्याख्यास्यते "नटी विदूषको वापि" (ना. शा २०-३०) इत्यादौ। शास्त्रत्यागे मनागपि न वर्तितव्यमिति दर्शयितु-मेवमेष इति॥ १७६-१७७॥

अभिनव—मुखसन्धि के अङ्ग उपक्षेप में उसी का उपक्षेप किया जाता है। बीज में वही स्वल्प मात्रा में रहता है, यहाँ पर अर्थात् प्रस्तावना में तो वह समान रहता है। जैसा कि-नटी, विदूषक और पारिपार्श्विक चारों ओर विचित्र प्रकार से अपने कार्य निरूपण के व्याज से जो जो नाना प्रकार के उपक्षेप हैं अर्थात् प्रच्छन्न रूप के अर्थभूत बीज का सामाजिक के हृदय रूप भूमि में क्षेपण है, उन्हीं से काव्य की प्रस्तावना करके प्रस्तावक और स्थापक निकल जाँय। भाव यह कि स्थापक (प्रस्तावक) सामाजिकों के हृदय में रूपक के कथावस्तु के बीज को आरोपित कर रङ्गमञ्च से चला जाता है।,

अब प्रश्न यह है कि यदि यहाँ प्रस्तावना पूर्वरङ्ग के अङ्गरूप है तो भारती वृत्ति के अङ्गरूप में आमुख और प्ररोचना को फिर क्यों कहते हैं ? इस पर कहते हैं कि प्रस्तावना दो प्रकार की होती है—एक पूर्वरङ्ग की अङ्गभूता प्रस्तावना और दूसरी अन्य की अङ्गभूता प्रस्तावना। उनमें पूर्वरङ्ग की अङ्गभूत प्रस्तावना का कवि उदासीन है। ध्रुवागान आदि के विषय में स्थापक ही स्वतन्त्र निर्माता है। अथवा अन्य कोई कवि ?

---

१. क-भ. म. समस्तादिविचित्रभेदेन। २. क-भ. म. पूर्वरङ्गेऽस्याः।

य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत्[1] ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १७८ ॥
यश्चापि[2] विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ १७९ ॥
न तथाऽग्निः प्रदहति प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १८० ॥

यथाविधि प्रयोगेऽभ्युदयः स्यादित्याह--य इममिति । अन्यथापि प्रयोगे प्रत्यवायमाह--यश्चापीति । नाशुभमित्यादिना । शुभमिति दृष्टेऽभ्युदयः । स्वर्गमिति अदृष्टे । अपचयमिति । दृष्टे प्रत्यवाय इति । तिर्यग्योनिं चेत्यदृष्टे । दृष्टप्रत्यवायभीरुर्बाहुल्येन लोक इति । तमेवाधिकमवश्यभावित्वेन दर्शयति--न तथाग्निरिति ॥ १७८-१८० ॥

जैसाकि श्रीहर्ष कहते हैं—इसलिए भास नामक कवि ने अपने किसी नाटक में "चित्र ज्वर से उत्पीड़ित स्वर्ग में गया हुआ भी इधर ही आ रहा है। इसके सामने खड़ा होना कठिन है।" इत्यादि। वह दूसरी प्रस्तावना है जो वृत्तियों के भेद के मध्य में पढ़ी गई है। इसी प्रकार प्ररोचना आदि में समझना चाहिए। जैसाकि कहा गया है—"वहाँ कोई एक प्रस्तावना होती है जहाँ पूर्वरङ्ग विधि को काव्य के अभिमुख ले जाया जाता है और जहाँ पूर्वरङ्ग को विधि के अभिमुख काव्य का आरम्भ होता है वहाँ दूसरी प्रस्तावना होती है। इस प्रकार प्रस्तावना दो प्रकार की होती है" इत्यादि। वृत्त्यध्याय में 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा" इत्यादि स्थल पर इसकी व्याख्या करेंगे। शास्त्र को त्याग करने में थोड़ा भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, यह दिखाने के लिए कहते हैं—'एवमेष प्रयोक्तव्यः' इत्यादि ॥ १७६-१७७ ॥

अनुवाद—जो इस पूर्वरङ्ग का विधिपूर्वक प्रयोग करेगा वह कुछ भी अशुभ प्राप्त नहीं करेगा और स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा ॥ १७८ ॥

अनुवाद—और जो शास्त्र विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से पूर्वरङ्ग का प्रयोग करेगा, वह अतिशय हानि को प्राप्त करेगा और पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होगा ॥ १७९ ॥

अनुवाद—वायु के द्वारा प्रेरित अग्नि उस प्रकार उतना नही जलाती जिस प्रकार जितना त्रुटिपूर्ण (विधि के विपरीत) किया गया नाट्य प्रयोग क्षणभर में जला देता है ॥ १८० ॥

---

१. ख. प्रपूजयेत् । २. ख. घ. यश्चेमम् ।

इत्येवावन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यौढ्रमागधैः[1] ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु द्विप्रमाणविनिर्मितः ॥ १८१ ॥
एष वः कथितो विप्राः [2]पूर्वरङ्गाश्रितो विधिः ।
भूयः किं कथ्यतां सम्यङ्नाटचवेदविधिं प्रति ॥ १८२ ॥
इति भारतीये नाटचशास्त्रे पूर्वरङ्गप्रयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

ननु पाठ्यादियोजना च वेषाचारयोजना चात्र पूर्वरङ्गे नोक्तेत्याशङ्क्य तामनुवादद्वारेणाभिधातुं शुद्धश्चान्यत्वेन योज्य इत्याख्यातुं समुचितमुपसंहारं करोति--इत्येवावन्तिपाञ्चालेत्यादि ।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि शास्त्रविधि के अनुसार किया गया नाट्य प्रयोग अभ्युदय करता है और शास्त्रविधि के अनुसार नाट्यप्रयोग न करने पर प्रत्यताय (विघ्न) होता है। यहाँ पर शुभ का अर्थ है दृष्ट (प्रत्यक्ष) में अभ्युदय। स्वर्गप्राप्ति से तात्पर्य है अदृष्ट फल। अपचय का अर्थ है दृष्ट फल में प्रत्यवाय (विघ्न पड़ना)।' तिर्यग्योनि' से तात्पर्य है अदृष्ट प्रत्यवाय। लोक में प्रत्यक्ष प्रत्यवाय से डरने वाले लोग अधिक पाये जाते हैं। इसलिए उसी को अवश्य भावी के रूप में दिखाते हैं—'न तथाग्निः' अर्थात् अग्नि उतना नहीं जलाती ॥ १७८-१८० ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि पाठ्य आदि की योजना और वेष-भूषा तथा आचार की योजना का यहाँ पूर्वरङ्ग में कथन नही किया गया है, इस प्रकार आशङ्का करके उसे अनुवाद के द्वारा कहने के लिए और शुद्ध पूर्वरङ्ग की योजना अन्य प्रकार से करनी चाहिए, यह कहने के लिए समुचित उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार अवन्ती, पाञ्चाल, दाक्षिणात्य, औड्र तथा मगध के लोगों के द्वारा दो प्रमाण से विस्तार वाले (त्र्यस्र और चतुरस्र दो प्रमाणों से विनिर्मित) पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १८१ ॥

अनुवाद—हे विप्रों! मैंने आप लोगों से पूर्वरङ्ग सम्बन्धी विधियाँ बतलाई है। अब नाटचवेद की विधि के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से फिर क्या कहा जायगा? ॥ १८२ ॥

इस प्रकार भरत नाटचशास्त्र में पूर्वरङ्ग प्रयोग नामक
पांचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

---

१. ग. इत्येषोऽवन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यान्ध्रमागधैः ।
ख. इत्येवावन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्योड्रमागधैः ।
२. क-अ. पूर्वरङ्गोचितो विधिः । क-त, न. पूर्वरङ्गकृतो विधिः । क-म. पूर्वरङ्गविधौ कृतिः ।

यादृक्प्रवृत्तिविशेषे नियतो रूपकनायको भविष्यति तादृक्प्रवृत्तिसमुचित-वेषभाषाचाराभिनयादिकमनुवर्तमानैः सूत्रधारादिभिः स्थापकान्तैः। पूर्वरङ्गो द्विविधस्त्र्यश्रश्चतुरश्रश्च। एष इत्यनन्तरोक्तस्वभाव एव कर्तव्यो न शुद्धः। अन्ये मन्यन्ते आवन्तीसात्त्विकीकैशिकीमिश्रेति। सा सूत्रधारस्य पाञ्चालदक्षिणयो-र्मध्यमा भूमिः॥ १८१-१८२॥

इति महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायां नाट्यवेदविवृतौ
पूर्वरङ्गविधानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

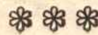
अभिनव—जिस प्रकार के प्रवृत्तिविशेष में नियत रूपक का नायक होगा, सूत्रधारसे लेकर स्थापक पर्यन्त पात्रों को उसी प्रकार की प्रवृत्ति के अनुकूल (योग्य) वेष, भाषा, आचार, अभिनय आदि का अनुवर्त्तन करना चाहिए। पूर्वरङ्ग दो प्रकार का होता है—त्र्यस्र और चतुरस्र।

'एषः' पद का अभिप्राय है कि अभी-अभी समनन्तर में कहे हुए स्वभाव वाले पूर्वरङ्ग का प्रयोग करना चाहिए, शुद्ध पूर्वरङ्ग का नहीं। अन्य लोग तो कहते हैं कि आवन्ती को सात्त्विकी और कौशिकी से मिश्रित करनी चाहिए। वह आवन्ती सूत्रधार की पाञ्चाल और दक्षिण के मध्य की भूमि है॥ १८१-१८२॥

इस प्रकार महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित नाट्यवेदविवृत्ति में पूर्वरङ्गविधान नामक पांचवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५॥

इति डा॰ पारसनाथद्विवेदिरचितायां मनोरमाख्यायामभिनवभारत्यां
हिन्दी व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

इस प्रकार डा॰ पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती
की हिन्दी व्याख्या में पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ॥ ५॥



पञ्चम अध्याय

[प्रक्षिप्त भाग]

*पुनश्चित्रे तथा मिश्रे शुद्धे चैव ब्रवीम्यहम् ।
यथा योज्या ध्रुवाः पञ्च तथा वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

पारिभाषिकपद टीका

([1]पुनश्चित्र इति । चतुरश्रत्र्यश्रभेदाच्चित्रशुद्धभेदाच्च पूर्वरङ्गश्चतुर्धोक्तः । मतान्तरेण शुद्धचित्रमिश्रात्मकस्य त्रयस्यापि भेदस्य उत्थापन्यादिषु ध्रुवाविधानं पातभागकलातालवाद्यनियमं चाह—पुनरित्यादिना ।

अनुवाद—अब मैं चित्र, मिश्र और शुद्ध पूर्वरङ्ग में पांच ध्रुवाओं की जिस प्रकार योजना करनी चाहिए, उसका तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करूँगा ॥ १ ॥

हिन्दी टीका—प्रथम सम्पादक का कहना है कि त्र्यस्र और चतुरस्र पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत चित्र और शुद्ध भेद से पूर्वरङ्ग चार प्रकार का होता है। एक अन्य मत के अनुसार पूर्वरङ्ग के चित्र, मिश्र और शुद्ध ये भेद होते हैं। चित्र और शुद्ध के सम्मिलित प्रयोग से मिश्र पूर्वरङ्ग होता है। इन तीनों भेदों के उत्थापनी आदि में ध्रुवा का विधान, पात का विभाग, कला तथा वाद्य के नियम को कहते हैं–पुनः चित्र, मिश्र तथा शुद्ध पूर्वरङ्ग में ध्रुवाओं के प्रयोग की विधि का विवेचन करूँगा ॥ १ ॥

---

* "पुनश्चित्र इत्यादि चत्वारिंशत्श्लोकपरिमितस्तु कोहलमतानुयायिभिः कैश्चित् प्रक्षिप्त एव भवेत् ।" क, ग, घ, च, ज, चिह्नितादर्शेष्वनुपलम्भात् टीकायास्त्रुटितभागस्याल्पत्वात् व्याख्यातृभिरपि प्रक्षिप्त इति न व्याख्यात इति मन्यामहे । तथाप्यस्य पारिभाषिकपदटीका काचिद्बालसौकर्याय विरच्यते । प्रथमसम्पादकस्यायं लेखः ।

१. 'पुनश्चित्र' इत्यादि से लेकर अध्याय के अन्त तक का लगभग ४० श्लोक भरतमुनिप्रणीत नहीं है। कोहल के मतानुयायी किसी आचार्य ने यहाँ प्रक्षिप्त किया है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने इस पर व्याख्या नहीं लिखी है। किन्तु प्रथम सम्पादक ने इस अंश की परिभाषिक पदटीका लिखी है।

[1]आदावुत्थापनी कार्या परिवर्तस्तथा भवेत् ।
[2]अवकृष्टाड्डिता चैव विक्षिप्ता चैव पञ्चमी ॥ २ ॥
एवं पञ्च ध्रुवा ज्ञेया उपोहनसमन्विताः ।
कर्तव्यास्तु प्रयत्नेन पूर्वरङ्गे प्रयोक्तृभिः ॥ ३ ॥
[3]अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युपोहनविधिक्रियाम् ।
उत्थापनस्याष्टकलं परिवर्तस्य षट्कलम् ॥ ४ ॥
[4]अवकृष्टं पुनः कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ।
ध्रुवायामड्डितायां च चतुष्कलमथापि च ॥ ५ ॥
क्षिप्तायां चैव विज्ञेयं कलात्रयसमन्वितम् ।
एवं ह्युपोहनानां तु प्रमाणं समुदाहृतम् ॥ ६ ॥

उपोहनेति । उपोहनं वस्तुगीतप्रयोगात्पूर्वं क्वचिच्च वस्तुकलिकयोर्मध्ये स्वरकलानियमार्थं शुष्काक्षरप्रयोगः । उक्तं च तालाध्याये मुनिना—

उपोह्यन्ते स्वरा येन यस्माद्गीतं प्रवर्तते ।
तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥ (ना शा ३१-१२५) इति ॥

अनुवाद—सर्वप्रथम उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए, फिर परिवर्त का प्रयोग करे, फिर अवकृष्टा ध्रुवा, अड्डिता ध्रुवा और अन्त में पांचवीं विक्षिप्ता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २ ॥

अनुवाद—इस प्रकार ये पांच ध्रुवाएँ है। नाट्यप्रयोक्ताओं को पूर्वरङ्ग में उपोहन से समन्वित इन पांच ध्रुवाओं का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करना चाहिए ॥ ३ ॥

व्याख्या—उपोपहन वस्तु और गीत के प्रयोग के पहिले और कहीं वस्तु और कलिका के बीच स्वर और कला के नियमन के लिए शुष्काक्षरों का गान होता है। जैसा कि भरतमुनि ने तालाध्याय में कहा है—

"जिससे स्वरों का उपवहन किया जाता है, जिससे गीत का प्रवर्त्तन होता हैं, शुष्काक्षर से समन्वित उसे उपोहन समझना चाहिए।" (ना० शा० ३१-१३८) ॥ ३ ॥

अनुवाद—इसके बाद उपोहन की क्रिया का कथन करूँगा। उत्थापनी ध्रुवा में आठ कलाएँ, परिवर्त्तनी ध्रुवा में छः कलाएँ होनी चाहिए अवकृष्टा

---

१. क ङ. उत्थापनी यथा कार्या। २. क-म. अपकृष्टासितञ्चैव ।
३. क-म. अतः परं प्रवक्ष्यामि उत्थापनविधिं प्रति ।
४. क-द. अपकृष्टा पुनः कार्या ।

गुरुलाघवसंयुक्तं कलातालसमन्वितम् ।
पूर्वरङ्गं सदा ज्ञेयं चित्रमार्गे ह्युपोहनम् ॥ ७ ॥
चित्रे चैत्राः कला ज्ञेया मिश्रे वार्तिकमाश्रिताः ।
शुद्धे दक्षिणमार्गेण प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ ८ ॥

पञ्चसु ध्रुवासूपोहने कलाक्रममाह—उत्थापनस्येत्यादिना ।

वक्ष्यमाणध्रुवालक्षणं केवलं चित्रभेदस्येति नियमयति—गुर्वित्यादिना । ननु शुद्धमिश्रभेदयोश्चापि तथैवेत्याशङ्क्याह—चित्र इति । चित्राख्ये पूर्वरङ्गभेदे चैत्राः चित्रमार्गाश्रिताः कलाः । मिश्रे तु वार्तिकमार्गाश्रिताः । शुद्धे तु दक्षिणमानतीता एव प्रयोक्तव्याः । चित्रादिमार्गलक्षणं तूक्तं मुनिना—

चित्रे द्विमात्रा कर्तव्या वृत्तौ सा द्विगुणा स्मृता ।
चतुर्गुणा दक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला ॥ (ना. शा. ३१-५)

ध्रुवा पांच कलाओं से युक्त होनी चाहिए, अड्डिता ध्रुवा में चार कलाएँ होनी चाहिए औरविक्षिप्ता ध्रुवा तीन कलाओं से समन्वित जानना चाहिए । इस प्रकार उपोहन का प्रमाण कहा गया है ॥ ४-६ ॥

व्याख्या—पांच ध्रुवाओं में उपोहन के कला प्रमाण को कहते हैं—उत्थापन में आठ कलाएँ होती हैं ॥ ४ ॥

अनुवाद—गुरु तथा लघु से युक्त, कला एवं ताल से समन्वित चित्र पूर्वरङ्ग मे उपोहन समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अनुवाद-चित्र पूर्वरङ्ग में चित्रमार्ग के अनुसार, मिश्र पूर्वरङ्ग में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित और शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिण मार्ग के अनुसार नाट्य प्रयोक्ताओं को कलाओं का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८ ॥

व्याख्या—आगे कहे जाने वाले केवल चित्रमार्ग ध्रुवा का लक्षण करते हैं—गुरु और लघु से युक्त आदि । शुद्ध और मिश्र भेदों में भी उसी प्रकार शङ्का करके कहते हैं कि चित्र नामक पूर्वरङ्ग के भेद में चित्र मार्ग से आश्रित कला का प्रयोग करना चाहिए और मिश्र में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित और शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिणमार्ग पर आश्रित कला का प्रयोग करना चाहिए । चित्र आदि मार्गों का लक्षण भरतमुनि ने कहा है—

"चित्र मार्ग में कला को दो मात्राएँ होती है, वार्त्तिक मार्ग में उससे दुगुना अर्थात् चार मात्राएँ होती हैं और दक्षिण मार्ग में चौगुना अर्थात् आठ मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार कला तीन प्रकार की होती है । एककल दो मात्राएँ, द्विकल चार मात्राएँ और चतुष्कल आठ मात्राएँ ॥ (ना० शा० ३१।३-४) ॥

चतस्रो गीतयः कार्या मागधी ह्यर्धमागधी ।
संभाविता तथा चैव पृथुला च प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥
मागधी त्वथ कर्तव्या त्वथवा त्वर्धमागधी ।
पूर्वरङ्गे भवेच्चित्रे चित्रमार्गसमाश्रिता[1] ॥ १० ॥

वस्तुविधानमाह--चतस्र इति । गीतयो वर्णालंकाराश्छन्दोक्षरसमन्विता मागध्यादयो गेयाधिकारे (ना. शा. २९) सलक्षणं निरूपयिष्यन्ते ।

"संभाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता ।
लघ्वक्षरकृता नित्यं पृथुला सा प्रकीर्तिता ॥
त्रिर्निवृत्तप्रगीता या सा ज्ञेया मागधी बुधैः ।
अर्धतः संनिवृत्ता च विज्ञेया ह्यर्धमागधी ॥"

इति (ना. शा. २९-४९-५०)

गीतयो रागाङ्गतयोक्ताः कैश्चित् । ता वर्णालङ्कारा एव । उक्तं नान्यदेवेन स्वभरतभाष्ये---

---

अब वस्तु विधान को कहते हैं—

अनुवाद—पूर्वरङ्ग में मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला इन चार प्रकार की गतियों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९ ॥

अनुवाद—इनमें चित्र पूर्वरङ्ग में चित्रमार्ग पर आश्रित मागधी अथवा अर्धमागधी गीत का प्रयोग करना चाहिए ॥ १० ॥

व्याख्या—गेयाधिकार में वर्ण, अलङ्कार, छन्द, अक्षर से समन्वित मागधी आदि गीतियों का लक्षण सहित निरूपण करेंगे।

"गुरु अक्षरों की बहुलता से युक्त संभाविता गीति जाननी चाहिए और जो लघु अक्षरों से युक्त होती है उसे पृथुला कहते हैं। तीन विभिन्न लय खण्डों में गाये जाने वाली गीति मागधी कहलाती है अर्थात् प्रथम खण्ड (प्रथम कला) का ज्ञान विलम्बित लय में, द्वितीय का मध्य लय में और तृतीय का द्रुत लय में किया जाता है। मागधी की अपेक्षा अर्धमात्रा काल में लाये जाने वाली गीति अर्धमागधी कहलाती है।" (ना० शा० २९।४७-४८)

कुछ आचार्यों ने गीति को राग का अङ्ग कहा है। वे गीतियाँ वर्ण और अलङ्कार रूप हैं। जैसाकि नान्यदेव ने भरतभाष्य में कहा है—

---

१. क-न. म. चित्रमार्गे च मागधी ।

"अत्र वर्णशब्देन गीतिरभिधीयते। नाक्षरविशेषः। नापि षड्जादि-सप्तस्वराः। पदग्रामे त्वनियमादेव स्वेचछया प्रयुज्यन्ते। षड्जादिस्वरान्ता-नामप्यविशेषेण वाऽवरोहादिधर्माणं प्रत्येव समुपलभ्यते। अतो वर्ण एव गीति-रित्यवस्थितम्। सोऽपि चतुर्विधो मागध्यादिः" इति।

मगधदेशोद्भवत्वान्मागधी। विदर्भादिषु दृष्टत्वात्सा समाख्येत्यन्ये। अर्धनिवर्तनादर्धमागधी। द्वे अपि निवृत्तिप्रधाने। संभाविता पृथुला च मात्रा-प्रधाना। तदुक्तं मतङ्गेन--

द्विगुरु द्विनिवृता च चित्रे गीतिस्तु मागधी।
लघुप्लुतकृता चैव तदर्धे चार्धमागधी।
संभाविता गुरुर्वृत्तौ पृथुला दक्षिणे लघुः॥ इति

तदसमञ्जसमित्यभिनवगुप्ताचार्यः। आसामेव चतसृणामालप्तादिभेदाः पुष्करा-ध्यायवक्ष्यमाणाः परिकल्पिताः।

"यहाँ पर वर्ण शब्द से गीति का ग्रहण होता है। वर्ण से अक्षर विशेष का ग्रहण नहीं होता और न वर्ण शब्द से षड्ज आदि सात स्वरों का ग्रहण होता है। पदग्राम में नियम न होने से ये स्वेच्छा से प्रयोग किये जाते हैं। षड्ज आदि भी अविशेष रूप से अवरोहादि धर्म के आश्रित पाये जाते हैं। अतः वर्ण ही गीति है, यह व्यवस्थित हुआ। वह गीति भी चार प्रकार की होती है--मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला।"

मगध देश में उत्पन्न होने से मागधी गीति कही जाती है। विदर्भ आदि देश में देखे जाने से उसके समान नाम से कही जाती है, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। अर्धकाल में सम्पन्न होने से मागधी अर्धमागधी कही जाती है अर्थात् यदि मागधी गीति अर्धकाल (द्रुतलय) में गायी जाती है तो अर्धमागधी गीति कही जाती है। ये दोनों ही गीतियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और संभाविता एवं पृथुला मात्राप्रधान होतो हैं। जैसा कि मतङ्ग ने कहा है—

"चित्रमार्ग में दो गुरु अक्षरों से युक्त द्विरावृत्त (द्विकल) गीति मागधी होती है। वही मागधी लघु और प्लुत अक्षरों से समन्वित अर्धकाल निवृत्त (प्रथम कल) होने पर अर्धमागधी होती है। यदि वार्त्तिक मार्ग में गुरु अक्षर हों तो संभाविता और दक्षिणामार्ग में लघु अक्षर होने पर पृथुला गीति होती है।"

किन्तु इस मत से अभिनवगुप्त सहमत नहीं है। इन्हीं चारों गीतियों के आलिप्तादि भेद आगे पुष्कराध्याय में कहे जाँयगे।

आसां कलातालमानेन लक्षणमुक्तं रघुनाथेन—

"प्रस्तावने जातिनिरूपणस्य या गीतयः पूर्वमिहोपदिष्टाः ।
तासामिदानीं किल लक्षणानि वक्ष्यामहे गायकबोधहेतोः ।।
त्रिषष्टयलङ्कारयुता चतुर्भिः स्थाय्यादिभिः संमिलिता च वर्णैः ।
विलम्बितेनापि च मध्यमेन द्रुतेन शोभां दधती लयेन ।।
गानक्रियागीतिरिहोपदिष्टा चतुर्विधा सा गदिता मुनीन्द्रैः ।
स्यान्मागधीनामवती किलाद्या तथार्धमागध्यभिधा द्वितीया ।।
संभाविताख्यानवती तृतीया भवेच्चतुर्थी पृथुलाभिधाना ।
क्रमेण लक्ष्माणि पदानि तासां सा मागधीलक्षणमुच्यतेऽत्र ।।
विलम्बितेनैव पदेन युक्तं गायेत्कलायां पदमादिमायाम् ।
पदान्तरेणापि युतं तदेव गायेत्पदं मध्यलयेन युक्तम् ।।
कलां द्वितीयामधिकृत्य सम्यक्कलां तृतीयामधिकृत्य पश्चात् ।
ते द्वे कृती स्वेन पदेन युक्ते गायेद्द्रुतेनैव लयेन सार्धम् ।।
इति त्रिरावृत्तपदां वदन्ति तां मागधीं मागधराजहृद्याम् ।

गामाधा { धनिधनिसनिसा } रिगरिगमागारिसा
देवं { देवं० रुद्रं०० रुद्रं०० } देवं००० रुद्रं००० वन्दे०००

इति मागधी

रघुनाथ ने कला और ताल के मान से उनका तक्षण इस प्रकार कहा है—

"पहिले प्रस्तावना में जातिनिरूपण की जो गीतियाँ कही गई हैं। गायकों के ज्ञान के लिए अब उनका लक्षण कहेंगे।"

तिरसठ अलङ्कारों से युक्त, स्थायी आदि चार वर्णों से समन्वित, विलम्बित मध्य और द्रुत लय से सुशोभित गानक्रिया ही गीति है। भरतमुनि ने वह गीति चार प्रकार की बताई है—प्रथम मागधी, दूसरी अर्धमागधी, तीसरी संभाविता और चौथी पृथुला। क्रम से उनका लक्षण कहेंगे। पहिले मागधी का लक्षण कहते हैं।

१—मागधी

प्रथम कला में विलम्बित लय से युक्त पद का गान करे, फिर द्वितीय कला में उसी पद को पदान्तर (दूसरे पद) से युक्त करके मध्य लय से गान करे। फिर तृतीय कला में उन दोनों पदों को तृतीय पद के साथ द्रुतलय से गान करे। इस प्रकार त्रिरावृत्तपदा अर्थात् तीन बार आवृत्त पदों वाली (त्रिकला) गीति को विद्वान् लोग मागधी गीति कहते हैं।

अथार्धमागध्यपि लक्ष्यतेऽत्र विलम्वितेनैव पदेन युक्तम् ॥
गायेत्कलायां पदमादिमायां पदान्तरेणाथ युतं तदर्धम् ।
गायेत्पुनर्मध्यलयेन युक्तं कलां द्वितीयामधिकृत्य सम्यक् ॥
कलां तृतीयामधिकृत्य पश्चादर्धं द्वितीयस्य पदस्य गायेत् ।
पदान्तरं च द्रुतमानयुक्तं सैवार्धमागध्यमिधावती स्यात् ॥

मारीगासा	सासाधानी	पाधामामा
देवं०००१	वं रुद्रं—२	द्रं वन्दे—३

इत्यर्धमागधी

मागधी गीति का उदाहरण, जैसे—

प्रथम कला—	मा	गा	मा	धा					—विलम्बित लय
	दे		वं						
द्वितीय कला—	ध	नि	ध	नि	स	नि	धा		—मध्यलय
	दे		वं		रु		द्रं		
तृतीय कला—	रि	ग	रि	ग	म	ग	रि	स	—द्रुतयल
	दे	वं	रु	द्रं	वं		दे		,,

इस उदाहरण में प्रथम कला में देव पद को विलम्बित लय से गाकर फिर द्वितीय कला में उसी देव पद को रुद्र पद के साथ 'देवं रुद्रं' इस प्रकार मध्य लय से गाया जाता है। फिर तृतीय कला में 'देवं' 'रुद्रं' इन दोनों पदों को 'वन्दे' इस तृतीय पद के साथ द्रुतलय में गाया जाता है, अतः यह त्रिरावृत्त होने से मागधी का उदाहरण है।

अर्धमागधी

अब अर्धमागधी का लक्षण करते हैं। आर्धमागधी गीति में प्रथमकला में विलम्बित लय से युक्त पद का गान किया जाता है। द्वितीय कला में प्रथम पद के अन्तिम अक्षर का द्वितीय पद के साथ मध्यलय से गायन होता है। तृतीय कला में द्वितीय पद के अर्धभाग (अन्तिम अक्षर) अन्य पद (तृतीयपद) के साथ द्रुत लय में गाया जाता है। भाव यह है कि अर्धमागधी गीति में प्रथम कला में मागधी के समान विलम्बित लय में गाया जाता है। द्वितीय कला में द्वितीय पद के साथ प्रथम पद का अर्ध गायन होता है और तृतीय कला में तृतीय पक के साथ द्वितीय पद का अर्ध गान होता है। जैसे—

संभावितालक्षणमत्र वक्ष्ये संक्षेपितैश्चात्र पदैश्चतुर्भिः ।
गुर्वक्षरैर्भूरिभिरन्विता च कलादिमा स्यात्सविलम्बिता च ॥
तथैव मध्यस्थपदद्वयस्य प्रत्येकमुच्चारणतो द्विवारम् ।
आद्यान्तिमे चापि पदे विहाय परा कला मध्यलयान्विता स्यात ॥
पदैश्चतुर्भिः सहिता द्रुतेन लयेन युक्ता तु कला तृतीया ।
एतत् त्रयं यत्र चकास्ति चैषा संभाविता गायकसम्मता स्यात् ॥

प्रस्तारः

१. धामामारिग	३. नी धा सा नी
भ ० क्त्या ० ०	रु ० द्रं ०
२. री गा सा सा	४. धा नी मा सा
दे ० वं ०	व ० न्दे ०

इति संभाविता

प्रथम कला—	मा	री	गा	सा	—विलम्बितलय
	दे		वं		,,
द्वितीय कला—	सा	सा	धा	नी	—मध्यलय
	वं	रु	द्रं		,,
तृतीय कला—	पा	धा	पा	मा	—द्रुतलय
	द्रं	व	वन्दे		,,

यहाँ पर प्रथम कला में 'देवं' पद का गान करके द्वितीय कला में प्रथम पद 'देवं' का अन्तिम अर्ध 'वं' का द्वितीय पद 'रुद्रं' के साथ 'वं रुद्रं' गान किया गया है। तृतीय कला में द्वितीय पद के अन्तिम अर्ध 'द्रं' के साथ तृतीय पद 'वन्दे' का 'द्रं वन्दे' इस प्रकार गान किया गया है। इस प्रकार पूर्व दोनो पद तथा अन्तिम के अर्ध का द्विरावृत्ति है। अतः यहाँ अर्धमागधी गीति है।

संभाविता

अब संभाविता गीति का लक्षण बताते हैं। जहाँ पर संक्षेपित चार पदों के साथ गुरु अक्षरों की अधिकता से अन्वित प्रथम कला विलम्बित लय से युक्त होती है और द्वितीय कला में मध्य में स्थित दो पदों को प्रत्येक का दो बार गान (उच्चारण) करके आदि और अन्तिम पद को छोड़कर मध्य लय से युक्त हो और तृतीय कला में चार पदों के साथ द्रुत लय में गाये जाने वाली गीति संभाविता गीति कहलाती है। जैसे—

लक्ष्मोच्यतेऽधः पृथुलाख्यगीते संभाविताक्त्सकलं च वेद्यम् ।
लघ्वक्षराणां बहुलः प्रयोगोऽपरं भवेदेष तयोर्विशेषः ॥

प्रस्तारः

१	२	३	४
मागारिगा सुरनत	माधनिधाधा हरपद	सासाधानी युगलं	पानिधपमामा प्रणमत

इति पृथुला

प्रथमपाद—	धा	मा	मा	रिग
	भ		क्त्या	
द्वितीयपाद—	री	गा	सा	सा
	दे		वं	
तृतीयपाद—	नी	धा	सा	नी
	रु		द्रं	
चतुर्थपाद—	धा	नी	मा	मा
	व		न्दे	

यहाँ पर प्रथमकला में चार पद गाकर 'भक्त्या देवं रुद्रं वन्दे' इन चार पदों को गाकर द्वितीय कला में मध्य में स्थित दोनों पदों को दो बार गाया गया है—देवं रुद्रं रुद्रं। तृतीय कला में प्रथम कला के समान "भक्त्या देवं रुद्रं वन्दे" इन चार पदों का गायन हुआ है, अतः यह संभाविता गीति का उदाहरण है।

४–पृथुला

अब पृथुला गीति का लक्षण कहता हूँ। पृथुला गीति में समस्त क्रिया संभाविता गीति के समान होती है। किन्तु इसमें लघु अक्षर अधिक होते हैं जब कि संभाविता में गुरु अक्षर अधिक होते हैं। यही दोनो में विशेषता है। उदाहरण जैसे—

१—	मा	गा	रि	गा
	सु	र	न	त
२—	सा	धनि	धा	धा
	ह	र	प	द
३—	धा	सा	धा	नी
	यु	ग	लं	०
४—	पा	निधप	मा	मा
	प्र	ण	म	त

पदाश्रयं लक्षणमुक्तमासां तालाश्रयं लक्षणमामनामः ।
ताले गुरुद्वन्द्वलघुप्लुताढ्ये चञ्चत्पुटे त्वाद्यगुरुद्वयं तु ॥
तद्वाक्यरीत्या च गुणेन युक्तं चित्रार्हमेकैकमनु प्रयुज्य ।
तद्दक्षिणाख्ये ध्रुवकादिभिस्तु मात्राभिरष्टाभिरथ प्रयुञ्जयात् ॥
सा मागधीगीतिरुदाहृतैवं तालाश्रयेणापि तथा मुनीन्द्रैः ।
चञ्चत्पुटस्यात्र लघुं तृतीयं प्रयुज्य पूर्वं छगणार्धयुक्तम् ॥
आद्येन मात्राद्वितयेन युक्तं मात्राद्वयेनापि युतं प्रयुञ्जयात् ।
प्लुतं तु सार्धं च गणेन युक्तं मात्राभिरष्टाभिरथ प्रयुञ्जयात् ॥
द्विरीरितान्त्यद्वितयान्विताभिस्तदार्धमागध्युदिता मुनीन्द्रैः ।
तालान्तरे गीतिरितीयमूह्या संभाविताल‍क्षणमुच्यतेऽत्र ॥

इस प्रकार चार प्रकार की पदाश्रित गीति का लक्षण कहकर अब तालाश्रित गीति का लक्षण कहते हैं—

गुरु द्वय, लघु और प्लुत रूप यथाक्षर (एककल) चञ्चत्पुट ताल में प्रथम दो गुरुओं में एक एक गुरु को चित्रमार्ग में प्रयोग के योग्य बनाकर[1] चगण से अन्वित ध्रुवका[2] आदि आठ मात्राओं से युक्त चञ्चत्पुट ताल के प्रथम दो गुरुओं को जब दक्षिण मार्ग में प्रयोग किया जाता है तो मागधी गीति होती है।

उस यथाक्षर (एककल) चञ्चत्पुट ताल के तृतीय लघु अक्षर को छगण के अर्ध अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त कर आद्य ध्रुवका और सर्पिणी तथा अन्तिम पताका और पतिता के साथ जब प्रयोग किया जाय और उसके बाद चञ्चत्पुट के अन्तिम प्लुत अक्षर को छगण के आधे अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त करके ध्रुवका आदि आठ मात्राओं के साथ प्रयोग करके अन्तिम पताका और पतिता मात्राओं को द्विरावृत्त करके जब प्रयोग किया जाय तो अर्धमागधी गीति होती है। मुनि ने इस प्रकार चञ्चत्पुट ताल के आश्रित मागधी वीर अर्धमागधी का लक्षण किया है। इसी प्रकार अन्य चाचपुट आदि तालों में भी इसे समझना चाहिए।

---

१. संगीतरत्नाकर में पाँच गण बताये गये है—छगण, पगण, चगण, तगण, दगण (तद्रगास्छचपास्तदौ)। इनमें छगण षण्मात्रिक (SSS), पगण पञ्चमात्रिक (SSı) चगण चतुर्मात्रिक (SS), तगण त्रिमात्रिक (Sı) तथा दगण द्विमात्रिक (S) होता है।

२. ध्रुवका सर्पिणी कृष्या पद्मिनी च विसर्जिता ।
विक्षिप्ताख्या पताका च मात्रा स्यात्पतिताष्टमी । (सुधाकरः)
ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्या, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता ये आठ मात्राएँ हैं।

यथा मिश्रस्तु योक्तव्यः पूर्वरङ्गे भवेदिह ॥ ११ ॥
मिश्रे सम्भाविता कार्या तदा वार्तिकमाश्रिता ।
शुद्धे च पृथुला कार्या दक्षिणं मार्गमाश्रिता ॥ १२ ॥

चञ्चत्पुटे तु द्विकले तु वृत्तिमार्गे मता भूरिगुरुः किलैषा ।
चञ्चत्पुटे तत्र चतुष्कले तु स्याद्दक्षिणे भूरिलघुस्तथान्या ॥" इति ।

मिश्रस्त्विति । यदा चित्रमार्गे वार्तिकमार्गाश्रिता संभाविता भवेत्तदा सा मागधीत्युच्यते लयस्य भिन्नत्वात् । तथा वार्तिकमार्गे दक्षिणमार्गाश्रिता पृथुला चेत्तदा सा संभावितेत्युच्यते । चतस्रोऽपि गीतयः न केवलं पूर्वरङ्गे प्रयोज्याः । अपि तु नाट्येऽपि । तदुक्तं मुनिना—

गानयोगे चतस्रस्तु योज्याः सर्वत्र गायनैः । इति (ना. शा. ३१)

अब संभाविता गीति का लक्षण करते हैं। द्विकल चञ्चत्पुट ताल के वार्त्तिक मार्ग में गुरु अक्षरों के आधिक्य से युक्त संभाविता गीति होती है। इसी प्रकार जब चतुष्कल चञ्चत्पुट ताल के दक्षिण मार्ग में लघु अक्षरों का अधिक प्रयोग होता है तो पृथुला गीति होती है ॥ १० ॥

अनुवाद—मिश्र पूर्वरङ्ग में जिस प्रकार का प्रयोग होना चाहिए, उसे कहते हैं। मिश्र पूर्वरङ्ग में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित संभाविता गीति का प्रयोग करना चाहिए और शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिण मार्ग पर आश्रित पृथुला गीति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

व्याख्या—जब चित्रमार्ग में वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित संभाविता गीति का प्रयोग होता है तो वह मागधी गीति कही जाती है, लय के भिन्न होने से। भाव यह है कि जब वार्त्तिक मार्ग पर आश्रित संभाविता गीति का प्रयोग चित्र मार्ग में होता है तो लय के भिन्न होने से मागधी गीति कही जाती है। उसी प्रकार वार्त्तिक मार्ग में दक्षिण मार्ग पर आश्रित पृथुला गीति का जब प्रयोग होता है तब उसे संभाविता गीति कहते हैं। इन चारों गीतियों का केवल पूर्वरङ्ग में ही प्रयोग नहीं करना चाहिए, अपितु नाट्य में भी इनका प्रयोग करना चाहिए। जैसा कि भरतमुनि ने कहा है—

"गान के योग में सभी जगह गायकों को चारों गीतियों का प्रयोग करना चाहिए।" (ना. शा. ३२।४२४)

अतः परं प्रवक्ष्यामि गुरुलाघवतः क्रियाम् ।
उपोहनक्रियायां तु यथायोज्यं प्रयोक्तृभिः ।। १३ ।।
दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं सदा बुधैः ।
मध्ये लघ्वक्षराणि स्युः षोडशैव तु नित्यशः ।। १४ ।।
एवं ह्युपोहनं कृत्वा तथा वस्तु समाचरेत् ।
उत्थापन्यां प्रयोगेऽस्मिन्कलाकालसमन्वितम् ।। १५ ।।
अक्षराणां कलायास्तु गुरुलाघवमेव च ।
[1]पूर्वं तु कथितं यस्मात्तस्मान्नाभिहितं भवेत् ।। १६ ।।

दिग्ले इति शुष्काक्षराणि तान्येवोपोहनोदितानि कलानां पूरकाणि स्तोभाक्षराणि । झण्टुं जगतिपवलितककुचझलगितिकलपशुपति दिगिनिगि दिग्लेतेते इति दशपदात्मकस्तोभा उपोहने स्वरकलाद्योतकाः । वस्त्विति मागध्यादिगीतिः । नाटकादन्यत्रापरान्तकादिसप्तविधा गीतिः । पूर्वमिति (ना. शा. ५-५९) श्लोके । तस्योदाहरणं देवमित्यादि ।

अनुवाद—इसके बाद उपोहन क्रिया में प्रयोक्ताओं को गुरु और लघु मात्राओं का प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिए, उसका वर्णन करूँगा ।। १२-१३ ।।

अनुवाद—विद्वानों को पहिले (प्रारम्भ में) दिग्ले दिग्ले (दो गुरु) का और फिर अन्त में झण्टुं का प्रयोग करना चाहिए और मध्य में सोलह लघु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार उपोहन क्रिया करके वस्तु (सार्थक गीत) का आरम्भ करना चाहिए ।। १३-१४ ।।

व्याख्या—'दिग्ले' आदि शुष्काक्षर हैं, वे ही उपोहन क्रिया में कहे गये कलाओं को पूर्ण करने वाले स्तोभाक्षर हैं । शुष्काक्षर अथवा स्तोभाक्षर दस हैं—'झण्टुं, जगतिप, वलितक, कुचझल, गीतिकल, पशुपति, दिगिनिगि, दिग्ले, गणपति तिचा, ये पदात्मक दस स्तोभाक्षर उपोहन क्रिया में स्वर एवं कला के द्योतक हैं । 'वस्तु' से मागधी आदि गीतियाँ अभिप्रेत हैं । नाटक से भिन्न अपरान्तक आदि सात प्रकार की गीतियाँ हैं ।

उत्थापनी ध्रुवा

अनुवाद—उत्थापनी ध्रुवा के इस प्रयोग में कला और काल से समन्वित कला और अक्षरों का गुरुत्व और लाघव का कथन पहिले किया जा चुका है, इसलिए फिर उसका कथन नहीं किया गया है ।।१५-१६।।

---

१. क (टि) पूर्वं सङ्कलितं यस्मात् ।

यथा—

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं कैलासपर्वतगुहाभिरतम् ।
शैलेन्द्रराजतनयादयितं मूर्ध्ना नतोऽस्मि पुरनाशकरम्[1] ॥ १७ ॥
एवमुत्थापनी कार्या पूर्वरङ्गप्रयोक्तृभिः ।
अतोऽन्यत्परिवर्ताया लक्षणं संविधीयते ॥ १८ ॥
अस्यास्तूपोहनं कार्यं षट्कलं परिसङ्ख्यया ।
[2]आदौ दिग्ले द्विरुक्तस्तु अन्ते झण्टुं सदा भवेत् ॥ १९ ॥
मध्ये लघ्वक्षराण्येव द्वादशैव प्रयोजयेत् ।
वस्तुनोऽत्र प्रवक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरक्रमम् ॥ २० ॥

त्रिलयेति। कलाभेदेन द्रुतमध्यविलम्बितादिभेदः स्यात् । त्रियतिरिति स्रोतोवहादि भाण्डवाद्यसूचिका । परिवर्तांश्चतुर्दिक्षु चत्वारः । पाणयः समपाणिरुपरिपाणिरधःपाणिश्च । एतैर्वाद्यविधिरुक्ता ।

अनुवाद—तीन लोक के स्वामी, कैलाश पर्वत की कन्दरा में रहने वाले, पर्वतराज की पुत्री पार्वती के प्रिय, त्रिपुर के नाशक भगवान् शिव को शिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

विमर्श—उत्थापनी ध्रुवा के चरण में प्रथम, द्वितीय चतुर्थ, अष्टम; एकादश अक्षर गुरु होते है। यह चतुष्पदा चतुरस्रा, चार सन्निपात, तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त्त वाला ध्रुवा गीत है। इसमें विश्लोका छन्द का प्रयोग होता है। इसका विवेचन पहले पञ्चम अध्याय में किया जा चुका है ॥ १७ ॥

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक ध्रुवागीत का उदाहरण है। इसमें गुरु और लघु अक्षरों का क्रम इस प्रकार है—

ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ
दे वं वि भुं त्रि भु व ना धि प तिं

अनुवाद—पूर्वरङ्ग प्रयोक्ताओं को इस प्रकार उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। अब इसके बाद परिवर्त्तिनी ध्रुवा का लक्षण कहेंगे ॥१८॥

परिवर्त्तिनी ध्रुवा

अनुवाद—परिवर्त्तिनी ध्रुवा में उपोहन का प्रयोग परिसंख्या के अनुसार छः कलाओं में करना चाहिए। पहिले दो बार दिग्ले दिग्ले और अन्त से झण्टुं का प्रयोग करना चाहिए होता है और मध्य में बारह लघु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए। अब इसमें वस्तु (गीतक) के गुरु और लघु अक्षरों के क्रम का विवेचन करूँगा ॥ १९-२० ॥

---

१. क-म. त्रिपुरान्तकम् । २. क-म. आयौ दिल्ले भिरुक्तस्तु ।

द्वे चादौ च चतुर्थं च अष्टमं दशमं तथा ।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे गुर्वक्षराणि तु ।। २१ ।।
सा ध्रुवा परिवर्ताख्या त्रिलया त्रियतिस्तथा ।
परिवर्तास्तु चत्वारः पाणयस्त्रय एव च ।। २२ ।।
चतुर्भिस्सन्निपातैस्तु द्वात्रिंशत्कलिकान्विता[1] ।
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यः परिवर्तः प्रयोक्तृभिः ।। २३ ।।

यथा—

[2]चन्द्रार्धभूषणजटं वरं [3]वृषभकेतुं
कैलासपर्वतनिवासिनं सुरवरिष्ठम् ।
शैलाधिराजतनयाप्रियं प्रमथनाथं
मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकं परमयोगिनम् ।। २४ ।।

अनुवाद—जिसके पाद का आदि के दो अक्षर (प्रथम और द्वितीय) फिर चतुर्थ, अष्टम, दशम, चतुर्दश (चौदहवाँ) अक्षर गुरु होता है, और शेष अक्षर लघु होते हैं उसे परिवर्त्त ध्रुवा कहते हैं ।। २१ ।।

अनुवाद—जिसमें तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त्त और तीन पाणियाँ हों वह 'परिवर्त्ता' नाम की ध्रुवा होती है ।। २२ ।।

व्याख्या—इसमें त्रिलय अर्थात् द्रुत, मध्य और विलम्बित तीन लय होते हैं । त्रियति अर्थात् भाण्डवाद्य की सूचिका स्रोतोवहा, समा और गोपुच्छा नाम की तीन यातियाँ होती हैं । परिवर्त्त' का अर्थ है चारो दिशाओं में चार बार परिवर्त्तन (आवृत्ति) करना । 'त्रिपाणि' से समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि का बोध होता है । वाद्यों के विधान में इनका निरूपण किया जा चुका है ।। २१-२२ ।।

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को पूर्वरङ्ग में चार प्रकार के सन्निपातों के साथ बत्तीस कलाओं से समन्वित परिवर्त्ता ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए ।। २३ ।।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—अर्धचन्द्र से विभूषित जटाओं वाले, वृषभ से अङ्कित ध्वज वाले, कैलाश पर्वत पर निवास करने वाले, देवताओं में श्रेष्ठ पर्वतराज की पुत्री पार्वती के प्रिय (पार्वतीवल्लभ), प्रमथनाथ, त्रिपुर का विनाश करने वाले परम योगी शिव को शिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ।। २४ ।।

---

१ क-ज. द्वे पादे च । क (टि.) द्वात्रिंशत्त्रिकलान्विता ।
२. क-म. चन्द्रभूषणजटाधरं । ३. क (टि.) वृषभकेतनम् ।

अवकृष्टामिदानीं तु कथ्यमानां निबोधत ।
अस्यास्तूपोहनं कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ॥ २५ ॥
[1]दिग्ले दिग्ले पुनश्चान्ते झण्टुमस्य प्रयोजयेत् ।
अष्टावेव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु ॥ २६ ॥
तृतीयं चैव षष्ठं तु नवमैकादशे तथा ।
पादे पञ्चदशं चैव षोडशं च भवेद्गुरुः ॥ २७ ॥
[2]अष्टषष्टिगणैः पादैरवकृष्टविधिर्बुधाः ।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च पाणिभिस्त्रिभिरेव च ॥ २८ ॥

यथा--
वरदं सगणं त्रिपुरान्तकं वृषभकेतुम्[3]
गजचर्मपटं विषमेक्षणं भुवननाथम्[4] ।
भुजगाभरणं जगतां हितं भुवनयोनिम्[5]
प्रणतोऽस्मि भवन्तमुमापतिं त्वसितकण्ठम् ॥ २९ ॥

अष्टषष्टिगणैरिति पतभागाः । त्रिभिरिति समपाण्यादिभिः ।

यह श्लोक परिवर्त्तिनी ध्रुवा का उदाहरण है । इसमें मात्राओं की गणना इस प्रकार की गई है—

S S । S । । । S । S । । । S S
च न्द्रा र्धं भू ष ण ज टं व रं वृ ष भ के तुम् ।

अवकृष्टा ध्रुवा

अनुवाद--अब मेरे द्वारा कहे जाते हुए अवकृष्टा ध्रुवा को समझिये । इसका उपोहन पाँच कलाओं से युक्त करना चाहिए ॥२५॥

अनुवाद-इसमें प्रारम्भ में दो बार दिग्ले दिग्ले और अन्त में झण्टुं का प्रयोग करना चाहिए और मध्य में आठ लघु अक्षरों का प्रयोग होना चाहिए ॥ २६ ॥

अनुवाद—इसके प्रत्येक पाद में तीसरा, छठाँ, नवाँ, ग्यारहवाँ, पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ अक्षर गुरु होते हैं और शेष अक्षर लघु होते हैं ॥ २७ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ता अवकृष्टा ध्रुवा का विधान अड़सठ पाद (पातों) को चार सन्निपातों और तीन पाणियों के द्वारा कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. क-न. दिल्ले दिल्ले पुनश्चायं । २. क-न. अर्धषष्ठगणैः पादैरवकृष्टां विदुर्बुधाः ।
३. क (टि.) त्रिपुरान्तकरं वृषभेक्षणं ।
४. क-न. त्रिभुवननाथम् । ५. क (टि.) भुवनयोनिम् ।

तृतीयं चैव षष्ठं च गुरुपादे त्रयोदशम् ।
[1]चतुर्गुणसमायुक्ता सा कार्या त्वड्डिता ध्रुवा ॥ ३० ॥
तत्राप्युपोहनं कार्यं चतुष्कलसमन्वितम् ।
अड्डितायाः प्रयोगज्ञैरन्ते झण्टुविभूषितम् ॥ ३१ ॥
दिग्ले दिग्ले [2]ततश्चैव कार्यमन्ते सदा बुधैः ।
चत्वार्येव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु ॥ ३२ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—वर देने वाले, गणों से युक्त, त्रिपुर के संहारक, वृषभकेतु, गज चर्म को धारण करने वाले, त्रिभुवन के स्वामी, सर्पों का आभूषण धारण करने वाले, जगत् के हितकारी, समस्त लोकों के कारण, नीलकण्ठ उमापति भगवान् शिव को प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

यह अवकृष्टा ध्रुवा का उदाहरण है। इसमें मात्राओं की गणना का क्रम इस प्रकार है—

। । S । । S । । S । S । । । S S
व र दं स ग णं त्रि पु रा न्त कं वृ ष भ के तुम्

अड्डिता ध्रुवा

अनुवाद—जिसके प्रत्येक पाद में तीसरा, छठाँ तेरहवाँ अक्षर गुरु होता है और जो चार गुणों से युक्त होता है उसे अड्डिता ध्रुवा कहते हैं ॥३०॥

अनुवाद—इस ध्रुवा में चार कलाओं से समन्वित उपोहन किया जाता है और प्रयोक्ताओं द्वारा अड्डिता के अन्त में 'झण्टुं' से अलङ्कृत प्रयोग करना चाहिए। विद्वानों को इसमें पहिले प्रारम्भ में दो बार 'दिग्ले दिग्ले' का और अन्त में 'झण्टु' का प्रयोग करना चाहिए तथा मध्य में चार लघु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए॥ ३१-३२ ॥

विमर्श—अड्डिता ध्रुवा में चार गुण माने गये हैं। इनमें प्रथम गुण चार कलाओं का उपोहन विधान है, दूसरा गुण अन्त में झण्टु का अलङ्कृत प्रयोग है, तीसरा प्रारम्भ में दिग्ले दिग्ले चार गुरुओं का प्रयोग है और चौथा गुण मध्य में चार लघु अक्षरों का प्रयोग माना गया है। इसी पाँचवें अध्याय में जर्जर के नमस्कार के बाद अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग बताया गया है। वहाँ पर सूत्रधार इसका प्रयोग मध्यलय से करता है। वहाँ इसे चतुरस्र कहा गया है और इसमें चार सन्निपात माना गया है। इसके प्रत्येक चरण में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम तथा अन्तिम अक्षर को गुरु और शेष को लघु स्वीकार किया गया है किन्तु यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में अड्डिता ध्रुवा के प्रत्येक चरण में तीसरा, छठवाँ, तेरहवाँ अक्षर गुरु माना गया है॥ ३१-३२ ॥

---

१. क (टि०) चतुर्गणसमायुक्ता । २. क-न. ततो झण्टुम् ।

यथा—

[1]प्रवरं वरदं [2]प्रणमत सततम्

गजचर्मपटं मुनिजनसहितम्[3] ।

उमया सहितं भुजगवलयिनम्

प्रणतोऽस्मि शिवं त्रिभुवनसहितम्[4] ॥ ३३ ॥

प्रयोज्या त्वड्डिता ह्येवं पूर्वरङ्गे यथार्थतः ।

अतःपरं प्रवक्ष्यामि विक्षिप्तायास्तु लक्षणम् ॥ ३४ ॥

तृतीयं चैव षष्ठं च नवमं दशमं तथा ।

गुर्वक्षराणि पादे तु यस्यां विक्षिप्तका तु सा ॥ ३५ ॥

[5]दिग्ले त्रिभिर्गुणैर्युक्ताः पातास्तस्य भवन्ति हि ।

त्रिकलं चापि निर्दिष्टमुपोहनमतः परम् ॥ ३६ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—सर्वश्रेष्ठ, वर देने वाले, गजचर्म ओढ़ने वाले, मुनियों से युक्त, उमा (पार्वती) के साथ, सर्पों का कंगन धारण करने वाले, तीनों लोक से वन्दित भगवान् शिव को आप लोग प्रणाम करें। मैं भी प्रणाम करता हूँ ॥ ३३ ॥

यह अड्डिता ध्रुवा का उदाहरण है। इसमें मात्राओं की गणना का क्रम इस प्रकार हैं--

। । S । । S । । । । : । S

प्र व रं व र दं प्र ण म त स त तम्

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वरङ्ग में यथार्थ रीति से अड्डिता चारी का प्रयोग करना चाहिए। अब इसके बाद विक्षिप्ता ध्रुवा लक्षण कहूँगा ॥३४॥

विक्षिप्ता ध्रुवा

अनुवाद—जिसके प्रत्येक चरण में तृतीय, षष्ठ, नवम और दशम अक्षर गुरु होते हैं, उसे विक्षिप्ता ध्रुवा कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनुवाद—इसमें दिग्ले प्रयोग के तीन गुणों से युक्त पात होते हैं और इसमें तीन कलाओं का निर्देश है। इसके बाद उपोहन क्रिया का निर्देश है ॥ ३६ ॥

---

१. क-न. वरदं वरदं । २. क (टि.) प्रथम गणपतिम् ।
३. क (टि.) मुनिगणसहितम् । ४. क-द. त्रिभुवननमितम् ।
५. क-न. भ. दिग्लैत्रिभिर्गुणैर्युक्ता । क (टि.) सर्वैस्त्रिभिर्गुणैर्युक्ता ।

दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं प्रयोक्तृभिः ।
लघ्वक्षरैर्विहीनं तु विक्षिप्तोपोहनं भवेत् ॥ ३७ ॥

यथा--

त्रिपुरान्तकरं बहुलीलममुया [1]सहितं बहुरूपम् ।
भुजगाभरणं त्रिपुरान्तकं प्रणमामि सदा परमीशम् ॥ ३८ ॥
एवं सर्वा ध्रुवा कार्या युग्मौजकृतगीतकाः ।
आचार्यबुद्ध्या कर्तव्याः पूर्वरङ्गे यथाविधि ॥ ३९ ॥

युग्मोजकृतेति । युग्मं चतुरश्रतालात्मकम् ओजं त्र्यश्रतालेन संमितं मागध्यादिवस्तु ।

अनुवाद —विक्षिप्ता ध्रुवा में प्रयोक्ताओं को प्रारम्भ में 'दिग्ले दिग्ले' का प्रयोग करना चाहिए फिर अन्त में 'झण्टुं' का प्रयोग करना चाहिए । विक्षिप्ता ध्रुवा का उपोहन लघु अक्षरों से विहीन होता है ॥ ३७ ॥

विमर्श —विक्षिप्ता ध्रुवा में तीन गुण होते हैं—प्रथम दिग्ले का तीन बार पात, दूसरा तीन कलाओं के बाद उपोहन का प्रयोग और तीसरा दिग्ले दिग्ले का प्रारम्भ में और झण्टुं का अन्त में प्रयोग तथा लघु अक्षरों के प्रयोग का वर्जन ॥ ३७ ॥

उदाहरण जैसे--

अनुवाद —त्रिपुरान्तक, उमा के साथ अनेक प्रकार की लीला करने वाले, अनेक रूप वाले, भुजङ्ग भूषण, त्रिपुरान्तक परमेश्वर को सदा प्रणाम करता हूँ ॥ ३८ ॥

यह विक्षिप्ता ध्रुवा का उदाहरण है । इसमें मात्राओं की गणना का क्रम इस प्रकार है--

।	।	S	।	।	S	।	।	S	S
त्रि	पु	रा	न्त	क	रं	ब	हु	ली	लं

अनुवाद—इस प्रकार चतुरस्र और त्र्यस्र ताल से युक्त गीतों वाली इन सारी ध्रुवाओं का प्रयोग करना चाहिए । आचार्य को अपनी बुद्धि से पूर्वरङ्ग में यथाविधि (विधिपूर्वक) इनका प्रयोग करना चाहिए ॥३९॥

व्याख्या —'युग्मौजकृतगीतकः' का अर्थ है युग्म और ओज गीतों वाली ध्रुवाएँ । युग्म से तात्पर्य है चतुरस्र ताल और ओज का अभिप्राय है त्र्यस्र ताल । चतुरस्र और त्र्यस्र से युक्त मागधी आदि गीतियाँ ॥३९॥

---

१. क-न. म. उमासहितम् ।

एवं वः कथितं सम्यक्पूर्वरङ्गं त्रिधा मया ।
किमन्यत्सम्प्रवक्ष्यामि भूयोऽभीष्टं द्विजोत्तमाः ॥ ४० ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे पूर्वरङ्गविधानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

त्रिधेति शुद्धचित्रमिश्रभेदात् पूर्वरङ्गलक्षणपरिसमाप्तौ नाट्यलक्षणान्तरोपदेशे आभिमुख्यं दर्शयति—किमित्यादिना ।

॥ इति पञ्चमाध्यायप्रक्षिप्तभागस्य पूरणी व्याख्या ॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ? इस प्रकार मैंने आप लोगों के लिए तीन प्रकार का पूर्वरङ्ग का विधान बताया है । अब अन्य कौन सा अभीष्ट विषय है जिसका वर्णन करूँ ॥ ४० ॥

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग विधान नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

व्याख्या—त्रिधा से तात्पर्य है शुद्ध, चित्र, मिश्र भेद से तीन प्रकार का पूर्वरङ्ग । अब पूर्वरङ्ग का लक्षण प्रतिपादित करने के बाद अन्य नाट्यलक्षण उपदेश की ओर अभिमुखता दिखाते हैं कि अब आपसे कौन सा विषय कहूँ ? ॥ ४० ॥

इस प्रकार प्रथम सम्पादक के द्वारा कृत पञ्चम अध्याय के प्रक्षिप्त भाग की पूरणी नामक व्याख्या समाप्त हुइ ।

इति डा० पारसनाथ द्विवेदिकृता पञ्चमाध्यायप्रक्षिप्तभागस्य हिन्दीव्याख्या समाप्ता ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत पञ्चम अध्याय के प्रक्षिप्त भाग की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ५ ॥

●

परिशिष्ट—१

चित्र-सूची

नृत्तकरणों की १०८ मुद्राएँ





१. तलपुष्पपुटम् ।



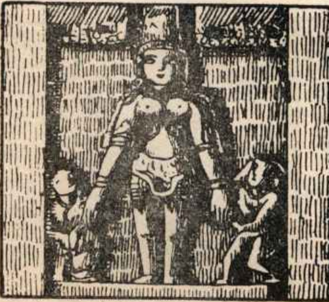
२. वर्तितम् ।



३. वलितोरुकम् ।



४. अपविद्धम् ।



५. समनखम् ।



६. लीनम् ।



७. स्वस्तिकरेचितम् ।



८. मण्डलस्वस्तिकम् ।



९. निकुट्टकम् ।



१०. अर्धनिकुट्टकम्



११. कटिच्छिन्नम् ।



१२. अर्धरेचितकम् ।



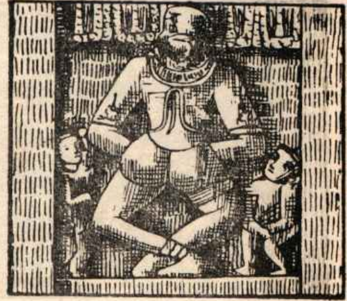
१३. वक्षःस्वस्तिकम् ।



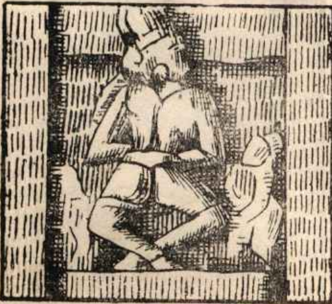
१४. उन्मत्तकम् ।



१५. स्वस्तिकम् ।



१६. पृष्ठस्वस्तिकम् ।



१७. दिक्स्वस्तिकम् ।



१८. अलातकम् ।



१९. कटीभ्रमम् ।



२०. आक्षिप्तरेचितम् ।



२१. विक्षिप्ताक्षिप्तकम् ।



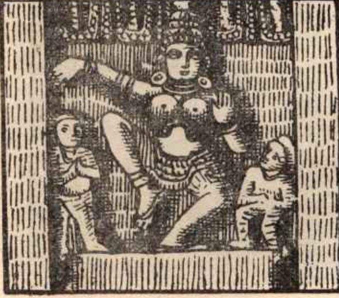
२२. अर्धस्वस्तिकम् ।



२३. अञ्चितम् ।



२४. भुजङ्गत्रासितम् ।



२५. ऊर्ध्वजानु ।



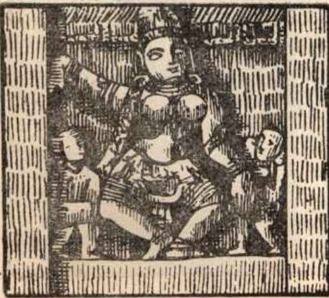
२६. निकुञ्चितम् ।



२७. मत्तल्लि ।



२८. अर्धमत्तल्लि ।



२९. रेचितनिकुट्टितम् ।



३०. पादापविद्धकम् ।



३१. वलितम् ।



३२. घूर्णितम् ।



३३. ललितम् ।



३४. दण्डपक्षम् ।



३५. भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।



३६. नूपुरम् ।



३७. वैशाखरेचितम् ।



३८. भ्रमरकम् ।



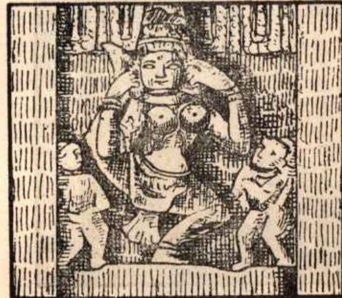
३९. चतुरम् ।



४० भुजङ्गाञ्चितकम् ।



४१. दण्डकरेचितम् ।



४२. वृश्चिककुट्टितम् ।



४३. कटिभ्रान्तम् ।



४४. लतावृश्चिकम् ।



४५. छिन्नम् ।



४६. वृश्चिकरेचितम् ।



४७. वृश्चिकम् ।



४८. व्यंसितम् ।



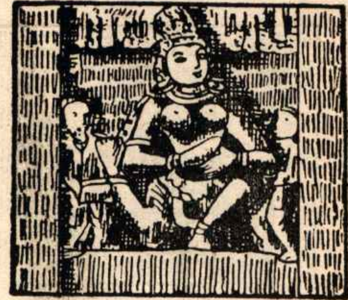
४९. पार्श्वनिकुट्टकम् ।



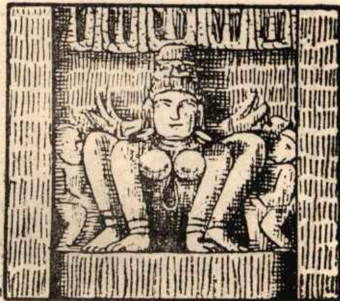
५०. ललाटतिलकम् ।



५१. क्रान्तकम् ।



५२. कुञ्चितम् ।



५३. चक्रमण्डलम् ।



५४. उरोमण्डलम् ।



५५. आक्षिप्तम् ।



५६. तलविलासितम् ।



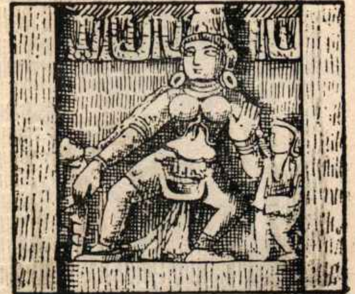
५७. अर्गलम् ।



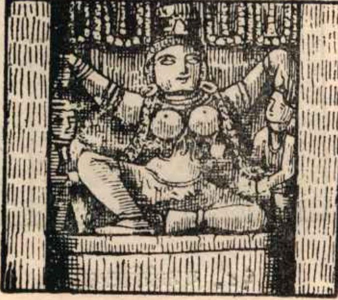
५८. विक्षिप्तम्



५९. आवर्तम् ।



६०. डोलापादम् ।



६१. विवृत्तम् ।



६२. विनिवृत्तम् ।



६३. पार्श्वक्रान्तम् ।



६४. निस्तम्भितम् ।



६५. विद्युद्भ्रान्तम् ।



६६. अतिक्रान्तम् ।



६७. विवर्तितकम् ।



६८. गजक्रीडितकम् ।



६९. तलसंस्फोटितम् ।



७०. गरुडप्लुतकम् ।



७१. गण्डसूची ।



७२. परिवृत्तम् ।



७३. पार्श्वजानु।



७४. गृध्रावलीनकम्।



७५. सन्नतम्।



७६. सूची।



७७. अर्धसूचि



७८. सूचीविद्धम्।



७९. अपक्रान्तम् ।



८०. मयुरललितम् ।



८१. सर्पितम् ।



८२. दण्डपादम् ।



८३. हरिणप्लुतम् ।



८४. प्रेङ्खोलितकम् ।



८५. नितम्बम् ।



८६. स्खलितम् ।



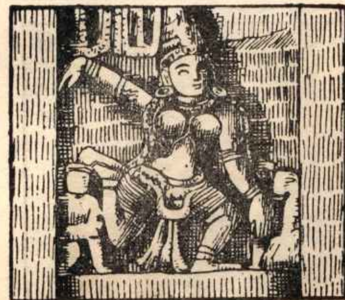
८७ करिहस्तम् ।



८८. प्रसर्पितकम् ।



८९. सिंहविक्रीडितकम् ।



९०. सिंहाकर्षितम् ।



९१ उद्वृत्तम् ।



९२. उपसृतकम् ।



९३. तलसङ्घट्टितम् ।



९४. जनितम् ।



९५. अवहित्थकम् ।



९६. निवेशम् ।



९७. एलकाक्रीडितम् ।



९८. ऊरूद्वृत्तम् ।



९९. मदस्खलितकम् ।



१००. विष्णुकान्तम् ।



१०१. सम्भ्रान्तम् ।



१०२. विष्कम्भम् ।



१०३. उद्घट्टितम् ।



१०४. वृषभक्रीडितम् ।



१०५. लोलितम् ।



१०६. नागापसर्पितम् ।



१०७. शकटास्यम् ।



१०८. गङ्गावतरणम् ।

परिशिष्ट—२

श्लोकार्धानुक्रमणिका

'आ'

'इ'

'ई'

'उ'

'औ'

'क'

'प'

परिशिष्ट—३

चतुर्थाध्यायस्थकरणलक्षणेषु मुद्रितपाठस्य चिदम्बरनटराजमन्दिरस्थ-शिलोट्टङ्कितपाठस्य च भेदसूचिका[1]

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठः	शासनस्थपाठः
२९८	२	बलितोरुकमुच्यते	बलितोरु तदुच्यते
३००	२	वक्षःस्थोप्यपविद्धं	वक्षःस्थो ह्यपविद्धं
३०८	१	अञ्चितौ	अञ्चितो
३०८	१	निकुञ्चितार्धयोगेन	निकुट्टितार्धयोगेन
३०९	१	कटिश्छिन्ना	कटिच्छिन्ना
३१५	१	विक्षिप्ताक्षिप्त	विक्षिप्तोक्षिप्त
३१५	२	सूचिभ्यां	सूचीभ्यां
३१६	१	श्लिष्टः करो	श्लिष्टकृतो
३२१	१	च	तु
३२३	२	तदञ्चित	तदाञ्चित
३२४	२	कटिजानु	कटीजानू
३२९	१	खटकामुखौ	खटिकामुखौ
३३०	४	तु	च
३३१	१	दक्षिणश्च विवर्तितः	दक्षिण श्चापवर्तितः
३३२	२	तु	च
३३४	१	रेचितौ हस्तपादौ च कटी	रेचितं हस्तपदं च कटि
३३७	१	दक्षिणो रेचितः	रेचितो दक्षिणः
३३७	२	लताख्यश्च	लताख्यस्तु
३४१	२	अलपद्मः·····छिन्ना	अलपल्मः·····छिन्न
३४२	२	करौ वृश्चिकरेचितम्	कुर्याद्वृश्चिकरेचितम्
३४५	२	तु	च
३४७	२	गात्रेणानतेन	गात्रेण नतेन
३४८	२	उरोमण्डलकौ	उरोमण्डलिनौ

१. प्रथमावृत्तिसम्पादकेन सम्पादिता ।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठः	शासनस्थपाठः
३४९	१	च	तु
३५२	१	पृष्ठतः पार्श्वतो	पार्श्वतः पृष्ठतो
३५३	२	तदुच्यते	प्रकीर्तितम्
३५७	४	मण्डलाविद्धम्	मण्डलाबद्धम्
३६५	२	सा सूची	तत्सूचि
३६७	३	अञ्चितापसृतौ पादौ	अञ्चितापसृतः पादः
३६९	२	जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्यात्	जङ्घाचिता परिक्षिप्ता तद्विन्द्यात्
३७०	२	परिवृत्तत्रिकम्	परिवृत्तं त्रिकम्
३७१	२	वापि	चापि
३७३	३	द्रुतक्रमम्	वृत्तक्रमम्
३७३	४	चापि सिंहविक्रीडिते	चैव सिंहविक्रीडितम्
३७५	१	चरणश्चैको	चरणः कार्यः
३७६	३	वक्षःस्थितो	पक्षस्थितो
३७८	२	निवेशं करणं तु	निवेशकरणं च
३८०	२	गगनोन्मुखः	गमनोन्मुखः
३८४	४	उद्वाहित	उद्घाटित

*

परिशिष्ट—४

शुद्धि-निर्देश

प्रस्तावना

पृष्ठसंख्या	पंक्तिसंख्या	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
३	५	० नाठ्यम	० नाठ्यम्
३	३१	पितामहमाब्रवीत्	पितामहमथाब्रवीत् ।
४	२७	ब्युत्पत्ति।	व्युत्पत्तिः
५	१२	प्रतिविम्बित	प्रतिबिम्बित
७	१६	लोकिक	लौकिक
७	२२	रसभिव्यक्ति	रसाभिव्यक्ति
८	१७	भारतसूत्रमिदं	भरतसूत्रमिदं
१०	३२	मोतीलाल बनारसीदास	चौखम्बा संस्कृत संस्थान
१२	१०	पाटय	पाठ्य
१२	१६	सामान्य-भिनय	सामान्याभिनय
१५	२१	विदादिध्योऽण्	विदादिभ्योऽण्
२३	११	शताव्दी	शताब्दी
२४	२६	विक्रमोवशीयम्	विक्रमोर्वशीयम्
३२	२७	मनोरजन	मनोरञ्जन
३७	२०	ग्रन्थां	ग्रन्थों
३९	१३	वृहस्पति	बृहस्पति
३९	२२	प्रकरो	प्रकरी
४३	१४	भरत में	भरत ने
४९	१७	भारत का	भरत का
५१	२१	सत्तरण उपरुपमों	सत्तरह उपरुपकों
५३	१३	नन्दिश्वर	नन्दिकेश्वर
५४	२८	न्याय बृत्ति	न्यायवृत्ति
५७	२२	व्याख्या	व्याख्या

•

मूलग्रन्थ एवं व्याख्या

पृष्ठसंख्या	पंक्तिसंख्या	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
१	६	ब्रह्मण	ब्रह्मणा
५	२३	गुरू	गुरु
९	१-२	प्रवक्ष्यामिति	प्रवक्ष्यामीति
१७	१७	मिय्या	मिथ्या
१८	४	प्रपच्छुस्ते:	पप्रच्छुस्ते
२०	५	प्रपच्छरिति	पप्रच्छुरिति
२७	२	पप्रच्छ:	पप्रच्छु:
३१	१३	त्र्यवहार	व्यवहार
३२	१२	त्रेतापुगं	त्रेतायुगं
३३	७	किञ्चत्	किञ्चित्
४१	१९	थुक्त	युक्त
४७	२०	भित्र	भिन्न
४८	१९	झांस	झांझ
४८	३२	घतावनद्ध	घनावनद्ध
४९	८	वृति	धृति
५४	८	पर्षदि	परिषदि
५५	८	ववर्णं	वैवर्ण्यं
५६	२०	विशषता	विशेषता
५६	३१	तच्वज्ञ:	तत्त्वत:
५९	२४	जैशिषव्य	जैगीषव्यं
६४	१४	एबं	एवं
७३	२५	कुतुप	कुतप
७४	१३	कुतुप	कुतप
७४	१३	वाचक	वादक
७४	१४	कुतुप	कुतप
७४	१५	कुतुप	कुतप
७४	१६	कुतुप	कुतप
८३	१५	जृ	जॄ
८३	१८	जृ	जॄ
८९	४	नतकी	नर्तकी
९१	१८	आट्टालिकाओ	आट्टलिकाओं

९६	२१	अशक्तस्थ	अशक्तस्य
१०२	२९	अवयार्थज्ञान	अयथार्थज्ञान
१०३	१०	परिबतन	परिवर्त्तन
१०३	२१	नामक	नायक
१०३	३४	भाबो	भावों
१०५	२८	विघावादि	विभावादि
१०७	३	बुद्धेश्भावात्	बुद्धेरभावात्
१०८	१२	इतिबृत्त	इतिवृत्त
१०८	१४	अनुव्यवशाय	अनुव्यवसाय
१११	६	प्रत्वक्ष	प्रत्यक्ष
११२	४	बाद्य	वाद्य
११२	१९	छोढ़ता	छोड़ता
११२	२९	अभिनवयुप्त	अभिनवगुप्त
११८	१	एतच	एतच्च
११८	१०	र यादिः	रत्यादिः
१२३	१२	धर्म	कर्म
१२४	११	वालरामायण	बालरामायण
१२८	२४	प्रत्थक्ष	प्रत्यक्ष
१२८	३०	केषल	केवल
१३१	२१	दुःरूपता	दुःखरूपता
१३३	१०	गगनीयं	गमनीयं
१४७	२८	साभ्येन	साम्येन
१५२	१	बालश्च	वालश्च
१५२	४	बालाश्च	वालाश्च
१५२	१२	बाल	वाल
१५२	१६	बाल	वाल
१५३	६	योगपुरुश्च	योगयुक्तश्च
१५८	२०	दानो	दोनों
१६१	१	तस्माद्द्वक्रुतै०	तस्माद्देवक्रुतै०
१६५	९	गहीत्वा	गृहीत्वा
१७४	२	पूर्वेण	पूर्वेण
१७६	३	स्वंद्रुयैः	स्वर्द्रुमैः
१७६	२	समृतम्	स्मृतम्

१७६	२४	सफद	सफेद
१७९	१६	अकम्पप्य	अकम्प्य
१८१	११	वनो	बनो
१८२	१९	उच्छाय:	उच्छ्राय:
१८५	५	मरत	भरत
१८५	९	अव्य	अन्य
१८५	१२	कत्तवारणी	मत्तवारणी
१८९	९	मध्य हुए	मध्य बने हुए
१९१	२	धुयौ	धुर्यौ
१९२	१४	कछए	कछुए
१९९	१	भण्ढप:	मण्डप:
१९९	१०	कुतुप	कुतप
१९०	१२	कुतुप	कुतप
१९९	१४	कुतुप	कुतप
१९९	१५	कुतुप	कुतप
२००	१३	लतावन्घ	लताबन्ध
२०६	३	न्यसेत	न्यसेत्
२०७	२७	नाटयमण्डप	नाट्यमण्डपं
२१४	७	प्रक्षकों	प्रेक्षकों
२२३	५	दूशरा	दूसरा
२२४	१	कत्तव्यं	कर्त्तव्यं
२२४	प्रथमचित्र	प्रेक्षकोपेक्ष	प्रेक्षकोपवेश
२२४	द्वितीयचित्र	प्रेक्षकोपेक्ष	प्रेक्षकोपवेश
२३४	१२	बेला	वेला
२३६	२६	कुतुप	कुतप
२३७	१७	नाटयमण्डप	नाट्यमण्डप
२४७	४	बलिम्	वलिम्
२४९	२१, २५, २६, २७	बलि:	वलि:
२४९	१९	चन्द्रदेद	चन्द्रदेव
२५४	४	विघ्नजजरार्थं	विघ्नजर्जरणार्थं
२५६	२	तान्वदेत	तान्वदेत्
२५८	७	सम्मित	सम्मितं

२५९	१	प्रभञ्जन मीरितः	प्रभञ्जनसमीरितः
२५९	४	शन्तेन	शान्तेन
२६०	२१	व्याख्यकार	व्याख्याकार
२६२	२	कियास्तत्र	क्रियास्तत्र
२६७	१२	उसाह	उत्साह
२६९	२८	अर्थात	अर्थात्
२७७	१६	तण्ड्ड	तण्डु
२८६	३	उन्नतं	उन्मत्तं
२८६	५	आक्षिप्तरचितं	आक्षिप्तरेचितं
२८६	१८	ललटतिलकं	ललाटतिलकं
२८८	२७	ललसंघट्टित	तलसंघट्टित
२९२	५	सर्पशिराा	सर्पशिराः
३०३	२३	आबिद्ध	आविद्ध
३०३	२६	आबिद्धवक्र	आविद्धवक्र
३०८	२	निकुट्टकम	निकुट्टकम्
३०८	४	निकुट्टितस्प	निकुट्टितस्य
३१९	८	सोऽर्धन्द्रः	सोऽर्धचन्द्रः
३१९	१३	जङ्घं	जङ्घं
३३०	२०	म्रमण	भ्रमण
३३०	२०	म्रमरी	भ्रमरी
३४२	१५	जाजा है	जाता है
३४२	२०	पार्श्ब	पार्श्व
३५३	३	आबर्त्तम्	आवर्त्तम्
३५४	१९	पार्श्ब	पार्श्व
३५४	१९	झुलाथा	झुलाया
३५८	२	प्रकीर्त्तितो	प्रकीर्त्तितौ
३६३	१९	परिबृत्त	परिवृत्त
३७०	२४	म्रमरी	भ्रमरी
३७९	८४	उद्वत	उद्वृत
३८०	२	वतिलाविद्धौ	वलिताविद्धौ
३८३	२१	वृषभकौड़ित	वृषभक्रीड़ित
३८४	२०	शकटास्थ	शकटास्य
३८५	१४	सन्निबेश	सन्निवेश

३९९	४	गीतबाद्य	गीतवाद्य
४००	२९	कटिच्छेदे	कटिच्छेदं
४०२	४	चैब	चैव
४०२	५	चैब	चैव
४०६	६	दामहस्ते	वामहस्ते
४१८	१०	केचिद	केचिद्
४१८	१७	ऊरूद्वत	ऊरूद्वृत्त
४१९	३	भवेत	भवेत्
४२०	३०	बाहृभ्रमरकं	बाहुभ्रमरकं
४२१	२६	विधियर्भू	विधिर्भूय
४२२	६	एकर्विशम्	एकविंशम्
४२४	१०	पादकरणे	पादं करणे
४२४	३१	विवत्तित	विवर्त्तित
४२५	११	ऊरूद्वत्तादि	ऊरूद्वृत्तादि
४२७	१५	प्रोद्वद्वेष्टित	प्रोद्वेष्टित
४२९	२	तत्करण	तत्करणं
४३०	४	ऊरोभण्डलकौ	उरोमण्डलकौ
४३०	२७	पार्श्वच्खेद	पार्श्वच्छेद
४३१	२०	वाद	बाद
४३१	३१	५.क. आक्षिप्तं च शिरश्चैव	——
४३१	३१	६.ख-घ. सकटिच्छदं	५-ख. घ सकटिच्छेदो
४३४	१	उद्वत्तकः	उद्वृत्तकः
४३५	७	सन्धानायोद्वत्तं	सन्धानायोद्वृत्तं
४३५	१७	उद्धृत्त	उद्वृत्त
४३५	२०	उद्धृत्तक	उद्वृत्तक
४४२	१	आच्छरितः	आच्छुरित
४४२	१५	आच्छरित	आच्छुरित
४४३	१९	आक्षिप्तरंचित	आक्षिप्तरेचित
४३६	६	उद्वत्त	उद्वृत्त
४५१	७	विप्रकीणौ	विप्रकीर्णौ
४५२	३	परिवत्तंयेत	परिवर्त्तयेत्

४५७	२९	क.गमनअङ्ग्रष्ठाग्रस्य	गमनमङ्गुष्ठाग्रस्य
४५८	१	तुम्वुरुणेदमुक्तम्	तुम्बुरुणेदमुक्तम्
४५९	१	ऩृत्यन्तं	नृत्यन्तं
४५९	२६	प्रबादितैः	प्रवादितैः
४५९	२७	प्रानृत्यल्लवताल-पतालवशानुगैः	प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः
४५९	३०	कैव	चैव
४५९	३२	बन्धनास	बन्धमासां
४६०	६	पडिण्डिम	डिण्डिम
४६०	८	हुय	हुये
४६०	९	गिण्डीवन्धो	पिण्डीबन्धों
४६०	९	प्रभुति	प्रभृति
४६०	२६	पणवैर्ददुराधैश्च	प्रणवैर्दर्दुराद्येश्च
४६२	२१	नगाढ़े	नगाड़े
४६६	१९	बिषमप्रयोग	विषमप्रयोग
४७३	१७	नृत्यप्रयोग	नृत्तप्रयोग
४७५	१२	तड्डु	तण्डु
४७७	१२	सप्रयुक्त	संप्रयुक्तं
४७९	२	सवत्र	सर्वत्र
४८५	१५	वृत्त	नृत्त
४८५	१९	बर्धमानक	वर्धमानक
४८६	२२	लाकिक	लौकिक
४९१	१६	नाटद्य	नाटय
४९५	२३	झण्टुम	झण्टुम्
४९६	२१	आवाज	आवाप
४९८	१	तण्ड्ड:	तण्डुः
४९९	२०	प्रबृत्त	प्रवृत्त
५०४	१	विविक्रियाम्	विधिक्रियाम्
५०४	५	पिण्डोबन्धेश्च	पिण्डीबन्धेश्च
५०४	१२	गह्लषगर्त	गृह्लाति
५०७	१९	कुतुपों	कुतपों
५०८	२०	कुतुप	कुतप

५०८	२१	कुतुपः	कुतप
५०८	२१	कुतुप	कुतप
५०८	२२	कुतुप	कुतप
५०९	२	प्रवेशा	प्रवेशो
५१३	४	आचरेत	आचरेत्
५१३	११	उक्तत्वात	उक्तत्वात्
५१५	१	रक्त	रक्तं
५१६	२	१८४	२८४
५१७	४	नृत्तत	नृत्तेन
५१८	२	अपरा	अपराः
५२२	१५	प्रयौग	प्रयोग
५२४	३०	निदिष्टाः	निर्दिष्टाः
५३२	१९	सस्कृत	संस्कृत
५३४	२	स्याद	स्याद्
५३८	१४	सम्भाबिता	सम्भाविता
५३९	४	बाद्य	वाद्य
५४६	१०	वैच्त्रिय प्रकारेण	वैचित्र्यप्रकारेण
५४६	१०	नत्तमुक्तं	नृत्तमुक्तं
५५२	१	भवेदय	भवेदथ
५५२	१५	अङ्गहारों को	अङ्गहारों से
५५३	७	वणंवृत्तकृता	वर्णवृत्तकृता
५५४	१९	आर	और
५६२	६	पर्वोक्तेन	पूर्वोक्तेन
५६८	२०	जजंर	जर्जर
५७३	११	द्विसंख्या तंत्रिसंख्यातम-थापि च	द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातम-थापि च
५७४	पृष्ठसंख्या	७५४	५७४
५७५	१०	पादमागादिरेव	पादभागादिरेव
५७५	१७	शुष्कावकृष्ट्र	शुष्कावकृष्टा
५७५	३०	परिवर्तकमेव	परिवर्त्तकमेव
५७७	२६	कुतुप	कुतप
५७८	१८	'कु'	कुं

५७८	२१	कुतुप	कुतप
५७९	५	अनुपविष्टेषु	उपविष्टेषु
५७९	२२	दर्दरिक	दार्दरिक
५८०	१६	कुतुप	कुतप
५८०	१७	कुतुप	कुतप
५८०	१८	कुतुप	कुतप
५८०	२१	कुतुपन्यास	कुतपन्यास
५८४	२४	कुतुप	कुतप
५८४	२५	कुतुप	कुतप
५८६	६	कायौ	कार्यौ
५९२	१७	पूवंरङ्ग	पूर्वरङ्ग
५९४	१	यस्मादभिनगस्त्वत्र	यस्मादभिनयस्त्वत्र
६०२	४	धातुवाद्यश्रयकृतमिति	धातुवाद्याश्रयकृतमिति
६०६	१८	कुतुप-विन्यास	कुतप-विन्यास
६०८	८	वात्र	चात्र
६१५	२	पुनश्चैकला	पुनश्चैककला
६१६	३१	परिपार्श्वकों	पारिपार्श्विकों
६१७	११	पारिपार्श्वकों	पारिपार्श्विकों
६१७	१९	समुनस्:	सुमनसः
६२०	१३	पारिपार्श्वकों	पारिपार्श्विकों
६२४	९	कमंद्वयं	कर्मद्वयं
६२५	७	कालविक्षप	कालविक्षेप
६२५	११	कुतुप	कुतप
६२५	१५	कुतुप	कुतप
६२५	२०	कुतुपाभिमुख	कुतपाभिमुख
६२५	२१	कुतुप	कुतप
६२५	२६	कुतुप	कुतप
६२७	१	नैतद	नैतद्
६२९	१३	प्रवोक्ताओं	प्रयोक्ताओं
६३१	९	ध्र वया	ध्रुवया
६३२	८	निरूपितदेवता	निरूपितदेवता
६३२	१२	कुतुप	कुतप

६३३	२२	अबकृष्टा	अवकृष्टा
६३७	४	ह्यष्टौ	ह्यष्टौ
६३८	५	यत्स्मृतम	यत्स्मृतम्
६३८	११	शुष्कावकृय्टा	शुष्कावकृष्टा
६३८	१८	देदता	देवता
६४०	७	पारिपार्विक	पारिपार्श्विक
६४४	१४	(पूर्वोक्त से) विधि	(पूर्वोक्त विधि से)
६४७	११	पारिपार्श्वकों	पारिपार्श्विको
६४८	१४	पारिपार्श्वको	पारिपार्श्विकों
६५०	४	पदे	पादे
६५०	१५	गचिप्रचार	गतिप्रचार
६५०	२६	कायाणित्र्य स्त्रनृत्त०	कार्याणि त्र्यस्रनृत्त०
६५४	८	ब्यायिश्रेण	व्यामिश्रेण
६५५	७	ह्यत्स्थापन	हृद्युत्थापन
६५६	१४	ताटस्थ्यबुद्धि	ताटस्थ्यबुद्धि
६५८	९	मूयिष्ठं	भूयिष्ठं
६६२	१	ह्यपक्षेपे	हृद्युपक्षेपे
६६४	११	प्रत्यताय	प्रत्यवाय
६६५	१५	पाच्चाल	पाञ्चाल
६६७	७	कार्य	कार्यं
६६९	१	चतस्रो	चतस्रो
६६९	९	त्रिर्निवृत्त	त्रिर्निवृत्त
६६९	१६	गतियों	गीतियों
६७१	२	पर्व	पूर्व
६७२	१	विलम्वितेनैव	विलम्बितेनैव
६७२	१४	द्रुतयल	द्रुतलय
६७३	४	स्यात	स्यात्
६७३	१७-१८	{ पा धा पा मा { द्रं व वन्दे	{ पा धा पा मा { द्रं वं दे
६७४	१४-१५	{ धा नी मा मा { व वन्दे	{ धा नी मा मा { वं दे
६७५	१	पूर्व	पूर्वं
६७५	२३	वौर	और

६७५	२७	तद्ग्रास्छचपास्तदौ	तद्गणाश्छचपास्तदौ
६७५	२७	षष्मात्रिक	षण्मात्रिक
६७५	३०	स्थात्	स्यात्
६७८	१३	कैलाश	कैलास
६७९	१९	यातियाँ	यतियाँ
६७९	२८	कैलाश	कैलास
६८१	२५	झण्टू	झण्टु
६८२	१०	पातस्तस्य	पातास्तस्य
६८३	४	बहुलीलममुया	बहुलीलमुमया
७०५	८	अनिकुण्डाज्य	अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ
७०५	१५	अङ्गलं	अङ्गुलं
७०५	१६	अङ्गलानि	अङ्गुलानि
७०६	८	वुधसेनं	बुधसेनं
७०६	२२	चेव	चैव
७०६	३२	पुनं	पुनः
७०६	३३	ह्ये ष	ह्येष
७०७	५	थथान्यायम्	यथान्यायाम्
७०७	१०	विदित्बाऽहम्	विदित्वाऽहम्
७०७	१९	ह्रण्ट्वा	दृष्ट्वा
७०८	२८	तता	ततः
७०८	९	रोचितो	रेचितो
७०९	४	बलिः	वलिः
७०९	१५	विवर्त्ताच्च	विवर्त्ताश्च
७०९	२८	करमावर्त्तित क्रुत्वा	करमावर्त्तितं कृत्वा
७१०	२	चैब	चैव
७११	३१	गरुडल्पुतकं	गरुड़प्लुतकम्
७१२	२७	क्रत्वा	कृत्वा
७१२	३०	तच्छ्रु त्वा	तच्छ्रुत्वा
७१३	२०	सार्धम	सार्धम्
७१३	१३	तशैव	तथैव
७१३	२९	प्रोक्तम	प्रोक्तम्
७१४	९	कर्त्तव्य	कर्त्तव्यः

७१५	५	कर्त्तष्यम्	कर्त्तव्यम्
७१५	१६	गुंणैर्थुक्ताः	गुंणैयुंक्ताः
७१६	३	दृष्ट्बा	दृष्ट्वा
७१७	७	वेदम	वेदम्
७१८	२८	निर्व्यू कुहृरोयेतम्	निर्व्यूह्कुहृरोपेतम्
७१८	१२	स्ष्टो	सृष्टो
७२०	५	पुनरेषा	पुनरेषां
७२०	४	पूबंरङ्गं	पूर्वरङ्गं
७२०	३२	प्रतिबोधस्बभिनेयः	प्रतिबोधस्त्वभिनेयः
७२१	२९	प्रलम्बिताभ्यां	प्रलम्बिताभ्यां
७२१	११	भूत्बा	भूत्वा
७२१	१९	नितम्वं च	नितम्बं च
७२३	११	महागणेश्बराः	महागणेश्वराः
७२३	२६	महेश्बरे	महेश्वरे
७२३	२६	कर्त्तब्बा	कर्त्तव्या
७२४	२८	वस्तुनिवद्धानि	वस्तुनिबद्धानि
७२५	८	कुर्लात्	कुर्यात्
७२५	१६	लोकालोकल्प	लोकालोकस्य
७२५	३१	लघुवणं	लघुवर्णं
७२६	७	बाचश्चेष्टां	वाचश्चेष्टां
७२६	१६	बिधि०	विधि०
७२६	२६	बारुणी	वारुणी
७२८	३	कठिता	कठिना

●


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
श्रुतम् मे गोपाय